॥ सटीकसंक्षेपशारीरकस्य ॥

# भूमिका ।

यस्यानन्दलवेनैव जगदानन्दमश्नुते ॥
तं वन्दे प्रत्यगात्मानमसङ्गं नन्दनन्दनम् ॥ १ ॥

भो भो विद्वांसः! नैतदविदितं श्रीमतां यदस्मिन् मृगतृष्णिकायमाने संसारे हित्वा सच्चिदानन्दरूपं ब्रह्म नैकान्ततः किञ्चिदपि विद्यतेऽन्यद्वास्त्विति । परमेतन्न सकलशास्त्रपारावारीणेनापि प्रथमत एव ज्ञातुं प्रभूयते । किम्पुनरनाघ्रातशास्त्रगन्धैः प्राणिभिः। यतोऽस्मिन् कनककान्तादिरूपे विधातृनिर्मिते जालके मत्स्यायमानाः सर्व एव प्राणिनः स्वात्मज्ञानविमुखाः संसारचक्रे दिवानिशं बम्भ्रम्यमाणा लेशतोऽप्यात्मतत्त्वमवगन्तुं न पारयन्ति । उक्तं च-

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ॥
तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः ॥ १ ॥

इति । तावतापि चात्मनः कृतार्थतां मन्वानास्तत्त्वतः श्रेयस्साधनात् पराचीनमुखा भवन्ति । एतादृशे विषमतमे विरिञ्चिप्रपञ्चे प्राणिना प्रथमतोऽन्तर्मुखा प्रवृत्तिरेव दुःशका । तेषु केषामेव पूर्वाचरितसुकृतपरिपाकवशात् कलत्रपुत्रादिषु जातानादराणा विधिविहितफलाभिनिवेशरहितकर्माचरणक्षपितपाप्मनां परमार्थतः श्रेयस्साधने बुद्धिरुदेति । उद्यच्छन्ति च ते तदनुसारम् । बहवस्तेषु तत्त्वज्ञानाय प्रयतमाना अपि विघ्नबाहुल्येन भग्नोत्साहा मध्ये एव विरमन्ति । विरलाः पुनस्तेषु

विघ्नैः पुनः पुनर्बाध्यमाना अपि समीहितप्राप्तिपरिपन्थिविघ्नजातमविगणय्य द्विगुणीकृतोत्साहाः स्वेष्टसिद्धयेऽहर्निशमविरतं प्रयतन्ते । तेष्वपि कश्चिदेव परमार्थतस्तत्त्वं साक्षात्कर्तुं प्रभवति । उक्तं च भगवता—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥

इति । तादृशो हि किल लोकोत्तरः कश्चिदेव जगति सर्वान् प्राणिनः स्वाचरितसुकृतदुष्कृतपरिपाकवशात् कर्मानुरूपं फलमनुबध्नतः स्वात्मतत्त्वमविदुषः संसारवारिधौ निमज्जतो दृष्ट्वा करुणापरिप्लुतचेता लोकानामनुग्रहाय उपनिषदादिषु सुगूढनिक्षिप्तमात्मतत्त्वमनायासतोऽज्ञजनबोधाय ग्रन्थरूपेण उपदेष्टुमुद्युङ्क्ते । न हि गुरूपदेशं विनाऽतिदुर्बोधमेतत्तत्त्वं तर्केण ज्ञातुं शक्यम् । तादृशो हि भगवान् बादरायणो लोकानुग्रहाय उपनिषद्‌घुष्टस्यात्मतत्त्वस्य ख्यापकमध्यायचतुष्टयीरूपेण प्राणिनाय लोकोत्तरं ग्रन्थम् । तस्य सूत्रत्वादेव सङ्क्षेपं मन्दबुद्धिभिर्दुर्ज्ञेयतां नास्तिकप्रवरैर्बौद्धादिभिरन्यथितततां च दृष्ट्वा भगवन्त आचार्यपादास्तत्त्वदर्शनाय दृढबद्धकच्छा नास्तिकमतखण्डनपुरस्सरं शारीरकमीमांसाभिधं भाष्यं व्यरचयन् । तस्यापि गाम्भीर्यस्य मन्दधिषणैः दुर्ज्ञेयतां, क्वचिच्च मुमुक्षुजिज्ञास्यसविशेषब्रह्मोपासनावाक्यविचाराविक्षिप्ततया दुरवबोधतामाकलय्य तद्विक्षेपपरित्यागेन मुमुक्षुजिज्ञास्यं निर्विशेषं ब्रह्म अनायासेन मुमुक्षुबोधाय संक्षेपशारीरकाख्यो ग्रन्थो वार्तिकरूपः प्राणायि तत्रभवता सर्वज्ञात्माख्यमुनिना । अयं च मुनिवरः कं वा कालं स्वसत्तया समलञ्चकारेति न तत्त्वतो निश्चेतुं प्रभूयते । १०४४ तमे विक्रमाब्दे मधु-

सूदनीसहितमुद्रितस्य संक्षेपशारीरकस्य संशोधकेन भूमिकायां तत्रभवतामाचार्यपादानां समकालिकत्वमेतत्प्रणेतुर्व्यवास्थाप्यत । आचार्यपादाश्च शृङ्गेरीमठस्थितप्राचीनलेखानुसारेण ख्रिस्ताब्दात् प्राक् चतुश्चत्वारिंशत्तमे वर्षे प्रादुरासुरिति ज्ञायते । अर्वाक्तनपाश्चात्यमतेन ख्रिस्ताब्दानामष्टमशतकस्यान्ते नवमस्यारम्भे वाऽऽचार्याणां स्थितिरित्यवगम्यते । तत्र समकालिकत्वे पूर्वमतेन ख्रिस्ताब्दारम्भात् पूर्वं तत्स्थितिः । उत्तरमतेन चाष्टमे शतके ख्रिस्ताब्दस्येत्यवगम्यते । परन्तु श्रीयुतबाबूगोविन्ददासमहाशयेन शृङ्गेरीमठाधिष्ठितानां श्री १०८ नृसिंहभारतीपूज्यपादानां सपर्यापेटकास्थितप्राचीनहस्तलिखितपत्रतः इदमवगम्य कथितं यत् पूज्यपादाः सुरेश्वराचार्याः त्रिंशत्तमाद्विक्रमाब्दादारभ्याष्टशतवर्षाणि पीठमलङ्कृत्य पूज्यपादश्रीनित्यबोधाचार्येषु चिरनिर्व्यूढां स्वधुरमवस्थाप्य ब्रह्मभावं गता इति । इम एव श्रीनित्यबोधाचार्यास्सर्वज्ञात्ममुनिसमाख्यया प्रथिताः अस्य ग्रन्थस्य प्रणेतारः । इमे च तल्लेखानुसारतः ७५८ तमे ख्रिस्ताब्दे पीठमधिरुह्य ८४८ तमेऽब्दे देवभूयं प्राप्ता इत्यवगम्यते । एतस्माच्चास्य ग्रन्थप्रणेतुराचार्यपादसमयोत्तरकालिकत्वमत्रसीयते । भवतु यद्यथावास्थितम् । प्रकृतं प्रस्तूयते । अत्र च ग्रन्थे ग्रन्थकर्तुरतिस्पष्टः प्रमेयविचारः तर्ककर्कशबुद्धिमतो मुक्ताभिनिवेशान् विरचयन् सबहुमानमङ्गीकारयति युक्तिपाटवेन स्वप्रतिपाद्यं प्रतिवादिभिः । अनितरसाधारणोऽयं ग्रन्थो बह्वीभिष्टीकाभिरलङ्कृतोऽपि न तादृग्मन्दबुद्धिज्ञेयतामावहतीति मन्वानेन तत्रभवता श्रीरामतीर्थस्वामिनाऽन्वयार्थप्रकाशिकाख्ययाऽन्वर्थया व्याख्यया समलङ्कृतः । अस्य च टीकाकर्तुः कालादिकं नैव ज्ञायते । श्रीमदाचार्यपादप्रणीताया-

मुपदेशसहस्र्यामेतत्प्रणीता टीका वर्तते इति नाममात्रमान्या-देवावसीयते । सा चेयं टीकाऽतिदुष्प्रापा मूलयुता रसिकजनमनःसम्मोदमत्यर्थमावहेदिति महता प्रयत्नेनासाद्य चौखम्बासंस्कृतपुस्तकालयाध्यक्षेण श्रीजयकृष्णदासेन मुद्रयितुमारब्धा । तस्याः संशोधने नियुक्तो रत्नगोपालभट्टः प्रथमाध्याय पर्यन्तां तां संशोध्य अनधिगतमनोरथो मध्य एव सहसा कवलीकृतः कृतान्तहतकेन। उत्तरोत्तरमीदृगेव विद्वज्जनस्थित्यसहिष्णोः करालकलिकालस्य महिमा! तस्या अवशिष्टाध्यायत्रयस्य संशोधने पूज्यपादैः श्री ६ पर्वतीयनित्यानन्दपण्डितैर्गुरुवरैर्नियुक्तस्तद्दर्शितपथेन यथामति समशोधयम् । तथा अस्मद्गुरुवरैः द्राविडोपाह्वैः श्री ६ लक्ष्मणशास्त्रिभिरपि संशोधनार्थमपेक्षितप्राचीनतरस्वीयपुस्तकप्रदानादिभिर्बहुविधं कृपापात्रीकृतोऽस्मि । शुद्धिपत्रादिनिर्माणकार्ये मित्रवरेण शेडे इत्युपाह्वेन सीतारामशास्त्रिणा बहूपकृतोऽस्मि । यथामति संशोधितेऽप्यस्मिन् मुद्रोपसुलभानि सीसकाक्षरयोजकानवधानादिभिर्वा समुपजातानि स्खलितानि मृष्यन्तु दयापरिप्लुतचेतसो गुणैकपक्षपातिनः सहृदयधुरीणा इति सशिरःप्रणामं प्रार्थयते ।

विदुषामनुचरः
वझे इत्युपाह्वो भाऊशास्त्री

# सटीकसङ्क्षेपशारीरकस्य शुद्धिपत्रम् ।

## प्रथमाध्यायस्य ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ | प |
|---|---|---|---|
| तत् क्वचित् | तत् क्वचित् क्वचित् | ३ | १८ |
| जड स्वस्ववि | जड स्ववि | ५ | २ |
| त्वम्पदच्यो | त्वम्पदवाच्यो | ८ | ११ |
| आरम्भाः | प्रारम्भाः | १५ | ८ |
| सन् कर्तु | सन् ग्रन्थ कर्तु | १९ | ६ |
| प्रकरवाणीति | प्रकरण करवाणीति | १९ | ११ |
| प्रतिपान् | प्रतिपादनात् | १९ | १९ |
| स्यामभवाना | स्यासम्भावना | २४ | ५ |
| एव न न प्रवर्तेना, | एव न प्रवर्तेत | २७ | २० |
| देवमज्ञान, | देवमिदमज्ञान | ३० | १ |
| स्पापुमानुभाव. | सौपुमानुभवः | ३५ | २५ |
| मित्युक्तमान | मित्युक्तमनुमान | ३६ | १ |
| हि | च | ३६ | ४ |
| नान्यदत्र | नान्यदन्यत्र | ३६ | ७ |
| मुखीत्येव | सुखीत्येव | ३७ | ५ |
| नसम्भाव्यते | न सम्भाव्यते | ३८ | ५ |
| व्यजनादि | व्यजानादि | ३९ | ९ |
| ऽविद्यया वृत | ऽविद्ययाऽऽवृत | ४० | १४ |
| सभव | सभवः | ४१ | २० |
| इतरेतराध्यासन | इतरतराध्यसन | ५० | १९ |
| स्फुरणस्यानभव | स्फुरणस्यानुभव | ५० | २२ |
| वेपणा | वेपण | ५६ | २३ |
| पतत्मर्व सुत्र | पतत्सर्व सूत्र | ६६ | ७ |
| स्वाज्ञानामा | स्वाज्ञानमा | ६७ | ४ |
| निरवग्रहाद्व | निरवग्रहमहद्व | ६९ | १० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| अनेन यथा | अनेन पथा | ७० | ३ |
| विचारेणस्य | विचारेणास्य | ७१ | ७ |
| विधिहिता | विधिविहिता | ७५ | १७ |
| स्वोत्पत्त्या | स्वोत्पत्त्या | ७५ | २० |
| कर्मजितो | कर्मचितो | ८१ | १ |
| पुण्यजितो | पुण्याचितो | ८१ | २ |
| कारार्पित | करार्पित | ९७ | १ |
| पूरण | पूरण | १०० | ४ |
| तत्त्वसी | तत्त्वमसी | १०० | १७ |
| वाक्यप्राण्य | वाक्यप्रामाण्य | १०१ | २२ |
| बन्ध्या | वन्ध्या | ११० | १३ |
| शाद्वस्यापरोक्ष | शाद्वस्यापरोक्ष | ११२ | ४ |
| पश्र्वावर्ती | पार्श्ववर्ती | ११८ | १७ |
| याञ्चा | याच्ञा | ११९ | २१ |
| द्धधत्या नुरू | दधत्यानुरू | १२० | १४ |
| क्षितिलल्लुठ | क्षितितलल्लुठ | १२२ | १९ |
| प्रमाण्य | प्रामाण्य | १२३ | ६ |
| सोऽयमिति | योऽयमिति | १२६ | ९ |
| तद्देशकालान्तो | तद्देशकाला तौ | १५६ | १४ |
| प्रयजको | प्रयोजक | १२७ | १७ |
| रूपेणान्वया | रूपेण घोपान्वया | १२९ | ९ |
| त्वय्य द्वतीय | त्वय्यद्वितीय | २३३ | १२ |
| वर्तते | वर्तते | १३३ | १९ |
| सर्व धिष्ठाने | सर्वाधिष्ठाने | १३५ | ८ |
| मुख्यो | मुख्ये | १४१ | २० |
| ज्ञानताऽप्यस्ति तद्व | ज्ञानताऽप्यस्ति न हि सत्य-पदलक्ष्याद्बहिर्भूता ज्ञानता भवति, तथासति सत्यस्यास्फुरणप्रसङ्गात् यथा सत्ये ज्ञानताऽप्यस्ति तद्व | १५३ | |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | प० |
|---|---|---|---|
| जडतयापुमर्थत्व | जडतयाऽपुमर्थत्वं | १५४ | १६ |
| व्यत्पत्ति | व्युत्पत्ति | १६५ | ४ |
| सम्बद्ध यद्व | सम्बद्धं यद्व | १६६ | ८ |
| सम्बध्या | सम्बन्ध्या | १६६ | १७ |
| लाक्षणिप्रवृत्ते. | लाक्षणिकप्रवृत्ते. | १६७ | १७ |
| चिति वाचि | चितिवाचि | १७३ | ६ |
| स्वरूपेण | स्वरूपेणा | १७४ | २ |
| ससर्ग | ससर्ग | १७४ | १२ |
| निमित्तका | निमित्तिका | १७९ | १० |
| निष्किय | निष्क्रिय | १९१ | १५ |
| पदैक | सदैक | १८२ | १६ |
| पोदूबल | पोद्बल | १८४ | ९ |
| प्रत्ति पत्त्या | प्रतिपत्त्या | २०१ | ३ |
| निषेध्री | निषेद्ध्री | २०२ | ७ |
| शाद्बमथा | शाद्बमथा | २०२ | २२ |
| पस्थाकतया | पस्थापकतया | २०३ | ८ |
| दैवेनेव | दैवेनैव | २०४ | १४ |
| नुपत्त्या | नुपपत्त्या | २०५ | १० |
| उरीकृत | ऊरीकृत | २१० | २१ |
| अपर्यनुयोज्य इत्यर्थ । | अपर्यनुयोज्य इत्यर्थ । | | |
| कृतमप्य | कुन एतदपीति यत. ईश्वर. समर्थ इत्यर्थः कृतमप्य | २१० | २२ |
| पदर्थो | प र्थ | २१३ | २३ |
| प्राभाकर. | .भाकराः | २१८ | ६ |
| कार्ये | कार्य | २२१ | १२ |
| प्रमाण्य | प्रामाण्य | २३० | ७ |
| प्रमाण्य | प्रामाण्य | २३२ | ४ |
| ज्ञानामात्रा | ज्ञानमात्रा | २३७ | ७ |
| त्यधिका युक्ति., | त्यधिकार्युक्तिः | २३८ | १८ |
| दृष्टु | द्रष्टु. | २५९ | २३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ | पं |
|---|---|---|---|
| प्रसगा | प्रसगा | २६९ | १७ |
| सिद्धावेक तया | सिद्धावेकक्रियार्थतया | २७० | ९ |
| पदम् | पदे | २७५ | ८ |
| नार्थन्तर | नार्थान्तर | २८० | ७ |
| भिरुभिच्यते | भिरुच्यते | २८६ | २१ |
| वेदन्त | वेदान्त | २९३ | १४ |
| भावाना | भावना | २९७ | ७ |
| तत | तत्र | ३०३ | २ |
| न अर्थनिष्ठ— | नञर्थनिष्ठ | ३०५ | १७ |
| स्वबन्ध्य | स्वसम्बन्ध्य | ३०८ | १ |
| द्भिन्नेषु | भिन्नेषु | ३१७ | १ |
| पागगत | यागगत | ३४० | १० |
| कुण्ठीभवती | कुण्ठीभवन्ती | ४५७ | ४ |
| तरमा | तस्मा | ३८६ | ९ |
| वेद्प्रमाण्य | वेदप्रामाण्य | ३९७ | २१ |

## द्वितीयाध्यायस्य ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| किमपि | भवति | ५ | १६ |
| द्रूपप्रदीपक | द्रूप प्रदीपक | ५ | १७ |
| शक्नोति | शक्नोति | ११ | ६ |
| नागमत | नागमात् | १४ | ५ |
| तत्रैव | तत्रैव | ७२ | १२ |
| सस्पर्धिनौ | सस्पर्धिनौ | ७३ | २५ |
| तत्त्वस्थलगि | तत्त्वस्थलीग | ८२ | ३ |
| विविवाद | विवाद | ८२ | ६ |
| ज्ञानस्वन्ध | ज्ञानसम्बन्ध | १०१ | १२ |
| प्रति भति | प्रतिभाति | १०५ | २५ |
| धर्मोपत्ते | धर्मोपपत्ते | १२७ | १५ |
| घूमे | धूमे | १३२ | १ |
| विशषनो | विशेषनो | १३५ | ९ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ० | पं० |
|---|---|---|---|
| बस्तु | वस्तु | १३५ | २१ |
| तस्मिन् | नास्मिन् | १४४ | २१ |

## तृतीयचतुर्थाध्याययोः ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| पुरवष्टित' | पुरवोष्टित' | २९ | २ |
| तषा | तषां | ३६ | २३ |
| द्दर | दूर | ४८ | ११ |
| तद्सङ्कत | तद्कारण | ५५ | १७ |
| परिभ्रम | पराविभ्रम | ५६ | २२ |
| विपयमात्रात् | विपर्यित्वमात्रात् | ६२ | २४ |
| तदाखिले | तदखिल | ७४ | १ |
| मीशतिव्यान् | मीशितव्यान् | ९४ | २० |
| श्राति | श्रुति | १०० | ५ |
| उत्पात्त | उत्पत्ति | १२४ | २३ |
| मूर्त्तीत | मूर्त्तेति | १४० | १९ |
| निवृत्ताया | निवृत्तायां | १४१ | १० |
| करीरी | कारीरी | २१३ | ७ |
| सम्भवित | सम्भावित | २४७ | ८ |
| न्यया | न्याय | २४७ | २३ |
| प्यह | प्यह | २५४ | २१ |

॥ समाप्तम् ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥
श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ श्रीरामाय ब्रह्मणे नमः ॥

# संक्षेपशारीरकम् ।

## श्रीसर्वज्ञात्ममुनिविरचितम् ।

### श्रीरामतीर्थस्वामिविनिर्मितान्वयाऽर्थप्रकाशिकाख्य-
### व्याख्याविभूषितम् ।

---

यस्माद्विश्वमुदेति येन विविधं सञ्जीव्यते लीयते
यत्रान्ते गगने घना इव महामायिन्यसङ्गेऽद्वये ॥
सत्यज्ञानसुखात्मकेऽखिलमनोऽवस्थानुभूत्यात्मनि
श्रीरामे रमतां मनो मम सदा हेमाऽम्बुजे हंसवत् ॥ १ ॥

यच्चैतन्यमनन्यसिद्धममलं प्राणेन घोषात्मना
साकं नादमयीं तनुं तनुतरा बिभ्रत् क्रमेणोद्गतम् ॥
वाग्देशे स्फुटवर्णतामुपगतं सर्वार्थविद्योतनम्
वेदाख्यं तदहं गतोऽस्मि शरणं रामाभिधानं महः ॥ २ ॥

याऽऽदिक्षान्तविनिर्मिताङ्गविभवा यस्याः प्रसन्नेक्षण-
प्रान्तालोकनवर्त्मगः कविवरः सञ्जायते तत्क्षणात् ॥
या वीणावरपुस्तकाक्षविलसद्दोर्भिश्चतुर्भिर्युता
सा वाणी हृदये मुखे वसतु मे सर्वार्थसन्दर्शिनी ॥ ३ ॥

सोमः सोमकलाविभूपितजटाजूटः प्रसन्नेक्षणो
विद्यार्थार्थिभिरादरेण परितः संसेव्यमानो जनैः ॥
अज्ञानान्धतमोविदारणपटुर्ब्रह्मात्मविज्ञानदो
मच्चित्तान्तरवस्थितः करुणया कुर्यादभीष्टं मम ॥ ४ ॥

आरम्भाः सफला भवन्त्यपि नृणां यस्मिन् प्रसन्नानने
देवानामपि यत्प्रसादविरहे मोघा भवन्त्युद्यमाः ॥
स प्रीतो नतिमात्रतो गजमुखो देवोऽस्मदिष्टां क्रिया-
मर्थेनोपचितां करोतु विविधां विध्वस्य विघ्नाटवीम् ॥५॥
यः सर्वश्रुतिमौलिपद्मनिकरं दोधूयमानं महा-
वादिव्रातसमीरणैः स्वकृतसत्सूत्रावनद्धं स्थिरम् ॥
चक्रेऽनेकविनेयतोयनिभृतं विष्णोः पदैकायनं
वेदव्यासगिरेरिताय मुनये तस्मै नमो विष्णवे ॥ ६ ॥
येनाद्वन्द्वमखण्डमक्षयपदं प्रादर्शि तापापहं
भाष्यग्रन्थनिबन्धनैः श्रुतिशिरोवाक्यार्थविद्योतिभिः ॥
नित्यो यत्र समस्तसद्गुणगणस्तं शङ्कराचार्यगी-
र्विख्यातं मुनिमौलिलालितपदद्वन्द्वं सदा संश्रये ॥ ७ ॥
यत्पादद्वयवन्दनेन सकला दोषा विनेशुः क्षणाद्
यद्धस्ताम्बुजसङ्गमेन शिरसि श्रीः प्रादुरासीन्मम ॥
यद्वक्त्रोदितवेदमौलिवचनस्याकर्णनेनात्मन-
स्तत्त्वाऽज्ञानमलीयताशु तमहं वन्दे हरिं श्रीगुरुम् ॥ ८ ॥
यैर्व्युत्पादित आदरेण कृपया ग्रन्थप्रचारो धियो
येनैषा मम नूतनानपि बहुग्रन्थान् विशन्त्यश्रमा ॥
तेऽस्मत्प्रत्युपकारनिःस्पृहधियस्तुष्यन्तु पुण्यैषिण-
स्तानुद्दिश्य नमस्करोमि मनसा,नान्यद्विधातुं क्षमः ॥ ९ ॥
सङ्क्षेपशारीरकमादरेण तदर्थबोधाय यथामनीषम् ॥
विविच्यते तत्कृपयन्तु सन्तः श्रमं मदीयं समुदीक्षमाणाः ॥१०॥
प्रसन्नगम्भीरमवेक्ष्य भाष्यं तदर्थजिज्ञासुहिते प्रवृत्तः ॥
सर्वज्ञनामा मुनिरातनोत् सत्पद्यौघबन्धैः प्रथितं प्रबन्धम् ॥११॥
तस्याहमत्रर्ज्जुपथेन सम्यक्पदान्वयार्थं प्रकटीकरोमि ॥

सिद्धान्तदीपोक्तिमवेक्ष्य मूलशास्त्रं श्रुतीर्मूलनिबन्धनं च ॥१२॥

इह हि सर्वज्ञात्मगिरा प्रसिद्धनामा महामुनिरखिलश्रुतिमौलितत्त्वार्थविचारशास्त्रस्य श्रीमच्छारीरकाभिधस्य श्रीवेदव्यासमहामुनिकृतसूत्रसन्दर्भात्मकस्य भगवत्पादाभिधानश्रीमच्छङ्कराचार्यकृतभाष्यप्रकटीकृतार्थस्याप्यतिगम्भीरस्य सङ्क्षेपतस्तात्पर्याऽर्थजिज्ञासूननुपलभ्य तदनुग्रहाय श्रीमच्छारीरकशास्त्रप्रकरणवार्त्तिकमारभमाणस्तत्राविघ्नपरिसमाप्तिप्रचयगमनशिष्टाचारपरिपालनफलं विशिष्टशिष्टाचारानुमितस्मृतिश्रुतिप्रमाणकं स्वेष्टदेवताऽनुसन्धानात्मकं मङ्गलमाचरन्नर्थाच्छास्त्रीयाभिधेयप्रयोजने दर्शयति श्रोतृप्रवृत्तिसिद्धये—

अनृतजडविरोधिरूपमन्त-<br>
त्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धम् ॥<br>
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः<br>
परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि ॥ १ ॥

अनृतजडेत्यादिना पद्यत्रयेण॥अयं ग्रन्थः शास्त्रं च भवति, प्रकरणं च, वार्त्तिकं च। यतो वक्ष्यति,श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्म इति। विमृशन्त्विदं प्रकरणं प्रनसेति च। वार्त्तिकत्वमप्यस्यार्थतोऽवसीयते। तत् क्वचिद् व्याख्यानाऽवसरे प्रदर्शयिष्यामः॥अस्मिन् हि शास्त्रे तत्त्वम्पदार्थतत्त्वं तदैक्यवाक्यार्थतत्त्वं च प्रतिपाद्यो विषयस्तज्ज्ञानाच्च तद्गताविद्यातत्कार्यात्मकसंसारबन्धबाधः स्वस्वरूपपरमानन्दाविर्भावः प्रयोजनमिति स्थितिः।तदुभयमिह मङ्गलाचरणव्याजेन पद्यत्रयेणादौ संगृह्णाति। तत्राप्यनृतेत्याद्येन लक्ष्यपदार्थमनुक्रामति। एषाऽक्षरयोजना। मुरारेः परमपदमभिष्टवीमीत्यन्वयः। मुरनाम्नोऽसुर-

स्य हन्ता श्रीकृष्णो मुरारिरिति सर्वपुराणेषु प्रसिद्धम्। स च जग-त्पालनाय कृतावतारो भगवान् विष्णुरेवेति च तत्रैव निर्णीतम्। तथाच मुरारेर्विष्णोर्विष्णुशब्दवाच्यस्य यत् परमं निरतिशयं निर्विशेषमतिशयरूपविशेषहेतुमायासंबन्धाभावात् सर्वोत्कृष्टं पद्यते गम्यते प्राप्यते मुमुक्षुभिरिति पदं स्वरूपं, तदहमभिष्टवीमि। अभितः सर्वात्मना श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणैस्तात्पर्येणोपपादित-स्वभावेन आभिमुख्येन वा प्रत्यगभेदलक्षणेन स्तवीमि स्तवनं करोमि तत्स्वरूपनिरूपणपरं ग्रन्थं करोमीत्यर्थः। तत् किं ख्याति-लाभपूजोद्देशेन ?। नेत्याह ॥ प्रणयादिति ॥ प्रणयः प्रीतिः परमपदैकप्रवणचित्तता। तस्मात् प्रणयान्निमित्तादित्यर्थः। चित्त-स्य विष्णोः परमपदैकनिष्ठारूपभक्तिविच्छेदपरिहाराय तत्प्रेम-प्रेरितः सन् ग्रन्थकरणे प्रवृत्तोऽस्मीत्यभिप्रायः। किं तत्परमपदं, यदभिष्टवनं प्रतिज्ञायत इत्यपेक्षायां तस्य वाचामगोचरत्वादिदं तदिति निर्देष्टुमशक्तेः सत्यज्ञानादिपदैर्वेदान्तेषु यथा तदावेद्यते तथा लक्षणया तत्स्वरूपं ज्ञापयति, अनृतजडविरोधिरूपमित्यादि-पदद्वयेन ॥ अनृतं तद् यदस्तीति यत्र येनात्मना प्रतीतं सत्तदेव तत्र तेनात्मना नास्तीति प्रतीतिगोचरः। यथा पुरोदेशे इदमित्यु-ल्लिख्यमानं रजतमिदमिति प्रतीतं सत् समयान्तरे शुक्तिरियं, न रजतमितिपूर्वप्रतीतविपरीतस्वभावतया गृह्यते। तदा तत्र पूर्वदृष्टमनृतमिति प्रसिद्धं लोके। तथाच प्रतिपन्नोपाधौ निषेध-प्रतियोगितया व्यवह्रियमाणमनृतमित्यर्थः। जडमिति तदभिधीयते यत् स्वव्यवहारे स्वविलक्षणस्वभावं प्रकाशं नियमेनापेक्षते। यथा घटपटादि स्वविलक्षणस्वभावं चित्प्रकाशं स्वप्रतिबद्धव्यव-हारेऽपेक्षते। अनृतं च तज्जडं चेत्यनृतजडम्। न हि जाड्यमनृतत्वं व्यभिचरति। विकारस्य जडात्मनो वाचारम्भणत्वश्रवणात्।

नाप्यनृतत्वं जाड्यं व्यभिचरति। मिथ्यारजतादेरुक्तजाड्यलक्षण-योगात् । तथाच बुद्ध्यादिदेहान्तमध्यात्ममाधिदैवं च जडं स्व-स्वविलक्षणस्वभाववेद्यत्वात् । तथात्वस्य चाग्रे निरूपयिष्यमाण-त्वात् । तथाऽनृतं चैतच्छुक्तिरजतादिवदागमापायित्वात् । तथाचानृतविरोधिरूपं सत्यं सत्यपदलक्ष्यम् । सत्यशब्दो हि लोके प्रतीतानृतबाधाऽवधिभूतेषु शुक्तीदमंशादिषु प्रसिद्धोऽतः शुक्तिः सत्या रज्जुः सत्या मरीचिका सत्येत्येवमिदं सत्यमिदं सत्यमिति शुक्त्यादिविशेषोपरक्ततयेदमः सत्यशब्दवाच्यत्वं तत्त-द्विशेषांशाऽपोहेन स्वरूपेण तस्यैवेदमः सत्यशब्दलक्ष्यत्वमपीति स्थितेः सर्वेष्वपि व्यवह्रियमाणेषु बाह्याध्यात्मिकेष्वर्थेषु यदनुगत-मवभासतेऽस्त्यस्मीत्येवंरूपेण तदेव तत्तद्देहादिविशेषितं सत् सत्यशब्दवाच्यं, तदपोहेन स्वरूपतः सत्यपदलक्ष्यं च भ-वति । ततश्च यद्विकारजातमनृतं बाध्यलक्षणं तद्विरोधि-विरोधनस्वभावं सर्वानुस्यूतसन्मात्रं यत् तत् सत्यपदलक्ष्यं परमं पदमित्यर्थः । तथा जडविरोधिरूपं चैतत्परमं पदम् । यथा सर्वेषु पूर्वोक्तार्थेषु यत् स्फुरणमनुगतमवभासते तत्तदर्थ-विशेषितबुद्धिवृत्तिविशिष्टं सज्ज्ञानशब्दवाच्यं भवति । तदेव तत्त-दर्थाकारबुद्धिवृत्तिविशेषणांशाऽपोहेनानुगम्यमानं प्रकाशमात्रस्व-भावं ज्ञानशब्दस्य लक्ष्यं भवति । तदिदमुच्यते, जडविरोधिरूप-मिति ॥ तथाचानृतजडरूपप्रपञ्चविरोधित्वेन विलक्षणस्वभाव-त्वेन रूप्यते लक्षणया ज्ञाप्यते सत्यज्ञानपदाभ्यामित्यनृतजडवि-रोधिरूपमित्यर्थः । सत्यज्ञानात्मकं परमं पदमित्युक्तं भवति । यत एवमुक्तलक्षणं परमपदस्वरूपमत इदमेव परमपुरुषार्थरूप-मपीत्यभिप्रेत्य तद्विशिनष्टि ॥ अन्तत्रयमलबन्धनदुःखताविरुद्धमि-ति ॥ अन्तत्रयविरुद्धमितिश्रुतिगतानन्तपदलक्ष्यत्वं परमपदस्यो-

क्तम् । देशतः कालतो वस्तुतश्च यस्यान्तो निरूप्यते तदन्तत्रयवत् । यथा घटादि देहादि चान्तत्रयवत् । अभूत्वा भावित्वाद् भूत्वा चाभावित्वात्तत्कालतोऽन्तवत् । मूर्त्तत्वाद्देशतोऽप्यन्तवत् । वस्तुतोऽप्यन्तवदन्योन्याभावप्रतियोगित्वात् । आकाशकालदिशामप्यन्तवत्त्वं वस्त्वन्तरकृतपरिच्छेदलक्षणं प्रसिद्धमेव । देशतः कालतश्चान्तवत्त्वं तु तेषामुत्पत्तिप्रलयश्रुतिनिरूप्यम् ।तथाचेदमेवमन्तवदिदमेवमन्तवदिति यस्मिन्ननुगते सत्यज्ञानात्मके व्यवह्रियते तत्रान्तवतामवधितयानुस्यूताकारमन्तविरोधितयाऽनन्तपदेन तदेव परमपदमावेद्यत इत्यर्थः । अत्राऽन्तनिषेधात्मकत्वादनन्तत्वस्यान्तपदव्युत्पत्त्यैव तद्व्युत्पत्तिरवगता । प्रतियोगिप्रसिद्धिव्यतिरेकेण तदभावे पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षणात् । तथाचानन्तपदमन्तवद्वस्तुनिषेधं वदत् सर्वनिषेधानुगतमवधिं लक्षयतीति युक्तमनन्तपदस्य परमपदज्ञापकत्वमिति । तथा मलविरुद्धं चैतत् परमपदम् । मलशब्देन तत् प्रसिद्धं यद्वस्तुयाथात्म्यप्रतीतिप्रतिबन्धकृत् । यथा पङ्कदिग्धम् आदर्शादि । तद्विरुद्धं चापगतमलत्वेन व्यवह्रियमाणं शुद्धमिति प्रसिद्धम् । तथाच परमपदस्वरूपावभासप्रतिबन्धकृदनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्या, अनृतेन हि प्रत्यूढा इत्याद्यनेकश्रुतिषु परमात्मवस्तुयाथात्म्यावभासप्रतिबन्धकत्वेन प्रसिद्धा । सैव तस्याशुद्धिकरी चेत्यात्मनि मलः । तस्यां हि सत्यामशुद्धोऽस्मीति प्रत्यक्पदार्थो मन्यतेऽप्रक्षालितमिव वस्त्रादि । तथाच, शुद्धमपापविद्धमित्यादिश्रुतिपदम् । क्षालनादिना संस्कृतेषु पदार्थेष्वयं शुद्धोऽयं शुद्ध इति शुद्धपदवाच्यतयाऽवगम्यमानेषु गृहीतव्युत्पत्तिकं सच्छुद्धपदं तत्तद्विशेषांशपरित्यागेनानृताविद्यादिमलरहितं परमं पदं विशदयति । तदिदमुच्यते, मलविरुद्धमिति । तथा बन्धन-

विरुद्धं चैतत् परमं पदम् । बन्धनं हि रज्जुकाष्ठलोहादिभिर्नि-ग्रहणं प्रसिद्धम् । तच्चार्थानां स्वातन्त्र्यविघाति । तद्विरुद्धं मुक्तत्वं स्वातन्त्र्यम् । तदिदमुच्यते, बन्धनविरुद्धमिति ॥ तथाच मुच्य-मानगोवत्सादौ व्युत्पन्नं, विमुक्तश्च विमुच्यत इत्यादिश्रुतिगतं मुक्तपदं तत्तदर्थानुगतसञ्चिन्मात्रं परमपदं लक्षणया बोधयतीति नित्यमुक्तं परमपदमित्यर्थः । तथा दुःखताविरुद्धं चैतत् परमपदम् । स्वार्थे तद्धितः। दुःखविरुद्धमित्येतत्। दुःखविरुद्धं हि सुखमिति लोके प्रसिद्धं निरुपाधिकप्रेमास्पदम् । तच्च लोके विषयविशेषभोगानि-बन्धनतया नानाव्यपदेशास्पदं भवत्यन्नसुखं पानसुखं शयनसुख-मित्यादिना । तत्र सर्वत्र सुखमित्यनुस्यूतं दुःखविरुद्धाकारं तत्त-द्विषयोपरक्तान्तःकरणवृत्तिविशिष्टाकारेणसुखशब्दवाच्यंविशेषांश-परित्यागेनानुगतमविशेषमनवच्छिन्नम्, आनन्दो ब्रह्मेत्यादा-वानन्दपदेन लक्ष्यत इत्यर्थः । तथाचानृतजडपरिच्छिन्नाशुद्धास्व-तन्त्रानिरुपाधिप्रेमानास्पदप्रपञ्चविरोधि सत्यज्ञानानन्तशुद्धमुक्त-परमानन्दरूपं विष्णोःपरमपदमिति तत्पदलक्ष्यं वस्तु निर्दिष्टमिति॥

अत्र तत्तत्प्रपञ्चाकारविरोधित्वेन लक्ष्यमाणत्वाल्लक्ष्याकार-भेदप्रतीतावपि न तस्मिन्नाकारभेदो धर्मभेदो वा परमार्थतो-ऽस्ति।तदनिरूपणात्। अतः सत्यज्ञानादिपदकदम्बेन अखण्डैक-रसं वस्त्वावेद्यत इति तात्पर्यार्थः ॥

इदानीमुक्तलक्षणपरमपदस्य ताटस्थ्याशङ्कां वारयंस्तस्य प्रत्यगेकात्मत्वं, तत्त्वमस्यादिवाक्यसिद्धं याथात्म्यमाह ॥ अति-निकटमिति ॥ ज्ञातुरात्मनोऽतिसन्निहितं तस्य स्वरूपमेव, न तटस्थं तादित्यर्थः । अत्र निकटमित्युक्ते, कृत्तिकोदये रोहिण्या-सत्तिवत् सामीप्यमात्रमुक्तमिति शङ्कावारणायातीत्युक्तम् । तेन च संनिधानं तादात्म्यमेवेति सूच्यते । न ह्यमूर्त्तयोः स्वतन्त्रयोः

प्रत्यग्ब्रह्मणोर्लोकप्रसिद्धं नैकट्यं संभवति । तथाच प्रत्यगव्यवहितस्वरूपत्वमेवेहातिनिकटशब्दार्थः ॥ ननु कथमविकारिपरमपदस्य कर्तृत्वादिविकारवदात्मात्मतेत्याशङ्कायामाह ॥ अविक्रियमिति ॥ प्रत्यगभिन्नत्वेऽप्यविक्रियं कूटस्थमित्यर्थः । न हि प्रत्यगात्मनोऽपि स्वतो विकारित्वमस्ति । पराध्यासमन्तरेण तस्मिंस्तदनिरूपणादिति भावः ॥

एतदुक्तं भवति । मुरारिशब्दनिर्दिष्टः सत्त्वगुणप्रधानकारणमायायां विक्षेपलक्षणायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुस्तद्गताभासाविविक्ततया तत्पदवाच्य ईश्वरो भवति । रजस्तमःप्रधानाविद्यादिपदनिर्दिष्टकार्यावस्थाज्ञाने आवरणलक्षणे प्रतिबिम्बितः स एव चिद्धातुस्तद्गताभासाविविक्ततया त्वम्पदर्थो जीवो भवति । तत्रोभयत्र कार्यकारणलक्षणोपाध्यंशपरित्यागेनान्विष्यमाणं स्वतोऽविक्रियं कूटस्थसच्चिदानन्दाद्यात्मकप्रत्यग्ब्रह्मरूपं परमं पदं सिद्ध्यतीति॥

अत्रानृतजडविरोधिरूपमविक्रियमिति च तत्पदार्थकोटौ निर्विशेषोऽवान्तरवाक्यार्थो दर्शितः । अतिनिकटमविक्रियमिति च तस्य कूटस्थप्रत्यगात्माभेदो महावाक्यार्थो दर्शितः । द्वितीयविशेषणेन यथानिर्दिष्टस्यैव परमपदस्य परमपुरुषार्थत्वमविद्यातत्कार्यबन्धास्पृष्टाऽनवच्छिन्नपरमाऽऽनन्दत्वलक्षणं निर्दिष्टमिति श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गतया शास्त्रीये विषयप्रयोजने उक्ते वेदितव्ये ॥ १ ॥

ननु प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदात् प्रपञ्चस्य च परमार्थत्वात् कथं परमपदस्यानृताद्यात्मकप्रपञ्चविरुद्धसत्याद्यात्मता प्रत्यगेकरसता चेतिचेत् तत्राह—

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्व-
जीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा ॥

स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा
प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनिः ॥ २ ॥

स्वाज्ञानकल्पितेति ॥ यद्वा, सत्यज्ञानादिपदैरनृतादि-प्रपञ्चविरुद्धाकारस्ववाच्यसत्यत्वाद्यनुगतं प्रत्यगभिन्नं परमं पदं लक्षणया बोध्यत इति यदुक्तं, तदयुक्तम् वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः सम्बन्धासम्भवात् । न हि विरुद्धस्वभावयोस्तेजस्तिमिरयोः सम्बन्धो विद्यते । असम्बन्धे च न लक्ष्यलक्षणभाव इतिचेन्मैवम् । वस्तुतः सम्बन्धाभावेऽपि यथाकथञ्चित् सम्बन्धोपपत्तेर्नोक्तदोषावकाश इत्यभिप्रेत्याह—

स्वाज्ञानकल्पितेति ॥ स्वशब्देन पूर्वश्लोकनिर्दिष्टं परमपदं गृह्यते।तदाश्रयं तद्विषयं चाज्ञानं स्वाज्ञानम्।तेन कल्पितं जगत्कार्य-करणसङ्घातरूपमधिदैवमध्यात्मं च तस्मिञ्जगति यदुपादानत्वेन निमित्तत्वेन चानुगतं तत्परमेश्वरत्वम् । तत्रैव सङ्घातद्वयात्मके जगत्यहम्ममाभिमानितयानुप्रवेशेन व्यवहारयोग्यतापत्तिर्जीवत्वम्। तथाच स्वाध्यस्तानाद्यज्ञानकल्पितानि यानि जगत्परमेश्वर-त्वजीवत्वानि, एतान्येव भेदा विशेषास्तैः कलुषीकृतो मलिनी-कृतो भूमभावो ब्रह्मभावः पूर्वोक्तलक्षणो यस्याः प्रत्यक्चितेः सा स्वाऽज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूम-भावा । अत्र भूमशब्दो न भाववचनः, किन्तु, भूमा सम्प्रसादा-दध्युपदेशादिति न्यायेनाखण्डब्रह्मवचन इति विवक्षित्वा भूम-भावेत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । तथाच प्रत्यक्चितिः पूर्वश्लोकोक्त-परमपदलक्षणा स्वाज्ञानद्वारा जीवेश्वरजगदाकारेण विक्रियमाणा सती त्रिविधस्य भुवनस्य कार्यकारणतदुपाधिसंसृष्टत्वाऽऽत्मना भवनधर्मकस्य योनिरभिव्यक्तिस्थानम् । अधिष्ठानं भूत्वा

विजयते। सर्वत्र सत्तास्फूर्त्तिप्रदत्वेनानुगतोत्कर्षेण स्वे महिम्नि वर्त्तत इति योजना। जगज्जीवेश्वरत्वानामज्ञानकल्पितत्वमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति। एवं सति प्रपञ्चस्य परमार्थत्वाभावात् कार्यकारणोपाधिभेदमन्तरेण स्वतो जीवेश्वरभेदाभावाच्च न प्रथमचोद्यस्यार्थवत्ता।तथा यथोक्तप्रपञ्चस्य स्वाविद्याद्वारा कारणत्वेनाऽनुगमात् परमपदस्य वाच्यार्थसंबन्धे सति लक्ष्यत्वोपपत्तेर्द्वितीयमपि चोद्यं निरवकाशीकृतमेव॥

नन्वेवं स्वाविद्याद्वारा विक्रियमाणायाः प्रत्यक्चितेः कथमविक्रियत्वमुक्तं संगच्छतइति, तत्राह॥स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरिति॥ स्वाभाविकोऽन्यानधीनो यो महिमा कूटस्थसच्चिदानन्दलक्षणस्तास्मिन्नेव स्थितिरवस्थानं यस्याः सा तथा। स भगवः! कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति श्रुतेः। तथाच कल्पितप्रपञ्चाश्रयत्वेन भासमानमपि परमपदं स्वभावतः सदा कूटस्थमेवेत्यर्थः। नन्वविद्यावतः कूटस्थत्वं विरुद्धमविद्यायाः स्वाश्रयविकारहेतुत्वादित्यत आह॥ अस्तमोहेति॥ परमार्थतो निरस्तमोहा। मोहशब्दवाच्याज्ञानस्य सूर्ये दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवदवस्तुत्वात्। न ह्यारोपितेनावस्तुभूतेन परमार्थवस्तुस्वभावो विहन्यत इत्यर्थः। तस्मात् स्वाज्ञानकल्पितकार्यकारणानुगतस्वाभासा विविक्ताकारेण त्वंतत्पदवाच्यं तदुत्पत्तिस्थितिलयाज्ज्ञापितया तदवस्थासाक्षितया च सच्चिद्रूपेणानागमापायिस्वयम्प्रकाशस्वभावात्मना लक्ष्यं च भवति। प्रत्यक्चितिशब्दनिर्दिष्टं विष्णोः परमं पदमिति न किञ्चिदनुपपन्नमिहेति भावः॥ २॥

नन्वेवमप्यनुपपत्तिर्दृश्यते, यतो जगज्जीवेश्वरादेरविद्याकल्पितत्वे प्रमातृप्रमाणशास्त्रादेरपि तथात्वान्मिथ्यात्वे सति कथं

तेभ्यः परमपदप्रमितिरुपपद्यत इति तत्राह—

प्रत्यक्प्रमाणकमसत्यपराक्प्रभेदं
प्रक्षीणकारणविकारविभागमेकम् ॥
चैतन्यमात्रपरमार्थनिजस्वभावं
प्रत्यञ्चमच्युतमहं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ ३ ॥

प्रत्यक्प्रमाणकमिति ॥ अत्रेदं भवान् प्रष्टव्यः । किं प्रमात्रादेरसत्यत्वे ततः परमपदसिद्धिर्न भवतीत्युच्यते ? किं वा भवत्यपि सा वास्तवी न भवति ? इति । आद्येऽपि स्वरूप स्फूर्त्तिलक्षणा सिद्धिर्न भवेदविद्याप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपा वेति । तत्र नाद्य इत्याह ॥ प्रत्यक्प्रमाणकमिति ॥ प्रत्यगिति सर्वान्तरं चित्सदानन्दरूपमात्मतत्त्वमुच्यते । तदेव प्रमाणं प्रमा प्रमिति-र्यस्याच्युतस्य परमपदाख्यस्य स प्रत्यक्प्रमाणकस्तमिति विग्रहः। सर्वेषां विशेषणानां, प्रत्यञ्चमच्युतमित्यनेन विशेष्येण सम्बन्धः। तस्य स्वरूपस्फुरणं प्रति न प्रमात्राद्यपेक्षा । नित्यस्वप्रकाश-चैतन्यरूपत्वादिति भावः । द्वितीयं प्रत्याह ॥ असत्यपराक्-प्रभेदमिति ॥ परागिति चैतन्यभास्यं दृश्यमुच्यते । न सत्यः पराक्प्रभेदोऽविद्यातत्कार्यरूपबन्धलक्षणो यस्मिन् स तथा तम् । तथाचावरणविक्षेपाविद्यानिवृत्तिरूपफलस्यापि, यक्षानुरूपो बलि-रिति न्यायेनावास्तवनिवृत्तिरूपस्याप्यवास्तवत्वान्न तत्र पार-मार्थिकप्रमात्राद्यपेक्षेति भावः । यद्वा असत्य आरोपितः पराग-र्थः प्रभिद्यते विदीर्यते विनश्यत्यस्मिन्नित्यसत्यपराक्प्रभेदस्त-मिति विग्रहः । तथाच प्रमाणवृत्त्या बाध्यमानः परागर्थो यदा-ऽऽत्मतया विलीयते तस्याच्युतस्य बाधाऽबाधितया बाधविषयत्वा-भावादसत्यप्रमाणबाधितासत्यप्रपञ्चाधिष्ठानतया सत्यरूपेवा-

ऽऽत्मनः सिद्धिरिति भावः । एतेन चरमः पक्षोऽपि प्रतिक्षिप्तो वेदितव्यः । एतदुक्तं भवति । स्वरूपस्य नित्यसिद्धतयाऽन्यानपेक्षत्वान्न तत्र प्रमाणमपेक्ष्यते इति प्रमात्रादिवास्तवत्वावास्तवत्वचिन्ता तत्र निरर्थिका । यद्यप्यारोपितबन्धनिवृत्तिफलप्रमाया प्रमात्राद्यपेक्षास्ति, तथापि न परमार्थत्वं प्रमात्रादेरपेक्ष्यते । स्वरूपतो मिथ्याभूतादपि प्रतिबिम्बवर्णदैर्घ्यादेः सत्यार्थप्रमित्युदयदर्शनात् । तथाच प्रमात्रादीनामबाध्यत्वलक्षणं परमार्थत्वमप्रयोजकमुक्तव्यभिचाराद्, अर्थक्रियाकारित्वेन सत्यत्वं तु प्रमात्रादिष्वपि न हीयते इति कल्पितप्रपञ्चद्वारकपरमपदसिद्धेर्नानुपपन्नं किञ्चिदिति ॥

किञ्च, परमपदस्य न साक्षात् प्रमाणविषयत्वयोग्यताऽस्ति तद्द्वारभूतधर्माभावादतोऽपि न तत्स्वरूपसिद्धेः प्रमाणापेक्षेत्यऽभिप्रेत्य विशिनष्टि ॥ प्रक्षीणकारणविकारविभागमिति ॥ प्रकर्षेण क्षीणो नित्यनिवृत्तः कारणत्वविकारत्वभेदो यस्मिन् । यस्मिन् कारणत्वं वा कार्यत्वं वा कदापि नास्तीत्यर्थः । न हि निर्द्धर्मके वस्तुनि प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति । धर्माश्च कयापि व्यपेक्षया कार्यकारणभावं न व्यभिचरन्तीति रूपादिरूपकार्यधर्महीने परमपदे प्रत्यक्षप्रवृत्तेरयोगात्तद्दृष्टव्याप्त्यादिमूलकस्यानुमानार्थापत्यादेरप्यसंभवात् । सामान्यतो दृष्टानुमानस्य च प्रमाणसिद्धे सम्भावनाहेतुत्वेऽपि स्वतो वस्तुतत्त्वानिश्चायकत्वानुपपत्तेः । शब्दस्य च षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते प्रवृत्त्यसम्भवान्न परमपदस्य साक्षात्प्रमाणविषयत्वमस्ति, तथापि कथञ्चिल्लक्षणयोपनिषद्वाक्यैस्तत्स्वरूपमावेद्यत इति भावः । तथाच श्रुतयः । अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि, अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतादित्याद्याः ॥ उक्तं

विशेषणमेव विशेषणान्तरेण साधयति ॥ एकमिति ॥ एकमेवा-द्वितीयमिति श्रुतेरेकरूपमित्यर्थः । न ह्येकमेकरूपं वस्तु परिणमते, आरभते वा, न वा संहन्यते परमार्थत इति न तत्कारणं कस्यापि भवति। आकाशादेस्तथाविधस्य कारणत्वादर्शनान्नाप्येकमेकरूपं क्वचिदाश्रितं संहतं वोपलब्धमस्ति। अतः कूटस्थासङ्गाऽनवयवाद्वितीयचिदात्मनो न कार्यताऽपीति न कार्यकारणभावो वास्तवोऽस्तीति भावः॥ ननु कथमेकत्वमेकरूपत्वं चास्य सिद्ध्येत् तत्तदनृताद्यर्थविरोध्याकाराणामनेकेषामस्मिन् संभवादित्यत आह ॥ चैतन्यमात्रपरमार्थनिजस्वभावमिति ॥ चैतन्यस्वभावमित्युक्ते भावान्तरयोगेऽप्यविरोध इति शङ्कायामुक्तं, मात्रेति ॥ विज्ञानघन एवेति श्रुतेर्न चैतन्यस्य धर्मत्वं धर्मान्तरयोगो वाऽस्तीत्यर्थः। चैतन्यमात्रमेव निजमसाधारणं रूपमस्येति तथोक्तः। एतेन कार्यधर्मदेहादिवैशिष्ट्यं चैतन्यस्य निरस्तम् । अकार्यरूपाऽज्ञानधर्मकत्वव्यवच्छेदाय परमार्थेति विशेषणम् । सजातीयविजातीयस्वगतधर्मभेदरहितमखण्डरूपमित्यर्थः। अतोऽनृतादीनां व्यावर्त्याकाराणा भेदादनेकैः शब्दैर्निर्देशेऽपि नोपादेये वस्तुतत्त्वे विशेषोऽस्ति, प्रतिपत्त्युपायमात्रत्वेन कल्पितत्वाद्व्यावृत्तेरिति भावः । एवं प्रथमश्लोकार्थमुपपादितमुपसंहरंस्तत्र नमस्काररूपं मङ्गलकरणमनुवर्त्तयति ॥ प्रत्यञ्चमच्युतमऽहं प्रणतोऽस्मि नित्यमिति ॥ अच्युतमप्रच्युतैकस्वभावं विष्णोः परमपदरूपं प्रत्यञ्चं प्रत्यगात्माभिन्नं नित्यं सदाहं प्रणतोऽस्मि।तद्विषय एव वाङ्मनःकायप्रणिधानं विधाय स्थितोऽस्मीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तदेवं त्रिभिःपद्यैः परतत्त्वानुसंधानात्मकमङ्गलाचरणव्याजेन वेदान्तशास्त्रीये विषयप्रयोजने निर्दिष्टे । इदानीमुक्तलक्षणे वस्तुतत्त्वे प्रवर्त्तमानानां वेदान्तानां प्रामाण्यं संभावयन् वेदात्मिकां

वाग्देवतां नमस्यति—

औत्पत्तिकी शक्तिरशेषवस्तु-
प्रकाशने कार्यवशेन यस्याः ॥
विज्ञायते विश्वविवर्तहेतो-
र्नमामि तां वाचमचिन्त्यशक्तिम् ॥ ४ ॥

**औत्पत्तिकी शक्तिरिति** ॥ ता वाचं नमामीत्यन्वयः । तस्या नमस्कार्यत्वे हेतुं सूचयंस्तां विशिनष्टि॥ अचिन्त्यशक्तिमिति॥ अलौकिकत्वादतर्क्या अस्याः शक्तिरित्यर्थः । तच्छब्दापेक्षिणं यच्छब्दं पूरयन्नचिन्त्यशक्तित्वमस्याः साधयति ॥ औत्पत्तिकीति ॥ यस्या वाचोऽशेषवस्तुप्रकाशने औत्पत्तिकी शक्तिः कार्यवशेन विज्ञायत इति संबन्धः । यस्या वाचो निरवशेषवस्तुप्रतिपादने औत्पत्तिक्युत्पत्तिसिद्धा सहजैव, न कृत्रिमा केनचित् संकेतिता शक्तिः सामर्थ्यं कार्यवशेनालौकिकदेवताधर्मस्वर्गपरब्रह्मप्रत्ययोदयकार्यलिङ्गेन विज्ञायते तामित्यर्थः । यद्वाऽशेषवस्तु परं ब्रह्म सर्वस्यात्मत्वादधिष्ठानत्वाच्च,तस्य प्रकाशनं लक्षणावृत्त्या ज्ञापनं, तत्र सहजा शक्तिः कार्यवशेन सर्वप्रमाणागोचरप्रमेयस्वभावपरतत्त्वस्फूर्त्तिरूपकार्यलिङ्गेन विज्ञायत इत्यर्थः । तादृशं सामर्थ्यमस्याः संभावयति ॥ विश्वविवर्त्तहेतोरिति ॥ ईश्वरस्य विश्वाकारविवर्त्ते हेतुः स्रष्टव्यार्थस्फूर्त्तेर्निमित्तकारणं, तद्रूपाया इत्यर्थः । ईश्वरो हि सृष्टिकाले प्रावस्वान्मन्येकीभूता प्रथम निश्वासप्रसूतां स्वार्थग्रथितां श्रुतिमुपलभ्य तत्प्रकाशितमर्थजातं सृजतीति स्थितिः । तथाच मन्त्रः । एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः विश्वान्यभिसौभगेति । ब्राह्मणं चास्य पठ्यते । एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति

पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजा इति ॥ तथाच वेदस्य स्वार्थबोधसामर्थ्यस्य सहजत्वाद् युक्तं तस्य परमपदतत्त्वे निरपेक्षं निरपवादं च प्रामाण्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

तदेवं मङ्गलाचरणद्वारा स्वग्रन्थे शास्त्रीयविषयप्रयोजनतत्प्रमाणानि संभाव्येदानीं तत्र विघ्नप्रोत्सारणाय महागणपतिं पूजयन् स्तौति—

आरम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्तिरश्चामपि
नोचेद्विश्वसृजोऽप्यलं विफलतामायान्त्युपायोद्यमाः ॥
विश्वैश्वर्यमतो निरङ्कुशमभूद्यस्यैव विश्वप्रभोः
सोऽयं विश्वहिते रतो विजयते विघ्नेश्वरो विश्वकृत् ॥५॥

प्रारम्भाः फलिन इति॥ सोऽयं विघ्नेश्वरो विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तत इति संबन्धः । किंलक्षणः ? । विश्वकृद् विश्वस्य कर्त्ता । तत्कर्तॄणां प्रजापतीनां विघ्नापहरणद्वारा विश्वकर्त्तेत्यर्थः । न हि विघ्नोपसृष्टानामभिमतकार्यं सिद्ध्यति । तदुपसर्गनिवृत्तिश्च न गणपत्यनुग्रहं विनेति युक्तमस्य विश्वकर्तृत्वमित्युपपादयति ॥ प्रारम्भा इति, पूर्वार्द्धेन ॥ स्पष्टोऽस्याऽक्षरार्थः । यत एवमतो यस्यैव विश्वप्रभोर्विश्वस्मिन् स्वतन्त्रस्य विश्वैश्वर्यं सर्वेश्वरत्वं निरङ्कुशमनिवारितमभूदिति ज्ञायत इति शेषः । ननु निरङ्कुशैश्वर्यवानस्मान्न गणयिष्यतीति कथमेतदनुसरणेनास्मदिष्टसिद्धिरिति? तत्राह ॥विश्वहिते रत इति॥ स्वयमेव विश्वस्य सर्वस्य कर्तृवर्गस्य हिते कार्यसिद्ध्यर्थे रतः प्रवृत्तः । तत्र विघ्नप्राप्तिः प्राणिनां स्वदोषवशादेव भवति । साऽपि तत्प्रार्थनायां न भवतीति स पूज्य इत्यर्थः ॥ ५ ॥

इदानी, यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ * तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इति श्रुतिमाश्रित्य विद्यारम्भे देवताभक्तिं विधाय गुरुभक्तिं विदधानः प्रथमं सर्वगुरुं शास्त्रप्रणेतारं श्रीवेदव्यासं समुद्रात्मना रूपयन् प्रार्थयते -

वाग्विस्तरा यस्य बृहत्तरङ्गा
वेलातटं वस्तुनि तत्त्वबोधः ॥
रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः
पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः ॥ ६ ॥

**वाग्विस्तराइति॥** असौ व्यासपयोनिधिर्नोऽस्मान पुनातु पवित्रयतु स्वकृतशास्त्रार्थज्ञानप्रदानेन पावयत्वित्यर्थः। प्रार्थनाया लोट्। वाग्विस्तरा वेदान्तार्थव्याख्यानविषया यस्य व्यासपयोनिधेर्बृहत्तरङ्गा अन्यैरवारणीयप्रचाराः। तेषां तरङ्गाणामिवोपरमस्थानं वेलातटं वस्तुनि परमात्मविषये तत्त्वबोधो यथार्थस्वरूपबोधः। तत्रैव वाग्विस्तराः प्रशाम्यन्ति, नान्यत्रेत्यर्थः। न केवलमुपदेशमुखेनैव व्याख्यावाक्यानां तत्त्वावबोधपर्यन्तः प्रचारः, किन्तु तदर्थव्यवस्थापनतत्प्रतिपक्षनिराकरणसमर्थयुक्त्युपबृंहितानामित्याभिप्रेत्याह ॥रत्नानीति॥ पदार्थद्वयपरिशोधने वाक्यार्थनिर्णये तदुपयुक्तप्रमाणादिस्थैर्ये च ये तर्कास्तेषां प्रसरः प्रसरणं प्रयोगः। तत्र ये प्रकारा भेदास्तान्यस्य रत्नानि रत्नवदर्थाभिव्यञ्जकत्वाद् दुर्भेद्यत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥

सूत्रकारं पूजयित्वा तद्भाष्यकारमाचार्यं नमस्करोति—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत् ॥

निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम् ॥ ७ ॥

वक्तारमिति ॥ नित्या वेदलक्षणा सरस्वती यमेव वक्तारं स्वव्याख्यातारमासाद्य प्राप्य तेन व्याख्यायमाना स्वार्थसमन्विता स्वाभिप्रेतार्थयुक्ताऽसीदभूत् । कथम्भूता सती? निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का ॥ दुस्तर्क्को हैतुकैरुत्प्रेक्षितस्तर्क्कः । स एव कलङ्को लाञ्छनं मालिन्यम् । तल्लक्षणः पङ्को निरस्तो यस्याः सा तथोक्ता । दुस्तर्क्कनिरासेन व्याख्यायमानेत्यर्थः । तं शङ्करं शङ्कराचार्यमर्चिताङ्घ्रिं ब्रह्मविद्यार्थिभिः पूजितचरणं नमामीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इदानी साक्षात् स्वगुरुं सुरेश्वराचार्यमभिपूजयति—

यदीयसपर्कमवाप्य केवल
वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः ॥
जगत्सु ते तारिताशिष्यपङ्क्तयो
जयन्ति देवेश्वरपादरेणवः ॥ ८ ॥

यदीयसम्पर्क्कमिति॥ते देवेश्वरपादरेणवो जगत्सु संसारमण्डले जयन्तीति योजना । विजयप्रकारमेव वदन् पादरेणून् विशिनष्टि ॥ तारितशिष्यपङ्क्तय इति ॥ तारिताः संसारसमुद्रपरम्पारं विष्णोः परमं पदं ब्रह्मविद्यापोतारोपणेन प्रापिताः शिष्यपरम्परा यैस्ते तथा । ते के इत्यपेक्षायामाह ॥ यदीयेति ॥ येषां पादरेणूनां केवलं निमित्तोद्देशं विना संपर्क्कमवाप्य निरवद्यकीर्त्तयः सन्तः विख्यानसत्कीर्त्तयः सन्तः कृतार्था

वयं जातास्ते इत्यन्वयः । येषां गुरूणां चरणरजसामप्येवंविधः प्रभावस्तेषां महिमा केन वर्णयितुं शक्यत इति भावः ॥ ८ ॥

वयं कृतार्था निरवद्यकीर्त्तय इत्युक्तवता गुरोः प्रभावकथनमिषेणात्मश्लाघैवाभिव्यञ्जितेति भवेत् कस्यचिन्मतिः । सा मा भूदिति मन्वानः स्वस्य कृतार्थत्वाद्युक्तेरभिप्रायं प्रकटयन् पुनरपि गुरोरुत्कर्षमाविष्करोति—

गुरुचरणसरोजसन्निधाना-
दपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ॥
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ॥ ९ ॥

गुरुचरणेति ॥ गुरोश्चरणकमलसन्निधानात्तद्रजःसम्पर्काद्वयं न तदीयसर्वगुणभाजो येनात्मानं श्लाघयेमहि, अपित्वस्य गुरोर्गुणगणाढ्यस्य महागुणानां मध्ये एकस्य गुणस्य लेशमंशमात्रं भजामोऽतो नास्मद्वचनमात्मस्तुतिपरं, किन्तु गुरूणां माहात्म्यख्यापनपरमित्यभिप्रायः । तत्र गुरूणा गुणसाम्राज्येऽनुग्राहकत्वे च स्वात्मनश्च तदपेक्षयाल्पत्वे गुरौ नित्यरागितया तद्गुणलेशभजनेन कृतार्थत्वे च दृष्टान्तमाह ॥ अपि महतीति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सत्यपूर्णत्वात्तव कथं ग्रन्थकरणसामर्थ्यम् ? । कथञ्चित्सामर्थ्येऽपि, श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपीति न्यायेन विघ्नबाहुल्यसम्भवात्तन्निष्पत्त्यासिद्धेर्नेदमाशङ्काद्वयं परिहरन् स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते—

शक्तो गुरोश्चरणयोर्निकटे निवासा-

न्नारायणस्मरणतश्च निरन्तरायः ॥
शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानं
सक्षेपत प्रकरणं करवाणि हृष्यन् ॥ १० ॥

शक्त इति॥ यद्यप्यहं गुरोर्गुणैकलेशभाक् तथापि तच्चरण-निकटवासमहिम्नैव तत्कृपया प्रस्फुरितशास्त्रार्थसन्दर्भतया पूर्णः सन कर्त्तु शक्त इत्यर्थः। तथा नारायणस्मरणतो निरन्तरायो निर्विघ्नश्चास्मीति योजना । तथाच स्मृतिः— सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम् ॥ येषां हृदिस्थो भगवान्मङ्गलायतनं हरिः ॥ लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ॥ येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दन इत्याद्या । यत एवं परिकरसंपन्नोऽहमतो हृष्यन्नव्यग्रमनाः सन् प्रकरवाणीति संबन्धः । करिष्यमाण-प्रकरणस्वरूपं निर्दिशति॥ शारीरकार्थविषयावगतिप्रधानामिति॥ श्रीमच्छारीरकाख्यं यच्छास्त्रं तस्यार्थो ब्रह्मात्मैक्यं तद्विषयो यस्याः सा शारीरकार्थविषया।सा चासाववगतिश्चेति शारीरकार्थविषया-ऽवगतिः। सा प्रधानमुद्देश्यं यस्य तत्तथेति विग्रहः। अनेन शास्त्रीयविषयप्रयोजनयोर्ग्रहणेन शास्त्रैकदेशसंबद्धत्वलक्षणांशः प्र-करणस्य दर्शितः।तथा शास्त्रकार्यान्तरे स्थितमिति लक्षणांशमाह संक्षेपत इति ॥ तथाच अयमर्थः सम्पन्नः। शास्त्रीययोर्विषय-प्रयोजनयोरिह प्रतिपाद्नायं ग्रन्थः स्वकपोलकल्पितः स्व-तन्त्रः। तद्गतमत्यधिकरणार्थानामिह साकल्येनाप्रतिपादनाद्, अर्थावगतिमात्रापेक्षितांशस्यैव अभिनवविप्रतिपत्तिनिराकरणेन प्रतिपादनात् कार्यान्तरस्यापि योगाच्च निर्माणवैय्यर्थ्यमपीति। प्राचीनाचार्यैः प्रदर्शितनानानिबन्धनार्थसारसंग्रहेण शारीरका-ऽर्थविषयावगतिं प्रकरणेन विदध्मह इत्याभिप्रायः ॥ १० ॥

यद्येवं स्वगुरुनारायणाश्रयबलादेव त्वं ग्रन्थं कर्त्तुं प्रवृत्त-स्तर्हि गुरुव्यतिरिक्तेषु विद्वत्स्वनादरस्त्वया कृत इति प्रतिभाया-त्। तथाच त्वत्कृतं ग्रन्थं विद्वांसो नाद्रियेरन्निति, न प्रसरी-सरिष्यतीत्याशङ्कां परिहरन् सर्वानेव विदुष आवर्ज्जयति—

पदवाक्यमाननिपुणा निपुणं
विमृशन्त्विदं प्रकरणं मनसा ॥
गुणदोषनिर्णयनिमित्ततया
प्रथिता हि पण्डितजना जगति ॥ ११ ॥

पदवाक्येति॥अर्थस्वरूपमात्रबोधको वर्णसन्दर्भो गृहीता-ऽर्थसम्बन्धश्च पदम्। वाक्यं तु पदानामाकाङ्क्षादिमतां समूहः। प्रमाणं तु तादृग्वाक्यं प्रत्यक्षादि च। तेषु निपुणास्तद्याथात्म्य-निरूपणे कुशला ये सन्ति ते, इदं प्रकरणं मनसा विमृशन्तु विचारयन्तु। ऊहापोहाभ्यामत्र सारासारभागौ व्यञ्जयन्त्वित्य-ऽर्थः। हि यस्माद्, गुणदोषनिर्णयेति स्पष्टार्थः॥ परीक्षणीयोऽयं ग्रन्थो विद्वद्भिः, मया तु ग्रन्थशरीरमात्रं निष्पाद्यते। विशुद्धि-स्त्वस्य विद्वदधीनैवेति भावः॥ ११ ॥

यद्येवं तर्हि परीक्षकैर्दूषणमपि क्वचिदुद्भाव्येत। तच्च तवा-ऽसंमतमिति तैरुपेक्षैव युक्ता ग्रन्थस्येत्याशङ्क्य,मैवं वाच्यमित्याह

विद्वांसो यदि मम दोषमुद्गिरेयु-
र्यद्वा ते गुणगणमेव कीर्तयेयुः ॥
तुल्यं तद्बहु मनुते मनो मदीयं
कष्टं तद् बत मनुते यदाह मन्दः ॥ १२ ॥

**विद्वांस** इति॥येऽत्र दूषणमुद्भावयिष्यन्ति ते किं पदवाक्यमाननिपुणाः पक्षपातशून्याश्च, किं वा तद्विपरीता इति विवेचनीयम् । यद्याद्यः कल्पस्तत्र न ममासंमतिः । यतो विद्वांसः पदादिनिरूपणसमर्था यद्येकमपि दोषं ममोद्गिरेयुः कीर्त्तयेयुर्यद्वा ते मम गुणसमूहमेव कीर्त्तयेयुस्तदुभयं मदीयं मनस्तुल्यं समानमेव बहु यथा स्यात्तथा मनुते । एकस्यापि दोषस्य कीर्त्तने बहुगुणकीर्त्तन इवाहं बहुसन्तोषमुपेष्यामि। तद्द्वारा मदज्ञाननिवृत्तिसम्भवादितिभावः । द्वितीयं कल्पं प्रत्याह ॥कष्टमिति॥मन्दः पूर्वोक्तविद्वद्विपरीतोऽपि यदि विद्वन्मन्यतया गुणदोषौ कीर्तयेत् कीर्त्तयतु नाम, परं तु तद् बत अहो कष्टं मम मनो बहु मनुते । नैतावता मम काचिद्धानिर्भविष्यति । तस्यैवानभिज्ञत्वप्राकट्यात् सम्यग्विद्वद्भिश्चानुगृहीतत्वात् । तथाच तद्वचनमुपेक्षणीयमिति भावः ॥ १२ ॥

ननु मन्दोऽपि नोपेक्षणीयो यतः सोऽप्यस्य प्रसरणविघ्नं कर्त्तुं समर्थ इत्यत आह—

महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति
स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः ॥
स नूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते
विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम् ॥ १३ ॥

**महामहिम्नामपीति** ॥ यो महामहिम्नां स्वापेक्षयाधिकमहिमवतामपि स्वभावसंशुद्धतरं स्वरूपत एव सुनिर्मलतरं यशो माहात्म्यं तिरस्कर्त्तुमिच्छति स तु स्वयमेव लोकेऽस्मिन्नुपहास्यतां गमिष्यति, न मम किञ्चित् कर्त्तुं शक्नोतीत्यर्थः । अत्रैव लोकोक्तिं

वदन् दृष्टान्तमाह ॥ स नूनमिति ॥ १३ ॥

यदर्थं देवतागुरुनमस्कारविद्वदावर्ज्जनादिप्रकाशनमेतावता ग्रन्थेन दर्शितं तामिदानीं ग्रन्थारम्भं करिष्यन्नन्छङ्कोत्तरत्वेन विचारशास्त्रस्य कृत्यं तावद् विवेचयति—

पुरुषापराधमलिना धिषणा ॥
निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा ॥
न फलाय भर्त्तुर्विषया भवति
श्रुतिसम्भवापि तु तथात्मनि धीः ॥ १४ ॥

पुरुषापराधेति ॥ अत्रेयमाशङ्का । ननु शारीरकस्यार्थावगतिस्ततो जायते न वा । आद्ये तत एव तदर्थावगतेरयं ग्रन्थो व्यर्थः । द्वितीये विषयासिद्धेः प्रकरणारम्भासिद्धिः । प्राक् तदर्थावगतेरभावात् । तथा शारीरकस्यापि वेदान्तवाक्यार्थाऽवगतिहेतुत्वम् अनुपपन्नम् । तत्रापि वेदवाक्येभ्य एव तदर्थप्रमितौ विचारशास्त्रवैयर्थ्यात् । ततस्तदप्रतीतौ विषयासिद्धेरारम्भासंभवात् । तस्माच्छास्त्रप्रकरणयोरारम्भे हेतुं न पश्याम इति । अत्रोत्तरम् । सत्यं वेदवाक्येभ्य एव तदर्थप्रमितिरुत्पद्यते । शारीरकाच्च शारीरकार्थावगतिरिति । तथाप्यसंभावनादिपुरुषदोषप्रतिबन्धवशात् प्रमाणसामग्रीतो जायमानापि प्रमितिः फलपर्यन्ता न जायते,किन्तु मज्जनोन्मज्जनवदप्रतिष्ठितेव भवति । अतस्तादृशप्रतिबन्धव्युदासेन प्रमाणजन्यायाः प्रमितेः स्वविषयप्रतिष्ठत्वनिश्चलीकरणाय विचारशास्त्रमारम्भणीयम् । तस्याप्यतिगम्भीरत्वात्तत्तात्पर्यविशदीकरणाय प्रकरणमपीति चतुर्भिः पद्यैः प्रतिपाद्यते॥तत्राद्येन पद्येन प्रमाणसामग्रीतो जाता

स्वप्रमेयमवभासयन्त्यपि प्रमा प्रतिपत्तुरसम्भावनादिदोषप्रति-
बन्धवशात् स्वप्रमेयप्रतिष्ठिता न भातीत्येतद् दृष्टान्तेनोपपाद्यते।
अत्रेयमाख्यायिका वृद्धप्रवादपरम्परागता— भर्त्तुर्नाम कश्चित्
कस्यचिद् राज्ञः सचिवः। स कदाचित् केनापि निमित्तेन राज्ञा
दूरदेशान्तरं प्रति तत्रत्यदस्युवधोद्देशेन प्रस्थापितः। तस्मिंश्च तत्र
चिरं विलम्बिते सति तत्प्रतिपक्षभूतैरमात्यैस्तद्द्वेषवशाद्भर्त्तुर्मृतो
दस्युभिर्हत इत्युद्घोष्य राज्ञेऽभिज्ञानपूर्वकं तन्मरणं मिथ्यैवावेदि-
तम्। एवं निश्चितविपरीतप्रत्यये लोके राजनि च सति भर्त्तुः
स एव दस्यून् पराजित्य राजधानीमागच्छन् स्वद्वेषिभिः कृतं
स्वमरणोद्घोषं नगरगतमाकर्ण्य तज्जिज्ञासया विसृज्य स्वपरिवारं
स्वयमेकाकी राजधानीमागत्य राज्ञो दर्शनमाकाङ्क्षमाणः क्वचिद्
वृक्षदेशमाश्रित्य स्थितः। तदा दैवात्तं देशं गतेन राज्ञा दृष्टो
भर्त्तुरयमित्यवगतश्च। तथापि तन्मरणश्रवणसंस्कारप्राबल्यात्
प्रतिबद्धप्रमितिफलः पिशाचोऽयं जात इति विपरीतं प्रतिपद्यते
स्मेति॥ तदिदमाख्यानं सूचयन्नाह ॥ पुरुषापराधेति॥ यथा
निरवद्यचक्षुरुदयाप्यदुष्टप्रमासामग्रीजन्यापि राज्ञो धिषणा भर्त्तु-
विषया, पुरुषस्य तस्यैव द्रष्टुरपराधेनासंभावनाख्येन मलिना
कलुषिता सती न फलाय भवति स्वप्रमेयैकनिष्ठतया तत्प्रयुक्त-
व्यवहारप्रवर्त्तिका न भवति तथा निर्दुष्टवेदवाक्यजनिताप्यात्म-
विषया धीर्न फलाय,मुक्तिरूपफलप्राप्तये न भवतीत्यर्थः। देहा-
दिष्वहंममेत्याद्यनुभवसंस्कारप्राबल्यादसंभावनाद्यभिभूता सती
श्रुतिसंभूताऽपि मतिर्न सहसा स्वविषयप्रतिष्ठा जायत इत्युक्तं
भवति॥ १४॥

तर्हि राज्ञो भर्त्तुधीवद्वेदजनिताऽपि श्रोतुर्धीर्निष्फलैवेत्यत आह—

पुरुषापराधविगमे तु पुनः

प्रतिबन्धकव्युदसनात् सफला ॥
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा
सति पावकाद्भवति धूमलता ॥ १५ ॥

पुरुषापराधविगम इति॥पुनर्विचारानन्तरं पुरुषापराध-स्यासंभवानादिहेतोर्दोषस्य विगमे अपसरणे सति प्रतिबन्धक-स्यासंभावनादिलक्षणस्य व्युदसनान्नाशनात्सैव प्रमितिः सफला फलपर्यन्ता भवति। तत्र दृष्टान्तमाह॥ मणिमन्त्रयोरिति॥ मणि-मन्त्रयोः प्रतिबन्धकयोरपगमे तु सतीति योजना ॥ १५ ॥

शास्त्रप्रकरणयोः पुरुषापराधनिवृत्तिफलं वेदाविन्संमत्या द्रढयति—

पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः
सकलो विचार इति वेदविदः ॥
अनपेक्षतामनुपरुध्य गिर.
फलवद्भवेत् प्रकरणं तदतः ॥ १६ ॥

पुरुषापराधविनिवृत्तिफल इति॥सकलो विचारो धर्म-ब्रह्मविषयः काण्डद्वयपरः सर्वोऽपीत्यर्थः। अतो विचारस्य प्रति-बन्धनिरासफलत्वाद् गिरो वेदवाक्यस्यानपेक्षतामनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वादित्यत्र निर्णीतामनुपरुध्य अबाधित्वा तच्छास्त्रं प्रकरणं च फलवत् सार्थकं भवेद् —इति योजना ॥ १६ ॥

शास्त्रप्रकरणप्रयोजनमुपपादितमुपसंहरति

पुरुषापराधशतसंकुलता
विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः ॥

स्वयमेव वेदशिरसो वचना-

दथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला ॥ १७ ॥

पुरुषापराधशतेति॥प्रकरणग्रहणं शास्त्रस्याप्युपलक्षणम् । अथ शास्त्रादिना पुरुषापराधेऽपसारिते सत्यनन्तरं मुक्तिफला बुद्धिर्वेदशिरसो वचनात् स्वयमेवोद्भवति, न विचारस्य वाक्यप्रमित्युत्पत्तावप्युपयोग इत्यर्थः ॥ १७ ॥

ननु युक्त्यनुसन्धानात् प्राग् वाक्यस्य फलवद्विज्ञानाजनकत्वात्तदनन्तरं च तज्जनकत्वात् कथं विचारस्य वाक्यात् प्रमित्युत्पत्तावनुपयोगः । नच सूत्रादिविचारग्रन्थानां सादित्वादनादिवेदवाक्यानुपकारितेति वाच्यम् । तेषां सादित्वेऽपि तद्व्युत्पाद्यन्यायानामनादित्वात्तदनुसन्धानस्य च सर्वदा संभवाद्विचारस्य च न्यायात्मकत्वान्नित्यवत् सहकारित्वोपपत्तेर्विचारो वेदस्य स्वार्थप्रमित्युत्पादने सहकार्येवास्त्विति चेत्तत्राह—

स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो

नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ॥

सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे

ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम् ॥ १८ ॥

स्वाध्यायवदिति ॥ विचारो युक्तत्वायुक्तत्वव्यवस्थापनलक्षणः स्वाध्यायवद् वेदवाक्यवत् परमात्मधियः प्रसूतौ करणं न घटते । युक्तेरप्रमाणत्वात् प्रमाणेनार्थावगमात् प्राग्विषयाभावेनाप्रवृत्तेश्चाग्नेयादिवद्विचारस्वाध्याययोर्न समप्रधानतया समुच्चय इति भावः । तर्हि करणभूतस्य स्वाध्यायस्येतिकर्त्तव्यतारूपो विचार आग्नेयादीनामिव तदङ्गानि स्यात् । एवञ्च सति,

धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना * इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यतीत्यभियुक्तवचनं, प्रमाणानुग्राहकस्तर्क इति तर्कलक्षणं चोपपन्नार्थं भविष्यतीतिचेत्तत्राह ॥ नाप्यङ्गमस्येति ॥ अस्य स्वाध्यायस्य विचारोऽङ्गमपि न भवतीत्यर्थः । न तावद् यागस्य व्रीह्यादिकारकवदस्य प्रमाणस्वरूपोपकारित्वं संभवति । वेदस्यानादितया स्वरूपसिद्धौ कारकानपेक्षणात् । स्वार्थबोधनशक्तेश्च तस्यौत्पत्तिकत्वेन तत्रापि सहायानपेक्षित्वात् । नाऽपि प्रयाजादिवत् फलोपकारित्वम् अस्योत्प्रेक्ष्यते । करणस्याऽस्य साक्षात्फले विज्ञाने स्वशक्तिमात्रातिरिक्तसहायापेक्षाऽनिरूपणात् । प्रमितिद्वारके च मोक्षफले परमानन्दलक्षणेऽवभासमानस्वरूपमात्रे न सहायापेक्षा । तद्गताज्ञानादिबन्धध्वंसस्य च स्वकार्यप्रमित्युदयनान्तरीयकत्वेन तत्रापि न विचारसहकार्यपेक्षेति भावः। विचारनिरपेक्ष एव स्वाध्यायोऽयं स्वरूपे स्वफले चेत्युक्तमेवार्थं विपक्षे दोषप्रदर्शनेन द्रढयति ॥ सापेक्षतेति ॥ तथात्वे विचाररूपतर्कसहायापेक्षत्वे वेदगिरः स्वाध्यायस्य वेदान्तवाक्यस्य ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि ब्रह्मात्मविषयकप्रमित्युत्पादने सापेक्षता पुरुषबुद्धिसहायापेक्षत्वमापतति । नचेष्टापत्तिरित्याह ॥ तन्न युक्तमिति ॥ तत् सापेक्षत्वं तस्य न युक्तम् । तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वाद् -इत्यऽनपेक्षत्वलक्षणस्वतःप्रामाण्यव्यवस्थापनविरोधादित्यर्थः। तथाचाभियुक्तवचनं तर्कलक्षणं चासंभावनादिप्रतिबन्धनिरासद्वारा फलोपकारकत्वोपचाराभिप्रायमिति न विरोध इति द्रष्टव्यम् । एतेन, ननु युक्त्याद्यनुसंधानात् प्रागित्यादिनोक्तौ युक्त्यन्वयव्यतिरेकावन्यथा नीतौ । एवञ्च सति स्वाध्यायजन्यायां प्रमितौ तस्याः फलपर्यन्तत्वे च प्रतिबन्धनिगमे विचारस्योपयोगो नान्यत्र, नाप्यस्यानुपयोग एवेति

सिद्धमिति भावः ॥ १८ ॥

ननु वाक्यस्य स्वसामर्थ्यादेव स्वार्थबोधनेऽपि चक्षुष आलोकापेक्षावच्छब्दस्य व्युत्पत्तिग्रहापेक्षावच्च विचारस्याऽप्यवश्यापेक्षणाद्युक्तमस्य वाक्यप्रमित्युत्पादने सहकारित्वमितिचेन्नेत्याह—

व्युत्पन्नस्य हि बुद्धिजन्म सहसा वाक्यश्रुतौ दृश्यते
वाक्यार्थे न ततोऽस्ति बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिः ॥
तेनार्थात् करणादिभावभजनं मीमांसनस्याश्रिते
वेदार्थप्रमितौ तु वेदवचसः सापेक्षता यास्यति ॥ १९ ॥

व्युत्पन्नस्येति ॥ लोके वेदे वा वाक्यश्रुतौ वाक्यश्रवणे सति व्युत्पन्नस्य व्युत्पन्नपदपदार्थसंगतेर्वाक्यार्थे विषये सहसा तत्क्षणमेव बुद्धिजन्म दृश्यते हीति निश्चितं, नाव्युत्पन्नस्येत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । न चक्षुष आलोकवच्छब्दस्य व्युत्पत्तिग्रहवद्वा विचारो वाक्यार्थप्रमित्युत्पत्तौ शब्देनापेक्ष्यते । विचारप्रवृत्तेः प्रागेव व्युत्पन्नस्य गृहीतशब्दसामर्थ्यादेव तदर्थप्रमित्युत्पत्तेर्दर्शनात् । क्वचिदेव हि विचारापेक्षा दृश्यते । यत्रार्थविरोधशङ्कया वा शब्दस्य वृत्त्यन्तरेणार्थान्तरविषयत्वशङ्कया वा वाक्योत्थज्ञानस्य फलपर्यन्तता नावभासते तत्र तादृशशङ्कानिरासाय विचारस्यावसरः।शङ्काभावे तु न तदपेक्षा। यदि विचारात् प्रागऽव्युत्पन्नस्येव वाक्यादर्थधीर्नोत्पद्येत तर्हि सिद्धान्तस्यैककोटिकरणेन विचार एव न, न प्रवर्त्तेत। विपर्यासिद्धेः।अतो दृष्टान्तो विषम इति भावः । यत एवं विचारस्यान्यार्थतैवात इदं सिद्धमित्याह ॥ न ततोऽस्ति बुद्धिजनने मीमांसनव्यापृतिरिति ॥ वाक्यार्थ इति पदमत्राप्यनुषज्ज्यते । तस्माद्वेदप्रामाण्याऽविघात-

मिच्छता विचारस्य करणभावेनाङ्गभावेन वा वाक्यार्थप्रमिति-हेतुता नाभ्युपगन्तुं युज्यत इति फलितमुपसंहरति ॥ तेनार्था-दिति ॥ आयास्यतीति छेदः स्पष्टार्थः ॥ १९ ॥

तदेवं प्रकरणादेर्वेदान्तवाक्येभ्यः स्वसामर्थ्यादेव ब्रह्मात्म-प्रमित्युत्पत्तौ प्रतिबन्धनिरासेन तस्याः फलपर्यन्तत्वायोपयोगो, न प्रमितेः करणेतिकर्त्तव्यताभावेन तदुत्पत्तावुपयोग इति स्थित-म् । तत्रेदमाशङ्क्यते । उक्तप्रकारेण शास्त्रप्रकरणयोरुपयोगस्तदा स्याद्यदि वाक्याद्ब्रह्मात्मैक्यावभासि ज्ञानं जायेत, जातस्य वा संसारबन्धनिवृत्तिः फलं सम्भाव्येत । यावता जीवब्रह्मणोः संसारित्वाऽसंसारित्वादिविरुद्धधर्मवतोर्भेदे प्रामाणिके सति वाक्यसहस्रेणापि तदैक्यं बोधयितु न शक्यते । तथाऽऽत्मनि दृश्यमानस्य प्रमातृत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपस्य बन्धस्य प्रत्यक्ष-सिद्धस्य परमार्थस्य ज्ञानेन बाधासम्भवाज्ज्ञानस्य चाज्ञानमात्र-विरोधित्वप्रसिद्धेरिति । अतो विषयप्रयोजनयोरसम्भवाद्वेदान्त-विचारशास्त्रप्रकरणाऽऽरम्भासिद्धिरितिचेन्मैवम् । भेदबन्धयो-श्चिदात्मन्येकस्मिन्नविद्ययाध्यस्तत्वादाविद्यत्वे सति तयोर्वाक्य-जन्यप्रमापोद्यत्वोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य चिदात्मनि भेदविपर्यासयो-स्तदज्ञाननिबन्धनत्वं तावदाह—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव ॥
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा-
दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन ॥ २० ॥

आच्छाद्य विक्षिपतीति ॥ अयमर्थः । अस्त्यज्ञानं नाम

किञ्चिदहमज्ञो मां न जानामीति स्फुरत्यप्यात्मन्यनुभवसिद्धम् । न तत् ज्ञानाभावरूपं, ज्ञानरूपे प्रत्यगात्मनि तदसम्भवात् । न चात्मा कादाचित्कज्ञानाश्रयो येन तस्मिन् ज्ञानाभावोऽपि सम्भाव्येत । तदभ्युपगमेऽपि तस्मिन्नहमिति मामिति चोल्लिख्यमाने कथं तस्मिन्ननुभवाभावः। सति प्रतियोगिनि तदभावासिद्धेः। तस्मान्नाभावात्मकमज्ञानम् । नापि सल्लक्षणं भावरूपम् । तथा सत्यात्मादिवत् स्वातन्त्र्यापत्तेर्ज्ञानबाध्यत्वानुपपत्तेश्च । नाऽपि नरशृङ्गकल्पमपरोक्षत्वेनावभासात् । तस्मात् सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयं मिथ्याभूतमनुभवमात्रसिद्धमज्ञानम् । तच्च न निराश्रयं निर्विषयं च सम्भवति। आश्रयविषयसापेक्षत्वेनैव तत्प्रतीतेरित्येतदाह ॥ संस्फुरदात्मरूपमिति ॥ एषाक्षरयोजना । अज्ञानं यथा व्याख्यातस्वभावं संस्फुरत् स्वमहिम्नैव स्वप्रकाशरूपेण सम्यग्भासमानमात्मनः प्रत्यग्रूपस्य रूपं याथात्म्यं परिपूर्णाऽखण्डाद्वयब्रह्मलक्षणमाच्छाद्य प्रतिबध्य तदेवात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्भोक्तृनियन्तृभोग्याकारैरनेकधा विक्षिपति विविधं क्षिपति विकिरतीति । स च विक्षेप आवरणं चानिर्वचनीयाऽज्ञानकृतत्वान्मृषैव, न परमार्थ इत्यर्थः । तथाच चिदात्मनि जीवेश्वरभेदप्रतिभासस्य प्रतीचि जगद्बन्धप्रतिभासस्य चाऽज्ञानकल्पितत्वाद्वाक्योत्थविज्ञानस्य तदपबाधनेनात्मतत्त्वाद्वितीयब्रह्माऽवभासात्मनोदयोपपत्तेर्न्न वेदान्तादेर्विषयाद्यभावशङ्कावकाश इति भावः । ननु कथमज्ञानस्यैतादृशं सामर्थ्यमित्यपेक्षायामाह ॥ आवरणविभ्रमशक्तियोगादिति ॥ आच्छादनाविक्षेपकसामर्थ्ययोः सहजासिद्धत्वादित्यर्थः । यथा चक्षुःसन्निकृष्टतया स्वरूपेणावभासमानेऽपि पुरोवर्त्तिनि रज्जुखण्डेऽन्धकारो रज्जुतत्त्वांशं तस्य निजरूपमाच्छाद्य तमेव सर्पधाराद्यतद्रूपत्वेनानेक-

विधं विक्षिपति सहजसामर्थ्यादेवमज्ञानमपीति भावः । नन्वेवं सत्यऽज्ञानस्य स्वातन्त्र्यापत्तौ साख्यमतप्रवेशो ब्रह्मवादिनामित्याशङ्क्य तस्य चित्पारतन्त्र्याभ्युपगमान्मैवमित्याह॥आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेनेति ॥ आत्मत्वमात्मस्वरूपं तन्मात्रमेव, न जीवेश्वरत्वविशेषितमाश्रयो विषयश्च यस्याज्ञानस्य तस्य भावस्तत्ता, एतदेव बलं, तेनेत्यक्षरार्थः । आत्मन्यध्यस्तं ह्यज्ञानं तत्सत्तया लब्धसत्ताकं सत्तत एवैतादृशं सामर्थ्यं प्रतिपद्यतेऽतो ज्ञानात्मनाऽऽवरणमात्मचैतन्याभासानुविद्धं सद्रसाविद्धमिव लोहं विक्षेपणशक्तिं च लभत इति भावः । एतेनाधिष्ठानगतमेवाज्ञानं तद्बलनिर्भासितं सत्तदेवाच्छाद्य तदेव विक्षिपतीति प्रतिपादनेन अन्यथाख्यात्यादेर्वादिभिरुत्प्रेक्षितपक्षभेदस्य निराकरणमप्यर्थात् कृतं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

नन्वात्मनस्तत्त्वानवभासरूपमावरणं भेदविपर्यासरूपाविक्षेपश्चेत्युभयं स्वाश्रयविषयकाज्ञानकृतमिति किमित्यभ्युपेयते । तत्र प्रमाणाभावात् । भावे वाऽज्ञानस्य स्वातन्त्र्यापत्तेरात्माश्रयताबलेनेत्ययुक्तं स्यात् । आत्मनः स्वत एवाज्ञानप्रेरकत्वेन तद्बलकरत्वे च विकारित्वापत्तेरज्ञानसहायतया तथात्वेऽन्योन्याश्रयत्वापातात् । अतो जीवेश्वरत्वजगदाकृतीनां यथाप्रतीति परमार्थत्वमेवास्तु, किमविद्याकल्पितत्वकल्पनया प्रमाणहीनयेतिचेत्तत्राह—

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेन
प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्तैः ॥
प्रत्यञ्चमद्वयमशेषविशेषहीनं
विक्षिप्य तिष्ठति तदग्रहण मृषैव ॥ २१ ॥

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताबलेनेति ॥ अयमर्थः । न तावदज्ञानं स्वतन्त्रमभ्युपगन्तुं शक्यते । तस्य जडत्वेनानात्मत्वे सति स्वातन्त्र्येऽयं घट इतिवद् इदमज्ञानमिति प्रतीतिप्रसङ्गात् । न चैवं प्रतीयते, किन्त्वहमज्ञो मय्यज्ञानमयमज्ञ इति वा पराश्रयत्वेनैव तदनुभवात्तस्य पारतन्त्र्यमवसीयते । अतश्चेतनाश्रयत्वं तावदस्य निश्चितमिति स्वाश्रये चेतने प्रत्यगात्मन्येवाज्ञानमावरणविक्षेपरूपमतिशयं जनयेत्। स्वासम्बद्धे तज्जननेऽतिप्रसङ्गात् । तथाच तस्य चिदात्मविषयताऽपि सिद्धा । येन यत्रातिशयः क्रियते स तस्य विषय इति स्थितेः । नचात्र प्रमाणाभावो नीहारेण प्रावृता जल्प्या चेत्यादिश्रुतेः प्रमाणत्वात् । इहाप्यग्रे प्रमाणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । नाप्यात्मनोऽज्ञानप्रेरकत्वेन विकारित्वप्राप्तिः । अविकृतस्यैव रज्जुखण्डादेः स्वारोपितसर्पविसर्पणादाविवाज्ञानविकारहेतुत्वोपपत्तेरज्ञानविशिष्टस्याज्ञानप्रेरकत्वानङ्गीकारात्तत्संनिधिसन्मात्रेणैव तदङ्गीकारादन्योन्याश्रयत्वाप्रसक्तेः । न च जीवेश्वरजगदाकारभेदस्य परमार्थत्वमुपपद्यते । तस्याज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । जीवस्य चैतन्यात्मन ईश्वरस्य च तद्रूपस्योपाधिभेदमन्तरेण स्वरूपतो भेदानिरूपणादुपाधिभूतस्य च कार्यकारणरूपजगत उत्पत्तिप्रलयश्रवणादागन्तुकत्वे सत्याद्यन्तवतो रज्जुसर्पादिवदऽविद्याकल्पितत्वाव्यभिचारादारम्भवादादेश्चाग्रेनिराकरिष्यमाणत्वाच्चिदात्मनश्च स्वतोऽशेषविशेषहीनतया अद्वयानन्दरूपताया अस्थूलाद्यनेकश्रुतिभिस्तात्पर्येण प्रतिपादनाच्च न पूर्वश्लोकोपपादितार्थे कोऽपि दोष इति अक्षरार्थः सुगमः ॥

यद्वा, आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेनाज्ञानमात्मन्यावरणविक्षेपौ करोतीत्ययुक्तम्, आवरणविभ्रमशक्तिमतस्तस्य स्वत एव

तत्कर्तृत्वसम्भवात् । अन्यथा स्वाश्रयविघातापत्तेराव्रियमाणं विक्षेप्यं च तस्यात्मातिरिक्तं विषयान्तरमन्वेषणीयम् । तच्चाऽन्यथाख्यात्यादेरनङ्गीकारादद्वैतवादिनां दुःसम्पादमितीमामाशङ्कां परिहरन् पूर्वपद्योक्तमर्थं विशदयति ॥ प्रत्यक्त्वमात्रविषयाऽऽश्रयताजलेनेति ॥ तत् पूर्वोक्तमज्ञानशब्दितमग्रहणमविद्याख्यं प्रत्यक्स्वरूपमपिधाय पराग्विवर्त्तैर्विक्षिप्य तिष्ठति मृषैवेति संबन्धः । प्रत्यगिति जीवेश्वरसाधारणं सच्चिन्मात्रमुच्यते । तस्यैव देहाद्यपोहसमये प्रातिलोम्येनाञ्चनात् । तस्य स्वरूपं परिपूर्णानवच्छिन्नसच्चिदानन्दलक्षणमपिधाय स्वरूपेण भासमानेऽपि यथोक्तरूपेणानवभासमानतामापाद्येति यावत् । यथेदमित्येवं रूपेण भासमानमेव पुरोवर्त्तिशुक्त्यादि शुक्तिरूपेणानन्यसाधारणतयाऽनवभासमानमविद्यया भवति । तद्वत् सर्वानुभवसदात्मनाऽवभासमानमेवात्मस्वरूपमद्वयाखण्डानन्दानुभवसच्चिद्रूपेणानवभासमानं जायतेऽज्ञानसंपर्कादिति यत्तदस्यापिधानमित्यर्थः । सच्चिद्रूपस्य विभोरात्मनोऽस्ति प्रकाशत इति स्वरूपप्रतिबद्धव्यवहारेऽन्यानपेक्षतया नित्यवत् प्रकाशे प्राप्तेऽपि तादृग्रूपमात्मतत्त्वं नास्ति न प्रकाशत इति विपरीतव्यवहारस्यानादेरागन्तुकनिमित्तासंभवादस्त्यनाद्यज्ञानमात्मन्यावरणमिति गम्यते इति भावः ॥ परागिति चैतन्यभास्यमुक्तलक्षणाऽऽत्मस्वभावविपरीतस्वभावं जडमभिधीयते । तद्रूपेण ये विवर्ता विशेषाकारवृत्तयोऽहङ्कारादिलक्षणास्तैस्तमेवापिहितासाधारणस्वभावं प्रत्यञ्चमात्मानं विक्षिप्य विविधं क्षिप्त्वा देवातिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभेदेनानेकधाऽवभासास्पदं कृत्वा तिष्ठति । तदेवं क्रियमाणं मृषैवावरणं विक्षेपरूपं च, न वस्तुतो, यथा शुक्तेः स्वरूपावरणरजताद्याकारविक्षेपौ तथेत्यर्थः । यथा वा सुप्ते पुंस्ये-

कस्मिन्नावरणविक्षेपौ तद्वदित्यर्थः। एतच्चाज्ञानस्य निरपेक्षात् स्वसामर्थ्यान्न भवतीत्याह ॥ प्रत्यक्केति ॥ प्रत्यक्कमात्रं यथा व्याख्यातं प्रतीचः स्वरूपं तदेव विषय आश्रयश्च यस्य तस्य भावस्तत्ता । तस्या बलेन उपबृंहणेन चैतन्यव्याप्ततयेत्यर्थः । न हि चिदात्मव्याप्तिमन्तरेणाचेतनस्य स्वकार्यसमर्थस्यापि कार्यकरत्वं संभवतीति भावः। एतेनावरणादिशक्तिमतोऽप्यज्ञानस्य स्वातन्त्र्याशङ्का पराकृता । ननु यद्बलादज्ञानस्य विक्षेपसामर्थ्यं तदेवात्मतत्त्वं स्वयमेवानेकधा विक्षिप्यता, किमज्ञानाभ्युपगमेनेत्यत आह ॥ अद्वयमिति ॥ आविकारिकूटस्थमित्यर्थः । कुत एतदित्यत आह ॥ अशेषविशेषहीनमिति ॥ यत्केनापि विशेषेण कदाचिद्युज्यते तद्विक्रियते, न निर्विशेषम्, अयं तु प्रत्यागात्माऽशेषविशेषहीनोऽतः कूटस्थ इत्यर्थः । तथाच यदेकमविक्रियमनाधेयातिशयमलुप्तप्रकाशस्वभावमिति च प्रमाणेनाऽवधारितं तस्य तद्विपरीताकाराऽवभासो न स्वाभाविको, नाप्यन्योपरागात् परमार्थत उत्पन्नः संभाव्यते इत्यतो मृषैवेत्यज्ञानाविद्यादिशब्दवाच्यानिर्वचनीयनिबन्धन इति युक्तमुक्तं, मृषैवेति ॥ एतेनाज्ञानस्य स्वाश्रयविघातापत्तिदोषपरिहारायात्मातिरिक्तं विषयान्तरम् अन्वेषणीयमित्युक्तं परास्तं वेदितव्यम् । विषयान्तरस्य परमार्थत्वे तस्याज्ञानकल्पितत्वानुपपत्तेरपरमार्थत्वेतस्यारोपमात्रसिद्धस्याधिष्ठानमन्तरेणानुपपत्तेः। अधिष्ठानं च तदेव भवति यदज्ञानावृतस्वभावविशेषं वस्तु वस्त्वन्तरात्मनावभासमानम् । अत आवरणविक्षेपयोः समानाधिकरणत्वनियमादावरणस्य चामूर्त्तेऽनवयवे द्रव्यगुणादिवस्तुकृतत्वासंभवादज्ञानकृतत्वे निश्चिते तस्याश्रय एव विषय इति तत्रैव तत्कृतो विशेष इति नाश्रयघातित्वदोषावकाशः । परमार्थतः स्वाश्रये तस्याकिञ्चित्करत्वादिति सर्वं समञ्जसम् ॥२१॥

नन्वात्मन्यनिर्वचनीयाविद्याविलासात्मकमनिर्वचनीयमेवाखण्डा-
नन्दानुभवसद्ब्रह्मविपरीतरूपं जीवेश्वरजगद्बन्धादिलक्षणमात्मा
तु सदैवाशेषविशेषहीन इत्यत्र किं प्रमाणमितिचेत् तत्राह—

प्रत्यक्षलिङ्गवचनानि हि दर्शयन्ति
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहतां प्रतीचः ॥
निर्दुःखनित्यसुखविग्रहभूम्नि नास्मिन्
सम्भाव्यते दृशि पुरोदितमल्परूपम् ॥ २२ ॥

प्रत्यक्षलिङ्गेत्यादिना ॥ प्रतीचः प्रत्यगात्मनो निर्दुःख-
नित्यसुखविग्रहतामखण्डानन्दकूटस्थरूपता प्रत्यक्षलिङ्गवचना-
नि दर्शयन्ति हीति योजना । हिशब्दो वक्ष्यमाणप्रत्यक्षादि-
प्रमाणानां यथोक्तात्मपरतया निश्चितत्वज्ञापनार्थः । तदेवं प्रमाण-
सिद्धे प्रतीचोऽशेषविशेषहीनाच्युतस्य कूटस्थानन्दरूपत्वे तस्मि-
स्तद्विपरीतरूपमाविद्यकमध्यारोपितमेव, न परमार्थं संभाव्यत
इत्याह ॥ निर्दुःखनित्येत्युत्तरार्द्धेन ॥ निर्दुःखादिलक्षणे भूम्नि परि-
पूर्णे ब्रह्मण्यस्मिन् प्रमाणावगते दृशि सर्वसाक्षिरूपे पुरोदितं
जीवजगदीश्वरादिलक्षणम् अल्परूपं परिच्छिन्नं सापेक्षस्वभावं
परमार्थतो न संभाव्यते इति योजना ॥ २२ ॥

तत्र प्रत्यक्षं सर्वजनप्रसिद्धं सौषुप्तानुभवं तावदाह—

प्राज्ञः सुखं समनुभूय समुत्थितः सन्
सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्यः ॥
सुप्तोऽहमत्र सुखमित्यनुसन्दधानः
सर्वोऽपि जन्तुरवगच्छति तस्य सौख्यम् ॥ २३ ॥

प्राज्ञे सुखमिति ॥ प्राज्ञे सुखं समनुभूय समुत्थितः सन् सर्वोऽपि जन्तुरहमत्र सुखंयथा स्यात्तथा सुप्तइत्यनुसंदधानोऽस्य चिदात्मनः सौख्यं सुखात्मतां निर्विशेषानन्दस्वभावमवगच्छतीति संबन्धः । प्राज्ञे प्रज्ञाप्रधाने निर्विशेषचिदात्मनि सुषुप्त्यवस्थापन्ने सुखं स्वरूपानन्दं समनुभूय सम्यगव्यवधानेन स्वप्रकाशस्वरूपचैतन्यात्मनाऽनुभूय प्रकाशमानाखण्डस्वरूपसुखाऽऽत्मना स्थित्वेति यावत् । यद्यपि सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इतिश्रुतेस्तत्राविद्यासद्भावोऽवगतस्तथापि तदानी तस्या विक्षेपाभावान्न सा स्वरूपसुखं भेत्तुमलमिति न व्यवधानकरत्वमिति द्रष्टव्यम् । ननु तत्रापि जन्यसुखसंभवात्तदेवानुभूतं परामृश्येतेति कथमात्मनो यथोक्तसुखरूपत्वसिद्धिरित्यत आह ॥ सर्वप्रकारविषयप्रतिपत्तिशून्य इति ॥ प्राज्ञविशेषणमेतत् । सर्वप्रकाराः परोक्षापरोक्षार्थविषयकानुभवस्मृतिरूपाः प्रतिपत्तयो ज्ञानानि, तैः शून्ये विषयज्ञानरहिते इत्यर्थः । तथाच विषयज्ञानाभावे तज्जन्यस्य सुखस्यापि तत्राभाव इति परिशेषात् स्वरूपसुखस्यैव तत्रानुभव इत्यर्थः ॥

यद्वा सुखमत्र सुप्त इति दुःखाभावस्यैवायं परामर्शो, न सुखस्येत्याशङ्कामपनुदन् प्राज्ञावस्थां विशिनष्टि ॥ सर्वप्रकारेति ॥ सर्वप्रकारो यो विषयो भावात्मकोऽभावात्मकश्च तस्य प्रतिपत्तिशून्य इत्यर्थः । विषयज्ञानवत्त्वे सुषुप्तित्वव्याघातादिति भावः । नच तदानीन्तनदुःखाभाव इदानीमनुमीयते, न पुनस्तत्रानुभूतस्य सुखस्य दुःखाभावस्य वायं परामर्श इति वाच्यम् । तदनुमापकलिङ्गानिरूपणादिति दिक् ॥ २३ ॥

एवं सुखमस्वाप्समित्युत्थितस्य परामर्शान्यथानुपपत्तिसिद्धः सौषुप्तानुभावः प्रत्यक्षमुक्तस्वरूपात्मनि प्रमाणं व्युत्पाद्य लिङ्ग-

मित्युक्तमानं च तत्रोपपादयति—

सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
पारार्थ्यमुज्झति च यन्निजसत्तयैव ॥
तद् वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञा-
स्तत् प्रत्यगात्मनि समं सुखतास्य तस्मात् ॥२४॥

**सर्वं यदर्थमिति** ॥ निरुपाधिकानुकूलवेद्यं हि लोके साक्षात्प्रियमिति प्रसिद्धम् । तच्च सुखमेव, नान्यदत्र तादर्थ्येनैव प्रियत्वानुभवात् । तच्च सुखं प्रत्यगात्मैव, नान्यत् । तयोरेकलक्षणत्वात् । यतः सुखलक्षणज्ञा एवं सुखलक्षणं वर्णयन्ति । कथम् । सर्वं यज्जायापुत्रादिवस्तु प्रियत्वेन लोके प्रसिद्धमिह व्यवहारभूमावस्ति तद्यदर्थं यस्याभिव्यक्त्यर्थं सत् प्रियत्वेनाभिमतं, यत्पुरस्कारेण यत्प्रियत्वेनोपादीयते इत्यर्थः ।
तत् सुखमिति सम्बन्धः । एतावत्युक्ते भृत्यभार्यादावतिव्याप्ति-र्भृत्यादेः स्वव्याप्यं प्रति शेषित्वेऽपि स्वाम्यपेक्षया परार्थत्वात् । तदर्थमुक्तं, यत् पारार्थ्यमुज्झतीति ॥ स्वयमन्याशेषत्वे सति सर्वान्यशेषित्वं सुखलक्षणमित्यर्थः । एवमपि स्वपुत्रादिवर्त्तिनि सुखेऽतिव्याप्तिस्तस्मिन्नपि पित्रा ज्ञायमाने उक्तलक्षणसद्भावा-दित्यत उक्तम् ॥ निजसत्तयैवेति ॥ स्वसत्तामात्रेणैव पारार्थ्यं त्यजति, न स्वसत्तायां लेशेनाप्यन्यशेषता भजत इत्यर्थः । पुत्रादिगतसुखस्य पुत्रादावुक्तलक्षणत्वेऽपि पित्राद्यपेक्षया तत्सुख-शेषत्वात्तदुक्तं ततो व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमिति । इदं यत् सुख-लक्षणं तल्लक्षणज्ञा वदन्ति, तत् प्रत्यगात्मनि समम् । यतः प्रत्यगात्मापि यथोक्तसुखलक्षणयोगी । न हि प्रत्यगात्मा कदापि

कस्यचिच्छेषो भवति । भृत्याद्यवस्थशरीरगतस्यापि तस्य स्वरूपेण स्वाम्यादिशेषत्वाभावात् । सर्वत्र प्रीतेश्च तदर्थत्वेन तच्छेषत्वात् । तथाच चिदात्मा सुखरूपः, सुखलक्षणयोगित्वात् सुखवदित्यनुमानमुक्तमित्यर्थः ॥ २४ ॥

ननु सुखस्यात्मगुणत्वावगमादहं सुखीत्येव तदनुभवादहं सुखमित्यनुभवाभावाच्च नात्मा सुखरूपोऽतोऽनुमानमनुभवबाधितविषयमिति नैयायिकादयो मन्यन्ते तान् प्रतिबोधयन्नात्मनः सुखरूपत्वे लिङ्गान्तरमाह—

प्रेमानुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः ॥
प्रेयःश्रुतेरपि ततः सुखतानुमानं
नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निन्हुवीत ॥ २५ ॥

प्रेमानुपाधिरिति ॥ अनुपाधिः प्रेमा प्रीतिरसुखात्मनि सुखभिन्ने स्वरूपेऽचेतने नोपलब्धः केनापीति सुखस्य तावन्निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वं प्रसिद्धम् । स प्रेमास्पदभावः प्रत्यगात्मनि नित्यसिद्धो नित्यानुभवसिद्धः कृमेरपीति वदन्नात्र विवादः कस्यचिदिति दर्शयति । तस्मादात्मापि सुखरूप इत्यर्थः । न हि सुखं स्वसत्तायां चैतन्यं व्यभिचरति येन द्रव्यमात्रस्याचेतनस्य गुणः स्यात् । नच चेतनया प्रकाश्यमानत्वात्तदव्यभिचारो(१) न चेतनात्मकत्वादिति वाच्यम् । समानाश्रययोरसमानकालयोश्च प्रकाश्यप्रकाशकभावानुपपत्तेः । न हि सुखचैतन्ययोराश्रयभेदोऽस्ति । अणुपरिमाणमनःसंयोगविशिष्टात्ममात्रदेशत्वादुभयोस्तथा

१ चेतनया = ज्ञानेन ॥ ज्ञानेन सुखस्य प्रकाश्यत्वे सुखस्य ज्ञानेन स्नेहे अव्यभिचारात् ॥

चैकेन मनःसंयोगेन जातं सुखमुत्पत्तित एव प्रकाशमानं स्वात्मचैतन्यव्याप्तं सत् प्रकाशते स्वयमेव वा प्रकाशत इति विवेके कारणाभावान्न सुखस्य चैतन्यप्रकाश्यत्वनिश्चयः । तथा सुखचैतन्ययोर्भेदे सति कार्ययोस्तयोरेकस्मिन्नात्मनि यौगपद्यमपि नसंम्भाव्यते। मनःसंयोगरूपस्यासमवायिकारणस्य क्रममन्तरेण तत्र कार्यक्रमायोगात् । अन्यथा ज्ञानेच्छाप्रयत्नादीनामपि यौगपद्यापत्तेः। एवं सति भिन्नकालयोरनयोर्विनष्टाविनष्टयोर्न साक्षात्प्रकाश्यप्रकाशकभावः। एकाश्रयत्वमात्रेण तद्भावे त्वाऽऽत्मगतधर्मादेः परिमाणस्यातीतज्ञानादेश्च प्रत्यक्षता युगपत् स्यादतो न चैतन्यभास्यं सुखमिति चैतन्यस्वरूपमेव तत् परिशेषात् सिद्धम्। चैतन्यं चात्मैव, न तद्गुणः । चेतनाभिन्नस्य जड त्वाज्जडस्य च घटादिवच्चेतनाश्रयत्वानुपपत्तेः । तस्मादात्मैव चैतन्यं, चैतन्यमेव च सुखमिति सिद्धम् । नच सुखचैतन्ययोरुत्पत्तिविनाशानुभवात् कथं नित्यात्मस्वरूपतेति शङ्क्यम्। बुद्धिवृत्त्युपाधिनिबन्धनत्वात्तत्प्रतीतेर्व्यापारवदन्तःकरणावस्थाया जाग्रदादिलक्षणायामेवोपलम्भादिति दिक् ॥

तथाचायं प्रयोगः। आत्मा सुखरूपः। परमप्रेमास्पदत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटो, नायं तथा। तस्मान्न तथा। किन्तु सुखरूप एवेति। नच सुखस्यापि मम सुखमित्यात्मशेषत्वानुभवान्न परमप्रेमास्पदत्वमस्ति, कुतस्तद्रूपत्वेनात्मनस्तद्भाव इति वाच्यम्। सुखस्योपकारकत्वाभावाच्छेषत्वानुपपत्तेः। न ह्यनुपकारकं कस्यचिच्छेषो भवति। न ह्यात्मनि सुखाभिव्यक्तिव्यतिरिक्तः कोऽप्युपकारो निरूपणपथमवतरति । तस्मान्मम सुखं, सुख्यहमित्याद्यनुभवस्योक्तोपाधिनिबन्धनत्वादस्मिन्ननुमाने न कोऽपि दोष इत्युपसंहरति ॥ ततः सुखतानुमानमिति ॥ यत एवमतो

दृगात्मनि चित्स्वरूपे प्रत्यगात्मनि सुखतानुमानं नैयायिकोऽप्यनुमानतर्कशास्त्रनिष्णातोऽपि न निन्हुवीत नापलपेदित्यर्थः। अपिशब्दात् सांख्यादिभिरस्यापह्नवप्रसङ्गो दूरापास्त इतिद्योत्यते। एवं लिङ्गशब्दोदितमनुमानमुपपाद्य वचनशब्दनिर्दिष्टं श्रुतिवाक्यमुदाहरति ॥ प्रेयःश्रुतेरपीति ॥ तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति । आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनादित्यादिश्रुतेरपि परमानन्दरूप एवात्मा निश्चीयत इत्यर्थः। तथाच सुखचैतन्यसत्तानां मिथोभेदानिरूपणात् सच्चिदानन्दरूपोऽशेषविशेषहीन आत्मा कूटस्थनित्य उक्तैःप्रमाणैः सिद्ध इति तस्मिंस्तद्विपरीताकारावभासोऽविद्याविलसित इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

एवमुपपादितेऽर्थे विद्वदनुभवमप्यनुकूलयति

आनन्दविग्रहमपास्तसमस्तदुःख
वस्तुस्वभावपरिवर्जितसर्वभेदम् ॥
आत्मानमध्ययनविध्यनुसारिणस्तं
प्रत्यक्षतः श्रुतिशिरःसु समामनन्ति ॥ २६ ॥

आनन्दविग्रहमिति ॥ यद्वा यद्येवंलक्षण एव वस्तुत आत्मा तर्हि स स्वरूपेण नित्यं भासमानोऽपि कस्मात् सर्वेषां तथा नावभासत इत्यत आह ॥ आनन्दविग्रहमिति ॥ अपास्तसमस्तदुःखमित्यनृतजाड्याद्यनात्मधर्माऽनास्कान्दितमित्यर्थः। अध्ययनविधिशब्देन विधिवदधीतो वेदो लक्ष्यते। वेदानुसारिणस्तदर्थविचारपरा इति यावत। ते श्रुतिशिरःसु तात्पर्येणालोच्य-

मानास्तूपनिषत्सु प्रत्यक्षतोऽपरोक्षत एवात्मानं समामनन्ति सम्यग्जानन्त्यनुभवन्ति, तद्यथार्थतां कथयन्तीति वा । अत औपनिषदज्ञानमन्तरेणात्मयाथात्म्यं सर्वेषां न भासत इत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

तस्मादात्मनो यथोक्तप्रत्यक्षानुमानागमविद्वदनुभवसिद्धस्वरूपाद्विपरीताकारावभासः सर्वोऽपि तस्मिन्नज्ञानेनाध्यस्त एव, न वास्तवइति सिद्धा शास्त्रादेर्विषयप्रयोजनसम्भावनेत्युपसंहरति

अध्यस्तमल्पवपुरस्य न वास्तवं तत्
प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हि परस्परस्मिन् ॥
अध्यस्ततां प्रति समर्थमबोधमात्र-
मन्योऽन्यरूपमिथुनीकरणे निमित्तम् ॥ २७ ॥

अध्यस्तमिति ॥ यदिदमल्पवपुर्जीवेश्वरजगल्लक्षणमस्य चिदात्मनस्तन्न वास्तवं, किन्त्वध्यस्तमाविद्यकमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति । प्रत्यगात्मा ह्यनाद्यनिर्वचनीययाऽविद्यया वृतनिजतत्त्वः प्रथमं तद्विवर्त्तेषु बुद्ध्यादिदेहान्तपदार्थेष्वहमित्यभिमानवाञ्जायते। सोऽयमहङ्काराध्यासः । तेनायं बुद्ध्यादिभिस्तद्धर्मैश्चाविविक्तमात्मानं मन्यमानो जीवोऽहं संसारीति मन्यते । ततो देहबाह्यं स्वाविद्याप्रत्युपस्थापितं कार्यकारणात्मना भोक्तृभोग्यात्मना नियन्तृनियम्यरूपेणेशितव्येश्वररूपेण च कल्पयन्निदमित्यात्मनः पृथक्त्वेनाध्यस्यति।तत इदमवभासगृहीते तस्मिञ्छोभनाशोभनाऽध्यासपूर्वकं ममेदमनुकूलं प्रतिकूलमित्यादिप्रकारमनुभवति । एवमहमध्यासपूर्वकः सर्वो व्यवहारोऽध्यस्त एवास्यात्मनो, न तात्त्विक इति । ननु कथमहमित्यनुभवोऽध्यासात्मको ह्याकारावभासाभावादहमित्येकरमात्ममात्रप्रतिभासादध्यासत्वे त्विदं

रजतमितिवद् द्वैरूप्यानुभवो भवेत्, तदभावान्नायमध्यासः । एत-
स्याध्यासत्वासिद्धावेतत्पूर्वस्य बाह्यावभासस्यापि नाध्यासत्व-
सिद्धिरितिचेत्तत्राह ॥ प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हीति ॥ हि यस्मा-
दिदमात्मनोऽहमित्यवभासमानं वपुः प्रत्यक्पराग्रूपेण द्वयं
द्व्याकारमेव विवेकिनां भातीत्यक्षरार्थः । आत्मनः स्वसत्तायां
प्रकाशमानत्वं तावदव्यभिचरितमन्यथा तस्मिन् संदेहविपर्यया-
ऽज्ञानानामपि प्रसङ्गात् । न ह्यात्मसत्तायां कस्यचित् कदा-
चित् संदेहादि संभवति । संदेहादेरसाक्षिकत्वायोगात्तत्साक्षिण
एवात्मत्वात्तस्यानवभासे संदेहादेरेवासिद्धेः । स्वतः प्रकाशमान
एव सर्वदात्मेति स्थितेः । आत्मन्यवभासमानेऽपि सुषुप्त्यादा-
वहमवभासव्यभिचारादागन्तुक आत्मन्यहमवभासोऽन्योपराग-
निबन्धन इति निश्चीयते । ततश्चागमापायवत्त्वादहङ्कारोऽनात्मा ।
तदऽवधितया तदधिष्ठानतया चानुगतः सद्रूप आत्मा । एवमह-
ङ्कार आत्मान्यत्वे सत्यन्यावभास्यस्तदवभासकतया तस्मिन्
स्फुरणरूपेणानुगत आत्मा तथा कर्त्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वादि-
विक्रियावानहङ्कारस्तद्द्रष्टा चात्मेति । तदेवं द्रष्टृदृश्यभावेन साक्षि-
साक्ष्यभावेनागमापायितदवधित्वेन चात्माहङ्कारयोर्विवेके सति
विरुद्धस्वभावयोस्तयोः, एकत्वावभासोऽन्योन्याध्यासनिबन्धनः
शुक्तीदमंशरजतयोरिवेत्यभिप्रायः । यत एवं विरुद्धस्वभावयो-
रध्यासं विनैकत्वावभासासंभवे, इदं द्वयं युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरा-
ऽऽत्मकमात्माहङ्काररूपं परस्परस्मिन्नन्योऽन्यस्मिन्नध्यस्ततां प्रति
मिथ्याज्ञानगोचरत्वं प्रति समर्थं योग्यं जडस्याहङ्कारस्य सच्चिदा-
ऽऽत्मनि तादात्म्याध्यासाभावे सत्तास्फूर्त्योरसंभवाच्चिदात्मनश्च
कूटस्थस्याहङ्कारे तथाध्यासाभावे कर्त्तृत्वादिविकारवत्त्वावभासा-
ऽयोगात् परस्परस्मिन्नध्यस्तमित्यर्थः । अन्यतरस्मिन्नन्याध्यास-

पक्षे अनात्मन आत्मैक्याध्यासे तस्य विषयत्वेनावभासो न स्या-
दात्मनश्चानात्मात्मनाध्यासे तस्यापि जडत्वापत्तौ जगदान्ध्य-
प्रसङ्गः । इतरेतराध्यासे तूभयोरप्युभयात्मनावभासान्नोक्त-
दोषप्रसङ्ग इति भावः । अत्र शून्यत्वापत्तिप्रसङ्गं स्वयमेवाग्रे-
ऽपाकरिष्यति । ननु सादृश्यादिदोषाध्यस्यमानविषयानुभवसं-
स्काराधिष्ठानसंप्रयोगरूपकारणत्रयं विना कथमात्मानात्मनो-
रध्यास इत्यत आह ॥ अबोधमात्रमन्योन्यरूपमिथुनीकरणे निमि-
त्तमिति ॥ अज्ञानमेवात्मानात्माध्यासे निमित्तं पुष्कलं कारणं,
न सादृश्यादि तत्रापेक्षणीयमित्यर्थः ॥ २७ ॥

ननु सादृश्यदर्शनादेरप्यध्यासकारणस्य लोकेऽन्वयव्य-
तिरेकाभ्यामवगमादात्मानात्मनोश्च विरुद्धस्वभावयोस्तदयोगात्
कथम् अबोधमात्रादध्याससिद्धिरित्याशङ्क्य सादृश्यादेरध्यासा-
ऽव्यापकत्वान्मैवमित्याह—

सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त-
मध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम् ॥
ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमात्मनीष्टं
जात्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किञ्चित् ॥२८॥

**सादृश्यधीप्रभृतीति** ॥ सादृश्यकरणदोषसंस्कारादि यत्
त्रितयमध्यासनिमित्तं प्रसिद्धमस्ति तदिदं जगत्यध्यासभूमिषु
सर्वत्र नानुगच्छति, न व्याप्नोतीत्यर्थः । तत्र सादृश्यधियो
व्यभिचारस्थलमाह ॥ **ब्राह्मण्यजातीति** ॥ अहं ब्राह्मण इत्यहम-
वभासे प्रत्यगात्मनि ब्राह्मण्यजात्यध्यास आस्तिकैरिष्टः । तत्रा-
ऽऽत्मनो जात्या न केनाप्यंशेन किञ्चित्साम्यमुपलब्धमिह व्यव-
हारभूमावस्तीति योजना ॥ २८ ॥

कथं जात्यात्मनोः सादृश्याभावइत्यपेक्षायामभियुक्तप्रसिद्ध-सादृश्यलक्षणस्य तत्रासंभवादिति वक्तुं तल्लक्षणमाह—

भूयस्त्ववन्ननु गुणावयवक्रियाणां
सामान्यपूगवपुरुक्तमिहाभियुक्तैः ॥
सादृश्यवस्तु न चिदात्मनि किञ्चिदत्र
जात्यादिभिः सह निरीक्षितमस्ति तादृक् ॥२९॥

भूयस्त्ववन्नन्विति ॥ ननुशब्दः खल्वर्थे । गुणानां रूपादीना-मवयवानामङ्गसंस्थानविशेषाणां क्रियाणां गत्यादीनां वाभूयस्त्वं विद्यते यत्र तद्भूयस्त्ववद्यद्वस्त्वेव तत्सामान्यपूगवपुः सर्वसा-मान्यस्वरूपमितीहव्यवहारभूमावभियुक्तैः प्रामाणिकैर्विद्वद्भिरुक्त-मिति योजना । अत्रोदाहरणानि । अग्निज्वालावत् पिङ्गल इति रूपतो, गोसदृशो गवय इत्यवयवतो, गजगामीति क्रियात इत्या-दि । अत्र भूयस्त्ववदिति वतिप्रयोगः स्वार्थे द्रष्टव्यः । गुणा-वयवक्रियाणामन्यतमभूयस्त्वं सामान्यमित्यर्थः । यद्वा सामान्य-मित्यत्रापि सामान्यवदिति मतुबर्थो लक्षणीयः । पूगग्रहणमुक्त-गुणादिद्वारव्यतिरेकेणान्यन्न सामान्यद्वारमस्तीति दर्शयितुम् । केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इत्यादावपि केतकीसर्पयोर्गन्धगुणतः साम्यं विवक्षितं, न गन्धयोरिति नाव्याप्तिशङ्केति द्रष्टव्यम् । तादृगुक्तलक्षणं सादृश्यवस्तु अत्र पूर्वोक्तलक्षणे चिदात्मनि जात्या ब्राह्मण्यादिरूपया सह न निरीक्षितमस्तीत्यतः सादृश्य-मध्यासव्यापकं न भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

दोषस्यापि विषयकरणगतस्य व्यभिचारस्थलं दर्शयति—

विषयकरणदोषाद्भ्रमः संविदि स्या-

दपि तु भवति मोहात् केवलादेवमेव ॥
भगवति परमात्मन्यद्वितीये विचित्रा
द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः ॥ ३० ॥

विषयकरणदोषादिति ॥ अस्ति संविन्नाम प्रमाणफलं यद्विषयस्फुरणमिति प्रसिद्धम् । तस्य स्वयम्प्रकाशत्वं नित्यत्वं चाङ्गीकरणीयम् । तस्य जडत्वे तत्संसर्गाद्विषयस्य स्फुरणाऽसिद्धेः । न हि जडेन जडं प्रकाश्यते । तथा सति विषयस्य स्वत एव प्रकाशापत्तेः प्रमाणवैयर्थ्यापातात् । अजडप्रकाशस्य चाप्रकाशमानस्यान्यस्फोरकत्वे तज्जन्यान्या विषयस्फूर्त्तिः स्यात् । साप्यऽप्रकाशमानाचेत्तस्याअप्यन्येत्यनवस्था प्रसज्ज्येत । प्रकाशमानत्वे चान्याधीनप्रकाशत्वेऽन्यस्याप्येतत्समानयोगक्षेमत्वात्तत्प्रकाशायाप्यन्यापेक्षेति तत्राऽप्यनवस्था दुर्वारा । तस्मात् स्वप्रकाशैव प्रमाणफलात्मिका संविदिति । तथा तस्या अनित्यत्वे च न करणविषयोपादानता गच्छते । तयोर्ज्जडयोरजडफलोपादानत्वासम्भवात् । नाऽपि प्रमातोपादानम् । तस्यापि चैतन्यगुणोत्पत्तेः प्राग् जडत्वाविशेषात् । चिद्रूपत्वे तु तस्य सावित्रालोकवत् साधारणेन स्फुरतः सर्वत्रानभिव्यक्तविशेषस्य दर्पणादाविव सावित्रालोकस्य विषयविशेषसंसृष्टतदाकारावस्थान्तःकरणवृत्तिप्रतिफलितत्वेन लब्धविशेषतामात्रेण प्रमाणफलत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न्न मुख्यौ जन्मविनाशौ, वृत्तिनाशादेव विनाशव्यवहारसम्भवादिति नित्या स्वयम्प्रकाशरूपा च प्रमितिःप्रमाणफलमिति स्थिते तस्याः परप्रकाश्यत्वोत्पत्तिविनाश वत्त्वप्रतिभासो लोकस्य भ्रम एवेत्येतत्सर्वमभिप्रेत्यदमुच्यते । संविदि प्रमाणफले परप्रकाश्यत्वोत्पत्त्यादिभ्रमो विषयकरणदोषान्न स्यात् ।

विषयदोषो हि सादृश्यं भ्रमकारणम् । न हि संवित्संवेद्ययोः प्रकाशजडयोः सादृश्यमस्ति । नाऽपि तत्र करणदोषः । प्रमिते-र्दुष्टकरणजन्यत्वात् । अपि तु तत्र भवन् भ्रमः परिशेषान्मोहादेव केवलादविवेकलक्षणाद्भवति । यथाऽयं दृष्टान्त एवमेवाद्वितीये भगवत्याचिन्त्यैश्वर्ये परमात्मनि सर्वाधिष्ठानतया सर्वस्य स्वरूप-भूते दृश्यमानद्वयमातिरियं विचित्रा जीवेश्वरजगदाकारा भ्रान्ति-रज्ञानमात्रहेतुरस्त्वित्यर्थः । संस्कारस्य त्वास्ति भ्रमकारणता सर्वत्र । स तु पूर्वप्रतीतिजन्यो न पूर्वप्रमितिजन्यः,तस्य तज्जन्य-त्वनियमाभावात् । भ्रमप्रवाहस्य चानादित्वात् । सम्प्रयोग-सिद्धि, सदृशसाशपराग्विपर्येषु चेदित्यत्रोपपादयिष्यति । अतो मोहे सत्यन्यद् भवतु मा वा, मोहादुद्बुद्धसंस्कारसचिवाद् भ्रमो भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

परस्पराध्यासे निराधिष्ठानत्वेन शून्यवादप्रसङ्ग इति य-च्चोद्यमिह कैश्चिदुद्भाव्यते तत् परिहरति—

संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी-
र्नाधारोऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः ॥
केषाञ्चिन्महतामनूनतमसां निर्बन्धमात्राश्रया-
दन्योऽन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत् स्या-
दिति ॥ ३१ ॥

संसिद्धेति ॥ अयमर्थः ॥ अज्ञाते वस्तुनि विपरीताव-भासो भ्रम इति त्वविवादम् । तत्राज्ञानं न जडाश्रितमित्यग्रे वक्ष्यते । तथाच सर्वेषु भ्रमेषु दृश्यमानविषयस्याज्ञातं चिदात्म-तत्त्वमेवाधिष्ठानम् । तच्च क्वचिदविद्यामात्रव्यवहितं, क्वचिद्या-

वहारिकविषयानुषङ्गितया तत्तद्विषयाकारतामापन्नमिति स्थितिः। आधारस्तु समारोप्यविषयस्य यत्समानाधिकृततयावभासः स उच्यते। यथेदमाकारैक्येन रजतस्फुरणम्। तथाच भ्रान्तिविषयाऽभेदेन भ्रान्तौ भासमानाकारतया पुरोवर्त्तिवस्त्वाधारः। तदेव भ्रान्तावनवभासमानशुक्त्यादिविशेषाकाराभेदेनाधिष्ठानमुच्यते। अत्रोभयत्रेदमाकारः साधारणः। स एव सन्मात्रं ब्रह्मचिदात्मरूपं, तदेवाविद्यावृतव्यावहारिकशुक्त्यादिविशेषवेषेणाधिष्ठानमध्यस्यमानरजतादितादात्म्येन वेषेणाधार इत्यधिष्ठानाधारयोर्भेदाद्बाध्यारोप्याभेदेन गृह्यमाणाकारस्याऽऽधारांशस्य मिथ्यात्वेऽप्यधिष्ठानांशस्य बाधाभावात् तस्य बाधोत्तरकालमवशिष्यमाणत्वान्न शून्यावशेषचोद्यावसर इति ॥

एषाऽक्षरयोजना। सविलासमोहविपये सकार्याज्ञानावृते वस्तुनि चिदात्मनि अध्यसनस्य अध्यासस्य अधिष्ठानगीरधिष्ठानत्वप्रसिद्धिः संसिद्धा सम्यग् युक्त्यालोचनतः सिद्धा, नाधारे आरोप्यावगुण्ठिततया प्रतीयमानाकारे वस्तुनि। तत एवं सति इदं जगदन्योऽन्याध्यसने सति निरास्पदं निरधिष्ठानं सच्छून्यं स्यादिति केषाञ्चिदस्थाने अनवसरे महान् संभ्रम आरभटी जायते। कुत इत्यत्र निमित्तमाह ॥ निर्बन्धमात्राश्रयादिति ॥ निर्बन्ध आग्रहस्तन्मात्रबलादित्यर्थः। तेषां निर्बन्धकरणे हेतुं तद्विशेषणेनाह॥ अनूनतमसामिति॥ अनल्पतमसामविवेकिनामित्यर्थः॥ महतामिति तेषामुपहासार्थं विशेषणम्। एवमधिष्ठानाधारभेदस्य युक्त्यनुभवसिद्धत्वेऽपि तमनालोच्याग्रहं कुर्वन्तो महान्त इत्यर्थः॥ ३१॥

ननु कथमधिष्ठानाधारयोरित्थं भेदकल्पनम्। यतो लोके यदवच्छेदेनारोप्यावभासस्तदेव वस्त्वधिष्ठानमिति चाधार इति च

प्रसिद्धामित्यत आह—

अधिष्ठानमाधारमात्रं यदि स्यात्
प्रसज्ज्येत सत्यं तदा चोद्यमेतत् ॥
न चैतत् सकार्यस्य मोहस्य वस्तु-
न्यधिष्ठानगीर्गोचरे लोकसिद्धा ॥ ३२ ॥

**अधिष्ठानमाधारमात्रमिति** ॥ पूर्वार्द्धार्थः स्पष्टः। न चैतत्। अधिष्ठानमाधारमात्रं न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं तदित्यत आह॥ सकार्यस्येति ॥ सविलासाज्ञानस्य गोचरे विषये तेनावृते वस्तु-न्यधिष्ठानगीर्लोकसिद्धा अविवेकिजनप्रसिद्धेत्यर्थः। विवेकिनो हि भ्रमकालेऽध्यस्यमानतादात्म्येनावभासमानमपि बाधाऽवधित्वेन अवशिष्यमाणविशेषात्मनाऽनवभासमानमनध्यस्तमवगच्छन्तीति भावः ॥ ३२ ॥

तदेवमधिष्ठानाधारयोराकारभेदेनाधाराकारस्य मिथ्यात्वेऽप्यधिष्ठानाकारस्य सत्यत्वान्न शून्यताशङ्कावकाश इत्युक्तम् । इदानीमधिष्ठानाधारयोरैक्याङ्गीकारेऽपि नायं प्रसङ्ग इत्याह—

किञ्चानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं
स्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम् ॥
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे-
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः ॥ ३३ ॥

**किञ्चानृतद्वयमिति** ॥ इहात्मानात्मनोरध्यासेऽनृतद्वयं परस्परमध्यसितव्यमिष्टं चेत्स्यात्तदा त्वदीयमिदं चोद्यं शून्यत्वापादनलक्षणं भवति। इदं मिथुनं सत्यानृतात्मकं मिथुनमध्ये एकं

संसृष्टरूपेणाऽनृतमपि स्वरूपेण सत्यं भ्रमात् पूर्वमारोप्योत्पत्ति-हेतुत्वेन तत्काले तस्य सत्ताप्रदत्वेन बाधोत्तरकालं तदवधि-त्वेन च यदस्ति तत्सत्यमेव यतः। अपरमनृतं स्वरूपेणाप्यध्य-स्यमानत्वाद् भ्रमकालात् पूर्वोत्तरकालयोस्तत्सत्त्वे प्रमाणाभा-वात्। एवं सत्यानृतात्मकं मिथुनं चेन्मिथोऽन्योन्यमध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गो विनाग्रहामित्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्यादेतदेवं, यदि परस्पराध्यासः क्वचिद् दृष्टपूर्वः। तद-भावे कथमात्मानात्मनोरुक्ताध्याससंभावनेतिचेन्न। सर्वत्र त-द्दर्शनादित्युदाहरणमाह—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते
परिकल्पित रजतवस्त्विदमि ॥
रजनभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणा-
न्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥ ३४ ॥

इदमर्थवस्त्वपीति ॥ इदंशब्दप्रत्ययगोचर एव वस्तु इद-मर्थवस्तु। तदपि रजते परिकल्पितमध्यस्तं भवेत्। तथा रजत-रूपं च वस्त्विदमि परिकल्पितं भवेत्। कुत एवमित्यत आह ॥ रजतभ्रम इति ॥ रजतमिदमित्यस्मिन् भ्रमेऽस्येदमथकाराद्रजत-स्य चाभेदेन परिस्फुरणादित्यर्थः। विमतमधिष्ठानसामान्यम् आ-रोप्यात्माध्यस्तं भ्रान्तौ स्फुरमाणत्वाद्भ्रमदृष्टरूप्यांशवदिति। तथा रजतमिदमात्मनाध्यस्तं,तत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वाद्यन्नैवं तन्नैवम्। यथा शुक्तिस्वरूपमिति भावः। विपक्षे बाधकमाह ॥ न यदीति ॥ यदीतरेतरत्राध्यस्तमुभयं न भवेत्तदा शुक्तिरिव भ्रमज्ञाने न स्फुरेत् खल्विति योजना। न ह्यनध्यस्तं किञ्चिदपि भ्रमे भामन इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

नचोक्तेऽर्थे विवादावकाशोऽनुभवासिद्धत्वादित्यनुभवं सर्व-जनप्रसिद्धं प्रमाणयति—

रजतप्रतीतिरिदमि प्रथते
ननु यद्वदेत्रमिदमित्यपि धीः ॥
रजते तथा सति कथ न भवे-
दितरेतराध्यसननिर्णयधीः ॥ ३५ ॥

रजतप्रतीतिरिति ॥ यथाऽनिदमात्मनो रजतस्येदमि प्रतीतिः प्रथते प्रसिद्धा वर्त्ततेऽनुभूयते यद्वादित्यर्थः । एवमिदमित्यपि धीररजतात्मकेदङ्कारावभासात्मिका धीरपि रजते प्रथते ॥ ननु निश्चितमेवैतदित्यर्थः । तथा सति वस्तुतो विविक्तयोरन्योन्यात्मनावभासमानत्वे सति कथमितरेतराध्यसननिर्णयरूपा धीर्न भवेत् !! । भवेदेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पूर्वश्लोकोक्तानुमानतर्कयोर्व्याप्तिमाह—

अध्यस्तमेत्र हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत्र कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु ॥
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन ॥ ३६ ॥

अध्यस्तमेव हीति ॥ यद् भ्रमेषु परिस्फुरति तदध्यस्तमेव हि परिस्फुरति । यथा भ्रमदृष्टसर्परजतजलद्विचन्द्रादीत्यर्थः । यदनध्यस्तं तन्न भ्रमेषु परिस्फुरति । यथा रज्जुत्वादीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम् । द्विविधो ह्यध्यासो, निरुपाधिकः सोपाधिकश्चेति । तत्र स्वरूपेण भासमानेऽप्यनवभासमानयाथात्म्ये वस्तुनि

वस्त्वन्तरात्मनावभासो निरुपाधिकाध्यासो, यथा शुक्त्यादौ रजताद्यध्यासः। यत्र भासमानेऽपि वस्तुयाथात्म्ये सन्निहितोपाधिसामर्थ्यात् करणापाटवाद्वा भेदविपर्यासाद्यवभासः स सोपाधिकाध्यासो, यथा प्रतिबिम्बद्विचन्द्राद्यध्यासः। तयोरिहाहङ्कारात्मनोर्न्निरुपाधिकाध्यासे दृष्टान्तः शुक्तिरजताध्यास उक्तः। तत्र चेतरेतराध्यासः प्रसिद्ध इत्यतो नात्माहङ्कारयोरितरेतराध्यासोऽसंभावित इति॥ ३६ ॥

नन्वस्तु लोके परस्पराध्यासो दृष्टत्वादिदमिति च रजतमिति च द्व्याकारावभासोपपत्तेश्च। स नात्माहङ्कारयोः संभवति। भासमानसामान्यांशाभासमानविशेषांशरूपाकारद्वयासंभवाद् अहमित्येकरूपेणेवावभासादित्याशङ्क्येहाऽपि निरुपाधिकाध्यासत्वादेव परस्पराध्यासत्वानुमानोपपत्तेः कल्पनायाश्चेह दृष्टविपरीताया गौरवपराहतत्वाद्विवेकवता द्व्याकारावभासस्य स्फुटत्वाच्च नैवमित्याह—

> इतरेतराध्यसनमेव तत-
> श्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ॥
> रजतभ्रमादिषु तथावगमा-
> न्न हि कल्पना गुरुतरा घटते ॥ ३७ ॥

इतरेतराध्यासनमेवेति॥ अक्षरार्थः स्पष्टः॥ प्रत्यक्पराग्द्वयमिदं हि परस्परस्मिन्नित्यत्राहमित्यवभासे द्व्याकारत्वस्यास्माभिरुपपादितत्वादात्मनः स्वरूपेण स्फुरणेऽपि स्वाभाविकविशेषास्फुरणस्यानुभवसिद्धत्वाद् आत्मनो विषयत्वाभावेन द्व्याकारताया अवभासमानाया अप्यस्पष्टत्वात्तथानुल्लेखोपपत्तेश्च नात्रानुपपन्नं किञ्चिदिति भावः॥ ३७ ॥

साधितमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासमुक्तप्रमाणमुपसंहरति—

अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितया-
दितरेतराध्यसनसिद्धिरतः ॥
चितिचेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत्
त्रितयस्य बाधनमिहापतति ॥ ३८ ॥

अनुभूतियुक्तीति ॥ रजतप्रतीतिरिदमि प्रथत इत्यस्मिन् पद्येऽपपादिताऽनुभूतिः । ततः पूर्वपद्ये, इदमर्थवस्त्वपि भवेदि-त्यस्मिन्नुक्ते युक्त्यनुमिती । ततस्तस्मात् कारणादुक्तानुभूत्यादि-त्रितयाच्चितिचेत्यवस्तुयुगलस्याधिष्ठानारोप्यरूपार्थद्वयस्येतरेतरा-ऽध्यसनमेव युक्तम् । नचेदेवमभ्युपगम्यते तदोक्तत्रितयस्यानु-भूत्यादेर्बाधनं तद्विरोध इहापततीति योजना ॥ ३८ ॥

नन्वेवमुक्तरीत्यात्मनि स्वानुभवमात्रसिद्धानाद्यनिर्वचनीयं पूर्वभ्रमसंस्कारसचिवमज्ञानमात्रं पुष्कलकारणमासाद्याहङ्काराद्य-ध्याससम्भवेऽप्यात्मनोऽधिष्ठानत्वासम्भवात् कथम् उक्ताध्यास-सिद्धिरित्याक्षेपमुत्थाप्य परिहरति—

सदृशसांशपराग्विषयेषु चेद्
भवति दोषवशाज्जगति भ्रमः ॥
भवतु तत् सकलं वदितुं वय
तदुपचारवशाद् दृशि शक्नुमः ॥ ३९ ॥

सदृशसांशेति ॥ अथवा बहिरर्थेऽध्यासे सादृश्यदर्शना-त्तस्य जात्याद्यध्यासे व्यभिचारेऽपि द्रव्याध्यासे तदभावाद-हङ्कारस्य चाध्यस्यमानस्यान्तःकरणात्मकस्य द्रव्यत्वात्तस्य च जडस्य चिदात्मना सादृश्यासम्भवादध्यासानुपपत्तिः । तथा

तत्र करणदोषः प्रमातृदोपश्च प्रसिद्धः ॥
तावप्यत्र नसम्भवतः । प्रत्यगात्मनः करणागोचरत्वात् प्रमात्रन्तराभावाच्च । तथा विषयतया गृह्यमाणसामान्यांशे अगृह्यमाणविशेषांशेऽधिष्ठानेऽन्यस्याध्यासो दृष्टः । इहात्मनो निरंशस्य स्वयञ्ज्योतिषस्तदभावान्नाधिष्ठानत्वसंभव इत्याक्षेपमुत्थाप्य परिहरति ॥ सदृशसांशेति ॥ जगति लोके परागर्थे यो भ्रमो भवति स सदृशसांशपराग्विषयेषु भवति । तथात्वस्यात्मन्यसंभवान्नात्राध्याससंभव इत्याक्षेपभागस्य पूर्वार्द्धस्यार्थः । भवतु तत्सकलमुक्तप्रकारं सर्वमध्यासकारणमात्मन्यपि यतो वयं तदुक्तं सर्वमुपचारवशाद् दृश्यात्मन्यपि वदितुं शक्नुमः संपादयितुं पारयाम इति परिहारभागस्यार्थः ॥ ३९ ॥

कथं तत्संपादनमित्यपेक्षाया भाष्यकारैरेव संपादनप्रकारस्योक्तत्वान्नास्माभिस्तत्र यत्नः कार्य इत्यभिप्रेत्य भाष्यवचनमुदाहरति—

अपि च भाष्यकृदेव तदब्रवीद्
विषयताद्युपचारसमाश्रयात् ॥
स्ववचसैव न तावदिति ब्रुवन्
सकलमात्मनि विभ्रमसिद्धये ॥ ४० ॥

अपिच भाष्यकृदेवेति ॥ यद्वा प्रत्यगात्मन्युपचाराद्विषयतादिसंपादनप्रतिज्ञा तवापसिद्धान्तावहेतिचेद्, न हि न हि । भाष्यकारैरेव तथा प्रतिपादनादित्याह ॥ अपिच भाष्यकृदेवेति ॥ न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वादित्यादि ब्रुवन् भाष्यकृदेवोपचारसमाश्रयात्तद्विषयतादिसकलं स्ववचसैवाऽब्रवीदिति योजना । किमर्थम् । आत्मनि प्रत्यग्ब्रह्मणि बहि-

रुपलब्धभ्रमानुरोधेन विभ्रमसिद्धय इत्यर्थः ॥ अयं भावः ॥ अस्मत्प्रत्ययाभिमतं परिणाम्यन्तःकरणम् । तच्चात्मवत्स्वच्छं सूक्ष्मं देहाद्यपेक्षया प्रत्यक् च भवतीत्यस्त्यस्यात्मना सादृश्यम्। केनाप्यंशेन हि सादृश्यं सर्वत्र मृग्यते, न सर्वात्मनेति स्थितिः । तदिहाप्येवं सुसंपादमिति नात्र सादृश्याभावः। तथात्मन एकरसस्याप्यज्ञानसम्बन्धायत्तमगृह्यमाणविशेषांशं स्फुरमाणसामान्यांशरूपमंशद्वयमपि प्रत्यक्त्वब्रह्मत्वाद्यात्मकं सुसम्पादम् । निरंशस्य स्वयञ्ज्योतिषोऽप्यात्मनः स्वरूपेण भासमानस्यापि परिपूर्णपरब्रह्मरूपेणानवभासात्,प्रतीचश्च निर्विशेषतया निर्विकल्पस्यान्यत्र विशेषतोऽनवभासमानस्यापि स्फुटमन्तःकरणेऽवभासनात्तद्गताभासाविवेकेन स्फुटाभिव्यक्तेरन्तःकरणनिमित्तत्वात्तत्र विषयवद्भावाद्विषयत्वमप्यस्य सुसम्पादम् । नचाध्यासे सत्यन्तःकरणसिद्धौ तत्रात्मनो विषयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावन्तःकरणस्य तत्राध्याससिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । अध्यासप्रवाहस्याऽनादित्वात् पूर्वपूर्वाध्याससिद्धविषयभावे चिदात्मन्युत्तरोत्तराऽध्याससम्भवात् । एतेन करणदोषप्रमातृदोषावपि सम्भावितौ व्याख्यातौ । एवमात्मन्यनात्माध्यासेऽपि दोषसम्प्रयोगयोः सम्भवादुक्ताशङ्कयवत्तया विषयत्वाधिष्ठानयोरपि सम्भवात् संस्कारस्य च पूर्वपूर्वभ्रमजन्यस्य सुलभत्वान्नासम्भावनेहाप्यऽध्यासस्येति ॥ ४० ॥

विषयत्वादेरध्यासप्रयोजकत्वमभ्युपगम्य चेदमुक्तम् । वस्तुतस्तु न तदपेक्षानियमोऽधिष्ठानारोप्ययोरेकज्ञानविषयत्वाभावाद्भिन्नज्ञानविषययोः स्वतःस्फुरिताविषयविषययोश्च दोषवशात्तादात्म्यावभाससम्भवात् । तस्मादपरोक्षत्वमात्रमपरोक्षभ्रमाऽधिष्ठानत्वेऽपेक्ष्यते । तच्च यत्र स्वत एव सम्भवति, तत्र न

सम्प्रयोगस्याप्यपेक्षेत्यभिप्रेत्यापरोक्षत्वाच्चेति भाष्यार्थमाह—

अपरोक्षरूपविषयभ्रमधी-
रपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत् ॥
मनसः स्वतो नयनतो यदि वा
स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः ॥ ४१ ॥

अपरोक्षरूपाविषयभ्रमधीरिति॥ कथमपरोक्षत्वमास्पद-स्येत्येतदुपपादयति ॥ मनस इति ॥ क्वचिन्मनोवृत्तिमात्रग्राह्य-त्वेन क्वचित् स्वतः स्वप्रकाशत्वेन यदि वा क्वापि नयनादि-संप्रयोगवशेनेति यथादर्शनं व्यवस्था । तत्र प्रत्यगात्मनः स्वतो-ऽपरोक्षतया न विषयत्वापेक्षेत्यर्थः। ननु स्वतोऽपरोक्षत्वमात्रेणा-ऽध्यासः कुत्र दृष्ट ? इत्यत आह स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथिते-रिति ॥ ४१ ॥

कथं स्वप्ने स्वतोऽपरोक्षेऽपरोक्षविभ्रम इत्यपेक्षायामनुभव-माश्रित्य तदुपपादयति—

स्वतोऽपरोक्षा चितिरत्र विभ्रम-
स्तथापि रूपाकृतिरेव जायते ॥
मनोनिमित्तं स्वपने मुहुर्मुहु-
र्विनापि चक्षुर्विषयं स्वमास्पदम् ॥ ४२ ॥

स्वतोऽपरोक्षाचितिरिति ॥ अत्र सर्वजनप्रसिद्धे स्वपने चितिः प्रत्यक्स्वरूपा संवित् स्वतोऽपरोक्षा । तथाहि । न ताव-दियमक्षगम्या तदाक्षाणामुपरमात् ।नापि मनोगम्या। तस्य तत्प्र-काश्यस्य तत्प्रकाशकत्वानुपपत्तेः परिशेषात् स्वत एवापरोक्षेति ।

तथापि स्वत एवापरोक्षत्वेऽपि विषयतया परोक्षत्वाभावेऽपीति यावत्। रूपाकृतिरनेकविषयाकाराकारितो विभ्रमो मुहुर्मुहुर्जायत एवेति योजना।तत्र निमित्तमाह॥ मनो निमित्तमिति ॥ मनोगता उद्बुद्धवासना निमित्तमित्यर्थः। तत्र बाह्यस्य विषयस्याभावा-द्वासनाश्रयमनःपरिणाममात्रत्वात् स्वप्नरयेति, न तस्य तदा विषयग्रहणकरणतया निमित्तत्वमिति भावः। तदेव स्पष्टयति ॥ विनापीति ॥ चक्षुर्विषयं बाह्यरूपादि स्वमास्पदमालम्बनं विना-ऽपि रूपाकृतिर्जायत एवेति सम्बन्धः। मुहुर्मुहुरिति वदन्नात्रानु-भवसिद्धेऽर्थे विप्रतिपत्त्याशङ्केति द्योतयति ॥ ४२ ॥

मनसः स्वतो नयनतो यदि वेत्यत्र स्वत इति भाग उदा-हरणमुक्तं प्रपञ्चितम् । इदानी मनसाऽपरोक्षीकृते विषयेऽपि चाक्षुषभ्रमो दृष्ट इत्युदाहरति—

मनोऽवगम्येऽप्यपरोक्षताबलात्
तथाम्बरे रूपमुपोल्लिखन् भ्रमः ॥
सितादिभेदैर्बहुधा समीक्ष्यते
यथाक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमः ॥ ४३ ॥

**मनोऽवगम्येऽपीति** ॥ इदमत्राकूतम् । अस्ति ह्याकाशे नीलं नभस्तलमलवदित्यादिचाक्षुषो भ्रमः सर्वजनीनः। तत्रा-काशस्य स्फुरणमन्तरेण तत्राध्यस्यमाननैल्यादिस्फुरणायोगात्त-त्स्फुरणं तावद्वक्तव्यम् । न हि परोक्षेऽधिष्ठानेऽपरोक्षभ्रम उप-पद्यते। एवं स्थिते, न नभसः स्वप्रकाशताऽस्ति येनात्मनीव स्वतःसिद्धेऽध्यासः स्यात्। जडत्वस्य तस्मिन् प्रमाणसिद्धत्वात्। नाऽपि चक्षुःस्पर्शनाभ्यां तत्सिद्धिः। नीरूपस्पर्शत्वात् परिशेषा-न्मनसैव तदध्यक्षताभ्युपेया । नच मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्तेन

बाह्याकाशग्रहानुपपत्तिरिति वाच्यम् । चक्षुर्द्वारा तस्य बहिर्गमनोपपत्तेः । सर्वत्र हि भ्रमेषु चिदात्मैवाऽज्ञातोऽधिष्ठानमिति प्रतिष्ठापितम् । स च मनसो बहिर्न स्फुटं व्यज्यते । बहिरर्थे च मनश्चक्षुरिन्द्रियपारतन्त्र्यादकस्माद्बहिःप्रसरन्नयनद्वारोपरिविसर्पिणा मनसाऽवगुण्ठ्यमाननभोऽवच्छिन्ने चिदात्मनि नैल्यादिभ्रम उपपद्यत इति नभसो मनोग्राह्यत्वसिद्धिरिति । अनेन चोदाहरणेनाऽधिष्ठानस्यारोप्येण सहैकज्ञानविषयत्वयोग्यता नास्तीति सिद्ध्यति ॥ तदेषाऽक्षरयोजना॥मनोऽवगम्येऽप्यम्बरे नभस्यपरोक्षताबलाद् अपरोक्षचिदात्माभिव्यक्तिबलाद् रूपं नीलपीताद्युपोल्लिखन्नवभासयन् भ्रमः सितादिभेदैर्बहुधा बहुप्रकारस्तथा समीक्ष्यते यथाऽक्षगम्ये शुक्त्यादौ रजतादिविभ्रम इति ॥ ४३ ॥

तदेवमधिष्ठानाध्यस्यमानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमं पराकृत्य अधिष्ठानस्य गृह्यमाणसामान्यांशागृह्यमाणविशेषांश वत्त्वदर्शनादन्यत्रात्मनि चांशाभावान्न तस्याध्यासाधिष्ठानतेति चोद्यं परिहर्त्तुमधिष्ठानत्वे अंश-वत्त्वमप्रयोजकं, किन्तु भासमानस्वरूपाऽनतिरिक्तस्यैवाभासमानत्वमित्यत्रोदाहरणमाह—

> ज्ञातेऽपि तावति ततोऽनतिरिक्तरूपे-
> ऽप्यज्ञानतः स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टम् ॥
> दूरस्थयोर्ननु वनस्पतिवस्तुनोस्तद्-
> भेदो न दृष्टिविषयोऽवगते च ते नः ॥ ४४ ॥

**ज्ञातेऽपीति** ॥ ज्ञातेऽपि भासमानेऽपि वस्तुनि तत्रापि तावति । तावतीत्येतद्विवृणोति ॥ ततोऽनतिरिक्तरूप इति ॥ शब्दान्तरवाच्यत्वेपेणा अतिरेकेऽपि वस्तुगत्याभासमानस्वरूपाऽनतिरिक्ते इति यावत् । तादृशे वस्तुन्यज्ञानतो दोषवशात् स्फुरण-

मस्फुरणं च दृष्टम् । कुत्रेत्यपेक्षायामाह ॥ दूरस्थयोरिति ॥ वनस्पतिरूपयोर्वस्तुनोर्नैरन्तर्येण स्थितयोर्दूरस्थयोः परमार्थतो भिन्नयोरेकत्वाध्यासे स्फुरणमस्फुरणं च दृष्टमित्यनुषङ्गः । एत-देवाभिनयेनाह तद्भेद इति ॥ ते वनस्पतिवस्तुनी अवगते चाऽपि तद्भेदो नोऽस्माकं न दृष्टिविषयो ननु । एतदविवादमित्यर्थः । तत्र विद्यमानो भेदो न गृह्यमाणवनस्पतिस्वरूपाद्भिन्नोऽनवस्थादिदोषप्रसङ्गादिति भावः । तथाच यथा भासमानेऽपि वनस्पतिशब्दवाच्यवेषेण वृक्षस्वरूपे वस्तुगत्या तदनतिरिक्तोऽपि तद्भेदो भासमानोऽपि भेदशब्दवाच्यवेषेण न भासते तथात्मादि-शब्दवाच्यवेषेण भासमानोऽपि चिदात्माहङ्काराद्यध्यासकाले वस्तुतस्तदनतिरिक्ताद्वयब्रह्मादिशब्दवाच्यवेषेण न भासते इति युक्तं चिदात्मनोऽप्यधिष्ठानत्वमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

ननु स्फुरदस्फुरद्रूपयोर्भेद एव, नाभेदः।यथेदमाकारशुक्त्याकारयोः सामान्यविशेषयोरेकत्वायोगात् । भेदस्यापि स्वरूपरूपत्वे विप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्य तादृशस्याज्ञातविशेषस्याधिष्ठानत्वं प्रत्यप्रयोजकत्वान्मैवमित्याह—

यत्रापि दैवगतितोऽस्त्यतिरिक्तभावो
रूपात् प्रतीतिविषयादितरत्र रूपे ॥
तत्राप्यबोधघटनां प्रति नाङ्गभाव-
स्तस्यातिरिक्तवपुषोऽपुनरुक्तरूपात् ॥ ४५ ॥

यत्रापीति ॥ प्रतीतिविषयाद्रूपादिदंशब्दवाच्याकारादितरत्र रूपे शुक्तित्वादिशब्दवाच्याकारे यत्रापि दैवगतितः स्वभावत एवातिरिक्तभावो भिन्नत्वमस्ति तत्रापि तस्य विद्यमानस्याऽपुनरुक्तरूपादिदंशब्दवाच्याकाराद् अतिरिक्तवपुषः शुक्तिशब्द

वाच्याऽकारस्याबोधघटनां प्रति नाङ्गभावोऽधिष्ठानस्याज्ञातत्व-संपादनेन विशेषणभाव इति योजना ॥ एतदुक्तं भवति ॥ इदमाकारेण भासमानस्य पुरोवर्त्तिवस्तुनो यद्यपि शुक्तित्वादि-रूपो विशेषो विद्यते, तथापि न तद्भासमानाकारादर्थान्तरम् । तथा सत्युत्तरकाले इयं शुक्तिरिति पूर्वावभातेदंतात्मना न गृह्येत । तस्मादिदं रजतमिति रजतात्मना गृह्यमाणमेव वस्तु वस्तुगत्या शुक्त्यात्मकमपि तथा नावभासत इति भासमानमेव न भासत इति युक्तं, न पुनरिदमिति भासमानमन्यदज्ञायमानं शुक्तित्वधर्मकमन्यदिति प्रमाणमस्ति । अत्यन्तभेदे गवाश्ववत् सामान्यविशेषभावायोगात् । अभेदेऽपि केनापि निमित्तभेदेन तद्भेदकल्पनया व्यवहारोपपत्तेरिति ॥ ४५ ॥

उक्तमेवार्थं विशदयति—

शुक्तीदमंशात् पृथगप्रतीता
त्रिकोणता स्यान्ननु वस्तुवृत्त्या ॥
तथापि तत्स्थ न पृथक्त्वमिष्टं
तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतम् ॥ ४६ ॥

शुक्तीदमंशादिति ॥ इदं रजतमित्यत्रभासकाले या पुरोवर्त्तिनि त्रिकोणता । उपलक्षणमेतत् कालपृष्ठत्वादेरपि । अप्रतीता अप्रतीयमाना वर्त्तते साऽवभासमानाच्छुक्तीदमंशाद्वस्तु-वृत्त्या न पृथक् स्यात् । तथापि तत्स्थमिदमित्यवभासमानाकार-गतं शब्दान्तरवाच्यवेषेण यत्पृथक्त्वं तदप्रबुद्धत्वनिमित्तभूतं नेष्टम् । अज्ञानावच्छेदकतया गृह्यमाणात् पृथगर्थत्वं तस्य नेष्टमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

कुत एतादित्यपेक्षायां प्रागुक्तव्यभिचारादित्याह—

यतः प्रपश्यन्नपि भेदिनः स्वं
वनस्पते रूपमभिन्नमस्मात् ॥
न भेदमस्य प्रतिपद्यतेऽक्ष्णा
वनस्पतेः पार्श्वगतात् परस्मात् ॥ ४७ ॥

यतः प्रपश्यन्नपीति ॥ अस्मात् प्रतियोगिभूताद्वनस्पते-स्तदपेक्षया भेदिनो धर्मिणः स्वं स्वभूतं भेदमभिन्नमपि पश्यन्नपि पुमानस्य भेदिनः पार्श्वगतात् परस्माद्वनस्पतेर्भेदमक्ष्णा न प्रतिपद्यत इति योजना। एकस्य भेदिनइतरस्माद्भेदं वस्तुस्वरूपभूत-मेवाक्ष्णा पश्यन्निदमस्माद्भिन्नमित्येवमाकारेण तदेव न पश्यती-त्येतदनुभवसिद्धमतः प्रतीयमानाकारादप्रतीयमानाकारस्य पर-मार्थतोऽन्यत्वकल्पनमयुक्तमित्यर्थः । भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वं तद्धर्मत्वं वा नास्माकं संमतं, किन्तु वस्तुस्वरूपातिरिक्तो भेदः प्रामाणिको नास्तीति। तथा चोत्तरत्र निरूपयिष्यते। अतो नात्र कोऽपि दोष इति भावः ॥ ४७ ॥

ज्ञातादनतिरिक्तरूपस्यैवाज्ञातत्वमित्यत्र सर्वसंमतमुदाहरण-माह—

सप्रत्यभिज्ञनयनोत्थधियो घटादेः
स्वाभाविकात् स्ववपुषोऽनतिरिक्तरूपः ॥
स्थेमाऽप्रबोधविषयो विषयत्वमेती-
त्यङ्गीकृतं ननु मितेऽपि घटादिकेऽर्थे ॥ ४८ ॥

सप्रत्याभिज्ञेति ॥ प्रत्यभिज्ञेति तत्कारणमुद्बुद्धसंस्कारो-ऽभिधीयते । प्रत्यभिज्ञाशब्दितोद्बुद्धतत्तांशसंस्कारसहितनयन-संप्रयोगोत्थाया धियो घटादेः स्थेमा स्थैर्यं घटादिकेऽर्थे मिते-

ऽप्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणावगतेऽप्यप्रबोधाविषयः सन् विषयत्वमंगीकृतं ननु सर्वैरिति योजना । कथम्भूतः स्थेमा स्वाभाविका वृत्त्यादिसिद्धात् स्ववपुषो घटादिस्वरूपादनतिरिक्तरूपोऽभिन्नरूप इत्यर्थः । न हि स्थेमा नाम वस्तुनो गुणक्रियादिरूपो धर्मः कोऽपि प्रसिद्धोऽस्ति, किन्तु वस्तुस्वरूपमेवानेककालसंबन्धनिमित्तवशात् स्थेमेत्युच्यते । एवंविधोऽप्ययं घट इति प्रत्यक्षेणाभिज्ञालक्षणेन गृह्यमाणेऽपि घटे तत्स्वभावभूतोऽपि स्थेमा न भासते, सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण तु भासत इत्येकस्यैवानंशस्याज्ञानादभानं भानं चानुभूयत एवेति नानुपपत्तिरिहेति भावः ॥ ४८ ॥

इदानीमुक्तदृष्टान्तसिद्धमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयन् प्रत्यक्चैतन्यमात्रेण स्फुरत्यप्यात्मनि नित्यमुक्तब्रह्मस्वरूपेणास्फुरणादंशकल्पना विनाऽप्यन्यासिद्धिरिति दर्शयति—

> एवं स्फुरत्यपि दृगात्मनि तत्स्वरूपे-
>
> णास्फूर्तिभाजि परिकल्पितताऽपपन्ना ॥
>
> स्वाज्ञानतो जगदिदं परमेश्वरोऽसौ
>
> जीवोऽहमित्यपि विभागवतोऽल्पकस्य ॥ ४९ ॥

एवं स्फुरत्यपीति ॥ एवमुक्तदृष्टान्तानुसारेण दृगात्मनि प्रत्यगर्थे त्वमर्थे स्फुरत्यपि तत्स्वरूपेण तदर्थाऽद्वयानन्दब्रह्मरूपेणास्फूर्तिभाजि स्फुरणरहिते जगदिदमसौ परमेश्वरोऽहं जीव इति विभागवतोऽल्पकस्य परिच्छिन्नस्य प्रपञ्चस्य स्वाज्ञानतः परिकल्पितताऽपपन्नेति योजना ॥ ४९ ॥

एवं जगदादिभेदस्यात्मन्यविद्यया कल्पितत्वप्रतिपादनेन किमुक्तं भवतीति चेत्तदाह

अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा
बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्त्तिः ॥
स्वात्माज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य
स्वात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः ॥ ५० ॥

अल्पं रूपमिति॥यदल्पं परिच्छिन्नमात्मनः प्रमातृत्वादि-रूपं तद्बन्धनं बन्धोऽविद्याकृतः । अनेन बन्धनेन स्वभावतः स्वच्छचैतन्यमूर्त्तिरपि प्रत्यगात्मा बद्धो निगडितः। एवं सतीदं फलितमित्याह ॥ स्वात्माज्ञानं कारणमिति ॥ स्पष्टार्थः । परमार्थ-त्वे बन्धस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वासंभवान्निर्विकारे कूटस्थात्मनि क्रिया-साध्यार्थासंभवाच्चानिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यात्मन्यहङ्कारादिबन्धस्या-ऽध्यस्तत्वं सिद्धमिति भावः ॥ ५० ॥

तदेवमाच्छाद्य विक्षिपतीत्यारभ्येयता ग्रन्थेनात्मनि दृष्ट-बन्धस्य तस्य सजातीयविजातीयस्वगतभेदप्रतीतेश्चाविद्याकल्पित-त्वान्मिथ्यात्वे सिद्धे जीवब्रह्मणोः पारमार्थिकमेकत्वं तत्साक्षा-त्कारेण च तदविद्यानिवृत्तिपरमानन्दस्वरूपाभिव्यक्तिश्च विभा-व्यत एवेति शास्त्रादेः सिद्धे विषयप्रयोजने इति प्रतिपादितम् । इदानीमुक्ताज्ञाननिबन्धनत्वं बन्धस्य तदोपपद्यते यद्यात्मन्यज्ञानं संभाव्येत । न तु तत् तत्र सम्भाव्यते । स्वभावविरोधादिति ये मन्यन्ते तान् प्रतिबोधयँश्चिदात्म्यन्यज्ञानं कथञ्चिद् घटयति—

अज्ञानमप्यविदुषोऽस्य न तु स्वतोऽस्ति
चैतन्यनिर्विकृतिताद्वयताविरोधात् ॥
अज्ञानताप्यनवबोधनिबन्धनैव
नात्माश्रयत्वमपि चोदयितव्यमत्र ॥ ५१ ॥

अज्ञानमपीति ॥ अयमर्थः ॥ किमज्ञानं परमार्थताश्चिदा ऽऽत्मनि न संभवतीत्युच्यते, किं वा प्रातिभासतोऽपीति विकल्प्या-ऽऽद्यमङ्गीकरोत्यज्ञानमिति पूर्वार्द्धेन । अपिशब्दो बन्धदृष्टान्तार्थः । बन्धवदज्ञानमप्यस्यात्मनो विदुषोऽज्ञानित्वेन भासमानस्य स्वतः परमार्थतो न त्वस्ति । तत्र स्वभावाविरोधं हेतुमाह ॥ चैतन्येति ॥ जडस्याज्ञानस्य चैतन्येन स्वभावतो विरोधः । तथा सविकार-निर्विकारत्वाभ्या धर्मतोऽपि विरोधः । तथाकार्यकारणादि-रूपेण सद्वयमज्ञानमद्वयश्चात्मेति व्यवहारतोऽपि विरोधः । ततो विरोधान्नाज्ञानमात्मनि परमार्थमभ्युपगम्यत इत्यर्थः । द्वितीयं निराकरोति ॥ अज्ञाततास्प्यनवबोधनिबन्धनैवेति ॥ आत्मन्य-ज्ञानसम्बन्धोऽप्यज्ञाननिर्वृत्त इत्यर्थः । एवं सत्यज्ञानसम्बन्धाद-ज्ञानसम्बन्ध इत्यात्माश्रयत्वापत्तिरितिचेद्, नोन्चैवान्यमित्या-ह॥नात्माश्रयत्वमिति॥अज्ञानसम्बन्धस्य दुर्वचत्वात् सर्वप्रमाण-न्यायासहत्वाच्चानुभवमात्रसिद्धस्यापह्नवायोगाच्च, न परमार्थो-ऽज्ञानसम्बन्धो, नाऽपि नास्तीति वक्तुं शक्य इत्यतो नोक्त-दोषोऽत्रावतरति । परमार्थत्वपक्षे ह्यात्माश्रयत्वादितर्कविरोध इति भावः ॥ ५१ ॥

नन्वेवं विनेये बोधितेऽपि कथ व्युत्थितोऽनेन बोध्येत । स खलु मानयुक्ती विना नार्थमवबोद्धुं क्षमत इतिचेत्, सत्यम् । नाऽसौ विना मानं न बुध्यते । यदि मानगम्यं भवेन्नेदं तथा ॥ तथाप्यनुभवसिद्धस्याप्यज्ञानस्य प्रमाणयुक्तिभ्या सिद्धिप्रकारो वक्तव्यो विना प्रमाणयुक्ती इदमज्ञानमात्मन्यज्ञाननिबन्धनमेव, न परमार्थमितिसम्भावनाबुद्ध्यनुदयादितिचेत् तर्हि, ते अप्यत्र सु-सम्पादे इत्यभिप्रेत्य प्रमाणं तावदाह—

द्वारं तमोऽन्वयमपेक्ष्य दृशा हि दृश्य

सङ्गच्छते सकलमत्र न नो विवादः ॥
मोहोऽपि दृश्यवपुरत्र च संवदध्वे
तस्मात्तदन्वयनिमित्तमपीह मोहः ॥ ५२ ॥

**द्वारं तमोऽन्वयमिति** ॥ सकलं दृश्यं बाह्यमाभ्यन्तरं च यदस्ति तत्सर्वं तमोऽन्वयमज्ञानसम्बन्धमपेक्ष्य हि दृशा चैतन्याऽऽत्मना सङ्गच्छते । दर्शनविषयतया सम्बध्यते इत्यत्र नोऽस्माकं न विवाद इत्यक्षरयोजना । इदमौपनिषदं दर्शनं विनाऽज्ञानं दृशो न दृश्यसम्बन्धोऽस्तीति सर्वस्य दृश्यव्यस्ततयैव सिद्धेरध्यासस्य च विनाऽज्ञानमसम्भवादिति भावः।एतावता व्याप्तिरुक्ता । इदानीं हेतोः पक्षधर्मतां दर्शयन्ननुमानमाह ॥ मोहोऽपीति ॥ संवदध्व इत्यन्तं पक्षधर्मताप्रदर्शनपरम् । मोहस्यापि दृश्यरूपत्वे न विवाद इत्यर्थः । तस्मादित्यनुमानमुक्तम् । तथाच प्रयोगः । आत्मन्ययमवभासमानो मोहसम्बन्धो मोहायत्तो, दृश्यत्वान्मोहकार्यप्रपञ्चवदिति । न च मोहान्यत्वमुपाधिस्तस्य साधनव्यापकत्वान्मोहसम्बन्धस्यापि दृश्यस्य मोहान्यत्वात् । एवमप्यात्माश्रयत्वदोषपरिहाराय मोहान्तरनिबन्धनत्वमेव कस्मान्न कल्प्यत इति न वाच्यम् । गौरवापत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मात् परपरिकल्पितविशेषसमवायादिवन्मोहोऽपि स्वपरनिर्वाहकः संभाव्यते एवेति भावः ॥ ५२ ॥

इदानीमत्र युक्तिं संवित्स्वप्रकाशत्ववादिमतेनाह—

संविद्धुरं वहति तद्विषयोपयुक्तां
स्वात्मन्यपि स्वरसतः स्वकरूपसिद्धेः ॥
कार्यप्रपञ्चपरिकल्पनमात्ममोहाद्

मोहप्रकल्पनमपीति तथोपपन्नम् ॥ ५३ ॥

**संविद् धुरं वहतीति** ॥ यथा संवित् संवेदनं तद्विषयोप-युक्तां स्वविषयव्यवहारोपयोगिनीं धुरं भारं तद्व्यवहारनिर्वहण-शक्तिं वहति धत्ते । स्वात्मन्यपि संविद्विषये स्वकरूपसिद्धेः स्व-व्यवहारसिद्ध्यर्थं स्वरसतः स्वभावादेव ता धुरं वहति । यथेदं परेषामुपपन्नमिष्टं गत्यन्तराभावात्तथाऽस्माकमपि आत्मनि कार्य-प्रपञ्चपरिकल्पनं मोहप्रकल्पनमप्यात्ममोहादेवेत्युपपन्नमेव, नानु-पपन्नमिति योजना । संविदः परमार्थभूतायाः परमार्थत एव स्व-परव्यवहारनिर्वाहकसामर्थ्यं चेदुपपन्नं मन्यसे तदा सर्वप्रमाणा-ऽसहस्यानुभवमात्रसिद्धतयाऽनपोह्यस्य मोहस्य यथादृष्टं स्वपर-व्यवहारनिर्वाहसामर्थ्यमनुपपन्नं कस्मान्मन्यसे । मोहे सर्वानु-पपत्तेरलङ्कारत्वादिति भावः ॥ ५३ ॥

येषां संविदः स्वप्रकाशत्वं नेष्टं तेषां संमतमुदाहरणमाह

आत्मा प्रसाधयति वेद्यपदार्थजातं
स्वात्मानमप्यवगतिक्षमशक्तियोगात् ॥
स्वाज्ञानमेवमिदमात्मपरप्रक्लृप्तौ
शक्तं भवेदिति न किञ्चन दौस्थ्यमस्ति ॥५४॥

**आत्मा प्रसाधयतीति** ॥ आत्मा प्रमाता जीवः । स यथावगमक्षमशक्तियोगाज्ज्ञातृत्वनिर्वाहकसामर्थ्ययोगाद्वेद्यपदार्थ जातं प्रसाधयति स्वगतावगमेन व्याप्नुवन् परिच्छिनत्ति । स्वा-त्मानमपि तेनैव शक्तियोगेन ज्ञात्रन्तरनिरपेक्षः सन् प्रसाधयति । अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थः । एवमिदमनुभवसिद्धं स्वाज्ञानं चिदात्माश्रयविषयमात्मपरप्रक्लृप्तौ चिदात्मन्यज्ञानतत्कार्यसम्ब

न्धकल्पनायां शक्तं भवेदित्यङ्गीकारे न किमपि दौस्थ्यं विद्यत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

पुनरपि परेषां बहुसंमतं दृष्टान्तमाह—

भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो
यथैव भेदान्तरमन्तरेण ॥
मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोह-
स्तथैव मोहान्तरमन्तरेण ॥ ५५ ॥

भेदश्चेति ॥ यथा भेदो घटपटादिनिष्ठः स्वाश्रयं भेद्यं मिथो भिन्दन् भेदं स्वात्मानं भेद्यं च स्वाश्रयमपि भेदान्तरमन्तरेण स्वव्यतिरिक्तं भेदं विना स्वयमेव भिनत्तीत्यविवादमेवान्यथात्राप्यनवस्थाया दुष्परिहरत्वादित्यर्थः । मोहं च कार्यं चेत्युत्तरार्द्धयोजना सुगमा ॥ एतदुक्तं भवति ॥ अज्ञानं ह्यवभासमानमाश्रयविषयपारतन्त्र्येणावभासत इति स्वयं स्वव्यवहारे तदपेक्षं भवतीत्यात्मसंसर्गितयैव भासते । आत्मा तु स्वसत्तास्फूर्त्त्योर्निरऽपेक्षोऽज्ञानानपेक्ष एवावभासते इति स्थितौ सर्वदा संसर्गिणमात्मानं स्वसत्तास्फूर्त्तिप्रदतयाऽज्ञानं स्वयमेवाश्रयते । यथा निरऽवयवत्वेन स्वतोऽसंसर्गिणमाकाशं घटादयोऽवकाशसंसर्गमन्तरेणात्मानमलभमानाः स्वयमेवाकाशेन संसृज्यन्ते तद्वदिति ॥ ५५ ॥

तदेवं मातृत्वादिबन्धस्यात्मतत्त्वानवभासानाद्यनिर्वचनीयाऽविद्याविलासमात्रत्वप्रतिपादनेन युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोरित्यादिना भाष्येण संग्रहविवरणाभ्यां निरूपितं बन्धमिथ्यात्वमिह युक्त्या प्रतिष्ठापितम् । तेनैव शास्त्रादेर्विषयप्रयोजनवत्त्वं चोपपादितम् । यद्येवं शास्त्रारम्भकर्त्तव्यतौपयिकतयाऽऽदावेव विषय-

प्रयोजने वक्तव्ये, तदर्थश्चाध्यासो वर्णनीयस्तदा भाष्यस्य सूत्रा-ऽनुसारित्वानियमात् सूत्रकारेणानुक्तमेतत् सर्वं कथं भाष्यकारो वर्णयति स्मेत्याशङ्क्य सूत्रकारेणाप्युक्तत्वान्नात्र शङ्कावसर इत्य-ऽभिप्रेत्योक्ते भाष्यार्थे सूत्रव्यापारं दर्शयति—

ब्रह्मज्ञानं सूत्रयन् सूत्रकारो
बन्धोत्पत्तेर्हेतुविध्वंसनाय ॥
एतत्सर्वं सूचयामास तस्मा-
देतत्सर्वं भाषते भाष्यकारः ॥ ५६ ॥

**ब्रह्मज्ञानमिति** ॥ अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासेति प्रथमसूत्रे ब्रह्मजिज्ञासापदेनाथशब्दसूचिताधिकारिविशेषणमोक्षसाधनं ब्रह्मज्ञानमित्यर्थात् सूत्रकारेण सूत्रितम् । यतो ब्रह्मज्ञानाय विचारकर्त्तव्यत्वप्रतिज्ञा तस्य फलतत्साधनत्वयोरन्यतरत्वाभावेन युक्ता तत्र ज्ञानस्य सुखदुःखप्राप्तिनिवृत्त्योरन्यतरत्वाभावात्तत्साधनत्वमर्थात् सूत्रितमेवेति प्रयोजनं तावत् सूत्रितम् । तच्चाधिकारि-विशेषणमोक्षाख्यं बन्धनिवृत्तिरूपम् । स यदि बन्धः परमार्थभूतः स्यात्तदा न ज्ञानेन निबर्हणार्हो भवेत् । यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकं, न परमार्थस्यातो ज्ञानेन बन्धनिवृत्तिं सूचयता तस्य मिथ्यात्वमपि सोपपत्तिकं सूचितमेवेति गम्यते। यन्निरूपणमन्तरेण सूत्रार्थो न निरूपितः स्यात्तत्सर्वं सूत्रसूचितमेव सूत्रेषु सूचनस्या-ऽलङ्कारत्वादिति । तस्मात् [illegible] । भाष्यकारेण प्रतिपादनमस्य सूत्राभि[illegible]प्रकाश इति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थः सुबोधः। एवं सूत्रभाष्यैकवाक्यतानिरूपणेनास्य ग्रन्थस्य वार्त्तिकत्वमपि ध्वनितम् ॥ ५६ ॥

यस्मादेवं सूत्रभाष्यकाराभ्यां शास्त्रीयविषयप्रयोजनसिद्धये

बन्धमिथ्यात्वमुपपादितं तस्माद्युक्तमेवास्माभिरिहादौ तन्निरूपणं कृतमित्युपसंहरति—

तस्मादध्यस्तमेतत्सकलमपि दृशो भ्रमरूपातिरिक्तं
रूपं स्वाज्ञानामात्रादिति भवति परब्रह्मधीबाध्यमेतत् ॥
ईशित्रादिप्रभेदप्रतिहतिफलकज्ञानदौःस्थ्यापनुत्त्यै
श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुताशालि शास्त्रं विदध्मः ॥५७॥

**तस्मादध्यस्तमेतदिति**॥यस्मादेवं तस्माद् दृशश्चिदात्मनो यद् भ्रमरूप ब्रह्मरूपं तदतिरिक्तं सकलमप्येतत्परिच्छेदविषयत्वादिरूपेणावभासमानरूपं स्वाज्ञानमात्रादध्यस्तमिति कृत्वा परब्रह्मधीबाध्यमेवैतद्भवति । अतो भेदविपर्यासयोरात्मनि परमार्थत्वाभावाद् ब्रह्मात्मैक्यविषयबन्धनिवृत्तिप्रयोजनयोरिह सम्भवाच्छास्त्रमारम्भणीयमेतद् इत्याह ॥ ईशित्रादीति ॥ ईश्वरो जीवो जगदिति च यः प्रभेदो द्वैतावभासलक्षणस्तस्य प्रतिहतिर्बाधरूपा निवृत्तिः । तदेव फलं प्रयोजनं यस्य तच्च तज्ज्ञानं चेति तथा । तस्य यद्दौःस्थ्यमसम्भावनाद्यास्कन्दितत्वेन स्वविषय एव नैश्चल्याभावस्तस्यापनुत्त्यै निरासाय श्रीमच्छारीरकार्थप्रकटनपटुतया शालि शोभमानं शास्त्रं शास्त्रार्थसङ्ग्रहप्रधानं ग्रन्थं विदध्मः कुर्महे इति योजना ॥ यद्यप्यस्य ग्रन्थस्य प्रकरणत्वं पूर्वमुक्तं, तथापि मोक्षपुरुषार्थसम्बद्धप्रमेयज्ञानस्याप्यत्र सङ्क्षेपविस्तराभ्यां प्रतिपादनाच्छास्त्रलक्षणमप्यस्तीति प्रदर्शनाय शास्त्रं विदध्म इत्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । एवमपि सूत्रभाष्यपरतन्त्रत्वाद्विचारशरीरस्य सर्वस्येह साक्षादप्रतिपादनादिदं प्रकरणं च प्रागुक्तरीत्या सूत्रभाष्योक्तानुक्तादिविचारपरत्वाद्वार्त्तिकं चेदमिति भावः ॥ ५७ ॥

ननु यद्यपि प्रत्यगात्मनि भेदविपर्यासयोरुक्तन्यायेन मिथ्यात्वात् पारमार्थिकं तदद्वयं विषयस्तज्ज्ञानाच्च तद्गताज्ञान-बन्धहानिः प्रयोजनं च स्यादिति सम्भाव्यते, तथाप्युक्तविषय-प्रयोजने न सङ्गते इव प्रतिभातः । तथाहि । वाक्यविचारात्मकं हीदं शास्त्रमभिमतं, न तर्कशास्त्रवद्युक्तिमात्रेणोत्प्रेक्षितार्थनिरूपण-परम् । तत्र चानन्यलभ्यः शब्दार्थ इति न्यायादुक्तविषयस्य वेदान्तैकगम्यता वक्तव्या । साऽत्र विचार्यमाणा न लभ्यते । सफलस्य विषयस्य अन्यतः सिद्धौ विचारवैयर्थ्यादसिद्धौ च विषयाऽसिद्धेर्निर्विषयाविचाराऽनुत्थानात् । नच वेदान्तेभ्य आपातप्रतिपन्नस्य विषयस्य फलस्य च विशेषतो निर्णयफलो विचारो भविष्यतीति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । किं पदा-त्प्रतीतिरापातप्रतिपत्तिरुत वाक्यात् । नाद्यः । मानान्तरागोचर-स्य ब्रह्मात्मनः सङ्गतिग्रहासम्भवात् पदात् प्रतीत्यनुपपत्तेः । न द्वितीयः । अनवगतसङ्गतिकपदकदम्बरूपाद्वाक्यात् संसृष्टार्था-ऽवगमायोगात् । मानान्तरप्रवेशे च तत्र शब्दस्यानुवादकतया प्रामाण्यायोगादिति केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते । तान् प्रत्याह—

मीमांसितव्यमनयैव सदद्वितीयं
मीमांस्यमेव च सदात्मतयानयेत ॥
ज्ञातं प्रयोजनमनेन यथेयमस्या-
स्तन्नान्तरीयकतया च तमोनिवृत्तिः ॥ ५८ ॥

**मीमांसितव्यमिति** ॥ अद्वितीयं सद्यत्सच्छब्दनिर्दिष्टं वेदान्तेषु तदनयैव मीमांसया मीमांसितव्यम् । अथातो ब्रह्म-जिज्ञासेत्यादिसूत्रसन्दर्भरूपेणैव विचारशास्त्रेण विचारणीय-मित्यक्षरार्थः ॥ अयं भावः ॥ न चात्यन्ताप्रसिद्धिर्विषयस्या-

ऽभ्युपगम्यते येन विचारस्य निर्विषयतयाऽनुत्थानशङ्का । नाऽपि यथावन्निश्चितरूपा तत्प्रसिद्धिर्येन विचारवैयर्थ्यं स्यात् । किन्तु वेदान्तेभ्य आपातप्रतिपन्ने वाक्यार्थे तस्य प्रतीयमानब्रह्मात्मैकत्वादन्यत्र प्रवृत्तिशङ्कावारणेन तदैकप्रातिष्ठत्वनिश्चयाय विचार आरभ्यत इति न विचारवैयर्थ्यादिशङ्कावकाशः । न च पदाद्वाक्याद्वा तत्प्रतीतिरिति विकल्पावसरः । पदार्थस्य लोकसिद्धत्वात् । लोके हि सच्छब्दः सन्मात्रविषयोऽस्त्यादिशब्दैर्व्यवह्रियते । तथाऽद्वितीयादिशब्दश्च द्वितीयाभावे एकस्मिन् वस्तुन्यवगतसामर्थ्यः । तथा ब्रह्मशब्दोऽपि सङ्कोचकाभावान्निरवग्रहाद्वस्तुनि स्वसामर्थ्यादेव व्युत्पन्न इति नाव्युत्पत्तिशङ्कापि । अतो नात्र दोषः कोऽपीति । अनयैवाद्वितीयं सन्मीमांसितव्यमिति वदता यथोक्तविषयस्यानन्यसाधारणत्वमुक्तम् । न ह्यऽद्वितीयात्मवस्तु लोकप्रमाणत्वाभिमतात् प्रत्यक्षादेः सिद्धम् । तथा सति वादिविवादादर्शनप्रसङ्गात् । नाऽपि शास्त्रान्तरात्तत्सिद्धिः । तस्य सर्वस्य भेदतत्त्वपरत्वात् । आत्मन औपनिषदत्वविशेषणश्रवणाच्च । तस्मादनयैव मीमांसयोक्तार्थो ज्ञेय इति ॥

ननु यद्यपि ब्रह्मोपनिषदेकवेद्यमुपनिषदश्चास्मिन्नेव शास्त्रे विचार्यन्त इति ब्रह्मास्य विषयस्तथापि तस्यात्मैक्यं न श्रुतिविचारशास्त्रविषयः,आत्मनस्ततोऽन्यत्वादित्याशङ्का न कार्येत्याह॥ मीमांस्यमेवेति ॥ अनया मीमांसया तत्सद्ब्रह्मात्मतयैव प्रत्यगेकरसतयैव मीमांस्यमित्यन्वयः।सर्वश्रुतिष्वयमात्मा ब्रह्मेत्येवंरूपेणैव ब्रह्मण उपदेशदर्शनात्तटस्थब्रह्मवेदनस्य चात्मनि दृष्टसंसारनिरासाधनत्वासंभवादानर्थक्यापत्तेर्भेदस्य च उपाधिभेदमन्तरेण स्वभावतो निरूपयितुमशक्यत्वाच्च न प्रतीचो भेदेन ब्रह्मदर्शनमुपपद्यते।अत एव सर्वश्रुतिषु तत्त्वमसीत्यादिवाक्यगतपद-

सामानाधिकरण्यविषयशोधनाय विचारशास्त्रारम्भ इति भावः । यदुक्तं प्रयोजनमप्यत्र न संभाव्यत इति । तत्राह ॥ ज्ञातमिति ॥ अनेन यथायथोक्तेन प्रत्यगेकरसत्वलक्षणेनेदं सदादिशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्म ज्ञातं सत् प्रयोजनं परमानन्दरूपत्वात् । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ब्रह्मवेदनस्य ब्रह्मभवनफलश्रवणादज्ञातं ब्रह्म प्रत्यकू-तत्त्वं विषयीकृत्य प्रवृत्तविचारद्वारकवेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य ज्ञातं तदेव प्रयोजनं, नान्यत् साध्यरूपमित्यर्थः । ननु तमोनि-वृत्तेः साध्यत्वात् सैव संसारनिदाननिवृत्तित्वेनाभिलाषगोचर-त्वाच्च फलमित्याशङ्क्याह ॥ तन्नान्तरीयकतया चेति ॥ तमोनि-वृत्तिश्च न ज्ञानव्यापारसाध्या, किन्तु नान्तरीयकतया तत्त्व-ज्ञानोदयमात्रेण विरोधात् स्वयमेवाज्ञानं तमो निवर्त्तते । अतो न यत्नसाध्यता तस्याः । तमोनिवृत्तेश्चारोपितनिवृत्तित्वादधिष्ठाना-ऽऽत्ममात्रत्वान्न पृथक्फलत्वमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

यद्यप्येवं शब्दप्रतिपाद्यत्वादनन्यसाधारणत्वाच्च ब्रह्म वि-चारविषयः स्यात्तदेव च ज्ञातं सन्निरतिशयानन्दरूपत्वात् प्रयो-जनं तत्साक्षात्कारज्ञाननान्तरीकतया च तद्गततमोनिवृत्तिश्च प्र-योजनं भवतीति विचारशास्त्रस्योक्तविषयप्रयोजनाभ्यां तद्वत्त्व-सिद्धिस्तथापि पूर्वमीमांसयैव समस्तवेदार्थविचारस्य कृतत्वात् पृथग्विचारो नारब्धव्यो, वाक्यार्थनिर्णयाऽपेक्षितस्य सर्वस्य न्यायस्य तत्र गतत्वादिति चेन्नेत्याह—

न च गतार्थमिदं प्रतिभाति नो
न हि विधेः पदमात्मसमीक्षणम् ॥
न खलु यागददातिजुहोतिवत्
पुरुषतन्त्रमिहात्मनिदर्शनम् ॥ ७९ ॥

न च गतार्थमिदमिति ॥ नोऽस्माकमिदं वेदान्तविचार-शास्त्रं गतार्थमन्यतो निर्वृत्तार्थं न प्रतिभाति । तत्र वेदान्त-वाक्यानामेकदेशस्याप्युदाहरणादर्शनाद्, अथातो धर्मजिज्ञासेति प्रतिज्ञासूत्रे धर्मस्यैव यागादिलक्षणस्य विचार्यत्वेन प्रतिज्ञातत्वा-च्चोदनासूत्रे च तस्यैव लक्षणप्रमाणयोरुपन्यासादुत्तरसूत्रेष्वपि प्रतिलक्षणं च तद्विचारेणैव शास्त्रसमाप्तिदर्शनान्न पूर्वमीमांसावि-चारेणस्य गतार्थतेति चकारार्थः। ननु विध्यपेक्षितविचारस्य सर्व-स्यापि तत्र कृतत्वाद्विधिरहितवाक्यानां चार्थवादादीना विध्येक-वाक्यतया फलवदर्थावबोधकत्वप्रकारप्रदर्शनेन विधिशेषत्वेन प्रामाण्यनिर्णयन्यायस्यापि तत्र गतत्वाद् वेदान्तविज्ञानस्याऽपि विधिविषयत्वाद्विध्यपेक्षितार्थसमर्पकत्वेन तच्छेषत्वाद्वा प्राग्वि-चारेण विचारितत्वोपपत्तेर्न्न पृथग्विचारार्हमिदामितिचेत्तत्राह ॥ न हि विधेः पदमात्मसमीक्षणमिति ॥ आत्मसमीक्षणं वेदान्त-वाक्योत्थं प्रत्यगेकरसब्रह्मज्ञानं न विधेः पदं विषयः, साक्षाद्वा परम्परया वा न विधियोग्य इत्यर्थः। तत्र साक्षाद्विधिविषयत्वा-भावे हेतुमाह ॥ न खल्विति ॥ यागदानहोमवदिह वेदान्तेषु यथोक्तात्मनि दर्शनं जायमानं न खलु पुरुषतन्त्रं पुंप्रयत्ननिष्पाद्य-म्। तस्य तत्त्वज्ञानत्वेन प्रमाणवस्तुतन्त्रत्वादग्नावग्नित्वज्ञानवत्। अपुरुषतन्त्रस्य चाविधेयत्वादित्यर्थः ॥ इहात्मनीति सामाना-धिकरण्यं वा। आत्मनि ब्रह्मत्वदर्शनमित्यर्थः। नाप्यर्थवादादि-न्यायेनान्यविधिशेषतास्यास्ति । अनारभ्याधीतत्वात् स्वार्थे फलराहित्याभावाच्चेति भावः ॥ ५९ ॥

न केवलं पुरुषतन्त्राभावादेव ब्रह्मज्ञानस्याविधेयता, अपि तु विषयासिद्धेरपीत्याह—

अपि च रूपितगोचरताविधे-

र्न परमात्मधियोऽस्ति च रूपणम् ॥
अविदिते परमात्मनि तद्धियो
न खलु रूपितता घटनान्विता ॥ ६० ॥

अपिच रूपितगोचरतेति ॥ विधेर्विधानस्य नियोगस्य वा रूपितगोचरता अन्यतोऽवगतविषयनिष्ठता हि स्वभावो, यथा यागादेः क्रियाया विषयस्य लोकतः सिद्धौ तस्मिन् विधिर्दृष्टो, नात्यन्तानवगते धात्वर्थे इत्यर्थः । तर्हि प्रकृतेऽप्यवगतगोचरता विधेः किन्न स्यादिति? नेत्याह ॥ न परमात्मधिय इति ॥ अयमर्थः । न तावदहमिति सर्वजनीनमात्मज्ञानं विधेयम् । तदनुष्ठानस्य विनाऽपि विधिं नित्यप्राप्तत्वात् । तद्विधानस्य मोक्षफलत्वाभावाच्च । अथालौकिकपरमात्मज्ञानं विधेयं तदनुष्ठानस्यान्यतोऽप्राप्तत्वान्मोक्षफलत्वोपपत्तेश्चेति मतं, तदपि न । तस्य वेदान्तवाक्येभ्योऽन्यतोऽसिद्धेर्विषयासिद्धौ विध्यसंभवात् । न हि परमात्मनोऽसिद्धौ तद्विशेषितं ज्ञानं सिद्ध्यति । परमात्मा चौपनिषद एवेति स्थितेरुपनिषद्वाक्यस्य विधिपरत्वेन तेन परमात्मसिद्धिः । परमात्मपरत्वे च न विधिसिद्धिरुभयपरत्वे तु वाक्यभेदापत्तिरतो, न परमात्मधियो निरूपणमस्तीति । अतो विषयासिद्धेर्न विधिरित्युपसंहरति ॥ अविदिते परमात्मनीति ॥ रूपितता सिद्धता घटनान्विता प्रामाणिकी । विशेषणासिद्धौ विशिष्टविषयस्याप्यसिद्धेरित्यर्थः ॥ ६० ॥

अथ सत्यज्ञानादिवाक्याना ब्रह्मप्रतिपादकत्वमऽवान्तरतात्पर्येणाभ्युपेयते । ततः सिद्धे ब्रह्मावगमे विधिरितिचेत्तत्राह

विदितता परमात्मन इष्यते

यदि वृथा विधिरस्य धियो भवेत् ॥
निखिलभेदनिदाननिवृत्तितो
भवति तद्विषयादि च दुर्लभम् ॥ ६१ ॥

**विदितता परमात्मन इष्यते यदीति** ॥ यदि सत्यादिपदैः परमात्मनो विदितत्वमङ्गीक्रियते तदाऽस्य परमात्मनो धियो ज्ञानस्य विधिर्वृथा निरर्थको भवेत् । कुत इत्यत आह ॥ **निखिलभेदेति** ॥ निखिलभेदस्याशेषविकल्पस्य संसारलक्षणस्य यन्निदानमनाद्यनिर्वचनीयाज्ञानं तस्य निवृत्तितः परमात्मज्ञानोदयनान्तरीयकतयापबाधनाद् विध्यनुष्ठानकार्यस्य प्रागेव सिद्धेस्तत्र विधिरनर्थक इत्यर्थः । न केवलमास्मिन् पक्षे विधिवैयर्थ्यमशक्यता चेत्याह ॥ **भवतीति** ॥ तद्विषयाद्यपि विध्यपेक्षितविषयनियोज्यकारकफलाद्यपि तदा दुर्लभं भवति । न हि वेदान्तवाक्यप्रमाणेनाद्वितीयं ब्रह्मैवाहमात्मेत्यवगमे तद्विरुद्धक्रियाकारकफलभेदस्फूर्त्तिरुन्मिषेद्येन विध्यवसर इत्यर्थः । तस्मात् कर्मकाण्डविषय एव विचारः प्राच्या मीमांसया कृतो, न ज्ञानकाण्डविचारोऽतः पृथगारम्भो युक्त एवेति भावः ॥ ६१ ॥

अगतार्थत्वसाधनमुपसंहरति—

इति न धर्मविशेषसमर्पणं
श्रुतिशिरोवचनैः क्रियते ततः ॥
भवति धर्मविचारगतार्थता-
ऽनवसरः परमात्मविचारणे ॥ ६२ ॥

**इति न धर्मविशेषसमर्पणमिति** ॥ इति यतः श्रुतिशिरोवचनैर्धर्मविशेषस्य ज्ञानोपासनरूपस्य समर्पणं न क्रियते

विनापि विधिसम्बन्धं फलवद्विज्ञानसमर्पकत्वात् । ततस्तस्मात् परमात्मविचारणे धर्मविचारगतार्थताऽनवसरो भवति । पृथगेव ब्रह्मविचारः कार्य इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ननु वेदान्तेष्वात्मा वा अरे द्रष्टव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यस्तद्विजिज्ञासस्वेत्येवमादिषु विधयः श्रूयन्ते । ते चानन्यार्था इति कथं वेदान्तेषु विध्यभावेनागतार्थतोच्यत इति-चेन्मैवम् । तेषामन्यार्थत्वादित्याह—

अर्हाद्यर्थे च कृत्यस्मरणमभिमतं पाणिनेः प्रार्थनादौ
लिङ्लोडादेश्च वृत्तिः प्रचुरमभिमता पाणिनेर्जैमिनेश्च ॥
तस्माद्वेदान्तवाक्ये पठितमपि लिङाद्यन्यथा योजनीयं
विध्यर्थासंभवेन स्फुटमुदितनयादेतदन्यागतार्थम् ॥६३॥

अर्हाद्यर्थे चेति ॥ न केवलं विधावेव तव्यप्रत्ययो विहितो, येन तच्छ्रवणबलाद्वेदान्तेषु विध्यभ्युपगमः । किन्तु, अर्हे कृत्यतृच इति सूत्रयतः पाणिनेराचार्यस्यार्हाद्यर्थे चाऽपि कृत्यस्मरणमभिमतमिष्टमेव । तथा लिङ्लोडादेश्च प्रत्ययस्य प्रचुरं यथा स्यात्तथा प्रार्थनादौ वृत्तिः पाणिनेर्जैमिनेश्चाचार्यस्याभिमता भवत्वेवं तथापि प्रकृते किमायातं, तदाह ॥ तस्मादिति ॥ अन्यथेति विध्यर्थत्वव्युदासेनार्हार्थतयैव योजनीयमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह॥विध्यर्थेति ॥ स्फुटं यथा भवति तथोदितनयात् पूर्वोक्त-न्यायाद् विध्यर्थासम्भवेन हेतुनेति योजना । तस्मादेतच्छास्त्र-मन्यागतार्थमन्यतो न विचारितार्थमित्यर्थः ॥ ६३ ॥

नन्वेवमुक्तेन प्रबन्धेनासाधारणविषयप्रयोजनत्वेऽपि प्राच्या मीमांसया शास्त्रान्तरेण वा गतार्थत्वाभावेऽपि नेदमारम्भमर्हत्य-धिकार्यभावात् । न हि निरधिकारिकं किमपि शास्त्रं समस्ति ।

न चेहाधिकारी कश्चिदसाधारणः सम्भवति । न तावद्वेदाध्ययनवानिहाधिक्रियते । तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारण्याद्धर्मविचारं परित्यज्य ब्रह्मविचार एव प्रवृत्त्यसम्भवात् । तथापि धर्मविचारानन्तरं स एवेह प्रवर्त्तिष्यत इतिचेन्न । तस्य विचारितधर्मानुष्ठान एव प्रवृत्तिसम्भवात् । अनुष्ठानाय हि तेन धर्मो विचारितो, न केवलमदृष्टार्थमिति । तर्ह्यनुष्ठानानन्तरं स एव विचारमेनं करिष्यतीतिचेत् । न । अनाश्वासापत्तेः । न हि स्वयमधीत्यार्थमवबुद्ध्य सर्वमवबुद्धं वेदार्थमनुष्ठाय पश्चाद्ब्रह्मजिज्ञासा करिष्यामीत्यध्यवसायः कस्यचिदुपपद्यते । तावत्कालं जीवनं प्रत्यनाश्वासात्, सर्वकर्मानुष्ठानाऽशक्तेश्च । सन्देहेऽपि शास्त्रीयाऽधिकारिनियमासिद्धेर्निरधिकारकमिदं शास्त्रमापद्येत । ननु अधीतस्वाध्यायः कर्मफलरागशून्यतया तद्धेतुधर्मजिज्ञासा परित्यज्येहैव मोक्षसाधनं ब्रह्मज्ञानेच्छुर्मुमुक्षावशात् प्रवर्त्तिष्यत इतिचेन्न । यथोक्तस्य मुमुक्षोरेवासम्भवात्तन्मुमुक्षोदयहेत्वभावादित्याशङ्क्य मनुष्याणां सहस्रेषु कस्यचिन्मुमुक्षोदयोऽपि सम्भाव्यत एवेति मन्वानस्तत्कारणं तावच्छ्रौतमनुक्रामति—

एकाहाहीनसत्रद्वयविधिविहितानेककर्मानुभाव-
ध्वस्तस्वान्तोपरोधाः कथमपि पुरुषाश्चिद्दिदृक्षां लभन्ते ।।
यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहित कर्मवृन्द गृहीत्वा
स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ६४

एकाहाहीनेति ॥ अत्रैकाहादिग्रहणमग्न्याधेयप्रभृत्यारब्धाग्निहोत्रादिहविर्यज्ञसंस्थानामप्युपलक्षणम् । स्मार्त्तेषु कर्मस्वधिकृतस्यैव श्रौतेष्वधिकारात्तान्यप्यत्रार्थादुक्तानि ज्ञातव्यानि । एकाहादिशब्दा अग्निष्टोमादिगतसुत्याहवाचकाः ।

सुत्याहेषु हि प्रधानकर्म निर्वर्त्यते । अतः प्रधानग्रहे तदङ्गाना-
मपि ग्रहणम् अर्थसिद्धमिति मत्वोक्तमेकाहेत्यादीति द्रष्टव्यम् ।
यस्मिन्नहनि प्रातःसवनादिक्रमप्रभृतयो यागा एकाहशब्देनोक्ताः।
अहीनशब्देन द्विरात्रप्रभृतीनि द्वादशाहान्तानि सुत्यादिनान्येव
उच्यन्ते । एतान्येकाहाहीनाख्यानि कर्माण्येकयजमानकानि ।
सत्रं नामानेकयजमानकः कर्मविशेषो, यत्र यजमाना एवर्त्विजो
भवन्ति । तच्च द्विविधं द्वादशाहाद्यहर्गणैः साध्यं रात्रिसत्राख्य-
मनेकविधं, यत्रोपयन्तीतिविधिः प्रवर्त्तते । सैका विधा सत्राणा-
म् । यत्र पुनरासतेति विधिः प्रवर्त्तते तान्ययनाख्यानि संवत्सर-
सत्राणि गवामयनादीनि सहस्रसंवत्सरान्तानीत्यपराविधेति
विभागः । एषा विहितेति विशेषणं फलावश्यम्भावनियमार्थम् ।
तथाचैकाहाहीनसत्रद्वयानि च तानि विधिविहितानि तानि च
तान्यनेकानि च तानि कर्माणि चेति तथा, तेषामनुभावः सामर्थ्यं
तेन ध्वस्तः पराकृतः स्वान्तस्यान्तःकरणस्योपरोधो विद्योदय-
प्रतिबन्धलक्षणः पाप्मा येषां ते तथोक्ताः । स्वाधिकारप्राप्तश्रौत-
स्मार्त्तसकलकर्मानुष्ठानजनितपुण्यमाहात्म्येन क्षपिताशेषकल्मषा
इत्यर्थः । एवंविधाः पुरुषाः कथमपि कथञ्चिदनेकजन्मा-
ऽनुष्ठितसुकृतपरिपाकवति जन्मनि सति चिदिदृक्षां प्रत्यक्चैतन्य-
याथात्म्यदर्शनेच्छां ब्रह्मजिज्ञासामिति यावत्, लभन्ते । कथमपि
लभन्त इति वदता ब्रह्मजिज्ञासाया दौर्लभ्यं सूचितम् । तथा-
चोक्तं भगवता— मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये, इति ।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यत इति च । क्षपितसमस्त-
स्वान्तदोषतया गलितपक्षपातधियः, स्फुरितयुक्तिसहस्रतया
पुरुषार्थसारं विचिन्वन्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नाः सन्त आत्मतत्त्व-
जिज्ञासवो जायन्त इत्यर्थः॥नन्वनेन क्रमेण केऽपि ब्रह्मविविदिष-

वो भवन्तीत्यत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाह॥यज्ञेनेत्यादीति॥तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति वाक्यं शतपथशब्दवाच्यब्राह्मणवाक्यैर्विहितं कर्मवृन्दं स्वाध्यायजपतदर्थानुष्ठानलक्षणं स्वोत्पत्त्याम्नानासिद्धं तत्तदऽसाधारणोत्पत्तिविधिभिरवगतं यथा स्यात्तथा गृहीत्वा पुरुषाणा विविदिपासाध्यमात्रे विविदिषारूपफलसाधनतया युनक्ति विनियोजयतीति योजना । ब्रह्मविविदिषामात्रसिद्ध्यर्थं कर्मकाण्डोक्तकर्मणा विनियोजकं यज्ञेनेत्यादिवाक्यमुक्तक्रमे प्रमाणमित्यर्थः । नच तत्तत्फलार्थतयाऽन्यत्र विनियुक्तानां कर्मणां पुनरिह विविदिषायां कथमुपयोगो विधातुं शक्यते । विनियुक्तविनियोगासम्भवादिति वाच्यम् । उत्पत्तिवाक्यासिद्धकर्मस्वरूपस्यैवेह यज्ञादिशब्दैरनूद्य विविदिषायां विनियोगात्तत्रत्यफलान्तरसाधनत्वांशस्येहानुपादानात् । तथाच यथाग्निहोत्रं जुहोतीत्याद्युत्पत्तिवाक्यमेकमपि नित्यकाम्याविनियोगसाधारणम् एवं विविदिषार्थत्वेऽप्यविरोधः ।

अत एवोक्तं, स्वोत्पत्याम्नानसिद्धमिति ॥ एतेन प्रयोगभेदाप्रसङ्गोऽपि व्याख्यातः । कर्मणा शुद्धिद्वारा विविदिषाहेतुत्वं च, येन केनचन यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति इदमनेनाङ्गं संस्क्रियते । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः । यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धं, सर्वापेक्षा चेति न्यायसिद्धं चेति नात्रानाश्वासकारणमस्तीति भावः ॥६४॥

पूर्वपद्योपपादितमर्थक्रममनूद्योत्पन्नविविदिषस्यानन्तरकृत्यं, तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेदित्यादिशास्त्रसिद्धमर्थमाह—

उपससाद चतुष्टयसाधनो
निशितबुद्धिरशुद्धिपरिक्षयात् ॥

विविदिषुर्विहितैर्विविधाध्वरै-
र्विदितवेद्यतम विधिवद् गुरुम् ॥ ६५ ॥

उपससादेति॥अत्र परोक्षभूतार्थलकारप्रयोगो ब्रह्मविविदिषया गुरुपूर्वकवेदान्तश्रवणादौ पुरुषधौरेयाणां प्रवृत्तिर्नाधुनातनी, किन्त्वनादिशिष्टव्यवहारानुवर्त्तिनीतिद्योतनार्थो गुरुशिष्यसंवादरूपेणास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरिति द्योतनार्थश्चेति द्रष्टव्यम् । विविधैर्विहिताध्वरैरशुद्धिपरिक्षयान्निशितबुद्धिश्चतुष्टयसाधनो विविदिषुर्भूत्वा विदितवेद्यतमं गुरुं विधिवदुपससादेत्यन्वयः । नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः, शमादिसाधनसम्पद्, मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयम् । तद्युक्त इत्यर्थः ॥६५॥

ननु मुमुक्षुत्वं हि मोक्षेच्छावत्त्वम् । मोक्षश्च निरतिशयपरमानन्दो नित्यसुखरूपो निःशेषानर्थनिवृत्त्युपबृंहितः स पुंसामनादौ संसारे न कस्यामप्यवस्थायामनुभवगोचर इति कथमननुभूतसजातीये तस्मिन्निच्छोदयः सम्भाव्येत । तस्मान्मुमुक्षा कथमधिकारिविशेषणमुपपद्यते इतिचेत् तत्राह—

इह जगति हि सर्व एव जन्तु
र्निरतिशय सुखमुत्तमं ममास्तु ॥
व्युपरमतु तथोपघातरूपं
विषयजदुःखमिति स्पृहां करोति ॥ ६६ ॥

इह जगति हीति॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् । उपघातरूपं सुखानुभवविरोधिस्वभावं विषयजदुःखमपि तथा निरतिशयं यथा स्यात्तथा व्युपरमत्विति योजना। हिशब्देन सर्वजनप्रसिद्धोऽयमर्थो, नात्र प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमिति सूचितम् ॥ ६६ ॥

निरतिशयसुखदुःखनिवृत्त्यर्थितायामपि मुमुक्षुत्वं कथं सिद्ध-मित्यत आह–

निरतिशयसुख च दुःखजात-
व्युपरमणं च वदन्ति मोक्षतत्त्वम् ॥
उभयमपि जनोऽभिवाञ्छतीति
स्फुटतरमस्य सदास्ति मोक्षवाञ्छा ॥ ६७ ॥

**निरतिशयसुखं चेति** ॥ यदिदमुभयविधं फलं सर्वपुंसां स्वरसत एवाभिलाषास्पदं तदेव मोक्षतत्त्वं मोक्षविदो वदन्ति । अतः सर्वस्यापि जनस्य स्वरसत एव मोक्षवाञ्छास्तीति फलितमाह ॥ उभयमपीति ॥ अनुभूयमानसजातीय एव मोक्षो, नात्यन्तमतज्जातीय इति नोक्तदोषावकाश इति भावः ॥ ६७ ॥

नन्वविषयात्मस्वरूपाऽऽनन्दस्तद्गताऽज्ञानतत्कार्यबन्धनिवृत्तिश्च मोक्षो भवतेष्यते । न तत्र पुंसामनुभूतसाजात्यमस्ति । विषयभूतसुखादिविषयत्वाल्लोकाभिलाषस्येतिचेत्तत्राह–

उभयमपि परात्मनः स्वरूपं
विमलचिदेकरसं स्वयप्रकाशम् ॥
इति भवति विना प्रमाणमस्मि-
न्नुदितनयादभिवाञ्छनोपपत्तिः ॥ ६८ ॥

**उभयमपि परात्मनः स्वरूपमिति** ॥ अयमर्थः ॥ वैषयिकमपि सुखमात्मरूपमेव सत्तत्तद्विषयोपभोगं निमित्तीकृत्य विशिष्टाकारमनोवृत्त्युपाधिभिरागन्तुकैर्विशेषाऽऽकारेणाभिव्यज्यमानं नानेवागन्तुकमिवानित्यमिव चावभासते । मनसस्तु लये सुषुप्तौ सर्वोपाधिमत्यस्तमयान्निरुपाधिकमेकमनागन्तुकं

नित्यात्मस्वरूपमवभासते । अतः सुखस्य स्वरूपतः स्वयम्प्रकाशमानात्मस्वरूपत्वात्तद्विषयाभिलाषः परमानन्दाभिलाष एवेति नित्यानुभवसिद्ध एवानन्दरूपो मोक्ष इति न तत्र प्रमाणमन्वेषणीयमिति । तथा निःशेषदुःखोच्छित्तिरप्यनुभूयमानात्मस्वरूपान्नातिरिच्यते । तथाहि । दुःखं हि सदैवागन्तुकम् । सुषुप्त्यादावात्मनि स्फुरत्यपि दुःखस्य तत्रास्फुरणात् । तथाच तस्यागन्तुकस्य कूटस्थे सदानन्दरूपे चिदात्मनि परमार्थतः सम्बन्धायोगादध्यस्तं तत्तत्र भासत इति वक्तव्यम् । अध्यस्तनिवृत्तिश्चाधिष्ठानान्नार्थान्तरमिति दुःखनिवृत्तिरप्यात्मैवेत्येतदप्यनुभवसिद्धमेवेति तत्रापि भवति मुमुक्षोरभिलाष इति । इति यतोऽतो विना प्रमाणमस्मिन्नुभयविध आत्मरूपे मोक्षे उदितनयादभिवाञ्छनोपपत्तिर्भवतीति योजना ॥ ६८ ॥

यद्येवमुक्तन्यायतः सर्वेषामेव मोक्षेच्छा समस्ति,तर्हि कस्मात् सर्व एव निरतिशयसुखदुःखनिवृत्तिमिच्छन्तोऽपि मोक्षेच्छया तदर्थं श्रवणादौ न प्रवर्त्तन्ते इत्याशङ्क्योपायापरिज्ञानात्तत्परिज्ञानहेत्वभावाच्च सर्वेषामिति न सर्वे प्रवर्त्तन्त इत्यभिप्रेत्याह--

कर्मकाण्डकृतशुद्धिबुद्धित-
स्तर्किते च खलु मोक्षवस्तुनि ॥
अर्थितास्य घटते प्रयोजक-
ज्ञाननुन्नमनसो महात्मनः ॥ ६९ ॥

कर्मकाण्डेति ॥ मानवानां सहस्रेषु यः कश्चिदनेकजन्मसु कर्मकाण्डोक्तकर्मप्रभावकृतबुद्धिशुद्धितोऽशेषकर्मसाध्यं फलमऽनित्यमात्मैवैको साध्यत्वान्नित्य इत्येवं विवेकतः कर्मफललक्षणात् संसारात् कथं मे मोक्षः स्यादिति मोक्षवर्त्म तर्कयति । एवं

तर्क्किते मोक्षमार्गे वेदान्तेष्वापातदर्शनेन, तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते, नास्त्यकृतः कृतेनेत्यादिना कर्मफलस्यानित्यत्वं, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मविदाप्नोति परं, तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इत्यादौ ब्रह्मात्मज्ञानस्य नित्यपुरुषार्थ-हेतुतां चावगच्छति । एतेन प्रयोजकज्ञानेन नुन्नमात्मज्ञानसाधने श्रवणादौ प्रेरितं मनो यस्य तस्यास्य तर्कितमोक्षमार्गस्य महा-ऽऽत्मनोऽक्षुद्रचित्तस्य सर्वकर्मतत्साधनसर्वसङ्गपरित्यागिनः सं-न्यासिनोऽर्थिता घटते केवलमोक्षविषया, न पुनः सर्वस्य जन-स्यार्वाचीनशब्दादिविषयानुभववासनाकलुषितस्वान्तस्य तादृग्-वासनापरवशस्यापीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

नन्वेवमपि यस्योक्तसाधनसम्पत्तिवशादुत्कटा मोक्षेच्छा जायते स किमिति गुरुमुपसीदेत्, स्वयमेव वेदार्थं कस्मान्नाकल-येत् स्वयं व्युत्पन्नबुद्धित्वादितिचेन्नेत्याह—

धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते

वेदवित्परिषदेव मानवे ॥

तद्वदत्र गुरुणास्य सङ्गति-

स्तेन चास्य घटतेऽर्थिता गुरौ ॥ ७० ॥

धर्मनिर्णयनिमित्तमिति ॥ मानवे धर्मशास्त्रे दशावराणा परिषादित्यादौ वेदार्थविदां पर्षत् सभा धर्मनिर्णयनिमित्तमिष्यते सन्दिग्धस्य धर्मस्य निश्चयकारणं तत्संशयनिराकरणेन निर्णय-समर्थविद्वत्समागम एवेति यथावगतम् । मानव इत्युपलक्षणं धर्मशास्त्रान्तरस्यापि । तथाच याज्ञवल्क्यः । चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा ॥ सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्म-

वित्तम इति ॥ तथाच यथा स्वयं तर्कितस्य धर्मस्य निर्णयाय तद्विद्यसमागमोऽर्थ्यते तद्वदस्य मुमुक्षोः स्वयमापातालोचनयोत्प्रेक्षितस्य तत्त्वस्य निर्णयाय गुरुणा तत्त्वनिर्णयसमर्थेन विदुषा सङ्गतिरिष्यत इत्यनुषङ्गः । तथाच धर्मशास्त्रोक्तन्यायान्नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठेत्यादिश्रुतेश्च। येन हेतुना विद्वद्द्वारैवार्थनिर्णयः कार्य इत्यवगतं तेन चास्य गुरावर्थिता घटत इति युक्तमेवोक्तमुपससादेत्यनेनेत्यर्थः ॥ ७० ॥

ननु कोऽस्याधिकारिणोऽधिकर्त्तव्यो विषयो धर्माधिकारिविषयविलक्षणो येनात्र धर्माधिकारिविलक्षणोऽधिकार्यपेक्ष्येत । न च प्रत्यक्तत्त्वब्रह्मविचारस्तस्य कर्मिभिरपि कर्मानुष्ठानच्छिद्रेषु कर्त्तुं शक्यत्वात् तदर्थं पृथगधिकार्यनपेक्षणात् । नाऽपि संसारनिवृत्तिरत्राधिकर्त्तव्यो विषयः । तस्या अप्यौदासीन्यरूपाया निषिद्धनिवृत्तिवत् कर्मिष्वपि सम्भवादितिचेत्तत्राह -

यः कर्मकाण्डविषयेऽभिहितोऽधिकारी
सोऽयं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपः ॥
अत्राभिधित्सितविशेषणपूगयुक्तो-
ऽसाधारणस्त्वभिमतः पुरुषो निवृत्तौ ॥ ७१ ॥

यः कर्मकाण्डविषय इति॥अर्थी समर्थो विद्वाञ्छास्त्रेणाऽपर्युदस्त इति विशेषणवत्तया कर्मकाण्डे योऽधिकार्यभिहितः सोऽयं कर्मकाण्डेऽपि । ननु कोऽस्याधिकारिणः कर्तव्यो विषयो धर्माधिकारिविषयाविलक्षणो येन धर्माधिकारिविलक्षणोऽधिकार्यऽपेक्षेत । ब्रह्मविचारश्चेन्न । कर्मिणोऽपि तच्छिद्रेषु विचारयितुं शक्यत्वात्तदा नाधिकार्यन्तरापेक्षणम् । निवृत्तिश्चेन्न प्रतिषिद्धनिवृत्तेरिव तस्या अपि भावादितिचेत्तत्राह ॥ यः कर्मकाण्डेति॥

निवृत्तिरेव केवलाऽस्य विषयः । तस्य तु प्रवृत्तिः । काचन निवृत्तिश्चातो विषयवैलक्षण्यादधिकारिवैलक्षण्यमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

ननु किमत्र प्रमाणम् । शास्त्रवैलक्षण्यदर्शनमेवेत्याह—

शास्त्रं प्रवृत्तिषु निवृत्तिषु तुल्यरूपं
साधारणस्य पुरुषस्य पुराभ्यधायि ॥
अस्योच्यते सकलकर्मनिवृत्तिभाजः
सर्वं निवृत्तिविषयं श्रवणादिशास्त्रम् ॥ ७२ ॥

**शास्त्रं प्रवृत्तिष्विति** ॥ संन्यासिविषयत्वाच्छ्रवणादिशास्त्रं निवृत्तिविषयं, न प्रवृत्तिविधायकमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

कथं शास्त्रद्वैविध्यदर्शनमत्र प्रमाणमितिचेद् ? अन्यथानुपपत्त्येत्याह—

शास्त्रद्वैविध्यदृष्टेर्द्विविधमधिकृते भेदमप्याश्रयन्ते
तद्द्वैविध्योपलब्धेः पुरुषमधिकृतं शास्त्रयोर्भिन्नमाहुः ॥
शास्त्रार्थद्वित्वहेतोः पुरुषमधिकृतं तद्गतं चाधिकारं
नोचेद्भिन्नं प्रतीयुर्द्विविधमिह वृथा शास्त्रमापद्यते हि ॥ ७३ ॥

**शास्त्रद्वैविध्येति** ॥ शास्त्रद्वैविध्यमधिकारद्वैविध्यं विनाऽनुपपन्नम् । तच्चाश्रयद्वैविध्यं विनेत्यर्थः। काऽन्यथानुपपत्तिरितिचेत्तत्राह ॥ शास्त्रार्थद्वित्वेति ॥ शास्त्रद्वैविध्यमर्थद्वैविध्यं विना नोपपद्यते । तच्चाधिकारभेदं स चाश्रयभेदमित्यनया परम्परयाऽधिकारिवैलक्षण्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ ७३ ॥

ननु कथं निवृत्तिमात्रविधायि सर्वं शास्त्रं स्यात्, संन्यासिनोऽपि प्रवृत्तिशास्त्रं किञ्चिद् दृश्यत एवेतिचेत्तत्राह—

यमनियमविधानैर्वाङ्मनःकायचेष्टा-
व्युपरमणमशेषैः कथ्यते न प्रवृत्तिः ॥
यदि भवति कदाचित् काचिदस्य प्रवृत्तिः
श्रुतिविहितनिवृत्तेः कर्मणां कत्थनं स्यात् ॥ ७४॥

**यमनियमेति** ॥ यमनियमशास्त्रं हि सर्वं निवृत्तिविषय मेष्टव्यम् । अन्यथा सर्वकर्मनिवृत्तिविषयसंन्यासशास्त्रेण विरोध-प्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ७४ ॥

तथापि कथं शास्त्रं निवृत्तिविषयमिति, तत्राह—

औदासीन्यविशेषमेव हि परब्रह्मात्मधीजन्मने
शास्तीदं श्रवणादिशास्त्रममुना त्वाक्षिप्यते व्यापृतिः ॥
तां तां व्यापृतिमन्तरेण घटने सा सा न शास्त्रार्थधी-
रित्यर्थाल्लशुनादिभक्षणगतौदासीन्यबोधादिव ॥ ७५ ॥

**औदासीन्यविशेषमिति**॥ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति ह्यात्मदर्शनायानात्मश्रवणादिः प्रतिषिद्ध्यत एव केवलं, न त्वनेन किञ्चिद्विधीयते । सर्वकर्मनिवृत्तिशास्त्रविरोधात् । सर्वनिवृत्तेश्चात्मदर्शनहेतुत्वं विरोधिनिवृत्तिरूपत्वाद् नादृष्टद्वारेणेति द्रष्टव्यम् । यद्यपि संन्यासशास्त्रादेव सर्वकर्मनिषेधः सिद्धो भवति तथाप्यनात्मदर्शनादेर्विशेषतोऽप्यनर्थहेतुत्वमिति तन्निषेधायावृत्तिः क्रियते । तत्परिपालनमात्मदर्शनं विना नोपपद्यते । तच्चात्मदर्शनं वेदान्तेभ्योऽर्थान्तरप्रतिभासावस्थाया विना श्रवणं नोपपद्यते । असम्भावितावस्थायां च मननमित्येवम्प्रकारेण तत्तदनात्मौदासीन्यलक्षणशास्त्रार्थाऽऽक्षेपाच्छ्रवणादिकर्तव्यता भवति।यथा लशुनभक्षणार्थौदासीन्या-

ऽऽक्षेपाद्विपरीतसङ्कल्पक्रिया तद्वत् । एवञ्च निवृत्त्यभावादेव स्यात् प्रत्यवायोऽपि, न श्रवणाद्यकरणादिति निवृत्तिमेवाऽधिकरोत्ययमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

नन्वौदासीन्यस्य परिपाल्यत्वं निषेधशास्त्राच्चेत् प्रवृत्तिरपि शास्त्रीया । अथ शास्त्रमौदासीन्यमात्रे पर्यवसितं, न तर्हि परिपाल्यता शास्त्राऽनभिमतत्वादितिचेत्तत्राह—

औदासीन्ये बोधिते शास्त्रवृन्दै-
रर्थादस्मात् प्रच्युतस्यास्त्यनर्थः ॥
इत्यालोच्य प्रच्युतेः प्रापकस्य
प्राबल्येऽर्थे प्रातिलोम्यं विधत्ते ॥ ७६ ॥

औदासीन्य इति॥न शास्त्रात् परिपाल्यत्वं, किन्तु शास्त्रीयनिषेधान्यथानुपपत्त्या निषिद्धक्रियानुष्ठानस्यानर्थहेतुत्वावगमात्, तत्परिहाराय परिपाल्यत्वसिद्धिः । ततश्च प्रच्युतेः प्रापकस्य निषिद्धक्रियारागादेः प्राबल्ये सति तदर्थे निषिद्धक्रियाफले प्रातिलोम्यफलत्वमनर्थात्मकत्वानुसन्धानं विधत्त इत्यर्थः ॥७६॥

ननु कथं निषेधान्यथानुपपत्त्या निषिद्धक्रियानुष्ठानस्यानर्थहेतुत्वनिश्चितिरिति, तत्राह—

औदासीन्यं बोधयच्छास्त्रमेत-
न्नित्यं पथ्यं बोधयत्यस्य पुंसः ॥
पथ्यादस्मात् प्रच्युतस्यास्त्यपथ्यं
बुद्ध्वा पथ्यं प्रातिलोम्ये यतेत ॥ ७७ ॥

औदासीन्यं बोधयदिति ॥ पुरुषहितार्थाभिधायिना

शास्त्रेणौदासीन्यं पुरुषहितत्वेनैवोपदिश्यते। यद्यप्यसौ हितमपि निषिद्धकरणमेव सद्यः सुखहेतुत्वान्मन्यते, तथापि लाक्षणिकम्। तन्निवृत्तिलक्षणं तु नित्यं शास्त्रप्रामाण्यात्। तस्य च हितत्वं न सुखत्वेन, नापि दुःखनिवृत्तित्वेन। तथाऽप्रतीतेः। नापि सुखसाधनत्वेन। निवृत्तेरवस्तुत्वेन साधनत्वायोगात्। अतः परिशेषाद् दुःखसाधननिवृत्तित्वेन निषिद्धक्रियानिवृत्तेः पथ्यत्वम्। अतोऽस्मात् प्रच्युतस्य निषिद्धक्रियामनुतिष्ठतो यथाऽनर्थप्राप्तिलक्षणमस्तीति बुद्ध्वा प्रातिलोम्ये निषिद्धक्रियाप्रवर्त्तकरागादिनिवारणे यतेतेत्यर्थः॥ ७७॥

ननु किमित्येवमार्जवभङ्गेन श्रवणादिशास्त्राणि व्याख्यायन्ते। संन्यासशास्त्रस्य श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयतयाऽप्युपपत्तेरितिचेत्तत्राह—

वृत्ता प्रवर्त्तकनिवर्त्तकशास्त्रसिद्धौ
षष्ठे प्रवृत्तिविनिवृत्त्यधिकारिचिन्ता॥
अत्रैकमेव तु निवृत्त्यधिकारमार्ग-
माश्रित्य सूत्रकृदथात इति प्रवृत्तः॥ ७८॥

वृत्ता प्रवर्तकेति॥ प्रवर्त्तकनिवर्तकशास्त्रसिद्ध्यर्थो ह्यधिकारी षष्ठे निरूपितः। अत्रापि चेत् प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारणं शास्त्रं, स एवाधिकारीति, पृथगधिकार्य्यभावान्न पृथक् शास्त्राऽऽरम्भसिद्धिः। अतः पृथक्शास्त्रमारभमाणः सूत्रकारोऽथातःशब्दाभ्यां विलक्षणमधिकारिणं सूचयन्निवृत्तिलक्षणमेव शास्त्रं मन्यत इत्यर्थः। अतः सर्वकर्मप्रतिषेध एव शास्त्रार्थः। तदनुरोधेन श्रवणादिशास्त्रस्याप्यन्यनिवृत्त्यर्थत्वमेवातस्तदाक्षिप्ता श्रावणादिप्रवृत्तिरिति युक्तम्॥ ७८॥

ननु कथं सर्वकर्मणां निषेधः ? शास्त्रीयाणां निषेधासम्भवादितिचेत्तत्राह—

औदासीन्यप्रच्युतेः प्रापकौ च
रागद्वेषौ नापरो हेतुरस्ति ॥
रागद्वेषप्रातिलोम्ये प्रवृत्ति-
रादौसीन्यप्रापणाच्छास्त्रतोऽर्थात् ॥ ७९ ॥

औदासीन्यप्रच्युतेरिति ॥ औदासीन्यप्रच्युतिरूपायाः सर्वस्यापि क्रियाया रागद्वेषावेव प्रयोजकौ, न तदातिरेकेणापरः शास्त्राख्यो हेतुरस्ति । एतदुक्तं भवति । पुरुषो ह्यात्मानं नित्यमुक्तमपि सन्तमबोधोपहतः सन् अप्राप्तपुमर्थमपरिहृतानर्थं च भ्राम्यमाणः परिच्छिन्नविषयविशेषजन्यं क्षणिकं सुखं दुःखनिवृत्तिं वा नात्यान्तिकीमेव पुरुषार्थतया परिकल्प्य तदर्थं साधनविशेषमनुष्ठातुं तं तं बुभुत्सते, तं प्रति तत्तत्साधनविशेषं प्रतिपादयति विधिप्रतिषेधशास्त्रं, न तु प्रवर्त्तयति । तात्पर्यमात्रमपि नास्ति प्रवृत्तौ, शास्त्रतात्पर्यं विनाऽपि प्रवृत्तेः सिद्धत्वाद्वस्तुतोऽपुरुषार्थे प्रेरयितुमयुक्तत्वात् । न हि क्रियाकारकाधीनः कश्चित् पुमर्थोऽस्ति । सर्वक्रियाकारकनिरासेनैव हि नित्यसिद्धः कूटस्थात्मस्वभावः पुमर्थो लब्धव्यः । अतश्च सर्वक्रियाकारकानिवृत्त्या आत्मनिष्ठा शास्त्रस्य विवक्षितोऽर्थः । तथापि सहसैवोपदेष्टुं न शक्यते । विषयाभिषङ्गचित्तानां तदसम्भवात् । अतः पुरुषचित्तानुरोधेन काम्यानि कर्माणि शुद्धिप्रधानानि च नित्यानिप्रकाश्य तैः शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मप्रहाणेन ज्ञाननिष्ठा वक्तव्येति शास्त्रं प्रवर्त्तते । अतः शास्त्रमूलत्वाभावात् प्रवृत्तीनां रागद्वेषमात्रमूलत्वादुक्तः सर्वकर्मणां निषेधः । तत्परिपालनाय रागद्वेषप्राति

लोभ्ये प्रवृत्तिरपि युक्तेति सिद्धम् ॥ ७९ ॥

अस्त्वेवं निवृत्तिनिष्ठत्वेऽपि शास्त्रस्य तदाक्षेपाच्छ्रवणादिप्रवृत्तिर्दृष्टद्वारेणात्मज्ञानोपकारित्वात्तेन विना चान्यनिवृत्त्यसम्भवाद्, अदृष्टार्था तु शौचादिप्रवृत्तिः । तत्सिद्धिः कुत इति तत्राह—

अशुचेः प्रतिषेधशास्त्रतो
न भवत्येव हि वेदचिन्तनम् ॥
श्रवणादिनिवृत्तिशास्त्रतः
स्वयमर्थादथ शौचमापतत् ॥ ८० ॥

अशुचेरिति ॥ अशुचेः सामान्येन वेदचिन्तनप्रतिषेधाच्छौचेन विना वेदचिन्तनं नोपपद्यते, न च तेन विना श्रवणाद्यस्तीति श्रवणाद्याक्षेपकशास्त्रेणैव शौचमाक्षिप्यते इत्यर्थः ॥८०॥

तर्हि शौचस्य चातुर्गुण्यप्रसिद्धिः कथमितिचेत्तत्राह—

अचतुर्गुणशौचवारणात्
स्वयमेवास्य चतुर्गुणं भवेत् ॥
अचतुर्ष्वशनस्य वारणात्
स्वयमेवास्य चतुर्षु भोजनम् ॥ ८१ ॥

अचतुर्गुणेति ॥ चातुर्गुण्यशास्त्रस्य चाचातुर्गुण्यनिषेधार्थत्वादर्थादाक्षिप्तं शौचचातुर्गुण्यमित्यर्थः । सार्ववर्णिकं भैक्षचरणमित्यस्यापि वर्णेभ्योऽन्यत्र भिक्षाप्रतिषेधपरत्वाद्भोजनस्य वाऽवर्जनीयत्वादुपायान्तरस्य च प्रतिषेधादर्थात् प्राप्तं चातुर्वर्ण्यभैक्षचरणमपीत्याह ॥ चतुर्ष्विति ॥ ८१ ॥

सन्तोषादिनियमान्तरेष्वप्ययं न्यायो द्रष्टव्य इत्याह -

इति योजय सर्वमीदृशं
कथितन्यायवशेन सादरम् ॥
विधिहीननिवृत्तिशास्त्रतः
कथितेऽस्मिन्नधिकारवर्त्मनि ॥ ८२ ॥

इति योजयेति ॥ असन्तुष्टो द्विजो नष्ट इत्यादिप्रतिषेधात् सन्तोषस्यार्थप्राप्तिस्तपश्च शारीरादिलक्षणं शरीरादीनां व्यापारान्तरप्रतिषेधादर्थप्राप्तमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ सादरमिति ॥ श्रुतहान्यादिदोषशङ्कयाऽत्राऽनास्था नकार्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाह॥ विधिहीनेति ॥ अस्मिन्नधिकारिमार्गे शास्त्रस्य निवृत्तिपरत्वान्निवृत्त्यर्थतया व्याख्यानस्य युक्तत्वादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

इमं पक्षमुपसंहृत्य पक्षान्तरमाह—

इति केचन वर्णयन्ति त-
द्विपरीतं प्रवदन्ति केचन ॥
प्रविभज्य तदप्युदीर्यते
निपुणाचार्यपरम्परागतम् ॥ ८३ ॥

इतीति ॥ विशेषतोऽप्यादरणीयोऽयं पक्ष इत्याह ॥ निपुणेति ॥ ८३ ॥

प्रविभज्योदीरणमेव करोति—

उत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्तिनिष्ठा
सन्यासशास्त्रशतकोटिभिरर्पितास्य ॥
अस्ति प्रतिप्रसवशास्त्रमुखात् प्रतीता
चेष्टात्मबुद्धिपरिपाकफलापि काचित् ॥ ८४ ॥

उत्सर्गत इति ॥ वेदान्तेषु प्रतिप्रकरणं तदनुसारिणीषु च स्मृतिषु संन्यासशास्त्रदर्शनात्तात्पर्येणोत्सर्गतः सकलकर्मनिवृत्ति-निष्ठा विधीयते। तदपवादेन प्रवृत्तिरपि हि न स्वरूपेण कर्त्तव्या, किन्तु आत्मज्ञानपरिपाकार्थमतः प्रवृत्तीनामपि तदुपकारिणी-नां कर्त्तव्यता न विरुद्धेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

काऽत्र प्रवृत्तिः का वा निवृत्तिरिति तत्राह—

यमस्वरूपा सकला निवृत्ति-

स्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा ॥

निवर्त्तकादत्र यमप्रसिद्धिः

प्रवर्त्तकात् स्यान्नियमप्रसिद्धिः ॥ ८५ ॥

यमस्वरूपेति ॥ यमा अहिंसादयो नियमाः शौचादयः श्रवणादयोऽपि स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानयोरेवान्तर्भूताः। यमानां नियमानां च लक्षणमाह॥ निवर्तकादिति॥ निवर्तकशास्त्रवेद्या यमाः प्रवर्तकशास्त्रवेद्या नियमा इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

काऽत्र निवृत्तिः, कथं च शास्त्रस्य निवर्तकत्वं, किं निषेध-कत्वेन, किं वा निवृत्तिविधानेनेति तत्र तत्कथनाय निवृत्तिं विभजते—

निवृत्तिरस्ति द्विविधा बहिःस्थिता

शरीरसर्वेन्द्रियसंयमात्मिका ॥

तथाऽपराभ्यन्तरवस्तुसंश्रया

सदात्मकूटस्थचिदेकविग्रहा ॥ ८६ ॥

निवृत्तिरस्तीति ॥ कार्यकरणव्यापारोपरमरूपा एका, अन्या त्वात्मस्वरूपभूता। एवं द्विविधेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

तयोर्मध्ये बाह्या निवृत्तिर्विधियोग्या, इतरा त्वननुष्ठेयत्वाद्विधिगम्या न भवतीत्यत आह—

तयोस्तु बाह्या विधिशास्त्रलभ्या

प्रयत्ननिर्वर्त्यतया प्रतीतेः ॥

विधानशास्त्रं विरहय्य लभ्या

चितिस्वरूपा त्वितरा निवृत्तिः ॥ ८७ ॥

तयोस्त्विति ॥ ८७ ॥

कुत एवं विधेयत्वाविधेयत्वलक्षणं वैलक्षण्यमिति तत्राह—

मायामयी बाह्यनिवृत्तिरिष्टा

चितिस्वरूपा परमार्थसत्या ॥

तयोर्निवृत्त्योश्च निवृत्तिशास्त्रं

विधायकं बाह्यनिवृत्त्यपेक्षम् ॥ ८८ ॥

मायामयीति ॥ परिणामिनां देहादीनां मायामयत्वात्तन्निष्ठा निवृत्तिरपि मायामयी । आत्मनस्तु कूटस्थत्वान्निवृत्तिः स्वाभाविकी, न व्यापारोपरमरूपा । अतः परमार्थसत्या । अतः सा पुरुषतन्त्रत्वाभावान्न विधेया इत्यर्थः । तत्र कार्यकरणव्यापारोपरमलक्षणेह निवृत्तिस्तद्विधायकत्वेनेह यमशास्त्रमित्याह॥ तयोर्निवृत्त्योरिति ॥ अन्या तु निषेधशास्त्रार्थविषयपरेत्यऽभिप्रायः ॥ ८८ ॥

ननु विधायकत्वे शास्त्रस्य कथं निवर्तकत्वमित्याशङ्क्य निवृत्तिविधायकत्वादित्याह—

प्रवृत्तिशास्त्रेण समेऽपि संमते

निवृत्तिशास्त्रस्य विधेयबोधने ॥

निवृत्त्यनुष्ठाननिबन्धनत्वतो
निवर्त्तकं शास्त्रमिदं प्रचक्षते ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तिशास्त्रेणेति ॥ ८९ ॥

नन्वत्रापि प्रवृत्तीनां निवृत्तीनां चाधिकर्तव्यवैलक्षण्याभावादधिकारिवैलक्षण्यं न सिध्येदित्याशङ्क्याधिकर्तव्यस्य अवैलक्षण्येऽपि फलवैलक्षण्यमाह—

शास्त्रद्वयेन परिदर्शितसाधनेन
साध्यस्पृहापरवशः पुरुषो मुमुक्षुः ॥
शुश्रूषते गुरुमथेत्युदितः स चात्र
वेदान्तवाक्यविषयश्रवणाधिकारी ॥ ९० ॥

शास्त्रद्वयेनेति ॥ यमनियमशास्त्रद्वयप्रदर्शितप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसाधनेन यत्साध्यं परिपक्वब्रह्मात्मज्ञानं तत्स्पृहापरवशः सन् सर्वमन्यत् कर्म तत्साधनलक्षणं परित्यज्य शुश्रूषते गुरुम् । ननु ब्रह्मात्मज्ञानवत् स्वर्गादिकमप्यर्थयंस्तत्साधनमप्यनुतिष्ठतु तन्न संभवति। तेभ्यो निर्विण्णत्वादित्याह॥ मुमुक्षुरिति ॥ एवं तत्त्वविविदिषुर्मुमुक्षुश्चिकीर्षोरभ्युदयार्थिनः पृथक्सिद्धोऽधिकारी । य एवंविलक्षणोऽधिकारी, सोऽयमथातःशब्दाभ्यां श्रवणाधिकारितया समर्थ्यत इत्याहाथेत्युदित इति ॥ ९० ॥

एवं प्रारिप्सितस्य ग्रन्थस्य विवक्षितविषयप्रयोजनसंबन्धाऽधिकारिणां संभवमुपपाद्यारम्भणीयत्वमापाद्यारभमाण उक्ताऽधिकारिणो जिज्ञासाक्रमेण शास्त्रार्थो वक्तव्य इति तज्जिज्ञासाक्रममाह—

स परिपृच्छति कोऽहममी च कः

सहजमस्य च तस्य च किं पृथक् ॥
उत तयोरभिदेश्वरजीवयो-
रिति च संशयसंकुलमानसः ॥ ९१ ॥

**स परिपृच्छतीति** ॥ कोऽहं, किं देहादिभिः संहतः संसारिस्वभावः, किं वाऽसंहतोऽसंसारिस्वभावः। नन्वात्मन्यऽहङ्कारादेरध्यस्तत्वं साधितम्। तत्कथमस्य चोद्यस्याऽवकाशः। सत्यम्। तत्र विशुद्धचैतन्यस्वभावं त्वम्पदार्थमद्वितीयं च तत्पदाऽर्थ, तयोश्च निरुपचरितमेकत्वं वाक्यार्थं च सिद्धवत्कृत्य संसारस्याध्यस्तत्वप्रतिपादनेन विषयप्रयोजनयोः संभव उक्तः। अत्र तु तत्त्वम्पदार्थवाक्यार्थलक्षणविषयस्वरूपं पृच्छ्यते। अतः पूर्वोक्ताध्यासोपजीवनेन च तत्सतत्त्वमुच्यते इत्यपुनरुक्तिः। असौ परमात्मा च कः। कि साऽपेक्षिकमहत्त्वसंपन्नः, किं वा निरवग्रहमहत्त्वसंपन्नः। तथा तयोरात्मपरमात्मनोः पृथक्त्वं भिन्नत्वं स्वाभाविकं, भ्रान्तं वा। अभिन्नत्वं स्वाभाविकमुत भ्रान्तमित्यापाततो वेदान्तार्थं प्रतिपद्यमानस्तत्रचानुपपत्तिं पश्यन् पृच्छति आपाततोऽप्यधीतवेदः, तरति शोकमात्मवित्, ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिप्रदेशेषु ब्रह्मात्मादिशब्दितं किञ्चिद्विज्ञेयमस्ति। तद्विज्ञानाच्च शोकादिसंसारप्रहाणेन निरतिशयपुमर्थावाप्तिर्भवतीति प्रतिपद्यते। स्वानुभवाच्च संसारित्वम्। तस्य च स्वाभाविकत्वे ज्ञानेन हानासम्भवं मन्वानः, किं मम स्वाभाविकं संसारित्वमन्यथा वेति पृच्छति। वेद्यं च वस्तु, सत्यं ज्ञानमनन्तम्, एकमेवाद्वितीयमित्यादिवाक्येभ्यः प्रतिपद्यमानः प्रमाणान्तरसिद्धभेदं तद्विरोधाच्चाद्वितीयत्वानुपपत्ति पश्यन् परमात्मा च कीदृश इति च पृच्छति। तथा, अयमात्मा ब्रह्म तत्त्वमसीति

वाक्यैरात्मपरमात्मनोरेकत्वप्रतीतेर्विरुद्धस्वभावतयैकत्वासम्भवा-च्च तयोर्भेदः, अभेदो वा परमार्थ इति पृच्छति । तथा प्रमाणमपि किमत्र । आत्मनि तावत् किमनुभवः प्रमाणं, किं वोपनिषत् । आद्ये कथमसंसारित्वम् । अहं दुःखीति संसारित्वेनानुभवात् । अन्त्ये कथमात्मत्वम् । अहमित्येवात्मानं सर्वो लोकः प्रत्येति । तथा ब्रह्मापि किं वेदैकगम्यं, किं वा मानान्तरासिद्धाभिधायी वेद इति । ब्रह्मपदार्थस्याप्रसिद्धत्वात् पदार्थाप्रसिद्धवाक्यस्या-ऽबोधकत्वात् संशयः । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तयोरेकत्व-मध्यारोपेण किमाचष्टे, किं यथास्थितम् । तथा सिद्धे कथं शब्दप्रामाण्यमित्यादिकोऽपि संशयो द्रष्टव्यः।का चात्र युक्तिरात्म-परमात्मस्वरूपनिर्णये, तयोरेकत्वनिर्णये च सहकारिणी, तदनुभवसाधनं च किं तदनुभवफलं वा किमित्यतत्सर्वं च-शब्देन सूचितम्। एवं प्रत्यधिकरणं निवर्त्यो यः संशयः स सर्वो-ऽपि द्रष्टव्यः । एवमनेकैः संशयैः सङ्कुलमानसः पृच्छति ॥ ९१॥

एवं शिष्यस्य जिज्ञासाक्रममभिधाय तदऽनुरोधेन शास्त्रार्थं निर्णिनीषुर्गुरोः शिष्यस्य सङ्ग्रहे नियममाह—

तीर्थेन तं विविदिषन्तमनन्यभक्तं
संसारसागरभयातुरचित्तवृत्तिम् ॥
एकं मुमुक्षुमधिकारिणमात्मतत्त्व-
ज्ञाने समीक्ष्य गुरुराह दयाविधेयः ॥ ९२ ॥

तीर्थेन तमिति ॥ शिष्यस्याधिकारं परीक्ष्य विद्या दातव्येति तत्र तीर्थेन शास्त्रीयमार्गेण विविदिषन्तमिति । विद्या-यां तात्पर्यं विद्याग्रहणाय शास्त्रतः शिष्टाचारतश्च प्राप्तस्य ब्रह्म-चर्यगुरुशुश्रूषादेः सम्यगनुष्ठानेन सद्वृत्तत्वं दृष्ट्वा केवलतत्त्व-

विविदिषुरेवायं, न पाण्डित्यमात्रार्थितयाऽपि पुमर्थसाधनतया किञ्चित्कर्तव्यं चिकीर्षति, तत्त्वविद्यामेव केवलामाशिश्रीषतीति निश्चित्य देवतागुरुभक्तेरन्तरङ्गत्वेन श्रुतिन्यायप्रसिद्धत्वात्तद्वत्त्व-मनन्यभक्तत्वमप्यधिकारकारणमेतस्मिन् सर्वस्मिन् सत्यपि संसार वैराग्ये मुमुक्षुत्वे चासति नाधिकार इति तत्सर्वमप्यस्यास्तीति परीक्षापूर्वकं निश्चित्यात्मतत्त्वज्ञानाधिकरणमालक्ष्य लब्धानुज्ञ-तया सर्वकर्मतत्साधनसंन्यासेन यथाशास्त्रं स्वपादावुपगच्छन्त-मेकं शिष्यं प्रत्याह ॥ गुरुर्दयाविधेयः सन्, न स्वार्थप्रयुक्त इत्य-ऽर्थः ॥ ९२ ॥

तत्र गुरोर्महीयस्त्वेन तत्संन्निधौ तदुक्तार्थे शङ्कया प्रतिवक्तुं प्रष्टुं च न पारयेताऽपि । अतस्तस्य विश्रम्भं जनयन् स्वात्मनः सौमुख्यं दर्शयति—

वक्ष्यामि वत्स तव वाञ्छितमत्यवस्थ-
मत्यन्तमेव च हितं शृणु तन्मनस्कः ॥
त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धं
ब्रह्माद्वितीयमुदितं च तदस्यजस्रम् ॥ ९३ ॥

वक्ष्यामि वत्सेति ॥ तच्चैतत्तन्मनस्कः शृणु । यस्माद-ऽत्यवस्थं व्यावहारिकसर्वावस्थातीतत्वाद् दुर्बोधम् । तथापि नालस्यं कार्यं, यतोऽत्यन्तमेव हितमेवमाभिमुख्यं सम्पाद्य चोद्य-क्रमेणोत्तरमाह ॥ त्वं प्रत्यगिति ॥ न त्वं देहादिः, तत्संहतो वा । किं तर्हि ? ॥ प्रत्यक् ॥ अहम्प्रत्ययावभासिष्वनेकेषु मध्ये विवेकवशादिदम्भावमापद्यमानेषु देहादिष्वहङ्कारपर्यन्तेषु च यः कदाचिदपि नेदम्भावमापद्यते, किन्त्वनिदमविषय एव भवति, स प्रत्यक् त्वमसि । यस्माद् देहादेरात्मन्यध्यस्तत्वं प्रतिपादित-

मिति पूर्वोक्ताऽऽयासोपजीवनेनेदमुक्तम्। यत् पुनः किम्प्रमाणकोऽहमिति पृष्टं, तत्र स्वानुभवप्रमाणकत्वमित्याह ॥ अव्यवहितं तव सुप्रसिद्धमिति ॥ प्रत्यग्रूपं हि व्यवधायकस्याविद्यादेरपि साधकत्वेन केनाचिदप्यव्यवहितत्वात्तव सुप्रसिद्धम् । अन्यनैरपेक्ष्येण सिद्धमित्यर्थः । तेनाऽहं दुःखीति दुःखसाक्षितया स्वात्मानुभवः स त्वत्स्वरूपे प्रमाणं, न दुःखिप्रत्ययो, नाऽपि शास्त्रम्। शास्त्रेण परोक्षवेद्य आत्माऽतो न कोऽपि विरोध इत्युक्तं भवति । असौ च क इति यत्पृष्टं, तत्राह ॥

ब्रह्माद्वितीयमिति॥ निरतिशयमेवास्य महत्त्वं, न सापेक्षम् । द्वैतप्रपञ्चस्यकल्पितत्वादद्वितीयत्वमुपपद्यतेइतिभावः। ब्रह्मणि प्रमाणमाह ॥ उदितं चेति ॥ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,यतो वा इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिवेदान्तप्रमाणकं ब्रह्म, न मानान्तरासिद्धानुवादेन वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिः, किन्तु जगत्कारणसामान्यानुवादेन तद्विशेषमद्वितीयं ब्रह्म सत्यादिलक्षणं प्रमापयन्ति वेदान्ता इत्यर्थः । यत् पुनरात्मपरमात्मनोर्भेदोऽभेदो वेति पृष्टं तत्राह ॥ तदस्यजस्रमिति ॥ स्वाभाविकमेकत्वं, भ्रान्त्या तु भेदावभासः। निरुपचरितं ह्येकत्वं वेदान्तैः प्रतिपाद्यते । उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिलिङ्गैरत्रैव तात्पर्यावगमादित्यर्थः ॥ ९३ ॥

एवं तत्त्वम्पदार्थवाक्यार्थलक्षणं शास्त्रमुपदिश्य शिष्यस्यात्र विरोधबुद्धिमालक्ष्य तामपनयन्नाह—

यद्यत्र पश्यसि विरोधमुदीरय त्वं
सद्यस्ततः परिहराणि तमप्रयत्नात् ॥
वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत्

त्वां बोधयिष्यति कारार्पितबिल्वतुल्यम् ॥ ९४ ॥

यद्यत्रेति ॥ तत्त्वम्पदार्थयोर्विरुद्धरूपत्वात्तदेकत्वं बोधयितुमक्षमं वाक्यमिति न विप्रतिपत्तव्यम् । वस्तुतो विरोधस्याभावात्तव बुद्ध्यपराधानुविरोधप्रतिभासः । स च त्वयोक्तमात्र एव निरसिष्यते मया । अतस्तस्मिन्निरस्ते प्रतिबन्धविकलत्वाद्वाक्यमेवान्यानिरपेक्षं सन्मुक्तिफलामपरोक्षां धियं जनयिष्यति । अतो यथा तव बुद्धौ विरोधो भाति तथा तं प्रदर्शय । तत्परिहारे चाहमेव प्रवृत्त इति दर्शयति ॥ परिहराणि ॥ परिहर्तुमिच्छामीति, लोट्प्रयोगेण । एवञ्चाङ्गीकृतः शिष्यः कृतार्थीकर्तव्य इत्यत्र न्यायः प्रदर्शितो भवति ॥ ९४ ॥

एवमनुज्ञातः शिष्यः स्वबुद्धौ प्रतिभातं वाक्यार्थविषयविरोधं वक्तुं प्रत्यवतिष्ठत इत्याह—

अत्राह सद्वयमहं मम रूपमीक्षे
तच्चाद्वयं त्रिगणयामि परोक्षमेव ॥
पारोक्ष्यसद्वयविभागयुजोर्विरोधाद्
वाक्यार्थबोधमतिदुर्लभमेव मन्ये ॥ ९५ ॥

अत्राहेति ॥ ननु पदार्थविषयो विरोधः प्रथमं प्रष्टव्यः, परिहर्तव्यश्च । पदार्थावगतिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थावगतेः । सूत्रक्रमश्चैवमनुसृतः स्यात् । तत्र प्रथमसूत्रेणाधिकारिनिरूपणमुखेन त्वम्पदार्थो निरूपितः । अनन्तरसूत्रद्वयेन च तत्पदार्थः सप्रमाणको निरूपितः । समन्वयसूत्रेण पुनस्तयोरेकत्वलक्षणो वाक्यार्थो वेदान्तानां तत्र प्रामाण्यनिरूपणपूर्वकं निरूप्यते । ननु प्रकरणे शास्त्रार्थस्य सर्वस्यानभिधानं न दोषायेतिचेन्न । पश्चात्तत्पदार्थ-

स्य, क्षितिजलदहनानिलाम्बराणामित्यारभ्य निरूप्यमाणत्वात्।
अतस्त्वम्पदार्थस्य चाधिकारिनिरूपणे तन्निरूपितत्वादनन्तरं
तत्पदार्थो निरूपयितव्यः, पश्चाद्वाक्यार्थ इति युक्तमितिचेन्नैष
दोषः। ब्रह्माद्वितीयमुदितं चेत्यनेन तत्पदार्थस्य सङ्ग्रहेणोक्तत्वात्
सूत्रे हि विचारप्राधान्येनाद्वितीयं ब्रह्म वेदान्तप्रमाणकं न परि-
च्छिन्नं, नानुमानप्रमाणकमिति यदुक्तं तदत्रावगतिप्रधानप्रकरणे
विचारशरीरं सिद्धवत्कृत्य तन्निर्वृत्तमर्थमुपदेशप्राधान्येनाऽह
ब्रह्माद्वितीयमुदित चेति। तस्मादत्र सूत्रक्रममर्थक्रम चानुरुध्य
शास्त्रार्थस्तत्त्वम्पदार्थद्वयवाक्यार्थलक्षणः शिष्यायाचार्योपदिष्टः
सङ्ग्रहेण, त्वं प्रत्यगव्यवहितं तव सुप्रसिद्धम्, ब्रह्माद्वितीयमुदितं
च तदस्यजस्रमिति। उपदेशप्रकारविस्तारश्च श्रीसहस्रीगद्यप्रकरणे
भाष्यकारैरेवोक्तः। एवं शास्त्रार्थमुपदिश्य, तं शिष्यबुद्धावारोह-
यितुं सूत्रोक्ता न्याया अपि प्रयोजकास्तज्जिज्ञासाक्रमेण वक्तव्या
इति तस्य चोद्यावकाशो दत्तो, यद्यत्र पश्यसि विरोधमित्यादिना॥
तत्र शिष्यः प्रथममुपदिष्टे वाक्यार्थे विरोधमुद्भावयति तत्र विरो-
धस्योद्भावनानां बहुप्रकारत्वाद्वाक्यार्थावगतेश्च प्रधानत्वादत आ-
चार्योऽपि प्रश्नानुरोधेन समन्वयसूत्रविषयान् न्यायान् विविच्य
तच्छेषतया पश्चाज्जन्मादिसूत्रोक्तमपि न्यायं वक्ष्यति।तस्यापि प्र-
योजकत्वात्तदुत्तराधिकरणगतान् सुविचारान् सिद्धवत्कृत्य केवलं
तत्फलं मुमुक्षोर्जिज्ञासोर्ब्रह्मणि सर्वेषां वेदान्तानां समन्वय-
मात्रं निरूपयिष्यति । अतो न शास्त्रार्थप्रतिपादनेन क्रमस्य
कोऽपि दोषः। तत्र तत्त्वम्पदार्थयोः सद्वितीयत्वाद्वितीयत्वाभ्यां
पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां विरोधमाह ॥ सद्वयमहमित्यादिना, इत्य-
परोक्षमाह। तथाच तद्विषययोस्तत्त्वम्पदार्थयोर्विरोधात्तयोरेकत्वे
ताभ्या समन्वयो दुर्लभ इत्याह ॥ पारोक्ष्येति ॥ ननु चात्मनि

ब्रह्मविपरीतरूपस्य द्वैतस्याध्यस्तत्वस्य प्रतिपादितत्वान्नास्ति ब्रह्मात्मनोरेकत्वे विरोधः । सत्यमुक्तम्, अपि तु द्वैतस्यात्मन्यध्यस्तत्वं नाद्यापि सिद्धम् । प्रत्यक्षलिङ्गवचनैर्हि संसारिरूपाविपरीतस्वभावत्वस्य प्रमितौ तद्विपरीतरूपप्रथनस्याध्यस्तत्वं विनाऽनुपपत्तेस्तत्सिद्धिः । तत्र प्रत्यक्षं तावदस्फुटं स्फुटेन सांसारिकप्रत्यक्षेण विरोधादसाधकम् । लिङ्गं तु प्रत्यक्षविरोधादेवासाधकम् । साधकत्वेऽपि तयोः सुखरूपतामात्रं सिद्ध्येन्न तु द्वैतविरुद्धरूपत्वमतो वचनबलादेव तत्सिद्धिर्वक्तव्या । वचनं तु, तत्त्वमस्यादि। प्रत्यक्षादि तु तत्र सहकारिमात्रं स्यात् । तत्तु विरुद्धाऽर्थत्वात्तत्र प्रमाणं न घटत इत्याक्षिप्यत इत्यदोषः ॥ ९५ ॥

ननु वाक्यप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव सद्वितीयत्वपारोक्ष्ययोरध्यस्तत्वं परिकल्प्य विरोधः परिह्रियतामितिचेन्नेत्याह—

यद्वस्तु सद्वयतयावगतं स्वशब्दात्
तस्याऽद्वयत्वमवगन्तुमशक्यमेव ॥
यद्वस्तु च व्यवहितं प्रतिपादितं तत्
प्रत्यक्तया न तु जनः प्रतिपत्तुमीशः ॥ ९६ ॥

यद्वस्त्विति॥ यदि सद्वितीयत्वपारोक्ष्यवर्जनेन प्रत्यङ्मात्रस्याद्वितीयत्वं बोधयेद्वाक्यं, तदा स्यात्त्वदुक्तप्रकारेण विरोधपरिहारः । न त्वत्र तथा सम्भवति । कर्तृत्वादिद्वैतविशिष्टतयैव प्रतीचः स्वशब्दात् त्वम्पदादवसीयमानत्वात् पारोक्ष्यविशिष्टतयैवाद्वितीयस्य तत्पदावसेयत्वात् पदवाच्ययोश्चार्थयोः संसृष्टतया वाक्यार्थत्वात् सद्वयत्वपारोक्ष्ययोर्वाक्यार्थाद्बहिःकर्तुमशक्यत्वाद्विरोधोऽपरिहार्य इत्यर्थः ॥ ९६ ॥

ननु रजततया प्रतीयमानस्य वस्तुनो यथा तद्विरुद्धं शुक्तित्वं चक्षुषा बोध्यते, एवमेवात्रापि सत्यपि विरोधे वाक्यसामर्थ्यादेकत्वप्रमितिरस्त्वितिचेत्तत्राह—

आकाङ्क्षितं भवति पूरणशक्तियुक्तं
यत्सन्निधौ पठितमस्य हि सङ्गतिः स्यात् ॥
नाकाङ्क्षयैव न तु सन्निधिनैव वा स्यात्
सम्बन्धिता हि विरहय्य पदार्थशक्तिम् ॥ ९७ ॥

आकाङ्क्षितमिति ॥ स्वशक्तिमात्रेण बोधकस्य चक्षुषस्तथा सम्भवति बोधकत्वं, वाक्यस्य तु स्वशक्तिमात्रेण न बोधकत्वं, किन्त्वाकाङ्क्षायोग्यतासान्निधिसव्यपेक्षत्वं पदार्थसंसर्गो वाक्येन बोध्यत इति व्युत्पत्तिसिद्धम् । अत्र चाकाङ्क्षासंनिध्योर्भावेऽपि पदार्थयोः संसर्गयोग्यता नास्तीत्यर्थः । पूरणशक्तिरिति च, पदार्थशक्तिरिति च योग्यतोक्ता ॥ ९७ ॥

ननु योग्यताऽप्येकविभक्त्यन्तत्वादेव पदयोरस्तीत्याशङ्क्य सत्यं शाब्दी योग्यताऽस्ति, न च तन्मात्रेण संसर्गावबोधः, किन्त्वर्थयोग्यता व्यपेक्षा। सा चेह नास्ति । उक्तविरोधादित्याह—

योग्यत्वमत्र न च तत्त्वसीति वाक्ये
सबन्धितां प्रति पदार्थयुगस्य भाति ॥
पारोक्ष्यसद्वयविभागविरोधहेतो-
र्गौरश्व इत्यभिहिते तु यथैव वाक्ये ॥ ९८ ॥

योग्यत्वमत्रेति ॥ शब्दयोग्यत्वे सत्यर्थत्वयोग्यत्वाभावादेवाबोधकत्वे दृष्टान्तमाह ॥ गौरश्व इतीति ॥ ९८ ॥

नन्वेतादृशे विषये विरुद्धरूपपरित्यागेनाविरुद्धांशे लक्षणया

बोधकत्वं प्रसिद्धं सोऽयं देवदत्त इत्यादौ।तद्वत्रापि सद्वितीयरूपं परित्यज्य प्रत्यङ्मात्रं लक्ष्यतां त्वम्पदेन तत्पदेन च पारोक्ष्यं परित्यज्याद्वितीयत्वमात्रं लक्ष्यताम् । अतो योग्यतासिद्धिः। तथाच प्रतीचोऽद्वितीयस्य चात्यन्तमेकरसत्वादखण्डैकरसे वाक्य-प्रामाण्यसिद्धिरितिचेत्तत्राह—

सोऽयं गिरोरिव न लक्षणयापि वृत्ति-
र्मानान्तराधिगतिहीनतयात्मनि स्यात् ॥
मानान्तराधिगतगोचर एव दृष्टः
शब्दप्रयोग इह लाक्षणिकस्तु लोके ॥ ९९ ॥

सोऽयं गिरोरिवेत्यादि ॥ यद्धि मुख्यार्थसम्बन्धितया मुख्यार्थगुणयोग्यतया वा मानान्तरसिद्धं, तत्रैवोपचारवृत्त्यापि वाक्यप्रवृत्तिर्दृष्टा।ब्रह्मात्मा च मानान्तरायोग्यो वेदैकवेद्य इष्यते। अतो न तत्र लक्षणयाऽपि वाक्यप्रामाण्यसम्भव इत्यर्थः ॥९९॥

एवञ्चाखण्डविषयतया संसृष्टार्थतया च न ब्रह्मात्मनि वाक्यप्रामाण्यसिद्धिरित्युपसंहरति—

तस्मादखण्डविषया न वचःप्रवृत्तिः
संसर्गबोधनमपास्तमयोग्यभावात् ॥
एवं न वाक्यगतशब्दसमन्वयोऽपि
दूरे प्रमान्तरविरोधनिरासासिद्धिः ॥ १०० ॥

तस्मादखण्डेति ॥ एवं न वाक्यगतपदानां समन्वय एव सिद्ध्येत्तत्सिद्ध्यभ्युपगमेऽपि प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धद्वैतस्य कर्तृत्वादेश्चापबाधनासम्भवादद्वितीयब्रह्मात्मनि वाक्यप्रामाण्यमस-म्भवीत्याह ॥ दूर इति ॥ १०० ॥

अपिच । लोके हि मानान्तरसिद्धानुवादकत्वमेव सर्वत्र सिद्धवस्तुनि शब्दस्योपलब्धम् । अतश्च ब्रह्मात्मन्यपि मानान्तरसिद्धानुवादकता वेदस्य स्यात्, नापूर्वार्थबोधकतया प्रामाण्यमित्याह—

किञ्च प्रमान्तरमपेक्ष्य गिरः प्रवृत्तिः
सिद्धेषु वस्तुषु जगत्युपलब्धपूर्वा ॥
ब्रह्मात्मवस्तुनि तथा वचसः प्रवृत्ति-
र्युक्तात्मनस्तु फलवत्परिनिष्ठितत्वात् ॥ १०१ ॥

किञ्च प्रमान्तरमिति ॥ १०१ ॥

फलवदित्युक्तं दृष्टान्तमाविष्कुर्वन्नाह—

नद्यास्तीरे फलमिति गिरः सिद्धवस्तुप्रवृत्ति-
र्दृष्टा स्वार्थप्रमितिजनने स्वान्यमानव्यपेक्षा ॥
तद्वद् ब्रह्मण्यपि तु वचसो वैदिकस्याभ्युपेया
तस्मादस्मिन्न खलु घटते मानभावः श्रुतीनाम् १०२॥

नद्यास्तीर इति ॥ सिद्धवस्तुनि प्रवृत्तिर्यस्या गिरः सा सिद्धवस्तुप्रवृत्तिः । तस्याः स्वार्थप्रमितिजनननिमित्ते दृष्टा अस्मादन्यास्मिन्माने प्रत्यक्षेऽप्यपेक्षा । अतो ब्रह्मण्यपि वैदिकस्य वचसः प्रवृत्तिर्मानान्तरापेक्षेति नैरपेक्ष्यलक्षणमस्मिन् ब्रह्मणि श्रुतीनां प्रामाण्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १०२ ॥

पूर्वमखण्डार्थताया वाक्यप्रामाण्यसंभवमभ्युपेत्य ब्रह्मणि तु लक्षणावृत्त्यसम्भवादखण्डविषयतया वाक्यप्रामाण्यं निरस्तम् । इदानी तु क्वापि नाखण्डविषयतया वाक्यप्रामाण्यसंभवः।अनेक-

पदार्थसंसर्गस्य वाक्यार्थत्वादित्याह—

नाखण्डवस्तुविषया वचसः प्रवृत्ति-
र्लोकेऽपि दृष्टिपथमापतिता कदाचित् ॥
नानापदार्थघटनाविषयत्वहेतो-
र्दूरेत्यता श्रुतिशिरोवचनेषु तस्याः ॥ १०३ ॥

नाखण्डवस्त्विति ॥ लौकिकस्य वाक्यार्थावगमेन केवलं शब्दशक्तिरेवाश्रयः । मानान्तरसिद्धार्थत्वात्तदनुसारेणाप्यर्थ-निश्चयसम्भवात्, तथापि नाखण्डार्थता क्वापि दृष्टा । वेदे तु शब्द-शक्तिमात्रानवगम्यार्थे कुतः प्रसङ्गोऽखण्डार्थताया इत्याह ॥ दूरेत्य-ता श्रुतिशिरोवचनेषु तस्या इति ॥ १०३ ॥

ननु मुख्यवृत्त्या निबोधने नानापदार्थसंसर्गो वाक्यार्थ इत्ययं नियमः । लक्षणागुणवृत्तिभ्यां त्वेकस्यापि पदार्थस्यानेकै-रपि समर्पणादखण्डार्थताऽपि सम्भवतीत्याशङ्क्याह—

आदाय मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्ती-
रर्थं समर्पयति शब्द इति प्रसिद्धम् ॥
आस्त्वेष नान्यतमयापि वदत्यखण्डं
शब्दान्तरात्तविषयादधिकार्थवृत्तेः ॥ १०४ ॥

आदाय मुख्येति ॥ सत्यं लक्षणागुणवृत्तिभ्यामपि बोध-कत्वं प्रसिद्धं, नात्र विवादः, तथापि नाखण्डार्थतालक्षणा । गुण-वृत्तिपक्षेऽप्येकपदसमर्पितार्थादधिकस्यैवार्थस्य पदान्तरैः समर्प-णीयत्वादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

नन्वेकेनैव पदेन समर्पितो योऽर्थस्तस्मादनधिकस्यैव पदा-न्तरैरपि समर्पणे किं बाधकं, पौनरुक्त्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदादेव

परिहर्तु शक्यत्वादिति, नेत्याह—

आधिक्यमुत्सृजति शब्दगणो निजेऽर्थे

शब्दान्तराप्तविषयादिति मन्यमानाः ॥

वाक्यत्वमेव पदजातगतं विहन्यु-

र्न ह्यस्ति हस्तकरशब्दगतं तदेषाम् ॥ १०५ ॥

**आधिक्यमिति ॥** लक्षणादिपक्षेऽप्येकपदाल्लक्ष्यार्थादाधिक्यं यदि न स्यात् पदान्तरविषयार्थस्य तर्हि वाक्यत्वं न स्यात्, पदानामन्वयो न स्यात् । न ह्येकस्मिन्नेवार्थेऽन्वयो नामास्तीत्यऽर्थः । सम्भूयैकार्थसमर्थकत्वमन्वितत्वलक्षणं वाक्यत्वमत्राप्यस्तु, संसर्गबोधकत्वाभावेऽपीतिचेत्तत्राह ॥ न ह्यस्तीति ॥ यदि संसर्गबोधव्यतिरेकेणाप्येकार्थसमर्पकत्वादेव वाक्यत्वं स्याद् हस्तः कर इत्यत्रापि वाक्यत्वं स्यादित्यर्थः ॥ १०५ ॥

आत्मनोऽप्रमेयत्वसिद्धान्तविरोधाच्च न वेदान्ताः प्रमाणमित्याह—

किञ्च स्वयम्प्रभमलुप्तचिदेकरूपं

सर्वप्रमाणविषयाद्बहिरभ्युपेत्य ॥

आत्मानमात्मनि च शास्त्रमुदाहरन्तः

सिद्धान्तमभ्युपगतं परिपीडयन्ति ॥ १०६ ॥

**किञ्च स्वयम्प्रभमिति ॥** १०६ ॥

न केवलं सिद्धान्तविरोधादप्रमेयत्वमात्मनः, किं तर्हि ? मानकृत्याऽभावाच्चेत्याह—

सर्वत्र वस्तुषु जडेष्वजडप्रकाशं

कुर्वत्प्रमाणमिति संप्रतिपन्नमेतत् ॥
ब्रह्मात्मवस्त्वजडबोधवपुः कुतोऽस्मिन्
वेदान्तवाक्यजनिताऽजडसंविदन्या ॥ १०७ ॥

सर्वत्र वस्तुष्विति ॥ अजडप्रकाशो हि मानफलम् । तच्च जडेष्वेव संभवति । आत्मनि त्वजडबोधवपुषि कोऽन्योऽजड-बोध आधीयते, आलोक इव प्रकाश इत्यर्थः ॥ १०७ ॥

एवं प्रमेयस्वाभाव्यादपि वेदान्ते प्रामाण्यमाक्षिप्य पुनरपि शब्दस्वभावमाश्रित्याक्षिपति—

किञ्च क्रियापदमपेक्ष्य पदानि वाक्य-
भावेन सम्यगिह सङ्गतिमाप्नुवन्ति ॥
नात्र क्रियापदमपेक्षितमामनन्ति
वाक्यं कुतो भवति वेदशिरस्तदानीम् ॥ १०८ ॥

किञ्च क्रियेति ॥ क्रियाकाङ्क्षया हि नाम पदानामन्वयस्त-न्कारकसमर्पकतया । अतः क्रियापदव्यतिरेकेण पदानां न वाक्यभाव इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

तर्ह्यनन्वितान्येव पदानि बोधयन्त्विति चेन्न । अपूर्वावगत्यसं-भवादित्याह—

नापूर्वमर्थमुपलम्भयितुं पदानां
सामर्थ्यमस्ति परिहृत्य तु वाक्यभावम् ॥
स्वार्थस्मृतिं हि जनयन्ति पदानि लोके
विज्ञातसङ्गतितया, न तु कार्यमन्यत् ॥ १०९ ॥

नापूर्वमिति ॥ १०९ ॥

तर्हि वाक्यव्यतिरेकेणान्यदेव शब्दरूपं बोधकमस्तु, यथा वैयाकरणानां स्फोटः स एवेति चेन्नेत्याह —

हित्वा न वाक्यपदते प्रतिपत्तिहेतु-

र्वेदो भवेदिति कथञ्चन वक्तुमीशः ॥

कश्चित् कदाचिदपि तत्र कुतः श्रुतीनां

प्रामाण्यमात्मनि भवेदिति वर्णयन्ति ॥ ११० ॥

**हित्वा न वाक्येति**॥पदतत्संहतिव्यतिरेकेणान्यस्य शब्दरूपस्याप्रसिद्धत्वात् स्फोटोऽपि कल्प्यमान आकाङ्क्षाद्यनुरोधेन पदानामन्वयो यत्रास्ति तत्रैव कल्प्यते। अन्यथाऽपार्थेऽपि वाक्ये तत्कल्पनाप्रसङ्गात् । अतः पदानामन्वयाभावेन सोऽस्त्येवेति भावः ॥ ११० ॥

ब्रह्मात्मनः प्रमाणान्तरसिद्धत्वासिद्धत्वयोरनुवादकत्वाव्युत्पत्त्योरन्यतरप्रसङ्गाच्च नात्र वेदान्तप्रामाण्यमित्याह—

किञ्च प्रमान्तरमिहाभ्युपयन् प्रतीचि

वेदान्तवाक्यमनुवादकमभ्युपेयात् ॥

मानान्तर यदि च नेच्छति शब्दशक्ते-

स्तत्रग्रहः कथमिति प्रतिपादनीयम् ॥ १११ ॥

**किञ्च प्रमान्तरमिति** ॥ १११ ॥

शब्दप्रामाण्यं च पुमर्थयोगिन्यर्थे, न प्रत्यक्षादिवदर्थमात्रे । पुमर्थश्च प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यः । अतस्तदयोग्ये ब्रह्मणि न शब्दप्रामाण्यमित्याह—

किञ्च प्रवृत्तिविनिवृत्तिविहीनवस्तु-

तत्त्वप्रतीतिजननान्न च किञ्चिदस्ति ॥
पुंसः प्रयोजनमतोऽपि न तत्र मानं
वेदान्तवाक्यमिति युक्तिमदुच्यमानम् ॥ ११२ ॥

**किञ्च प्रवृत्तिविनिवृत्तीति ॥ ११२ ॥**

अज्ञातार्थाधिगन्तृत्वेन हि प्रमाणानां प्रामाण्यमिष्यते वैदिकैः, न चाज्ञातत्वमात्मन्यस्ति विज्ञानस्वभावत्वादतोऽपि न तत्र वेदान्तप्रामाण्यमित्याह—

अज्ञातमर्थमवबोधयतः प्रमायां
हेतुत्वमभ्युपगतं ननु वेदविद्भिः ॥
अज्ञातता च परमात्मनि दुर्निरूपा
विज्ञानमात्रवपुषीति न मानकृत्यम् ॥ ११३ ॥

**अज्ञातमर्थमिति ॥ ११३ ॥**

ननु विज्ञानस्वरूपत्वेऽप्यात्मनि अज्ञानमस्त्यतो न मानकृत्याभाव इतिचेन्न विरोधादित्याह—

बोधस्वभावकमबुद्धमनुष्णमुष्णं
शीतस्वभावकमशीतमितीदृशानि ॥
कः श्रद्दधीत पुरुषो वचनानि तस्माद्
ब्रह्माऽप्रबुद्धमिति वाक्यमयुक्तमाहुः ॥ ११४ ॥

**बोधस्वभावकमिति ॥ ११४ ॥**

नन्वज्ञातं मानमेयमिति वदतः कोऽभिप्रायः । किमज्ञानविशिष्टं मानमेयमिति । तदाऽज्ञानस्यानिवृत्तिप्रसङ्गः । अज्ञानोपलक्षितस्य मेयत्वे कदाचिदज्ञातस्यावगतस्यापि मेयत्वप्रसङ्गः ।

अतोऽज्ञातं मेयमित्येतदसङ्गतमितिचेत्तत्राह—

उपाध्यभावे न भवेदुपाधिमत्

तटस्थमज्ञानमुपाधिरिष्यते ॥

प्रमाणबुद्धेर्न तदात्मवस्तुनि

स्वयम्प्रकाशे न ततोऽत्र मानधीः ॥ ११५ ॥

उपाध्यभाव इति ॥ अज्ञानं मेयस्य न विशेषणं,नाप्युपलक्षणम् । किन्तु उपाधिः । प्रमाणबुद्धेरज्ञाने सत्येवात्मनः प्रमेयत्वं, नासति । तथापि च मेये नान्तर्भवति। यथा दृतिहरिशब्दवृत्तौ पशुत्वमित्यर्थः । तत्रोपाधिरित्युक्ते यथा अन्तःकरणमात्मनःसंसारित्वे उपाधिर्द्वारतया तद्वद् द्वारतया मेयान्तर्भावप्राप्तावाह ॥ तटस्थमिति ॥ न मेयस्वरूपे द्वारतया प्रविशत्यज्ञानं किन्तु बहिर्भूतं सद् मेयं व्यवस्थापयति । अतः स्वयम्प्रकाशे आत्मवस्तुनि न ताटस्थ्येनाप्युपाधिः सङ्गच्छत इत्यर्थः॥११५॥

अद्वैतमप्रमेयमात्मवस्तु तत्र द्वैत प्रमाणमिति वदतो व्याहतिश्च स्यादित्याह—

अद्वैतमात्मपदमाहुरनन्यमान

द्वैतं प्रमाणमिह च प्रतिपादयन्ति ॥

वाक्ये निजे पदविरोधमनीक्षमाणाः

पाण्डित्यमप्रतिहतं प्रतिलभ्य धीराः ॥ ११६ ॥

अद्वैतमिति ॥ ११६ ॥

प्रमात्रादिकमपि ब्रह्मपरिणामरूपमतो न तेन ब्रह्मणोऽद्वैतविरोध इतिचेत्तर्हि परिणामित्वमस्य दोषान्तरं स्यादित्याह—

मातृप्रमाणमितिमेयविभागभिन्नं
ब्रह्मैव चेद् भवति तत्र च वर्णयामः ॥
कूटस्थतापहतिरेकरसत्वहानिः
शाक्यैश्च सन्धिरिति दूषणमन्यदत्र ॥ ११७ ॥

**मातृप्रमाणमिति ॥ शाक्यैश्च सन्धिरिति ॥** विज्ञानस्वरूपमेव मानं,ग्राह्याकारतया च तदेव मेयं, प्रमाता चान्यो नास्तीति वदतां विज्ञानवादिनां मतप्राप्तिश्चेत्यर्थः ॥ ११७ ॥

अज्ञानवशाद्ब्रह्मणः प्रमात्रादिरूपेण परिणामो, न वस्तुतः । अतो न कूटस्थत्वादिविरोध इतिचेन्न । ब्रह्मणोऽपि प्रमेयत्वेन कल्पितत्वप्रसङ्गादित्याह—

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमिष्टं
मात्रादि मानफलपर्यवसानमेतत् ॥
इत्युच्यते यदि तदा परमात्मनोऽपि
मेयत्वतो भवति कल्पितताप्रसङ्गः ॥ ११८ ॥

**अज्ञानकल्पितमिति ॥ ११८ ॥**

ब्रह्मणः प्रमेयत्वं नेष्यते, अतो न कल्पितत्वप्रसङ्ग इति चेदत्राह—

ब्रह्म प्रमेयमथ नेष्टमिह प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिति पक्षपराहतिर्वः ॥
न ह्यप्रमेयमवबोधयदस्ति मानं
नादाह्यदाहक इति प्रथितः कृशानुः ॥ ११९ ॥

**ब्रह्मप्रमेयमिति॥** अप्रमेयेऽपि ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्य-

मस्त्वति चेन्न, व्याहतेरित्याह ॥ न ह्यप्रमेयमिति ॥ ११९ ॥

अपिच प्रमात्रादिद्वैतस्याज्ञानकल्पितत्वमनिर्वचनीयत्वमित्याद्यप्रसिद्धं च लौकिकपरीक्षकाणामित्याह—

किं चाप्रसिद्धमिदमत्र जगत्त्रयेऽपि
स्वाज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमेकम् ॥
निःशेषतीर्थदृगुदीरिततन्त्रमार्गे
सिद्धे यतः सदसती सकलेऽपि तन्त्रे ॥ १२० ॥

किञ्चाप्रसिद्धमिति ॥ १२० ॥

अज्ञानस्य कल्पितत्वमप्यासिद्धमयुक्तं चेत्याह—

अज्ञानमप्यसदभावतया प्रसिद्धे-
र्द्वैतप्रसूतिकृदतो न तदभ्युपेयम् ॥
नासत् कदाचिदपि सज्जनने समर्थं
बन्ध्या सुता न खलु पुत्रशतं प्रसूते ॥ १२१ ॥

अज्ञानमप्यसदिति ॥ १२१ ॥

शब्दस्य परोक्षवस्तुविषयत्वाच्च न तद्विपरीते ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यं, श्रोत्रस्येव रूप इत्याह—

वाक्यप्रसूतमतिरिन्द्रियजन्यधीव-
न्नार्थापरोक्ष्यजननी भवितुं समर्था ॥
तेनास्तु वाक्यजनितात्मपरोक्षबुद्धि-
र्भ्रान्तिः सदाऽजडतयाऽनुभवेऽपरोक्षे ॥ १२२ ॥

वाक्यप्रसूतेति ॥ तथापि वाक्यादात्मन्यपि प्रमितिर्जा-

येतेतिचेत् सा तर्हि भ्रान्तिर्विपरीतार्थत्वादित्याह ॥ तेनास्त्विति ॥ १२२ ॥

ननु वाक्यमप्यपरोक्षे वस्तुन्यपरोक्षज्ञानं जनयिष्यति, अतो नायथार्थमितिचेन्न । परोक्षज्ञापनस्वभावविरोधादित्याह—

नित्यापरोक्षमपि वस्तु परोक्षरूपं
वेदान्तवाक्यमवबोधयति स्वभावात् ॥
प्रामाण्यमत्र कथमस्य वदोपपन्नं
न ह्यन्यदन्यदिति बोधयतः प्रमात्वम् ॥ १२३ ॥

नित्यापरोक्षमपीति ॥ तर्हि परोक्षज्ञानमप्यात्मनि प्रमाणमस्तु । न चायथार्थत्वम् । पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोर्ज्ञानधर्मत्वात् परोक्षज्ञानेऽपरोक्षज्ञाने च वस्तुन एकरूपत्वादितिचेत्तत्राह॥ प्रामाण्यमत्रेति ॥ अयं भावः । अर्थस्य व्यवधानाव्यवधानप्रयुक्ते पारोक्ष्यापारोक्ष्ये इति हि त्वयेष्यते, युज्यते च । यत्र ह्यर्थस्य सामान्यव्यवधानेनावभासस्तत्र पारोक्ष्यं दृश्यते । यत्र तु विशेषरूपेण सामान्यव्यवधानं विनैवावभासः, तत्रापरोक्षमिति विषयस्य व्यवहिताव्यवहितत्वप्रयुक्तत्वावगमात् पारोक्ष्यापरोक्ष्ययोः । अतो ज्ञानस्य निरुपाधिकस्य धर्मो न भवति, पारोक्ष्यमपारोक्ष्यं च। किन्तु व्यवहितावभासत्वं पारोक्ष्यम्, अव्यवहितावभासत्वं चापारोक्ष्यम्। अतश्च परोक्षज्ञाने अव्यवहितस्य व्यवहितावभासनादयथार्थत्वादप्रमाणत्वमपरिहार्यमिति ॥ १२३ ॥

तर्हि विषयस्वभावप्रयुक्तत्वात् पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोर्न जनकस्वभावत्वमभ्युपेयम् । अतश्च शब्दादप्यपरोक्षज्ञानं जायतामऽव्यवहिते प्रतीचीतिचेत्तत्राह—

वस्त्वस्तु नित्यमपरोक्षमिदं तु वाक्यं

तद्वस्तु वक्तु मपरोक्षमशक्तमेव ॥
न ह्यस्ति शब्दजनिताऽत्र जगत्त्रयेऽपि
बुद्धिः करोति खलु या विषयापरोक्ष्यम् ॥१२४॥

**वस्त्वस्तु नित्यमिति** ॥ शब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वस्य क्वाप्यदर्शनात् परोक्षज्ञानजनकत्वमेव स्वभावः। तेन व्यवहितविषयमेव शब्दस्य प्रामाण्यं नाव्यवहितविषयं, यथा चक्षुरादेरव्यवहितविषयत्वमित्यर्थः ॥ १२४ ॥

यत् पूर्वमुक्तं स्वयम्प्रकाशात्मानि संवेदनस्य मानेनाधातुमशक्यत्वान्न मानकृत्यमिति, तत्रावगतेरसंभवेऽपि संसारनिदानभूताज्ञाननिवृत्तिर्मानकृत्यमस्तीति चोदयति–

अत्राह यद्यपि किमप्युपनेयमत्र
चैतन्यवस्तुनि न सम्भवति प्रमाणैः ॥
अस्त्येव तत्त भवभीतिनिदानभूत-
मज्ञानमात्रमपनेयमनन्यमाने ॥ १२५ ॥

**अत्राह यद्यपीति** ॥ १२५ ॥

अज्ञानस्यासत्त्वे सत्त्वे सदसत्त्वे च मानेन हेयत्वासंभवेन परिहरति–

नैतत्प्रमाणमपनेतृ सती न तावन्नैतन्नियोज्यमसतोऽप्युपघातसिद्ध्यै ॥
नाप्यन्यदस्ति सदसद्यदनेन हेयं
तस्मात् प्रमाणमपनेतृ न कस्यचिद्वः ॥ १२६ ॥

**नैतत्प्रमाणमिति** ॥ १२६ ॥

मानस्य कारकत्वाभावाच्च नाज्ञानस्य तेन हेयतेत्याह—

मानं न कारकमिति प्रथितं पृथिव्यां
स्याच्चेत्क्रियात्वदिदमुज्झति मानभावम् ॥
जन्यं न मानफलमित्यपि युष्मदीयाः
संविद्रते न खलु जातु चिदक्षरेऽस्मिन् ॥ १२७ ॥

**मानं नेति** ॥ मानस्य कारकत्वेन ज्ञापकत्वासिद्धिः । कारकत्वज्ञापकत्वयोरसङ्कीर्णतयैव प्रसिद्धत्वादित्यर्थः । ननु मानमपि फलस्य जनकत्वात् कारकमितिचेन्न भवति,तत्रासंप्रतिपत्तेरित्याह ॥ जन्यं न मानफलमिति ॥ जडार्थेऽपि न मानफलं जन्यं, किन्तु नित्यैव संविदभिव्यज्यत इति वेदान्तिनः प्रतिपद्यन्ते । अक्षरे कूटस्थसंविद्रूपे हेयोपादेयवर्जिते मानफलस्य न कदाचिदपि जन्यत्वसम्भव इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

ननु अज्ञानस्य सत्त्वादिपक्षे निवृत्तिर्नोपपद्यत इत्ययं दोषो ऽवतरति । अनिर्वचनीयत्वाभ्युपगमादितिचेन्न । तादृशस्याऽप्रसिद्धेः शास्त्रलोकतश्चेत्याह—

नाद्यापि वेद्म्यहमनिर्वचनीयभाषां
सर्वप्रवादहृदयान्यपि गाहमानः ॥
तात्पर्यतो न च तथाविधमस्ति किञ्चि-
ल्लोकप्रसिद्धमपि यद्विषयेयमिष्टा ॥ १२८ ॥

**नाद्यापीति** ॥ १२८ ॥

तस्मादज्ञानहानं संवेदनं वा न प्रमाणकृत्यमस्ति, तदभावाच्च न ब्रह्मणि वेदान्तानां प्रामाण्यमित्युपसंहरति—

तस्मात् प्रमाणफलमत्र निरूप्यमाणं
ब्रह्मात्मवस्तुनि न सम्भवतीह किञ्चित् ॥
कृत्यं विना न च निरूपयितु प्रमाणं
वेदान्तवाक्यमिह शक्यमनर्थकत्वात् ॥ १२९ ॥

तस्मात् प्रमाणेति ॥ १२९ ॥

सिद्धे वस्तुनि शब्दसामर्थ्याभावाच्च न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यमित्याह—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्तिं
श्रोतुः प्रवर्त्तकधिय परिकल्प्य बालः ॥
चेष्टावशात् पुनरपि प्रविभज्य भागं
भागस्य वाचकमिति स्वयमेव वेत्ति ॥ १३० ॥

कार्यान्वयान्वयिनीति ॥ अयमर्थः ॥ बालो हि गामानयेति प्रयोगश्रवणसमनन्तरं प्रवर्त्तमानं पुरुषमुपलभ्य तस्य प्रवृत्तिलिङ्गेन तत्कारणतया प्रवर्त्तकधियं गवानयनकर्तव्यताज्ञानं शब्दश्रवणाऽऽनन्तर्याच्छब्दकार्यतया परिकल्प्य अनुमाख्येयगवानयनकर्तव्यतालक्षणे प्रवर्त्तकगामानयेत्यस्य सामर्थ्यं प्रतिपद्य पुनरपि प्रयोगभेदेष्वावापोद्वापाभ्या प्रविभज्य वाक्यं वाक्यार्थं च वाक्यभागं वाक्यार्थभागस्य वाचकमिति च तत्तद्वाक्यार्थभागप्रतीतेस्तत्तद्वाक्यभागान्वयव्यतिरेकाभ्यां परिकल्प्य कार्यान्वयान्वयीति वस्तुनि शब्दशक्तिं वेत्ति स्वयमेव व्युत्पादनाऽनपेक्षया प्रत्यक्षादिनिबन्धनस्वव्यवहारदृष्टान्तेनान्वयव्यतिरेकाभ्या कार्यकारणभावग्रहणकौशलेन वेत्ति । तत्र यौ वाक्यभागस्य पदस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायिनौ वाक्यार्थभागस्यान्वयव्य-

तिरेकौ तौ कार्यान्वयविशिष्टस्य न गवाद्यर्थमात्रस्य । यतो, गामानयेति वाक्ये गोपदस्योद्धारे अश्वपदस्य वा अन्वये कार्योऽन्वितस्यैव गोरुद्धारः। आवापश्चाश्वस्य। कार्यान्वितस्यैव गोरुद्धारे तद्गतकार्यान्वयस्याप्युद्धारादश्वावापे वाश्वगतकार्यान्वयस्यावापात्। तथाच कार्यान्वितार्थे सर्वस्य शक्तिरिति निश्चीयते। अत्र कार्यान्वितार्थत्वं शब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वप्रयोजकमिति स्वीकारे कार्यवाचिपदस्य लिङादेः कार्यान्वितार्थवाचकत्वं कार्यान्तराभावान्न संभवतीति तत्र स्वार्थे अन्विते वा शक्तिरभ्युपेया स्यात्तथाच प्रयोजकद्वैरूप्यमेष्टव्यं स्यात्।तन्मा भूदिति प्रयोजकैकरूप्यसिद्ध्यर्थमाह ॥ कार्यान्वयान्वयिनीति ॥ कार्यप्रतियोगिको योऽन्वयस्तस्यान्वयि कार्यमन्यद्वा । तस्मिन् शब्दशक्तिरिति प्रयोजकैकरूप्यसिद्धिरित्यर्थः ॥ १३० ॥

ननु कार्यनिरूपितान्वयावच्छिन्नेऽन्वायिनि शब्दशक्तिरिति वदता कार्यत्वावच्छिन्ने कार्ये शक्तेरभ्युपेयत्वात् स्वेनैव स्वस्य निरूपणं कार्यस्यायुक्तं कल्पनीयं स्यादिति चेत्तत्राह—

त्यक्तः कार्यान्वितार्थं वदितुमलमयं शब्द इत्येष पक्षो
नोक्तो योग्येतरार्थान्वितमिति तु पुनः पूर्वमप्येष पक्षः ॥
किन्तु स्यादस्य शक्तिर्निजसहजवशादन्वितार्थाभिधाने
योग्यत्वादेस्तु पश्चात्स्वयमुपनिपतत्यस्य कार्यैदमर्थ्यम् १३१

त्यक्त इति ॥ कार्यान्वितार्थे शब्दशक्तिरिति अयं पक्षः परित्यक्तः । तर्हि किं योग्येतरान्विते शब्दशक्तिमाश्रयामि ? नैवमित्याह ॥ नोक्त इति ॥ अयं हि पक्षः पूर्वमप्यनुक्तो मया अयोग्येन वा इतरेण वाऽन्वयस्यामसक्तेः । व्यवच्छेद्याभावे योग्यताविशेषणस्य वैयर्थ्यात् । कार्यान्विते शब्दशक्तिरिति

पूर्वमुक्तं सिद्धान्विते शब्दशक्तिरित्यस्य पक्षस्य व्यवच्छेदाय । सोऽपीदानीं त्यक्तः । त्वच्छ्रद्धानुरोधादित्यर्थः । तर्हि कथमभ्युपगम इतिचेत्तदाह॥किन्तु स्यादिति॥ अस्य शब्दस्य शक्तिर्निजस्वभाववशादन्वितस्वार्थे इत्यर्थः । तर्हि सिद्धान्वितेऽपि शब्दशक्तिरभ्युपेता, नेत्याह॥ योग्यत्वादेस्त्विति॥ न हि सिद्धस्य सिद्धेनान्वययोग्यता । कार्यस्य वा कार्येण आकाङ्क्षा वा समस्वभावतया परस्परमुपयोगाभावात् । किन्तु सिद्धकार्ययोरेव निर्वर्त्यनिर्वर्तकभूतयोरन्वययोग्यताकाङ्क्षा च । तयोश्चान्वयः कार्यप्रधान इति कार्यैदमर्थ्यं विशिष्टकार्यपरत्वं वाक्यस्य सिद्धमित्यर्थः॥ १३१ ॥

ननु किमिदं कार्यं नाम यत्परत्वं शब्दस्य प्रतिष्ठाप्यते । तत्र लक्षणेन तत्स्वरूपमाह—

प्रवृत्त्यभावस्य विरोधि कार्यं
कालत्रयानन्वितमाहुरेके ॥
रत्त्रगोचरस्येप्सितसाधनत्वं
विज्ञापयत् प्रेरकमाहुरन्ये ॥ १३२ ॥

प्रवृत्त्यभावस्येति॥ यस्मिन् सति प्रवृत्तेरभावो नोपपद्यते अवश्यम्भावित्वात्तदा प्रवृत्तेः तत् कार्यमित्यर्थः । प्रवृत्त्यभावविरोधित्वं प्रवृत्तेरप्यास्ति । तथा रागस्येति तत्र व्यभिचारप्राप्तौ विशिनष्टि ॥ कालत्रयेति ॥ कालत्रयानन्विततया प्रतीयमानामित्यर्थः । एतदपि घटादिशब्दात् प्रतीयमाने घटादावस्तीति तदवच्छेदार्थमाद्यं विशेषणम् । तस्मात् कालत्रयानन्विततया कार्याकारेण प्रतीयमानं प्रवृत्तिप्रयोजकं कार्यमित्यर्थः । इदं च लौकिकस्य क्रियाकार्यस्य वैदिकस्य नियोगकार्यस्य च

साधारणलक्षणम्।नच श्रेयःसाधनेऽपीदं लक्षणं गच्छतीति वाच्यम् । श्रेयःसाधनतया प्रतीते विषये साधनान्तरादपि तत्साध्यसिद्धिं पश्यतः प्रवृत्त्यभावदृष्टेरिति भावः । लक्षणान्तरमाह ॥ स्वगोचरस्येति ॥ प्रेरकामित्येतावत्युक्ते रागे प्रसङ्गः । तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वगोचरस्य धात्वर्थस्येप्सितसाधनत्वं विज्ञापयदिति विशेषणम् । तच्चेष्टसाधनत्वबोधकप्रमाणेऽपि गच्छेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रेरकामिति स्वगोचरस्येप्सितसाधनत्वं च काम्यनियोगे तावत् प्रतिपन्नं नित्यनियोगेऽपि नियोगस्य कृत्युद्देश्यतयेष्टत्वात्तत्साधनत्वस्य नियोगाक्षिप्ततया धात्वर्थस्यावगम्यमानत्वादस्त्येव । एवं येनकेनचिद्विशेषणेन विशिष्टतया इष्टसाधनत्वज्ञानस्य प्रेरकत्वकल्पनेऽपि न कार्यलक्षणं तत्र तु इष्टसाधनत्वज्ञापकत्वस्येष्टसाधनत्वे भावात् । एतच्च लक्षणं धात्वर्थकार्यविलक्षणकार्यविषयमिष्टसाधनत्वज्ञापकत्वाभिधानाद्, न धात्वर्थकार्यस्यापि ॥ १३२ ॥

इदं चोक्तलक्षणद्वयं ताटस्थ्येन कार्य लक्षयति, न स्वरूपेण अतः स्वरूपसमर्पकं लक्षणमाह—

> या नान्यमुद्दिश्य कृतिः प्रवृत्ता
> तयैव यद् व्याप्यतया प्रतीतम्
> तदेव कार्यं कथयन्ति केचिद्
> विचक्षणाः कार्यनिरूपणायाम् ॥ १३३ ॥

या नान्यमिति ॥ अनन्योद्दिष्टकृतिव्याप्यत्वं कार्यस्वरूपलक्षणमित्यर्थः । तदुक्तं कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते इति । एषां च विचक्षणत्वमेवंरूपलक्षणनिरूपणात् ॥ १३३ ॥

ननु कार्यत्वं विज्ञापयति यत्तन्मामाऽप्रासिद्धं यस्य लक्षणमभिधीयते । नच प्रवृत्तेः पूर्वावस्थाकार्यमित्येवमाकारं प्रतीय-

मानमिति वाच्यम् । चिकीर्षाया एवैवं प्रतीयमानत्वात् । कर्तु-मिष्यमाणमेव हि कृतिप्रयोजकतया कर्तव्याकारेण प्रथत इति । परिशिष्यमाणस्यैवमाकारत्वायोगादित्याह—

भूत्वा रागः कारणं पुम्प्रवृत्ते-
र्नैव कार्यं कार्यरूपं विहाय ॥
रूपेणान्येनेष्यतेऽस्या निमित्त
भिन्दन्त्येवं रागकार्ये बहुज्ञाः ॥ १३४ ॥

**भूत्वा राग** इति ॥ निष्पन्नो हि रागः प्रवर्तकः । नच तस्य कर्तव्यत्वमिति न रागस्य कृतिसाध्याकारता भवति । अस्मदभिमतं तु कार्यं कर्तव्यमिति साध्याकारेणैव प्रवर्तकम् । अतो रागाद्विलक्षणं कार्यमिति साध्यैकाकारावसेयमुक्तलक्षणस्य लक्ष्यं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

तस्मादेतस्मिन् कार्ये पदार्थान्तरविशिष्टे प्रथमं पदसमूहस्य सामर्थ्यं प्रतिपद्य पश्चात् प्रयोगभेदेष्वावापोद्वापवशात् प्रतिपदं कार्यान्वितेऽर्थे शक्तिरिति व्युत्पत्तिपर्यवसायिनी शक्तिरित्याह—

आवापोद्वापहेतोः पदमिदममुकस्याभिधाने समर्थं
स्वोत्पत्त्यैवेति शक्तिप्रतिनियममिमं पर्श्वावर्ती तटस्थः ॥
जानात्यालोच्य भूयो नयनिपुणमतिर्भागशः कार्ययुक्ते
वस्तुन्येतस्य हेतोरुपनिषदखिला कार्यशेषे प्रमाणम् ॥ १३५

**आवापोद्वापेति** ॥ इदं पदममुकस्यार्थभागस्याभिधाने स्वोत्पत्त्यैव स्वभावादेव समर्थमित्येवं कार्ययुक्ते वस्तुनि शब्द-शक्तिप्रतीतिनियमं भूयो भूयोऽप्यालोच्य जानातीति सम्बन्धः ॥

ननु मानान्तरानवगते नियोगे कथं व्युत्पत्तिरिति, तत्राह—

आज्ञादिभेदेष्वनुवर्त्तमाने

प्रवृत्त्यभावस्य विरोधिमात्रे ॥

लिङ्गादिशब्दस्य स वेत्ति शक्तिं

प्रवर्त्तकाख्याविषयत्वयोग्ये ॥ १३६ ॥

आज्ञादिभेदेष्विति ॥ आज्ञादिषु नियोगे चानुगतं यत्प्रवर्तकत्वसामान्यं तत्र लिङादीनां शक्तिग्रहो, न साक्षान्नियोग इत्यर्थः ॥ १३६ ॥

मतान्तरमाह—

अन्ये वदन्ति निरुपाधिनियोगरूपं

वेदे भवत्यपुरुषप्रभवं स्वतन्त्रम् ॥

लोके पुनः पुरुषधीरचितेषु कार्यं

सोपाधिकं तदिति कारणतो वचःसु ॥ १३७ ॥

अन्ये वदन्तीति ॥ लोकेऽप्यस्ति नियोगः, सोपाधिकं कारणतः पौरुषेयत्वकारणान्तरोपाधिनिविष्टे नियोगेऽप्युत्पत्तिम् । केवलस्य नियोगस्य तु प्रमितिशब्दानां भूतार्थप्रत्यायनशक्तिर्नास्तीति निश्चित्य तत्र शास्त्रस्य प्रामाण्यं न सम्भवतीति निश्चिनोतीत्यर्थः । अपौरुषेयो वेद एवेति भावः ॥ १३७ ॥

लोके कोऽसावुपाधिर्नियोगस्य व्युत्पत्तिश्च किं तद्विशिष्टे किं वा केवल इतिचेत्तत्राह—

आज्ञायाऽऽद्युपाधिप्रणिपतितवपुः साधनेहानुबन्धं

विज्ञातोपायभावं विषयमनुसरत् पौरुषेयीषु वाक्षु ॥

वेदे कर्तृस्थरागाद्युपधिविरहितं कर्तृशून्ये ततोऽस्मिन्
सर्वत्रैकस्वभावस्थितवपुषि भवेल्लब्धशक्तिर्लिङादिः॥१३८

आज्ञायाज्ञादीति ॥ आज्ञादयो वक्तृपुरुषाभिप्रायाः । तेषु प्रणिपतितवपुर्नियोगरूपमाज्ञादिष्वन्यतमरहिते धात्वर्थमात्रे नास्ति । तत्रापि साधनेहानुबन्धं साधनेहा चिकीर्षा तद्विशिष्टम् । चिकीर्षाभावे तु नास्त्याज्ञादौ सत्यपीत्यर्थः । अत एव च विज्ञातोपायभावं विषयं धात्वर्थमनुसरद्विषयीकुर्वदिष्टसाधनतयाऽनवगते चिकीर्षाकार्यं वा न भवतीत्यर्थः । एवं पौरुषेये वाक्ये । वेदे तु पौरुषेयत्वाभावान्नाज्ञाद्युपरागः । नापि चिकीर्षावच्छेदः । न अत एव विषयस्य इष्टसाधनत्वाज्ञाद्यपेक्षा । अतस्तत्र स्वतन्त्रं तस्मिन्नियोगे लोकवेदयोरेकरूपेणैव स्थितरूपे आज्ञादिद्वारेण लक्ष्यमाणो लिङादेः शक्तिग्रहो, न विशिष्ट इत्यर्थः ॥ १३८ ॥

नियोगवादी साक्षादभिमतं व्युत्पत्तिप्रकारमाह—

अन्ये भिन्नस्वभावं विविधमभिदधत्यानुरूप्येण कार्यं
लोके धात्वर्थरूपं श्रुतिवचसि पुनस्तन्नियोगाख्यमेव ॥
संमुग्धे तत्र शक्तिं शिशुरयमवगम्यादितो न्यायचक्षुः
पश्चाद्वेदैकवेद्यं वदति लिङिति च प्रेक्षते निश्चयेन ॥
॥ १३९ ॥

अन्ये भिन्नस्वभावमिति ॥ लोके क्रियाकार्यमेव, न त्वाज्ञाद्युपाधिकतयाऽपि नियोगस्तत्रास्ते । वेदे तु स्वर्गकामपद समभिव्याहारान्यथानुपपत्त्या नियोगः सिद्ध्यति । तत्र च

लिङादिव्युत्पत्तिः पर्यवस्यति । लोके धात्वर्थकार्य आरब्धा सती । अतश्च वेद एव लिङादेर्मुख्योऽर्थः, लोके लाक्षणिक इत्यर्थः ॥ १३९ ॥

विपरीतं किं न स्यादिति, तत्राह—

धात्वर्थाख्यानशक्तो यदि भवति गुणाद्वर्तितुं वैदिकेऽयं
संबन्धाज्ञानहेतोरनलमथ पुनर्वैदिके शक्तिमान् स्यात् ॥
तत्सबन्धात् क्रियामप्यभिवदितुमलं लक्षणावृत्तितोऽयं
लिङ्शब्दस्तेन कार्ये श्रुतिवचनगते शक्त इत्यध्यवस्ये-
त् ॥ १४० ॥

धात्वर्थाख्यानेति॥धात्वर्थकार्ये यदि लिङादिर्मुख्यः स्यात् तदा वैदिके नियोगे गुणादुपचाराद्वर्तितुमनलम् । नियोगस्य धात्वर्थसंबन्धतद्गुणयोगयोरज्ञानात् । वैदिकनियोगे तु मुख्यत्वे तस्य धात्वर्थविषयतयैवावगम्यमानत्वाद्धात्वर्थस्य तत्संबन्धस्य सिद्धत्वात्तत्र लक्षणावृत्तिरुपपद्यते । उभयत्र मुख्यार्थत्वेन कार्यत्वमन्याय्यं प्रसज्ज्यत इति नियोग एव मुख्य इति भावः । एवं लिङादेर्नियोगे शक्तिमनेकन्यायापेक्षया प्रयोजिकां विविच्य प्रतिपद्यावापोद्वापवशादेवमेव शब्दान्तराणामपि बहुन्यायापेक्षया अर्थं विविच्य तत्र शक्तिं गृह्णन् कार्यान्वयस्य सर्वत्र भावात् कार्यान्वितेऽर्थे न्यायज्ञतया शक्ति प्रतिपद्यत इति ॥ १४० ॥

उपसंहरति—

एवं शब्दान्तराणां नयनिपुणमतिः शक्तिवित् स क्रमेण
प्रक्षेपोद्धारदर्शी भवति कतिपयैर्वासरैस्तत्र तत्र ॥
तस्मात्कार्यान्वितार्थे सकलमपि पदं शक्तिमद्बध्यमानो

भूताद्यर्थप्रतीतिं प्रति विमुखमनाश्शास्त्रतः स्यान्मनुष्यः ॥ १४१ ॥

एवमिति॥एवं बहुन्यायापेक्षत्वेऽपि शीघ्रमेव व्युत्पत्तिर्भवतीत्याह॥कतिपयैर्वासरैरिति ॥ स्वतः प्रामाण्याद्बालानामवक्रबुद्धित्वाद्बुभुत्सुत्वाच्चैतादृशमन्वयव्यतिरेककौशलं क्षिप्रमेव भवतीति भावः ॥ एवं कार्यान्विते शब्दशक्तिकथनेन किं प्रकृत इति, तदाह ॥ तस्मादिति ॥ १४१ ॥

स्यादेतदेवं यदि प्रवर्तकवाक्यादेव व्युत्पत्तिः, न तु तथा। किन्तु पुत्रस्ते जात इत्यादिसिद्धनिष्ठादस्तु व्युत्पत्तिः । श्रोतृमुखविकासादिलिङ्गेन तद्धेतुपुत्रजन्मज्ञानमनुमाय शब्दस्य तत्र सामर्थ्यग्रहोपपत्तिरितिचेत्तत्राह—

वाक्याद्भूतार्थनिष्ठाद्भवति न तु नृणां शब्दशक्तिप्रतीतिलिंङ्गं श्रोतृस्थबुद्धेर्न हि किमपि भवेदत्र बालोपलभ्यम् ॥
न ह्येनत् पुत्रजन्माद्यवगतिनियतं नित्यवन्निश्चितं नो।
यद्वक्त्रादिप्रसादाक्षितितल्लुठनादीक्ष्यते श्रोतृदेहे ॥१४२॥

वाक्याद् भूतार्थेति ॥ तथाहि प्रवर्तकवाक्ये विशिष्टार्थप्रवृत्त्या तद्धियानुमानेनैवमत्र विशिष्टार्थज्ञानानुमापकं लिङ्गमस्ति न तु मुखविकासादि लिङ्गं स्यात् .पुत्रजन्मनि । पुत्रस्ते मृत इत्यादौ च क्षितिल्लुठनादि लिङ्गं स्यादिति नेत्याह ॥ न ह्येतत् पुत्रेति ॥ मुखप्रसादादिना सुखानुभवमात्रमुन्नीयते, न पुत्रजन्मादि । क्षितितलल्लुठनादिना दुःखमात्रं, न तन्मरणादि । अतो विशिष्टाऽर्थेन शब्दसामर्थ्यक्लृप्तिसम्भव इत्यर्थः ॥ १४२ ॥

यस्मात् सिद्धे वस्तुनि न सम्भवति शब्दसामर्थ्यं, यस्माच्च

सिद्धे वस्तुनि मानान्तरसापेक्षं प्रामाण्यं, यस्माच्च स्वप्रकाशतया प्रमाणाविषयत्वं कूटस्थतया च हानोपादानासम्भवेन निष्प्रयोजनत्वमखण्डैकरसतया च संसर्गबोधकवाक्यप्रामाण्यायोगः। तस्मान्न ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यमित्युपसंहरति—

तस्मादाध्वानिराशाः श्रुतिशिरसि न तस्यास्तिनिष्पन्नरूपे
प्रमाण्य कार्यशून्ये कथमपि च परब्रह्मणि स्वप्रधाने ॥
भूतं भव्यप्रधान भवति हि न पुनः स्वप्रधान कदाचि-
च्छास्त्रस्थाः शब्दशक्तिस्थितिनिपुणधियो विस्तरादेव-
माहुः ॥ १४३ ॥

तस्मादाध्वमिति ॥ यद्यपि वस्तुन्यपि प्रामाण्यं स्यात् तथापि विधिशेषतयैव देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणाविरुद्धे स्यात्, न तु स्वप्रधानतया यथा विवक्षिते ब्रह्मणीत्याह ॥ कथमपीति ॥ तस्माद्वेदान्तानामपि विधिनिष्ठमेव प्रामाण्यं तच्छेषतया च सिद्धवादिपदानामन्वय इत्यभ्युपेयमिति सिद्धम् । तथाच न्यायवेदान्तप्रसिद्धिरपीत्याह ॥ भूतं भव्येति ॥ न केवलं मया श्रुदिता एते न्यायाः, किन्तु जैमिन्यादिभिरुक्ता इत्याह ॥ शास्त्रस्था इति ॥ १४३ ॥

पूर्वपक्षमुपसंहरति—

तस्मादसंगतमिद प्रतिभाति यन्मे
वाक्यप्रमाणकमुदीरितमद्वयत्वम् ॥
इत्यत्रमेष मम बुद्धिपथ विरोधः
प्राप्तः प्रभो परिहरैनमनुग्रहाय ॥ १४४ ।

तस्मादसङ्गतामिति ॥ प्रतिवादिभावं परित्यज्य शिष्य एव भूत्वा सिद्धान्तबुभुत्सामाविष्करोति ॥ इत्येवमिति ॥१४४॥

आचार्यः क्रमेण दोषान् परिहरिष्यँस्तत्त्वम्पदार्थयोर्विरोधादन्वयो न सम्भवतीति यः प्रथमोक्तो दोषस्तमखण्डवाक्यार्थाश्रयणेन परिहर्तुं संसर्गवाक्यार्थपक्षोक्तदोषमङ्गीकरोति—

सत्य यदाह गुरुमान् यदि वाक्यगम्य
संसर्गरूपमिह वेदशिरःस्वभीष्टम् ॥
अस्त्वेव तत्र पदयोरुभयोर्विरोधः
पारोक्ष्यसद्वयविरोधकृतस्तदानीम् ॥ १४५ ॥

सत्यं यदाहेति ॥ संसर्गवाक्यार्थस्तत्र नाङ्गीक्रियत इति शेषः ॥ १४५ ॥

ननु संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थ इति वाक्यार्थलक्षणस्य न्यायविदा प्रसिद्धत्वात् कथं नाङ्गीकार्यः स इति तत्राह

यत् कर्मकाण्डनिपुणैरुदितं पुरस्ताद्
वाक्यार्थलक्षणमदः पुनरत्र नेष्टम् ॥
भेदादिवर्जितमखण्डमुशन्ति यस्मा-
च्छ्रीबादरायणमतानुगता महान्तः ॥ १४६ ॥

यत्कार्मकाण्डेति ॥ कर्मकाण्डकराक्षिकारेण वाक्यार्थविशेषलक्षणं तैरुक्तम्। ज्ञानकाण्डे तु तन्नेष्टम्। अखण्डैकरसत्वस्य वाक्यार्थलक्षणतयोक्तत्वात् । तथाच वाक्यार्थसामान्यलक्षणं वाक्यप्रमेयत्वमेवेति भावः ॥ १४६ ॥

ननु वाक्यत्वाविशेषेऽपि किं निमित्तमिदं वाक्यार्थवैलक्षण्यं काण्डयोरिति तत्राह—

भेदादिरूपमवबोधयितुं समर्थं
यद्वाक्यमस्ति तदखण्डविलक्षणार्थम् ॥
तल्लौकिक भवतु वैदिकमेव वास्तु
नास्माकमत्र विषये विमतिः कदाचित् ॥ १४७ ॥

**भेदादिरूपमिति** ॥ वाक्ये ह्यपुनरुक्तपदावसेयानामर्थानामनेकत्वात्तेषा संसर्गो वा भेदो वा वाक्यार्थः स्वतः प्राप्तस्य तस्य बाधकं च नास्तिचेत् स एव वाक्यार्थः । अतः कर्मकाण्डे तादृशलोकवाक्ये च स एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्यर्थः ॥ १४७ ॥

इह तु न तथेत्याह—

यद्वाक्यजातमथ वेदशिरोनिविष्टं
यद्वापि लौकिकमखण्डमपास्य नान्यत् ॥
शक्नोति वस्तु वदितुं तदशेषमेव
ब्रूयादखण्डमिति तु प्रतिपादयामः ॥ १४८ ॥

**यद्वाक्यजातमिति** ॥ ज्ञानकाण्डे तु स्वतःप्राप्तोऽपि संसर्गो वा भेदो वा न संभवति, अखण्डार्थता तु संभवति । अतः स एव वाक्यार्थः । लोके च तादृशवाक्यं प्रसिद्धम् । तच्च सर्वं प्रतिपादयाम इत्यर्थः ॥ १४८ ॥

लौकिकं तादृशवाक्यमुदाहरति—

सोऽयं पुमानिति हि मुख्यपदार्थयुक्त-
वाक्यार्थबुद्धिजननस्य न वाक्यमेतत् ॥
ईशीत वाच्यशबलस्थपदद्वयेन
संसृष्टबुद्धिजनने पदयोर्विरोधात् ॥ १४९ ॥

सोऽयं पुमानिति ॥ मुख्यपदार्थयुक्तो यो वाक्यार्थस्तद्वान्ययोः संसर्गो वा भेदो वा तद्विषयबुद्धिजननस्य, सोऽयं पुमानिति वाक्यं नेशि। ततो वाच्यं यच्छबलं तटस्थं तद्विषयं तत्समर्पकं यत्सोऽयमितिपदद्वयं तेन कारणेन संसृष्टार्थद्वयविषयबुद्धिजनने निष्पादने वाक्यस्याभ्युपगम्यमाने पदयोर्विरोधाद्विरुद्धार्थत्वेन पदयोरन्वयासंभवादित्यर्थः ॥ १४९ ॥

तस्मादिद वाक्यं देवदत्तस्वरूपलक्षणयाऽखण्डार्थनिष्ठमभ्युपेयमित्याह—

एतद्धि सोऽयमिति व.क्यमखण्डनिष्ठं
वक्तव्यमत्र गतिरस्ति न काचिदन्या ॥
तद्देशकालमनुकृष्य स इत्यनेन
नायं पदार्थमुपढौकयते हि नैतत् ॥ १५० ॥

एतद्धीति ॥ अत्र कः पदार्थयोरन्वयासंभव इति तत्राह ॥ तद्देशकालमिति ॥ स इत्यनेन पदेन तद्देशकालान्तौ परोक्षौ देशकालौ यस्य तद्विशिष्टमनुकृष्याभिधाय तद्विशिष्टार्थं पदार्थमेतद्देशकालविशिष्टं नोपढौकयते न प्रापयति। वाक्यं तद्देशकालविशिष्टार्थवैशिष्ट्यमेतद्देशकालविशिष्टस्य न बोधयतीत्यर्थः ॥ नैतदिति ॥ एतद्देशकालविशिष्टमपि वस्तु अयमित्यनेनानुकृष्य तत्पदार्थमपि नोपढौकयते । एतद्देशकालविशिष्टार्थवैशिष्ट्यमपि तद्देशकालविशिष्टार्थस्य न बोधयति । विशिष्टयोर्द्वयोः परस्परमेकत्वविरोधादित्यभिसन्धिः ॥ १५० ॥

यदैवं लोके मुख्यार्थयोरन्वयासंभवे लक्षणयाऽखण्डार्थत्वं दृष्टं तदा तत्त्वमसिवाक्यस्यापि लक्षणया अखडार्थनिष्ठत्वं दृष्टान्तेन सुप्रतिपाद्यमित्याह—

एवं सतीदमपि तत्त्वमसीति वाक्य-

माश्रित्य लाक्षणिकवृत्तिमखण्डनिष्ठम् ॥

सोऽयं पुमानिति यथा वचन तथास्तु

नो चेत् समं हि तदलाबुनिमज्जनोक्त्या ॥१५१॥

एवं सतीति ॥ तथाऽनभ्युपगमे पूर्वोक्तप्रकारेण विरुद्धाऽर्थत्वेनाप्रामाण्यप्रसङ्गं बाधकमाह ॥ नोचेत् समामिति ॥१५१॥

यत् पुनरुक्तं– मानान्तरसिद्धत्वाभावाल्लक्षणापि ब्रह्मणि न संभवतीति, तत्राह—

मानान्तराधिगनगोचरगामिनी स्या-

च्छब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरिति प्रलापः ॥

सिद्धत्वमात्रमिह लाक्षणिकप्रवृत्ते-

र्निर्वाहकारणमनङ्गमतोऽन्यदस्याः ॥ १५२ ॥

मानान्तरेति॥ यद्यपि मानान्तरप्रसिद्ध एवार्थे लक्षणाप्रवृत्तिर्दृष्टा सर्वत्र, न तु सिद्धमात्रे, तथापि सिद्धत्वमात्रमत्र प्रयोजकं मानान्तरविशेषणं तु केवलव्यतिरेकाभावान्न प्रयजकोमित्यर्थः ॥ १५२ ॥

नन्वन्वयमात्रेण यथाकाशादेः कारणत्वमेवमत्रापि व्यतिरेकसिद्धिं विनापि विशेषणं प्रयोजकं भवतु लक्षणायामितिचेन्नेत्याह–

मानान्तराधिगतता हि न लक्षणायां

किञ्चित्करी भवति पिङ्गलतावदग्नेः ॥

धूमस्य जन्मनि हि पिङ्गलता न हेतु-

र्यद्यप्यवस्थितवती हुतभुक्शरीरे ॥ १५३ ॥

**मानान्तरेति॥** आकाशस्य हि व्यतिरेकादर्शनेऽपि कारणत्वमुपयोगदर्शनात् सिद्ध्यति । निरवकाशस्यामूर्तद्रव्यस्योत्पत्त्यऽसंभवात्तर्कवशात् कारणत्वं कल्प्यते । मानान्तरासिद्धेऽस्य न लक्षणायां कश्चिदुपयोगोऽस्ति । सिद्धमात्रत्वव्यतिरेकेण धूमोत्पत्ताविवाग्निपैङ्गल्यस्येत्यर्थः । दृष्टान्तमाविष्करोति ॥ **धूमस्येति** ॥ १५३ ॥

तस्मात् स्वयम्प्रकाशे सिद्धे ब्रह्मणि पदानां लक्षणावृत्तिरुपपद्यत इति स्थितम् । तत्र जहदजहल्लक्षणात्र ग्राह्येति वक्तुं लक्षणात्रै विध्यमाह—

शब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरपि त्रिधैषा
काचिज्जहाति न जहाति च वाच्यमन्या ॥
भागं जहाति न जहाति च भागमन्या
सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिकप्रकारः ॥ १५४ ॥

**शब्दस्येति** ॥ १५४ ॥

लोके क्रमेण तासामुदाहरणमाह—

गङ्गापदं हि निजमर्थमपास्य तीरे
यद्वर्त्तते भवति सा जहती प्रसिद्धा ॥
शोणः स्थितो बहिरितीह तु लक्षणाया-
मादाय शोणिमगुणं तुरगे प्रवृत्तिः ॥ १५५ ॥

**गङ्गापदमिति** ॥ द्वयेन । निजमर्थं स्ववाच्यप्रवाहमपास्य त्यक्त्वा यद् यस्मात्, शोणः शोणिमगुणोऽश्वत्वानियतः ॥१५५॥

सोऽयं पुमानितिवचस्युभयप्रकारा

देशादिभागपरिवर्जनतः प्रसिद्धा ॥
पुंसश्च केवलमुपात्ततया पदाभ्या-
मेवं त्रिधा भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः ॥१५६॥

सोऽयमितीति ॥ उभयप्रकारा जहदजहद्रूपा । तदेवोपपादयति ॥ देशादीति ॥ तदेतद्देशकालवैशिष्ट्यरूपभागवर्जनात् केवलं यथा स्यात्तथा तदिदम्पदाभ्यां पुंस उपात्ततया चेत्यर्थः । उपसंहरति ॥ एवं त्रिधेति ॥ गङ्गायां घोष इत्यत्र हि वस्तुतो गङ्गासंबन्धि यत् तीरं घोषान्वययोग्यं तदेव लक्षणया प्रतीयते, न तु गङ्गाविशिष्टतीरम्। तस्य तेन रूपेणान्वयायोग्यत्वात्। अतो गङ्गापदे जहल्लक्षणैव । एवं, बहिः शोणस्तिष्ठतीत्यादौ निष्कृष्टद्रव्यगुणमात्रस्य बहिर्देशास्थित्यनुपपत्तेः शोणगुणविशिष्टस्यैव-अश्वस्य नियमेन स्थित्यवगमात् साऽजहल्लक्षणा।स्वार्थमुपादायैव तस्य द्रव्ये वृत्तेः । सोऽयमित्यादौ प्रागुक्तन्यायेनाभेदविरुद्धदेशादिपदार्थभागं परित्यज्य धर्मिस्वरूपं पदार्थभागमुपादायेदं वाक्यमभेदं प्रतिपादयतीति तत्र सा जहदजहद्रूपेति लाक्षणिकी वृत्तिस्त्रिधा भवतीत्यर्थः ॥ १५६ ॥

एवं वेदेऽपि त्रैविध्यमेवोदाहरणेनाह—

वेदेऽपि लाक्षणिकवृत्तिरियं त्रिधैषा
यज्ञायुधीतिवचने तु जहत्प्रवृत्तिः ॥
वैश्वानरादिवचनेष्वजहत्प्रवृत्ति-
स्तत्त्वंगिरोरुभयरूपतया प्रवृत्तिः ॥ १५७ ॥

वेदेऽपीति ॥ यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेतीति वाक्येऽन्त्येष्टिप्रकरणस्थे अग्निहोत्रकपालादिपात्रैर्विशिष्टो यजमानः

स्वर्गं गच्छतीति प्रतीयते । तदनुपपन्नम् । अग्निहोत्रपात्राणां प्रत्यक्षेणैव दाहाद् यजमानस्याग्निहोत्रकपालादियज्ञायुधाविशिष्टस्य स्वर्गगमनायोगाद् यज्ञायुधीशब्दस्तस्मिन् स्वार्थं परित्यज्य वर्तते इति सा जहल्लक्षणा मत्वर्थप्रत्ययस्य संबन्धमात्रनिष्ठत्वमभिप्रेत्य संबन्धो यजमाने जहल्लक्षणेत्युक्तम् । विशिष्टात् केवलमन्यदित्याशयेन वा जहत्प्रवृत्तिर्जहल्लक्षणा वृत्तिर्वैश्वानरादिवचनेष्विति, प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरम् इत्यत्र वैश्वानरशब्दो जाठरेऽग्नौ रूढस्तदवच्छिन्ने आत्मनि वर्त्तते । अन्यथा आत्मानं वैश्वानरमिति सामानाधिकरण्यायोगात् । तथाच स्वार्थापरित्यागेन सहात्मनि वर्तत इति तस्य तत्राजहल्लक्षणा । आदिशब्देन स्रष्टीरुपदधातीत्यत्र स्रष्टयस्रष्टीष्टकासु वर्तमानः स्रष्टिशब्दो गृहीतः ॥ तत्त्वंगिरोरिति ॥ तत्त्वमस्यादिवाक्यस्थतत्त्वम्पदयोरित्यर्थः । उभयरूपतया जहदजहद्रूपतया पदद्वयार्थेऽपि अभेदविरोधिविशेषणांशपरित्यागेनापरोक्षचैतन्याऽद्वयानन्दे पदद्वयप्रवृत्तेः सा जहदजहल्लक्षणेत्यर्थः । एतेन ब्रह्माऽऽत्मनि शक्तब्रह्मादिपदस्य कथं तत्र लक्षणा।ब्रह्मादिपदलक्ष्यस्य शास्त्रार्थत्वे इदमपि शास्त्रमनात्मनिष्ठमिति दूषणद्वयं परिहृतम् । शबले ब्रह्मणि गृहीतसंगतिकस्य शुद्धे ब्रह्मात्मनि लक्षणोपपत्तेरिति ॥ १५७ ॥

ननु कथं तर्हि ब्रह्मशब्दस्य पूर्णब्रह्मार्थत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्य परिच्छिन्नत्वेन तच्छबले पूर्णतारूपबृहत्त्वासंभवादित्याशङ्क्याह—

ब्रह्माऽज्ञाने ह्यद्वितीयत्वमेकं
ब्रह्मण्यन्यच्चाद्वितीयत्वमस्ति ॥

तत्सम्पर्कात्तत्र चाद्वैतताऽन्या
व्युत्पन्नोऽयं ब्रह्मशब्दस्तु तत्र ॥ १५८ ॥

**ब्रह्माज्ञाने इति ॥** ब्रह्माश्रयविषयाज्ञान इत्यर्थः । हि यस्माद् ब्रह्माज्ञानमेकमद्वितीयमस्ति तस्य सकलप्रपञ्चविवर्ताऽऽश्रयतया ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेन तदन्तर्भूततया च सजातीयादिभेदशून्यत्वाद् ब्रह्मणि शुद्धे चान्यदद्वितीयमस्ति तदतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वेन जीवानां च तन्मात्रत्वेन सजातीयादिभेदशून्यत्वात्तत्संपर्कात् तयोः परस्परमधिष्ठानाध्यस्ततया तादात्म्यात् संवृत्ते तत्र तदुभयात्मके शबले अन्याद्वैततास्ति । अद्वितीयात्मकस्य तस्याप्यद्वैततानियमात् । एवञ्च सति ब्रह्मशब्दस्य वेदान्तेषु जगत्कारणे बहुशः प्रयोगाज्जगत्कारणत्वस्य केवले सम्भवान्मायां तु प्रकृति देवात्मशक्तिमित्यादिवचनैर्बृंहति शबले व्युत्पत्तिरविरुद्धेत्याह॥व्युत्पन्न इति ॥१५८॥

एवं महावाक्यस्थब्रह्मादिपदवाच्यं शबलम् । तत्र शब्दस्य शक्तिं व्युत्पत्तिं च दर्शयित्वा तद्वाक्यस्थाहमादिपदवाच्यशबलं तत्राहमादिपदसम्बन्धग्रहं च दर्शयति—

प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ
प्रत्यग्भावः कश्चिदन्यः प्रतीचि ॥
प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्तत्र चान्यो
व्युत्पन्नोऽयं तत्र चात्मेति शब्दः ॥ १५९ ॥

**प्रत्यग्भाव इति ॥** आन्तरत्वमिति यावत् । बुद्धौ अन्तःकरणे शरीरेन्द्रियाद्यपेक्षया हि तदधिष्ठात्रन्तःकरणमान्तरमित्यर्थः । अन्य आपेक्षिकादन्तःकरणनिष्ठप्रत्यक्त्वादन्यः प्रतीचि

साक्षिणि तस्य य आत्मा सर्वान्तर इतिश्रुतेः । सर्वान्तरत्व-मन्यः प्रत्यग्भावोऽस्तीत्यर्थः ॥ तत्कृतः ताभ्यां प्रत्यक्त्वाभ्या कृतः । तत्र तदुभये शबले अन्यः ताभ्या प्रत्यक्त्वाभ्याम् अन्यः प्रत्यग्भावोऽस्तीत्यनुषङ्गः । ततः किं, तत्राह ॥ व्युत्पन्नो-ऽयमिति ॥ तत्र शबले आत्मेतिशब्दः त्वमहमादिशब्दः । यद्यपि अहमादिशब्दसङ्गतिग्रहसमये तदर्थे शबलत्वं न प्रतीयते, तथापि तस्मिन् विचारकाले तत् सिद्ध्यतीति वक्ष्यति । ततस्तदापि त-दुभयात्मकमेवेत्युक्तम् ॥ १५९ ॥

एवं तत्त्वम्पदयोर्वाच्यार्थौ व्युत्पाद्य तयोर्लक्ष्यार्थमुद्धृत्य व्युत्पादयति—

तच्छब्दवाच्यगतमद्वयभागमेकं
प्रत्यक्त्वमात्रमविरोधमपेक्षमाणः ॥
त्वंशब्दवाच्यशबलस्थमुपाददानो
वाक्यादखण्डमथ तत्त्वमसीति विद्यात् ॥१६०॥

तच्छब्दवाच्यगतमिति॥ तच्छब्दवाच्यगतमेकं वास्तव-मद्वयभागं तत्पदेन लक्षणयोपाददान इति सम्बन्धः । तथा त्वं-शब्दवाच्यशबलस्थं वास्तवं चिद्रूपं प्रत्यक्त्वमात्रं चोपाददान इति पुनः सम्बन्धः । किमित्येवं भागलक्षणयार्थैकदेश उपादी-यत इति तत्राह ॥ अविरोधमपेक्षमाण इति ॥ शबले व्युत्पन्नस्य शब्दस्य तदेकदेशे पर्यवसानं लक्षणा । एकदेशश्च परस्पराविरुद्ध एकस्वभावश्चाखण्डवाक्यार्थत्वयोग्य इत्येवमविरोधम् अपेक्षमाणो जिज्ञासुरथैवं पदार्थनिश्चयानन्तरं तत्त्वमसीति वाक्यादखण्डं वाक्यार्थं विद्यादिति योजना ॥ एतदुक्तं भवति । वाच्यार्थयोः प्रत्यक्पराग्भावेनापरोक्षपरोक्षत्वाभ्या च विरोधात्तयोः संसर्गो

वा तादात्म्यं वा न सम्भवतीति वाक्यार्थाबोधकत्वेन वाक्यस्याप्रामाण्यशङ्का भवेत् । सा माभूदिति स्वतः प्राप्तप्रामाण्यसंरक्षणाय सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तत्सत्यम्, आत्मेत्युपक्रमोपसंहारयोरवधार्यमाणाखण्डैकरसत्वाविरोधाय च तत्पदार्थे सविकारमज्ञानांशं विहाय त्वमर्थे च सविकारं बुद्ध्यंशं च परित्यज्य स्वप्रकाशचित्सदानन्दात्मकमुभयपदार्थगतमविरुद्धमंशं लक्षणया गृहीत्वाऽखण्डं वाक्यार्थं विद्यादिति ॥ १६० ॥

ननु लक्ष्यांशयोः केनाप्यंशेन भेदोऽस्त्युत न । आद्ये नाऽखण्डार्थत्वासिद्धिर्द्वितीये पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याह—

आदेयांशे नाणुमात्रोऽपि भेदो
यद्यप्येवं भिन्नमादाय शब्दौ ॥
वर्तेते त्वय्यद्वतीयप्रकाशे
बाह्यं हेतुं जामिता नास्ति तस्मात् ॥ १६१ ॥

आदेयांश इति ॥ आदेयांशे लक्ष्यांशे त्वय्यद्वयात्मप्रकाशे आत्मस्वरूपे ब्रह्मणीति यावत् । यद्यप्येवमुक्तप्रकारेण पदार्थयोरणुमात्रोऽपी[illegible]न्मात्रमपि केनाप्यंशेनेति यावत्, भेदो नास्ति तथापि यस्मा[illegible]च्छब्दौ तत्त्वम्पदात्मकौ बाह्यं लक्ष्यार्थबहिर्भूतं भिन्नं मिथाव्यावृत्तं हेतुं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं कार्यकारणत्वलक्षणमादाय वर्त्तेते । तस्मात् पदयोर्जामिता पुनरुक्तता पर्यायत्वापत्तिर्नास्ति । अतो नोक्तदोषद्वयस्याप्यत्रावकाश इत्यर्थः ॥ लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि वाच्यार्थभेदात् पदभेदः प्रवृत्तिनिमित्तभेदादव्यावर्त्त्यभेदाच्च न पौनरुक्त्यमपीति भावः ॥ १६१ ॥

ननु प्रत्यक्त्वाद्वयत्वयोस्तत्त्वम्पदार्थयोरैकरस्यं लक्षणावि-

षयत्वेऽपि नोपपद्यते।प्रतियोगिभेदेन मिथोभेदप्रतीतेः। अन्यथाऽन्यतरस्य वैयर्थ्यादत ईषदपि भेद एष्टव्य इतिचेद्, नेत्याह—

अद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थोऽस्ति तद्वत्

प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः ॥

यद्यप्येवं नातिरेकावकाशः

पूर्णे तत्त्वे तत्त्वमर्थोपपत्तेः ॥ १६२ ॥

अद्वैतेऽर्थ इति ॥ अद्वैते तत्पदार्थे प्रत्यगर्थस्त्वम्पदार्थोऽप्यस्ति। न ततोऽत्यन्तमीषद्वाऽव्यावृत्तः प्रत्यगर्थः। तथा सत्यद्वैतस्यासम्पूर्णतापत्तेः। तद्वदेवमेव प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्य भावो भेदेनाऽवस्थानमन्यथाऽद्वितीयस्वरूपापेक्षया प्रत्यक्त्वस्य पराक्त्वप्रसङ्गात्। तस्मादाद्वितीयरूपान्न प्रत्यक्त्वं बहिर्भूतं नापि प्रत्यक्त्वादद्वैतमिति युक्तमित्यर्थः। यद्वा, ननु यद्यप्येवमादेयांशभेदाभावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् पदभेद उक्तस्तथापि पदभेदान्यथानुपपत्त्या पदार्थभेदः कथमप्यङ्गीकर्त्तव्योऽन्यथान्यतरस्य वैयर्थ्यादितिचेत् सत्यम्। न पदप्रवृत्तिनिमित्तभेदोपरक्तं पदार्थभेदं वयं निराकुर्महे, किन्तु पदार्थस्वरूपभेदमित्यभिप्रेत्याऽऽह ॥ अद्वैतेऽर्थ इति ॥अयमर्थः॥ तत्पदार्थो ह्यद्वैतमिति प्रसिद्धम्। तस्मिन्नेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः। त्वम्पदार्थश्च प्रत्यगर्थः प्रसिद्धः। स त आत्मा सर्वान्तर इति श्रवणात्।

तथाचाद्वैतेऽर्थे तत्पदवाच्ये प्रत्यगर्थोऽस्ति तच्छब्दवाच्ये प्रत्यगर्थोऽपि स्वरूपेण विद्यते। अन्यथैकमेवाद्वितीयमित्यद्वैतत्वावधारणायोगात्। यथाऽद्वैतेऽर्थे प्रत्यगर्थो विद्यते। तद्वत् प्रत्यक्तत्त्वे चाद्वयस्यापि भावः स्वरूपेणावस्थानमस्ति। अन्यथा तस्य सर्वान्तरत्वश्रुतावकस्मादेव सर्वशब्दसङ्कोचापत्तेः। अतः श्रुतेः

प्रामाण्याज्ञानयोस्तम्भकुम्भयोरिव स्वभावत एव भेदः, किन्तु पदप्रवृत्तिनिमित्तभेदादेव भेद इत्यर्थः । तर्हि प्रवृत्तिनिमित्तयोर्द्धर्मयोरद्वितीयत्वप्रत्यक्त्वयोः परस्परमसङ्कीर्णत्वाय भिन्नाधिकरणत्वमेष्टव्यमिति पुनः प्राप्तस्तयोः स्वरूपभेद इतिचेत्तत्राह ॥ यद्यप्येवमिति ॥ यद्यप्येवमुक्तप्रकारेण पदभेदादर्थभेदावभासस्तथापि नातिरेकावकाशोऽर्थयोः स्वरूपतो न भेदावकाश इत्यर्थः । कुत इत्यत आह ॥ पूर्ण इति ॥ अपरिच्छिन्ने सर्वविकारास्पदतया सर्वाधिष्ठाने स्वयम्प्रकाशयितरि स्वतःस्फुरत्याऽऽत्मतत्त्वे तत्त्वमर्थयोरुक्तप्रकारेणोपपत्तेरित्यर्थः।एतदुक्तं भवति। न ह्यद्वितीयत्वप्रत्यक्त्वे धर्मौ, किन्त्वेकमेव स्वरूपं परिच्छेदव्यवच्छेदेन पराक्त्वव्यवच्छेदेन च भेदेन निरूप्यते । तेन व्यवच्छेद्यभेदोपाधिक एवाद्वितीयत्वप्रत्यक्त्वयोर्भेदावभासः । स्वतस्त्वेकरसमेव । यथा ह्येकमेव दण्डगतं परिमाणमेकापेक्षया दीर्घमन्यापेक्षया तदेव ह्रस्वं च व्यवह्रियते भेदेन। न च तावता दण्डपरिमाणे रूपभेदसिद्धिः । तद्वदिदमपीति ॥ १६२ ॥

ननु यद्येवमेकदेशलक्षणायामङ्गीकृतायां विरोधपरिहारादभीष्टवाक्यार्थसिद्धिस्तर्ह्येकपदे लक्षणाश्रयणेऽपि तत्सिद्धेः । पदद्वयेऽपि तदाश्रयणमनर्थकमितिचेन्नेत्याह—

न च विनिगमनायां कारणं किञ्चिदस्ति
स्फुटमुभयपदस्था लक्षणा शस्यतेऽतः ॥
न हि विनिगमनायां हेत्वभावे कदाचित्
क्वचिदियमुपलब्धा सोऽयमित्यादिवाक्ये ॥१६३॥

नच विनिगमनायामिति ॥ एकस्मिन्नेव पदे लक्षणा भवति सर्वत्र न पदान्तरेऽपीति विनिगमनायां नियमाभ्युपगमे

न च स्फुटं कारणं किमप्यस्ति । यद्यपि क्वचिदेकपदलक्षणया-ऽपि विरोधपरिहारसम्भव इति योजना । नियमाभावे फलित-माह ॥ उभयपदस्थेति ॥ यतो नियमाभावोऽत उभयपदस्था लक्षणा शस्यते । प्रकृत इति शेषः । नन्विच्छैव विनिगमनाहेतु-रित्याशङ्क्येच्छाया निरङ्कुशत्वान्न व्यवस्थासिद्धिरित्यभिप्रेत्य प्रकृतवाक्यानुरूपोदाहरणेनोभयपदलक्षणा प्रतिपादयति ॥ न हि विनिगमनायां हेत्वभावे कदाचित् क्वचिदिति ॥ लोके पद-द्वये लक्षणा क्व दृष्टेति, तदाह ॥ इयमुपलब्धा सोऽयमित्यादिवाक्य इति ॥ एतदाकूतम् । न वयं लक्षणां तत्त्वम्पदयोर्व्यसनितया स्वीकुर्महेऽपि तु विरोधपरिहारेणाखण्डवाक्यार्थसिद्धये । स चैकपदलक्षणायां न सिद्ध्यति । यतस्त्वम्पदलक्ष्यस्य तत्पद-वाच्येनैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने त्वमर्थस्य पारोक्ष्यसप्रपञ्चत्वादि-रूपतोपदिष्टा स्यात्, सा चानर्थरूपेति तत्परं वाक्यमप्रमाणं भवेत्। तथा तत्पदलक्ष्यस्य त्वम्पदवाच्येनैक्याभ्युपगमे चासंसारिण ईश्वरस्य शुद्धस्य संसार्यशुद्धात्मोपदेशपरतायां वाक्यस्य स एव दोष इत्यत उभयपदलक्षणां विना न फलवद्वाक्यार्थ-प्रत्ययासिद्धिरिति लक्षणां पदयोरङ्गीकुर्महे । तत्सत्यं स आत्मे-त्यैकात्म्यं चात्र विवक्षितमिति ॥ १६३ ॥

उक्तमर्थं स्थिरीकर्त्तुं प्रकारान्तरेणैकपदलक्षणाद्वारमाशङ्क्य परिहरति—

प्रथमचरमभावो निर्णये कारणं चे-
दयमपि नियमो न ह्यन्यथाप्यस्य दृष्टेः ॥
प्रथमपठितमासीत्तत्पदं सामवेदे
चरमपठितमेतद् दृष्टमध्वर्युवेदे ॥ १६४ ॥

**प्रथमचरमभाव इति** ॥ प्रथमं पदमसञ्जातविरोधितया मुख्यार्थमेव । चरमं तु पदं मुख्यार्थांशे तद्विरोधाल्लक्षणामर्हतीत्यस्यार्थस्य न्यायसिद्धत्वात् प्रथमचरमभाव एवैकपदलक्षणानिर्णये कारणमितिचेदिति शङ्काभागयोजना । अतिप्रसाङ्गित्वेन निराकरोति ॥ अयमपीति ॥ अस्य पदप्रयोगे प्रथमचरमभावस्यान्यथादर्शनमेव वेदगतमुदाहृत्य विशदयति ॥ चरमपठितमिति ॥ तत्पदमित्यसंसारिवस्तुविषयं पदमिति यावत् ॥ अध्वर्युवेदो यजुर्वेदः । तत्र ह्यहं ब्रह्मास्मीति संसारिविषयं पदं प्रथमं पठ्यत इत्यतोऽत्र पाठनियमाभावात्तदनुरोधे चाव्यवास्थितार्थमिदं वाक्यं स्यादित्यर्थः ॥ १६४ ॥

अत्रैव लौकिकमप्युदाहरणमाह—

सोऽयं पुमानयमसाविति पौरुषेये

वाक्ये तथा व्यतिहृतेऽत्र विशेषहेतुः ॥

पूर्वापरत्वमिति शक्यमिद न वक्तुं

मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति शब्दवृत्त्योः ॥ १६५ ॥

**सोऽयं पुमानिति** ॥ तथा व्यतिहृते सोऽयमित्याद्युक्तप्रकारेण व्यतिहारेणोच्चारिते शब्दवृत्त्योर्मुख्यत्वलाक्षणिकते प्रति इदं पूर्वापरत्वं विशेषहेतुरिति वक्तुं न शक्यम् । अत्रापि वाक्यप्रयोक्तृणामुच्चारणे पूर्वापरत्वानियमादर्शनादित्यर्थः ॥ १६५ ॥

अथोद्देश्यत्वात्त्वम्पदार्थस्य तद्गतविशेषणस्य ग्रहगतैकत्ववदविवक्षितत्वात्तत्पदार्थस्य च विधेयत्वात्तद्गतविशेषणस्य पश्वैकत्वादिवद्विवक्षितत्वात्त्वम्पदे लक्षणा, तत्पदे च मुख्यवृत्तिरिति नियम उच्येत, तथापि तत्पदार्थे पारोक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्तस्यापरोक्षत्वमर्थैक्यवाक्यार्थानुपपत्तिलक्षणो दोषो न परिहृतः

स्यादित्यभिप्रेत्याह—

न च भवति विरोधस्योत्थितस्यापनीतिः
पदयुगलनिविष्टां लक्षणामन्तरेण ॥
न हि भवति कदाचित् सद्वयस्याद्वयत्वं
न च भवति परोक्षः प्रत्यगऽर्थोऽपि तद्वत् ॥ १६६ ॥

न च भवतीति ॥ पूर्वार्द्धं स्पष्टार्थम् । विरोधापनयनाभावं समर्थयते, न हि भवति कदाचिदित्युत्तरार्द्धेन ॥ न हि भवति यथेत्यध्याहारः । सद्वयस्य त्वमर्थस्याद्वयतदर्थैक्यं न सम्भवतीतिचेत्त्वम्पदे लक्षणया स्वरूपमात्रमुपादीयते तर्हि तद्वदेव परोक्षस्य तदर्थस्यापरोक्षप्रत्यगर्थत्वमपि न भवतीतिदोषसाम्यात्तत्रापि लक्षणया स्वरूपोपादानमावश्यकमेवेत्युभयपदलक्षणाऽत्र संमतेत्यर्थः । अत्र त्वमर्थगतसद्वितीयत्वांशपरित्यागवदापरोक्ष्यस्यापि परित्यागे विरोधस्य परिहारादुद्देश्यविशेषणत्वेन तस्याऽपि परित्याज्यत्वादिति न शङ्कास्पदम् । प्रत्यङ्मात्रस्य त्वम्पदे लक्षणयोपादेयस्य चैतन्यमात्रस्यापरोक्ष्यस्वभावत्वात् स्वभावत्यागे च भावत्यागापत्तेः । न हि ग्रहगतमेकत्वमविवक्षितमिति ग्रहत्वमप्युद्देश्यविशेषणत्वादविवक्षितं भवति । तस्य तत्स्वभावत्वात् । न च स्वयं चात्मा परोक्षश्चेति कस्यचिदनुभवः सम्भाव्यते । तस्मात् पारोक्ष्यसद्वयत्वविरोधपरिहारायोभयपदलक्षणाऽऽवश्यं प्राप्नोति भावः ॥ १६६ ॥

ननु यदि विरुद्धानेकविशेषणयोगिनोरपि तत्त्वमर्थयोः स्वरूपेणैकत्वं तर्हि तद्विशिष्टयोरप्यैकत्वमस्तु । सर्वथैकस्यैव विरुद्धाऽनेकविशेषणयोग्यस्याभ्युपेयत्वादित्याशङ्क्य स्वरूपैक्येऽपि न विशिष्टैक्यं सम्भवतीति कैमुत्यन्यायेन परिहरति—

अविरुद्धविशेषणद्वय-
प्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः ॥
घटते न यदैकता तदा
नितरां तद्विपरीतरूपयोः ॥ १६७ ॥

अविरुद्धविशेषणेति ॥ यथैकस्मिन् पुरुषे दण्डः कुण्डलमिति चाविरुद्धे विशेषणे । तयोरेकदैकत्रान्वये विरोधाभावात् । तथाचेत्थमविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि द्वयोर्विशिष्टयोरेकपुरुषगतदण्डित्वकुण्डलित्वयोर्यदैकता न घटते । विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरपि तत्प्रसङ्गात् । यदैवं तदा तद्विपरीतरूपयोर्विरुद्धयोरैक्यं न घटते नितरामिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः । विरुद्धयोरपि विशेषणयोरेकत्रापि सम्बन्धमात्रं कालादिभेदापेक्षया वावच्छेदकस्वभावभेदापेक्षया वा न विरुध्यत इति भावः ॥ १६७ ॥

ननु विशेषणयोर्भेदात्तद्विशिष्टयोर्भेदेऽपि विशेष्याभेदादभेदोऽपि तयोः स्यादित्येवंविधो विशिष्टाभेदो वाक्येन प्रतिपाद्यतामिति, नेत्याह—

अथ केनचिदात्मनैकता
वचनेन प्रतिपाद्यते तयोः ॥
तदसुन्दरमस्तमेति हि
स्फुटमेव त्रिविधापि लक्षणा ॥ १६८ ॥

अथ केनचिदिति ॥ अत्र पूर्वार्द्धमुक्तशङ्काद्योति, उत्तरार्द्धमुत्तरमिति विभागः । अथैवं ब्रूयाः, केनचिदात्मना विशेष्यैक्यकृतेनैकत्वेनाकारेण तयोर्विशिष्टयोस्तत्त्वमर्थयोरेकता वचनेन महावाक्येन प्रतिपाद्यत इति । तदसुन्दरमिति योजना । कुतो-

ऽसुन्दरमित्यत आह ॥ अस्तमेति हीति ॥ एवं केनाप्यंशेन यथाकथञ्चिदभेदमादाय पदयोः सामानाधिकरण्यं चेन्निर्वक्ष्यति तदा हि त्रिविधापि लक्षणा रफुटमेवास्तमेति। लक्षणोच्छेदप्रसङ्ग इत्यर्थः॥अयं भावः॥ यदि विरोध्यंशपरित्यागेनापि लाक्षणिकप्रयोगस्तर्हि सर्वत्र कथञ्चिन्मुख्यार्थयोगेनापि वाक्यार्थसिद्धेः कल्पयितुं शक्यत्वाल्लक्षणामात्रोच्छेदः स्यात्। तथाच सोमेन यजेतेत्यत्रापि सोमयागपदयोः करणकरणिसंबन्धमात्रोपादानेनाऽपि सामानाधिकरण्योपपत्तेर्मत्वर्थलक्षणाऽजहत्स्वार्था लुप्येत। गङ्गायां घोषइत्यत्रापि गङ्गासामीप्यमात्रं सप्तम्यर्थइत्यङ्गीकारे जहत्स्वार्थापि तीरलक्षणा विलोपमियात्। एवं सोऽयं देवदत्त इत्यत्रापि सोऽयम्पदयोः स्वरूपमात्रवाचित्वकल्पनयापि सामानाधिकरण्योपपत्तेर्जहदजहल्लक्षणाऽप्यस्तमियादिति ॥ १६८ ॥

एवं जहदजहल्लक्षणयोभयपदनिविष्टया तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य विवक्षिताखण्डार्थपर्यवसायित्वमुपपादितम्। इदानीं तदेव वाक्यं जहल्लक्षणयापि यथोक्ताखण्डार्थनिष्ठमित्युपपादयितुं शक्यते इति प्रौढिमालम्बमान आह—

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाहं-
शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे ॥
नीरेषा रौति लोह दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा-
वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः १६९

साभासेति ॥ अहं ब्रह्मेति वाक्ये ब्रह्मशब्दो यदि साभासाज्ञानवाची भवति, पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। तत्र पक्षे तु जहल्लक्षणा भवतीति संबन्धः। तथाऽहंशब्दोऽपि यद्यहङ्कारवाची भवतीति संबन्धः। अस्मिन्नपि पक्षेऽहंशब्दोऽपि जह-

लक्षणेत्यर्थः ॥ एतदुक्तं भवति ॥ वस्तुतत्त्वस्य ब्रह्मात्मस्वरूपस्य वाच्यवाचकसर्वव्यवहारातीतत्वात् साभासाज्ञानादेश्च व्यवहार्यत्वात्तत्रैव शब्दप्रयोगोपपत्तेः । साभासाज्ञानाहङ्कारयोः शब्दवाच्यत्वं तदधिष्ठानत्वेन साक्षित्वेन चानुगततया तत्संबन्धिनि चिदात्मनि ब्रह्मात्मपदे जहल्लक्षणया वर्त्तेते इति । अत्र यदिशब्दप्रयोगादभ्युपगमवादतास्य पक्षस्य द्योतिता। वस्तुतस्तु वेदान्तेषु ब्रह्मादिशब्दानां प्रत्यग्ब्रह्मण्येव प्रयोगदर्शनात्तस्य तदऽवाचकत्वे तस्मिन्नौपानिषदत्वश्रवणस्य मुख्यत्वत्यागापत्तेस्तस्याऽव्यवहार्यत्वेऽपि स्वरूपतो ज्ञानाहङ्कारादिद्वारा व्यवहार्यत्वात् पदव्युत्पत्तिगोचरत्वोपपत्तेस्तत्र विशिष्टे व्युत्पन्नस्य पदस्य लक्षणया स्वरूपपर्यवसायित्वोपपत्तेश्च पूर्वोक्त एव युक्ततर इति भावः । वक्ष्यति च, सकलवाङ्मनसातिगता चितिः । सकलवाङ्मनसव्यवहारभागिति । अन्यवाचकस्यान्यलक्षकत्वेनार्थपरत्वे दृष्टान्तानाह ॥ नौरेपेति ॥ नौपदेन तत्स्थाः प्राणिनो लक्ष्यन्ते । लोहपदेन तल्लग्नोऽग्निः । तवाग्रेऽसौ विषधरः सर्पो रज्जुरिति योजना । अत्र विषधरपदेन रज्जुर्लक्ष्येति ॥ को विरोध इति ॥ ब्रह्मणि वाक्यप्रामाण्ये एवमपि को विरोध इत्यर्थः ॥ १६९ ॥

तथा गुणवृत्त्याश्रयणेऽप्यविरोधमाह—

प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन यदि वा गौण्यस्तु वृत्तिस्तयो-
र्ब्रह्माहम्पदयोः परेतरदृशोर्मुख्यो विरोधो यतः ॥
मुख्यार्थानुपपत्तिहेतुकनया गौण्यस्ति वृत्तिर्यतो
लोके माणवको विभात्यसुरसौ सिंहः पुमानित्यपि॥ १७०॥

प्रत्यक्त्वादीति ॥ आदिपदात् सूक्ष्मत्वस्वच्छत्वे गृह्येते । बुद्धिप्रत्यगात्मनोः प्रत्यक्त्वादिर्गुणः । तत्रात्मनः स्वाभाविको,

बुद्धेस्तु तत्संबन्धादुपचरित इति द्रष्टव्यम् । उक्तं च, प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्ट्यनुशीलनात् *अतो वृत्तीर्विहायान्या अहंवृत्त्यैव लक्ष्यत इति ॥ उपलक्षणमेतत् । ब्रह्मण्यज्ञाने च कारणत्वाद्वितीयत्वगुणयोः । यद्वा, आदिपदेनाज्ञानब्रह्मगतकारणत्वादि गृह्यते । अत्रापि ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतया सर्वसत्तास्फूर्त्तिप्रदतया च तस्मिन् कारणत्वादिर्मुख्य इतरत्र तत्सम्पर्काद्गौण इति द्रष्टव्यम् । अथैषाऽक्षरयोजना । यदि वा तयोः प्रकृतयोर्ब्रह्माहम्पदयोः किं लक्षणयोः परेतरदृशोः परापरयोर्ब्रह्मप्रत्यगाऽऽत्मनोर्दृग्ज्ञानं याभ्या ते तथा तयोरिति विग्रहः । प्रत्यक्त्वादिगुणान्वयेन गौणी वृत्तिरस्तु,अहम्पदस्याहङ्कारे मुख्यस्यात्मन्युपचाराद्वृत्तिर्ब्रह्मपदस्य साभासाज्ञाने मुख्यस्य परब्रह्मण्युपचाराद् वृत्तिश्चास्तु । को विरोध इति । मुख्ये सम्भवति किमित्युपचारोऽङ्गीक्रियत इति, तत्राह ॥ मुख्ये विरोधो यत इति ॥ परोक्षापरोक्षार्थत्वेन तदेकत्ववाक्यार्थपरत्वाविरोध इत्यर्थः । ननु मुख्यार्थासम्भवे वृत्त्यन्तरमपि मास्त्वितिचेन्नेत्याह ॥ मुख्यार्थानुपपत्तिहेतुकतयेति ॥ स्पष्टार्थम् ॥ यथा प्रत्यक्त्वाद्यात्मन्येव मुख्यमपि बुद्ध्यादावुपचर्यते तथाहमादिपदस्याहङ्कारादौ मुख्यस्यात्मादावुपचारो, यथा वा सिंहाग्निपदयोः साक्षात् सिंहेऽग्नौ च मुख्ययोःपुंसोरुपचारस्तद्वदिति तात्पर्यार्थः ॥१७०॥

ननु लक्षणागुणवृत्त्योः को भेदः । स्वार्थादन्यत्र वृत्तेरुभयोरविशेपादित्याशङ्क्य परिहरति—

परशब्दवृत्तिरपरत्र भवे-

दिति यद्यपीदमुभयोः सदृशम् ॥

अनयोस्तथापि तु विभागकरं

स्फुटमस्ति लक्षणमवान्तरकम् ॥ १७१ ॥

परशब्दवृत्तिरिति ॥ यद्यपि परवाचकशब्दस्य वृत्तिरपरत्रार्थान्तरे भवेदितीदमुभयोर्लक्षणागुणवृत्त्योः सदृशं सममेव उपचारवृत्तिरित्येकेन पदेनोभयोरप्युच्यमानत्वाद् यद्यपीदं सामान्यमस्तीत्यर्थः । तथापि त्वनयोर्वृत्त्योर्विभागकरमवान्तरकं लक्षणं स्फुटमसङ्कीर्णमास्ति । लक्षणभेदादनयोरवान्तभेदोऽस्तीत्यर्थः ॥ १७१ ॥

स्फुटलक्षणभेदमेव दर्शयति—

गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते
ह्यपरा लाक्षणिकी तु सङ्गतेः ॥
इति भेदकमास्ति लक्षणा-
गुणवृत्त्योरिति वेदवादिनः ॥ १७२ ॥

गुणत इति ॥ मुख्यार्थगतगुणसदृशगुणतो गुणयोगात् परवाचकस्य शब्दस्य परत्र वृत्तिर्गुणवृत्तिरिष्यते । लाक्षणिकी वृत्तिस्तु या परान्या सा सङ्गतेर्मुख्यार्थसम्बन्धमात्रान्न तद्गुणयोगादित्यर्थः । शब्दस्य मुख्यार्थगुणयोगादन्यत्र वृत्तिर्गुणवृत्तिर्मुख्यार्थसम्बन्धादन्यत्र वृत्तिर्लक्षणा वृत्तिरित्यनयोरवान्तरभेद उक्तो भवति । नायं विभागो मयैवोत्प्रेक्षितः, किन्तु प्राचीनैरेवाचार्यैर्निर्णीत इत्यभिप्रेत्याह ॥ इति भेदकमिति ॥ तदुक्तम्, अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणेष्यते * लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणतेति ॥ १७२ ॥

एवं तावत् प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वलक्षणोऽखण्डैकरसात्मको वाक्यार्थो भागलक्षणासमर्थनेनोपपादितो जहल्लक्षणागुणवृत्ति-

भ्यां च प्रौढ्या इदानीं तादृग्वाक्यार्थज्ञानफलमनुभवं दर्शयन् किमात्मकं पुनस्तदखण्डाद्वयं वस्त्वित्यपेक्षायामवान्तरवाक्यगतिमनुसृत्यानुभवमभिनयति—

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभाव
सत्यः सूक्ष्मः सन् विभुश्चाद्वितीयः ॥
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि
प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥ १७३ ॥

**नित्यः शुद्ध इति ॥** लक्ष्यस्य तदर्थस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकाऽवान्तरवाक्यवर्त्तिनोऽपुनरुक्तरूपा एते नित्य इत्यादिदशपदार्था ब्रह्मतत्त्वपर्यवसिता अनुसन्धीयन्ते । तथा प्रत्यग्धातुरिति त्वम्पदलक्ष्यस्यानुसन्धानम् । तथाच नित्यत्वादिस्वभावो यः परः सोऽहम्प्रत्यग्धातुरात्माऽस्मि । यः प्रत्यग्धातुरात्मा सोऽहं नित्यत्वादिलक्षणः परोऽस्मीति च वाक्यार्थानुसंधानं भवति, नात्रास्मिन्नर्थे संशीतिः संशयोऽस्तीत्यर्थः ॥१७३॥

उक्ते वाक्यार्थानुसन्धानेऽन्यदपि पक्षद्वयमाह—

सच्चित्सुखाद्वयवपुः कथयन्ति केचित्
सच्चित्सुखात्मकमिति प्रथयन्ति केचित् ॥
ब्रह्मेतराणि किल नास्य वपूंषि तेषां
बुद्धौ स्फुरन्त्यपररूपनिवृत्तिभावात् ॥ १७४ ॥

**सच्चित्सुखाद्वयवपुरिति ॥** सत्यज्ञानानन्दानन्तपदचतुष्टयावसेयपदार्थात्मकं ब्रह्मेति केचित् तत्पदार्थस्वरूपं कथयन्ति । केचिदपरे सच्चित्सुखात्मकमेव ब्रह्म, नानन्तपदविशेषितमपि, किन्तु पदार्थत्रयात्मकमेवेति प्रथयन्ति प्रसिद्धिं कुर्वन्तीत्य-

ऽर्थः । कस्मादेवं ते पदार्थसङ्कोचमिच्छन्तीति, तत्राह ॥ इतराणीति ॥ किलेत्यनयोः पक्षयोः स्वस्यारुचिं सूचयति । यतः स्वयं नित्यादिपदानि ब्रह्मणि व्युत्पादयिष्यति, आकाशादौ नित्यतेत्यादिना । इतराणि नित्यत्वादीनि विशेषणान्यस्य ब्रह्मणो वपूंषीति न तेषा बुद्धौ स्फुरन्तीति योजना । इतराण्यस्य न वपूंषि स्वरूपभूतानि न भवन्तीति तेषां बुद्धौ स्फुरतीति वा योजना । कुत इत्यत आह ॥ अपररूपनिवृत्तिभावादिति ॥ अनित्यत्वादिनिवृत्तिरूपत्वान्नित्यादिपदार्थानां न भावरूपब्रह्मस्वरूपत्वमित्यर्थः ॥ १७४ ॥

एवं प्रकृतवाक्यस्य फलपर्यन्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मणि प्रामाण्यमुपपाद्येदानीमवान्तरवाक्यगतपदाना गुणप्रधानभावेनाऽन्वितार्थाभिधायितां व्युत्पादयति—

ब्रह्मेति शेषि पदमत्र हि लक्ष्यमेकं
शेषाणि लक्षणसमर्पणमस्य कुर्युः ॥
लक्ष्यार्पणेन सह लक्षणवाचि सर्वं
सङ्गच्छतेऽरुणपदं क्रयवाचिनेव ॥ १७५ ॥

**ब्रह्मेति शेषिपदमिति** ॥ अत्र सत्यज्ञानादिवाक्ये ब्रह्मेति यत्पदं तच्छेषिपदं विशेष्यवाचकमित्यर्थः । कुतो हि यस्मादेकं लक्ष्यं, शेषाणि पदान्यस्य ब्रह्मणो लक्षणसमर्पणं कुर्युः । कुर्वन्तीति यावत् । अनेकपदात्मके वाक्ये एकपदप्राधान्येनान्वयस्य वक्तव्यत्वात् प्रतिपदार्थ प्राधान्ये चान्वयाप्रतिपत्तेर्वाक्यप्रयोगवैयर्थ्यापातादस्य च वाक्यस्य ब्रह्मलक्षणपरत्वाल्लक्षणानां च लक्ष्याऽर्थत्वात्तद्वाचिपदप्राधान्येनान्वयाद्युक्तोऽयमुक्तो विभाग इति भावः । यद्येवं, सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मेति प्रकारेणान्वयः स्या-

त्तथाच सत्यादीनांपरस्परमेकत्वासिद्धेरेकब्रह्मस्वरूपलक्षणता तेषान्न स्यादनेकस्यैकस्वरूपत्वायोगादित्याशङ्क्य तेषामेकार्थावच्छेदकतया मिथ एकत्वं सदृष्टान्तमाह ॥ लक्ष्यार्पणेन सहेति ॥ लक्षणवाचि सर्वं पदजातं लक्ष्यार्पणेन लक्ष्यस्वरूपसमर्पणद्वारा। सह संगच्छते एकतां गछतीत्यर्थः । यथाऽरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणातीत्यत्र क्रयवाचिना क्रीणातीति क्रियापदेनाऽरुणादिपदमेकक्रयावच्छेदकतयैकवाक्यभावं गच्छति तद्वदित्यऽर्थः ॥ १७८ ॥

संग्रहेणोक्तमुत्तरार्द्धार्थमुत्तरपद्येन स्फुटयति—

पृष्ठात् परस्परयुजा प्रतिपत्तिरेषा-

मेवंविधत्वमुपपादयितुं समर्था ॥

लक्ष्यस्य तस्य महतः क्रयवस्तुवत् स्यात्

सर्वस्य कारकपदस्य परस्परेण ॥ १७६ ॥

पृष्ठादिति ॥ एषां सत्यादिपदानां प्रथमंब्रह्मपदेन प्रत्येकमन्विताना पृष्ठात् पश्चाद् या परस्परयुजाप्रतिपत्तिर्मिथ एकलक्ष्यपर्यवसितत्वेन सामानाधिकरण्येन प्रतीतिः, सा तस्य लक्ष्यस्य महतो ब्रह्मण एवंविधत्वं सत्यज्ञानानन्दाद्यात्मकत्वमुपपादयितुं समर्था । अत एकस्यैव ब्रह्मवस्तुनो लक्षकतया सत्यादीना विशेषणत्वाद्विशेषणानां च लक्षकाणां लक्ष्यस्वरूपैकपर्यवसानानियमाद्युक्तमेषामेकत्वमित्यर्थः । अत्रोक्तं दृष्टान्तं स्फुटयति ॥ क्रयवस्तुवदिति ॥ सर्वस्य कारकपदस्यारुणया पिङ्गाक्ष्येत्यादिकस्य प्रथमं प्रत्येकं क्रयात्मकक्रियावस्तुना संबद्धस्याप्येकक्रयार्थतयाऽन्वयात् परस्परेणापि संबन्धादेकक्रयवस्तुनिर्वर्त्तकत्ववदित्यर्थः ॥ १७६ ॥

एवं सत्यादिपदानामन्वयप्रकारम् उपपाद्य तेषामर्थभेदादऽखण्डैकरसब्रह्मस्वरूपपर्यवसायित्वं कथमित्यपेक्षायां तत्त्वमादिवाक्यार्थनिर्णयन्यायमत्रातिदिशति—

तत्त्वम्पदार्थविषयो नय एव योज्यः
सत्यादिवस्तुषु न तत्र विशेषकल्प. ॥
सत्यादिशब्दविषयाः शबलास्तदर्थ-
भागेषु लाक्षणिकवृत्तिरपीह तुल्या ॥ १७७ ॥

तत्त्वम्पदार्थविषयो नय इति ॥ सत्यादिवस्तुषु तत्त्वम्पदार्थयोर्यो न्यायो भागत्यागेन भागलक्षणयाऽखण्डवस्तुपर्यवसायित्वे दर्शितः स एव योज्यः। सत्यादिपदानां स्वरूपमात्रपरत्वं पदार्थविषयत्वात्तत्त्वमादीनामैक्यपरत्वे वाक्यार्थविषयत्वादिति वैषम्ये सत्यपि अत्रैतयोर्वाक्ययोरखण्डवस्तुप्रतिपादने न विशेषकल्पो न प्रकारभेदोऽस्तीत्यर्थः । विशेषाभावमेव विशदयति॥ सत्यादिशब्दविषया इति॥सत्यादीनां शब्दानामपि शबला विषया वाच्याः । तदर्थभागेषु वाच्यार्थभागेषु लाक्षणिकवृत्तिरपीह सत्यादिपदेषु तुल्या तत्त्वम्पदाभ्यामविशिष्टेत्यर्थः ॥ १७७ ॥

के तर्हि सत्यादिपदानां शबला वाच्यार्थाः ? इत्यपेक्षायां क्रमेण तान् व्युत्पादयति—

आकाशादौ सत्यता तावदेका
प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या ॥
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या
व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥ १७८ ॥

आकाशादावित्यादिना ॥ आकाशादौ देशकालावादि-

शब्दार्थः। एषामविद्याकार्यत्वेन ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वेऽपि व्यवहारे बाधादर्शनादबाध्यत्वलक्षणापेक्षिकसत्यता काचिद् वर्त्तते। तथा प्रत्यङ्मात्रे आत्मस्वरूपे काचिदन्या आकाशादिसत्यत्वाद्विलक्षणाऽत्यन्ताबाध्यार्थलक्षणा सत्यताऽस्तीति योजना। तत्संपर्कात्तयोर्व्यावहारिकाकाशादिप्रत्यगात्मनोराधिष्ठेयाधिष्ठानरूपयोः सम्पर्कात् परस्पराध्यासलक्षणान्निमित्तात् तत्र संपृक्ते अविविक्तस्वरूपे चान्या सत्यता व्यावहारिकतात्त्विकत्वमिथुनीकरणरूपाऽस्ति। तत्र मिथुनीभूते शबलरूपे सत्येऽयं प्रसिद्धः सत्यशब्दो व्युत्पन्न इत्यर्थः। उपपादितोऽयं प्रकारोऽस्माभिराद्यपद्यव्याख्याने। तदप्यत्रानुसन्धेयमिति। एवमुत्तरत्र वाच्यार्थकथनपरेषु शब्देषु योजना स्वयमूह्या॥ १७८॥

ज्ञानपदार्थं व्युत्पादयति—

बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका  
प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या॥  
तत्सम्पर्काज्ज्ञानता तत्र चान्या  
व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र॥ १७९॥

बुद्धेर्वृत्ताविति॥ ज्ञानता ज्ञानरूपता बुद्धिवृत्तेः स्वतो जडत्वेऽपि व्यवहाराऽविसंवादादर्थप्रकाशात्मत्वस्य। तत्रैका लोकसिद्धा ज्ञानता। प्रत्यग्बोधे साक्षिस्वरूपे नित्यसिद्धा ज्ञानतेति समानमन्यत्॥ १७९॥

तथानन्दशब्दार्थमाह—

बुद्धेर्वृत्तौ तावदानन्दतैका  
प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दताऽन्या॥

तत्सम्पर्कात्तत्र चानन्दतान्या

व्युत्पन्नोऽयं तत्र चानन्दशब्दः ॥ १८० ॥

बुद्धेर्वृत्तौ तावदिति॥आनन्दस्वरूपत्वमानन्दतेति पूर्ववत्। आनन्दो नाम विक्षेपोत्कलिकोपशान्त्या स्वस्थता।विषयविशेषाऽनुभवाज्जायमाने बुद्धिवृत्तिविशेषे लौकिकानां सुखत्वप्रसिद्धेरिति समानमन्यत् ॥ १८० ॥

आकाशादौ नित्यता तावदेका

प्रत्यङ्मात्रे नित्यता काचिदन्या ॥

तत्सम्पर्कान्नित्यता तत्र चान्या

व्युत्पन्नोऽयं नित्यशब्दस्तु तत्र ॥ १८१

आकाशादौ नित्यतेति ॥ अर्वाचीनविनश्वरसावयवतदाश्रितानित्यवस्त्वपेक्षया चिरकालावस्थायित्वान्निरवयवद्रव्यत्वप्रसिद्धेश्चाकाशादौ नित्यता व्यावहारिकीत्यर्थः ॥ १८१ ॥

आकाशादौ शुद्धता तावदेका

प्रत्यङ्मात्रे शुद्धता काचिदन्या

तत्सम्पर्काच्छुद्धता तत्र चान्या

व्युत्पन्नोऽयं शुद्धशब्दस्तु तत्र ॥१ ८२ ॥

आकाशादौ शुद्धतेति ॥ निर्लेपत्वं शुद्धत्वम् ॥१८२॥

मुक्तपदं व्युत्पादयति—

गोवत्सादौ मुक्तता तावदेका

प्रत्यङ्मात्रे मुक्तता काचिदन्या ॥

तत्सम्पर्कान्मुक्तता तत्र चान्या

व्युत्पन्नोऽयं मुक्तशब्दस्तु तत्र ॥ १८३ ॥

**गोवत्सादाविति** ॥ वत्सादौ हि निगडतो विश्लेषरूपा मुक्तता पारतन्त्र्यविरुद्धा प्रसिद्धा । प्रत्यगात्मनि तु सा स्वाभाविकी । तस्यासङ्गत्वश्रवणादित्यर्थः ॥ १८३ ॥

सच्छब्दप्रवृत्तिविषयमाह—

आकाशादावस्तिता तावदेका

प्रत्यक्तत्त्वे चास्तिता काचिदन्या ॥

तत्सम्पर्कादस्तिता तत्र चान्या

व्युत्पन्नोऽयं तत्र चास्तीति शब्दः ॥ १८४ ॥

**आकाशादावस्तितेति** ॥ अस्तिता सद्बुद्धिवेद्यता भावप्रत्ययगोचरतेति यावत् । प्रत्यगात्मनि सा सर्वास्पदतया नित्यसिद्धा ॥ सूक्ष्मत्वव्यापकत्वाद्वितीयत्वानामप्युपलक्षणमेतत् । तथाहि । अवयवमूर्च्छनावैधुर्यमिन्द्रियागोचरत्वं चात्र सूक्ष्मता विवक्षिता । सा चास्ति व्योमादौ लोकसिद्धा । प्रत्यागात्मनि तु सा सर्वप्रत्यक्तयाऽणोरणीयानिति श्रुतिप्रकाशिता नित्यसिद्धा । तत्सम्पर्कादबादिव्योमान्तं तारतम्येन वर्त्तमाना मूर्च्छितावयवत्वमनोऽतिरिक्तेन्द्रियागोचरत्वरूपव्यावहारिकसूक्ष्मतायाः प्रत्यगात्मगतनिरतिशयनिरपेक्षसूक्ष्मतायाश्च संपर्कादेकीभूते तस्मिञ्छबले सूक्ष्मशब्दो व्युत्पन्नः । तथा विभुत्वमप्याकाशादौ सर्वगतत्वलक्षणमापेक्षिकं सातिशयं प्रसिद्धम् । प्रत्यगाऽऽत्मनि तु निरतिशयं तत् । यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिदिति श्रुतेः । अन्यत् समानम् । अद्वितीयत्वमपि अनन्तत्वपर्यायाऽऽस्पदम् । तच्चेह वस्तुपरिच्छेदराहित्यमात्रविषयम् । विभुत्वनित्यत्वाभ्यां देशकालपरिच्छेदाभावलक्षणस्यानन्तत्वस्य सिद्ध-

त्वात् ॥ एतच्च वस्तुपरिच्छेदवैधुर्यवति सामान्ये सर्वविशेषाभिन्ने प्रसिद्धम् । तच्चामुख्यं विशेषात्मना कथञ्चित् । भेदस्यापि तत्र सत्त्वात् । आत्मनि त्वेकरसे चिदेकस्वभावे भेदलेशस्याप्यनवकाशात्तदनन्तत्वं मुख्यम् । एतयोः सम्पर्काच्छाबल्ये सति तत्र व्युत्पन्नोऽद्वितीयशब्दोऽनन्तपदपर्याय इति । अत्रेदं प्रकरणतात्पर्यम् । लोकव्यवहारे सत्यमिदं सत्यमिदं नित्यं शुद्धमिदमिदमित्यादिशब्दप्रत्ययगोचराणां पदार्थानामनेकत्वादनेकरूपत्वाच्चैकरूपशब्दप्रत्ययाविषयत्वायोगात्तेषु सर्वेष्वनुगतं सत्यादिपदगोचरः पिण्डेषु सामान्यवत् सम्भावनीयम् । तदेवाकाशादिषु प्रतीयमानविशेषाकारपरित्यागेन सत्यादिपदैर्गृह्यत इति ॥१८४॥

एवं सत्यादिशब्दानां वाच्यार्थानुक्त्वा लक्ष्यार्थानाह—

यो यः शब्दो यत्कृतेऽर्थे निरूढ-<br>
स्तत्रैवार्थे लक्षणा वृत्तिरस्य ॥<br>
वक्तव्या स्यात् पण्डितैरेवमेतत्<br>
प्रत्यक् पूर्णं ब्रह्म वेदान्तवेद्यम् ॥ १८५ ॥

यो यः शब्द इति ॥ यो य इति वीप्सया सर्वे एव, नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभाव इति पद्योक्ता नित्यादिशब्दाः संगृहीताः । यः शब्दो यत्कृते यन्निमित्तमर्थे विषये निरूढो व्युत्पन्नोऽस्य शब्दस्य तत्रैव तस्मिन्नेवार्थे लक्षणावृत्तिः पण्डितैर्वक्तव्या स्यादिति सम्बन्धः । एतदुक्तं भवति । शबले पूर्वोक्तलक्षणे तद्गतसत्यत्वनित्यत्वादिधर्मं पुरस्कृत्य यद्यपि तत्र व्युत्पन्नाः शब्दास्तानेवाभिदधति तथापि न तत्रैव पर्यवस्यन्ति, किन्तु यन्निमित्तमाश्रित्य शबले प्रवर्त्तन्ते तत्रैव तत्पर्यवसानं युक्तम् । यथा गोशब्दो गोत्वसामान्यं निमित्तमुपादाय गोत्वाक्रान्तां व्यक्तिमपि व्य-

वहारदृष्ट्याऽभिदधन्न तत्र पर्यवस्यति, किन्तु प्रवृत्तिनिमित्तभूते गोत्व एवेति हि स्थितिः। तथा सत्यादिशब्दा अपि शबले व्युत्पन्ना आकाशादिप्रपञ्चविषयतया व्यवह्रियमाणा अपि न तस्मिन् पर्यवस्यन्ति। आकाशादीनां तेषां परमार्थतः सत्यत्वनित्यत्वाद्यसम्भवात्। किन्तु येन परमार्थेन सत्याद्यात्मकेनाव्यभिचारिणाऽनुविद्धाः सन्तः सत्यादिपदगोचरा जायन्ते तदेवैकं सत्यादिरूपमिति तत्रैव ते पर्यवस्यन्ति। तस्मात् प्रपञ्चशाबल्यं तस्य सामान्यस्य व्यक्तिशाबल्यवद् व्युत्पत्तिद्वारमात्रमेवेति ॥

एवं स्वार्थपर्यवसानमेवेह लक्षणा वृत्तिर्विवक्षिता वेदेऽर्थप्रतीतेः शब्दसामर्थ्यनिबन्धनत्वात् पुरुषविवक्षानुसारित्वाभावादित्यभिप्रेत्य वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यमेवं सत्युपपन्नमेवेति फलितमाह ॥ एवमेतादिति ॥ एवं सति उक्तप्रकारेण परागर्थप्रपञ्चव्यावृत्तासाधारणस्वरूपत्वे सतीति यावत्। एतद् ब्रह्म प्रत्यक्तया पूर्णमव्यावृत्ताननुगतरूपं त्वम्पदार्थैकत्वान्वययोग्यं वेदान्तवेद्यं वेदान्तैः प्रतिपादितं भवतीत्यर्थः ॥ १८५ ॥

ननु प्रतिपदं लक्ष्यार्थानां सत्यज्ञानादीनां मिथोभेदोऽस्त्युत न। आद्ये ब्रह्मानेकाकारं स्यादिति न निरवग्रहमहत्त्वं तस्य स्यादित्येकरसवाक्यार्थासिद्धिः। द्वितीये त्वेकेनैव पदेन तत्सिद्धेः पदान्तरवैयर्थ्यमितिचेत्तत्राह—

सत्येऽप्यस्ति ज्ञानता ज्ञानतायां
सत्यत्वं च स्पष्टमस्त्येव तद्वत् ॥
सत्यप्येवं नातिरेकात्रकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेः ॥ १८६ ॥

सत्येऽप्यस्तीति॥ अयमर्थः ॥ सत्यादीनां सत्यत्वात्मना

भेदपक्षे न पदान्तरवैयर्थ्यशङ्का युक्ता । यतः सत्यपदेनाऽसत्यबाध्यप्रपञ्चव्यावृत्ततया लक्षितेऽपि ब्रह्मणि तस्य जाड्यव्यावृत्तज्ञानस्वरूपता । तेन न सिद्ध्यति । तथा ज्ञानपदेन स्वविरोधिजडप्रपञ्चव्यावृत्ताकारता समर्प्पणेऽपि ब्रह्मणोऽत्यन्ताऽबाध्यतालक्षणं सत्यत्वं तेन न समर्पितं भवेत् । अतः पदभेद एकार्थपर्यवसायित्वेऽपि नानपेक्षितः । तर्हि भेदः सत्याद्यर्थानामितिप्राप्तम् । तथा सति प्रथमपक्षोक्तदोषस्तदवस्थ इतिचेन्न । यतः सत्ये सत्यपदलक्ष्ये ज्ञानताऽप्यास्ति तद्वज्ज्ञानतायां ज्ञानपदलक्ष्यस्वरूपे सत्यत्वं चास्त्येव।स्पष्टपदमुभयत्र योज्यम् । ज्ञानस्य सत्याद्बहिर्भावे तस्य तुच्छत्वापत्तेर्ज्जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यर्थः। अत एवं परस्परान्तर्भावे सत्यखण्डैकरसवस्तुपर्यवसानं पदानां सिद्ध्यत्येवेति सिद्धम् । अथैवमुच्येत । यद्यप्येवमन्योन्यस्वस्वलक्षितार्थनियामकत्वेनान्योऽन्यस्मिन्नन्तर्भावस्तथापि न सत्यत्वमेव ज्ञानत्वं नापि ज्ञानत्वमेव सत्यत्वमिति तयोर्भेदे भाति सति कथमेकरसार्थसिद्धिरिति, तत्राह ॥

सत्यप्येवं नातिरेकावकाश इति ॥ यद्यप्यनृतत्वविरोधिरूपसत्यत्वस्य जडविरोधित्वरूपज्ञानत्वस्य च परस्परमैकरस्यं नास्ति। एवं सत्यपि सत्यादिपदलक्ष्यस्वरूपे मनागपि नातिरेकाऽवकाशो न भेदशङ्कावकाशः । तथा सति पदानामेकशेष्यर्थतया सामानाधिकरण्यासम्भवप्रसङ्गात् । तथाच जडानृतविरोधित्वरूपयोर्ज्ञानत्वसत्यत्वयोर्भावार्थयोरेवातिरेकः परोपाधिपरिकल्पितत्वाच्चन्द्रत्वादिसामान्यवदपरमार्थयोर्ननिरुपाधिकस्य सर्वकल्पनानास्पदस्य लक्ष्यस्वरूपस्य स्वतः सत्यज्ञानरूपत्वेऽतिरेकलेशोऽप्यस्तीत्यर्थः । कुत एतदित्यपेक्षायां हेतुमाह ॥ पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसत्योपपत्तेरिति ॥ सत्यज्ञानपदाभ्या लक्ष्यमाणं वस्तु-

पूर्णं तत्त्वं तस्मिन् ज्ञानसत्यात्मत्वोपपत्तेरित्यक्षरार्थः । ज्ञानस्य सत्यस्वरूपादतिरेके तस्यानृतत्वापत्तेर्ज्ञानत्वं व्याहन्येत । तथा सत्यस्यापि ज्ञानस्वरूपातिरेकं जडत्वेन शुक्तिरजतादिवत् सत्यत्वं व्याहन्येत । अतः पूर्णे तत्त्वे स्वतो भेदरहिते लक्ष्ये वस्तुनि ज्ञानसत्यरूपतयैकरसत्वं नानुपपन्नमिति भावः ॥ १८६ ॥

यथा सत्यज्ञानपदलक्ष्ययोः परस्परतावन्मात्रत्वं शब्दभेदवैयर्थ्याभावः पूर्णाखण्डैकरसत्वं च तथा ज्ञानानन्दशब्दलक्ष्ययोरप्येतत् सर्वं योज्यमित्याह—

आनन्दत्वे ज्ञानता ज्ञानताया-
मानन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम् ॥
सत्यप्येवं नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे ज्ञानसौख्योपपत्तेः ॥ १८७ ॥

आनन्दत्वे ज्ञानतेति ॥ पदयोजना पूर्ववत् । ज्ञानपदलक्ष्यस्यासुखात्मत्वे तस्यापुरुषार्थत्वापत्तौ वेद्यत्वानुपपत्तिः स्यात् । तथा आनन्दपदलक्ष्यस्यापि ज्ञानस्वरूपातिरेकेऽप्रकाशमानतयाऽसत्तुल्यत्वं, जडतया पुमर्थत्वं वा प्रसज्ज्येतेति तात्पर्यार्थः ॥ १८७ ॥

आनन्दत्वसत्यत्वयोरप्येवं सर्वं योज्यमित्याह—

आनन्दत्वे सत्यता सत्यताया-
मानन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम् ॥
सत्यप्येव नातिरेकावकाशः
पूर्णे तत्त्वे सत्यसौख्योपपत्तेः ॥ १८८ ॥

आनन्दत्वे सत्यतेति ॥ अत्राप्यानन्दस्यासत्यत्वेऽपुरुषा-

ऽर्थत्वेनानुपादेयता सत्यस्याप्यनानन्दत्वे काष्ठलोष्ठादिवदाकिञ्चित्करत्वादनुपादेयतैव स्यादिति भावः ॥ १८८ ॥

ज्ञानानन्दसत्येषूक्तन्यायं शिष्टेषु सप्तसु नित्यशुद्धत्वादिपदार्थेष्वतिदिशति—

शेषेऽप्यूह्यं न्यायसाम्यादशेष-
मन्योऽन्यास्मिन्नास्तिता पूर्णता च ॥
अन्योऽन्यस्याजामिता शब्दशक्ते-
रेवं सुस्थं सर्वमुक्तोपपत्तेः ॥ १८९ ॥

शेषेऽप्यूह्यमिति ॥ किं तदशेषमित्युक्तम् । तदाह ॥ अन्योन्यस्मिन्नास्तिता पूर्णता चेति ॥ अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यस्याऽन्तर्भावेनास्तिता एकैकस्यातिरेकानिराकरणेन पूर्णता च । शेषेऽप्युक्तातिरिक्ते विशेषणगणे न्यायसाम्यादन्योऽन्यस्मिन्नास्तितेत्याद्युक्तमशेषं तत्त्वमूह्यमिति योजना। तथा तत्तदनृतादिविरोध्यऽर्थव्यवच्छेदमुखेनैव तेन तेन सत्यादिशब्देन वस्तुसमर्पणात् पदान्तरावैयर्थ्यं च सर्वत्र द्रष्टव्यमित्याह॥अन्योन्यस्याऽजामिताशब्दशक्तेरिति ॥ पदानामन्योन्यस्य शब्दशक्तेः पदसामर्थ्यस्य जामिता पुनरुक्तता कार्याऽन्तराऽभावेनाऽप्रयोजकता वा नास्तीत्यर्थः । एवमुपपादित ऐकरस्यवाक्यार्थे फलितमुपसंहरति ॥ एवं सुस्थं सर्वमुक्तोपपत्तेरिति ॥ उक्तोपपत्तेः प्रतिपादितन्यायबलादेवं सति दशानामपि पदानां प्रवृत्तिद्वारभेदेऽप्यर्थभेदाभावाद्व्यावर्त्त्याकारविरोध्यर्थभेदेन स्वार्थसमर्पणद्वारभेदादनेकपदावैयर्थ्यात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनापौनरुक्त्याच्च सर्वं सुस्थम् । वस्तुन एकरसत्वं, तस्मिन्नेव वाक्यप्रामाण्यं चेत्येतदस्मन्मतमचालनीयमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

यदेतद्बुद्ध्यादावनात्मनि प्रतीच्यात्मनि च प्रत्यक्त्वादिक-मस्ति तदुभयशबलमात्मादिशब्दवाच्यमिति, बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेकेत्यादौ स्वयमुपपादितेऽर्थे नैष्कर्म्यसिद्धावुक्तां सुरेश्वरा-चार्यसंमतिमर्थतो दर्शयति—

बोधात्मत्वे निर्निमित्ते प्रतीचो
बोधात्मत्वे तन्निमित्ते च बुद्धेः ॥
बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ च बुद्धे-
रुक्ते साक्षाद्वेदसिद्धान्तविद्भिः ॥ १९० ॥

**बोधात्मत्व** इति ॥ प्रतीचो बोधात्मत्वे ज्ञानत्वप्रत्यक्त्वे, निर्निमित्ते निमित्तनिरपेक्षे स्वाभाविके इत्यर्थः । बुद्धेस्तु बोधा-ऽऽत्मत्वे तन्निमित्ते प्रत्यगात्मगतबोधात्मनिमित्ते । स्वाभाविक-बोधात्मकप्रतीचि बुद्धेरध्यस्तत्वात्तस्यां सिद्धे इति वेदसिद्धान्त-विद्भिरुक्ते इति योज्यम् । तथाचोक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ— कूटस्थ-बोधःप्रत्यक्त्वमानिमित्तं सदात्मनः * बोद्धृताऽहंतयोर्हेतुस्ताभ्यां तेनोपलक्ष्यते, इति ॥ अस्यार्थः ॥ चिदात्मनो निर्विकारनित्य-बोधः सर्वान्तरत्वं च क्रमेण । तत्राध्यस्ताया बुद्धेर्बोद्धृत्वात्म-त्वयोर्हेतुः स्वचिदाभासव्याप्त्या तत्र तद्व्यवहारप्रवृत्तिनिमित्तम् । यत एवं तेन हेतुना ताभ्यामागमापायिबुद्धिगताभ्यां बोधात्म-त्वाभ्या तत्कारणरूपकूटस्थबोधप्रत्यगात्मोपलक्ष्यते इति । एते च बोधात्मत्वे बुद्धेर्द्धर्मौ, तस्यां तयोरन्यसम्बन्धनिबन्धनत्वान्न प्रत्यगात्मनस्तस्मिंस्तयोः स्वाभाविकत्वादित्यभिप्रेत्योभयत्रोक्त-योः प्रत्यक्त्वबोधयोर्व्यवस्थामपि संमतयति॥ बोधात्मत्वे बुद्धि-धर्मौ च बुद्धेरिति ॥ बुद्धेर्बोधात्मत्वे बुद्धिधर्मौ बुद्धेर्द्धर्मौ, न स्वभावभूते उक्ते वेदसिद्धान्तविद्भिराचार्यैरित्यर्थः । अत्राप्य-

ऽस्ति तद्वचनं, धर्मधर्मित्वभेदोऽस्याः सोऽपि नैवात्मनो यतः ॥ प्रत्यग्ज्योतिरतो भिन्नं भेदहेतोरसम्भवादिति ॥ अत्राचार्याणां वेदसिद्धान्तवित्पदेन ग्रहणाद्वेदसंमतमस्मदुक्तमिति सूचयति । तथाच श्रुतिः, एष त आत्मा सर्वान्तरः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति चिदात्मनः स्वाभाविकं प्रत्यक्त्वादिकमावेदयति । तथा बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट इति श्रुतिर्बुद्ध्यात्मनोः परस्पराध्यासं परस्परधर्मसाङ्कर्यं च ब्रूते । तथाच प्रत्यगात्मा ब्रह्मात्मा च स्वगतभेदरहिततया निर्विशेषावेवेति युक्तमेवैकरसे वस्तुनि वेदान्तप्रामाण्यमिति भावः। यद्यपि त्वम्पदार्थवाच्य एवैवं शाबल्यमुदाहृताचार्यवचने कण्ठोक्तं तथाप्याकाशादीनां चिदात्मनश्च मिथुनीकरणे सत्यनित्यादिपदानामपि शबलवाचकत्वमभिमतमेवेतिद्रष्टव्यम् ॥ ९० ॥

तदेवं सत्यादिपदानां शबलार्थवाचित्वाङ्गीकारेण जहदजहल्लक्षणयाऽखण्डार्थपर्यवसायित्वमुक्तम् । इदानीमाकाशादिगतमेव सत्यत्वादि सत्यादि पदवाच्यं न शबलमित्यङ्गीकृत्य जहल्लक्षणागुणवृत्तिभ्यामपि सत्यादिपदानामखण्डवस्तुपर्यवसानं तत्त्वमस्यादिवदविरुद्धमिति प्रागल्भ्येनाह—

जहतीह च लक्षणा मता
गुणवृत्तिश्च तथाऽभ्युपेयते ॥
न विशेषविनिर्णयक्षमं
किमपीहास्ति विशेषकारणम् ॥ १९१ ॥

जहती चेति ॥ पूर्वार्द्धं स्पष्टार्थम्। विशेषनिर्णयक्षमं महावाक्योक्तन्यायादित्यध्याहारः ॥ इह सत्यादौ ॥ विशेषकारणं कारणविशेषः ॥ १९१ ॥

ननु यद्यपुनरुक्तार्थैः सत्यादिपदैर्दशभिर्ब्रह्माखण्डं लक्ष्यत इत्यङ्गीक्रियते तर्हीश्वरपदमप्यपुनरुक्तार्थमुपसंह्रियताम् । एष सर्वेश्वरइति ब्रह्मणीश्वरत्वस्यापि श्रवणादिति कस्यचिच्छङ्कामुद्भाव्यापाकरोति—

ऐश्वर्यमप्यनुभवादिवदात्मरूपं
तस्मादबोधगतमस्य च तानि कस्मात् ॥
नेष्टानि पूर्ववदिति ब्रुवतो मुखस्य
सद्यः पिधानमनुसृत्य वचांसि कुर्मः ॥ १९२ ॥

ऐश्वर्यमपीति ॥ अपिशब्दो बोधसत्यादिदृष्टान्तार्थः । अनुभवादिवदैश्वर्यमप्यात्मरूपं स्वाभाविकमेकं तस्मादन्यादिति शेषः । अबोधगतं चिदात्मगतैश्वर्यनिमित्तकमन्यदैश्वर्यमपरम् । अस्य च तदुभयशबलस्य चापरमैश्वर्यमस्ति । तान्यैश्वर्याणि पूर्ववदीश्वरपदव्युत्पत्त्यर्थतया कस्मान्नेष्टानीति शङ्काग्रन्थयोजना। इति ब्रुवत इति निराकरणग्रन्थभागः स्पष्टार्थः ॥ १९२ ॥

कथं वचांस्यनुसृत्याऽस्मन्मुखस्य सद्यः पिधानं कर्त्तुं शक्यते, सत्यादिपदवत् सर्वेश्वरपदस्यापि ब्रह्मवाक्येषु श्रवणाविशेषादितिचेत् । सत्यमस्ति श्रवणम् । किन्त्वपवादश्रुतिवचनात् तदर्थवादतयाऽवतिष्ठत इत्यभिप्रेत्य प्रतिज्ञातमर्थं साधयति—

ऐश्वर्यवर्णनमतिस्फुटमेव कृत्वा
नेतीत्यवादि बहुशः श्रुतिभिः प्रयत्नात् ॥
सत्यादिवस्तुनि पुनर्न तथास्ति पूर्व-
मुक्त्वा निषेधनमितीह विशेषयुक्तिः ॥ १९३ ॥

ऐश्वर्यवर्णनमिति॥अक्षरार्थोऽतिस्पष्टः॥बहुश इत्यस्याय-

मर्थः । बृहदारण्यके तावत्, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्तीत्यादिना ब्रह्मण ऐश्वर्यवर्णनामिति स्फुटं कृत्वा पश्चात् स एष नेति नेत्यात्मेति सर्वं विशेषं तस्मिन् प्रतिषेधति । तथाऽन्तर्यामिब्राह्मणे च सर्वनियन्तृत्वरूपमैश्वर्यमाविष्कृत्याक्षरब्राह्मणे पुनर्न्न तदश्नाति कश्चन न तदश्नाति कश्चन। एतास्मिन्नु खल्वऽक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यादौ प्रतिषेधति । अतोऽन्यदार्त्तमित्यपि पदे पदे ब्रह्मस्वरूपातिरिक्तस्यानित्यत्वप्रतिपादनेन ऐश्वर्यप्रतिषेधो गम्यते । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः समर्पिता इत्यादिना सर्व एत आत्मानः समर्पिता इत्यन्तेन सर्वाश्रयतयैश्वर्यमुपवर्ण्यान्ते तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यद्वयैकात्म्यप्रतिपादनेनैश्वर्यं प्रतिषेधति। तथा छान्दोग्येऽपि तेजोऽबन्नादिकारणत्वेनैश्वर्यं प्रकटीकृत्यैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मेति पदे पदेऽद्वैतात्मत्वमुपसंहरन् ऐश्वर्यं प्रतिषेधति । तैत्तिरीये च, सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् यदिदं किञ्चेति सर्वात्मत्वेनैश्वर्यं प्रतिपाद्य, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दत इति तत् पुनः प्रतिषिध्यते । एवं प्रतिशाखमैश्वर्यप्रतिषेधेनाद्वैताखण्डैकरसत्वेनैवातियत्नेन श्रुतिभिर्ब्रह्मत्वप्रतिपादनान्नैश्वर्यमस्य स्वाभाविकं किन्तु मायातत्कार्योपाधिकृतमेवेत्यर्थः । यथैश्वर्यमुक्त्वा पुनस्तत्प्रतिषिध्यते, न तथा सत्यादिवस्तुनि पूर्वमुक्त्वा प्रतिषेधनं पुनः श्रुतिभिः क्रियमाणमुपलब्धमस्ति । एषा सत्यादीनां स्वाभाविकत्वावधारणे विशेषयुक्तिरित्यर्थः । तस्मात् सत्यत्वादिकं ब्रह्मणः स्वरूपत्वेनैव श्रुतिभिरावेद्यते । ऐश्वर्यं तु व्यावहारिकमर्थवादत्वेनैवेति गम्यत इति

भावः ॥ १९३ ॥

तदेवं सिद्धान्तोपक्रममारभ्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानां सत्यादिपदानां च लक्षणयाऽखण्डे ब्रह्मण्यात्मस्वरूपे समन्वय उक्तः। इदानीं किमित्येवं लक्षणामाश्रित्याखण्डे समन्वय इत्याग्रहः क्रियते, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गादित्याशङ्क्य मुख्यार्थासम्भवे लक्षणाश्रयणेन वाक्यार्थावगमस्य लोके दृष्टत्वादिहापि मुख्याऽर्थासम्भवाल्लक्षणाश्रयणमित्याभिप्रेत्याह—

शब्दस्य लाक्षणिकमुख्यविभागभिन्ना
वृत्तिर्हि लौकिकवचस्युपलब्धपूर्वा ॥
यस्मादतो न घटते यदि मुख्यवृत्ति-
राश्रीयतामिह गिरश्चरमापि वृत्तिः ॥ १९४ ॥

शब्दस्येति॥ मुख्यार्थपरिग्रहे पूर्वं विरोधो दर्शितोऽतश्चरमाऽपि वृत्तिरविरोधायेहाश्रीयत इत्यर्थः ॥ १९४ ॥

यस्मादेवमुक्तयुक्त्या सत्यादिपदानामखण्डब्रह्मणि पर्यवसानं सिद्धम् । तस्मात्तादृग्ब्रह्मपदस्थानीयेन तत्पदेन पारोक्ष्यप्रहाणेनाखण्डब्रह्मणः समर्पणात्त्वम्पदेन चात्मपदस्थानीयेन सद्वितीयत्वादिप्रहाणेन प्रत्यक्चिन्मात्रस्य समर्पणात्तयोश्चैकस्वभावत्वादखण्डार्थे वेदान्तानां समन्वय उपपन्नः संसर्गसमन्वयाऽनभ्युपगमेऽपीत्युपसंहरति—

तस्मादखण्डमवबोधयितुं समर्थो
वेदान्तभूमिगतशब्दसमन्वयोऽतः ॥
संसर्गलक्षणमपास्य विरोधहेतो-
र्वाक्यार्थमद्वयमखण्डमिहाश्रयस्व ॥ १९५ ॥

**तस्मादखण्डमिति** ॥ समन्वयो यत इत्यध्याहारः । अत इह वेदान्तेषु अद्वयमखण्डं वाक्यार्थमाश्रयस्वेति संबन्धः । किं कृत्वा, विरोधाद्धेतोः संसर्गलक्षणं वाक्यार्थमपास्य तत्र दृष्टिं परित्यज्येत्यर्थः ॥ १९५ ॥

यद्येवं केन क्रमेण तर्ह्यखण्डार्थावगतिः । विदितपदपदार्थस्यापि पुंसो न हि प्रथमत एवाखण्डार्थावगमोऽस्तीति तत्राह—

सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागन्वयः
पश्चादेष विशेषणेतरतया पश्चाद्विरोधोद्भवः ॥
उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मके
वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेयः क्रमः सूरिभिः॥ १९६॥

**सामानाधिकरण्यमत्र भवतीति** ॥ प्राथम्यभाक् प्रथमप्रतीतिविषय इत्यर्थः । विशेषणेतरतयाऽन्वय इत्यनुषङ्गः । विरोधोद्भवो विरोधस्फुरणम्।उत्पन्ने च विरोधे तत्परिहारेणैकरसक इति योज्यम् ॥ १९६ ॥

किमेतेऽन्वयाः शब्दानामर्थानां वाऽथवोभयोर्विभागेनेति जिज्ञासायामाह—

सामानाधिकरण्यमत्र पदयोर्ज्ञेयस्तदीयार्थयोः
सम्बन्धस्तु विशेषणेतरतया ताभ्यां सहास्यात्मनः ॥
सम्बन्धोऽप्यथ लक्ष्यलक्षणतया विज्ञेय एवं बुधै-
रेतान्यर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु ॥ १९७॥

**सामानाधिकरण्यमत्र पदयोरिति** ॥ अत्र तत्त्वमस्यादिवाक्ये पदयोस्तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं सबन्धो ज्ञेय इति

सम्बन्धः । एतत् सत्यादिपदानामप्युपलक्षणम् । अपर्याय-पदानामेकार्थवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम् । इह पदयोरेक विभक्त्यन्ततयैकार्थबोधानुगुणव्यापारवत्त्वात् सामानाधिकरण्यं प्रथमं प्रत्येतव्यमित्यर्थः। ततस्तदीयार्थयोर्वाच्ययोर्मिथो विशेषण-विशेष्यभावेन संबन्धो ज्ञेयः । वाक्यवृत्तेरनवगमे वाक्यार्थानव-गमादर्थान्वयावगमस्य पदान्वयावगमानन्तर्यम् । विशेषणविशेष्य-भावो नाम व्यावर्त्तकव्यावर्त्त्यभावः । यतो विशेषणैर्विशेष्यं सजातीयादेर्व्यावर्त्त्यतेऽर्थाद्विशेषणान्यपि तदेकानिष्ठतया नियम्य-न्ते । अन्यथा तद्विशेषणत्वायोगादिति । अथ पूर्वोक्तन्यायेन तत्त्वम्पदवाच्यार्थयोर्विरोधस्फुरणानन्तरं ताभ्यां वाच्यार्थाभ्यां सहास्यात्मनः सत्यज्ञानादिलक्षणस्य सर्वान्तरचिन्मात्रस्य च लक्ष्यलक्षणतया संबन्धोऽपि विज्ञेय इति योजना । अत्र येयं वाच्यार्थलक्षिततया लक्ष्यार्थप्रतीतिः सा पदशक्तितात्पर्यनि-बन्धनेति पदयोर्लक्षणा वृत्तिरुच्यते । यतः पदशक्त्या पदार्थ-प्रतीतौ सत्या विरोधात्तत्रान्वयाप्रतीतौ तात्पर्याभावनिश्चये सति वाच्यार्थेन स्वसंबन्ध्यर्थः पदकदम्बतात्पर्यगोचरतयोपस्थाप्यते । अतः पदवृत्तिर्लक्षणेति ॥ तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ । सामानाधि-करण्यं च विशेषणविशेष्यता * लक्ष्यलक्षणसंबन्धः पदार्थप्रत्य-गात्मनामिति॥ अत्रत्यं बहुवचनं पदार्थयोः प्रत्यगात्मनश्चेति वा पदशब्देन पदद्वयमर्थशब्देन च तद्द्वयं विवक्षित्वा वा योज्यम् । अयं च क्रमो बुद्धिमद्भिरादरणीय एवेत्याह ॥ एवं बुद्धेरिति ॥ एवमुक्तक्रमेणैतानि सामानाधिकरण्यादीनि अर्थपदानि अर्थस्य प्रतिपत्तिस्थानानि बुधैर्बुद्धिमद्भिर्बुद्धिपदवीमारोहणीयानि बुद्धौ धारणीयानि । तुशब्दोऽवधारणार्थः । नैव विस्मर्त्तव्यानी-त्यर्थः ॥ १९७ ॥

ननु, यो यः शब्दो यत्कृतेऽर्थे निरूढ इत्यत्रात्मगतमेव प्रत्यक्त्वादिकं प्रयोजकीकृत्य सत्यादिपदानां तत्र तत्राकाशादिषु प्रवृत्तिरिति भवतोक्तम् । एवञ्चेद्यन्निमित्तीकृत्यान्यत्रार्थे व्युत्पत्तिस्तत्रैव कस्मात् सत्यादिपदानां व्युत्पत्तिर्नाश्रीयत इतिचेत्, आश्रीयत एव । यतो व्युत्पत्तिकाले यद्यपि प्रतीच्येव शब्दशक्तिः स्वाभाविकी, तथापि तदाविवेकानवगमादेव शबले व्युत्पत्तिः पूर्वं प्रतिष्ठापितेति न विरोध इत्युत्तरमाह—

निःसन्धिबन्धनमिदं चिदचित्स्वरूपं
सङ्कीर्णमन्तरपरिस्फुरणेन शून्यम् ॥
आचित्तशुद्धिफलतः स्फुरितोपपत्तेः
शब्दार्थसङ्गतिमिहैव तु गृह्णतेऽज्ञाः ॥ १९८ ॥

निःसन्धिबन्धनमिति ॥ आचित्तशुद्धीत्यत्राङ् मर्यादार्थः चित्तशुद्धेः फलभूतायाः स्फुरितोपपत्तिरात्मानात्मविवेकनियामिका, तां मर्यादीकृत्य तादृगुपपत्त्यनुसन्धानात् पूर्वमज्ञा बाला इहैव शबल एव शब्दार्थसङ्गतिं गृह्णते । तुशब्दः पादपूरणार्थः । कुत इत्यपेक्षायामिहेत्युक्तम् । शबलं विशिंषन्नविवेकं तत्र स्फुटयति, निःसन्धीत्यादिभिर्विशेषणैः । इदं चिदचित्स्वरूपं सङ्कीर्णं परस्परं सङ्कीर्णतयैव गृह्यमाणं यतोऽन्तरपरिस्फुरणेन रूपभेदप्रतिभासेनापि शून्यमत्यन्तमेकरसमिवावभासमानमिति यावत् । यतो निःसन्धि यथा स्यात्तथा बन्धनं मिलनं यस्य तत्तथोक्तम् । सन्धिर्बन्धनज्ञानस्थानं तेन रहितम् । अनयोर्बन्ध एतादृश इति रेखामात्रेणापि न ज्ञातुं शक्यत इत्यर्थः ॥ १९८ ॥

एवं तर्हि विवेकिनामेव सत्यादिशब्दव्युत्पत्तिरस्तु किमऽविवेकिजनव्युत्पत्तिव्युत्पादनेनेत्यत आह—

शब्दार्थसङ्गतिविदामथ सत्त्वशुद्धे-
रुत्पन्नतर्कदृढलोहशलाकया तु ॥
दृश्यं दृशं च निपुणं द्वयमन्तरेण
निक्षिप्तया दृगदृशोः क्रियते विभागः ॥ १९९॥

शब्दार्थसङ्गतिविदामिति ॥ प्रथमं शबले शब्दार्थ-सङ्गतिविदा मध्येऽथानन्तरं कैश्चित् पुरुषवरैर्दृगदृशोर्विभागः क्रियते इति सम्बन्धः। केन साधनेनेति, तदाह ॥ सत्त्वशुद्धे-रित्यादिना ॥ सत्त्वमन्तःकरणं, तस्य शुद्धिरनेकजन्मानुष्ठित-निजकर्मतोषितेश्वरानुग्रहकृतप्रसादः । तादृशायाः सत्त्वशुद्धे-र्निमित्तभूताया उत्पन्ना या तर्करूपा विचारात्मिका दृढाऽबाधिता लोहशलाका तया । किं विषयव्यापारया दृश्यं दृशं चेति द्वयमन्तरेण चिज्जडयोर्द्वयोर्मध्ये निपुणं सुप्रयुक्तं यथा स्या-त्तथा निक्षिप्तयेति। तथाच व्युत्पन्नानामपि पुरुषाणां यदा शुद्धा-न्तःकरणतया सम्यग्विचारे प्रवृत्तिर्येषां भवति तैरेव शास्त्र-तात्पर्यविद्भिरात्मानात्मनोर्विवेकः क्रियते इति न व्युत्पत्तिकाले विवेकः कस्याऽप्यस्त्यतो विवेकिनामेवेह व्युत्पत्तिरस्त्विति न शङ्कावकाश इति तात्पर्यार्थः ॥ १९९ ॥

यदि व्युत्पत्तिकाले सर्वथैव विवेकाभावस्तर्हि कथमव-गम्यते शबले व्युत्पत्तिरिति, तत्राह—

शुद्धयुत्थतर्कजनित चिदचिद्विभाग
प्राप्य स्थिताः पुनरिमां गिरमुद्गिरन्ति ॥
सत्यादिशब्दगण एष तु तत्र तत्र
व्युत्पत्तिमान् शबलवस्तुनि नो दृशीति ॥२००॥

शुद्ध्युत्थतर्कजनितामिति॥ चित्तशुद्धिप्रभावप्रवर्त्तितविचारजनितचिदचिद्विवेकं प्राप्य ये स्थितास्ते पुनर्विवेकानन्तरमिमां गिरमुद्गिरन्ति कथयन्ति ॥ एष सत्यादिशब्दगणस्तु तत्र तत्र शबलवस्तुनि व्यत्पत्तिमान्, नो दृशि केवले इति इमां गिरमुद्गिरन्तीत्यर्थः । तथाच शुद्धान्तःकरणानामुत्तरकालभाविदृग्दृश्यविभागज्ञानमपेक्ष्य व्युत्पत्तिः पुरा शबले जातेति निश्चीयते । तस्माद् युक्तमुक्तं सत्यादिपदानां चिदात्मनि शबलद्वारैव व्युत्पत्तिरिति भावः ॥ २०० ॥

एवमविवेकापन्ने वस्तुनि व्युत्पत्तेः साधनाच्छबले व्युत्पत्त्यङ्गीकारेऽनेकत्र शक्तिकल्पनाप्रसङ्ग इत्ययमपि दोषः परिहृत इत्याह—

एकत्र शक्तिग्रहणोपपत्ता
वनेकक्लृप्तिः क्रियते किमर्थम् ॥
इत्येतदेवं सति नास्ति चोद्यं
पुराऽस्य पुंसः परमाविवेकात् ॥ २०१ ॥

एकत्र शक्तिग्रहणेति ॥ पुरा विवेकोदयात् पूर्वं पुंसो व्युत्पित्सोः परमा विवेकादत्यन्तमविवेकादेकत्वेनैवार्थप्रतिभानादिति हेत्वर्थः । अन्यत् सुगमम् ॥ मिथ्याभूते दृश्ये न सत्यादिशब्दपर्यवसानम् । किन्तु तदधिष्ठाने दृगात्मन्येवेति नानेकत्र शक्तिकल्पनं परमार्थत इति भावः ॥ २०१ ॥

नन्वस्त्वेवं व्युत्पत्तिमार्गस्तथाप्यात्मनि कथं लक्षणा वृत्तिरुपपद्यते इति शिष्याक्षेपमुत्थापयति—

अत्राह वाच्यशबलान्वितवस्तुनीयं

तद्धर्मेना भवति लाक्षणिकी प्रवृत्तिः ॥
किं वा तदन्वितविलक्षणवस्तुनि स्या-
च्छब्दस्य नोभयमपि प्रतिभाति युक्तम् ॥ २०२ ॥

अत्राहेति ॥ वाच्यं यच्छबलं तदन्विते तत्सम्बन्धिनि वस्तुन्यात्मनीयं लाक्षणिकी प्रवृत्तिस्तद्धर्मेना शबलसम्बन्धद्वारेण किं भवतीति योजना । कि वाच्यार्थसम्बन्धित्वेनात्मा लक्ष्य इत्येकोऽयं विकल्प उक्तः । कल्पान्तरमाह ॥ किं वेति ॥ शबलान्वितविलक्षणमसम्बद्धयद्वस्त्वात्मा तस्मिन् वा किं शब्दस्य लाक्षणिकी प्रवृत्तिरिति द्वितीयाविकल्पयोजना । कि वा वाच्यार्थासम्बन्ध्येवात्मा लक्ष्यत इत्यर्थः। विकल्पद्वयदूषणं प्रतिजानीते ॥ नोभयमपीति ॥ २०२ ॥

कथं युक्तं न प्रतिभातीत्यपेक्षायामाद्यं पक्षमनूद्य दोषमाह—

संबन्धिरूपं यदि वस्तु लक्ष्य-
मखण्डवाक्यार्थमतिः कुतस्त्या ॥
अनन्वितं वस्तु पदार्थलक्ष्यं
न लक्ष्यते कुत्र चिदत्र लोके ॥ २०३ ॥

सम्बन्धिरूपमिति ॥ सम्बध्याकारवत्तया लक्ष्यत्वे लक्षणाया विशिष्टविषयत्वादखण्डवाक्यार्थसिद्धिर्दूरापास्तेत्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह ॥ अनन्वितमिति ॥ लोके वाच्यार्थासम्बद्धे लक्षणाया अदर्शनाद्वेदेऽपि तत्र सा न युक्तेत्यर्थः ॥ २०३ ॥

उत्तरमाह—

पूर्वक्षणे भवति वाच्यपदार्थभाग-

भागित्वसंगतिरिहात्मनि निर्विभागे ॥
मोहोपदर्शितवपुर्घटते ततोऽस्मि-
ञ्च्छब्दस्य लाक्षणिकवृत्तिरदोषदुष्टा ॥ २०४ ॥

पूर्वक्षण इति ॥ इह निर्विभागेऽप्यात्मनि पूर्वक्षणे वाक्यार्थ-प्रतीतेः पूर्वकाले मोहोपदर्शितवपुः अविवेकप्रतिभासिताऽऽकारा वाच्यपदार्थभागभागित्वसङ्गतिर्भवतीत्यन्वयः । वाच्यभागस्या-ऽनात्मांशस्य यो भागस्तेन यद्भागित्वं तद्रूपा सङ्गतिर्वाच्यार्थैक-देशेनाविवेकदशायामात्मनोऽप्येकदेशित्वेनावास्तवः सम्बन्धो-ऽस्तीत्यर्थः । समुदाये व्युत्पन्नस्य शब्दस्यैकदेशवृत्तितया भाग-लक्षणाया एवेहाङ्गीकाराल्लक्ष्यभागस्य चात्मनः स्वत एकरस-त्वादखण्डवाक्यार्थता घटते इत्याह ॥ घटते तत इति ॥ यत एवमुक्तप्रकारेण वाच्यार्थसम्बन्धः संभवति ततोऽस्मिन्नद्वितीये प्रत्यगात्मनि लाक्षणिकवृत्तिर्दोषदुष्टेत्यर्थः ॥ २०४ ॥

ननु कल्पितो वा वास्तवो वाऽस्तु सम्बन्धः, सर्वथा मुख्या-ऽर्थसम्बन्धितयैव लक्ष्यार्थावगातिरिति पूर्वक्षण इवोत्तरक्षणेऽपि सम्बन्धस्यावस्थानादखण्डार्थासिद्धिदोषतादवस्थ्यमित्यत आह—

संबन्धिता भवति लाक्षणिप्रवृत्तेः
सर्वत्र कारणमितीदमभीष्टमेव ॥
संबन्धिताकरणमेव तु लाक्षणिक्या
बुद्धेरनिष्टमिह तद्व्यभिचारदृष्टेः ॥ २०५ ॥

सम्बन्धिता भवतीति ॥ लाक्षणिकप्रवृत्तेः सर्वत्र लोके वेदे वा सम्बन्धिता कारणमिति यदुच्यते इदमस्माकमप्यभीष्टमे-व । न वयं सबन्धितां लक्ष्यस्यापाकुर्मह इत्यर्थः । तर्हि कथम-

ऽखण्डार्थत्वासिद्धिस्तत्राह ॥ सम्बन्धिताकरणमिति ॥ इह वाक्ये लाक्षणिक्या बुद्धेः सम्बन्धिताकरणमेव त्वनिष्टमिति योजना । सम्बन्धित्वाकारेण वस्तु लक्ष्यते । किन्तु सम्बन्धोपलक्षितस्वरूपेणैव । तथाच कल्पितसम्बन्धेनैव द्वारेण केवलस्य लक्ष्यमाणत्वादखण्डविषयैव वाक्योत्था बुद्धिर्मोहस्य च तदानी विलयात्तत्कल्पितसम्बन्धोऽपि पूर्वक्षण एवाभून्नोत्तरक्षणे पुनरस्ति । देवदत्तस्येव तदेतद्देशकालवैशिष्ट्यमिति भावः । ननु गङ्गाया घोष इत्यादौ सम्बन्धिताकरणस्यापि दृष्टत्वात् कथं सम्बन्धोपलक्षितमेव लक्षितमिति निश्चीयत इतिचेन्मैवं, व्यभिचारादित्याह ॥ तद्व्यभिचारदृष्टेरिति ॥ लक्षणास्थले सम्बन्धिताकरणस्य व्यभिचारदर्शनादित्यर्थः ॥ २६५ ॥

कुत्र व्यभिचारदृष्टिरिति, तत्राह—

यत्रैष काक इदमेव तु देवदत्त-
वेश्मेति लाक्षणिकवृत्तिरिहाभ्युपेता ॥
काकास्पदत्वमवधीर्य तथापि वेश्म-
मात्राकृतिर्भवति लाक्षणिकी तु बुद्धिः ॥ २०६ ॥

यत्रैष काक इति ॥ पूर्वार्द्धान्वयो यथापाठ इव ॥ इह लोके॥यद्यपि काकाधिकरणं देवदत्तवेश्मेति देवदत्तवेश्म लक्ष्यतें तथापि काकास्पदत्वमवधीर्य काकसंबन्धित्वविशेषं विहाय वेश्ममात्राकृतिरेव लाक्षणिकी बुद्धिर्भवतीति उत्तरार्द्धयोजना । काकसम्बन्धोपलक्षितं वेश्मैव लक्ष्यते । सम्बन्धस्य वेश्मानन्तर्भूतत्वात् । अन्यथा काकसम्बन्धविगमे वेश्मैकदेशभङ्गप्रसङ्गादिति भावः ॥ २०६ ॥

उपलक्षणादस्मात् स्वरूपलक्षणे विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्या

तत्रापि न विशेषोऽस्तीत्युदाहरणमाह—

सोऽयमित्यपि पदार्थरूपकं
लक्षणं यदुपलक्षणं हि तत् ॥
अंशिता यदि पदार्थलक्ष्ययो-
र्गृह्यते ननु पुनर्विरोधिता ॥ २०७ ॥

सोऽयमित्यपीति ॥ सोऽयं देवदत्त इति वाक्येऽपि यत्पदार्थरूपकं पदार्थस्वरूपात्मकं लक्षणं तदप्युपलक्षणमेवेत्यभ्युपेयमित्यर्थः । विपक्षे दोषमाह ॥ अंशिता यदि पदार्थलक्ष्ययोरिति ॥ वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोर्यद्यंशिता अंशांशिता गृह्यते वाच्यार्थांशसंबन्धविशिष्टएवयदिलक्ष्यार्थोलक्षणया गृह्यते इत्यर्थः तदा पुनः पूर्ववन्ननु निश्चितं विरोधिता तदवस्थेत्यर्थः ॥ २०७ ॥

यदुक्तं पूर्वपक्षावसरे संसर्गार्थतया वाऽखण्डार्थतया वा न ब्रह्मात्मनि वेदान्तप्रामाण्यमिति । तदेवमुक्तयुक्तिभिरखण्डार्थत्वसमर्थनेन परिहृतम् । यत् पुनरुक्तं, नाखण्डवस्तुविषया वचसः प्रवृत्तिर्लोकेऽपि दृष्टिपथमापतितेति क्वाप्यखण्डार्थतैव नास्तीति तदप्युक्ताखण्डार्थयुक्त्या परिहृतमेवेत्युक्तार्थमुपसंहरति अधिकं च तत्र विवक्षन्—

एवं तावल्लक्षणावृत्तिहेतो-
रानीतैषाऽखण्डवाक्यार्थबुद्धिः ॥
मुक्त्वापीमां लक्षणावृत्तिमेषा
वक्तुं शक्येत्युच्यतेऽनन्तरेण ॥ २०८ ॥

एवं तावदिति ॥ एषाऽखण्डवाक्यार्थबुद्धिरानीता, अतो नोक्तदोषः कोऽप्यस्मन्मत इति शेषः । अधिकाविवक्षां प्रतिजा-

नीते ॥ मुक्त्वापीमामिति ॥ इमामुक्ता लक्षणावृत्तिं मुक्त्वा त्यक्त्वाऽप्येषाऽखण्डवाक्यार्थबुद्धिर्वक्तुं शक्येत्यनन्तरेण पद्येनोच्यत इति योजना । विनापि लक्षणावृत्तिमपुनरुक्तशब्दानामखण्डार्थत्वं लोकेऽपि वक्तुं पार्यत इत्यर्थः ॥ २०८ ॥

अत्राखण्डार्थत्वे केनापि विवादो न कर्त्तव्य इति दर्शयितुमिदमुदाहरणं तावदाह—

भिन्नाभिन्नरवौ घटादिवचसा साकं समुच्चारिता-
वन्यूनानधिके घटादिविषये तावत् प्रवृत्तौ तत्र ॥
नो चेद्विश्वसृजोऽपि दुष्परिहरा भेदादिमालाऽऽगता
भेदादेरपि तत्र वाच्यमपरं भेदादिक स्यादिति ॥ २०९ ॥

**भिन्नाभिन्नरवाविति** ॥ भिन्नाभिन्नशब्दौ घटादिवचसा साकं भिन्नो घटोऽभिन्नो घट इत्येवं समुच्चारितौ घटादिविषयेऽन्यूनानधिके घटादिप्रातिपदिकमात्रे तावत् प्रवृत्तौ। अतोऽस्मिन् वाक्ये पदद्वयात्मके विनाऽपि लक्षणामखण्डार्थता दृष्टेत्यर्थः । भिन्नाभिन्नशब्दार्थयोर्भेदाभेदयोर्घटादिस्वरूपाद्भेदाभ्युपगमे दोषमाह ॥ तव, नो चेदिति ॥ भेदादिशब्दस्य वस्तुतन्मात्रत्वं चेन्नाभ्युपेयते तदा तवैवं भेदवादिनो भेदादिमाला परम्परा विश्वसृजो ब्रह्मणोऽपि दुष्परिहरा अनिवार्या आगता । अनवस्था प्राप्तेत्यर्थः । कथमिति तामुपपादयति ॥ भेदादेरपीति ॥ भेदस्य तावद्धर्मिणो भेदे घटपटयोर्भेदवद्धर्मद्धर्मिभेदस्य ततोऽतिरेकस्यावश्यम्भावात्तस्यापि पूर्वभेदवद्भिन्नत्वाद्भेदान्तरभेद्यतेत्येवं तत्र तत्र भेदेऽपरो भेदो वाच्यः स्यादिति । तथाऽभेदपक्षेऽपि यद्यभेदो धर्मो धर्मिणो भिद्यते तदा न तद्वशात्तयोरभेदबुद्धिः स्यात् । भिन्नेनैक्यप्रतीतेर्भ्रमत्वात् । तथाचाभेद-

धर्मिणोर्द्धर्मधर्मिभावासिद्ध्यर्थमभेदान्तरस्येष्टव्यत्वादनवस्थादोष-स्तदवस्थ इति तत्परिहाराय भेदाभेदयोरपि वस्तुतावन्मात्रत्व-मङ्गीकार्यमित्यखण्डार्थत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ २०९ ॥

एवञ्चेद्भिन्नाभिन्नपदयोर्घटपदेन सह पर्यायत्वप्रसङ्गात् सह-प्रयोगायोग इत्याशङ्क्य प्रवृत्तिनिमित्तभेदान्नैवमित्याह—

परस्पराभावमुपाददानो
निमित्तमर्थेषु हि भिन्नशब्दः ॥
प्रवर्त्ततेऽन्ये तु घटादिशब्दा
निजं निजं वाच्यमुपाददानाः ॥ २१० ॥

परस्पराभावमिति ॥ भिन्नशब्दः परस्पराभावं निमित्त-मुपाददानो ह्यर्थेषु घटादिषु प्रवर्त्तते । अन्ये तु घटादिशब्दा निजं निजं वाच्यं घटत्वादिकं निमित्तमुपाददाना अर्थेषु प्रवर्त्तन्त इति योजना । परस्पराभावो भिन्नशब्दस्य तटस्थ एव निमित्तं, न तु घटत्वादिवद्वाच्यत्वेनेति द्रष्टव्यम् । अन्यथाऽखण्डार्थत्वासिद्धेरिति भावः ॥ २१० ॥

अभिन्नशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—

परस्पराभावविहीनभावा-
दभिन्नशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः ॥
घटस्वरूपैकनिबन्धनात्तु
घटादिशब्दस्य घटे प्रवृत्तिः ॥ २११ ॥

परस्पराभावविहीनभावादिति ॥ विहीनभावान्निमि-त्तादिति योज्यम् । घटस्वरूपं घटप्रातिपदिकार्थः, घटत्वं वा ।

तन्मात्रनिबन्धनेत्यर्थः । घटे घटादौ प्रवृत्तिरित्यर्थः । अन्यत् सुगमम् । अत्रापि परस्पराभावविहीनताया भावस्वरूपमात्रत्वात्तस्या वाच्यतया निमित्तत्वेऽपि नाऽखण्डार्थत्वविरोध इति द्रष्टव्यम् ॥ २११ ॥

विनापि लक्षणामखण्डार्थत्व उदाहरणमुक्त प्रतिपाद्यैकपद-लक्षणयाप्यखण्डार्थत्वमाह—

अबोधनाशश्चितिरित्यमुष्मिन्
पदद्वये त्वे करसात्मनिष्ठे ॥
अगौणमेकं पदमन्यदत्र
द्वितीयवृत्तीतरसङ्गमाय ॥ २१२ ॥

अबोधनाश इति॥ अज्ञाननाशश्चितिरिति समानाधिकृतेऽस्मिन् पदद्वये तुशब्दः पूर्वोदाहरणाद्विशेषमस्य द्योतयति । किंलक्षणे ? ॥ एकरसात्मनिष्ठे ॥ सामानाधिकरण्यादेकरसात्मवस्तुमात्रनिष्ठे इत्यर्थः । अत्रास्मिन् पदद्वये, एकं पदमगौणं स्वार्थे मुख्यवृत्तिकम् । अन्यत् पदमत्र वाक्ये इतरसङ्गमायाऽर्थान्तरसिद्धये, द्वितीयवृत्ति लक्षणावृत्तिमदित्यर्थः ॥ २१२ ॥

किमत्र मुख्यं, किं वा लाक्षणिकमित्यत आह—

अज्ञाननाशपदमत्र हि मुख्यमिष्टं
त्विद्यानिबन्धननिवृत्तिसमर्पकत्वात् ॥
तेनान्वयायचितिवाचि पद स्ववाच्ये
सौत्वं समुज्झति मतेः परिणामरूपम् ॥ २१३ ॥

अज्ञाननाशपदमिति ॥ अज्ञाननाशपदस्य मुख्यत्वे हेतु-

माह ॥ विद्यानिबन्धनेति ॥ विद्यानिबन्धननिवृत्तेरधिष्ठानमात्रत्वादज्ञाननिवृत्तिरधिष्ठानचित्स्वरूपान्नातिरिच्यत इति वाक्यजन्यबुद्धिवृत्त्युपाधिना मुख्यवृत्त्याज्ञाननाशपदं चिति वर्त्तते । तथाच विद्यानिबन्धना वाक्यजन्यधीवृत्तिनिमित्तका या निवृत्तिस्तया समर्पणं विषयनिवेशो यस्य तत्पदं तथोक्तं तस्मादित्यर्थः । चिति वाचिपदं मतेः परिणामरूपमिति सम्बन्धः । मतिपरिणामशबलवाचिपदमित्यर्थः । इदं तु पदं तेनाज्ञाननाशपदेनाऽन्वयाय सामानाधिकरण्याय सौवं स्वस्येदं सौवं स्ववाच्याकारमर्थं समुज्झति त्यजति । जहदजहल्लक्षणया पदान्तरेण समानाऽर्थं भवतीत्यर्थः ॥ २१३ ॥

नन्वेतदयुक्तं, यच्चैतन्यवाचित्वेन प्रसिद्धं तल्लक्षणया वर्त्तते । निवृत्तिवाचकं तु पदं मुख्यवृत्त्येतिचेत् । विधायकपदानां शबले व्युत्पन्नानां मत्यङ्गमात्रे मुख्यवृत्त्ययोगान्निषेधपदानामध्यारोपितनिवृत्तिमात्रार्थत्वादारोपितनिवृत्तेश्चाधिष्ठानमात्रत्वादधिष्ठानात्मनि वृत्तिरुपपद्यत इति परिहरति—

विधिपदानि हि भागसमर्पणा-

दपरभागनिराकरणादपि ॥

अविषयात्ममतिं जनयन्ति नो

न तु मृषार्थनिवृत्तिगिरस्तथा ॥ २१४ ॥

**विधिपदानीति** ॥ सत्यं ज्ञानमित्यादीनि विधिपदानि हि स्ववाच्यशबलस्यैकदेशस्य समर्पणाद्भागान्तरस्य परित्यागाच्च भागलक्षणया नोऽस्माकमविषयात्ममतिं जनयन्ति । मृषाऽर्थनिवृत्तिपरा गिरस्तु न तथा न लक्षणयाऽविषयात्मनि वर्त्तन्त इति योजना । परोपाध्यपेक्षयैवात्मनो निवृत्तिरूपत्वाभिधानात्

स्वेन रूपेण तस्य न निवृत्तिरूपता। स्वरूपस्यान्यानपेक्षत्वादतो निवृत्त्यात्मना परापेक्षेण वाच्यत्वेऽपि निरपेक्षेणस्वरूपेण वाच्यत्वोपपत्तेरविषयत्वविशेषणमात्मनो न विरुद्धमिति भावः॥२१४॥

पुनरपि लक्षणां विनैवाखण्डार्थत्व उदाहरणान्तरमाह—

भेदो भिन्नश्चातिरेकोऽतिरिक्तो-
ऽभेदोऽभिन्नः संविदः स्वप्रकाशाः॥
इत्येतस्मिन् विद्यते नार्थभेदो
वेदान्तानामप्यखण्डस्तथार्थः॥ २१५॥

**भेदो भिन्न इति**॥ अतिरेको नाम भेदाभेदात्मकत्वनिर्वाहको धर्मविशेषः। भेदातिरेकपदयोर्भिन्नातिरिक्तपदयोश्च सामानाधिकरण्येनैकरसार्थता तावदभ्युपगन्तव्या। न चेह पदाऽर्थयोर्विशेषणविशेष्यभावरूपससंर्ग एव वाक्यार्थो नाखण्डाऽर्थ इति वाच्यम्। स्वरूपभेदवादिनं प्रत्यस्य उदाहरणात्। तेन चानवस्थादिदोषभयात् स्वरूपतावन्मात्रताया भेदस्येष्टत्वादिति तात्पर्यार्थः। भिन्नाभिन्नरवाविति पूर्वोक्तमुदाहरणं धर्मभेदवादिनं प्रतीति ज्ञेयम्। संविदः स्वप्रकाशा इति पदद्वयेऽपि पूर्ववदखण्डार्थतावगम्यते। यतः स्वप्रकाशपदेनाऽपि संविदेवाभिधीयते। न हि संविदातिरिक्तः प्रकाशपदाऽभिधेयोऽर्थोऽस्ति। तदन्यस्य सर्वस्य जडत्वात् स्वश्चासौ प्रकाशश्चेति समासार्थोऽपि स एव, नान्यो लभ्यते। तथाच संविदः स्वप्रकाशत्वमभ्युपगन्छतामास्मिन् वाक्येऽखण्डार्थत्वमभिमतमेवेति। इत्येवमुक्तप्रकारेणैतस्मिन्, भेदो भिन्न इत्यादिवाक्येऽर्थभेदो न विद्यते यथा तथा वेदान्तानामप्यखण्ड एवार्थोऽस्त्वित्यर्थः॥ २१५॥

एवं वेदान्तवाक्यानां न्यायवशेनाखण्डार्थत्वं साधयता संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाखण्डार्थः क्वापि दृष्ट इत्युक्तवाक्यार्थस्याखण्डेतरनिष्ठत्वनियमोऽपोदितः। इदानीं न्यायसिद्धमेवाखण्डार्थत्वमभियुक्ततरपाणिन्याचार्यसम्मत्याऽपि द्रढयति—

एवं तावदखण्डवस्तुविषये शब्दान्वयो दर्शितो
लोके दृष्टनयेन पाणिनिवचोऽप्यस्यैव ससूचकम् ॥
येनायं स्मरति प्रकृत्यभिहिते वृक्षादिके केवले
तन्मात्रे प्रथमेतिसूत्रवचसैवाद्यां विभक्तिं मुनिः ॥२१६॥

एवं तावदिति ॥ दृष्टनयेनेत्यन्त उक्तार्थानुवादः । अस्योक्तर्थस्याखण्डवाक्यार्थस्य पाणिनिवचोऽपि संसूचकमस्त्येवेति योजना । तदेवार्थतोऽनुक्रामति ॥ येनेति ॥ यस्मादित्यऽर्थः। तन्मात्रे प्रथमेति, प्रातिपदिकार्थे प्रथमेति सूत्रार्थः संगृहीतः। यस्मादयं मुनिस्तन्मात्रे प्रथमेति सूत्रवचसा प्रकृत्याभिहिते प्रातिपदिकोक्ते वृक्षादिके केवले प्रत्ययार्थान्तरासंस्पृष्टे प्रथमाविभक्तिरिति स्मरत्येव । तस्मात् पाणिनिवचोऽप्यस्यैव संसूचकमिति योजना । प्रातिपदिकप्रथमाविभक्त्योरखण्डार्थतापाणिनेरपि सम्मतेत्यर्थः ॥ २१६ ॥

एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थविषयं प्रामाण्यं युक्त्याऽभियुक्तसंमत्या चोपपाद्य वेदान्तसूत्रकारैरप्ययमेवार्थः समन्वयसूत्रे निरूपित इति प्रदर्शयितुं सूत्रगतसमन्वयपदार्थं तावदाह—

सामानाधिकरण्यमन्वयगिरा हेतुं वदत्यादरात्
तस्यैवाथ विशेषणं समिति च व्यावृत्तये गृह्यते ॥
गौणान्मुख्यमयं भिनत्ति भगवान् व्यावर्त्तकेनामना

नीलेनोत्पलवस्तुवत् स्फुटतरं द्वैविध्यसद्भावतः ॥२१७॥

सामानाधिकरण्यमन्वयगिरेति ॥ तत्तु समन्वयादितिसूत्रे तुशब्दो वेदान्तानामर्थान्तरपरत्वशङ्काव्यावर्त्तकः। तच्छब्दः प्रतिज्ञार्थः। तद्ब्रह्म जन्मादिसूत्रे लक्षितं, शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रे शास्त्रैकगम्यत्वेन चोक्तं यत्तदेव वेदान्तप्रमेयम्। तत्प्रमेयका एव वेदान्ता इति प्रतिज्ञावाक्यार्थः। तत्र हेतुः॥ समन्वयादिति॥ तत्र सोपसर्गस्य हेतुपदस्यार्थं विविच्य कथयति अन्वयगिरा सामानाधिकरण्यं हेतुमादराद्वदति। अन्वयादिति पदेन तत्त्वम्पदयोः सत्यादिपदानां प्रत्येकं ब्रह्मपदेन च सामानाधिकरण्यादिहेतुं वदतीत्यर्थः। ब्रह्मात्मैक्ये तात्पर्यग्राहिभिर्लिङ्गैर्वाक्यानां तात्पर्यावगमादित्युक्तं भवति। तत्र समुपसर्गस्यार्थं सप्रयोजनमाह॥ तस्यैवेति॥ अनेन कुतः किं व्यावर्त्यत इत्यपेक्षायामाह॥गौणादिति॥ अयं भगवान् बादरायणाऽऽचार्योऽमुना विशेषणेन गौणात् सामानाधिकरण्यान्मुख्यं सामानाधिकरण्यं भिनत्ति व्यावर्त्तयति। व्यावृत्तिमात्रे दृष्टान्तो, नीलेनोत्पलवस्तुवदिति॥ सामानाधिकरण्ये गौणमुख्यभेदासिद्धौ कथमिदं गौणव्यावृत्त्यर्थमित्यत आह॥ स्फुटतरद्वैविध्यसद्भावत इति॥ सामानाधिकरण्यस्येति शेषः॥ २१७॥

द्वैविध्यमेव स्फुटयति—

तद्धि द्विधैकाधिकरण्यमुक्तं
गौणं च मुख्यं च विविच्य सद्भिः॥
संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणं
मुख्यं त्वखण्डार्थनिविष्टमाहुः॥ २१८॥

तद्धीति ॥ ऐकाधिकरण्यं सामानाधिकरण्यं किं गौणं, किं वा मुख्यमिति तदाह ॥ संसर्गरूपार्थेति ॥ २१८ ॥

संसर्गार्थनिवेशिनोऽखण्डार्थनिवेशिनश्चान्वयस्य सामानाधिकरण्यविशेषत्वं दर्शयितुं सामानाधिकरण्यस्य सामान्यलक्षणमाह—

आदाय नानाविधकारणानि
गिरामथैकत्र तु या प्रवृत्तिः ॥
तामाहुरैकाधिकरण्यनाम्ना
विपश्चितो वेदशिरःसु विप्राः ॥ २१९ ॥

आदायेति ॥ नानाविधकारणानि विभिन्नानि प्रवृत्तिनिमित्तानीत्यर्थः । गिरां बह्वीनामेकत्रार्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यमित्युक्ते पर्यायशब्देष्वतिव्याप्तिरतो नानाविधकारणान्यादायेत्युक्तम् । एकत्रेतिपदपरित्यागेन चोक्ते लक्षणे वैयधिकरण्यप्रसङ्ग इति तद्वारणायैकत्रेति ॥ वेदशिरःसु विपश्चित इत्यन्वयः ॥ २१९ ॥

इदानी गौणमुख्यरूपौ सामानाधिकरण्यभेदौ विभज्योदाहरणेन क्रमेण बुद्धिमारोहयति—

नीलं सुगन्धि महदुत्पलमम्बुशायी-
त्येवंप्रकारमिह गौणमुशन्ति सन्तः ॥
सोऽयं पुमानुदशरावगतो विवस्वा-
नाकाशगो रविरसाविति मुख्यमाहुः ॥ २२० ॥

नीलं सुगन्धीति॥ उत्पलपदेन नीलादिपदानां सामाना-

धिकरण्यं यत्तद्गौणमुशन्ति मन्यन्ते सन्तो विद्वांस इत्यर्थः ॥ मुख्यमुदाहरति ॥ सोऽयमिति ॥ य उदशरावगतो विवस्वान् असावाकाशगो रविरिति योजना ॥ २२० ॥

कुतोऽखण्डार्थान्वयस्य मुख्यत्वं संसर्गान्वयस्य वा गौणत्वमित्यपेक्षायां सामानाधिकरण्यस्वरूपलक्षणस्याखण्डार्थान्वये सम्पूर्णत्वादितरत्र तदभावादिति विशेषमाह—

एकत्र वृत्तिरिति लक्षणमत्र मुख्यं
ससर्गवस्तुनि पुनर्न हि तद् घटेत ॥
नानारसे हि विषये वचसां प्रवृत्ति-
र्नील सुगन्धि महदुत्पलमित्यमीषाम् ॥ २२१ ॥

एकत्र वृत्तिरिति ॥ अत्र सोऽयमित्यादावखण्डार्थवाक्ये पदयोरेकत्र वृत्तिर्निरुपचरितास्तीति सामानाधिकरण्यलक्षणं मुख्यं युक्तमिति योज्यम् । संसर्गवस्तुनि तन्मुख्यं कुतो न घटेतेत्यत्र हेतुमाह ॥ नानारसे हीति ॥ गुणगुण्याद्यात्मकत्वेन विषयस्य नानारसत्वम् । सुगमाऽत्र योजना ॥ २२१ ॥

आदाय नानाविधकारणानीत्यस्मिन् पद्ये सामानाधिकरण्यलक्षणार्थे वैयधिकरण्ये प्रसङ्गवारणायैकत्र तु या प्रवृत्तिरित्येकत्रशब्दः प्रयुक्तस्तत्रैव नानाविधकारणानीति पर्यायशब्दवारणाय च प्रयुक्तः। तत्र किं वैयधिकरण्यपर्याययोः स्वरूपमित्याकाङ्क्षायां तयोर्लक्षणे क्रमेण दर्शयति, द्वाभ्यां—

नानाविधैर्बहुभिरेव निमित्तभेदै-
र्भिन्नेषु वस्तुषु गिरामथ या प्रवृत्तिः ॥
सत्रैत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धा

सा शब्दवृत्तिकुशलव्यवहारभूमौ ॥ २२२ ॥

**नानाविधैरित्याद्याभ्याम्** ॥ स्पष्टार्थः। अत्र भिन्नेषु वस्तुष्विति सामानाधिकरण्यव्युदासः । सुगममन्यत् ॥ २२२ ॥

पर्यायलक्षणमाह—

अभिन्नहेतुर्विषये समाने
विभिन्नवाचामथ या प्रवृत्तिः ॥
पर्यायनाम्नाऽभिवदन्ति धीराः
प्रवृत्तिमेनां वचसां बहूनाम् ॥ २२३ ॥

**अभिन्नहेतुरिति** ॥ विभिन्नवाचा समाने एकस्मिन् विषये या प्रवृत्तिरभिन्नहेतुरेकनिमित्तका एनां वचसां प्रवृत्तिं धीराः पर्यायनाम्नाऽभिवदन्तीत्यन्वयः।बहूनां वचसामर्थे प्रवृत्तिः पर्याय इत्युक्ते स्तम्भः कुम्भः पर्वत इत्यादौ प्रसङ्गस्तदर्थं समाने विषय इति । एवमपि सामानाधिकरण्ये प्रसक्तिरित्यत उक्तमभिन्नहेतुरिति ॥ अभिन्नहेतुः समाने विषये प्रवृत्तिरित्युक्तेऽयं घटोऽयं घट इति धारावाहिकघटपदे प्रसङ्ग इत्यत उक्तं, विभिन्नवाचामिति ॥ २२३ ॥

उक्तलक्षणयोर्वैयधिकरण्यपर्याययोः क्रमेणोदाहरणमाह—

कुड्यं गृहस्य सरसोऽम्बुजमस्य वस्त्र-
मित्यत्र वैयधिकरण्यमिति प्रसिद्धम् ॥
एवं मुख वदनमाननमित्यमीषां
पर्यायताऽपि विदितैव पुरोक्तहेतोः ॥ २२४ ॥

**कुड्यमिति** ॥ पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोरुभयोदाहरणे स्पष्टा-

ऽर्थे ॥ २२४ ॥

यद्येवमन्वयप्रकारा बहवः सन्ति तर्हि तत्त्वमस्यादेः किमित्यखण्डार्थत्वमेवेत्यभिनिवेश इतिचेन्न । प्रकारान्तरासम्भवादिहेत्याह—

पर्यायता न खलु तत्त्वमसीति वाक्ये
नापीह संभवति भेदकभेद्यभावः ॥
तत्त्वम्पदार्थगतमेकरसैकभागं
तत्त्वम्पदे समुपलक्षयतो विरोधात् ॥ २२५

**पर्यायतेति** ॥ तत्त्वमसीतिवाक्ये न खलु पर्यायता सम्भवति । पदयोः प्रवृत्तिनिमित्तभेदे तदयोगात् । नापीह भेदकभेद्यभावलक्षणं वैय्यधिकरण्यं सम्भवति । एकविभक्त्यन्तत्वेन तदयोगात् । अनेनैव विशेषणविशेष्यभावरूपो मुख्यसामानाधिकरण्यान्वयोऽपि निरस्तः ॥ कुत इति ॥ तत्र हेतुमाह ॥ विरोधादिति॥ पदवाच्यार्थयोर्विरोधाद्विरुद्धयोर्विशेषणादिभावासम्भवात् परिशेषात्तत्त्वम्पदार्थगतवाच्यार्थनिष्ठो य एकरसोऽखण्डचिदात्मक एको भागस्तमेकरसैकभागं तत्त्वम्पदे समुपलक्षयतः सम्यगेकरसत्वेनैव संसर्गभेदवैशिष्ट्यांशेनाप्यसंस्पृष्टया लक्षयत इत्यऽखण्डार्थपरमेवेदं वाक्यं मुख्यं च सामानाधिकरण्यं समन्वयशब्दार्थ इति सर्व समञ्जसमिति सिद्धमित्यर्थः ॥ २२५ ॥

तदेवं मुख्यसामानाधिकरण्यान्वयाख्यसमन्वयस्य तत्त्वमस्यादिवाक्येषूपपादनेन तेषामखण्डार्थता सम्यक् प्रतिपादिताऽथेदानीमवान्तरवाक्यस्यापि सत्यादिपदकदम्बस्य तथैवाखण्डाऽर्थतां प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह—

प्रकृष्टप्रकाशध्वनी व्यक्तिमेकां

यथा लक्षणावर्त्मनोपाक्षिपेताम् ॥
शशाङ्कादिशब्दार्थसंकीर्तने स-
च्चिदानन्दशब्दाः परं ब्रह्म तद्वत् ॥ २२६ ॥

**प्रकृष्टप्रकाशेति**॥ शशाङ्कादिशब्दार्थसङ्कीर्त्तने शशाङ्कश्चन्द्र इत्यादिशब्दार्थस्योद्देशे सति यथा प्रकृष्टप्रकाशध्वनी लक्षणावर्त्मना एकां चन्द्रव्यक्तिमुपक्षिपेताम् । चन्द्रस्वरूपे जिज्ञासिते सति प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति लक्षणनिर्देशेन जिज्ञासितचन्द्रस्वरूपपरे वाक्ये यथा प्रकृष्टपदं प्रकाशपदं चाप्रकृष्टाप्रकाशवद्वस्तुव्यावृत्तं चन्द्रप्रातिपदिकार्थं लक्षणया बोधयत इत्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह॥ सच्चिदानन्दशब्दाः परं ब्रह्म तद्वदिति ॥२२६॥

नन्वेवं यदि वाच्यार्थपरित्यागेन लक्षणयाऽखण्डार्थता स्वीक्रियते तर्हि सर्वत्रैवं वक्तुं शक्यत्वान्नीलमुत्पलमित्यादावपि तथात्वप्रसङ्ग इतिचेत्तत्राह—

न नीलोत्पलाद्या गिरो व्यक्तिनिष्ठाः
स्ववाच्यार्थसंसर्गमात्राभिधानात् ॥
विरोधे हि वाच्यच्युतिर्नाऽविरोधे
गिरां लक्षणात्रापि चेदस्तु साम्यम् ॥ २२७ ॥

**न नीलोत्पलाद्या गिरो व्यक्तिनिष्ठा इति** ॥ नीलं सुगन्धिमहदुत्पलमित्याद्या गिरः स्वभावतः स्ववाच्यार्थसंसर्गमात्राभिधानाद्धेतोर्न व्यक्तिनिष्ठाः । एकव्यक्तिमात्रपर्यवसिता न भवन्तीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह॥विरोधे हीति॥ वाच्यार्थान्वयिपदार्थप्रतीतिविरोधे हि गिरां वाच्यच्युतिर्लक्षणा चाविरोधायाद्रियते, न त्वविरोधेऽपीत्यर्थः । यदि क्वचित् प्रयोगविशेषे

नीलोत्पलादिवाक्येऽपि विरोधस्फूर्त्या वाक्यार्थासिद्धिस्तदा तत्रा-ऽपि लक्षणा स्यादित्याह ॥ अत्रापि चेदस्तु साम्यमिति॥नीलो-त्पलादिवाक्येऽपि सत्यादिवाक्यचन्द्रलक्षणादिवाक्यसाम्यमस्तु लक्षणयाऽखण्डैकार्थपरत्वमस्तु, को विरोध इत्यर्थः ॥ २२७ ॥

नीलोत्पलवाक्ये यदा लक्षणाप्रसङ्गस्तदा कथं तत्राखण्डार्थ-त्वप्रतीतिरिति तद् व्युत्पादयति—

न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः स्याद्
विभिन्नोत्पलत्वाश्रयव्यक्तिरेषा ॥
तथैवोत्पलत्वाश्रयव्यक्तितः स्या-
न्न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तिरन्या ॥ २२८ ॥

न नीलत्वजातीति॥अत्र नीलोत्पलपदयोर्नीलत्वोत्पलत्व-जाती वाच्यार्थौ जातिसंसृष्टे व्यक्ती अपि वेति हि मीमांसकतार्कि-कयोः संमतिः। तत्राशेषवाच्यार्थपरित्यागेन वा तदेकदेशपरित्या-गेन वा तत्सम्बाधिन्येकदेशे वा, व्यक्तिमात्रे पदवृत्तिर्लक्षणाश्रीयते यदा तदा तत्राप्यखण्डार्थता निरपवादेति तात्पर्यार्थः।पदयोजना तु, एषोत्पलत्वजात्याश्रयव्यक्तिर्नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः स-काशाद्विभिन्ना न स्यादिति । तथापि नीलत्वजातिरितरस्या अन्या भविष्यतीत्यपि न शङ्कास्पदमित्याह ॥ तथैवेति ॥ पूर्वव-द्योजना॥तथाच व्यक्तिस्वरूपस्य सन्मात्रत्वाद् द्रव्यत्वगुणत्वयो-श्च तत्र कल्पितत्वात् सद्रूपाया व्यक्तेरभेदादखण्डार्थत्वमत्रापि नानुपन्नमित्यर्थः ॥ २२८ ॥

यद्येवमखण्डार्थत्वमित्थमत्रापि सम्भवति तर्हि कुतः सर्वे-षामत्राखण्डार्थत्वसम्प्रतिपत्तिर्न जायते । अतोऽत्र तद्विप्रतिपत्ते-रेवं वाच्यार्थपरित्यागेनाखण्डार्थवृत्तिताव्याख्यानं भवता साहस-

मेवेति मन्य इतिचेत्तत्राह—

न नीलोत्पलादिप्रदेशेषु किञ्चिद्
गिरां लक्षणाकारणं तेन तत्र ॥
न नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठा
गिरस्ता भवेयुः प्रमाणादृते नः ॥ २२९ ॥

न नीलोत्पलादिप्रदेशेष्विति ॥ नीलोत्पलादिवाक्यप्रयोगप्रदेशेषु गिरां पदाना लक्षणाकारणं किञ्चिन्नेत्यन्वयः। न दृश्यत इत्यर्थः। यत एवं, तेन हेतुना नोऽस्माकं, प्रमाणादृते कारणं विना, ता नीलमुत्पलमित्याद्या गिरो न नीलोत्पलत्वादिकव्यक्तिनिष्ठा भवेयुरितियोजना ॥
मुख्याऽर्थोपादानेनात्र वाक्यार्थस्य सम्भावितत्वान्न लक्षणयाऽखण्डाऽर्थत्वस्वीकारः क्रियते, न पुनर्लक्षणाया असम्भवात्। न हि गङ्गाया घोषइत्यत्र लक्षणा स्वीकृतेति, गङ्गायां मीना इत्यत्राऽपि तत्स्वीकारः कार्यः। नचैवमपि गङ्गापदे लक्षणाभावो घोषपदान्वये तदङ्गीकारात् । तस्मात्, प्रकृष्टप्रकाश इत्यादौ स्वरूपप्रत्यायनपरेष्वेव लक्षणा, न त्वविरोधेन संसृष्टार्थपरेष्वपीति सर्वमुपपन्नमिति भावः ॥ २२९ ॥

ननु यद्येवमुक्तप्रकारेण लक्षणाहेत्वभावात् संसृष्टार्थतैवाऽभिमता नीलोत्पलादिवाक्ये तर्हि किमिति न नीलत्वजात्याश्रयव्यक्तितः स्यादिति पद्ये तस्याऽखण्डार्थता समर्थितेति तत्राह—

इदमुपेत्य किमप्युदितं मया
न तु तयोरभिदा परमार्थतः ॥
गुणगुणित्वकृतोऽतिशयस्तयो-

र्भवति लक्षणयापि गृहीतयोः ॥ २३० ॥

इदमुपेत्य किमप्युदितं मयेति ॥ प्रौढितोऽयमभ्युपगमवादो ममेत्यर्थः। परमार्थतस्तु तयोर्नीलोत्पलपदार्थयोरभिदा अभेदलेशोऽपि नास्तीत्यर्थः । ननु लक्षणया व्यक्तिमात्रग्रहे कथमभेदाभाव इति तत्राह ॥ गुणगुणित्वकृत इति ॥ लक्षणया गृहीतयोरपि तयोर्नीलोत्पलपदार्थयोर्गुणगुणित्वकृतोऽतिशयो भेदलेशोऽपि भवत्येवेति योजना । अयं भावः । गुणत्वाऽवान्तरजातिनीलत्ववाचिनीलपदेन गुणविशेषभूता नीलव्यक्तिर्लक्षणया सिद्ध्यन्ती सिद्ध्येन्नोत्पलद्रव्याभिन्ना। तथा द्रव्यत्वावान्तरजातिवाच्युत्पलत्ववाचि यदुत्पलपदं तेन द्रव्यविशेषोत्पलव्यक्तिर्लक्षणया सिद्ध्येन्न नीलगुणाभिन्ना । अनयोर्गुणगुणिभावेन भेदस्य प्रतीयमानस्यानपवादात् । नच सन्मात्रमेवाभ्यां पदाभ्यां लक्ष्यत इति वाच्यम् । लक्ष्यमाणयोर्व्यक्त्योः सन्मात्रत्वाभावात् । न हि गुणगुणिभावेन विवेकतःप्रतीयमानयोर्व्यक्त्योः सन्मात्रत्वं सम्प्रतिपन्नं येन व्यक्तिलक्षणा सन्मात्रविषया स्यात्।व्यक्त्यनुगताखण्डसन्मात्रलक्षणायां तु लक्षितलक्षणाप्रसङ्गात् । तथाच स्यादतिप्रसङ्गात् सर्वव्यवहारलोपोऽन्ततो गत्वा सर्वपदानां सन्मात्रार्थत्वाव्यभिचारादिति॥२३०॥

नन्वेवं नीलोत्पलादिवाक्यवत् संसर्गपरत्वसम्भवात् प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यस्याप्यखण्डार्थनिष्ठता नास्तीति नैष दृष्टान्तः सत्यादिवाक्यस्याखण्डार्थत्वे समञ्जस इतिचेत्तत्राह—

प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती हि लोके
प्रकृष्टप्रकाशाभिधानाभिधेये ॥
तयोरन्वये कीर्त्यमाने तु ताभ्यां

शशाङ्काभिधानाभिधेयं न लभ्यम् ॥ २३१ ॥

**प्रकृष्टप्रकाशत्वजाती हीति ॥** ताभ्यां प्रकृष्टप्रकाशाऽभिधानाभ्यां तयोः प्रकृष्टप्रकाशत्वजात्योः स्ववाच्ययोरन्वये संसर्गे कीर्त्यमाने तु शशाङ्काभिधानाभिधेयमज्ञेन पृष्टं चन्द्रप्रातिपदिकार्थरूपं न लभ्यमित्यबुभुत्सितार्थप्रतिपादनपरतयाऽस्यानवधेयवचनत्वापत्तिरित्यतो लक्षणयाऽखण्डार्थपरत्वमस्याऽभ्युपेयमित्यर्थः । प्रकृष्टत्वप्रकाशत्वयोः सन्तमसखद्योतगतयोश्चन्द्रे सङ्कीर्णत्वेऽपि तयोर्ज्जातिवचनानिर्देशो वैशेषिकप्रक्रियाऽनादरेणेति द्रष्टव्यम् ॥ २३१ ॥

नन्वस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वमेव किमित्यभ्युपेयते, येन तदप्रतिपादनेऽस्यानवधेयवाक्यत्वापत्तिरितिचेत्तत्राह—

शशाङ्काभिधानाभिधेये हि पृष्टे
तदेवोत्तरेणापि निर्णेयमत्र ॥
प्रकृष्टप्रकाशत्वजात्यन्वयोऽयं
तदाक्षिप्ततद्व्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठः ॥ २३२ ॥

**शशाङ्काभिधानाभिधेये हि पृष्ट इति ॥** यदुद्दिश्य प्रश्नप्रवृत्तिस्तदेवोत्तरवाक्येनाऽपि निर्णेयमिति हि न्यायमार्गः । तदत्रास्मिञ्ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रपदाभिलप्य इतिचन्द्रप्रातिपदिकाऽर्थस्यैव तदनभिज्ञेन पृष्टत्वात्तत्स्वरूपप्रतीत्यनुरूपएवोत्तरवाक्यप्रवृत्तिर्युक्ता । तत्र प्रकर्षप्रकाशवैशिष्ट्यस्य प्रतिपादने यश्चन्द्रः स प्रकृष्टप्रकाश इति पदयोजना भवेत् । तत्र चानवबुद्धोद्देश्यचन्द्रस्वरूपस्य श्रोतुर्वैशिष्ट्यप्रतीतिः कस्येदं वैशिष्ट्यमिति साकाङ्क्षत्वान्न पर्यवसितार्था जायेत । यदा तु, यः प्रकृष्टप्रकाशः स त्वद्बुभुत्सितश्चन्द्रपदाभिधेय इति योजना, तदा स्वावबुद्धप्रकर्ष-

प्रकाशशब्दार्थतया तत्सम्बन्धिनि चन्द्रस्वरूपे भवेत् पर्यवसिता मतिरिति प्रकृष्टप्रकाशपदयोश्चन्द्रस्वरूपमात्रपर्यवसितत्वमेवोत्तर-वाक्येऽपि युक्तं, न वैशिष्ट्यपरमित्येतमर्थमभिप्रेत्य प्रकृतयोः पदयोर्लक्षणया चन्द्रैकव्यक्तिनिष्ठत्वं दर्शयति ॥ प्रकृष्टप्रकाश-त्वजात्यन्वयोऽयमिति ॥ वाच्ययोर्जात्योः पदसामर्थ्यसिद्धयो-रन्वयः प्रतीयमानोऽयं ताभ्यामाक्षिप्ता या तद्व्यञ्जिका जाति-व्यञ्जिका व्यक्तिश्चन्द्रपदवाच्या तन्निष्ठस्तत्रैव पर्यवसित इति यो जना । सामान्यान्वयस्यान्यत एव सिद्धत्वादप्रतिपाद्यत्वात्ततो विशेषान्वयस्तावद्वाक्यार्थोऽङ्गीकर्त्तव्यः । स च वाच्यप्रकृष्टत्व-प्रकाशत्वाभ्यां द्वाराभ्या तदाश्रयव्यक्तावेव पर्यवस्यति । तच्च न लक्षणां विनेति लक्षणाप्यत्रावश्यम्भाविनी लक्ष्यव्यक्त्योश्च स्वरूपतो भेदानिरूपणादखण्डार्थताऽपि सिद्धेतिभावः ॥२३२॥

एतमेव पूर्वपद्ये तत्तदाक्षिप्ततद्व्यञ्जकव्यक्तिनिष्ठ इत्युपाक्षिप्त-मर्थमुपपादयति—

> शशाङ्काभिधानाभिधेयो न चेष्टः
> शशाङ्कस्य तेजोविशेषत्वहेतो. ॥
> ततश्चोपपन्ना जहल्लक्षणातः
> पुरोक्ता पदाभ्यामखण्डार्थसिद्धिः ॥ २३३ ॥

शशाङ्काभिधानाभिधेयो न चेष्ट इति ॥ कुतो नेष्ट इति, तत्र हेतुमाह ॥ शशाङ्कस्येति ॥ अयमर्थः ॥ शशाङ्कपदाभि-लप्योऽर्थो हि तेजोविशेषो व्यक्तिरेव । तस्याश्चैकत्वान्न तत्र जातिरस्ति । अतः प्रकृष्टप्रकाशशब्दस्य शशाङ्काभिधानाभिधेयः शशाङ्कत्वजातिर्वाच्योऽर्थो न चेष्ट इति । फलितमाह ॥ ततश्चे-ति ॥ जहल्लक्षणा प्रकृष्टत्वप्रकाशत्वधर्मरूपवाच्यार्थपरित्यागेन

तदाधारतेजोविशेषात्मकव्यक्तिमात्रनिष्ठा पदवृत्तिरुपपन्नेत्यर्थः । ततश्चैकव्यक्तिनिष्ठत्वे पदयोः सिद्धे सति पुरोक्ताऽखण्डार्थसिद्धिरुपपन्ना पदाभ्यामित्यर्थः ॥ २३३ ॥

नन्वेवमपि नाखण्डार्थत्वासिद्धिः । प्रकर्षप्रकाशाख्यधर्मयोरन्योऽन्यं चन्द्रव्यक्तेश्च भेदादितिचेत्तत्राह—

प्रकर्षः प्रकाशातिरक्तो न चात्र
प्रकाशः प्रकर्षातिरिक्तो न चात्र ॥
बहिश्चन्द्रमस्ति स्वरूपातिरेक-
स्तयोश्चन्द्रमस्येकतैवातिमात्रम् ॥ २३४ ॥

**प्रकर्षः प्रकाशातिरिक्तो न चात्रेति** ॥ अन्यत्र तमःखद्योतगतयोः प्रकर्षप्रकाशयोर्भेदेऽप्यत्र चन्द्रस्वरूपे न तयोरन्योन्यं स्वरूपतोऽतिरेकश्चन्द्रव्यक्तेश्च न ताभ्यामतिरेक इत्यऽर्थः। कुत इतिचेत्तत्राह ॥ बहिश्चन्द्रमस्तीति॥तयोः प्रकर्षप्रकाशयोर्बहिश्चन्द्रं चन्द्राद्बहिश्चन्द्रस्वरूपात् पृथक् स्वरूपातिरेकः स्वरूपता भेदो न चेत्यनुषज्ज्यते। तस्मात्तयोश्चन्द्रमस्यतिमात्रमत्यन्तमेकतैव चन्द्रात्मतैव परमार्थतस्तयोरितोऽन्यादृशस्य चन्द्रशब्दार्थस्याऽनिरूपणादित्यर्थः ॥ २३४ ॥

कुतो भेदाभाव इति चेदभेदानुभवविरोधादेवेत्याह—

न चन्द्रप्रकाशप्रकर्ष प्रकाशा-
त्तदीयात् पृथक्कश्चिदुत्पश्यतीह ॥
तथास्य प्रकर्षप्रकाश प्रकर्षा-
त्ततो नानयोरस्ति भेदे प्रमाणम् ॥ २३५ ॥

न चन्द्रप्रकाशप्रकर्षमिति ॥ चन्द्रे यः प्रकाशस्तस्य च

यः प्रकर्षस्तं प्रकाशात् प्रकाशस्वरूपात्तदीयाच्चान्द्रमसात् पृथग्विविक्तामिह व्यवहर्तृप्राणिषु न कश्चिदुत्पश्यति, न कोऽपि सम्यग्भेदं पश्यतीति यावत्। यथा प्रकर्षस्यास्य प्रकाशाभेदस्तथा प्रकाशस्याप्यस्य प्रकर्षाभेद इत्याह॥ तथास्येति॥ प्रकर्षात्तदीयान्न पृथक्कश्चिदुत्पश्यतीहेति पूर्वेणान्वयः। ततो भेदानुभवाभावादभेदेनैवानुभवादनयोर्भेदे नास्ति मानमुत्प्रेक्ष्यमाणानां मानानामबाधितानुभवविरोधादित्यर्थः। अर्थाच्चन्द्रव्यक्तेश्चानयोरभेद उक्तो वेदितव्यः। तस्याश्च प्रकर्षप्रकाशातिरिक्तस्वरूपस्यानुभवाभावाद्भेदकल्पनायां प्रमाणाभावाच्चेति। अयं भावः। रूपरसादिवत् प्रकर्षप्रकाशयोर्न स्वरूपभेदः कस्यचित् स्फुरति। ततश्चेदृशप्रकाशातिरिक्तस्याकारस्य चन्द्रेऽभावादेव चन्द्रस्य स्वरूपमिति निश्चीयते। अस्याश्च प्रतीतेर्बाधकादर्शनाच्चन्द्रस्वरूपमात्रपर्यवसितौ प्रकृष्टप्रकाशशब्दाविति॥ २३५॥

एवं दृष्टान्तेऽखण्डार्थपरत्वं वाक्यस्योपपाद्य दार्ष्टान्तिकेऽपि तत्परत्वं सिद्धमित्येतदाह—

तथा सच्चिदानन्दशब्दास्तदर्थं
तथा तत्त्वमात्रात्मनो ब्रह्ममात्रम्॥
विरोधान्मिथो लक्षणावर्त्मनेमौ
किमर्थं न संभूय वक्तुं समर्थौ॥ २३६॥

तथा सच्चिदानन्देति॥ यथा प्रकृष्टः प्रकाश इति च पदे चन्द्रस्वरूपमात्राकाङ्क्षायां प्रवृत्ते लक्षणया चन्द्रस्वरूपं प्रतिपादयतस्तथा सच्चिदादिशब्दा ब्रह्मस्वरूपमात्राकाङ्क्षायां प्रवृत्तास्तदर्थं तत्पदार्थस्वरूपं सम्भूय लक्षणया कस्माद्वक्तुं न समर्थाः, किन्तु प्रागुक्तवर्त्मना समर्था एवेति योजना। तथा तथात्व सति

सत्यादिपदानामखण्डैकरसब्रह्मपरत्वे सतीति यावत् । तत्त्वमौ तत्पदं त्वम्पदं चेमौ शब्दौ । आत्मनः परिशोधितस्य प्रतीचो ब्रह्मभावं सत्यादिलक्षणतत्पदार्थानन्यत्वम् । स्ववाच्यार्थाशयो-र्मिथोविरोधात्तदेकदेशाविरुद्धार्थलक्षणया सम्भूय वक्तुं किमर्थं न समर्थाविति योजना । तथाच ब्रह्मात्मविषयाऽवान्तरवाक्यैस्ता-त्पर्येण प्रतिपादिते तत्त्वे स्वरूपतो भेदलेशस्याप्यसम्भवान्महा-वाक्यैरप्यखण्ड एवार्थः पदार्थपरिशोधनदशायां निरस्यमानोपा-धिभेदवशात् प्राप्तभेदानुवादेनात्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मेति प्रतिपाद्यते इत्यत्र न कोऽपि विघ्न इति सिद्धमिति भावः ॥ २३६ ॥

किमत्र लक्ष्यं, लक्षकं वेति वीक्षायां पूर्वोक्तमेव स्मारयति—

प्रत्यक्तत्त्वं लक्षयेत्त्वम्पदार्थ-
स्तच्छब्दार्थो लक्षयेदाद्वितीयम् ॥
एवं पूर्णं प्रत्यगात्मानमेतौ
शब्दौ ब्रूतो लक्षणावर्त्मनैव ॥ २३७ ॥

प्रत्यगिति ॥ त्वम्पदार्थस्त्वंशब्दवाच्योऽर्थः पदप्रवृत्तौ द्वारभूतः प्रत्यक्तत्त्वं याथात्म्यं चैतन्यैकस्वभावं लक्षयेत् । तथा तच्छब्दार्थो वाच्यरूपोऽद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं लक्षयेत् । विरुद्धांश-प्रहाणेनाविरुद्धार्थस्वरूपमात्रे पर्यवसितं स्ववाचकं पदद्वयं सम्पा-दयत इत्यर्थः । यद्वा प्रत्यक्तत्त्वं त्वम्पदार्थ इति लक्ष्यस्वरूप-निर्देशः । लक्षयेत्त्वम्पदमिति शेषः । उत्तरत्राप्येवं योजना । अखण्डतार्थस्यैतावता कथं सिद्धेति तदाह ॥ एवमिति ॥ अक्षरा-ऽर्थः सुगमः । अध्यात्माधिभूतरूपोपाध्यंशोद्धारेण स्वस्वार्थ-लक्षकत्वात् परिच्छेदप्रहाणे सत्यपरिच्छिन्नैकरसं चिदात्मानमेवैतौ शब्दौ ब्रूतो ज्ञापयत इति विवक्षितोऽर्थः ॥ २३७ ॥

नन्वेवमपि न वाक्यार्थस्यैकरसता सम्भाविनी,यतः पदाभ्यां परित्यक्तस्याध्यात्माधिभूतलक्षणस्योपाधेः पदार्थस्वरूपेऽवस्थितिस्तयोर्ल्लक्ष्यमाणवस्त्वाश्रितत्वात् । न हि सोऽयम्पदाभ्यां भागपरित्यागेन लक्ष्यमाणदेवदत्तस्वरूपैक्येऽपि परित्यक्तदेशादिवैशिष्ट्यमपगच्छति । अतो न पूर्वावस्थातः कोऽप्यतिशय इत्याक्षेपमाशङ्कमानः । परित्यक्तांशस्य पुनरवस्थाने कारणाभावात् प्रकृतवाक्यार्थे नाक्षेपावसर इति प्रकृतोपयुक्तमर्थमाह—

पारोक्ष्यं च ब्रह्मणि प्रत्यगर्थे
दुःखित्वं च ध्वान्तसम्भूतमाहु ॥
सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहस्य पुंसः
प्रध्वंसेते हेत्वभावेऽफलत्वात् ॥ २३८ ॥

पारोक्ष्यं चेति ॥ ब्रह्मणि तत्पदार्थे यत् पारोक्ष्यं, प्रत्यगर्थे त्वम्पदार्थे च यद् दुःखित्वं तदुभयं ध्वान्तसम्भूतं चिदविद्याविलासितमाहुर्वेदान्ततत्त्वविद इति शेषः । यतोऽयमर्थो निर्णीतोऽतः सम्यग्ज्ञानेन ध्वस्तो मोहः सर्वविकारमूलकारणं यस्य तस्य पुंसः पदार्थद्वयगतपारोक्ष्यदुःखित्वे प्रध्वंसेते, नात्मानं धारयत इत्यर्थः । तत्र लौकिकं न्यायं दर्शयति ॥ हेत्वभाव इति॥ बीजाभावे तत्फलाभाव इति न्यायादित्यर्थः । तथाच तद्देशकालवैशिष्ट्यस्याविद्यामयत्वाभावाद्देवदत्तस्वरूपज्ञानेन न तन्निवर्त्तते । इह तु सद्वितीयत्वादेरात्माविद्याविलासत्वादाविद्यानिवृत्तौ निवर्त्तते शुक्तितत्त्वज्ञानेन शुक्त्यज्ञाननिवृत्ताविव तत्कल्पितं रजतत्वमिति भावः ॥ २३८ ॥

यद्येवं प्रपञ्चास्पृष्टाद्वितीयात्मतत्त्वं प्रतिपिपादयिषितं वेदान्तानां तर्हि तदेव साक्षाच्छब्दशक्त्यैव प्रतिपाद्यतां, किमेवं

लक्षणाप्रयासेनेतिचेन्नैवम् । शब्दस्यात्मतत्त्वे प्रवृत्तिनिमित्ता-
भावादित्याह—

षष्ठीजातिगुणक्रियादिरहिते सर्वस्य विज्ञातरि
प्रत्यक्षे परिवर्जिताखिलजगद्द्वैतप्रपञ्चे दृशौ ॥
सन्त्यक्तव्यवधानके परमके विष्णोः पदे शाश्वते
त्वय्यज्ञानविजृम्भितानहि गिरो मुख्यप्रवृत्तिक्षमाः ॥२३९॥

**षष्ठीजातीति** ॥ षष्ठीशब्देन तदर्थः सम्बन्धो लक्ष्यते । सम्बन्धराहित्याद्राजपुरुषशब्दवद्राजपुरुषे न ब्रह्मणि शब्दप्रवृत्ति-रित्यर्थः । जातिर्गोत्वादिसामान्यं, तन्निमित्तो गोशब्दो यथा द्रव्ये प्रवर्त्तते न तथात्रेत्याह ॥ जातिरहित इति ॥ एकव्यक्ति-कत्वाज्जातिराहित्यम् । नीलादिशब्दा हि द्रव्येषु गुणनिमित्ताः प्रवर्त्तन्ते नीलमुत्पलमित्यादौ न तथात्रेत्याह ॥ गुणरहित इति ॥ केवलो निर्गुणश्चेति श्रुतेर्गुणराहित्यम् । क्रियानिमित्तकाश्च पाठकादयो, नात्र क्रियापीत्याह ॥ क्रियारहित इति ॥ निष्कलं निष्क्रियमिति श्रुतेरस्य क्रियाराहित्यम् । आदिपदात् स्वरूपस-ङ्केतसादृश्यादिग्रहः । न ह्यस्य डित्थादिशब्दवद् गोत्वादिजातौ-गोत्वादिशब्दवद्वा स्वरूपतः सङ्केत उपपद्यते । व्यवहारागोचर-त्वादस्य । अदृष्टमव्यवहार्यमिति श्रुतेः । यथा सादृश्यनिबन्धनः शब्दश्चन्द्रमुख इत्यादिर्न तथाऽस्य केनाचित् सादृश्यमस्ति । गुणावयवाद्यभावान्न सदृशे तिष्ठति रूपमस्येति श्रुतेश्चेत्यर्थः । षष्ठ्यर्थादिराहित्ये हेत्वर्थतयात्मानं विशिनष्टि ॥ परिवर्जिता-ऽखिलजगद्द्वैतप्रपञ्च इति ॥ परित्यक्ताखिलानात्मद्वैतविस्तारे कार्यकारणधर्मवर्जित इति यावत् । षष्ठ्यर्थादयो हि कार्य-कारणात्मके वस्तुन्येवोपलभ्यन्ते । नायं तथेति षष्ठ्यादिरहित

इत्यर्थः । अत्र हेत्वर्थं विशेषणं, सर्वस्य विज्ञातरीति ॥ अशेषस्य विज्ञातुर्न विज्ञेयधर्मसंसर्ग इत्यर्थः । स किं नित्यपरोक्षस्तर्हि स नास्तीत्यपि शङ्का स्यादिति नेत्याह ॥ प्रत्यक्ष इति ॥ नित्या-परोक्ष इत्यर्थः । प्रत्यक्षत्वे हेतुर्दृशाविति ॥ चित्स्वरूपस्यात्मनः परोक्षत्वे हेत्वभावात् सर्वावस्थाननुसन्धानप्रसङ्गाच्चेति भावः । पारोक्ष्याभावे हेत्वन्तरमाह ॥ सन्त्यक्तव्यवधानक इति ॥ व्य-वहितोऽर्थो हि द्रष्टुः परोक्षो भवति । न त्वात्मात्मनो व्यवहि-तोऽतो न परोक्ष इत्यर्थः । स किमहङ्कारादिरूपो ? नेत्याह ॥ परमक इति ॥ पर एव परमः,परम एव परमकः । अहङ्कारादिभ्य-स्तत्कारणाविद्यायाश्च परस्तादुपलभ्य इत्यर्थः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात् परतः पर इति श्रुतेः । यद्वोक्तवस्तुनोऽपरोक्ष-द्रूपत्वेऽप्यपुरुषार्थसम्बन्धादुपेक्ष्यमेतदिति, तत्राह ॥ परमक इति ॥ परमानन्दस्वभावे इत्यर्थः । उक्तविशेषणवस्तुस्वरूप-माह ॥ विष्णोः पदे इति ॥ परमात्मस्वरूप इत्यर्थः । विष्णुपद-शब्दस्य पुराणोक्तवैकुण्ठलोकविषयत्वशङ्कां वारयति ॥ शाश्वत इति ॥ पदैकरूपे नित्य इत्यर्थः । स किं प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरम् ? हन्त तर्हि परोक्ष एवेत्यत आह ॥ त्वयीति ॥ प्रत्यक्स्वरूप इत्य-र्थः । किञ्च शब्दस्यापि प्रपञ्चान्तःपातितया मायामयत्वान्न सत्य-वस्तुनि सम्बन्ध उपपन्न इत्याह ॥ अज्ञानविनिर्मिता इति ॥२३९॥

इदानी मनोविषयत्वमप्यात्मनो निराकुर्वस्तस्य सर्वप्रमाणा-ऽविषयत्वे कैमुतिकन्यायं दर्शयति—

आस्तामत्र वचः प्रवृत्तिविरहः प्रत्यक्त्वहेतोर्दृशि
व्यापाराय मनोऽपि न प्रभवति भ्राम्यत्पराग्भूमिषु ॥
एवं चेदखिलप्रमाणपदवीः षोढा विभिन्ना भवा-

नुल्लङ्घ्य व्यवतिष्ठते त्वयि गिरः स्यान्मुख्यवृत्तिः कथम्
॥२४०॥

आस्तामत्रेति ॥ अत्रात्मनि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानामसम्भवाद्वचसां प्रवृत्तिविरहो य उपपादितः स तिष्ठतु तावत्तत्र किं वक्तव्यम् । यतो मनोऽपि यत्र दृशि व्यापाराय न प्रभवति । कीदृशं, पराग्भूमिषु भ्राम्यत् ॥ सर्वानात्मवस्तूनि विषयीकुर्वत् । कस्मादित्यत आह ॥ प्रत्यक्त्वहेतोरिति ॥ आत्मन आन्तरत्वादविषयत्वादित्यर्थः । मनोवृत्त्युत्पादनद्वारा हि सर्वप्रमाणानां विषयेषु प्रवृत्तिः । तद्यत्र न प्रभवति तत्र सर्वप्रमाणाविषयत्वं विशेषतः शब्दाविषयत्वं च किमु वक्तव्यमित्याह ॥ एवं चेदिति ॥ एवं मनसोऽप्यविषयत्वे सति भवान् प्रत्यक्चिदात्मरूपः षोढा विभिन्ना अखिलप्रमाणपदवीः सर्वप्रमाणप्रचारमार्गानुल्लङ्घ्य व्यवतिष्ठतेचेत् त्वयि गिरो वाक्यस्य पदस्य वा मुख्यवृत्तिः कथं स्यान्न कथमपि । द्वाराभावादित्यर्थः ॥ २४० ॥

यद्येवमात्मतत्त्वं शब्दो मुख्यवृत्त्यविषयत्वाल्लक्षणावृत्त्या विषयीकरोतीति मतं, तदापि लोके लक्षणयोपस्थाप्यमानस्यापि तीरादेः शब्दकर्मत्वदर्शनादात्मापि कर्म वेदान्तशब्दानां स्यादितिचेन्नेत्याह—

आत्मानं न तु कर्मतामुपनयञ्छब्दो वदेल्लक्षणा-
मार्गेणापि यतःपराग्विषयवन्नास्येष्यते कर्मता ॥
प्रत्यक्ता हि विरुध्यते यदि भवेदस्यात्मनः कर्मता
यद्यत्कर्म न तस्य तस्य भवति प्रत्यक्स्वभावो यतः॥२४१॥

आत्मानमिति॥ लक्षणामार्गेणाप्यात्मानं बोधयञ्छब्द-

स्तं कर्मतामुपनयन् कर्मीकुर्वन्न तु वदेद् बोधयेदिति योजना ॥ ननु तीरादिवन्मेयत्वादस्यापि कर्मता स्यादितिचेन्न । अनुभव-विरोधादनुमानानुत्थानादित्याह ॥ यत इति ॥ कर्मत्वेन विषय-त्वे अनात्मत्वं प्रयोजकं न प्रमेयत्वमित्यभिप्रेत्य पराग्विषयवदि-त्युक्तम् । यथा पराग्विषयस्य कर्मताऽस्ति न तथास्यात्मनः कर्मतेष्यते, तथाऽननुभवादसम्भवाच्च । प्रमेयत्वं त्वकर्मणोऽपि कथञ्चित् प्रमाकृतातिशयविशेषयोगितामात्रेणाप्युपपद्यत एवेति भावः । न केवलं कर्मत्वेनाननुभवादेवात्मनः कर्मत्वानङ्गीकारः प्रत्यक्त्वकर्मत्वयोर्विरोधादपीति युक्तिमप्यत्रोपोद्वलयाति ॥ प्रत्यक्ता हीति ॥ हिशब्देन सर्वसाक्षितया सर्वान्तरतया च परागर्थव्यावृत्ताकारेणाहमित्युल्लिख्यमानतया च प्रत्यक्ता श्रुत्य-ऽनुभवप्रसिद्धा द्योत्यते । कुतो विरुद्ध्यत इतिचेत् कर्मणः परा-क्त्वेनैव व्याप्तत्वादित्याह ॥ यद्यत्कर्मेति ॥ प्रत्यक्स्वभावः प्रत्यक्ता ॥ २४१ ॥

किञ्च मनःशब्दौ न साक्षादात्मविषयौ । करणत्वाच्चक्षु-रादिवदित्यनुमानादप्यात्मनोऽकर्मत्वसिद्धिरित्याह—

वागादिः खलु बाह्यवस्तुविषयो नात्मा यतो नात्मनि
व्यापारं करणस्य कस्यचिदपि प्रेक्षामहे न्यायतः ॥
यत्किञ्चित् करणं जगत्त्रयगतं तत् प्रत्यगात्मेक्षित
बाह्ये वस्तुनि वर्ततेऽनुभवनं तत्र प्रमाणं मतम् ॥२४२॥

वागादेरिति ॥ पराञ्चि खानीति श्रुतिसिद्धानिश्चयद्योत-कः खलुशब्दः । बाह्यवस्त्वेव वागादेर्वाङ्मनसयोर्विषयो, नात्मा विषयः । कुतः । यतः कस्यचिदपि करणस्यात्मनि प्रतीचि व्यापारं न्यायतो न प्रेक्षामहे । करणत्वाद्वाङ्मनसी चक्षुरादिव-

आत्मगोचरव्यापारे इत्यर्थः। करणगोचरस्य जडत्वनियमाज्जडस्य च करणाधिष्ठातृत्वासम्भवादात्मनोऽपि तथात्वे जडत्वापत्तौ जगदान्ध्यप्रसङ्गात् करणाव्यापारप्रसङ्गाच्चात्मा नकरणगोचरइति भावः । उक्तन्यायमेवानुभवप्रमाणकतया विशदयति॥ यत् किञ्चिदिति ॥ जगत्त्रयगतं यत्किञ्चित्करणमस्ति तत्प्रत्यगात्मेक्षितं सत्स्वाभासव्याप्त्या प्रकाशितं सद् बाह्ये वस्तुनि द्रव्यगुणादौ वर्त्तते प्रवर्त्तते। किमत्र प्रमाणम्?। तदाह ॥ तथानुभवनमिति॥ यथा, केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः * केनेषितां वाचमिमा वदन्ति चक्षुःश्रोत्रे क उ देवो युनक्तीति प्रश्नपूर्वकं श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीरा इति श्रुत्या निर्णीतं, तथा विद्वदनुभवनं तत्रोक्तार्थे प्रमाणं मतमिष्टमिति योजना॥२४२॥

इत्थं प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं प्रतिपाद्य विषयत्वायोग्यत्वादेव शब्दाविषयत्वमपि तस्येत्युक्तार्थं निगमयति—

प्रत्यग्रूपमतो न शब्दविषयो बुद्धेरवेद्यं यतो
बुद्धिर्यत्र हि वर्तते स विषयः शब्दस्य नात्मन्यसौ ॥
तेनात्मानमसौ न गोचरयितुं शब्दः क्षमो मुख्यया
वृत्त्यैवेतरयापि तेन न तया तस्यात्मनः कर्मता ॥२४३॥

प्रत्यग्रूपमत इति ॥ यतो बुद्धेरवेद्यं प्रत्यग्रूपमतो हेतोर्न शब्दविषय इति सम्बन्धः । ननु व्यधिकरणमेतद् बुद्धिगम्यत्वाभावाच्छब्दगम्यत्वाभाव इति । न हि चक्षुरगम्यत्वाच्छब्दस्य श्रोत्रागम्यत्वं साध्यते । तं त्वौपनिषदं पुरुषमिति श्रुतिबाधितविषयं चैतत् स्यादित्याशङ्क्य, व्यापाराय मनोऽपि न प्रभवतीत्युक्तं प्रपञ्चयन् परिहरति ॥ बुद्धिर्यत्र हीति ॥ यत्र विषये

बुद्धिर्वर्त्तते शब्दस्य स एव विषयो, नान्यः। न हि चक्षुःश्रोत्रयोरिवानयोर्विषयभेदः सर्वप्रमाणानां मनोगोचर एव प्रवृत्तेः। न हि मनः प्रत्याख्याय कस्यापि प्रमाणस्य विषयसम्बन्धस्तदवबोधनं वोपपद्यते। अतो यत्र शब्दवेद्यत्वं तत्र बुद्धिवेद्यत्वं, यत्र बुद्धिवेद्यत्वाभावस्तत्र शब्दवेद्यत्वस्याप्यभाव इति निश्चीयते। एवमप्यात्मनि किमायातम्। इदमायातमित्याह॥ नात्मन्यसाविति॥ असौ बुद्धिरात्मनि न वर्त्तते आत्मानं न विषयीकरोतीत्यर्थः। व्यापकाभावाद्व्याप्यस्याप्यभाव इति फलितमुपसंहरति॥ तेनेति॥ असौ शब्द इति सम्बन्धः। वृत्त्यैवेत्यत्रैवकारो भिन्नक्रमः। नैव कर्मतेति योज्य.। नैव गोचरयितुमिति पूर्वेण वा योज्यः॥ इतरया लक्षणावृत्त्या॥ तेनोक्तन्यायेन तया लक्षणया वृत्त्या बोध्यमानस्याप्यात्मनो न कर्मतेति सिद्धमित्यऽर्थः। औपनिषदत्वमप्यकर्मतयैवेति भावः॥ २४३॥

यद्येवं सर्वप्रमाणाविषयत्वमात्मनो विशेषतः शब्दाविषयत्वमप्यभ्युपेयते, तर्हि ब्रह्मण्येव वेदान्तवाक्यप्रामाण्यप्रतिज्ञाविरोधः, शास्त्रयोनित्वाधिकरणविरोधश्चेति चोदयति—

नन्वज्ञेयमिदं भवेद्यदि मम प्रत्यक्स्वरूप ततः
प्रामाण्यं कथमस्य वेदशिरसस्तत्र प्रतिज्ञायते॥
यन्मेयं न भवेत् कदाचिदपि तद्वेदान्तवेद्य भवे-
दित्येतद्वचनं पराहतपद वक्तुं न युक्तं बुधैः॥ २४४॥

नन्वज्ञेयमिदमिति॥ ममेदं प्रत्यक्स्वरूपं यद्यज्ञेयं सर्वप्रमाणाविषयो भवेत्ततस्तदा तत्र प्रत्यक्स्वरूपेऽस्य वेदशिरसः प्रामाण्यं कथं प्रतिज्ञायते। औपनिषदैरिति योजना। अविषयेऽपि वेदान्ताः प्रमाणं किन्न स्युरितिचेन्मैवं, विरोधादित्याह।

यन्मेयं न भवेदिति ॥ स्पष्टार्थः । प्रमाणाविषयश्च प्रामाणिकश्चेति व्याहतवचनं विदुषां न शोभत इति भावः ॥ २४४ ॥

आत्मतत्त्वस्याविषयत्वेऽपि तस्मिन् वेदान्तप्रामाण्यमविरुद्ध-मिति परिहरति—

नैतद्वस्तुनि कल्पितस्य जगतो वाक्यप्रसूतप्रमा
बुद्धिर्मूलधगिष्यते तव निजस्वाकारमात्रग्रहात् ॥
कर्मत्वं न करोति वाक्यजनिता बुद्धिस्वरूपे तव
स्वाकारग्रहणेन केवलमियं संसारमूलं दहेत् ॥ २४५ ॥

नैतदिति ॥ नैतदस्मद्वचनं पराहतपदमिति योज्यम् । कुत इत्यत आह ॥ वस्तुनि कल्पितस्येति ॥ यतो वेदान्तमहावाक्य-प्रसूता प्रमारूपा बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिस्तत्त्वमर्थभूतस्य निजो-ऽसाधारणो यः स्वाकारः स्वाभाविकब्रह्माकारस्तन्मात्रग्रहाद-नात्मांशाऽपोहेनानुगताचिदंशतत्त्वात्मतापत्त्येति यावत् । वस्तुनि कल्पितस्य जगतो मूलधक् मूलाज्ञानप्रदग्ध्री इष्यतेऽस्माभिरङ्गी-क्रियते । अतो मूलोन्मूलनेनात्मनि संसारनिवृत्तिफलस्य सम-र्पणात् तस्मिन् वेदान्ताना प्रामाण्यमविरुद्धमित्यर्थः । फलवद्वि-ज्ञानमज्ञातवस्तुनि निश्चयरूपं जनयदेव हि वाक्यं प्रमाणम् । तदेतावताऽपि सिद्धमित्यभिप्रायः । तदुक्तं द्राविडाचार्यैः, सिद्धं तु निवर्त्तकत्वादिति ॥ ननु विषयस्य कर्मतामन्तरेण बुद्धेस्तदा-कारग्रहणायोगात् प्राप्तं पुनरात्मनः कर्मत्वमित्यत आह ॥ कर्म-त्वमित्यत आह ॥ कर्मत्वं नेति ॥ अयमर्थः । कथमपि क्रिया-कृतातिशययोगितया व्यवहारयोग्यत्वमात्रं कर्मत्वं विवक्षितं चे-त्तदङ्गीक्रियते स्वाध्यस्ताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यातिशयस्य वाक्यज-वृत्तिकृतस्यात्मन्यङ्गीकारात् । नचैवमतिशययोगित्वे विकारित्वा-

पत्तिः। आरोपितनिवृत्तेर्विकारहेतुत्वासम्भवात्। अथ वृत्तिकृतस्फूर्त्याश्रयतयात्मनः कर्मत्वमितिचेत्तन्न। यतस्तव स्वरूपे स्वयम्प्रकाशात्मनि वाक्यजनिता बुद्धिः कर्मत्वं स्वकृतफलव्याप्यत्वलक्षणं न करोति। प्रकाशस्वभावे तस्मिन्ननुपयोगादिति। ननु संविदनुत्पत्तौ कथमज्ञानमपि निवर्त्तेतागन्तुकसंविद्विरोधाद्धि तन्निवृत्तिरितिचेत्तत्राह ॥ स्वाकारग्रहणेनेति ॥ इयमात्माभिमुख्येन वाक्यजनिता बुद्धिः स्वाकारग्रहणेन केवलं स्वशब्दः प्रकृतात्मवचनः। आत्मचैतन्यव्याप्त्योत्पत्तित एवात्माकारापत्तिमात्रेण संसारमूलमज्ञानं दहेदिति योजना। एतदुक्तं भवति। यद्यपि बुद्धिवृत्तिरेव केवला नाज्ञानहन्त्री जडत्वात्, नापि चिन्मात्रं तद्धन्तृ विरोधाभावात्। तथाप्युभयसंवलने सत्यऽज्ञानं निवर्त्तते, अग्न्ययःपिण्डन्यायेनेति। तत्रापि चिज्जडयोरेव विरोधाच्चैतन्यमेवाज्ञाननिवर्त्तकं तत्स्वरूपेणोदासीनमपि काष्ठायःपिण्डाद्यारूढ इवाग्निर्विशिष्टबुद्धिवृत्तिफलकारूढं सदज्ञानादि दहेत्। अत एवंरूपतया चिदात्मप्रकाशस्यागन्तुकत्वादज्ञानविरोधित्वं चोपपन्नम्। जडविषयेऽपि यद्यपि चित्प्रकाशः स्वरूपेण न जन्यते तथापि विषयावच्छेदेन विषयात्मता तत्र वृत्तिकृतेति जन्यतोपचर्यते। आत्मनस्तु प्रागेव प्रकाशस्वरूपत्वान्न तत्र वृत्तिद्वारा प्रकाशसञ्चारापेक्षेति विशेषः। आकारग्रहणं तु करणसामर्थ्यनिबन्धनं सर्वत्राविशिष्टमेव। तस्माद्वेदान्तप्रमाणसामर्थ्यादेव वृत्तेरात्माकारत्वसिद्धेः प्रकाशमान आत्मनि प्रकाशरूपफलाजननाच्च तत्कर्मकत्वायोगाद्वेदान्तवेद्यत्वेऽपि न चिदात्मतत्त्वस्य कर्मतेति सर्वं समञ्जसमिति ॥ २४९ ॥

अजडात्मप्रमाणस्य स्वविषये संविदजनकत्वेन प्रामाण्यमस्माभिरुक्तमन्यैरपि वादिभिरभ्युपेयमेवेत्याभिप्रेत्य प्राभाकरस्य

भाट्टस्य चात्र संमतिमाह—

सन्विद्व्युत्पादकं यद्वचनमभिमतं कर्ममीमांसकानां
तत्कर्मत्वं न तावत् क्षिपति घटपटाद्यर्थसन्वित्स्वरूपे ॥
किं त्वज्ञानापनुत्त्या फलवदभिमतं तत्र शिष्यस्य तद्वत्
सर्वैर्वेदान्तवाक्यैर्फलवदिदमपि प्रत्यगात्मस्वरूपे॥२४६॥

संविद्व्युत्पादकमिति ॥ प्राभाकराणा संवेदनं विषयविज्ञानाख्यं स्वप्रकाशमिति मतम् । भाट्टानां च विषयप्राकट्याख्यं विज्ञानजन्यं फलं स्वप्रकाशमभिमतम् । एवं स्वप्रकाशतया विषयत्वेऽपि संविदो व्युत्पादकं परप्रकाश्यत्वादिविप्रतिपत्तिविपर्ययोरपनयनेन तत्स्वरूपमुत्पादकं यद्वचनं कर्ममीमांसकानामभिमतं तद्वचनं घटपटाद्यर्थसंवित्स्वरूपे न तावत् कर्मत्वं क्षिपति संविद्रूपं फलं तत्र नोत्पादयति । तथा सति संविदः स्वप्रकाशत्वाङ्गीकारबाधादित्यर्थः । तर्हि कि करोतीति चेत्तदाह ॥ कि त्वज्ञानापनुत्त्येति ॥ अस्वप्रकाशत्वभ्रान्त्यादिनिवृत्त्या केवलं तत्र स्वविषये फलवत्तद्वाक्यं प्रमाणमभिमतं शिष्यस्य व्युत्पाद्यस्य श्रोतुः स्वविनेयस्येत्यर्थः । तद्वदित्यादि सुगमम् ॥ २४६ ॥

येषां स्वयम्प्रकाशं किमपि नाभिमतं तान् प्रति करणजन्यातिशयाश्रयत्वाभावेऽपि करणगोचरतया तद्विषयत्वव्यवहारयोग्यत्वं संमतयति—

अकार्यस्वरूपस्य कार्यत्वमिष्टं
यथा कारकैर्मूर्तमुत्सारयद्भिः ॥
तथैवाप्रमेयस्य मेयत्वमिष्टं
प्रमाणैस्तमस्तद्वदुत्सारयद्भिः ॥ २४७ ॥

अकार्यस्वरूपस्येति ॥ अकार्यस्वरूपस्य रूपावयवादि-हीनतया निष्पाद्यस्वरूपस्याकाशादेर्यथा तद्विरोधिमूर्त्तमुत्सारयद्भिर्लौकिकैः परीक्षकैरपि कार्यत्वमिष्टं तथैवाप्रमेयस्येति सुगमम् । तद्वन्मूर्त्तवत् । उत्सारयद्भिरस्माभिरिति शेषः । मूर्तेषु करकादिषु, कारकाणामुत्पादकतया कारकत्वेऽपि यथा तेषाममूर्त्ते व्योमादौ तत्स्वरूपाभिव्यक्तिविरोध्युत्सारणमात्रेणैव कारकत्वं तथा प्रमाणानां संविदुत्पादकत्वेन जडेषु प्रामाण्येऽपि संविद्रूपे चिदात्मनि तत्स्वभावाभिव्यक्तिविरोध्यपसारकत्वेनैव प्रामाण्यमिति निरवद्यमिति भावः ॥ २४७ ॥

तदेवमात्मासाधारणाकारग्रहणेनैवाज्ञाननिवृत्तिमात्रफलतया ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यमुपपादितमुपसंहरन् बुद्धेरात्माकारग्रहणक्रममाह—

वाक्योत्थापितबुद्धिवृत्तिरमला यज्ञादिभिर्निश्चला
वेदान्तश्रवणादिभिः स्फटिकवत् स्वच्छा सती तावकम्॥
रूपं दर्पणवद्बिभर्ति परमं विष्णोः पदं संनिधे-
रेतस्मादिह कारणादथ भवेत् संसारबीजक्षयः ॥२४८

वाक्योत्थापितेति ॥ वेदान्तवाक्येनोत्पादिता या बुद्धिवृत्तिः, तावकं रूपं दर्पण इव मुखस्वरूपं बिभर्त्ति । कीदृशम् । विष्णोः परमं पदं निर्विशेषपरमात्मरूपम् । कुतः । सन्निधेः मुखसन्निहितदर्पणवच्चिदात्मसान्निधानादित्यर्थः । ननु वाक्यजनिता चेद्वृत्तिरात्मसंनिधानमात्रात्तत्त्वं गृह्णीयात् तदा सकृच्छ्रवणमात्रेऽपि वाक्यश्राविणां सर्वेषां कस्मात्तत्त्वावभासो न जायते इति चेद्रागादिदोषप्रतिबन्धादित्यभिप्रेत्य वृत्तिं विशिनष्टि ॥ अमला-यज्ञादिभिरिति ॥ परमेश्वरार्पणेन निष्कामतया सम्यगनुष्ठितैः

स्वाश्रमविहितधर्मैर्यज्ञादिभिरमलाक्षपितरागादिमलेत्यर्थः।।निर्मल-बुद्धितयात्माभिमुखप्रवृत्तीनामपि केषाञ्चिद्वाक्येभ्योऽनेकशाखागतेभ्योऽन्यथान्यथा प्रतिपत्त्या विवाददर्शनादसंभावनाग्रस्तेयं बुद्धिवृत्तिः कथमुक्तरूपं तत्त्वं बिभृयादित्यत आह ॥ निश्चला वेदान्तश्रवणादिभिरिति ॥ पुनः पुनर्वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनैरसंभावनादिरहिततया स्वविषये तत्त्वे निश्चला सतीत्यर्थः । श्रवणादिपराणामपि केषाञ्चिद्यथापूर्वं संसारप्रवृत्तिदर्शनान्न संभावित उक्तार्थ इत्याशङ्क्य पुनर्विशिनष्टि ॥ स्फटिकवत् स्वच्छेति॥ विपरीतवासनाक्षयपर्यन्तं निदिध्यासनेन स्वच्छीकृतेत्यर्थः । यदेवमुक्तलक्षणायां बुद्धिवृत्तौ ब्रह्मात्मतत्त्वस्य प्रतिफलनं जायते एतस्मात् कारणादथबुद्धिवृत्त्युदयसमय एवेह आत्मनि संसारबीजक्षयो भवेदिति ॥ २४८ ॥

विधिमुखेन प्रवृत्तवाक्यार्थनिरूपणप्रकरणमुपसंहरति—

एवं वेदशिरः प्रमाणमुदितं प्रत्यक्स्वरूपे तत्र
कर्मत्व त्विरहय्य तत्र न हि नो बाधः प्रतिज्ञागिरः ॥
कर्मत्वं न करोति बोधयति च स्पष्टं वचो वैदिकं
रूपं तावकमेवमस्य भवति प्रामाण्यमत्रात्मनि ॥२४९॥

एवं वेदशिरः प्रमाणमिति ॥ अविषयत्वेनैवात्मानं बोधयन्ति वेदान्तवाक्यानीति प्रतिज्ञातार्थप्रतिपादनोपसंहारपरं पूर्वार्द्धम् । उपपादितार्थानुवादेन वेदान्तानां ब्रह्मात्मनि स्थिरीकृतप्रामाण्योपसहारपरमुत्तरार्द्धमित्यर्थभेदान्न पौनरुक्त्यशङ्काकार्या अक्षरार्थः स्पष्टः ॥ २४९ ॥

एवं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य मुक्तिफलतत्त्वज्ञानोत्पादकत्वमुपपाद्य निषेधवाक्यस्यापि सत्यादिवाक्यवत्तत्रोपकारं वक्तुं

प्रकरणान्तरमारभमाणः परमतं तावदाह—

पृष्ठेन पूर्णवपुषा क्रियते प्रतीति-
र्नेतीतिवाक्यजनिता जगतो निषेद्ध्री ॥
प्राधान्यमस्तु विधिना सममेव तस्मा-
त्तस्याथ वा भवतु तद्वचनं प्रधानम् ॥ २५० ॥

पृष्ठेनेति ॥ नेति नेत्यादिवाक्यजनिता जगतः सर्वस्याऽनात्मजातस्य निषेध्री प्रतीतिर्न निषेधमात्रे पर्यवस्यति। धर्मिणमवधिमन्तरेण निषेधस्यापर्यवसानात् पृष्ठेन पश्चाद्धर्मिणमवधिभूतमाश्रित्य पर्यवस्यन्ती सा प्रतीतिः पूर्णवपुषा क्रियते। परिच्छिन्नस्य परागर्थस्य सर्वात्मना निषेधादर्थात्तद्विपरीतब्रह्माकारा जायत इत्यर्थः। एवञ्च सजातीयविजातीयस्वगतसमस्तभेदनिकरस्य समूलस्य प्रतिषेधेनाद्वितीयाखण्डैकरसवस्तुपर्यवसानं यस्मात्तस्माद्विधिना तत्त्वमस्यादिवाक्येन कैवल्यफलवद्विज्ञानजनकतया समं तुल्यं प्राधान्यमेवास्तु निषेधकवाक्यानां विधिनिषेधवाक्यानामेकार्थत्वाद्विकल्पो ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं प्रत्यस्त्वित्यर्थः। अथवा तद्वचनं निषेधवाक्यं तस्य विधिवाक्यस्य प्रधानं भवतु। सर्वथाऽपि निषेधवाक्यं प्रधानमेवेत्यऽभिप्रायः ॥ २५० ॥

स एवैकदेशी पक्षद्वयेऽपि क्रमेण हेतू आह—

अद्वैतीकरणं निषेधवचनादुत्पन्नबुद्धेरपि
तुल्यं तत्त्वमसीतिवाक्यजनितप्रत्यक्प्रतीत्या सह ॥
आर्थं शाब्दमथापि वा भवतु तत्किं तेन यद्वा विधि-
र्नो कर्तुं शबलार्थगोचरतया निर्भेदमर्थं क्षमः ॥२५१॥

अद्वैतीकरणमिति ॥ अद्वैतात्मबोधनमित्यर्थः । नः निषेधवाक्यजन्या प्रतीतिरर्थाददद्वैतीक्रियते विधिवाक्यजन्या साक्षान्मुखत एवेति वैषम्यात् कथमनयोस्तुल्यार्थत्वमिति चेन्न । अप्रयोजकत्वादस्य विशेषस्येत्याह ॥ आर्थमिति ॥ तदद्वैतीकरण-मार्थं वाऽथापि शाब्दं वा भवतु, किं तेन । विशेषेण फलभेदा-भावादित्यर्थः । निषेधवाक्यप्राधान्ये हेतुः, यद्वेत्यादि ॥ विधि-र्विधिवाक्यं शबलार्थगोचरतया निर्भेदमखण्डमर्थं कर्त्तुमैक्यं मुख्यं बोधयितुं नक्षमो यतोऽतो निषेध्योपस्थाकतया तदपि निषेधशेष एवेति योजना ॥ २५१ ॥

ननु लक्षणया विधिवाक्यानामपि मुख्यैक्यार्थता स्यादिति चेन्नेति पुनः स एवाह—

संबन्धजातविरहान्न च लक्षणास्मिन्
संभाव्यते परिहृताखिलदृश्यराशौ ॥
ब्रह्मात्मवस्तुनि ततः प्रतिषेधवाक्य-
शेषत्वमेतु विधिरित्यपि केचिदन्ये ॥ २५२ ॥

संबन्धजातमिति ॥ यद्यपि प्राग्वाच्यार्थसंबन्धोपपादन-मपि लक्षणासिद्धये कृतं तथापि पुनराक्षिप्यते पूर्वोक्तसंबन्धस्या-ऽवास्तवत्वात्तत्प्रयुक्तलक्षणाप्यवास्तवीति ततोऽर्थसिद्धिं परमार्था-ममन्यमानस्येयं प्रवृत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अतो वस्तुतः संबन्धजात-स्य संयोगादेरसङ्गे चिदात्मन्यभावादित्यर्थः ॥ परिहृताखिल-दृश्यराशाविति विशेषणं संबन्धजातविरहे हेतुः । फलितमाह ॥ अत इति ॥ २५२ ॥

एकदेश्युत्प्रेक्षितं पक्षद्वयमपि सिद्धान्ती दूषयति—

वाक्यं मुक्तिफलां धियं जनयति स्पष्टं विधिव्यापृतं
साक्षादेव तव स्वरूपकथनान्नैवं निषेधात्मकम् ॥
अध्यारोपितरूपभेदविलयव्यापारनिष्ठं तत्र
स्वाकारग्रहणक्षमां नहि धियं कर्तुं समर्थं यतः ॥२५३॥

वाक्यं मुक्तिफलामिति ॥ विधिव्यापृतं वाक्यं साक्षाद्व्यापारान्तरव्यधानं विनैव तव स्वरूपकथनात् स्पष्टमसंदिग्धमविपर्यस्तं च यथा स्यात्तथा मुक्तिफलां धियं जनयति । एवं विधिवाक्यवन्निषेधात्मकं वाक्यं न मुक्तिफलां धियं जनयति इति योजना । कुतो नैवमित्यत्र हेतुमाह ॥ अध्यारोपितेति ॥ रूपभेदः प्रपञ्चः । विलयः प्रतिषेधः । यतस्तव स्वाकारग्रहणक्षमां धियं कर्तुं न समर्थमतो नैवं निषेधात्मकमिति सम्बन्धः । जडाजडयोः पारमार्थिकसम्बन्धस्यासम्भवात् काल्पनिक एव सम्बधः प्रागुक्तः । न हि चित्यध्यासं विना जडस्य सिद्धिरस्ति । अतो दैवेनेव जडस्य चित्सम्बन्ध आसादित इति लक्षणोपपत्तिः । सम्बन्धमात्राल्लक्षणोपपत्तौ परमार्थत्वाविशेषणस्य तत्राकिञ्चित्करत्वमित्येतदप्युपपादितमेव । निषेधाऽवधेरपि निषिध्यमानसम्बन्धस्यावश्यमपेक्षितत्वादन्यथाऽप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गात् । प्रमाणप्रसिद्धं च न निषेद्धुं शक्यत इत्यधिष्ठाननिषेध्ययोरारोप एव सम्बन्धोऽभ्युपेय इति स्थिते । चिदात्मन आभासद्वारा दृश्येन सह कल्पितसम्बन्धाल्लक्षणया प्रत्यग्ब्रह्मस्वरूपाकारां धियं जनयितुं शक्नोत्येव तत्त्वमस्यादिविधिवाक्यमित्यभिप्रायः ॥ २५३ ॥

एवं विधिवाक्यानां साक्षादद्वयबोधनमुपपाद्य निषेधवाक्यानां तदसम्भवमुपपादयति—

अस्थूलादिवचःसमुत्थितमतिर्नाकारमादास्यते
साक्षादद्वयवस्तुनस्तत्र विभोरज्ञानविच्छेदिनः ॥
अज्ञातस्य हि वस्तुनो न हि धिया स्वाकारसंवेदनं
मुक्त्वा तद्विषयस्य विभ्रमकृतो ध्वान्तस्य विध्वंसनम् २५४

अस्थूलादीति ॥ निषेधवाक्यजा मतिर्विभोः परिपूर्णस्य अज्ञानविच्छेदिनोऽज्ञानविरोध्याकारस्याद्वयवस्तुनस्तवाकारं नादास्यते न ग्रहिष्यतीति योजना । अयम्भावः । न हि निषेधवाक्यं साक्षादेव ब्रह्मात्मानं गोचरयेत् । तस्य तत्रासामर्थ्यात् नाप्यर्थात् । प्रमाणान्तरमन्तरेणार्थसिद्धस्याधिष्ठानस्य ब्रह्मात्मत्वनिश्चयायोगात् । निषेधान्यथानुपपत्त्या किञ्चिदस्त्यवधिभूतमित्येतावत्तावत् सिद्ध्यति, न पुनः किं तद्वस्तु यदवशेषो निषेध इत्याकाङ्क्षा शाम्यति । अतो निषेधवाक्यं न ब्रह्मात्माकारां धियं जनयितुं पारयतीति न विधिवाक्यसमं, तदपेक्षया प्रधानं वा । किन्तु विधिवाक्यशेषभूतमेवेति । तर्हि मा भूदात्माकारा धीः समस्तद्वैतनिषेधेऽनर्थस्तावच्छाम्यति । आत्मा च स्वयम्प्रकाशत्वात् स्वयमेव प्रथेतेतिचेन्नेत्याह ॥अज्ञातस्य चेति॥ स्वाकारेत्यत्र स्वशब्दो धीवचनोऽथवाऽऽत्मस्वरूपवचनः। आद्ये पक्षे अज्ञातस्य वस्तुनः सम्बन्धी यः । स्वाकाररूपं संवेदनं तन्मुक्त्वा विहाय ध्वान्तस्य विध्वंसनं न हि धिया क्रियत इति योजना।ध्वान्तविशेषणे तद्विषयस्य विभ्रमकृत इति च । अज्ञातवस्तुविषयस्य तत्स्वरूपविशेषाच्छादकस्य तस्मिन् विभ्रमकृतो विक्षेपकारिणश्चेत्यर्थः । यदा पक्षान्तरं, तदाऽज्ञातवस्तुनः स्वोऽसाधारणो य आकारः सत्यज्ञानादिलक्षणस्तत्संवेदनं तदवभासनं विना धिया बुद्धिवृत्त्या तद्विषयस्य विभ्रमकृतो ध्वान्तस्य विध्वंसनं न

हि क्रियत इति योजना । यदि साक्षाद्ब्रह्मात्माकारधीवृत्त्युद-यो न भवेत्तदा तद्विषयध्वान्तानिवृत्तिर्न स्याद्यतो न निषेध-मात्रेण द्वैतानर्थस्य तत्कारणाज्ञानस्य वा निवृत्तिरधिष्ठानयाथात्म्य ज्ञानं विना निवृत्त्ययोगादन्यथा निषेधानन्तरं किमिदमिति जिज्ञासा नस्यान्नचाज्ञानानिवृत्तावात्मापि यथावत् स्फुरेत् स्वय-म्प्रकाशस्वभावत्वेऽपि तस्याज्ञानव्यवहितत्वादिति भावः॥२५४॥

अधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निषेधमात्रात्तदज्ञाननिवृत्त्यसं-भवे दृष्टान्तमाह—

रज्ज्वज्ञानविजृम्भितस्य फणिनो रज्जुप्रकाशक्षम
विज्ञानं विरहय्य न प्रशमनं दृष्टं निषेधे कृते ॥
तद्वत्प्रत्यगविद्यया विरचितं ससारदु.ख न तत
संवित्तिं विरहय्य शाम्यति धिया नेतीति शब्दोत्थया॥२५॥

रज्ज्वज्ञानेति ॥ ऋज्वर्थमिदं पद्यम् ॥ २५५ ॥

तदेवं न निषेधवाक्यं मुक्तिफलां धियं जनयति । न चा-ऽस्य विधिवाक्येन साम्यं, नापि प्राधान्यमिति निर्द्धारितम् । तर्हि किमर्थानि निषेधवाक्यानीति तदाह—

अस्थूलादिवचो निषेधकतया भेदस्य संशोधनाद्
वाक्यार्थान्वयसिद्धये तु घटते वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोः ॥
एवं तत्त्वमसीतिवाक्यगतयोस्तत्त्वम्पदोक्तार्थयोः
संशुद्ध्यैव तु नेतिनेति वचनं मोक्षाय साक्षान्न तु ॥२५६॥

अस्थूलादिवचो निषेधकतयेति ॥ अस्थूलादिवचो भेदस्य स्थूलत्वादिधर्मकस्य प्रपञ्चस्य निषेधकतया वाच्यार्थ-

लक्ष्यार्थयोः संशोधनाद्वाक्यार्थान्वयिसिद्धये तत्त्वमसिवाक्यगत-तत्त्वम्पदार्थयोर्वाक्यार्थान्वयित्वसिद्धये घटते इति योजना। वाक्यार्थान्वयिपदार्थोपस्थापकत्वेन निषेधवाक्यानां महावाक्या-ऽर्थशेषतयाऽर्थवत्त्वं घटत इत्यर्थः। अस्थूलादिवाक्योक्तं न्याय-मथात आदेशो नेतिनेतीत्यादिष्वातिदिशति ॥ एवं तत्त्वमसीति॥ एवमस्थूलादिवाक्यवन्नेति नेति वचनमपि तत्त्वमसीति वाक्य-गतयोस्तत्त्वम्पदोक्तार्थयोः संशुद्ध्यैव संशोधनेनैव तु द्वारेण कथञ्चिन्मोक्षाय भवद्भवेन्न तु साक्षादिति योजना। अत्रेयमभ्य-धिकाशङ्का। भाष्यकारैर्हि नेति नेति वाक्यार्थस्य निषेधमुखेनैव साक्षादवगतिपर्यन्तता बृहदारण्यकभाष्ये निरूपिता। एव-मेव, नेति नेति वचनमित्यादिनेति। तदपि पदार्थशोधने निषेध-वाक्याना स्वातन्त्र्यमभिप्रेत्याध्यस्तरूपानिषेधस्य ब्रह्मावगति-पर्यन्तत्वमुक्तम्, न तु साक्षान्महावाक्यनिरपेक्षत्वमाभिप्रेत्य। यतस्तैरेव सहस्रोपदेशग्रन्थे तत्त्वमसिप्रकरणे विधायकप्रमाणं विना न वस्त्वासिद्धिरिति किमन्यद् ग्राहयेत् कश्चित् प्रमाणेन तु केनचिदित्यादिना प्रबन्धेन प्रतिष्ठापितम्। अतोऽस्मदुक्तमुपपन्न-मिति ॥ २५६ ॥

मतान्तरमाह—

अन्ये पुनर्विधिवचोजनितात्मबुद्धि-
सामर्थ्यसिद्धमनुवक्ति निषेधवाक्यम् ॥
द्वैतोपमर्द्दमिति शासति शिष्यवर्गं
तच्च प्रशस्तमनवद्यमभीष्टमत्र ॥ २५७ ॥

अन्ये पुनरिति ॥ सत्यज्ञानादिविधिवचोजनितात्मबुद्धि-रखण्डाद्वयात्मतत्त्वावगाहिनी तत्त्वमादिवाक्यजन्या च। तथा-

विधेवात्मबुद्धिः।तत्सामर्थ्यात् सिद्धमद्वयवस्तुनि तात्पर्येण बोध्यमाने तद्विरुद्धद्वैतापवादस्यार्थसिद्धत्वात्तं द्वैतोपमर्दमनुवक्ति निषेधवाक्यमतोऽनुवादकत्वान्न स्वतन्त्रमित्यर्थः ॥ अन्ये पुनरिति ॥ शासति शिष्यवर्गमिति सम्बन्धः । इमं पक्षमङ्गीकरोति ॥ तच्च प्रशस्तमिति ॥ यतोऽनवद्यं निर्दुष्टमतश्चाभीष्टमेवेति । अनुवादस्यार्थमतिदार्ढ्यार्थत्वादिति भावः ॥ २५७ ॥

अस्य पक्षस्याङ्गीकारे हेतुमाह—

दृष्टश्च रज्जुविधिनावगतार्थवस्तु-
सामर्थ्यसिद्धभुजगप्रशमानुवादः ॥
रज्जुस्तवाग्रत इयं न भुजङ्गमोऽय-
मित्यत्र तद्वदिह योजयितव्यमेतत् ॥ २५८ ॥

दृष्टश्चेति ॥ अनुवादप्रकारमाभिनयति ॥ रज्जुस्तवेति ॥ स्पष्टार्थमन्यत् ॥ २५८ ॥

निषेधवाक्यानां पदार्थशुद्ध्यर्थत्वं वा विधिवाक्यजन्यज्ञानसामर्थ्यसिद्धाज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यनुवादकत्वं वा न साक्षाद्वस्तुप्रतिपादकत्वमित्युपपाद्य परोक्तं निषेधवाक्यस्य स्वातन्त्र्यमसङ्गतमेवेति द्योतयन् विधिवाक्यस्यैव शेषितां प्रपञ्चयति—

अस्यैव तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाजः
संसारमूलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ ॥
सामर्थ्यमस्ति पटुभिः परिबृंहितत्वा-
द्वेदान्तभूमिगतपञ्चविधार्थवादैः ॥ २५९ ॥

अस्यैवेति ॥ अस्यैव विधिवाक्यस्य । एवकारान्न निषेधवाक्यस्य संसारमलविनिवृत्तिफलप्रसूतौ सामर्थ्यमस्ति । अत्र

हेत्वर्थ विशेषणं,तत्त्वविनिवेदनशक्तिभाज इति ॥ स्वरूपसमर्पण-सामर्थ्यस्य विधिवाक्य एव सम्भवादित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तर-माह ॥ पड्भिरिति ॥ अर्थवादानां पड्त्वमद्वैतज्ञापकयुक्तिपर-त्वादिति बोध्यम् । अत्राप्यस्यैवेत्यनुवृत्तेः पञ्चविधार्थवादोप-बृंहणं न निषेधवाक्यस्येत्यर्थः ॥ २५९ ॥

अर्थवादानां स्वरूपकथनपूर्वकं तत्र हेतुमाह—

सृष्टिस्थितिप्रलयसयमनप्रवेश-
व्यापारजातकथनच्छलतः प्रवृत्तैः ॥
सानुग्रहादवगतिः खलु तत्त्वमादे-
र्वाक्यात्परस्य घटते न ततोऽपरस्मात् ॥ २६० ॥

सृष्टिस्थितीति ॥ एषामर्थवादत्वं स्वार्थे फलराहित्येन फलवद्विज्ञानवाक्यशेषत्वाद्वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्। अत्र सृष्ट्यादित्रयं विजातीयजडप्रपञ्चस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणेन तेन चिदात्मनो द्वैतभावं वारयति।प्रवेशवादस्तु स्रष्टुरेव साक्षाज्जीव-रूपतां दर्शयन् सजातीयभेदं तस्यापाकरोति।नियमनवादस्तु तस्य सर्वनियन्तृत्वोक्त्या सर्वाधिष्ठानत्वमनन्याधीनत्वं च सर्वप्रत्यक्त्वं च दर्शयति।एवमेतैर्भोग्यभोक्तृनियन्तृत्वानामेकत्र कल्पितत्वोक्त्या सर्वकल्पनाधिष्ठानस्य चिदात्मनः कल्पितप्रपञ्चाभेदेन, सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति वाक्यस्य वाच्यार्थत्वं प्रदर्श्यते। कार्यस्य वाचा-रम्भणत्वप्रदर्शनपरवाक्यैकवाक्यतया चापबाधितप्रपञ्चाकारस्य लक्ष्यार्थत्वमिति विवक्षन्नाह ॥ व्यापारजातकथनच्छलत इति ॥ कथनमिषेणेति यावत् । प्रवृत्तेरर्थवादवाक्यानामिति शेषः । सानुग्रहादेवमर्थवादपञ्चककृतानुग्रहसहितात्तत्त्वमादेर्वाक्यात् खलु परस्य परमात्मनोऽवगतिर्यथार्थानुभवो घटते । ततस्तत्त्वमादि

विधिवाक्यादपरस्मान्निषेधवाक्यान्न परस्यावगतिर्घटते निषेध-
वाक्यस्य सृष्ट्यादिवाक्यकृतोपकारानिरूपणादित्यर्थः ॥२६०॥

तथाच तत्पदार्थशोधनार्थमेव निषेधवाक्यं, न स्वरूपबोधना-
ऽर्थमित्येतत्सूत्रकारप्रवृत्तिपर्यालोचनयाऽप्येवमेवेति दर्शयति—

सूत्रं तत्तु समन्वयादिति विधिव्यापारनिष्ठं वचो
मोक्षायेति निवेदनाय कृतवान् वेदान्तवेदी मुनिः ॥
न्यायेनाकलयन्नशेषवचनव्यापारमूरीकृत-
स्वातन्त्र्यः सकलेऽपि वेदशिरसि स्वैरं चरन्नीश्वरः ॥ २६१ ॥

सूत्रमिति ॥ सम्यगखण्डार्थतयाऽन्वयः समन्वय इति
समन्वयशब्दार्थः । वेदान्तवेदी वेदान्तानां सम्यगर्थवेदनशीलः ॥
अनेनास्य वेदान्तविषयेऽज्ञानसंशयविपर्ययराहित्यं सूचितम् ।
वेदान्तवेदी मुनिर्विधिव्यापारनिष्ठं वचो मोक्षाय, न तु निषेध-
व्यापारनिष्ठमित्यर्थाल्लभ्यते इति निवेदनाय, तत्तु समन्वयादिति
सूत्रं कृतवान्॥निषेधवाक्यगतपदान्वयस्य निषेधकपदेन ब्राह्मण-
परिव्राजकन्यायेन सिद्धत्वात् तद्विवक्षाया, तत्तु निषेधादिति
निर्दिशेत् । नैवं निर्दिशत्यतो विधिव्यापारनिष्ठमेव वाक्यं वस्तु-
ग्राहकमित्यर्थः । किं कुर्वन्नेवं सूत्रं कृतवान्मुनिः।न्यायेन युक्ति-
निवहेनाशेषवेदान्तगतपदवाक्यव्यापारमर्थप्रतिपादनप्रवृत्तिप्रका-
रमाकलयन्ननेकैः सूत्रपदैर्निबध्नन्नित्यर्थः । अनेनाविचारपूर्व-
त्वशङ्का सूत्रप्रणयनेऽस्य निरस्ता । किमित्ययं सूत्रशास्त्रनिर्माणे
प्रवृत्त इत्यत आह॥ उरीकृतस्वातन्त्र्य इति॥अपर्यनुयोज्य इत्यर्थः ।
कृतमप्यनेन शास्त्रं वचनान्तरेण तन्त्रान्तरेण वा प्रतिहन्येतेति,
नेत्याह ॥ सकलेषु वेदशिरसि स्वैरं चरन्निति ॥ समस्तवेदान्त-
वाक्याऽविरोधेनैव प्रवृत्तत्वात्तन्त्रान्तरस्य पौरुषेयतया मूल-

प्रमाणापेक्षस्य वेदान्तविरोधे बाधितार्थतया प्रतिपक्षत्वासंभवा दित्यर्थः ॥ २६१ ॥

एवं विधायकवाक्यानामेव साक्षादात्मस्वरूपपर्यवसानेन मोक्षसाधनज्ञानोत्पादकतेत्यत्र सूत्रकारस्य संमतिमुक्त्वा निषेधवाक्यं तु केवलं तत्पदार्थपरिशोधनपरमेवेत्यत्रापि, प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय इति सूत्रोक्तमर्थं संकलय्यस्तत्संमतिमाह—

वाक्यार्थान्वयितत्पदार्थकथने नेतीति वाक्यं पुनः
साक्षात्सूचयति स्म सूत्रकृदतस्तत्तत्परं निश्चितम् ॥
एवं हस्ततलार्पितामलकवत् तात्पर्यसंवेदने
सत्यन्यादृगुदीरयन्ति यदि तत्क्षन्तुं कथं शक्नुमः ॥२६२

वाक्यार्थान्वयीति ॥ स्पष्टान्वयपदेन पूर्वार्द्धेन सूत्रकृत्संमतिर्दर्शिता । उत्तरार्द्धेन तु युक्त्या संमत्या चोपपादितं तात्पर्यमुपसंहरति ॥ एवं हस्तेति ॥ २६२ ॥

इदानीं निषेधवाक्यानां तत्पदार्थशुद्धावुपकारप्रकारं दर्शयति—

सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यभिहिते संभावनाऽऽनीयते
नाऽस्थूलादिवचःसमुद्भवधिया द्वैतोपमर्दं विना ॥
तेनावान्तरवाक्यलक्ष्यविषयां बुद्धिं दृढीकुर्वता
सर्वद्वैतनिषेधकेन वचसा वाक्यार्थधीर्जन्यते ॥२६३॥

सत्यं ज्ञानमिति ॥ अस्थूलादिवचनैः समुद्भवो यस्यास्तया धिया कृत्वा यो द्वैतोपमर्दस्तं विना, सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यभिहितेऽखण्डवस्तुनि सम्भावना न नीयत इति योजना । तत्पदलक्ष्यार्थे सत्यज्ञानादिवाक्यैस्तात्पर्येण प्रतिपादिते वाच्य-

शबलैकदेशस्य हेयांशस्य पृथगस्थाने सर्वात्मनाऽखण्डाद्वय-
वाक्यार्थस्यासम्भावनास्पदत्वाद्यतो न तत्र निश्चिता दृढा मति-
र्भवति तेन कारणेन सत्यज्ञानाद्यवान्तरवाक्यलक्ष्यार्थविषयां
बुद्धिं दृढीकुर्वता सर्वद्वैतनिषेधकेन नेति नेत्यस्थूलमित्यादिवचसा
हेयांशस्यापबाधने सति वाक्यार्थधीर्यथोक्ता निश्चला जन्यते ।
अतः सत्यादिवाक्यैकवाक्यतया पदार्थपरिशोधनपरं सर्वमेव
निषेधवाक्यं, न साक्षादविद्यानिवृत्तिफलकवस्तुतत्त्वसाक्षात्कार-
समर्थमित्यर्थः ॥ २६३ ॥

एवं विधिनिषेधवाक्याभ्यां लक्ष्यार्थशोधने सति कथं
वाक्यार्थधीजन्मेति तदाह—

अस्थूलादिवचोनिरस्तनिखिलद्वैतप्रपञ्चं परं
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्जितमिदं प्रत्यक्स्वरूपं तथा ॥
एकीकृत्य परस्परेण पदयोरर्थद्वयं तत्त्वतः
प्रत्यक्चाद्वयमद्वय च तदिति प्रेक्षस्व निःसंशयम् ॥ २६४

अस्थूलादिवचोनिरस्तेति ॥ अशेषनिषेधवाक्यनिरस्त-
निखिलद्वैतप्रपञ्चं सत्यज्ञानादिलक्षणं परं परमात्मानं तत्पदार्थं
जाग्रदाद्यवस्थासाक्षित्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामवस्थाधर्मासंस्पृष्टत-
या संशोधितमिदं त्वम्पदार्थसाक्षिलक्षणं प्रत्यक्स्वरूपं च
पदयोस्तत्त्वमोरर्थद्वयं पदार्थप्रतीतिसमये सर्वाधिष्ठानत्वेन स-
र्वावभासात्मना चावगतं सच्चिद्रूपं परस्परेणैकीकृत्य उपाधिद्वारं
विना स्वतोभेदादर्शनात्तत्त्वतः स्वत एवैकीभूतं प्रेक्षस्व निःसंश-
यं निःशङ्कं यथा स्यात्तथा, भोः सुबुद्धे इति योजना । कथमेकी-
भूतमीक्षणीयमिति तदभिनीय व्यपदिशति ॥ प्रत्यक्त्वाद्वयं ब्रह्म ।
चकारोऽवधारणार्थः । प्रत्यगात्मा निष्प्रपञ्चं ब्रह्मैव, न ततोऽर्था-

न्तरं, तथाऽद्वयं च ब्रह्म तत्प्रत्यगात्मरूपमेव, न तटस्थमिति प्रेक्षस्वेत्यर्थः ॥ २६४ ॥

ननु ब्रह्मणः परोक्षत्वात् परोक्षमेवेदं तत्त्वं स्यात् कथमपरोक्षप्रत्यगैक्येन निःसंशयं तदीक्षणमित्यत आह—

अद्वैतं परिशोधितं भगवतो विष्णोः परं यत्पदं
तच्छब्देन समर्पितं परिगृहीतादेयमात्मप्रभम् ॥
यच्चोपाधिविवर्जितं तव निजं साक्षात्स्वरूपं तयो-
रेकत्वं परिवर्जितव्यवधिकं प्रत्यक्षमीक्षस्व भोः ॥ २६५ ॥

अद्वैतं परिशोधितमिति ॥ भगवतो नित्यसिद्धनिरङ्कुशैश्वर्यवतो विष्णोः श्रीनारायणस्य जगत्कारणतयोपलक्षितस्य परं पदं सत्यज्ञानाद्यात्मकं स्वरूपं परिगृहीतादेयं यथा स्यात्तथा तच्छब्देन समर्पितं विरुद्धांशप्रहाणेन तच्छब्दलक्षितमिति यावत् । आत्मप्रभं स्वप्रकाशस्वभावम् । इदं विशेषणं पदार्थद्वयसाधारणं ज्ञेयम् । यच्च देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कारोपाधिविवर्ज्जितं तव निजमसाधारणं साक्षान्निरुपचरितं स्वरूपम् एतदुभयं यत उक्तविधया परिवर्ज्जितव्यवधिकं व्यवधायकोपाधिरहितमतः प्रत्यक्षमीक्षस्व भोः । निरस्तोपाधिकस्य स्वयम्प्रकाशस्य चिदात्मनस्तत्त्वम्पदलक्षितस्वरूपस्य परोक्षावभासहेत्वभावादिति भावः ॥ २६५ ॥

ननु यद्यप्येवं परिशोधितयोः पदार्थयोः स्वरूपतो विरोधाभावादेकरसत्वं सम्यगवगन्तुं शक्यते तथापि तवोपदेशं सम्यगऽवधारयतोऽपि ममानृतजाड्यादिविरोधिब्रह्मात्मता किमिति न यथावदवभासते इतिचेत्, सम्यक्पदर्थातत्त्वाऽवधानाभावादित्यभिप्रेत्योक्तपदार्थतत्त्वोक्तिपूर्वकं वाक्यार्थं पुनः स्मारयति—

अनृतजडविभक्तदुःखतुच्छा-

ऽसहनवपुः परमं पदं मुरारेः ॥

परिहृतसकलप्रपञ्चमात्मा

तव तदवेहि तमो निरस्य वाक्यात् ॥ २६६ ॥

अनृतजडेति ॥ विभक्तेत्यन्तत्वानिर्देशः । तुच्छत्वमसत्त्वम् । अनृताद्यसहनवपुः सत्यज्ञानानन्तानन्दसद्रूपं मुरारेः परमं पदमत एव परिहृतसकलप्रपञ्चं यत्तदेव तवात्मेति त्वमवेहि । किं कृत्वा ? । भेदप्रतिभासहेतु तमोऽविवेकलक्षणं वाक्यान्निरस्येति योजना ॥ पुनः पुनरवस्थात्रयापोहेन त्वमर्थस्वरूपविवेके तदविवेकलक्षणतमसो विलयादात्मब्रह्मणोर्भेदहेत्वभावान्निःसंशयमात्मैत्येवैकलक्षणं ब्रह्मेक्षस्वेत्यभिप्रायः ॥ २६६ ॥

एवमुपपादितेऽपि करतलामलकवत्तत्त्वे यत्तवाविश्वासास्पदमिवावभासते तत्तव तत्र श्रद्धादार्ढ्याभावात् । यतः श्रद्धाऽपि सूक्ष्मवस्त्ववधारणकारणमाम्नायतेऽतः श्रद्धालुतया मयोक्तमालोचयेत्यभिप्रेत्याह—

श्रद्धत्स्व सोम्येति हि शास्ति शास्त्रं

श्रद्धाधनत्वश्रुतिरस्ति चान्या ॥

श्रद्धा तु यस्येत्यपरं च वाक्य-

मधीयते संशयकुत्सनाय ॥ २६७ ॥

श्रद्धत्स्व सोम्येति हीति ॥ शास्त्रं छान्दोग्यषष्ठगतम् । एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति शास्तीत्यर्थः । अन्या श्रुतिर्बृहदारण्यकाख्या, श्रद्धावित्तो भूत्वेति श्रद्धाधनत्वश्रुतिरस्तीत्यर्थः । तथा छान्दोग्य एव तृतीयप्रपाठके, यस्य

स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीत्यपरं वाक्यमधीयते । शास्त्रे श्रद्धाविधानप्रयोजनमाह ॥ संशयकुत्सनायेति ॥ अतः श्रद्धयैवोपबृंहितं वाक्यजातं संशयादिनिवर्त्तकमिति भावः ॥ २६७ ।

श्रुतिशासितेऽर्थे भगवद्गीतास्मृतिमप्युदाहरति—

अज्ञो विनश्यति पुमानतिमूढभावा-

दश्रद्धयोपहतबुद्धिरतोऽपि कष्टः ॥

कष्टाच्च कष्टतर एव तु संशयात्मा

दुःखी सदेति भगवानपि वासुदेवः ॥ २६८ ॥

**अज्ञो विनश्यतीति** ॥ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यतीति भगवद्वचनविवरणार्थकमिदं पद्यम् । अतोऽप्यज्ञादपि अश्रद्धयोपहतबुद्धिः कष्टो ज्ञात्वापि स्वहितमविश्वासतः प्राप्तपुरुषार्थत्यागित्वाद्विनष्ट इत्यर्थः । संशयात्मा तु कष्टादश्रद्धोपहतबुद्धेरपि कष्टतरोऽतिनष्टस्तस्यैकत्रापि निश्चयाभावेनास्वस्थमनस्कत्वादतो भगवान् वासुदेवः, सदा दुःखीति तमाहेत्यर्थः ॥ २६८ ॥

ननु योऽश्रद्धां करोति तं प्रतीदमुदाहरणीयम्, अहं तु विरोधादेव न तवोक्तं प्रतिपद्य इतिचेन्नैवम् । विरोधस्य प्राक्परिहृतत्वादिति स्मारयति—

रूपं तावकमुज्झितद्वयमभूदद्वैतमेवाञ्जसा

तच्चाद्वैतमपास्य मोहजनितं पारोक्ष्यमात्मा ह्यभूत् ॥

एवं वेदशिरःपदान्वयवशादेकत्वमेकान्ततः

सिद्धं प्रत्यगनन्तयोरिति तव श्रेयः समाप्तिं गतम् ॥ २६९ ॥

**रूपं तावकमिति** ॥ तावकं रूपं द्वयहेतूपाधिनिरसनेनो-

ज्झितद्वयं सदञ्जसा साक्षादद्वैतमेवाभूत् । तच्चाद्वैतं मोहजनितं पारोक्ष्यमात्मा प्रत्यगभूत् । पारोक्ष्यसद्वयत्वे कारणत्वकार्यत्वोपाधिकृते तयोरपोहे सति हेत्वभावात् पारोक्ष्यादि निवृत्तौ पूर्णात्मता तव स्वयमेवाविर्भूतेत्यर्थः । यत एवमतः सिद्धं ब्रह्माऽऽत्मनि मुक्त्यवसानं वेदान्तप्रामाण्यमित्युपसंहरति ॥ एवमिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ २६९ ॥

एवं वाक्यस्याऽखण्डार्थत्वमुपपाद्य वादिभिरपि नात्र विवादः कर्त्तव्य इति सर्ववाद्यविप्रतिपत्त्या स्वपक्षं द्रढयति—

सम्बन्धः समवाय इत्यपि पदे वैशेषिकोच्चारिते
नाखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं शक्तोऽनवस्थाभयात् ॥
पञ्चानां समवायितेति वचनव्याघातभीतेरपि
सम्बन्धान्तरमस्य नाभिमनुते वैशेषिकः कातरः ॥२७०॥

संबद्ध इत्यादिना ॥ सम्बन्ध्यनाश्रितस्य सम्बन्धस्याभावात्तदाश्रितः सम्बन्धो वाच्यः । आश्रितत्वं च सम्बन्धाधीनमिति हि स्थितिः । तत्र समवायः सम्बन्ध इतिपदद्वयात्मके वाक्ये वैशेषिकोच्चारितेऽखण्डव्यतिरिक्तवस्तु वदितुं न कोऽपि शक्तो, वैशेषिकमते स्थित्वा न वक्तुं शक्यत इत्यर्थः । कुतः ? । अनवस्थाभयात् । समवायस्य स्वसम्बन्धिसम्बन्धे समवायातिरिक्तस्य सम्बन्धस्यानिरूपणात् समवायान्तराभ्युपगमःकार्यः । तथाच तस्यापि सम्बन्धत्वात् समवायान्तरापेक्षेति स्यादनवस्थेत्यर्थः । भवत्वनवस्था, को दोष इतिचेत् स्वसिद्धान्तबाध एवेत्याह ॥ पञ्चानामिति ॥ समवायात्तिरिक्तानां पञ्चानां द्रव्यादिपदार्थाना समवायित्वं साधर्म्यमिति वचनव्याघातभीतेरप्यस्य

समवायस्य सम्बन्धन्तरं वैशेषिको नाभिमनुते। यतः स्वसिद्धान्तभङ्गात् कातरो भीत इत्यर्थः । अतोऽत्र गत्यन्तराभावाद्वैशेषिकमते तावत् सिद्धमखण्डार्थत्वमित्यर्थः ॥ २७० ॥

प्राभाकरं प्रत्यप्याह—

शब्दो गकार इति लौकिकमस्ति वाक्यं
विस्पष्टमस्ति च पदद्वयमत्र वाक्ये ॥
प्राभाकरे च समये न गकारमात्रा-
दन्यत् पदद्वयनिगद्यमभीष्टमस्मिन् ॥ २७१ ॥

शब्दो गकार इति ॥ अस्मिन् वाक्ये ॥ सुबोधमन्यत् ॥ २७१ ॥

प्राभाकरसमये गकारवाच्यमेव शब्दपदस्यापि वाच्यमिति कुतोऽवगम्यते तत्राह—

शब्दत्वजातिवचनो न हि शब्दशब्दः
श्रोत्रोपलम्भनतया तु निबन्धनेन ॥
वर्णान् ब्रवीति न हि जातिरिहाभ्युपेता
साक्षादगकारमयमाह गकारशब्दः ॥ २७२ ॥

शब्दत्वजातीति ॥ शब्दशब्दो न हि शब्दत्वजातिवचनः। जातिवाचित्वाभावेऽपिजातिं पुरस्कृत्यशब्दव्यक्तिं वदिष्यतीतिचेत्तत्राह॥ श्रोत्रोपलभ्यमानत्वेनोपाधिना निमित्तभूतेन शब्दशब्दो वर्णान् ब्रवीति श्रोत्रग्राह्यत्वमेव शब्दत्वं न जातिस्तत्र प्रमाणाभावादनेनैवोपाधिना सर्वशब्देष्वनुगतव्यवहारोपपत्तौ जातिकल्पनायोगादित्यर्थः। अत एवेह शब्दे प्राभाकरैर्जातिर्न ह्यभ्युपेता । अतः शब्दशब्दो यथा वर्णमात्रं ब्रूते तथाऽयमपि गकार-

शब्दः साक्षाद्गकारमाह । अतः, शब्दो गकार इति सामानाधिकरण्यमखण्डगकारमात्रपरमिति स्थितम् ॥ २७२ ॥

एवं स्थिते प्राभाकरैरखण्डवाक्यार्थे विवादो न कार्य इत्याह—

तस्मादखण्डविषये वचने विवाद
प्राभाकाराः परिहरन्तु न चेदशक्यम् ॥
निर्वोढुमेतदिह वाक्यमितोऽन्यथा चे-
दस्यार्थकल्पनमभीप्सितमिष्टहानिः ॥ २७३ ॥

तस्मादिति ॥ नचेत्ते विवादं परिहरेयुस्तदा एतच्छब्दो गकार इतिवाक्यमिह शब्दार्थव्यवहारे निर्वोढुमशक्यमुक्तन्यायादित्यर्थः । विपक्षे दण्डं पातयति ॥ इतोऽन्यथेति ॥ जातिवाचित्वकल्पनया चेदस्य वाक्यस्य संसृष्टार्थकल्पनमभीप्सितं तदेष्टहानिः सिद्धान्तक्षातिरित्यर्थः ॥ २७३ ॥

अत्र पाणिन्याचार्यसंमतिमप्याह—

प्रातिपदिकान्यनतिरिक्तविषयाणि
प्राह भगवान् प्रथमशब्दितविभक्त्या ॥
पाणिनिरतः सकलतर्कसमयज्ञो
वष्टि वचसोरनतिरिक्तविषयत्वम् ॥ २७४ ॥

प्रातिपदिकानीति ॥ भगवान् पाणिनिः प्रथमशब्दितविभक्त्याऽनतिरिक्तविषयाणि प्राहेत्यन्वयः । सकलतर्कसमयज्ञ इति विशेषणेन पाणिनिसंमत्यैव सर्ववादिसंमतिरिति सूचयति । तथा यतोऽर्थभेदाभावोऽतो हेतोर्वष्टिवचसोर्द्धातुभावप्रत्यययोरनतिरिक्तविषयत्वमखण्डार्थत्वं प्राहेति सम्बन्धः ॥ २७४ ॥

तथान्यदपि सर्वपरीक्षकसंमतमुदाहरणमाह—

इय घटव्यक्तिरितीदृशेषु च

प्रसिद्धमेवैकरसार्थगोचरम् ॥

पदद्वय लोकवचःसु तेन च

प्रशस्यते नात्र विवादसग्रहः ॥ २७५ ॥

**इयं घटव्यक्तिरिति**॥सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविधानकादितिन्यायेन संनिहितोपाधिवशादियमित्यस्य वस्तुस्वरूपवाचकता तावत् सिद्धा । घटव्यक्तिशब्दस्य च व्यक्तिवाचकता संमतैव । तथाचेयं घटव्यक्तिरियं पटव्यक्तिरितीदृशेषु वाक्येषु लोकवचःसु पदद्वयमेकरसार्थगोचरं प्रसिद्धमेवेत्यन्वयः । चकारोऽप्यर्थे । ईदृशेषु लोकवचःस्वपीति सम्बध्यते । तेन चेत्यादि स्पष्टार्थम् । चकारोऽत्रायं परीक्षकसंवादैः प्रागुक्तैः सहास्य समुच्चयार्थः ॥ २७५ ॥

तदेवमखण्डवाक्यार्थे न कस्यापि विवाद इति प्रदर्शनेनाऽखण्डे ब्रह्मात्मनि वेदान्तप्रामाण्यं निरपवादमिति प्रतिष्ठापितम् । इदानीं यदुक्तं परिनिष्ठितस्य वस्तुनो मानान्तरयोग्यत्वाद्ब्रह्मात्मनश्च परिनिष्ठितरूपत्वान्न तत्र मानान्तरनिरपेक्षं वाक्यप्रामाण्यं सम्भवतीति तत्राह—

न च प्रमाणान्तरयोग्यतायां

प्रयोजकं स्यात् परिनिष्ठितत्वम् ॥

यतः प्रमाणान्तरयोग्यतायां

प्रयोजकं रूपरसादिमत्त्वम् ॥ २७६ ॥

**न च प्रमाणान्तरयोग्यतायामिति** ॥ सविशेषत्वमेव-

मेवमानान्तरयोग्यतायां प्रयोजकं, न परिनिष्ठितत्वम् । मानान्तर-योग्यत्वस्य सविशेषत्वव्याप्यत्वादित्यर्थः । विमतं मानान्तर-योग्यं परिनिष्ठितत्वात् स्तम्भादिवदिति प्रयोगे सविशेषत्व-मुपाधिरित्युक्तं भवति ॥ २७६ ॥

न च साधनव्यापकत्वमित्याह—

ततोऽस्तु रूपादिविहीनरूपे
प्रमान्तराऽगोचरचित्स्वरूपे ॥
वचः प्रमाणान्तरनिस्पृहं सत्
प्रमाणमत्रात्मनि निर्विवादम् ॥ २७७ ॥

ततोऽस्तु रूपादिविहीनरूप इति ॥ रूपादिविहीनस्व-रूपत्वं तावदात्मवस्तुनोऽशब्दमित्यादिश्रुतिसंमतं वादिसंमतं च। चित्स्वरूपत्वादेव प्रमाणान्तरागोचरत्वमिति न साधनव्यापक-त्वादीत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ २७७ ॥

ननु मानान्तरयोग्यत्वं न रूपादिमत्त्वव्याप्तं रूपादिहीनेऽपि कालादौ मानान्तरयोग्यत्वदर्शनादतः साध्याव्यापकत्वमुपाधे-रितिचेत्तर्हि लोकव्युत्पन्नपदवाच्यत्वं मानान्तरयोग्यतायामुपा-धिरस्त्वित्याह—

लोकप्रसिद्धपदगोचरतानिमित्त-
मन्यप्रमाणविषयत्वमिह प्रसिद्धम् ॥
लोकप्रसिद्धपदगोचरता न चास्मिन्
ब्रह्मात्मनीति च तदत्र निवारणीयम् ॥ २७८ ॥

लोकप्रसिद्धेति ॥ इह व्यवहारभूमौ ॥ अत्रापि साधन-व्यापकत्वं पराकरोति, लोकप्रसिद्धेत्युत्तरार्द्धेन ॥ अत्र ब्रह्मा-

ऽऽत्मनि तदन्यप्रमाणविषयत्वं निवारणीयमित्यर्थः । न च पूर्वोक्तोपाधेरपि साध्याव्याप्तिः । कालादेरपि सगुणत्वेन सविशेषत्वात् । रूपादिमत्त्वशब्देन विशेषवत्त्वमात्रस्य विवक्षितत्वाद्ब्रह्मणि च विशेषाभावादिति द्रष्टव्यम् ॥ २७८ ॥

एवं सति कार्यवाक्यस्य मानान्तरसापेक्षत्वप्राप्तिर्न वेदान्तवाक्यस्येति लोकप्रसिद्धपदगोचरत्वस्य मानान्तरगोचरत्वाऽव्यभिचारं द्रढयति—

लोकप्रसिद्धपदगोचरतास्ति कार्ये
तेनाऽस्तु कार्यपरवाक्यमशेषतस्ते ॥
मानान्तरेषु परतन्त्रतयाऽप्रमाणं
स्वार्थे न दूषणमिदं श्रुतिमस्तकेषु ॥ २७९ ॥

लोकप्रसिद्धपदगोचरताऽस्ति कार्ये इति ॥ कार्येवाचिनो लिङादिपदस्य लोक एव व्युत्पन्नत्वात् कार्ये लोकप्रसिद्धपदगोचरताऽस्ति । तेन हेतुना ते कार्यवादिनः कार्यपरवाक्यमशेषतोऽशेषेषु मानान्तरेषु परतन्त्रतया स्वार्थे प्रमाणमस्त्विति योजना । इदं दूषणं मानान्तरायत्तं स्वार्थे प्रामाण्यमित्येवंरूपं न श्रुतिमस्तकेषु वर्त्तते । ब्रह्मपदस्य लिङादिपदवल्लौकिकपदत्वाभावादित्यर्थः ॥ २७९ ॥

यत् पुनः क्रिया विना पदानामन्वयायोगात् क्रियापदाऽङ्गीकारे च वाक्यस्य तत्प्राधान्यान्न सिद्धे प्रामाण्यसम्भव इत्युक्तं तत्राह—

न च क्रियाकारितसंहतीनि
पदानि लोके नियमेन वक्तुम् ॥

समीहते पक्कमतिः पदानां
क्रियां विनाप्यन्वयदर्शनेन ॥ २८० ॥

न च क्रियेति ॥ पक्कमतिः प्रेक्षापूर्वकारी ॥ २८० ॥

क्रियापदं विनापि पदानामन्वयदर्शनमुदाहरति—

महीभुजोऽयं पुरुषो मनस्वी
वनस्पतेस्तत्फलमित्यपीह ॥
क्रियां विनाप्यन्वयवन्ति लोके
पदानि दृष्टानि बहूनि वक्तुः ॥ २८१ ॥

महीभुजोऽयमिति ॥ इह लोके इति ॥ क्रियां विनाऽप्यन्वयवन्ति बहूनि पदानि वक्तुर्मुखान्निर्गतानि दृष्टानीति योजना । उदाहरणार्थः सुगमः । सम्बन्धनिष्ठत्वादेतादृशवाक्यानां नात्र क्रियापदाध्याहारसम्भव इति भावः ॥ २८१ ॥

क्रिययान्वयसम्भव इत्यभ्युपगमेऽपि वेदान्तेषु न विवक्षितार्थत्वविरोध इत्याह—

क्रियापदं वेदशिरःस्वपीष्यते
विवक्षितार्थानुगुणं तु तन्मतम् ॥
विवक्षितार्थप्रतिपत्तिघाति तु
क्रियापदं स्वीकृतमप्यनर्थकम् ॥ २८२ ॥

क्रियापदमिति ॥ यत्र क्रियापदमिष्यते तद्विवक्षितार्थानुगुणमेवेष्यते । यत्तु क्रियापदं विवक्षितार्थप्रतिघाति तत्स्वीकृतमपि निरर्थकमतो वेदशिरःस्वपि स्वार्थप्रतिपत्त्यविघातकतयार्थप्रतीत्यनुकूलमेव क्रियापदमेष्टव्यम् । तदिहाप्यस्तीत्यर्थः ॥ २८२ ॥

किमत्र क्रियापदं यदङ्गीकारे वाक्यस्य वस्तुपरत्वाविरोध इति तत्राह—

अस्त्यस्म्यसीति च पदं प्रचुरं क्रियाया
वेदान्तवाक्यगतमादरतः पठन्ति ॥
तन्मात्रतः सकलवेदशिरःपदानां
संघातसिद्धिरिति वेदशिरोनिषण्णाः ॥ २८३ ॥

अस्त्यस्म्यसीति ॥ अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते । ब्रह्मास्मि तत्त्वमसीति च वेदान्तवाक्यगतं क्रियायाः पदमिति सम्बन्धः । तन्मात्रतस्तादृशक्रियायोगमात्रतः । वेदशिरोनिषण्णाः सम्प्रतिपन्ना इति शेषः । नचैवंविधक्रियाङ्गीकारेऽपि वाक्यस्य क्रियाप्राधान्याद्वस्तुपरत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अस्त्यादिशब्दस्य सत्तामात्रविषयत्वात् । न हि सत्ताऽपि क्रिया तस्या वस्तुस्वरूपमात्रत्वात् । अन्यथा द्रव्येतरपदार्थानामसदात्मत्वप्रसङ्गात् । तस्माद्वस्तुस्वरूपसत्तैव क्रियात्वोपचारेणाख्यातपदेनोच्यते । अतो नैतादृशक्रियापदैर्वस्तुप्राधान्यहानिरिति भावः ॥ २८३ ॥

यद्यस्त्यर्थनिष्ठं वाक्यं स्यात्तदा सत्तायाः प्रमाणयोग्यतालक्षणत्वात् प्रमाणयोग्यतैव वाक्यार्थः स्यात् । तथाच प्रमाणान्तरयोग्यताऽपि स्यादिति मानान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्ग इति प्राभाकराणां चोद्यमनुवदति—

यत्तु प्रमाणमनुभूतिरिति प्रमाण-
सामान्यलक्षणमनूद्य पुनर्वदन्ति ॥
सत्ताप्रमाणघटनां प्रति योग्यताऽतो

नास्त्यर्थनिष्ठवचनेष्वनपेक्षतेति ॥ २८४ ॥

यत्तु प्रमाणमिति॥अनुभूतिः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्य-लक्षणं स्वशास्त्रसिद्धम् अनूद्य, यत्तु पुनर्वदन्ति तद् दुर्घटमिति परेण सम्बन्धः। किं वदन्ति, तदाह ॥ सत्तेति ॥ प्रमाणघटनां प्रति योग्यता सत्ता प्रमाणाधीना सत्तेति यावत्। एवं यतो-ऽतोऽस्त्यर्थनिष्ठवचनेषु नानपेक्षतेति वदन्तीति योजना॥२८४॥

अनूदितं मतं दूषयति—

तद् दुर्घटं न खलु संविदियं स्वयोग्या
न ह्यात्मनि स्थितिमुपैष्यति योग्यताऽस्याः ॥
वस्त्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वहेतो-
र्न ह्यात्मरूपदहने दहनस्य शक्तिः ॥ २८५ ॥

तद् दुर्घटमिति ॥ कथं दुर्घटमिति, तदाह ॥ न खल्वि-ति ॥ इयं संविन्न खलु स्वयोग्या स्वग्राह्या न भवतीत्यर्थः। तत्र हेतुर्न हीति ॥ योग्यता ग्राह्यता आत्मनि ग्राहकस्वरूपे स्थिति निष्ठां न ह्युपैष्यति। कुत इत्यत आह ॥ अस्या वस्त्व-न्तरेति ॥ पदशब्दो विषयवचनः। विषयस्य भावो विषयत्वं स्वं च तद्विषयत्वं च स्वविषयत्वं वस्त्वन्तरेण उपनिहितं च तत्स्व-पदत्वं चेति वस्त्वन्तरोपनिहितस्वपदत्वम्। तस्माद्धेतोरिति विग्रहः। स्वातिरिक्तप्रमाणवस्तुकृतत्वाद्ग्राह्यगताविषयत्वस्येत्य-र्थः। भेदाभावे ग्राह्यग्राहकत्वायोगे दृष्टान्तं द्योतयन्नाह ॥ न हीति ॥ आत्मरूपदहने दहनस्वरूपदाहे तस्यैव दहनस्य न हि शक्तिर्दृष्टा, दाह्यदाहकभेदाभावादित्यर्थः। एकस्यैवैकदैकस्यां क्रियायां कर्मकर्तृभावेन गुणप्रधानत्वविरोधान्नानुभूतिः स्व-वेद्या. नाप्यन्यवेद्या। अन्यस्य जडत्वे वेदकताऽसम्भवादजडत्वे

तस्याप्यनुभूतिमात्रत्वात् समानस्वभावतया प्रदीपयोरिव मिथो-विषयविषयिभावायोगादनुभूतिर्न मानग्राह्येति मानयोग्यत्वं सत्त्वमिति पक्षेऽनुभूतेरसत्त्वप्राप्तिरिति भावः ॥ २८५ ॥

उक्तमेवार्थं स्फुटयन् सत्त्वस्य मानाधीनतायां सर्वार्थासिद्धिं दोषं प्रसञ्जयति—

संवित् प्रमाणघटनां प्रतियोग्यतां चे-
न्नेयं बिभर्त्ति न सती भवितुं समर्था ॥
तद्योग्यतैव यदि मातृघटादिसत्ता
तस्याप्यसत्त्वमिति शून्यमुपाजिहीथाः ॥ २८६ ॥

**संवित् प्रमाणघटनामिति** ॥ इयं संविदिति सम्बन्धः । प्रमाणविषयतां चेन्न बिभर्त्तीत्यर्थः । तदा प्रमाणाधीना सत्तेति मते सा सती भवितुं न समर्था । सत्त्वासिद्धेरनुभूतेरसत्त्वमेव स्यादित्यर्थः । एवमनुभूतेः प्रमाणस्यासत्त्वे तद्योग्यतालक्षणं सत्त्वमितरेषामपि न स्यादिति जगच्छून्यतापत्तिरित्याह ॥ तद्योग्यतैवेति ॥ तस्यापि मातृघटादेरपीति यावत् । उपाजिहीथाः उपगतवानसीत्यर्थः ॥ २८६ ॥

तस्मादनुभूतिः प्रमाणमित्यङ्गीकुर्वता मानयोग्यत्वं सत्त्वमिति दुराग्रहं परित्यज्य वस्तुस्वरूपमेव सत्त्वमिति ग्राह्यमित्याह—

वस्तुस्वभाव इति सत्त्वमतो गृहाण
तच्च द्विधेति वितथाऽवितथत्वभेदात् ॥
सत्त्वं द्विरूपमितरेतरसंकरेण
सच्छब्दवाच्यमिति च व्यवहारकाले ॥ २८७ ॥

**वस्तुस्वभाव इति** ॥ सत्त्वस्य वस्तुस्वभावत्वे तस्य

मानाधीनत्वासिद्धेर्मानान्तरयोग्यता दूरापास्तेति सिद्धमिति भावः। तथापि सन्मात्रे ब्रह्मण्यवाच्ये कथमस्त्यर्थनिष्ठस्य शब्दस्य प्रवृत्तिरिति, तत्राह ॥ तच्च द्विधेति ॥ तच्च सत्त्वं द्विधेति गृहाणेत्यनुषङ्गः। परमार्थत्वापरमार्थत्वभेदाद् द्विधेत्यर्थः। एकमेव सत्त्वं चिदात्मरूपं स्वरूपतो बाधानिरूपणादवितथं, तदेव बाध्यदृश्योपरक्ततया बाध्यत्वाद्वितथं च न सत्त्वद्वैविध्यमपि निरपेक्षमस्तीति भावः। तच्च द्विरूपं सत्त्वमविवेकापन्नं सद्व्यवहारकाले सच्छब्दवाच्यमिति च गृहाणेत्यन्वयः। स्वरूपेणावाच्यमपि ब्रह्म शबलाकृति सद्वाच्यमिति भवेच्छब्दवृत्तिगोचर इति भावः ॥ २८७ ॥

शबलस्य शब्दगोचरत्वेऽपि स्वरूपे कथं शब्दप्रवृत्तिस्तदभावे च कथं तत्र वाक्यस्य प्रामाण्यमिति शङ्कायां वेद्यांशप्रहाणेन शोधिते पदार्थस्वरूपे लक्षणया पर्यवसानसम्भवाद्युक्तं तत्र शब्दप्रामाण्यमित्याह—

उत्सृज्य तत्र वितथांशमथेतरस्मिन्
संवित्स्वरूपपरमार्थसति स्वरूपे
बुद्धिं कुरु प्रणिदधत् प्रणयेन भूम्नि
ब्रह्माहमस्मि परमार्थसदित्यजस्रम् ॥ २८८ ॥

उत्सृज्य तत्रेति ॥ इतरस्मिन्नित्युक्तांशस्वरूपमाह ॥ संविदिति ॥ संवित्स्वरूपं च तत्परमार्थसच्चेति तथाऽस्मिन् स्वरूपे वस्तुनि भूम्नि परिपूर्णे इति योज्यम्। एवंविधे स्वरूपे प्रणिदधत्प्रणयेन सम्यगाहितस्नेहेन सादरतरवृत्त्येति यावत्। परमार्थसद्ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं निरन्तरं बुद्धिं कुरु इति योजना॥२८८॥

यत्तु पुनरुक्तं ब्रह्मणो मानान्तरगोचरत्वे वेदान्तानामनुवाद-

त्वं स्यात्तदगोचरत्वे तत्र न शब्दशक्तिग्रह इत्यबोधकतेति तत् परिहरति—

ब्रह्म स्वयम्प्रभमनः शबलेषु तस्य
मानान्तरानधिगतेष्वपि शब्दशक्तिः ॥
रूपेषु वृद्धजनसंव्यवहारहेतोः
शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथानभिज्ञैः ॥ २८९ ॥

ब्रह्म स्वयम्प्रभमिति ॥ यतो ब्रह्म स्वप्रकाशमतो मानाऽन्तरानधिगतेष्वपि तस्य ब्रह्मणो रूपेषु वृद्धजनव्यवहारहेतोरनभिज्ञैः प्रागुदितेन पथा शब्दशक्तिर्ग्रहीतुं शक्येति योजना। ब्रह्मणो मानाविषयत्वेऽपि स्वयं प्रकाशत्वात्तस्यानात्मशबलान्यऽपि रूपाणि साक्षिसिद्धानि भवन्ति व्यवहारदशायामिति तन्निबन्धनस्तेषु प्रागुपपादितप्रकारेण सत्यादिशब्दशक्तिग्रहः संभवतीति नोक्तदोषद्वयावकाश इति भावः ॥ २८९ ॥

ब्रह्मलक्षणवाचिनां सत्यादिपदानां व्युत्पत्तिप्रकारः, आकाशादौ सत्यता तावदेकेत्यादिना प्रागुपपादितः। इदानी लक्ष्यवाचिब्रह्मपरमात्मसदादिपदाना व्युत्पत्तिप्रकारमाह—

लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणां
समीपसङ्कीर्तनतोऽपि शक्तिः ॥
ब्रह्मादिशब्दस्य सुखावसेया
यथा हि यूपादिगिरस्तथैव ॥ २९० ॥

लोकप्रसिद्धेति ॥ लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणि ब्रह्मादिपदेभ्योऽन्यानि अस्ति भाति सत्यमिदमित्यादीनि। तेषां समीपे संकीर्त्तनतस्तत्समभिव्याहारादपि ब्रह्मादिशब्दस्य शक्तिः सुखा-

ऽवसेयेति योजना। अपिशब्दात् स्वरूपतोऽपि शक्तिः सुखावसेयेति। एतदुक्तं भवति। बृहतिधात्वर्थस्तावत्प्रसिद्धो लोके महत्त्वावद्योतकः। स च स्वार्थसंकोचकप्रकरणोपपदयोरभावे निरङ्कुश एवावतिष्ठते। तच्च निरङ्कुशमहत्त्वं दृश्येषु न संभावितम्। दृश्यस्य सर्वस्य देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छेदात्। अतो ब्रह्मशब्द एव बृंहेर्धातोर्निष्पन्नः स्वमहिम्ना प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्म ग्राहयतीति स्वरूपतोऽपि ब्रह्मपदस्य ब्रह्मणि व्युत्पत्तिः। तथाऽस्ति भाति सत्यं ज्ञानमित्यादीनि पदानि व्यवहारदृष्ट्या लोके प्रसिद्धार्थघटपटादिविषयाणि। तैः सह ब्रह्मपदस्य समभिव्याहारे सति, यतो वेत्यादिवाक्यैर्जगदुदयस्थितिलयहेतुत्वेन नियम्यमानं सर्वजगदाधारभूतं सर्वकार्यानुस्यूतं महद्वस्तु ब्रह्मेति वैदिकपदकदम्बसत्यज्ञानादिवाक्यगतब्रह्मशब्दव्युत्पत्तिरप्युपपद्यत इति। प्रसिद्धपदसमभिव्याहारादप्यप्रसिद्धपदार्थव्युत्पत्तिर्भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह ॥ यथा हीति ॥ यूपादित्यादिपदादाहवनीयग्रहः। यथा यूपशब्दार्थो लौकिकोऽपि, खादिरो यूपो, बैल्वो यूपो, यूपं तक्षति, यूपमष्टास्रीकरोतीत्यादिषु प्रसिद्धार्थखदिरादिपदसमभिव्याहारात्तक्षणविशेषादिसंस्कृतः काष्ठविशेषो यूप इति व्युत्पत्तिर्ज्ञायते। तथा आहवनीये जुहोतीति प्रसिद्धार्थहोमवाचिपदसमभिव्याहाराद् आहुतिप्रक्षेपाधारोऽग्निराधानसंस्कृत आहवनीय इति व्युत्पत्तिर्भवतीति ॥ २९० ॥

मा भूद्ब्रह्मणि कथञ्चिदपि शब्दशक्तिग्रहो विनापि तेन तत्र वेदान्तप्रामाण्यसम्भवादित्याह—

विनापि शक्तिग्रहणं पदानां

परात्मनोर्वाचकभावभाजाम् ॥

भवेत् परब्रह्मणि वेदवाक्यात्
प्रतीतिरन्यप्रतिषेधनेन ॥ २९१ ॥

विनापीति ॥ परस्तत्पदार्थ आत्मा त्वम्पदार्थः। तयोः परात्मनोर्वाचकभावभाजा पदानां ब्रह्मात्मादिशब्दानां शक्तिग्रहणं विनाऽपि अन्यप्रतिषेधनेनानात्मापोहेन वेदवाक्याद्ब्रह्मणि प्रतीतिर्भवेदिति योजना ॥ २९१ ॥

ननु निषेधवाक्यवर्त्तिनामपि पदानां तुल्या व्युत्पत्त्यपेक्षेतिचेत् सत्यं, तेषां त्वनात्मविषयव्युत्पत्त्यैव ब्रह्मणि प्रवृत्तिसम्भवात् पृथक् तत्र न व्युत्पत्त्यपेक्षेत्याह—

नञः प्रपञ्चप्रतिपादकस्य च
प्रतीत्य शक्तिं व्यवहारतः स्थितः ॥
पदस्य शक्नोति परं समीक्षितुं
श्रुतेः प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः ॥ २९२ ॥

नञः प्रपञ्चेति ॥ व्यवहारतो व्यवहारे स्थितः पुमान् प्रपञ्चप्रतिपादकस्यानात्मवाचकपदस्य नञो नञ्पदस्य च शक्तिं प्रतीत्य श्रुतेर्वेदान्तवाक्यात् प्रपञ्चप्रतिषेधमार्गतः परं ब्रह्म समीक्षितुं शक्नोतीति योजना। अभ्युपगम्य वादोऽयं, विधिवाक्यं विना वस्त्वसिद्धेरुक्तत्वात्। यद्वा सम्भववाद एवायं, सर्वानात्मनिषेधस्य सावधित्वादवधेश्चैकत्वान्निषेध्यासजातीयत्वाच्च परिच्छेदज्ञापकहेत्वभावादपरिच्छिन्नवस्तुत्वेनावधेर्ब्रह्मपदगोचत्वोपपत्तेः। न चैवं सति पूर्वापरोक्तिपराहतिः। पूर्वत्र निषेधवाक्यानामखण्डवस्तुनि स्वातन्त्र्याभावमात्रस्योपपादितत्वादिह पदार्थसन्मात्रस्योपस्थापकतया ब्रह्मपदार्थसमर्पकत्वस्य विवक्षितत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ २९२ ॥

यत् पुनः प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुपयोगिनि वस्तुनि न प्रामाण्यं शब्दस्येत्युक्तम्। तत्रेदं वक्तव्यम्। किं प्रामाण्योपयोगित्वेनार्थस्य प्रवृत्त्याद्युपयोगोऽपेक्ष्यते किं वा प्रयोजनसिद्ध्यर्थमिति। तत्र नाद्यो, बोधकत्वेनैव प्रामाण्यसिद्धेरित्याह—

ब्रह्मास्मीतिवचोनिविष्टपदयोर्मानं भवेदन्वयः
साक्षादद्वयवस्तु तस्य च भवेन्मेयं ततस्तद्गतेः॥
यद्यत्र प्रमितिं करोति भवति प्रमाण्यमत्रास्य च
स्पष्टं दृष्टमिदं हि युक्तिघटितं रूपे यथा चक्षुषः॥२९३॥

ब्रह्मास्मीति वच इति॥ वचो वाक्यम्। अन्वयः सामानाधिकरण्यरूपः सम्बन्धः। समानाधिकृतं पदद्वयात्मकं वाक्यं मानं भवेदित्यर्थः। तस्य च वाक्यस्य साक्षादद्वयवस्त्वेकरसं ब्रह्मात्मकं मेयं भवेदिति संबन्धः। कुत इत्यत आह॥ ततस्तद्गतेरिति॥ तस्मात् प्रमाणात्तस्य प्रमेयस्यावगमादित्यर्थः। उक्तमर्थं सामान्यव्याप्तिकेनानुमानेन साधयति॥ यद्यत्रेति॥ विमतं विमते प्रमाणम्। तत्र प्रमितिजनकत्वात्। यद्यत्र प्रमितिं जनयति तत्तत्र प्रमाणम्। यथा रूपे चक्षुरित्यर्थः। इदं हि युक्तिघटितमित्यस्यायमर्थः। ज्ञानं ह्युत्पद्यमानं न निर्विषयमुत्पद्यते। विषयप्रकाशनं च तस्य स्वभावः। तथाच येनकेनापि करणेनोत्पन्नं ज्ञानं कारणदोषाद् बाधकज्ञानाद्वा विना नाप्रमा भवेत्। उत्सर्गतः सर्वज्ञानानां प्रमारूपत्वोपगमात्। एवं सति वेदान्तवाक्यानामदुष्टज्ञानकारणत्वात् तद्विषयापहारिमानान्तराभावाच्चाऽर्थावबोधकत्वेनैव प्रामाण्यं चक्षुरादिवदुपपन्नमिति॥२९३॥

ननु नोक्तयुक्त्यनुमानाभ्यां ब्रह्मणि वेदान्तमानत्वसिद्धिर्युक्ता। सोऽरोदीदित्यादिवाक्ये मानान्तराऽबाधितार्थबुद्धि-

जनकत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यादर्शनादतः प्रवृत्तिनिवृत्त्युपयोग्यर्थकत्वाभावात् सप्तद्वीपा वसुमतीतिवाक्यवदप्रामाण्यं वेदान्तानामिति द्वितीयं पक्षमाशङ्क्य, सोऽरोदीत् सप्तद्वीपेत्यादिवाक्याना स्वार्थमात्रज्ञानस्याफलत्वादेवाप्रामाण्यं न प्रवृत्त्याद्युपयोग्यर्थाऽबोधकत्वात्। प्रकृतवाक्ये तु स्वार्थज्ञानस्य साक्षात् फलवत्त्वादित्यभिप्रेत्याह—

मानान्तरानधिगतं परिनिष्ठितं यद्
वेदः समर्पयति चेतसि तत्परः सन् ॥
तत्तथ्यमेव भवतीति समाश्रयस्व
श्रेयस्करो विधिगिरोऽवगतो यथैव ॥ २९४ ॥

मानान्तरेति ॥ यत् परिनिष्ठितं सिद्धं वस्तु वेदः समर्पयति तद्वस्तु तथ्यमेव तथारूपमेवेति समाश्रयस्वेति योजना। तर्हि, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यादेरपि तथाभूतार्थत्वेन प्रामाण्यं स्यादित्यत आह ॥ मानान्तरानधिगतमिति ॥ तथापि, सोऽरोदीदित्यादौ प्रसङ्गोऽत उक्तं, तत्परः सन्निति ॥ तात्पर्य साक्षात्फलवदर्थावबोधकत्वं, सोऽरोदीदित्यादौ न साक्षात्फलवदर्थबोधकत्वमिति विशेषः। फलवत्स्वार्थबोधकत्वेन प्रामाण्ये दृष्टान्तमाह ॥ श्रेयस्कर इति ॥ यथैव विधिगिरो विधिवाक्याच्छ्रेयस्करोऽर्थोऽवगतस्तथेत्यर्थः । तस्माच्चोदनाया इव धर्मे ब्रह्मणि समन्वयस्य प्रामाण्यमविशिष्टम्। तात्पर्येणार्थावबोधकत्वाविशेषादिति भावः ॥ २९४ ॥

नन्वज्ञातार्थत्वतत्परत्वे यद्यपि वेदप्रामाण्यप्रयोजके तथापि, न तन्मात्रेण प्रामाण्यसिद्धिः, किन्त्वर्थस्य प्रयत्ननिष्पाद्यत्वं शब्दस्य चोदनात्वं चापेक्ष्यैव प्रमाणप्रमेयभाव इतिचेत्तत्राह—

निष्पन्नमेव यदि वा पुरुषप्रयत्न-
निष्पाद्यमस्तु तदनङ्गमिह प्रमेये ॥
एवं विधिर्भवतु शब्दसमन्वयो वा
प्रामाण्यकारणमिदं न वदन्ति सन्तः ॥ २९५ ॥

निष्पन्नमेवेति ॥ प्रमेयेऽर्थे यन्निष्पन्नत्वं निष्पाद्यत्वं वा तन्न शब्दप्रामाण्येऽङ्गमिह शब्दार्थव्यवहार इत्यर्थः । यथा प्रमेये नियमाभावः, एवं विधिरित्यादि सुगमम् । सन्त इदं विधित्वं समन्वयत्वं वा प्रामाण्यकारणं न वदन्तीत्यर्थः । अज्ञातार्थत्व-तत्परत्वयोः सतोरपि विषयगतकार्यत्वस्य वा वेदगतचोदनात्वस्य वाऽभावमात्रापराधेनाप्रामाण्यादर्शनान्नेदमुभयमुभयत्र कारणमिति भावः ॥ २९५ ॥

ननु चक्षुरादे रूपादिवद्वेदस्यापि किञ्चिन्नियतप्रमेयं वक्तव्यं, न तु सिद्धं वा साध्यं वेत्यनियमो युक्तइतिचेन्नैवम् । अवान्तर-विषयभेदस्य चक्षुष्येकस्मिन्नपि दर्शनात्तस्य च तत्राप्रयोजकत्वादित्याह—

नीलैकगोचरतया नियतं न चक्षु-
र्नाप्यस्य पीतविषये नियमोऽस्ति शक्तेः ॥
तद्वन्न वेदवचसामपि शक्तियोगः
कार्यादिवस्तुषु कथञ्चन पक्षपाती ॥ २९६ ॥

नीलैकेति ॥ अस्य चक्षुषः शक्तेरिति सम्बन्धः ॥ कार्यादिवस्तुष्विति ॥ कार्ये वा सिद्धे वोभयस्मिन् वेत्यर्थः । तथाचाऽज्ञातज्ञापकत्वेनैव वस्तुनि प्रामाण्यं चक्षुषो वा वेदस्य वा न विषयविशेषनियतत्वेनेति भावः ॥ २९६ ॥

ननु जैमिनिना पूर्वतन्त्रे, आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्यादिना ऽऽक्षेपसमाधानाभ्या सर्वस्य वेदस्य क्रियापरत्वप्रतिपादनात् क्रियायाश्च चोदनालक्षणत्वात् कार्यत्वं चोदनात्वं च वेदे मेयमानत्वप्रयोजकं, न त्वनियमेनाज्ञातज्ञापकत्वादीतिचेन्नेत्याह—

यद्बादरायणमत परिगृह्य पूर्वं
श्रेयस्करेऽनधिगते खलु चोदनायाः ॥
प्रामाण्यमुक्तमिदमस्य समन्वयस्य
वस्तुस्वरूपकथनेऽप्यविशिष्टमास्त ॥ २९७ ॥

यद् बादरायणमतमिति ॥ औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाण बादरायणस्यानपेक्षत्वादिति बादरायणाचार्यमतमनधिगतार्थविषयत्वमनपेक्षालक्षणवेदप्रामाण्यमिति परिगृह्य श्रेयस्करेऽनधिगतेऽर्थे धर्मरूपे यत् खलु प्रामाण्यमुक्तं जैमिनिनाचार्येण इदं प्रामाण्यप्रयोजकमस्य समन्वयस्येति सुगमम् । तथाचोत्तरमीमांसाकारबादरायणमतस्यानुकर्षणेनानुपलब्धे मानान्तरानधिगतेऽर्थे वेदशब्दप्रामाण्यस्य साधितत्वाज्जैमिनेरपीदमेव प्रामाण्यप्रयोजक माभिमतं लक्ष्यते, न चोदनात्वं कार्यार्थत्वं वा । तच्च सिद्धे ब्रह्मणि समन्वयप्रामाण्येऽपि समानमिति न पूर्वतन्त्रकृद्वचनविरोधः । तत्र यदाम्नायस्येत्यादिना सिद्धबोधिवाक्यानां विधिशेषत्वेन प्रामाण्यनिरूपणं तत् कर्मकाण्डगतार्थवादवाक्यविषयं वेदितव्यमिति भावः ॥ २९७ ॥

न पुनरिदं पूर्वतन्त्रे सूत्रकारस्यैव संमतमपि तु तद्व्याख्यातॄणां शबरस्वामिप्रभृतीनामपीत्याह—

मानान्तरानधिगतं त्ववगम्यमानं

मेयं भवेदिति हि मेयविदो वदन्ति ॥
मानान्तरानधिगते विषयेऽवबोध
कुर्वत्प्रमाणमिति मानविदां प्रसिद्धिः ॥ २९८ ॥

**मानान्तरानधिगतं त्विति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥२९८॥**

एवमुक्तेन प्रकारेण प्रामाण्यप्रयोजकस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् सर्ववैदिकसंमतत्वाच्च चोदनाया धर्मे प्रामाण्यमिच्छद्भिः समन्वयस्य ब्रह्मण्यपि प्रामाण्यमेष्टव्यमन्यथा तत्रापि तदासिद्धिरित्युपपादितमर्थं निगमयति—

एवं सतीह यदि वेदशिरो न मानं
श्रेयस्करे विधिगिरोऽपि न मानता स्यात् ॥
श्रेयस्करे विधिगिरो यदि मानता स्याद्
वस्तुस्वरूपकथनेऽपि समन्वयस्य ॥ २९९ ॥

एवं सतीति ॥ इह ब्रह्मात्मनि, श्रेयस्करे स्वर्गादिश्रेयःसाधने यागादौ, समन्वयस्य मानता स्यादित्यनेनानुषङ्गः । न विधिलक्षणत्वं वेदप्रामाण्यमपि त्वबाधितानधिगतानन्यशेषार्थे फलवद्विज्ञानजनकत्वमिति भावः ॥ २९९ ॥

ननु प्रयोजनपर्यवसितत्वं शब्दप्रामाण्ये प्रयोजकं तथैव व्युत्पत्तेर्वेदस्य च विशेषतोऽप्यध्ययनविधिना प्रयोजनवदर्थावबोधफलत्वस्य दर्शितत्वात् प्रयोजनाभावेऽर्थवादत्वप्रसङ्गात् । प्रयोजनं च तद्यत् पुरुषकृतिसाध्यमतो वस्तुस्वरूपमात्रज्ञानस्य प्रयोजनपर्यवसानाभावात् सिद्धार्थस्वरूपपरत्वेन वाक्यप्रामाण्यासम्भव इति मीमांसकः शङ्कते—

वस्तुस्वरूपकथने ननु नास्ति पुंसः

किञ्चित् फल विधिवचःसु पुनः प्रवृत्तिः ॥

सम्भाव्यते फलमतः किल वस्तुनिष्ठं

वाक्यं विधिस्तुतिपरं त्विति जैमिनीयाः ॥३००॥

**वस्तुस्वरूपकथन** इति ॥ प्रवृत्तिः प्रवृत्तिसाध्यमिति यावत् । किलेत्यस्मिन्मते स्वस्यानभिरुचि सूचयति । तर्हि वेदे वस्तुनिष्ठवाक्यस्य का गतिरिति तामाह ॥ वस्तुनिष्ठं वाक्यं विधिस्तुतिपरामिति ॥ ३०० ॥

सत्यं प्रयोजनवत्त्वमत्र प्रामाण्ये प्रयोजकतयाऽभ्युपेयं, तत्तु प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यतिरेकेणापि लभ्यते, विशेषतश्चात्र वेदान्तार्थज्ञाने सम्पूर्ण फलं लभ्यत इति नाध्ययनविधिविरोध इत्यभिप्रेत्य परिहरति–

स्यादेतदेवमनवद्यपुमर्थसिद्धि-

र्वेदान्तवेद्यविषयावगतौ न चेत् स्यात् ॥

स्वाराज्यमत्र कवलीकृतभोगभूमि

संपूर्णमस्य विदुषो भवतीति दृष्टम् ॥ ३०१ ॥

**स्यादेतदेवमिति**॥वेदान्तवेद्यविषयावगतौ अनवद्यपुमर्थसिद्धिर्नचेत् स्यात्तदैतदेवं स्यात्, प्रयोजनाभावादप्रामाण्यप्रसङ्गः स्यान्नैतदस्तीति योजना। कथमिति, तदाह ॥ स्वाराज्यमत्रेति॥ वेदान्ताः, विद्वदनुभवो वा सप्तम्यर्थः । अत्रास्य विदुषः स्वाराज्यं सम्पूर्ण भवतीति दृष्टमित्यन्वयः। स्वाराज्यविशेषणं संपूर्णत्वसाधकं, कवलीकृतभोगभूमीति ॥ कवलीकृता स्वात्मन्युपसंहृता ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता कर्मफलभोगभूमिर्यस्मिंस्तत्तथोक्तम्।

तथाच श्रुतयः । ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति, स स्वराड् भवति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कुतश्चनेत्याद्याः ३०१

कवलीकृतभोगभूमीति स्वाराज्यविशेषणेन स्वाराज्यशब्दिते मोक्षानन्दे वैषयिकानन्दानामशेषाणामन्तर्भावः सूचितस्तमेवार्थं विशदयति—

> यस्यापि विप्रुषि कृतार्थतया निषण्णाः
> शक्रादयो जलचरा इव सागरस्य ॥
> प्रत्यक्स्वभावकमपास्तसमस्तदुःख
> तद्वैष्णवं सुखमवाप्तवतः किमन्यत् ॥ ३०२ ॥

यस्यापीति ॥ यस्य परमानन्दविप्रुष्यपि परमानन्दस्यांशमात्रेऽपि स्वानुभवगोचरे शक्रादयश्चतुर्मुखान्ताः सर्व एव प्राणिनः कृतार्थतया निषण्णाः, यस्य लेशलाभमात्रेण कृतार्थमात्मानं मन्यन्ते स्म, यथा सागरस्य विप्रुषि जलचरा इति पूर्वार्द्धयोजना। यदैवं सर्वप्राणिना स्वस्वबुद्धिवृत्त्यवच्छिन्नतयोत्पत्तिविनाशवति विषयभूते दुःखानुविद्धे सातिशयेऽपि चेत् सुखलेशे लब्धे कृतार्थता भवति तदाऽखण्डानन्दरूपं मोक्षसुखं लब्धवतः कृतकृत्यतयाऽन्यत्र नैरपेक्ष्यं भवतीति किमु वक्तव्यमित्याह ॥ प्रत्यक्स्वभावकमिति ॥ अनेन मोक्षसुखस्य विषयत्वनिरासादनित्यत्वसातिशयत्वादिदोषः परास्तः । अपास्तसमस्तदुःखमिति प्राप्तपरमानन्दस्यानभिभवं निरन्तरं दर्शयति ॥ यदेतादृशं यस्य लेशमात्रलाभोऽपि कृतार्थताहेतुस्तद् वैष्णवं विष्णोः पूर्णात्मनः स्वरूपभूतं सुखमवाप्तवतः किमन्यद् विषयसुखमर्थनीयं, न किमपीत्यर्थः । तथाच श्रुती भवतः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह

ब्रह्मणा विपश्चितेति । भगवत्स्मृतिरपि, यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके * तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत इति ॥ एतेनेदमपास्तं वेदितव्यम् । अभिलषितलाभेनैव पुंसां कृतार्थत्वाद्विषयोपभोगविकले मोक्षसुखे चाभिलाषाभावान्न तल्लाभेन कृतार्थतेति यद्रागिभिरभिधीयते। निरतिशयनित्यानन्दस्य सर्वाऽभिलाषविषयत्वात्तस्यैव च मोक्षसुखत्वादिति ॥ ३०२ ॥

नन्वेतादृशस्य मोक्षानन्दस्य कथं ज्ञानामात्रात् सिद्धिर्महते फलाय हि महायासानुष्ठानं कुर्वन्ति महाधियोऽपीतिचेन्मैवम् । अज्ञानमात्रव्यवहितत्वान्मोक्षानन्दस्य, ज्ञानमात्रस्यैव तन्निवृत्तयेऽपेक्षणादित्याह—

अज्ञानमात्मविषयं भवहेतुभूतं
प्रच्छादकं च परमात्मसुखस्य तूर्णम् ॥
त्रय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिर्विपाक-
मासाद्य हन्ति यदि तत्र किमर्थनीयम् ॥३०३॥

अज्ञानमिति ॥ विषयशब्द आश्रयत्वस्याप्युपलक्षणार्थः। आत्माश्रयमात्मविषयं चाज्ञानमिति यावत् ॥ भवहेतुभूतमिति विक्षेपकत्वमज्ञानस्योक्तम् ॥ प्रच्छादकमित्यावरणनिर्देशः । एवमुक्तैर्विशेषणैरज्ञानमेव स्वकार्यसहितं सर्वानर्थहेतुरिति दर्शितम् । यद्येवंविधमज्ञानं त्रैय्यन्तवाक्यजनितात्ममतिरसम्भावनाद्यपोहेन विपाकमासाद्य तूर्ण हन्ति तत्र तदा किमन्यत् परमानन्दमोक्षाभिव्यक्तावर्थनीयमितियोजना । यदि—प्रयोगोऽत्रासन्देहेऽपि संदेहारोपो, वेदाः प्रमाणं चेदितिवदिति द्रष्टव्यम् ॥३०३॥

नन्वप्राप्तप्राप्तिरपहृतपरिहारो वा पुरुषार्थो, न तु भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रमितिचेन्मैवम् । भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रेणापि लोके पूर्व-

सिद्धपुरुषार्थलाभदर्शनादिति सदृष्टान्तमाह—

करमुष्टिनिविष्टमुत्तमं
कनकं प्रस्मरणादलब्धवत् ॥
प्रतिभाति तदाप्तवाक्यतः
प्रतिपत्त्या लभते यथा जनः ॥ ३०४ ॥

करमुष्टीति द्वाभ्याम् ॥ प्रस्मरणाद्विस्मरणादलब्धवत् प्रतिभाति, न त्वलब्धं तदित्यर्थः । आप्तवाक्यतो जाता या प्रतिपत्तिस्तयेत्यर्थः । चरणाभरणे समारोपितफाणिनि वृत्तिरप्याप्तवाक्यजज्ञानमात्रकृतात्रोदाहर्त्तव्या ॥ ३०४ ॥

दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—

परमात्मपदं पराकृत-
द्वितय प्राप्तमपि स्वभावतः ॥
अनवाप्तवदेव लिप्सते
लभते चैवमय प्रमाणतः ॥ ३०५ ॥

परमात्मपदमिति ॥ सदैव स्वभावतः पराकृतद्वितयं नित्यप्राप्तमपीति योजना । लिप्सते भ्रान्त्येति शेषः । प्रमाणतो वेदान्तवाक्यतो लभते ॥एवमिति॥ यथादृष्टान्तमित्यर्थः । अयमित्यधिका युक्तिः ॥ ३०५ ॥

एवं प्रवृत्तिनिवृत्तिरहितकेवलात्मतत्त्वप्रतिपत्तौ परमप्रयोजनसिद्धिरुपपादिता वेदान्तानां तत्र प्रामाण्यसिद्धये । इदानीमात्मतत्त्वात्मकस्य मोक्षस्य न क्रियासाध्यत्वं संभाव्यते, तस्य क्रियानुप्रवेशयोग्यत्वाभावादिति दर्शयन् ज्ञानमात्रायत्तं मोक्ष-

मिति प्रागुक्तं दृढीकरोति—

न स्वाध्यायवदाप्यता न च पुनस्त्रेताग्निवज्जन्यता
न व्रीह्यादिवदस्य संस्कृतियुजा नो सोमवद्विक्रिया ॥
पाठाधानजलोक्षणाभिषवणैः कूटस्थरूप हि तद्
ब्रह्मापास्तविकारजन्ममरणं निःश्रेयसं साधनैः॥ ३०६॥

न स्वाध्यायवदिति ॥ उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारा हि क्रियासाध्याः, नातः परं तत्साध्यमस्ति । ब्रह्मरूपं तु निःश्रेयसं नान्यतमेनापि रूपेण साध्यम् । तस्य कूटस्थनित्यत्वान्नित्यनिवृत्तानर्थत्वाच्चेति विवक्षितोऽर्थः।अभिषवणैः साधनैरित्यन्वयः। पाठादिपदानि स्वाध्यायादिपदैर्यथाक्रमं योज्यानि ॥ अस्येति ॥ यथोक्तनिःश्रेयसस्येत्यर्थः । अस्य पाठेन साधनेन स्वाध्यायवदाप्यता नेत्येवं प्रत्येकं विभज्य योज्यम् ॥ जलोक्षणं जलेन प्रोक्षणम् । अभिषवणं कण्डनादि ॥ ३०६ ॥

ननु ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति ब्रह्मभावस्याप्यत्वश्रवणात्तस्य क्रियासाध्यत्वमस्तीति प्रतीयत इतिचेत्तत्राह—

ब्रह्मैव सन्निति वचः प्रथमश्रुतत्वा-
दप्येतिशब्दमुपसंहरणस्थमुच्चैः ॥
प्रच्याव्यत् स्वविषयादुचिताद् बलीयो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमसाध्यमाह ॥ ३०७ ॥

ब्रह्मैव सन्निति वच इति ॥ प्रथमश्रुतानुसारेण चरमश्रुतं नेयमिति न्यायाद्, ब्रह्मैव सन्निति वचोऽस्मिन् वाक्ये प्रथमश्रुतत्वादुपसंहरणस्थं चरमश्रुतमप्येतिशब्दमुचितान्मुख्यात् स्वविषयादुच्चैः स्फुटं प्रच्याव्य ब्रह्मात्मनोरसाध्यमनतिरेकमाह ।

यतो बलीयः । प्रथमश्रुतत्वेनासंजातविरोधितयाऽतिप्रबलमिति योजना । ब्रह्मैव सन्निति ब्रह्मभावस्य नित्यसद्भावावधारणविरोधादप्येतिशब्दस्तत्रोपचरितार्थः करकलितकनकपिण्डन्यायेनाऽभिव्यक्त्यपेक्ष इति भावः ॥ ३०७ ॥

ननु नायं न्यायोऽत्र युक्तो वाक्येषु सर्वत्राख्यातपदस्यैव प्रधानत्वान्नामपदस्याप्रधानत्वात् प्रधानानुरोधेनाप्रधानं नेयमिति न्यायस्यैवात्र युक्तत्वादप्येतिशब्द एव मुख्यार्थ इतरो गौणाऽर्थ इतिचेन्मैवम् । सुबन्तत्वतिङन्तत्वयोर्नामाख्यातविभागनियामकत्वाभावादर्थवशादेव तन्नियमदर्शनादप्येतीत्ययमाख्याताभास इत्यभिप्रेत्य नाम्नोऽप्याख्यातत्वमर्थवशादित्येतदुदाहरति—

आग्नेय इत्याद्यपि तद्धितान्त-
मष्टाकपालादिसमन्वित सत् ॥
आख्यातशब्दस्य धुरं बिभर्ति
भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वात् ॥ ३०८ ॥

आग्नेय इत्यादीति ॥ भूतार्थबोधकं पदं नाम भव्यार्थबोधकं पदमाख्यातमिति तयोर्लक्षणेन सुप्तिङन्तत्वमप्रयत आग्नेय इत्यादितद्धितान्तं सुबन्तमपि पदमष्टाकपालादिसमन्वितमाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाश इत्येवमाकारं सदाख्यातशब्दस्य यजत्यादेर्धुरमर्थकृत्यं बिभर्त्ति पूरयति । कुत इत्यपेक्षायां द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य यागाविनाभूतत्वात्तदवगमे तत्प्रतीतेस्तस्य च भव्यत्वादाग्नेयोऽष्टाकपालइत्यनयोर्भव्यार्थधीहेतुत्वादर्थवशादाख्यातत्वमस्य सिद्धमित्याह ॥ भव्यार्थसंवित्तिनिबन्धनत्वादिति ॥ आद्यमादिपदमैन्द्राग्नमित्यादिसंग्रहार्थम् । द्वितीयमेकादशकपालादिसंग्रहाय । अष्टाकपालादिसमन्वितमित्यस्याऽयमर्थः । सा-

ऽस्य देवतेति देवतैदमर्थ्ये तद्धितस्यास्य विधानादाग्नेर्दैवतास्ये- ति पदविग्रहेऽस्येति सर्वनाम्नः सान्निहितार्थपरत्वात्तेन विना तस्याभिधानपर्यवसानासम्भवादष्टाकपालपदेन तद्विषय एव स- मर्प्यते,नार्थान्तरमिदमर्थस्य विशेषणभूतं विशेष्यभूतं वात आग्नेय- पदस्याभिधानपर्यवसानायाष्टाकपालसमन्वितत्ववचनामिति ३०८

नन्वाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीति तत्राख्यातपदस्य सत्त्वा- त्तदधीना तत्र भव्यार्थत्वप्रतीतिर्न्न तद्धितान्तपदावसेयद्रव्यदेव- तासम्बन्धमात्रावगमादितिचेन्मैवम् । भवतिशब्दस्यानुष्ठेयार्था- ऽबोधकत्वेन भव्यार्थत्वाभावादित्याह—

आख्यातमेव सदिदं भवतीति नाम

भव्येतरार्थमति जन्मनिबन्धनत्वात् ॥

अप्येतिशब्दमपि तद्वादिम प्रतीमो

भव्येतरार्थगतबुद्धिनिबन्धनत्वात् ॥ ३०९ ॥

आख्यातमेव सदिदमिति॥ भवतीतीदं शब्दतआख्यात- मेव सदर्थतो नामैवेति योजना । कुत इति तत्राह ॥ भव्ये- तरेति ॥ भवतिशब्दे साध्यार्थाप्रतीतेरित्यर्थः । उक्तं न्यायं प्र- कृते योजयति ॥ अप्येतिशब्दमपीति ॥ एवं भवतिशब्दवादिमम- प्येतिशब्दमपि प्रतीमोऽर्थतोऽस्यापि नामत्वादित्यर्थः । अत्रापि हेतुमाह ॥ भव्येतरेति ॥ प्रथमश्रुताविरोधादेव भव्यार्थबुद्धिहेतु- त्वाभावादित्यर्थः ॥ ३०९ ॥

अतश्चाप्येतिशब्दस्यार्थत आख्यातत्वाभावादेव नाऽस्मिन वाक्ये प्राधान्यमपीत्याह—

ब्रह्मैव सन्निधिगिरं प्रति शेषितायै

नाप्येतिगीरियमलं कथितोपपत्तेः ॥
आख्यातमेव खलु नामपदस्य शेषि
नाख्यातमेतदनृतत्वनिवेदकत्वात् ॥ ३१० ॥

**ब्रह्मैव सन्निति गिरमिति** ॥ शेषितायै प्राधान्याय नालमिति सम्बन्धः । कथितोपपत्तिमेव स्फोरयन् आख्यातस्य स्वार्थे स्थितस्य प्राधान्यं मया न भज्यतेऽस्य त्वाख्यातत्वबाधनान्न स्वार्थतेत्याह ॥ आख्यातमेवेति ॥ ११० ॥

तस्माद्ब्रह्मैव सन्निति शब्द एवात्र प्रधानं, नाप्येतिशब्द इत्युपपादितमुपसंहरति—

ब्रह्मैव सन्निति ततः प्रथमश्रुतं स-
दप्येतिशब्दमपसारयति स्ववाच्यात् ॥
अस्याङ्गभावविरहादमुना सहाऽतो
ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमुशन्ति धीराः ॥ ३११ ॥

**ब्रह्मैव सन्निति** ॥ **तत इति** ॥ अतो हेतोरस्य ब्रह्मैव सन्नित्यस्याङ्गभावविरहादमुनाप्येतिपदेन सह ब्रह्मात्मनोरनतिरेकमनेन वाक्येन प्रतिपाद्यमुशन्ति धीरा इति योजना । अमुना सहास्याङ्गभावविरहादिति वा सम्बन्धः। अस्मिन् पक्षे प्रच्यावयतीत्यस्य हेतुरस्येत्यादिः सहान्त इति द्रष्टव्यम् ॥ अत इत्यादिरत्र विद्वत्संवादप्रदर्शनार्थः ॥ ३११ ॥

स्वार्थस्याख्यातपदस्य प्राधान्यं सर्ववाक्यसाधारणमित्येतदङ्गीकृत्य प्रकृतेऽप्येतिशब्दस्य स्वार्थप्रच्युतेरेवाप्राधान्यमित्युक्तमिदानी वस्तुतो नायमपि नियम इत्याह—

भव्याय भूतमिति किञ्च विधिप्रधाने

काण्डे नयोऽयमिह तद्विपरीतमाहुः ॥
भूताय भव्यमिति भूतपरं हि सर्व
वेदावसानमिति सूत्रकृदाचचक्षे ॥ ३१२ ॥

भव्याय भूतमिति ॥ भूतं भव्यायोपदिश्यत इति नयो न्यायो विधिप्रधाने काण्डे भव्यार्थपदं प्रधानं भूतार्थपदमखिलमपि तच्छेषार्थसमर्पकत्वेन तदङ्गमिति कर्मकाण्डे स्थितो न्याय इत्यर्थः । किञ्चेति पदं युक्त्यन्तरोपक्रमार्थं, तत् प्रथमं द्रष्टव्यम् । इह तु वेदान्तेषु तु तद्विपरीतमाहुर्न्यायविद इति शेषः । वैपरीत्यमेवाह ॥ भूताय भव्यमितीति ॥ भव्यवादस्य भूतार्थत्वे प्रमाणमाह ॥ भूतपरं हि सर्वमित्यादि ॥ सर्वं वेदावसानं सर्वे वेदान्ता इति यावत् ॥ सूत्रकृद्बादरायणः ॥ आचचक्षे, तत्तु-समन्वयादित्यादिभिः सूत्रैरिति शेषः । यदि सर्ववेदावसानमिति पाठस्तदाऽयमर्थः । हि यस्मात् सर्ववेदानां कर्मोपासनापराणामप्यवसानं परिसमाप्तिलक्षणं भूतपरं सिद्धब्रह्मात्मपरमिति सूत्रकृदाचचक्षे इति योजना । तथाचोक्तं, सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरिति । अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैवेति च ॥३१२॥

अस्मिन्मते, ब्रह्मैव सन्नित्यस्य सुतरां प्राबल्यमित्याह—

ब्रह्मैव सन्निति ततोऽपि बलिष्ठमेत-
दप्येतिशब्दमवसानगतं व्यपेक्ष्य ॥
तस्मादमुष्य परिपीडकमेतदेव
ब्रह्मैव सन्निति पदं गुणकल्पनायै ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मैव सन्निति ॥ ततोऽपीति ॥ तत इति भव्यस्यापि भूतार्थत्वादित्यर्थः ॥ अपीति ॥ प्राथम्यादपीत्यर्थः । तत इह

भूतभव्यन्यायवैपरीत्यादवसानगतमप्येतिशब्दमपेक्ष्यापि ब्रह्मैव सन्नित्येतत्प्रथमश्रुतं पदं बलिष्ठमेवेति योजना । फलितमाह ॥ तस्मादिति॥अमुष्याप्येतिशब्दस्य गुणकल्पनायै गौणत्वकल्पनाऽर्थमेतदेव ब्रह्मैव सन्नितिपदं परिपीडकं मुख्यार्थात् प्रच्यावकमिति योजना ॥ ३१३ ॥

यत एवमप्येतिशब्दो नामाप्तप्राप्तिपरो यतश्चचतुर्विधक्रियाफलविलक्षणो मोक्षोऽतो न क्रियासाध्यः, किं त्वविद्यामात्रव्यवहिततया विद्यैकलभ्य एवेत्युपसंहरति—

निःश्रेयसं न खलु साध्यमतः क्रियाभि-

र्ज्ञानेन वा द्वयसमुच्चयवर्त्मना वा ॥

उत्पत्तिराप्तिविकृती च न संस्कृतिश्च

यस्मान्न संभवति वर्णितवर्त्मनेह ॥ ३१४ ॥

निःश्रेयसं न खल्विति॥ अत आभ्यः प्रागुक्तयुक्तिभ्यां निःश्रेयसं न खलु नैव क्रियाभिः केवलाभिः साध्यं ज्ञानेन वा न साध्यम् । ज्ञानस्याकारकत्वात् । द्वयसमुच्चयवर्त्मना वा, ज्ञानकर्मसमुच्चयोपायेन वा न साध्यम् । कुतो, यस्मादिह निःश्रेयसेऽस्मदभिमते वर्णितवर्त्मना प्रागुक्तयुक्तिमार्गेणोत्पत्तिराप्तिविकृती, न च नैव सम्भवतीति शेषः । संस्कृतिश्च न सम्भवतीति योजना ॥ तथाच श्रुतिः । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयानिति ॥ ३१४ ॥

एवं सति प्रवृत्तिनिवृत्त्यगोचरवस्तुपरत्वे वाक्यस्य न प्रामाण्यमिति यदुक्तं तन्नास्माकं दोषाय तत्साध्याभावात् । प्रत्युत गुणायैव प्रवर्त्तकरागादेस्तद्बीजस्याज्ञानस्य चैवं सति दाहासिद्धेः प्रवृत्त्यादिपरत्वे तदसम्भवात्तदसम्भवे चानर्थनिवृत्तिपुरुषार्था-

सिद्धिरित्यभिप्रेत्य पूर्वप्रकृतमुपसंहरति—

तस्मात् प्रवृत्तिविनिवृत्तिविवर्जितत्वं
ब्रह्मात्मवस्तुविषयावगतेर्न दोषः ॥
सर्वप्रवर्त्तकनिवर्त्तकमूलदाहात्
स्वाराज्यहेतुरिति भूषणमत्र तन्नः ॥ ३१५ ॥

तस्मात् प्रवृत्तीति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ३१५ ॥

यत् पुनरुक्तमज्ञातार्थविषयत्वं प्रमाणानां प्रामाण्यमात्मनश्च स्वयम्प्रकाशत्वान्न तस्मिन्नज्ञानं सम्भवतीत्यतो न वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यमिति तत्राह—

अज्ञाततापि घटतेऽत्र दृशोऽनुभूते-
र्जानामि नाहमिति दृश्यपि दृश्यते हि ॥
अज्ञातताऽनुभवनं न च वास्तवं त-
दज्ञाततोद्वहति कल्पितता हि तस्याः ॥ ३१६ ॥

अज्ञानताऽपीति ॥ अत्र दृगात्मन्यप्यज्ञातता घटते इति सम्बन्धः । परागर्थे यद्यपि नाभिमतमज्ञातत्वं वेदान्तिनां, तथाप्यङ्गीकृत्यात्रापीत्यपिशब्दप्रयोग इति द्रष्टव्यम् । कुत एतज्ज्ञानस्वरूप आत्मन्यज्ञानानुपपत्तेरित्याशङ्क्यानुभवविरोधान्नैवमित्याह ॥ दृश इति ॥ नाहं जानामीति दृश आत्मनोऽज्ञतयानुभूतेर्हेतोर्हि यस्माद् दृश्यप्यज्ञाततानुभवनं दृश्यत इति योजना । यद्येवमनुभवबलेनानुपपत्तिर्निरस्यते तर्ह्यनुभवबलादेवात्मन्यज्ञातता वास्तवी स्यादिति, नेत्याह ॥ न च वास्तवं तदिति ॥ तदनुभवमात्रसिद्धमज्ञातत्वं न वास्तवं प्रामाणिकम् । हि यस्मादस्या

अज्ञाततया अज्ञातता कल्पिततामुद्वहति दृक्स्वरूपे प्रामाणिके दृगात्मन्यनुपपद्यमानत्वेऽप्यनुभूयमानत्वादज्ञातता स्वात्मनः कल्पितता गमयतीत्यर्थः ॥ ३१६ ॥

ननु किमिदमज्ञानं नाम । न तावज्ज्ञानाभावः । स्वरूप ज्ञानस्य नित्यत्वेन तदभावासंभवात् । नापि वृत्तिज्ञानाभावस्तस्य वृत्त्यविषये चिदात्मन्यसंभवात् । अथ ज्ञानादन्यदज्ञानमिति मतं, तदा घटस्याप्यज्ञानत्वप्रसङ्गः । अथ ज्ञानविरोधि तदिति मतं तदपि न, तथात्वे मानाभावादिति चेत् । मैवम् । ज्ञानविरोध्यज्ञानमिति पक्षस्योपपत्तेरित्याह—

अज्ञानमित्यजडबोधतिरस्क्रियात्मा
जाड्यं च मौढ्यमिति च प्रकृतिः प्रसिद्धा ॥
सा चातिदुःस्थितवपुर्दृशमाद्वितीया-
मालिङ्गति स्म घृतपिण्ड इवाग्निमिद्धम् ॥ ३१७ ॥

अज्ञानमितीति ॥ अजडबोधतिरस्क्रियात्मा प्रकृतिरज्ञानमिति प्रसिद्धेत्यन्वयः । स्वयम्प्रकाशत्वं बोधस्याजडत्वं, स्वतःसिद्धप्रकाशाच्छादनस्वभावेत्यर्थः । सा प्रकृतिरेव ज्ञानपर्युदासेनाऽज्ञानमिति ज्ञानविरोधित्वेन जाड्यमिति चास्वच्छतया मौढ्यमिति च प्रसिद्धा श्रुतिस्मृतिपुराणेष्वितियोजना । तथाच श्रुतिःमाया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, नीहारेण प्रावृताः, तम आसीत्तमसा गूढमित्याद्या । मम मायादुरत्यया तरत्यविद्यां विततामित्यादिस्मृतयश्चात्र सहस्रशः । नन्वेवमात्मनि चेत् प्रमाणसिद्धा प्रकृतिस्तर्हि तस्या विरोधाभावादेव सत्यतेति चेन्नेत्याह ॥

सा चेति ॥ सा च प्रकृतिरतिदुःस्थितवपुः सती अद्वितीयां दृशमालिङ्गते स्मेति भूतत्वानिर्देशो विद्वदनुभवाभिप्रायः । वि-

रोधिनोरपि सम्बन्धे दृष्टान्तमाह ॥ घृतपिण्ड इति ॥ एतदुक्तं भवति।यद्यपि चैतन्याज्ञानयोर्भावाभावात्मत्वविरोधाभावस्तथापि वध्यघातकभावविरोधः संभवति । एवं घृतपिण्डानलयोरिव भावयोरेवानयोः संबन्ध इति प्रकृतेरभाववैलक्षण्यसिद्धेर्जगदुपादानताऽपि शास्त्रप्रसिद्धा सिद्धा भवति । नचाज्ञानस्यात्मन्यऽनादिकालमारभ्यावस्थानाद्वध्यघातकयोस्तदभावादविरोध इति वाच्यम्।निवर्त्तकोपनिपातपर्यन्तं संबन्धस्यावश्यकत्वाद्विरोधिनोरपि यथा मन्दप्रकाशतमसोस्तथा। यथाच स्नेहवर्त्त्यादिसहकारिविशेषसंवलनेन वा मेघाद्यावरणापगमेन वा प्रकाशस्योपबृंहितत्वेन प्राबल्ये सति निःशेषतमोनिवर्त्तकता तथा वाक्योत्थबुद्धिवृत्तिसंवलनरूपसहकार्युपेततया प्राबल्ये सति निःशेषाज्ञाननिवर्त्तकत्वोपपत्तिः । दृश्यते हि दाह्यदाहकयोर्विरुद्धस्वभावयोरप्यरणिपावकयोराविशेषाभिव्यक्तेः संबन्ध इति ॥ ३१७ ॥

नन्वेवं वस्तुगत्या चिदात्मन्यसंभवदप्यज्ञानं किमिति तस्मिन्नभ्युपेयते, किमिति च तत्र युक्तिसंचारे यत्यते । अतश्चिदात्मनोऽन्यत्रैवाऽस्तु तन्मास्तु वा कुत्रापीतिचेन्मैवम्। अनुभवसिद्धत्वादस्यापलापासंभवात् तस्य भावरूपत्वसमर्पकैस्तिमिरादिशब्दैः श्रुतिस्मृतिपुराणेष्वभिधीयमानस्यानात्माश्रयविषयत्वाऽसंभवाच्चेत्यभिप्रेत्याह—

चिद्वस्तुनश्चिति भवत्तिमिर तमिस्रं
तामिस्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्रा ॥
माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिरान्ध्यं
निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम् ॥ ३१८ ॥

चिद्वस्तुन इति ॥ चिद्रूपं यद्वस्तु परमार्थसत् तस्य या

स्वरूपभूता चित् तस्यां तिमिरं भवेन्नानात्मवस्तुनि तत्राज्ञाना-ऽसंभवस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । तिमिरादिशब्दा हि निष्प्रति-योगिकमर्थमावेदयन्ति । अतोऽज्ञानमिति शब्दो ज्ञानपर्युदासेन उच्यमानोऽप्यधर्मशब्दवन्नाभावविषय इति भावः ॥ ३१८ ॥

ननु चिन्मात्राश्रयविषयत्वमज्ञानस्यायुक्तं, ज्ञानवदज्ञानस्या-ऽपि विषयाश्रयभेदस्याभ्युपेयत्वात् । तथाचाहमज्ञ इत्यनुभवादह-ङ्कारविशिष्टचैतन्यमाश्रयः, परमात्मा तु विषय इति तद्भेदसिद्धि-रितिचेत् तत्राह—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला ॥
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥ ३१९ ॥

आश्रयत्वविषयत्वेति ॥ अज्ञानं प्रतीति प्रथमं योज्य-म् ॥ निर्विभागेति ॥ निरवयवत्वोक्त्या स्वरूपभेदो निरस्तः ॥ केवलेति ॥ सजातीयविजातीयभेदनिरासः । एवकारेण स्वगत-धर्मभेदव्युदासः । एवंविधा चिदेवाज्ञानं प्रत्याश्रयत्वविषयत्व-भागिनीत्यर्थः । कुत इत्यत आह ॥ पूर्वसिद्धेति ॥ प्राक्सिद्धस्या-ऽज्ञानस्य पश्चिमः पश्चात् सिद्धस्तत्कार्यभूतोऽहङ्कारादिस्तद्विशिष्टो वा चिदात्मा नाश्रयो भवति, नापि गोचरः । कार्यस्य कारणाश्रयत्वा-योगात्तद्व्यापकत्वायोगाच्चेत्यर्थः । अतोऽहमज्ञ इत्यज्ञत्वानुभवो-ऽप्यन्तःकरणोपलक्षितप्रत्यङ्निर्विभागचिद्विषय एवेत्यभ्युपेय-मिति भावः ॥ ३१९ ॥

पूर्वं शब्दनिर्देशसामर्थ्येनाज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमुक्तमि-दानीं युक्त्याप्यभाववैलक्षण्यमुपपादयति—

नाभाववताऽस्य घटते वरणात्मकत्वा-
न्नाभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः ॥
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेव-
स्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः ॥ ३२० ॥

**नाभाववतास्येति** ॥ विमतमज्ञानं नाभावः, वरणात्मकत्वादावरकत्वात् पटवदित्यर्थः । आवरकत्वेऽप्यभावता किं न स्यादित्यत आह ॥ नाभावमावरणमिति ॥ अभावशौण्डाः अभावस्वभावविदस्तार्किका इत्यर्थः । हेत्वसिद्धिं परिहरति ॥ अज्ञानमिति ॥ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव इति अज्ञानस्यावरकत्वं भगवान् वासुदेव आहेत्यर्थः । तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध इत्यादिश्रुतिसमुच्चयार्थश्चकारः । उपनयनिगमने कथयति ॥ तद्भावरूपमिति ॥ तदज्ञानं भावरूपमिति निगमननिर्देशः । तेनेत्युपनयकथनम् ॥ ३२० ॥

अत्रैवार्थे इतिहासवचनमप्युदाहरति—

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ॥
येनावृतः कुरुते संप्रमत्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ ३२१ ॥

**एकः शत्रुरिति** ॥ घोराणि साहसानि ॥ सुदारुणानि दुःसहविपाकानि ॥ ३२१ ॥

इतश्च भावरूपत्वमज्ञानस्येत्याह—

जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपं

मौढ्यं च पुंगतमिति प्रतिभाति तादृक् ॥
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्ध-
मज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम् ॥ ३२२ ॥

जाड्यं जगतीति ॥ जगति ॥ देहघटादौ कार्येऽनुगतमनुभूयमानं खलु जाड्यं भावरूपमिति प्रतिभाति । तथा पुंगतं मौढ्यं च तादृग् भावरूपमिति प्रतिभातीति योजना । जगत्याऽऽत्मनि च दृश्यमानं जाड्यं मौढ्यं च कार्यत्वात् स्वानुरूपमुपादानं कल्पयति । न हि चेतनं जडस्योपादानं भवति परिशेषादचेतनमुपादानं सदज्ञानं सिद्ध्यति। तस्य चाभावरूपत्वे कार्योपादानत्वासम्भवाद्भावरूपमेव तदज्ञानमुन्नीयते इत्याह ॥ जाड्यं च मौढ्यमिति चेति ॥ जगद्गतं जाड्यं चात्मगतं मौढ्यमिति चानुभवेन प्रसिद्धमनुभवबलादनुमानतश्च प्रसिद्धमज्ञानमेवापवर्गपिधानदक्षं परमानन्दब्रह्मात्माच्छादनावरणविक्षेपकरत्वेन संसारोत्पत्तिस्थितिनिर्वाहकमित्याहुर्ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥ ३२२ ॥

ननु कथमज्ञानस्य बन्धरूपजगत्कारणत्वं यावतात्मन आकाशः सम्भूत आत्मन एवेदं सर्वमित्यादिश्रुतय आत्मन एव ब्रह्मरूपात्तदुत्पत्त्यादि बोधयन्तीतिचेत् सत्यं, साभासाज्ञानद्वारा ब्रह्म तत्कारणं, न केवलमित्यज्ञानोपाधिकब्रह्मकारणत्वपरत्वाच्छ्रुतीनामित्याह—

साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया
संसारकारणमिति प्रवदन्ति धीराः ॥
साभासमेतदिति संसृतिकारणत्वे
द्वारं परं भवति कारणता दृशस्तु ॥ ३२३ ॥

**साभासमिति** ॥ साभासं चित्यध्यासेन चिदाभासखचितमेतदज्ञानमुपजीव्योपाधिं पुरस्कृत्य अद्वितीया कूटस्थाद्वयानन्दरूपा चिच्चिदात्मा ब्रह्मेति यावत् । संसारकारणं न केवलमिति धीरा धीमन्तो वेदान्तार्थनिपुणबुद्धयः प्रवदन्ति । तर्हि तद्धेतोरेवास्तु तत् किं तेनेति न्यायेनाज्ञानमेवास्तु जगतः कारणं मास्तु ब्रह्म तथा । तस्य कूटस्थत्वादितिचेन्नेत्याह ॥ साभासमेतदित्युत्तरार्द्धेन । सर्वश्रुतिषु ब्रह्मण एव प्राधान्येन जगत्कारणत्वश्रवणान्माया तु प्रकृतिमित्यादौ तु मायायाः, मायिनं तु महेश्वरमिति वाक्यशेषेणेश्वराधीनत्वश्रुतेरप्राधान्यावगमाच्चातः कारणता तु दृशश्चिदात्मन एव । तस्य कूटस्थतया स्वतो जगद्रूपत्वेनाविर्भावासम्भवात्तस्य संसृतिकारणत्वे द्वारं सहकारिमात्रं परं भवति । जडस्यास्य द्वारत्वमपि कथमित्यत आह ॥ साभासमेतदितीति ॥ इति यत एतदज्ञानं साभासमतो द्वारमिति योजना । एतदुक्तं भवति । अज्ञानस्य तत्र तत्रेश्वरशक्तित्वश्रवणाच्छक्तेश्च शक्तिमत्परतन्त्रत्वादविद्याशक्तेश्चात्मन्यध्यस्ततया तावन्मात्रत्वादभेदे सत्यज्ञानकारणश्रवणमपि ब्रह्मकारणपरमेव ब्रह्मण एव रज्जुशुक्त्यादीव सर्परजताद्यात्मनाऽविद्यया विवर्त्तमानत्वादिति ॥ ३२३ ॥

ननु जडशक्तेः स्वातन्त्र्येण कारणत्वाभ्युपगमे को विरोध इति तत्राह—

> यावद् दृशोऽन्यदिह संसृतिकारण तद्
> वेदान्तवादिसमये न मत जडत्वात् ॥
> यद्यज्जडं भवति ससृतिकारणं त-
> न्नेति स्फुटं वदति सूत्रकृदत्र यस्मात् ॥ ३२४॥

यावद् दृशोऽन्यदिति ॥ अथवा, कुत एवं व्यवस्थाऽऽस्थीयते? सूत्रकृत्प्रवृत्तिपर्यालोचनयेत्याह ॥ यावद् दृशोऽन्यदिति ॥ दृशोऽन्यदचेतनं संसृतिकारणं यावत्सांख्यादिभिरुत्प्रेक्षितं तदिह वेदान्तवादिसमये न मतं नेष्टम् । कुतः । जडत्वात् । स्वतः प्रवृत्त्याद्यसमर्थत्वादित्यर्थः । कथमिदं वेदान्तिनो न मतमित्यगवम्यते, तत्राह ॥ यद्यदिति ॥ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् । उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभाव इत्यादिभिः सूत्रकृता स्वतन्त्रजडकारणत्वस्य स्पष्टं निराकरणादित्यर्थः ॥ ३२४ ॥

तदेव स्पष्टयति—

अजडकारणभावनिबन्धनं

सकलमेव जडं न तु कारणम् ॥

इति हि वेदशिरस्सु विचक्षणाः

कपिलपक्षनिराकरणे जगुः ॥ ३२५ ॥

अजडेति ॥ अजडस्य चिदात्मनः कारणभावे कारणत्वव्यवहारयोग्यत्वे सकलमेव जडमविद्याकाशादिव्याकृतमव्याकृतं च निबन्धनं द्वारं भवति, न तु स्वयं कारणमित्यर्थः ॥ इति हीति स्पष्टार्थम् । वेदशिरःसु विचक्षणा भाष्यकारप्रभृतयो महान्त इत्यर्थः ॥ ३२५ ॥

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, इन्द्रो मायाभिरिति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मैव कारणमज्ञानं शक्तिस्तत्र द्वारमित्युक्तम् । तत्र पुनर्वचनान्तरमाश्रित्य मतान्तरमाह—

शबलमात्मपदेन निगद्यते

सकलमात्मजमित्यपि च श्रुतिः ॥

शबलमात्मपदं जगतस्ततः

प्रकृतिरित्यपरे तु जना जगुः ॥ ३२६ ॥

शबलमात्मेति ॥ आत्मपदेन तत्पर्यायसद्ब्रह्मादिपदेन च शबलमज्ञानाविशिष्टं तत्त्वं निगद्यते । श्रुतिरपि सकलमात्मजमिति आत्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिरूपा पठ्यते इति शेषः । चशब्दोऽवधारणार्थः । फलितमाह ॥ शबलमात्मपदमिति ॥ अज्ञानविशिष्टश्चिदात्मा जगत उपादानकारणमित्यपरे जगुरित्यर्थः ॥ ३२६ ॥

अत्रैवाधिष्ठातृकारणत्वे विशेषमाह—

सुकृतदुष्कृतकर्माणि कर्त्तृतां

मतिगतात्मचिति प्रतिबिम्बकम् ॥

व्रजति तद्वददः परमात्मनो

जगति याति तमःप्रतिबिम्बकम् ॥ ३२७ ॥

सुकृतदुष्कृतेति ॥ मतिगतात्मचैतन्यप्रतिबिम्बकं जीवाऽऽख्यं सुकृतदुष्कृतकर्माणि कर्तृतां व्रजति यद्वदित्यध्याहारः । तद्वददः परमात्मनोऽपि तमसि कारणोपाधावज्ञाने प्रतिबिम्बकमीश्वराख्यं जगति कर्तृतां यातीति योजना । यथाऽन्तःकरणप्रतिबिम्बस्यैव कर्त्तृत्वं, कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति न्यायान्न त्वन्तःकरणविशिष्टस्य, तथा जगत्कर्त्तृत्वमपि तमःप्रतिबिम्बस्यैव, न तमोविशिष्टस्येत्यर्थः ॥ ३२७ ॥

तर्ह्युपादानत्वमपि प्रतिबिम्बस्यास्तु किमनात्मशाबल्येनेत्यत आह—

सुकृतदुष्कृतयोः शबला यथा

भवति कारणमात्मचितिस्तथा ॥

गगनवायुपुरःसरकारणं

परमचेतनता शबलाकृतिः ॥ ३२८ ॥

सुकृतदुष्कृतयोरिति ॥ यथाऽन्तःकरणशबला आत्मचितिः सुकृतदुःष्कृतयोः कारणमुपादानं भवति । सुकृतादेः परिणामात्मत्वात् परिणामस्य च चिदात्मनोऽन्तःकरणशाबल्याधीनत्वाच्छबलमुपादानं यथेत्यर्थः । तथा गगनेत्यादि सुगमम् । कूटस्थस्यापरिणामित्वाज्जडस्य स्वतःप्रवृत्त्यभावाच्चेत्यर्थः ॥३२८॥

तदेतदन्यमतं शोधयित्वा स्वमते प्रवेशयति—

शबलताकवलीकृततावशात्

परमचेतनतैव निगद्यते ॥

शबलमात्मपदेन न कथ्यते

शबलमात्मनि वृत्तिनिबन्धनम् ॥ ३२९ ॥

शबलताकवलीकृततेति॥आत्मपदेन तत्पर्यायैश्च शबलं न कथ्यते, किन्तु परमचेतनतैव निगद्यते । चेतनता चैतन्यस्वरूपं तस्याः परमत्वं सर्वोपाधिराहितत्वं निर्विशेषत्वमित्येतत् । तर्हि शबलतायाः क्वोपयोग इति, तदाह ॥ शबलमात्मनीति ॥ वृत्तिः शब्दप्रवृत्तिस्तत्कारण शबलता । लक्षणया चित्स्वरूपे शब्दपर्यवसाने द्वारमित्यर्थः । कथं द्वारतेति, तत्र सम्बन्धितां तस्याह ॥ शबलताकवलीकृततावशादिति ॥ शबलतयाऽनात्मशाबल्येन परमचेतनाया आत्मसात्कृतत्वात्तास्मिन्नन्तर्भूतत्वादित्यर्थः । परमचेतनायाः शबलताकवलीकृततावशाच्छबल मात्मनि वृत्तिनिबन्धनमित्यन्वयः ॥ ३२९ ॥

एवञ्च शबलमात्मादिशब्दवाच्यमित्ययं भ्रम इत्युक्तद्वार-

त्वानुवादेन स्वमतमुपसंहरति—

शबलतापरिधानसमन्वयात्
परमचेतनतात्मगिरः पदम् ॥
भवति तेन जनस्य तु विभ्रमः
शबलमात्मगिरः पदमित्ययम् ॥ ३३० ॥

**शबलतापरिधानसमन्वयादिति** ॥ आत्मगिरः पदं व्युत्पत्तिस्थानं भवति । तेन हेतुनेत्यर्थः ॥ ३३० ॥

तदेवमात्मन एव तत्तच्छब्दैः समर्पणात्तस्यैव कारणत्वं श्रुतिभिरभिधीयते । अनात्मशाबल्यं तु तत्र द्वारमात्रमिति सिद्धः सर्वश्रुतिसमन्वयः केवले चिदात्मनीति स्थितम् । इदानीं, न केवलं ब्रह्मादिशब्दवाच्यत्वकारणत्वयोरेवायं न्यायः, किन्तु सर्वव्यवहारेऽपीत्याह—

बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं
शृणुत संग्रहमद्वयशासने ॥
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः
सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक् ॥ ३३१ ॥

**बहु निगद्येति** ॥ अद्वयशासने वेदान्तशास्त्रे, संग्रहमर्थसंग्रहम् । सकलवाङ्मनसागोचरैव चितिस्तत्तद्व्यवहारसमये तत्तदर्थशाबल्येन सकलवाङ्मनसव्यवहारभाग्भवति, नान्यज्जडं तद्विशिष्टं चैतन्यं वेत्यर्थः । उक्तं च, अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने*किन्न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितामिति॥३३१॥

कथमात्मनः केवलस्य सर्वसंव्यवहारे ज्ञानादेर्द्वारत्वमवसितमिति वीक्षायां तत्सदृष्टान्तमाह—

चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि चित्रा-
ऽपूर्वं द्वारं पशुफलतयाक्षिप्यते तत्र तद्वत् ॥
चैतन्यात्मा जगदुदयकृच्छ्रूयतेऽत्रापि पश्चा-
न्मायादीनां भवति जगति द्वारभावः फलेऽस्मिन् ॥ ३३२ ॥

चित्रायाग इति ॥ चित्रया यजेत पशुकाम इति वाक्येन चित्रायागः पशुफल इति श्रूयमाणेऽपि साक्षात्पशुफलत्वे चित्रायागजन्यमपूर्वं तत्र पशुफलतया मध्ये क्षिप्यते यद्वदिति योज्यम् । यथा श्रूयमाणफलसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या क्षणिकस्यापि यागस्य कालान्तरभाविफलसाधनत्वसिद्धये अपूर्वद्वारत्वमास्थीयत इति दृष्टान्तार्थः । दार्ष्टान्तिकमाह ॥ तद्वच्चैतन्यात्मेति ॥ अस्मिन् फले फलभूते जगतीति सम्बन्धः । पश्चादनुपपत्तिप्रतीतिदशायामित्यर्थः ॥ ३३२ ॥

तदेवं कूटस्थचिदेकरसस्य जडप्रपञ्चकारणत्वं श्रूयमाणमप्यन्यथानुपपत्त्या मायां तत्र कल्पयति कादाचित्कप्रवृत्तिनिमित्ततया च मायाद्वारतः प्राप्तोपादानकर्तृभावस्य चिदात्मनो लोकशास्त्राभ्यामवगतं कालादृष्टादि कारणं सिद्धमेवाङ्गीकृतं शास्त्रकारैरिति चिदात्मैव कारणमित्यङ्गीकार्यम् । अन्यथाकारणत्वस्योपलक्षणत्वाङ्गीकाराविरोधादित्याह—

कारणत्वमुपलक्षणं चिते-
र्ब्रह्मणो न खलु तद्विशेषणम् ॥
इत्यपीदमुपपद्यते तदा
चेतना भवति कारणं यदा ॥ ३३३ ॥

कारणत्वमिति ॥ जगत्कारणत्वस्य चिदात्मनिष्ठत्वाभावे कारणत्वस्य तदुपलक्षणता न सिद्ध्येत् । तच्च तस्य साभासाज्ञानद्वारकत्वे समञ्जसम् । अन्यथा विशिष्टस्य कारणत्वे विशिष्टमेव लक्ष्यं स्यात् । तथाच तस्य सत्यज्ञानाद्यखण्डस्वरूपपरवाक्यविरोध इति भावः । अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः ॥ ३३३ ॥

उक्तमेवार्थमुपपादयति—

अन्यदेव यदि कारणं भवेत्

कारणत्वमुपलक्षणं कथम् ॥

चेतनस्य घटतेऽन्यगामिना

वस्तुनाऽन्यदुपलक्ष्यते यतः ॥ ३३४ ॥

अन्यदेवेति ॥ साभासाज्ञानमेवेत्यर्थः । चेतनस्य केवलचिदात्मन इति यावत् । कथं न घटत इति, तत्राह ॥ अन्यगामिनेति । न हि विशिष्टगतेन कारणत्वेन केवलो लक्ष्यते । विशिष्टात् केवलस्य भिन्नत्वाल्लक्षणस्य लक्ष्यास्पृष्टत्वादसम्बद्धलक्षणे चातिप्रसङ्गादित्यर्थः । तस्मात् साभासाज्ञानं चिदात्मन एव कूटस्थस्य सर्वाधिष्ठानतया सर्वसत्तास्फुरणप्रदत्वेन सर्वानुगमरूपस्योपादानत्वस्य सर्वप्रकारविकारकारिमायाप्रतिबिम्बितत्वेन तस्मिन्नाभासनिक्षेपकत्वरूपकर्त्तृत्वस्य च द्वारमेव, न स्वयं कारणमिति सिद्धम् ॥ ३३४ ॥

तदेवं श्रुतिस्मृतिशास्त्रयुक्तिभिरुपपादितमज्ञानमात्मनि ब्रह्मण्यभ्युपगन्तव्यमिति स्थिते तस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञातत्वात् परमानन्दरूपतया फलरूपत्वाच्च तत्र वेदान्तानां निरपेक्षं प्रामाण्यं सिद्धमित्युपसंहरति—

अनवबुद्धमतः श्रुतिमस्तकै-

र्विषयतामुपपादयितुं क्षमम् ॥
अनुभवात्मपद तमसा यतः
पिहितमेतदिह प्रतिभासते ॥ ३३५ ॥

अनवबुद्धमिति ॥ यत एवमज्ञानं ब्रह्मात्मनि सर्वव्यवहारप्रवृत्तिद्वारमतो हेतोः श्रुतिमस्तकैर्वेदान्तैरनवबुद्धमज्ञातमात्मतत्त्वं विषयतां स्वप्रतिपाद्यतामुपपादयितुं क्षमं समर्थमेव । अत इत्युक्तमेव हेतुं परामृशति ॥ अनुभवात्मपदमिति ॥ एतदनुभवात्मपदमिति सम्बन्धः । नित्यानुभवरूपमात्मस्वरूपम् इह संसारदशायां यतस्तमसा पिहितं प्रतिभासतेऽतोऽनवबुद्धमिति योजना ॥ ३३५ ॥

यत्पुनरुक्तमज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमिष्टं मात्रादीत्यादिनाऽज्ञानकल्पितप्रमात्रादि द्वैतसाधकमित्यभ्युपगमे ब्रह्मणोऽपि मात्रादिवन्मेयत्वादज्ञानकल्पितत्वप्रसङ्गस्तस्यामेयत्वे चासिद्धिप्रसङ्गः । प्रमात्रादेश्चाज्ञानकल्पितत्वमप्रसिद्धमिति तत्राप्रसिद्धतां तावत् परिहरति—

अज्ञानकल्पितमनिर्वचनीयमस्मि-
न्नाबालवृद्धमविवादपदं प्रसिद्धम् ॥
स्वप्ने तथा च भगवानपि वक्ष्यतीद
सन्ध्येऽस्ति सृष्टिरिति पक्षनिरासासिद्ध्यै ॥ ३३६॥

अज्ञानकल्पितमिति ॥ यदज्ञानकल्पितं तदनिर्वचनीयं प्रमात्राद्यनिर्वचनीयमज्ञानकल्पितत्वादित्यनुमाने व्याप्तिग्रहणाय शुक्तिरजतादावस्मिन्निदमनिर्वचनीयत्वमाबालवृद्धम् अविवादपदं निदर्शनं प्रसिद्धम् । भ्रान्तेः सविषयाया अनिर्वचनीयत्वं लोके

अविवादमित्यर्थः। न केवलमस्या अनिर्वचनीयत्वं लोकसिद्धमपि तु न्यायतोऽपि निर्णीतमित्याभिप्रेत्य सूत्रकारमहर्षिमत्रोदाहरति॥ स्वप्ने तथाचेति ॥ तथाच वक्ष्यतीदमित्यन्वयः । तत्र हि, संध्ये सृष्टिराह हीत्यादिना पूर्वपक्षसूत्रसन्दर्भेण स्वप्नस्य सत्यत्वमुपक्षिप्य, मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वादिति सिद्धान्तसूत्रेण अनिर्वचनीयत्वं स्वप्नस्येति स्थितमिति तात्पर्यार्थः । संध्येऽस्ति सृष्टिरितिशङ्कितपूर्वपक्षनिरासासिद्ध्यै मायामात्रमिति सिद्धान्तसूत्रेण स्वप्न इदमनिर्वचनीयत्वं भगवान् वक्ष्यतीति योजना ॥ ३३६ ॥

तदेवमज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायितया प्रमातृप्रमेयप्रमाणादिविभागस्य प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतस्वप्नादिवदनिर्वचनीयत्वमुपपाद्य ब्रह्मणः प्रमेयत्वाप्रमेयत्वपक्षयोरुक्तदोषद्वयस्यापि प्रागेवाप्रमेयस्यापि वेदान्तप्रमेयत्वोपपादनेन परिहृतत्वान्न तत्र पुनर्वक्तव्यमित्यभिप्रेत्येदानीमनृतेन प्रमात्रादिना कथमविषयत्वेनाऽपि सत्यवस्तुप्रतिपादनं संभाव्यत इत्याशङ्कां लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेनापाकरोति ॥

मिथ्यासुषिः सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
प्रत्यक्षदृष्टिपथमापतितोऽचिरेण ॥
द्रष्टुः शरीरकरणप्रविभागरूपं
मृत्युं निवेदयति सत्यमिति प्रसिद्धम् ॥ ३३७ ॥

**मिथ्यासुषिरिति** ॥ सवितृमण्डलस्थस्य सुषेर्मिथ्यात्वमदृष्टदोषवत्पुरुषैकदृष्टिविषयत्वाददुष्टपुरुषदृष्ट्यपोद्यत्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। कस्याचिद् द्रष्टुः कदाचित् प्रत्यक्षदृष्टिपथमापतितः सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती मिथ्यासुषिरचिरेण द्रष्टुः सत्यं मृत्युं निवेदय-

तीति प्रसिद्धमनिष्टदर्शनानुवादिग्रन्थादाविति योजना ॥ शरीर-करणेति मृत्युस्वरूपकथनं जीवस्य स्वरूपतो मरणाभावद्योतन-परं प्रासङ्गिकं ज्ञेयम् ॥ ३३७ ॥

सूत्रकारेणाप्यनृतस्य सत्यसूचकत्वं, सूचकश्च हि श्रुतेरा-चक्षते च तद्विद इत्यत्रोक्तमित्याह—

स्वप्नः शुभाशुभफलागमसूचकः स्या
न्मिथ्यापि सन्निति च सूत्रकृदाह यत्नात् ॥
गुर्वादि सर्वमिदमद्वयबुद्धिहेतु-
र्मायानिबन्धनमिति प्रतिपादनाय ॥ ३३८ ॥

स्वप्नः शुभाशुभफलेति ॥ उक्तदृष्टान्तयोर्दार्ष्टान्तिकमा-ह ॥गुर्वादीति॥ इति दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपादनायेत्यर्थः ॥ ३३८॥

ननु भ्रान्तिविषयस्यानिर्वचनीयत्वं न लौकिकपरीक्षकसं-मतमतो दृष्टान्तासिद्धेः कथं प्रमात्रादेरनिर्वचनीयत्वानुमानमिति तत्राह—

भ्रान्तिप्रतीतिविषयो न च सन्न चास-
न्नाकाशतत्कुसुमयोर्न हि सास्ति नापि ॥
तस्या भवेत्सदसदात्मकगोचरत्वं
न ह्यस्ति तात्किमपि यत्सदसत्स्वरूपम् ॥३३९॥

भ्रान्तिप्रतीतिविषय इति ॥ सत्याकाशे भ्रान्तिविषय-त्वादर्शनान्न सन् भ्रान्तिविषयः । असत्याकाशकुसुमे चाभावा-न्नाप्यसन्निति विभागेनाऽर्थयोजना । सॅश्चेद् आकाशवन्न बाध्येत अॅसश्चेत् खपुष्पवन्नापरोक्षीभवेदित्यर्थः । यतः सा भ्रान्तिराकाश-

तत्कुसुमयोर्नास्ति । अतो भ्रान्तिप्रतीतिविषयो न च सन्न चासन्निति पदयोजना । प्रत्येकं सदसत्पक्षासम्भवेऽपि समुच्चितं पक्षान्तरं सम्भवेदित्याशङ्क्याह ॥ नाऽपि तस्या भवेदिति ॥ विरुद्धसमुच्चयस्य क्वाप्यसम्भवादित्यर्थः ॥ ३३९ ॥

गतेन पद्येन सद्वादिनोऽन्यथाख्यात्यख्यातिवादिन आत्मख्यातिवादिनश्च निराकृताः । सदसद्वादी जैनोऽपि दिगम्बरो निर्धूतः । तर्हि निरालम्बाऽस्तु भ्रान्तिरिति स्वभाववादिमतमाभासयति—

आलम्बनं च विरहय्य न विभ्रमस्य
ज्ञानात्मनो भवति जन्म कदाचिदत्र ॥
सिद्धं ततः सदसती व्यतिरिच्य किञ्चि-
दालम्बनं भ्रमधियः सकलप्रवादे ॥ ३४० ॥

आलम्बनं च विरहय्येति ॥ निरालम्बनज्ञानोदयाऽदर्शनात् सालम्बनता तावद्भ्रान्तेःसिद्धैवान्यथा भ्रमोदयसमनन्तरं पुरःस्थितविषयं प्रति धावनं ततः पलायनं वा नोपपद्येतेत्यभिप्रायः । तस्मान्निर्वचनीयसदसदुभयात्मकप्रकारत्रयविलक्षणमनिर्वचनीयं भ्रान्तिप्रतिभास्यमिति सर्वैरादृतमेवेति नाप्रसिद्धिरनिर्वचनीयताया इत्युपसंहरति ॥ सिद्धं तत इति ॥ अर्थस्यानिर्वचनीयत्वे तद्धियोऽप्यनिर्वचनीयतार्थसिद्धाऽन्यथा तद्धीत्वायोगादिति भावः ॥ ३४० ॥

भावरूपमज्ञानं न ज्ञानाभाव एवेत्येतद्ब्रह्मात्मनो वाक्यविषयत्वसमर्थनावसरेप्रसङ्गतःप्रतिपादितमिति पूर्वपक्षक्रममुल्लङ्घ्य वाक्यप्रसूतमातिरिन्द्रियजन्यधीवादित्यादिना शब्दस्य परोक्षाऽर्थधीजननस्वभावत्वान्नापरोक्षं ब्रह्म बोधयितुं शक्नोति शब्द

इति यदुक्तं तत् परिहरति—

ब्रह्मात्मवस्तु निरवद्यचिदेकरूपं
वह्न्युष्णतावदपरोक्षवपुः स्वभावात् ॥
निर्दोषवेदशिरसो वचनादतोऽस्मिन्
ब्रह्मात्मवस्तुनि भवेदपरोक्षबुद्धिः ॥ ३४१ ॥

ब्रह्मात्मवास्त्विति ॥ ब्रह्मात्मवस्तु वह्न्युष्णवत् स्वभावादपरोक्षवपुरित्यन्वयः । तत्र हेतुगर्भं विशेषणं, निरवद्यचिदेकरूपमिति ॥ चिद्रूपमपि द्रव्यांशसंवलितं चेत् स्यादपि कदाचित् परोक्षमित्यत एकेति विशेषणम् । तथाऽप्युत्पत्त्यादिविकारयोगे स्यादन्यापेक्षेति परोक्षताऽपीत्यत उक्तं, निरवद्येति ॥ एवम्भूतवस्तुनि वेदान्तवाक्यं न परोक्षां धियमुपजनयेदित्याह ॥ निर्दोषेति ॥ वेदवचनादिति वेदान्तवचनादित्यर्थः । तस्य निर्दोषेति विशेषणात् प्राक् प्रतिपादितं प्रामाण्यं सूचितम् । यदि नित्यापरोक्षचैतन्यस्वरूपे ब्रह्मात्मनि वेदान्तवाक्यं परोक्षामेव धियं जनयेत्तदान्यथाभूतेऽर्थेऽन्यथाधीत्वात्तद्धियो भ्रान्तितेति तज्जनकं वाक्यमप्रमाणमेव स्यात् । तच्चायुक्तम् । वेदस्य निर्दोषत्वेन प्रामाण्यस्य संमतत्वादिति नात्र परोक्षधीजनकत्वशङ्का कार्या । यद्यपि सामान्यद्वारा प्रवर्त्तमानः शब्दो लोके परोक्षबुद्धिजनको दृष्टस्तथापीह नित्यप्रत्यक्षप्रत्यक्तत्त्वपरत्वाद्दशमस्त्वमसीतिवदपरोक्षामेव धियं लक्षणया वृत्त्या जनयेदिति भावः ॥ ३४१ ॥

यत्पुनरुक्तमविषयत्वाद् ब्रह्मणस्तस्मिन्नोपनेयोऽपनेयो वाऽतिशय उपपद्यते इति तत्रोपनेयाभावेऽप्यपनेयं किमपि भवेदिति प्रमाणकृत्याभावचोद्यं पराकरोति—

सा चोपनेयरहिते विषयिण्यनन्ते-
ऽनिर्वाच्यमग्रहणमात्रमपाकरोति ॥
स्वोत्पत्तिलब्धनिजवस्तुबलेन तत्र
तापत्रयं समुपशाम्यति निर्निमित्तम् ॥ ३४२ ॥

**सा चेति** ॥ सा वेदान्तजन्या धीरनन्ते ब्रह्मण्यग्रहण-मात्रमपाकरोतीति संबन्धः । मात्रपदेन तत्र प्रकाशजननं व्या-वर्त्यते । अनिर्वाच्यमित्यग्रहणविशेषणेन सदसदादिरूपस्य न ज्ञाननिवर्त्यत्वसंभव इति विकल्पदूषणमुद्धृतम् । अनिर्वचनीय-ता च तस्य साधितैवेति द्रष्टव्यम् । असहायमकारकं च ज्ञानं कथमनिर्वचनीयमपि पराकुर्यादितिचेत्तत्राह ॥ स्वोपत्तिलब्धे-ति ॥ स्वोत्पत्तित एव लब्धमालिङ्गितं यन्निजमसाधारणं वस्तु स्वार्थलक्षणं तदेव बलं तन्मात्राकारतालक्षणं, तेन तावन्मात्रेणा-ऽग्रहणमात्रमपाकरोतीति संबद्ध्यते । तथाचोत्पद्यमानैव स्व-विषयमवभासयन्ती सा धीर्न स्वोत्पत्तिव्यतिरिक्तं सहायं स्व-विषयाकारापत्तावपेक्षते।नापि स्वविषयाज्ञानापनये सहायापेक्षा तस्य विषयावभासनान्तरीयकत्वाद्, अन्यथा विषययाथात्म्या-वभासासंभवादतो न कारकत्वाभावोऽपि दोषः । कारककृत्य-स्येहाभावात् । तस्मादभ्यासं वा सहायान्तरं वा स्वोदयमात्रा-ऽतिरिक्तं व्यापारं वाऽनपेक्ष्यैवात्मन्यज्ञानं निहन्ति वाक्यजन्या धीरिति भावः । तथापि प्रमातृत्वादिबन्धनिवृत्तये साधनान्तर-मपेक्षणीयमितिचेन्नेत्याह ॥ तत्रेति ॥ अज्ञाननिमित्तत्वात्तापत्रया-ख्यबन्धस्य स्वकारणे तस्मिन्नज्ञाने निवृत्ते सति निर्निमित्तं सन्तापत्रयं समुपशाम्यतीत्यर्थः ॥ ३४२ ॥

यत् पुनः कार्यान्वयान्वयिवस्तुनि शब्दशक्तिमित्यारभ्य

विस्तरेणोक्तं कार्यविषयैव शक्तिर्वृद्धव्यवहारे गृह्यते, न सिद्धवस्तु-विषयाऽतो वेदान्तानां न सिद्धे ब्रह्मणि प्रामाण्यमिति तदपाकर्त्तुमनुवदति—

वाक्यात् प्रवर्त्तकनिवर्त्तकरूपभाजः
पुंसः प्रवृत्तिमुपलभ्य धियोऽनुमानात् ॥
कार्यान्विते शिशुरवैति पदस्य शक्ति-
मित्युच्यते यदि तु तत्र वयं वदामः ॥ ३४३ ॥

वाक्यादिति ॥ यदि त्वित्यन्तोऽनुवादपरः ॥ धियः कार्यधियः ॥ दूषणमस्य प्रतिजानीते ॥ तत्र वयं वदाम इति ॥३४३॥

तत्र कार्ये शब्दशक्तिरित्ययुक्तमतिप्रसङ्गात्, किन्त्वितराऽन्वित इत्येव युक्तम् । तच्चान्वीयमानं योग्यमेवायोग्यस्य वाक्यार्थप्रतीत्युपयोगितयाऽन्वयायोगात् । तस्माद्योग्येतरान्विते शब्दशक्तिरित्यभ्युपेयमित्याह—

योग्येतरान्वितपदार्थनिवेदने तु
शब्दस्य शक्तिरिह वृद्धजनप्रयोगे ॥
विज्ञायते न खलु कार्यसमन्वितेऽर्थे
कार्याभिधायिषु पदेष्वपि तत्प्रसङ्गात् ॥ ३४४ ॥

योग्येतरेति॥ तुशब्दोऽस्मिन् प्रयोजकद्वैविध्यकल्पनागौरवप्रसङ्गव्यावृत्त्यर्थः।कार्यसमन्वितेऽर्थे कस्माच्छब्दशक्तिर्न विज्ञायते, तत्राह ॥ कार्याभिधायिष्विति ॥ कार्याभिधायिषु लिङादिपदेष्वपि कार्यान्वितार्थत्वप्रसङ्गाद् एकस्मिन् वाक्ये कार्यान्तराभावादन्यान्विते स्वरूपे वा कार्यपदशक्त्यभ्युपगमे च प्रयोजकगौरवं प्रसज्ज्येतेत्यर्थः ॥ ३४४ ॥

प्रसङ्गस्येष्टत्वं परिहर्त्तुं कार्यान्तराभ्युपगमपक्षेऽनवस्थामापादयति—

कार्यान्वितार्थविषया यदि शब्दशक्तिः
कार्यार्थवाचिषु लिङादिषु कार्यमन्यत् ॥
वक्तव्यमापतति तत्र च कार्यमन्यद्
वक्तव्यमेव भवतीत्यनवस्थितिः स्यात् ॥ ३४५॥

**कार्यान्वितार्थविषया यदीति** ॥ लिङादिशब्दवाच्यकार्यस्य प्रत्यन्वयितया कार्यान्तरस्याभ्युपगमे तस्यापि कार्यान्तरान्वितस्यैव पदगोचरतेत्येवमनवस्था दुरवस्था प्रसज्ज्येत । ततो दूरमपि गत्वाऽन्यान्विते शक्तिरभ्युपेयैवेत्यर्थः ॥ ३४५ ॥

तर्हि भवतु सिद्धान्वितमेव कार्यं लिङादिवाच्यमितिचेत्तदा तव सिद्धान्तविरोध इत्याह—

सिद्धान्वितं यदि लिङादिपदानि कार्यं
ब्रूयुर्विनश्यति तदा नियमस्त्वदीयः ॥
यो वर्णितः सकलमेव पदं स्वमर्थं
कार्यान्वितं वदति नान्यमिति स्वशास्त्रे ॥३४६॥

**सिद्धान्वितं यदीति** ॥ नियमः सिद्धान्तः । कोऽयं सिद्धान्तस्तमाह ॥ यो वर्णित इति ॥ ३४६ ॥

अथोच्येत, योग्येतरान्वित एवार्थेऽस्तु शक्तिरेतावताऽपि न मन्मतहानिर्यतो योग्यता सिद्धस्य कार्येण कार्यस्य च सिद्धेन, न त्वकार्येणैव सिद्धस्य योग्यतेतीतरान्वितत्वपक्षेऽपि कार्यान्वयस्यानपोदितत्वामिति कार्यान्विते शक्तिरिति मम विवक्षेति चेत्तत्राह—

योग्येतरान्वितनिमित्तकशब्दशक्ति-
व्युत्पत्तिरेव यदि संभवभागिनी स्यात् ॥
आश्रीयते किमिति कार्यसमन्वितेऽर्थे
शब्दस्य शक्तिरसदर्थविशेषणेन ॥ ३४७ ॥

योग्येतरान्वितनिमित्तकेति ॥ सम्भवभागिनी सम्भाविता स्यादित्यर्थः । एवकारव्यावर्त्तितमंशं स्पष्टयति ॥ आश्रीयत इति ॥ सिद्धार्थे शब्दशक्त्यभावस्याद्याप्यनिश्चितत्वादन्वयिनः कार्यत्वविशेषणमसदर्थः । तेन विशेपणेन विशिष्टेन कार्येण समन्वित इत्येवंविधेऽर्थे शब्दस्य शक्तिः किमित्याश्रीयत इति योजना । एतदुक्तं भवति । यदि योग्येतरान्विते शब्दशक्तिराश्रीयते त्वयाऽपि तदा कार्यान्वितत्वविशेषणमनर्थकम् । योग्येतरत्वमात्रस्यान्वयप्रतियोगित्वे सम्भवति कार्यत्वस्यापि तत्कल्पनायां योग्येतरकार्यान्वितेऽर्थे शक्तिरिति स्यात् । तथाच गौरवमापद्यते। योग्येतरत्वांशं विहाय कार्यान्वितत्वमात्रस्य प्रतियोगित्वाङ्गीकारे तु कार्यपदस्य स्वरूपनिष्ठता प्रसज्ज्येत। कार्याऽन्तराभावाद् यत्किञ्चित्कार्यान्तरान्वयस्य चासान्निधानादेवाऽत्राप्रसङ्गादयोग्यत्वाच्च शब्दस्य तदन्वितस्वार्थत्वायोगाद्योग्यकार्यान्वित इति कल्पनायामपि तस्येतरत्वानपायाद्योग्येतरत्वमात्रमेवास्तु सर्वत्रान्वयप्रतियोगीति ॥ ३४७ ॥

ननु कार्यत्वस्य व्यावर्त्याऽभावेऽप्यन्वयदर्शनादेव विशेषणताश्रीयतां, मध्यमवृद्धप्रवृत्त्यनुमितज्ञानगोचरेऽर्थे प्रथमश्रुतोत्तमवृद्धवाक्यस्यान्वयमात्रेण शक्तिकल्पनवदितिचेद्, नेत्याह–

यत्राविशेषितनिमित्तकताऽवरोधे
किञ्चिन्निवारकमुदीक्षितमस्तु तत्र ॥

किञ्चिद्विशेषणविशिष्टमभीष्टशक्ते-
र्वस्तु प्रयोजकमिदं पुनरत्र नास्ति ॥ ३४८ ॥

यत्राविशेषितेति॥यत्र वाक्यादावविशेषितस्य कार्याकार्यादिविशेषणरहितस्यार्थमात्रस्य शब्दशक्तिनिमित्तकता निमित्तता नियामकतेति यावत् । तथाविधनिमित्तकतावरोधे प्रथमं संमुग्धाकारेणार्थमात्रस्य शक्तिनिमित्तत्वस्वीकारे इति यावत् । किञ्चिन्निवारकं बाधकमन्वयांशादेः प्रत्ययासंभवलक्षणं निरीक्षितं दृष्टं स्यात् । तत्र किञ्चिद्विशेषणविशिष्टं तत्तदर्थान्वयादिविशेषणविशिष्टं वस्त्वभीष्टशक्तेः प्रयोजकमस्त्विति योजना । यत्र कार्यं विनान्वयाद्यप्रतिपत्तिस्तत्र कार्यान्विततार्थस्य शब्दशक्तिविषयो, यत्र विनापि कार्यान्वयं शक्तिगोचरता निर्वहति तत्र योग्येतरान्वितत्वमात्रेण तत्सिद्धेः कृतं कार्यविशेषणेनेत्यभिप्रेत्याह ॥ इदं पुनरत्र नास्तीति ॥ अत्र कार्यत्वेनाकार्यत्वेन वा विशेषितस्याऽर्थस्य शब्दशक्तिप्रयोजकत्वाङ्गीकारे पुनरिदं पूर्वोक्तं बाधकं नास्ति ।अन्वयप्रतियोगितायाः सर्वपदार्थसाधारण्यात् कार्यत्वमेव तन्निरूपकमिति विशेषपरिग्रहे हेत्वभावादित्यऽर्थः । नचैवं सति सर्वत्रार्थमात्रमेव शब्दशक्तिप्रयोजकं, नान्वयोऽपीत्यन्विताभिधानवादस्वीकारहानिरिति वाच्यम् । केवलेऽर्थे शब्दप्रयोगादर्शनेन तत्र शक्तेरग्रहणात् प्रतीयमानान्वयस्य च वाचकान्तराभावात् कार्याकार्यसाधारण्यात् सर्वेषां पदानामन्वयांशेऽपि शक्तेरवश्याभ्युपेयत्वमस्तीति तत्स्वीकारो न तथा कार्यस्य वाचकान्तराभावो लिङादिपदस्यैव तद्वाचकत्वादिति न कार्यत्वमन्वयप्रतियोगितया शब्दशक्तिनियामकमितिभावः॥३४८

शक्तिग्रहनियामकत्वेनाभिमते पदार्थान्वये कार्यमवच्छेदकं न

भवति । सर्वेषामेव पदार्थानामितरान्वितत्वेन शब्दगोचरतायास्तुल्यत्वादन्यथा प्रयोजकद्वैविध्यकल्पनागौरवादिदोषप्रसङ्ग इत्युक्तम् । तत्र यदुक्तं, शक्तिः कार्यान्वयान्वयिनीत्यङ्गीकारे न प्रयोजकभेदादिदोष इति, तदनूद्य दूषयति—

कार्यान्वयान्वयिनि वस्तुनि शब्दशक्ति-

रित्युच्यते यदि तदापि समानमेतत् ॥

अन्वीयमानवचनत्वमतोपपत्तौ

कार्यान्वयान्वयिविशेषणगीर्वृथेति ॥ ३४९ ॥

कार्यान्वयान्वयिनीति॥अस्मिन्नपि पक्षे विशेषणवैयर्थ्यदोषस्तदवस्थ इति दूषणमुक्तमेव स्पष्टयति, अन्वीयमानेत्यर्द्धेन ॥ अन्वीयमानार्थमात्रवाचकः शब्द इति मतस्योक्तविधयोपपत्तौ सत्यां कार्येत्यादिविशेषणमनर्थकम् । क्वचित्सतोऽपि तस्य व्यावर्त्याभावेनाग्निपैङ्गल्यादिवदप्रयोजकत्वादित्यर्थः । कार्याकार्यार्थसमुदाये यदि कार्यान्वयान्वयित्वं सत्तामात्रेण शब्दशक्तिप्रयोजकं तदा सिद्धान्वयान्वयित्वस्यापि सर्वत्र सत्त्वाविशेषात्तदपि कस्मात् प्रयोजकं न स्यादतो विशेषणमनर्थकमितिभावः॥ ३४९॥

कार्यत्वस्याऽन्वयमात्रेण शक्तिनियामकत्वेऽतिप्रसङ्गं दोषाऽन्तरमाह—

वक्तृज्ञानविवक्षयोरपि भवेच्छब्दार्थता तावके

पक्षे शब्दमनुप्रतीतिरुभयोरस्त्येव यस्मात्तयोः ॥

यद्यच्छब्दमनु प्रतीतिपदवीमारोहदुत्प्रेक्ष्यते

तत्तद्वाच्यमिति स्थितौ नहि तयोःशब्दार्थतावर्जनम्॥३५०

वक्तृज्ञानविवक्षयोरपीति॥ लोके वाक्यप्रयोक्तुर्वाक्या-

ऽर्थज्ञानविवक्षयोरपि शब्दात् प्रतीयमानत्वात्तयोरपि तव मते शब्दार्थता भवेत् । हेत्वसिद्धिशङ्कामनुभवालम्बनेन निराकरोति ॥ शब्दमनुप्रतीतिरिति ॥ तावके पक्ष इत्येतत् स्फुटयति ॥ यद्यादिति ॥ न हि तयोरित्यादि निगमनम् ॥ विमते वक्तृज्ञान-विवक्षे अपि शब्दशक्तिगोचरौ शब्दात् प्रतीयमानत्वाद्यद्यदेवं तदेवं यथा कार्य तथा चेमे तस्मात्तथेति प्रयोगः ॥ ३५० ॥

तयोरपि शब्दार्थत्वमङ्गीकुर्वाणं प्रत्याह—

वेदे वक्तुरभावतस्तदुभय नास्तीह यस्मादतः
शब्दो वाचकशक्तिमुज्झति निजां तत्र स्ववाच्यं विना ॥
वाच्ये वाचकशक्तिमिच्छति भवान्नान्यत्र तत्र श्रुते-
रप्रामाण्यमिति स्फुटं तत्र भवेद् बुद्धेरनुत्पत्तितः ॥ ३५१ ॥

वेद इति ॥ यस्मादिह वेदे वक्तुरभावतस्तदुभयं वक्तुर्ज्ञान-विवक्षारूपं नास्ति । अतस्तस्माद्वेदरूपः शब्दस्तत्र वेदे निजां वाचकशक्तिमुज्झति परित्यजति । कुतः । स्ववाच्यं विना वक्तृ-ज्ञानविवक्षारूपस्ववाच्याभावादित्यर्थः । ननु तयोर्वाच्यत्वाभावे-ऽपि शब्दगोचरता भविष्यति । यथा तवावाच्येऽपि ब्रह्मणि लक्षणया शब्दगोचरतेतिचेन्मैवम् । तव प्रतिज्ञाभङ्गप्रसगादित्याह वाच्येवाचकशक्तिमिच्छति भवान्नान्यत्रेति ॥ किं ततोऽनिष्टमिति, तदाह ॥ तत्र श्रुतेरिति ॥ ३५१ ॥

तदेवं कार्यस्यान्वयमात्रदर्शनं न शब्दशक्तिनिरूपणक्षम-मतिप्रसङ्गादित्युक्तम् । इदानी कार्यत्वोपाधिकेऽन्यान्विते शब्द-शक्तिरिति वदतः क्रियाकारकान्वयासिद्धिश्च स्यादित्याह—

न च सोमयागपदयोरुभयो-
रपरस्परेण घटतेऽत्र युजा ॥

पदजातमेतदखिलं हि निजं
विषयं समर्पयति कार्ययुतम् ॥ ३५२ ॥

**न च सोमयागपदयोरिति** ॥ अत्र त्वत्पक्षे, सोमेन यजेतेत्यत्र सोमेनेति पदस्य, यजेतेति पदस्य च करणकार्यभावरूपा युजा योगः परस्परेण मिथो न च घटते । हि यस्मादेतदखिलं पदजातं निजं विषयं कार्ययुतं समर्पयति। तथाच वाक्यनिविष्टानां सर्वेषामेव पदानां प्रत्येकं कार्यान्वितस्वार्थमात्रे पर्यवसितत्वात् कारकवाचिनां पदानां परस्परान्वयासिद्धावेकतया तेषां संभूयकारित्वासंभवादेकवाक्यार्थत्वासिद्धिरिति तात्पर्यार्थः ॥ ३५२ ॥

कार्यान्वयिनीति पक्षेऽप्ययं दोषः समान इत्याह—

कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरिति स्थितौ च
कार्यान्वयान्वितमतिर्न परस्परेण ॥
संबन्धितामतिरतश्च न सिद्धिमेति
सर्वो विशिष्टविधिरित्यपि दूषणं वः ॥ ३५३ ॥

**कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिरितीति** ॥ कार्यान्वयाऽन्वितमतिः केवलं पदेभ्यः स्यादिति शेषः । न परस्परेण संबन्धिता मतिः स्यात्, पदार्थविषयेति शेषः । तथाच किं स्यादिति, यत् स्यात्तच्छृणिवत्याह ॥ अतश्चेति ॥ सोमेन यजेत, पशुना यजेतेत्यादिः सर्वो विशिष्टविधिः सिद्धिर्न्नैतीत्यपि वो दूषणमिति योजना । यद्यपि कार्यान्वयपूर्वकोऽपि पदार्थानामरुणादिन्यायेन संबन्धः संभवेत्तथापि विशिष्टविधिर्न्न तावता सिद्ध्येत् । विशिष्टविधिर्हि सोमविशिष्टं यागं प्रतिपद्य तद्विषयो नियोगः

प्रतिपत्तव्य इत्येवं प्रतीयमानाकारोऽभिप्रेयते । स कार्यान्वयात् प्राक् सोमयागयोरन्वयासिद्धौ कुतस्त्योऽन्यतस्तत्सिद्धौ कार्यान्वयपुरःसरत्वकल्पनानर्थक्यमित एव तत्सिद्धौ वाक्यवृत्तिलक्षणवाक्यभेदप्रसङ्ग इति भावः ॥ ३५३ ॥

त्वत्पक्षेऽपि कथं विशिष्टविधिसिद्धिर्यतोऽन्यान्विते पदशक्तिरिति वादिनोऽपि तव प्रधानभूतार्थेन ह्यन्वय एष्टव्यः । प्रधानं च यागादिविधौ कार्यमेवेति त्वदुक्तरीत्याऽत्रापीतरेषां मिथोऽन्वयाभावः समान इतिचेत्तत्राह—

योग्येतरान्वितपदार्थगतैव शब्द-
शक्तिः स्थिता यदि पुनर्घटते तदाऽयम् ॥
सर्वो विशिष्टविधिरस्तु तथैव तस्माद्
युक्त तदेतरादितीदमपीह भाष्यम् ॥ ३५४ ॥

योग्येतरान्वितेति॥यदि शक्तिर्यथा वर्णिता स्थिता तदा पुनः सर्वोऽयं विशिष्टविधिर्घटते । योग्येतरान्विते शब्दशक्तिरिति पक्षे परस्परान्वयस्यापि शब्दसामर्थ्यसिद्धत्वात् कार्यान्वयव्यवधानाभावात् । तस्मात् तथैवास्तु योग्येतरान्वितस्वार्थे शब्दशक्तिरित्येवमेवास्तु, किं कार्यान्वयकल्पनेनेत्यर्थः॥अत्र कार्यस्य न शब्दशक्तिनियामकत्वेन प्राधान्यमास्ति, किं त्वन्यपदार्थापेक्षयेति प्रधानान्वयो न हीयत इति भावः।अस्मिन् पक्षेऽस्मदीये, यदैकस्मादपूर्वं तदेतरत्तदर्थमिति शाबरभाष्यवचनमप्यनुकूलमित्याह॥ युक्तं तथेतरादितीदमपीह भाष्यमिति ॥ इतरत्तदर्थमिति भाष्यखण्डस्याऽयमर्थः। किं भावार्थादपूर्वनिष्पत्तिः, किं वा नामार्थादिति संदेहाऽवसरे एकस्यापूर्वनिष्पादकत्वेऽन्यस्य तच्छेषत्ववद्यदैकस्मादपूर्वं तदेतरत् तदर्थमिति भाष्यकार आह स्मेति । तथाच भावार्थानां

नामार्थानां च कार्यं विनापि मिथः प्रथमं संबन्धोपपत्तेः पुनः शेषिभूतकार्यं प्रति सर्वस्यार्थकदम्बस्य शेषत्वोपपत्तिरिति, न कार्यप्राधान्यस्यानुपपत्तिरिति सर्वं समञ्जसम् ॥ ३५४ ॥

योग्येतरान्वितस्वार्थं बोधयति शब्द इत्युपपादितम्। तत्रेद-माशङ्क्यते। शब्दस्य हि प्रवर्त्तकत्वमेव प्रथममवसीयते। शब्द-श्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तेरुपलम्भात्। अतः प्रथमं शब्दः प्रवर्त्तक इति कल्पना भवति। प्रवृत्तेश्च ज्ञानपूर्वकत्वात्तया तद्धेतुज्ञानमनुमीयते।तच्च प्रवर्त्तकार्थविषयमिति शब्दानन्तर्याच्छब्द-स्य प्रवर्त्तकार्थज्ञापकत्वं पश्चात् कल्प्यते। प्रवर्त्तकं च कार्यज्ञानमि-ति स्वात्मदृष्टान्तेनाध्यवसितम्। तथाच यदि शब्दस्य प्रवर्त्तक-कार्यैकार्थनियमं परित्यज्य कार्याकार्यसाधारणत्वं कल्प्यते तदा शब्दस्य प्रथमावगतं प्रवर्त्तकत्वं बाध्यं स्यात। तस्मात् प्रवृत्ति-जनक एव शब्द इति प्रवर्त्तककार्यैकगोचरो न सामान्येनार्थबोध-क इति इमामाशङ्कामनूद्य दूषयति—

शब्दः प्रवृत्तिजनको न तु बोधकश्चे-
न्नैतत्प्रवर्तकधियो जनकत्वहेतोः ॥
इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः
शब्दः प्रवर्तयति नैष पुनः पुमांसम् ॥ ३५५ ॥

शब्दः प्रवृत्तिजनको न तु बोधकश्चेदिति ॥ एता-वान् पूर्वपक्षानुवादो व्यक्तीकृतार्थकः। दूषयति ॥ नैतदिति ॥ कुत इत्यत आह ॥ प्रवर्त्तकधियो जनकत्वहेतोरिति ॥ शब्दः साक्षान्न प्रवर्त्तकः। तथा सति तं शृण्वतां सर्वेषामपि प्रवृत्ति-प्रसङ्गात्, किन्तु प्रवर्त्तकज्ञानमात्रजनकः स्वसामर्थ्याद्भवति प्रयत्न-साध्येऽर्थे। तत्र यः स्वानुकूलतया प्रवर्त्तकज्ञानवान् भवति स

प्रवर्त्तते,न सर्वं इति युज्यत इत्यर्थः। तर्हि कार्यज्ञानस्यैव प्रवर्त्तकत्वात् कार्यबोधकत्वमेव शब्दस्याभ्युपेयमितिचेन्नेत्याह ॥ इष्टाऽभ्युपायेति ॥ एष शब्द इष्टाभ्युपायमतिजन्मनिमित्तभूतः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञानोत्पादकमात्रो, न पुनः पुमांसं प्रवर्त्तयति । तस्याकारकत्वादित्यक्षरार्थः । तथाच शब्देन पुंसामिष्टाभ्युपाये बोधिते प्रवृत्तिसाध्यं चेत्तदिष्टमवगच्छति पुरुषस्तदा स इष्टरागाकृष्टः स्वयमेव प्रवर्त्तते । नचेत्तद्रागवाँस्तदा फलसाधनत्वं शब्दादवगच्छन्नप्युदास्त इति युक्ततरोऽयं पक्ष इति भावः ॥ ३५५ ॥

कार्यान्वितेऽर्थे कार्यान्वयान्वयिनि वा शब्दशक्तिरितिपक्षनिराकरणमुपसंहरति—

तस्मादसंगतमिदं यदुशन्ति केचित्<br>
कार्यान्वितार्थविषयैव तु शब्दशक्तिः ॥<br>
तत्र प्रयोगमभिवीक्ष्य तथा प्रतीतिः<br>
कल्प्येति वर्णितनिजेष्टविघातहेतोः ॥ ३५६ ॥

तस्मादसङ्गतमिदमिति ॥ तस्मादित्युक्तमेव स्पष्टयति ॥ वर्णितेति ॥ तस्माद्वर्णितनिजेष्टविघातहेतोरिदमसङ्गतमिति सम्बन्धः । किमसङ्गतमित्यपेक्षायामिदमा परामृष्टमर्थमाह ॥ यदुशन्तीति ॥शक्तिशब्दाग्रे इति शब्दोऽध्याहार्यः ॥तत्रेत्यादि, कल्प्येतेत्यन्तं कार्यान्वितार्थे शक्तिरिति प्राप्त्युपायकथनपरम् । तत्राऽपि कल्प्येतेति यदुशन्ति तदिदमप्यसङ्गतमिति योज्यम् । यद्वा कार्यान्वितार्थविषयैव तु शब्दशक्तिरिति यत् केचिदुशन्ति तस्मात् प्रमाणाभावात् पूर्वोक्तदूषणवशाच्चेदमसङ्गतमिति योजना । कुतः प्रमाणाभावः । कार्ये प्रयोगदर्शनस्य प्रमाणत्वादित्याशङ्क्याह ॥ तत्रेति ॥ तत्र कार्ये शब्दयोगमभिवीक्ष्य शब्दविषये कार्यस्या-

ऽन्वयमात्रमभिवीक्ष्येति यावत्। तथा प्रतीतिः कार्यान्विते शब्द-शक्तिरिति प्रत्ययोऽनुभव इति यदि कल्प्येतेति यदिपदं योज्यम् । तदप्यसङ्गतमित्यध्याहारानुषङ्गाविह ज्ञेयौ । कुत इति, तत्राह ॥ वर्णितेति ॥ विशिष्टविध्यसिद्धिरिष्टविघातो वक्ष्यमाणप्रकारेण तत्पक्षे वैदिकानियोगासिद्धिश्च । तस्माद्धेतोरित्यर्थः ॥ ३५६ ॥

किञ्च, कार्यान्वितस्वार्थे पदशक्तिरिति कार्यत्वं शक्ति-नियामकमित्यभ्युपगच्छतो वैदिकनियोगासिद्धिरितीष्टविघातं स्पष्टयति—

वेदैकगम्यमिति कार्यमभीष्टमस्मि-
ञ्छक्तिग्रहोऽपि न यदस्य समञ्जसोऽयम् ॥
शक्तिग्रहं च परिहृत्य न बोधकत्वं
शब्दस्य शक्यमिह वक्तुमशङ्कितेन ॥ ३५७ ॥

वेदैकगम्यमिति ॥ अभीष्टं प्राभाकराणामिति शेषः । किं तत इत्यत आह ॥ अस्मिन्निति ॥ अयं शक्तिग्रहोऽस्मिन्नपि नियोगे पदस्य न समञ्जस इत्यन्वयः ॥ अयमिति लौकिको भावार्थकार्यविषय उक्तः । पदपदेन लिङ्गादिरुच्यते । एतदुक्तं भवति । न तावद्वैदिको नियोगो वैदिकलिङ्गादेः प्रत्येतुं शक्यते। तस्य मानान्तरागोचरतया सङ्गतिग्रहयोग्यत्वाभावात्तद्गोचरत्वे चापूर्वत्वहानाद् वैदिकादेव पदात् तत्सङ्गतिग्रहेऽन्योन्याश्रयत्व-प्रसङ्गात् । तस्मान्न नियोगासिद्धिरिति । मास्तु तत्र सङ्गतिग्रहो, विनाऽपि तेन शब्दस्य तत्र पर्यवसानादितिचेन्नेत्याह ॥ शक्तिग्रहं चेति ॥ अशङ्कितेन प्रामाणिकेन पुंसेत्यर्थः ॥ ३५७ ॥

मानान्तरागोचरेऽपि नियोगे स्याद् व्युत्पत्तिर्यथा तथा-विधे ब्रह्मणि तवेतिचेन्न, वैषम्यादित्याह—

शश्वत्स्वयंप्रभमलुप्तचिदात्मभूतं
विष्णोः परं पदममुत्र तु शब्दशक्तिः ॥
शक्या ग्रहीतुमतिबुद्धिमनस्यपीति
शास्त्रप्रमाणकमदः प्रवदन्ति सन्तः ॥ ३५८ ॥

**शश्वत्स्वयम्प्रभमिति** ॥ शश्वत् सदा ॥ वेदान्तवेद्यस्य पदस्य कथं सदा स्वयम्प्रभत्वमित्यत आह ॥ अलुप्तचिदात्मभूतमिति ॥ एवंविधं यद् विष्णोः परं पदं ब्रह्माख्यममुत्रामुष्मिन् पदम् । किंल्लक्षणे अतिबुद्धिमनसि अतिक्रान्ते बुद्धिमनसी येन तत् तथा तस्मिन् सङ्कल्पाध्यवसायागोचरेऽपि विष्णोः परमे पदे शब्दशक्तिर्ग्रहीतुं शक्येति योजना । इति हेतोरदः पदं शास्त्रप्रमाणकं घटत इति सन्तः प्रवदन्तीति नास्मत्पक्षे काप्यनुपपत्तिरित्यर्थः । ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वेऽपि स्वयम्प्रकाशमानप्रत्यक्चैतन्यात्मतया नित्यं स्फुरणात्तस्मिन् ब्रह्मात्मादिशब्दसंकेतः सुग्रहः । नियोगस्य तु जडत्वात् । सदैव मानाधीनप्रकाशत्वान्मानान्तरेण तदसिद्धौ तत्र शब्दशक्तिग्रहः स्वप्नेऽपि दुर्लभ इति भावः ॥ ३५८ ॥

एवं प्रवर्त्तकवाक्यमूला व्युत्पत्तिरित्यङ्गीकृत्याऽपि सा सिद्धसाध्यसाधारणी व्युत्पत्तिर्न्न कार्यैकनिष्ठेति साधितम् । इदानीं सिद्धार्थमात्रनिष्ठवाक्येऽपि व्युत्पत्तिः संभवतीति सोदाहरणमाह—

जातः सुतः सकलवंशविवर्द्धनस्ते
विप्रेति वाक्यसमनन्तरमस्य बुद्धिः ॥
श्रोतुर्मुखाकृतिवशेन तु पुत्रजन्म-

वस्तुन्यवश्यमनुमीयत एव बालैः ॥ ३५९ ॥

जातःसुत इति॥अत्रेयमाख्यायिका। कश्चित्किल क्वचिदागतः कुतश्चिद्देशान्तरादागतो देशभाषानभिज्ञस्तद्भाषाव्युत्पित्सुरवगतस्वभाषार्थश्च पुरुषः। स कदाचित् कस्याचिद् गृहवेदिकायामुषितस्तत्र पुत्रजन्मवृत्तमन्वभूत् । स पुनस्तत्पितरं प्रति गच्छता वार्त्ताहारेण सह पुत्रपितृसमीपं गतो वार्त्ताहारनिगदितं वाक्यमुपाशृणोदिति तामत्र सूचयति स्म निबन्धकारः ॥

अत्रैषाक्षरयोजना— बालैर्यथोक्तव्युत्पित्सुभिर्हे विप्र ! ते सकलवंशविवर्द्धनः सुतो जात इति वाक्यसमनन्तरं वार्त्ताहारवाक्यश्रवणसमनन्तरमस्मदुपलब्धपुत्रजन्मवस्तुनि बुद्धिरस्य श्रोतुः पितुर्मुखाकृतिवशेन स्मितविकसत्कपोलनयनचेष्टारोमोद्भेदादिलक्षणेन प्रहर्षचिह्नेनावश्यमनुमीयत एवेति । तुशब्दः शोकमोहलिङ्गाद्विशेषणार्थः। वाक्यश्रवणसमनन्तरं हर्षमात्रलिङ्गदर्शनेऽपि तेन पुत्रजन्मैव तद्धेतुत्वेनानेनोक्तमिति कल्पनायां न प्रमाणमस्तीति न शङ्कनीयम् । मानान्तरेण पुत्रजन्मनो हर्षहेतुत्वं निश्चितवतोऽत्र च तद् दृष्टवतो वैदेशिकस्य स्वदृष्टहेतुपरित्यागेन हेत्वन्तरशङ्कानुत्थानात्तेन तदेव हर्षहेतुत्वेनानुमीयते, नान्यत् प्रियासुखमसवादीति निश्चयोपपत्तेः। न हि पुत्रपदालिप्तकुङ्कुमाङ्कितवासः प्रदर्शकेन वार्त्ताहारेण प्रियावृत्तान्तो निवेद्यत इति कल्पना युक्तिमती। तस्मात्तनयजन्मैवानेन वाक्येन निवेदित इत्यवगच्छत्येवायं व्युत्पित्सुरित्ययमर्थोऽवश्यपदेन सूचितः ॥३५९॥

तथाच तत्र विनापि कार्यानुसरणं शक्तिग्रहोऽपि सेत्स्यतीत्याह—

भूतार्थनिष्ठवचनादपि शब्दशक्तिः

शक्या ग्रहीतुमुदितेन पथाऽनभिज्ञैः ॥
तत्र प्रवर्त्तकनिवर्त्तकवाक्यमूल-
शक्तिग्रहैकनियमस्य न हेतुरस्ति ॥ ३६० ॥

भूतार्थनिष्ठवचनादपीति ॥ उदितेन पथेति ॥ पुत्रस्ते जात इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । एवञ्च सति कार्यवाक्यमूलैव व्युत्पत्तिरिति नियमस्ते भग्न इत्याह ॥ तत्र प्रवर्त्तकेति॥३६०॥

तदेवं सामान्यतःप्रवर्त्तकवाक्यानपेक्षमेव सिद्धार्थनिष्ठवाक्ये स्यादाद्या व्युत्पत्तिरित्युक्तम् । तस्याविशेषपर्यवसानार्थमपि न प्रवर्त्तकवाक्यापेक्षा । सिद्धनिष्ठवाक्येष्वेवावापोद्वापाभ्यां तदुपपत्तेरितीदानीं व्युत्पत्तिप्रकारमाविष्करोति—

सामान्यतः प्रथममेष पदार्थपिण्डो
वाच्योऽस्य वाचकमिदं पदपिण्डरूपम् ॥
इत्याकलय्य पुनरेष विशेषतोऽपि
शब्दार्थसंगतिमवैति जनस्तटस्थः ॥ ३६१ ॥

सामान्यत इति ॥ प्रथममपूर्वशब्दश्रवणसमये एषः स्वयमनुभूयमानःपदार्थपिण्डोऽर्थकदम्बो वाच्योऽस्यार्थपिण्डस्येदम्पदपिण्डरूपं पदसमुदायो वाचकं बोधकमिति सामान्यतः संमुग्धाऽऽकारेणाकलय्य पुनः प्रयोगभेदश्रवणकाले एष तटस्थो जनो व्युत्पित्सुरावापोद्वापाभ्यां विशेषतोऽपि शब्दार्थसंगतिं पदविशेषस्य पदार्थविशेषसंबन्धमवैति विजानातीति योजना । प्रियवाक्याख्यानवदप्रियवाक्यान्वाख्यानेऽप्युक्तप्रकारेण व्युत्पत्तिसिद्धिर्ज्ञेया ।क्वचिदभिनयमार्गेणापि जायतएव व्युत्पत्तिरिति मुधा कार्यस्य तद्धेतुत्वनियमकल्पनेत्येतदप्यत्रोक्तं वेदितव्यम् ॥३६१॥

इदानीं विनापि कार्यानुप्रवेशं प्रसिद्धपदसमभिव्याहारादपि पदव्युत्पत्तिराद्या भवतीति प्रतिपादयति—

काष्ठैः स्थाल्यां पचति त्रिविधैरोदन पूर्णिकेति
श्रुत्वा बालः सपदि मनुते काष्ठशब्दस्य शक्तिम् ॥
दृष्ट्वा तस्मिन् पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं
न्यायोपायादितरवचसां शक्तिषु प्राक् प्रवीणः ॥३६२॥

काष्ठैः स्थाल्यामिति ॥ पूर्णिका नाम काचित् पक्षी । काष्ठैः पचतीति वाक्यं श्रुत्वा बालः पचनकरणं प्रज्वलत्काष्ठजातं च दृष्ट्वा तस्मिन् वाक्ये काष्ठप्रातिपदिकस्य शक्तिं सपदि मनुते जानातीति योजना । कथं पाकसाधनेष्वनेकेषु तत्र दृश्यमानेषु सत्सु, दारुषु काष्ठपदशक्तिं गृह्णातीत्यत आह ॥ न्यायोपायादिति ॥ पारिशेष्यन्यायरूपादुपायादित्यर्थः । एतदपि कुत इत्यत आह ॥इतरेति ॥ काष्ठैरित्यत्र वचनविभक्त्योः स्थाल्यादिपदानां च शक्तिषु प्रागेव प्रवीणो व्युत्पन्न इत्यर्थः । एवं प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्याद्यप्यत्रोदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥ ३६२ ॥

इयता संदर्भेण कार्यपदार्थमङ्गीकृत्य तस्य न व्युत्पत्तिप्रयोजकतेत्युपपादितम् । इदानीं कार्यमेव त्वदभिमतं न प्रामाणिकं, कुतस्तस्य शक्तिग्रहप्रयोजकतेत्याह—

न च किमपि नः कार्यं नाम प्रमाणपथानुगं
यदिह तु पुनर्लिङ्लोडादेरुपैष्यति वाच्यताम् ॥
न खलु तदितो धात्वर्थादेः पृथग्व्यवसीयते
व्रजतु तदिह श्रेयोहेतुर्लिङादिपदार्थताम् ॥ ३६३ ॥

न च किमपीति ॥ इह लोके वेदे वा। चशब्दः किञ्चेत्यर्थे । तुशब्दः कार्याभ्युपगमव्यावृत्त्यर्थः । पुनःशब्दः पादपूरणार्थः । नन्वानयेत्युक्ते सत्यानयनं कर्तव्यमिति कर्त्तव्याकारस्य कार्यस्यावगमात् कथमस्य प्रमाणपथाननुगम इतिचेन्नेत्याह ॥ न खलु तादित इति॥धात्वर्थः क्रिया।आदिपदात् कारकादिग्रहः। कटः कर्त्तव्यस्तृप्तिः कार्येति कारकफलयोरपि कर्त्तव्यत्वप्रतीतेः । इतः प्रसिद्धाद्धात्वर्थादेः सकाशात् पृथग् न खलु तत्कार्यं व्यवसीयत इत्यन्वयः । ननु न साध्यस्वभावमात्रत्वं कर्त्तव्यत्वं येन लिङादेः क्रियाद्यतिरिक्तार्थता न स्यात्, किन्तु मयेदानीमिदं कार्यमित्येवमाकारम् । न तथा क्रियादिः । वर्त्तमानादिप्रयोगेऽपि यतः क्रियादिसाध्यस्वभावं प्रतीयमानमपि न यथोक्तकर्त्तव्याकारं प्रतीयतेऽतः कर्त्तव्याकारं कार्यमन्यत्तदेव लिङादिपदवाच्यमिति चेन्नेत्याह ॥ व्रजतु तादिहेति ॥ इह विधिवाक्येषु तत् क्रियादिवस्तु श्रेयोहेतुरिष्टसाधनं भूत्वा लिङादिपदवाच्यार्थतां व्रजत्वित्यक्षरार्थः । श्रेयःसाधनत्वावच्छिन्नः क्रियादिरेव कर्त्तव्याकारेण प्रतीयमानो लिङादिपदवाच्यो वर्त्तमानत्वाद्याकारेण प्रतीयमानस्तु लकारान्तरवाच्य इति नानुपपन्नं किञ्चिदिति न क्रियादिभिन्नकार्यसिद्धिरिति भावः ॥ ३६३ ॥

ननु लिङादिपदवाच्यः कर्त्तव्याकारः श्रेयोहेतुत्वमेवेति कुतोऽवसीयत इतिचेल्लोके श्रेयोहेतुत्वप्रतीतेः प्रवर्त्तकत्वेन प्रसिद्धत्वात्तदन्यस्याप्रसिद्धत्वाच्चेत्याह—

न खलु जगति श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयादृते
पुरुषवचनात् क्वापि प्राज्ञः प्रवर्त्तितुमर्हति
पुरुषवचनाच्छ्रेयोहेतुप्रतीत्युदये पुन-

स्तदनुवशगो रागोत्पत्तौ ततःस हि चेष्टते ॥३६४॥

न खलु जगतीति ॥ पूर्वार्द्धयोजना स्पष्टा । व्यतिरेकमुक्त्वान्वयं वदञ्छाब्देऽपि व्यवहारे न क्लृप्तादन्यत् प्रवर्त्तकमाशङ्कनीयमित्याह ॥ पुरुषवचनाच्छ्रेय इति ॥प्रतीत्युदये पुना रागोत्पत्तौ सत्यां तदनुवशगो रागानुवर्त्ती सन् स हि यस्माच्चेष्टते ततस्तस्मात् सर्वत्र कृतिसाध्यश्रेयोहेतुत्वज्ञानोद्बुद्धराग एव प्रवर्त्तको, नार्थन्तरमित्यर्थः ॥ ३६४ ॥

तथापि व्युत्पित्सोर्बालस्य कथमित्थं व्युत्पत्तिस्तस्य बालत्वादितिचेन्न । तस्य स्वव्यवहारे व्युत्पन्नतया परत्रापि न्यायसंचारसमर्थत्वादित्याह—

नयनिपुणधीर्बालश्चेष्टां समीक्ष्य समीहितुः
कृततदुचितव्याप्तिज्ञानः पुरा निज आत्मनि ॥
परतनुगतं श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयोत्थितं
चरितविषये रागं तस्य प्रवर्त्तकमिङ्गति ॥३६५॥

नयनिपुणधीरिति ॥ नयानिपुणधीत्वे हेत्वर्थ विशेषणं, कृततदुचितेत्यादि । स्वात्मनि पूर्वमेव कृतं प्रवृत्तेरिष्टसाधनत्वज्ञानपूर्वकत्वसाधनोचितव्याप्तिज्ञानं येन स बालः समीहितुः प्रवर्त्तमानस्य वृद्धस्य चेष्टां समीक्ष्य परतनुगतं रागं तस्य प्रवर्त्तकमितीङ्गति कल्पयतीति योजना । प्रवर्त्तकरागोत्पत्तौ निमित्तमाह ॥ श्रेयोहेतुप्रतीत्युदयोत्थितमिति ॥ इष्टसाधनत्वज्ञानादुत्पन्नमित्यर्थः ॥चरितविषय इति॥अनुभूते प्राग्व्युत्पन्ने विषय इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । बालः स्वयं प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानो वा बुद्धिपूर्वकारित्वादिष्टं म इदमिति बुद्ध्वा प्रवर्त्ततेऽनिष्टम् इदमिति

बुद्ध्वा च निवर्त्तते । तत्रापि न बोधमात्रात्तदुभयं तस्य भवति, किन्तु प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयकरागद्वेषाभ्यां कदाचिद् बुद्ध्वाप्यौदासीन्यदर्शनादत एवं स्वव्यवहारे प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणमन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चित्य तद्दृष्टान्तावष्टम्भेन परस्मिन्नपि व्यवहर्त्तरीष्टानिष्टज्ञानजनितरागद्वेषौ प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कारणे इति कल्पयति । तथाच शाब्देऽपि व्यवहारे शब्दतः प्रवृत्तिहेतुरागोत्पादकश्रेयःसाधनतावबोधमुत्पन्नमनुमाय बहुषु तथाविधयोगेष्वावापोद्वापाभ्यां लिङादिपदवाच्यतां श्रेयःसाधनतायाःकल्पयतीति ॥ ३६५ ॥

एतमेव संगृहीतमर्थं क्रमेण त्रिभिः पद्यैर्व्युत्पादयति—

प्रवर्त्तकोत्थाननिबन्धने ततः

समीहितोपायविशेषवस्तुनि ॥

गिरोऽनुमाय प्रतिपत्तिहेतुतां

विशेषसिद्धौ तु समीहते पुनः ॥ ३६६ ॥

प्रवर्त्तकोत्थानेत्यादिना॥ ततः परतनुगतरागानुमानानन्तरं प्रवर्त्तकस्य रागस्योत्थाने समुदये यन्निबन्धनं कारणं तस्मिन् समीहितोपायविशेषवस्तुनि गिरो वाक्यस्य प्रतिपत्तिहेतुतां प्रथमं सामान्यतोऽनुमाय पुनर्विशेषसिद्धौ समीहते यतत इत्यर्थः॥३६६॥

अस्य वाक्यांशस्य पदस्यास्मिन् वाक्यार्थांशे पदार्थे वृत्तिरिति विशेषनिर्णयार्थं कथमयं प्रवर्त्ततइत्यपेक्षायामावापोद्वापाभ्यामित्याह—

पदान्तरस्यागमनादिहान्यत-

स्तथा परस्योद्धरणादितो गिरः ॥

विशेषसिद्धिं लभते प्रयत्नवान्
पदार्थसंबन्धगतां विचक्षणः ॥ ३६७ ॥

पदान्तरस्येति ॥ इहाश्वमानयेति वाक्ये पूर्वश्रुतगामानयवाक्यगतगोपदात् पदान्तरस्याश्वपदस्यान्यतः प्रयोगान्तरादानयनात्तथेतो गिरो गामानयेति वाक्याद्गोपदस्योद्धरणात् पदार्थसंबन्धगता विशेषसिद्धिं प्रयत्नवान् विचक्षणो व्युत्पित्सुर्लभत इति योजना । विचक्षणो मेधावी । प्रयत्नवानावापोद्धारविचारनिरतः। विशेषसिद्धिरुद्ध्रियमाणं पदं यदर्थसंबद्धं प्रतीयते तस्य पदस्य स एवार्थः । तथोदुप्यमानं च पदं यदर्थसंबद्धं स एव तस्यार्थ इति निश्चयः ॥ ३६७ ॥

तत्रापि विशेषतो लिङादेरिष्टसाधनत्वांशवाचकत्वसिद्ध्यनुगुणावावापोद्धारौ दर्शयति—

लङादिशब्देऽपगते लिङादौ
प्रत्यागतेऽभीप्सितसाधनत्वम् ॥
प्रतीयते तेन लिङादिशब्द-
स्तदर्थवाचीति स वेत्ति बालः ॥ ३६८ ॥

लङादिशब्देऽपगत इति ॥ लिङ्लोट्तव्यादिशब्दे पूर्ववद्वाक्यप्रयोगभेदेष्वपगते प्रत्यागते च सर्वत्राभीप्सितसाधनत्वं प्रतीयते, न गवादिपदवत्प्रतिप्रयोगमर्थान्तरनिष्ठत्वमित्यर्थः । तेन सर्वत्रैकार्थप्रत्यायकत्वेन तदर्थवाची लिङ्लोट्तव्यपञ्चमलकाररूपःशब्दइष्टसाधनत्ववाचीति स बालो वेत्तीति योजना ॥ ३६८ ॥

तर्हि तत्तत्पदार्थस्य केन रूपेण वाच्यत्वम् ? किं योग्येतराऽन्वितत्वेन, किं वाऽनन्वितत्वेनाथवा साधारणत्वेन । नाद्यः ।

कल्पनागौरवात्। न द्वितीयोऽन्वयस्याशाब्दत्वापत्तेः। न तृतीयः साधारणस्यान्यस्य प्रकारस्यासंभवात् कार्यान्वितत्वस्यैव परिशेषादित्याशङ्क्य,मैवम्। अवधीरितविशेषणेनान्वितत्वेन वाच्यतेत्यङ्गीकारे सर्वदोषपरिहारादित्याह—

योग्येतरान्वितया न च वाच्यताऽस्य
कार्यान्वितत्ववपुषा सुतरां न चेष्टा ॥
किं त्वन्वितत्ववपुषा न विशेषणस्य
किञ्चित् प्रयोजकमिहास्ति निरूपणायाम् ॥ ३६९॥

योग्येतरेति ॥ अस्य पदार्थस्य । न चेष्टा वाच्यतेत्यनुषङ्गः। विशेषणस्य कार्यत्वयोग्यत्वादिरूपस्येत्यर्थः ॥ ३६९ ॥

अन्वितत्वरूपेण वाच्यत्वमित्ययुक्तम् । स्वेन रूपेणार्थानामेव वाच्यत्वादन्वयप्रतिपत्तेरभिहितार्थनिबन्धनत्वेन साक्षाच्छाब्दत्वानङ्गीकारादिति भाट्टमतमुत्थापयति—

यत् केचिदाहुरभिधाय निजान् पदार्था-
नेतावतोपरतवन्ति पदानि तेभ्यः ॥
पश्चाद्विशेषणविशेष्यतया तु तेषां
संसर्गबुद्धिरपराऽवतरिष्यतीति ॥ ३७० ॥

यत् केचिदिति ॥ इति यत् केचिदाहुस्तद् दुर्घटमिति परेणान्वयः। किमाहुस्ते, तदाह॥ अभिधायेति॥ पदानि वाक्यगतानि निजानसाधारणान् पदार्थानभिधाय एतावताऽभिधानमात्रेणोपरतवन्ति उपरतानि भवन्तीत्यर्थः। अयं भावः। यद्यऽपि संगतिग्रहणसमये प्रथमं पदार्थानां मिथोऽन्वितताऽप्यनुभूता तथाप्यावापोद्धाराभ्यां विभज्यमानदशायां केवल एव पदार्थे

पदपर्यवसानमवधारितम् । अन्यथा योऽर्थो येनार्थेनान्वितस्तदा प्रतीतः सोऽप्यर्थस्तदेकपदवाच्यः स्यादिति क्रियामात्रोच्चारणेऽपि सकलपदार्थप्रतीतिः स्यादिति पदान्तरोच्चारणवैयर्थ्यापातः । तस्मात् केवलानेवार्थानभिदधति पदानीति । तर्हि कथं वाक्यार्थप्रत्यय इत्यपेक्षायामाह॥तेभ्यःपश्चादिति॥पश्चात् सर्वपदाऽर्थबोधानन्तरं तेभ्योऽभिहितेभ्यःपदार्थेभ्यस्तेषां विशेषणविशेष्यतया संसर्गबुद्धिस्त्वपरा पदार्थबुद्धिभ्योऽवतरिष्यति जनिष्यत इत्यर्थः । एवं सति वाक्यार्थस्य संसर्गस्य साक्षादशाब्दत्वेऽपि न अशाब्दत्वप्रसङ्गः। पदानां पदार्थेषु स्वसामर्थ्यपर्यवसानेऽपि स्वोच्चारणप्रयोजनस्यापर्यवसानाद्वाक्यार्थप्रतीतेरेवेह प्रयोजनत्वात् । तदुक्तं भट्टपादैः—

साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैकस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् इति ॥

तस्मात् संसर्गप्रत्ययस्य न मानान्तराधीनत्वशङ्केति भावः ॥३७०॥

उत्थापितं मतं दूषयति—

तद् दुर्घटं न खलु किञ्चिदपि प्रमाण-
मस्याः प्रसाधकमुदीरितकल्पनायाः ॥
येनोपलब्धिविषयत्वमुपागतानि
संसृष्टमेव तु पदानि पदार्थमाहुः ॥ ३७१ ॥

तद् दुर्घटमिति ॥ कुत इत्यपेक्षायामत्र प्रमाणासंभवादित्याह ॥ न खल्विति ॥ पदार्थबोधव्यवधानेन पश्चात्संसर्गबुद्धिर्भवतीत्यस्या उदीरितकल्पनायाः प्रसाधकं प्रमाणं, न खल्व-

ऽस्तीति योजना। कुतो नास्तीत्यत आह ॥ येनेति॥ येन हेतुना श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिविषयत्वमुपागतानि पदानि, श्रूयमाणानि पदानीति यावत्, संसृष्टमेव पदार्थमाहुः । अन्यथा तत्राकाङ्क्षाऽनुदयप्रसङ्ग इत्यर्थः । प्रवृत्त्या हि विशिष्टार्थज्ञानमनुमीयते । तस्य च शब्दः कारणत्वेन कल्प्यते । अतः संसृष्टबोधकत्वमेव पदानामिति न व्यवधानकल्पनं प्रामाणिकमिति भावः ॥३७१॥

नन्वावापोद्वापाभ्यां स्वयम्प्रतिपत्तिसमये पदार्थमात्रबोधस्य दर्शनात्तत्रैव शक्तिरिति गम्यत इति चेन्नैवमित्याह—

नासंसृष्टपदार्थबुद्धिपदयोः पूर्वापरत्वप्रमां
मुक्त्वा कारणकार्यतावगतये कश्चित् समर्थस्तयोः ॥
पौर्वापर्यमुदीक्ष्य हेतुफलतां सर्वत्र संगृह्णते
नो चेत् सर्वमसंगतं भवति वः सर्वव्यवस्थाहतेः॥३७२॥

नासंसृष्टेति ॥ असंसृष्टपदार्थबुद्धेः पदस्य च पूर्वापरत्वप्रमां मुक्त्वा पौर्वापर्यप्रतीतिं विना तयोः कारणकार्यतावगतये न कश्चित् समर्थोऽस्ति । यतो व्यवहर्त्तारो विपश्चितः पदार्थयोः पौर्वापर्यमुदीक्ष्य सर्वत्र प्रत्यक्षादिस्थलेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणत्वं संगृह्णते। नोचेत् पूर्वापरत्वज्ञानं विनाचेत् कार्यकारणभावग्रहस्तदा सर्वमसंगतं भवति, वो युष्माकं सर्वत्र कार्यकारणव्यवस्थाभङ्गादिति योजना । एतदुक्तं भवति । पौर्वापर्यप्रत्ययो हि सर्वत्र कार्यकारणभावे प्रमाणमित्याविवादम् । न च केवलपदार्थप्रत्ययपदयोः पौर्वापर्ये मानमस्ति । व्युत्पत्तिसमये तयोः पौर्वापर्याग्रहात् परप्रवृत्तिहेतुविशिष्टप्रत्ययाधीनत्वाद् व्युत्पत्तेः । स्वयं पदार्थविवेकसमयेऽप्यवगतपदपदार्थगोचरत्वाद् विवेकस्य न तत्र तयोः पौर्वापर्यग्रहः । यः पुनर्व्युत्पन्नस्य वाक्यार्थप्रतिपत्ति-

समये शब्दश्रवणानन्तरं पदार्थबोधः स व्युत्पत्तिवैपरीत्यान्न शाब्दः,किन्तु संबन्धिदर्शननिमित्ता स्मृतिरेवेति नानयोः पौर्वापर्यं प्रमाणतोऽवधृतम् । तदभावेऽपि कार्यकारणत्वकल्पनायां सर्वव्यवस्थाबाध इति ॥ ३७२ ॥

ननु यागादेः स्वर्गादेश्च पौर्वापर्यप्रत्ययाभावेऽपि कार्यकारणभावइष्टस्तत्कथमयं नियमइतिचेद्, आगमैकगम्यव्यतिरिक्तविषयेऽस्य नियमस्याबाधान्मैवमित्याह—

पूर्वापरान्वयबलेन हि कारणत्व-
कार्यत्वसंगतिमिह प्रतियन्ति लोके ॥
नो चेद्भवेदनियमो न च तत्र कर्तु
कार्याणि कारणविशेषमुपाददीरन् ॥ ३७३ ॥

पूर्वापरेति ॥ इह लोके न वेदेऽयं नियम इत्यर्थः । विपक्षे दोषमाह ॥ नोचेदिति ॥ इदमस्य कार्यमस्येदं कारणमिति नियमो न स्यादित्यर्थः । अनियमाभ्युपगमे दण्डं पातयति ॥ न च तत्रेति ॥ नियमाभावे कार्यविशेषार्थी कारणविशेषं नाददीत । आदत्ते तु तं लोक इत्यतो नियमोऽभ्युपेयः । स च पूर्वापरत्वग्रहाधीन इति यत्र पूर्वापरत्वानिश्चयस्तत्र कार्यकारणभावाग्रह इति लोके सोऽङ्गीकृतः सर्वत्रेत्यर्थः ॥ ३७३ ॥

ननु पौर्वापर्यप्रत्ययाद् यो वाक्यवाक्यार्थप्रत्यययोः कार्यकारणभावोऽवगतः स पदार्थबोधलक्षणाऽवान्तरव्यापारव्यवधानेनेत्येतावदस्माभिरभिधीयते, न तु पौर्वापर्यप्रत्ययासिद्धं कार्यकारणभावमपहाय प्रकारान्तरेण कार्यकारणभावं केवलपदार्थज्ञानपदयोर्वयं ब्रूमो येनाव्यवस्थापातादिदोषं प्रसञ्जयेमेतिचेन्मैवम्। वाक्यवाक्यार्थबुद्ध्योर्मध्ये शब्दजन्यतया पदार्थबोधस्य सद्भावे

प्रमाणाभावाद् व्यापारकल्पनस्याप्ययोगादित्याह—

पदजातबुद्धिजनिता भवति

व्यतिषक्तबुद्धिरिति तावदिह ॥

न विगानमस्ति भवतामपि चेद्

व्यवधानकल्पनमकारणकम् ॥ ३७४ ॥

पदजातेति ॥ व्यतिषक्तबुद्धिर्वाक्यार्थरूपसंसर्गबुद्धिः सा भवतामपिचेत् पदजातबुद्धिजानितेति संमतं भवति तदा न तावदिहावयोर्विगानं विप्रतिपत्तिरस्तीति योजना। एवं सति व्यवधानकल्पनं पदार्थबोधव्यवधानेन वाक्याद्वाक्यार्थबोधकल्पनमऽकारणकमप्रामाणिकमित्यर्थः। यद्वा,पदजातबुद्धिजनिता भवति व्यतिषक्तबुद्धिरिति तावदिह लोके प्रसिद्धमित्यध्याहारः । भवतामपिचेदिह न विगानमस्ति तदा व्यवधानकल्पनमकारणकमिति योजना । पदजाततात्पर्यजन्या तावद्वाक्यार्थबुद्धिर्व्यवधानपक्षेऽप्यभ्युपेया । अन्यथा वाक्यस्य निस्तात्पर्यत्वप्रसङ्गादऽप्रमाणत्वापत्तेः । अतो नात्र विवदितुमुचितम् । मानान्तरनिबन्धनपदार्थबोधानां विशिष्टार्थबोधकत्वादर्शनादितिभावः॥३७४॥

ननु व्यवधानेनापि कारणत्वं लोके दृश्यते । पाकादौ काष्ठादीनां ज्वालादिव्यवधानेन कारणत्वदर्शनात् । तद्वत् पदजातस्यापि व्यवधानेन हेतुत्वे को दोष इतिचेन्न। दृष्टान्तवैषम्यादित्याह—

व्यतिषक्तबुद्धिजनकं सकलं

पदजातमित्यनुमतं यदि वः ॥

व्यवधानकल्पनाविडम्बनया

किमिहाङ्गसैव जनकं भवतु ॥ ३७५ ॥

व्यतिषक्तबुद्धीति ॥ विस्पष्टास्याक्षरयोजना । दृष्टान्ते हि काष्ठादीना ज्वालादिव्यवधानेन पाकादिहेतुत्वं प्रत्यक्षेणावधृतम्, इह न तथात्वकल्पकं प्रमाणमिति वैषम्यं द्रष्टव्यम् ॥३७५

ननु प्रथमावगतोऽपि साक्षाद्भावः परित्यज्यते यथाऽरुणयैकहायन्या सोमं क्रीणातीत्यत्रारुण्यादेस्तृतीयया साक्षाच्छ्रुतं साधनत्वं परित्यज्य गोद्रव्यव्यवधानेन साधनत्वं कल्पितं, तथा इहापि किन्न स्यादितिचेन्नेत्याह—

पारम्पर्यं ह्यगतिकगतिं कारणादाश्रयन्ते
नोत्सर्गेण स्फुरति विदुषां यत्र तत्र प्रनाडी ॥
श्रुत्या सोमक्रयमनुगतः साधनत्वेन हित्वा
साक्षाद्भावं ह्यरुणिमगुणः प्रापदेनामशक्तेः ॥ ३७६ ॥

पारम्पर्यं हीति ॥ अगतिकानां मुख्यगतिशून्यानां गतिरगतिकगतिः । यत् पारम्पर्यमाश्रयन्ते विद्वांसस्तामगतिकगतिमेवाश्रयन्ते इति योजना । तदप्याश्रयणं कारणाद्यथाश्रुतसाक्षाद्भावासंभवात्। यतो विदुषां न्यायोन्नयनप्रकारविदां यत्रोत्सर्गेण प्राप्तः संबन्धसाक्षाद्भावो न स्फुरति घटमानतया नावभासते तत्र हि प्रणाडीपारम्पर्यमिति योजना । तत्रोदाहरणमाह॥श्रुत्येति ॥ अरुणयेति वाक्ये श्रुतोऽरुणिमगुणस्तृतीयाश्रुत्या निरपेक्षत्वलक्षणया मुख्यया वृत्त्या साधनत्वेन सोमक्रयमुपगतः साक्षात्सोमक्रयसाधनत्वेनारुणयेति तृतीयया करणार्थया संबद्धः श्रुतं साक्षाद्भावं मुख्यसंबन्धं हित्वा अशक्तेः शक्त्यभावादेनां प्रणाडीं प्रापदिति योजना । तत्र हि गुणादेः साधनत्वं साक्षा-

च्छ्रुतम् । न हि तेन सोमक्रयः कर्त्तुं शक्यते । पराश्रयत्वाद् गुणादेः स्वतो निर्व्यापारत्वात् । अतस्तत्र श्रुतमपि मुख्यसंबन्धं परित्यज्य द्रव्यव्यवधानेन प्रणाड्या साधनत्वमास्थीयते । अत्र तु न तथा साक्षाद्भावे काचनानुपपत्तिरतो वाक्यार्थप्रतिपत्ति-समये पदार्थबोधो भवन्नपि न पदशक्तिनिबन्धनः, किन्तु स्मृति-रेवेति नात्र व्यवधानकल्पनावकाश इति भावः । तथाच साक्षा-द्यद्यपि कुर्वन्ति इत्यादिभट्टवचनं न व्युत्पत्तिविषयं, किन्तु प्रति-पत्तिसमयपदार्थबोधविषयमिति द्रष्टव्यम् ॥ ३७६ ॥

ननु मानान्तराधिगतानामपि पदार्थानां संसर्गबोधकत्वं प्र-सिद्धम् । तथाचेहापि पदार्थबोधानन्तरं भवन् संसर्गबोधः पदार्थ-बोधजन्य इति निश्चीयते । अतस्तदविरोधेन पदजातस्य संसृष्टा-ऽर्थबोधकत्वं पदार्थबोधव्यवधानेनेति कल्प्यमिति वक्तुमर्थानां संसर्गबोधकत्वप्रकारं पूर्वपक्षी कथयति—

श्वेतिमानमभिपश्यतः पुरः
शृण्वतस्तदनु हेषितध्वनिम् ॥
तद्वदत्र खुरमुद्गरस्वन
श्वेतरूपतुरगोऽटतीति धीः ॥ ३७७ ॥

श्वेतिमानमिति ॥ द्रव्यविशेषानिश्चयाच्छ्वेतिमानमभि-पश्यत इत्युक्तम् । श्वैत्यमात्रं चक्षुषा पश्यतः, तदनन्तरमेव हेषित-ध्वनिमश्वजात्यसाधारणशब्दं शृण्वतः तद्वदत्र हेषितध्वन्युदय-स्थले खुरमुद्गरस्वनं मुद्गराभिघातस्वनवत् कठिनं खुराभिघात-शब्दं च शृण्वतः पुंसो विभिन्नेन्द्रियावगतरूपशब्दाभ्यां पदार्थाभ्यां श्वेतरूपतुरगोऽटतीति धीर्भवतीत्यर्थः ॥ ३७७ ॥

तथाच पदार्थधियां वावगतपदार्थानां वा संसर्गधीहेतुत्व-

मिहापि कल्पनीयम्। पदानां तु पदार्थधीष्वेवोपक्षय इति स एवाह—

तद्वदत्र पदजातबुद्धिभि-

र्बोधिताखिलपदार्थहेतुकः ॥

सर्वशब्दविषयार्थसंगतेः

प्रत्ययो भवति योग्यतादिभिः ॥ ३७८ ॥

तद्वदत्र पदजातेति ॥ उक्तदृष्टान्तवदत्र वाक्ये पदजातबुद्धिभिः प्रतिपदं क्रमेणोत्पन्नमतिभिर्बोधिता येऽखिलपदार्थास्तद्धेतुकः सर्वशब्दविषयाणामर्थानां संगतेः संसर्गस्य योग्यतादिभिराकाङ्क्षायोग्यतासान्निधानैः सहकारिभिः प्रत्ययो भवतीति योजना। संसर्गविषयः प्रत्यय उक्तविधया भवतीत्यर्थः ॥३७८॥

परिहरति सिद्धान्ती—

नैतत् क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते संसर्गधीरीदृशी

श्वेतोऽश्वस्त्वरितोऽभिधावतितरामित्यादिकार्योत्थिता ॥

कार्यं क्लृप्तनिबन्धनं यदि भवेन्नास्यापरं कारण

कल्प्यं तेन पदार्थजातजनिता नैषा मतिर्लिङ्गजा ॥ ३७९॥

नैतदिति ॥ कुत इत्यत आह ॥ क्लृप्तनिमित्तत इति ॥ श्वेतोऽश्वस्त्वरितोऽभिधावतितरामित्यादिका या प्रतीतिरुत्थिता ईदृशी संसर्गधीः क्लृप्तनिमित्ततोऽपि घटते इति योजना। तथाहि। अत्रत्यपदार्थबोधे क्लृप्तं हि निमित्तमनुमानं गम्यते खुरशब्दालिङ्गेन चतुष्पदोऽनुमानाद्धेषितशब्देनाश्वानुमानाच्छ्वेतद्रव्यसामान्यस्य च दृष्टस्य विशेषापेक्षत्वाद् द्रव्यान्तरस्यात्रासंभवमन्यतो निश्चित्य परिशेषादश्व एवेतिनिश्चयसिद्धेरित्यर्थः। अत्रानुमानातिरिक्तमेव कारणं कल्प्यतामित्याशङ्क्याप्रसिद्धकल्पनातः प्रसिद्धोपादानं

न्याय्यमित्यभिप्रेत्य परिहरति ॥ कार्यमिति ॥ क्लृप्तनिबन्धनमेव कार्यं यदि भवेत् संपद्येत तदाऽस्य कार्यस्यापरं कारणं न कल्प्यम् । सर्वलोकप्रसिद्धेनानुमानेनैवात्र पदार्थसंसर्गबोधसिद्धौ मानान्तरजन्यत्वं तस्य न कल्पयितुं शक्यते । विरोधादित्यर्थः । येनैवं हेतुनाऽनुमानगृहीतपदार्थसंसर्ग एवायमवभासत इति स्थितं तेन एषा मतिः पदार्थजातजनिता न, किन्तु लिङ्गजेति सिद्धमित्यर्थः ॥ ३७९ ॥

एवं तर्हि यैर्मानैः श्वैत्याद्यर्थाः प्रसिद्ध्यन्ति तैरेव तेषा संसर्गांशोऽपि प्रतीयताम् । यथा पदैरेव पदार्थविषयैस्तेषा संसर्गबोधो भवतामितिचेन्नेत्याह—

पादार्थं न पृथक् प्रमाणमपर नानाप्रमाणोद्भवं
नाप्येतत्फलमत्र पक्षयुगले कल्प्यं निमित्तान्तरम् ॥
क्लृप्तं लिङ्गमतोऽपि निर्वहति चेत्ससर्गधीरीदृशी
पादार्थी न पृथक् प्रमा न च फलं नानाप्रमाणोद्भवम् ॥
॥ ३८० ॥

पादार्थमिति ॥ पादार्थं पदार्थजनितमपरं प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं पृथक् स्वतन्त्रं प्रमाणं न भवति,पदार्थविषयकज्ञानाद्वाक्यार्थज्ञानं पदार्थनिबन्धनं प्रमाणान्तरं न भवतीत्यर्थः । एतत्संसर्गज्ञानं नानाप्रमाणोद्भवं चक्षुराद्यनेकप्रमाणोद्भवं नानापदोद्भवं वा फलं नाप्यनेकेषां प्रमाणानामिदमेकं फलं भवतीत्यर्थः । कुत इत्यत आह॥अत्र पक्षेति॥ पृथक्प्रमाणत्वपक्षे नानाप्रमाणफलत्वे च निमित्तान्तरं कल्प्यं यत इत्यर्थः । नानाप्रमाणानां संभूय एकार्थबोधकत्वस्यान्यत्राप्रसिद्धेरिति भावः । अगत्येह तत्कल्प्यतामितिचेन्नेत्याह ॥ क्लृप्तं लिङ्गमिति ॥ लिङ्गविधया बोधकत्वं

प्रसिद्धमित्यर्थः । फलितमाह ॥अतोऽपीति॥ क्लृप्तादेवास्मादीदृशी श्वेतोऽश्वो धावतीत्येतादृशी संसर्गधीर्न्निर्वहतिचेत् पादार्थी न पृथक् प्रमा । न च नानाप्रमाणोद्भवं फलमपीति सिद्धामित्य-ऽर्थः। तस्मात् काप्यर्थाना संसर्गबोधकत्वस्यासंभवाच्छब्दश्रवणा-नन्तरं भवन्त्योऽप्यर्थधियो न वाक्यार्थधियां हेतवो, नापि शब्द-जनिताः प्रमितयः । प्रागुक्तन्यायेन पदार्थविषये तासां स्मृति-त्वात् । अतः परिशेषात् पदजातवशादेव पूर्वोक्तविशिष्टार्थप्रत्यय-सिद्धिरिति तात्पर्यार्थः ॥ ३८० ॥

तस्मादन्यान्विते पदशक्तिरित्यस्मदुक्तं स्थितामित्युपसं-हरति—

नासंसृष्टमतो वदन्ति न च तान्याहुः क्रियासङ्गतं
योग्येनान्वितमेव केवलममून्याहुः स्वमर्थं यतः ॥
एवं सत्यपवार्जिताक्रियमलं निष्पन्नरूपं सदा
संसर्गादिवर्जितं च वदितुं वस्तुस्वरूपं श्रुतिः॥ ३८१ ॥

**नासंसृष्टमत** इति ॥ आहुः क्रियासङ्गतामित्यत्र नकारो-ऽनुषञ्जनीयः। तथाचायमर्थः। वचनानि पदानि असंसृष्टमर्थं न व-दन्ति, नापि कार्यान्वितमाहुरिति। कुत इत्यत आह ॥ योग्येनेति॥ केवलं कार्याकार्यत्वविशेपणरहितं सामान्यतो योग्येनान्वितमेव स्वं स्वमर्थममूनि पदानि यत आहुरिति योजना । नचैवं सति पदान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तस्यार्थविशेषाभिव्यक्त्यर्थ-त्वादिति भावः । तदेवं प्रवर्त्तकादिवाक्येष्वपि वस्तुस्वरूपे शब्द-शक्तिर्न्न कार्यान्विते इति स्थिते वेदान्तानामपि कार्यानपेक्षणात् पूर्वोक्तप्रकारेणाखण्डे ब्रह्मणि प्रामाण्यमविरुद्धमित्याह ॥ एव सतीति॥ एवं सति श्रुतिर्न्निष्पन्नरूपं वस्तु वदितुमलमित्यन्वयः ।

वस्तुविशेषणद्वयं स्पष्टार्थम् । संसर्गादीत्यादिपदेन भेदवैशिष्ट्ये गृह्येते ॥ ३८१ ॥

नन्वखण्डार्थवादिनां कथमेवमन्विताभिधानवादे कार्यवादिनामिव कार्यान्विततत्ववादे निर्बन्ध इतिचेत् सत्यं, वस्तुतस्तथैव, नास्ति निर्बन्ध इत्याह—

अभिहितघटनाऽथवाऽन्वितानामभिहितिरस्त्वथ वा न पक्षपातः ॥
क्व चिदपि समयेऽस्ति नः कदाचिद्
बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये ॥ ३८२ ॥

अभिहितघटनाथवेति ॥ बहुघटनात्मकवस्तुनिष्ठवाक्ये संसर्गात्मकवस्तुनिष्ठवाक्येऽभिहितानामन्वयो वाऽस्त्वन्वितानां वाऽभिहितिः, न तत्रास्माकमतीव पक्षपातोऽस्यास्माभिर्विचारयिषितत्वाभावादिति समुदितोऽर्थः । स्पष्टात्र पदयोजना ॥३८२॥

अस्माभिर्विचारयितुमिष्टे तु वेदन्तवाक्ये नोभयोरपि संभवः, तस्यैकरसार्थनिष्ठत्वादित्यनादरे कारणमाह—

अभिहितघटना न चोपपन्ना
परदृशि नाभिहितिस्तथान्वितानाम् ॥
अनधिकविकलार्थगोचरत्वा-
न्न तदुभयं श्रुतिमस्तके पदानाम् ॥ ३८३ ॥

अभिहितघटना न चेति ॥ अभिहितानामर्थानां घटना परदृशि न चोपपन्ना । तथाऽन्वितानामर्थानामभिहितिरपि नोपपन्नेति योजना ॥ परदृशीति असङ्गस्वप्रकाशचिदात्मनो निर्देशा-

त् तस्यान्वितत्वेनानन्वितत्वेन वाऽभिधानायोग्यता ध्वनिता । अतस्तादृग्वस्तुविषयस्य शब्दस्य न संसर्गादिगोचरत्वमित्याह ॥ अनधिकेति ॥ अधिकेत्यन्वितत्वमुच्यते ॥ विकलेति, केवलत्वमुक्तम् । यद्यप्यात्मवस्तु केवलं, तथाप्यन्वयप्रतियोगितया स्वरूपेण वा नाभिधानयोग्यं स्वप्रकाशत्वादिति विकलोक्त्यभिप्रायो द्रष्टव्यः । अधिकश्चासौ विकलश्च स चासावर्थश्चेत्यधिकविकलार्थः, न अधिकविकलार्थोऽनधिकविकलार्थः। तद्गोचराणामिति विग्रहः । उक्तार्थमन्यत् ॥ ३८३ ॥

तर्हि किमित्यन्विताभिधानसमर्थने यत्न आस्थित इत्याशङ्क्य अस्त्यत्र प्रकृतोपयोगोंऽशत इत्यभिप्रेत्य प्रथमं पक्षद्वयगतमुपजीव्यं दर्शयति—

अभिहितघटना यदा तदानीं
स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः ॥
परदृशि पुनरन्विताभिधाने
पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम् ॥ ३८४ ॥

अभिहितघटना यदेति ॥ पदे तत्त्वम्पदे ॥ स्मृतिसमबुद्धियुगमिति ॥ अभिहितान्वयपक्षे पदजत्वात् पदार्थधीर्न स्मृतिः, परं त्ववगतविषयत्वात् स्मृतिसमेत्यर्थः । पदयुगं परदृशि स्मृतिसमबुद्धिं विधत्त इत्यन्वयः । अन्विताभिधाने पुनः पूर्वं पदार्थप्रतीतिसमये पदयुगलात् परदृशि स्मृतियुग्ममेवेति योजना । अस्मिन् पक्षे त्वन्वितविषयत्वात् पदशक्तेः केवलाऽर्थधीः स्मृतिरेवेत्यर्थः । अत उभयमतानुरोधेन तत्त्वम्पदार्थविषया धीः स्मृतिसमा स्मृतिरेव वेति यथा तथाऽस्तु। एतावताऽप्यखण्डार्थनिष्ठता वाक्यस्य न विहन्यत इति भावः ॥३८४॥

उक्तं मतद्वयं विभज्योभयत्र फलं वदन्नन्विताभिधानवादे विशेषमभिदधानस्तत्र यत्नाधिक्ये कारणं सूचयति—

स्मृतिसमपदजन्यबुद्धियुग्मात्

परदृशि मोहनिवर्त्तनं परेषाम् ॥

परदृशि पदजस्मृतिद्वये स्यात्

पदयुगलात् प्रमितेः समुद्भवो नः ॥ ३८५ ॥

स्मृतिसमपदेति ॥ परेषामभिहितान्वयवादिनां परदृशि परमात्मनि प्रत्यग्रूपे स्मृतिसमं यत् पदद्वयजन्यं बुद्धियुग्मं तस्मान्मोहनिवर्त्तनमज्ञानादिबन्धनिवर्त्तकं साक्षाद्ब्रह्मज्ञानमिति सिद्ध्यति। नोऽस्माकमन्विताभिधानवादिनां परदृशि पदजस्मृतिद्वये सति पदयुगलात् प्रमितेः समुद्भवः स्यादिति योजना। यद्यप्येवं विवक्षितार्थसिद्धिः पक्षद्वयेऽपि समाना, तथापि अभिहितान्वयवादे पदयोः पदार्थयोरेवोपक्षयात्तयोश्च प्रागवगतत्वात्तज्ज्ञानस्य स्मृतिप्रायत्वाद्वाक्यार्थज्ञानं न शाब्दी प्रमा स्यात्। अन्विताभिधानवादे तु पदार्थस्वरूपस्मारकत्वेऽपि पदयोस्तत्राऽपर्यवसानादन्वयस्य शाब्दत्वात् पदजन्यज्ञानान्तरस्य प्रमाणरूपस्य चाभावाद्वाक्यार्थज्ञानं भवति साक्षाच्छाब्दी प्रमेति विशेषदर्शनादन्विताभिधानवादाग्रहोऽस्माकमिति भावः ॥ ३८५ ॥

तदेवं कार्यान्विते पदशक्तिग्रहात् कार्यविषयमेव वेदप्रामाण्यमिति प्रत्यवस्थानस्योत्तरं दत्तम्। तत्प्रसङ्गेन चान्विताभिधानं निरूपितम्। इदानीं भावनावादनिरासेन वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं दृढीकर्तुं तमुत्थापयति—

औदासीन्यप्रच्युतिप्रापकेऽर्थे

लिङ्लोड़ादेर्लोकतो ज्ञातशक्तेः ॥
पुंसो वेदे प्रेरकत्वेन कल्प्या
लिङ्लोडादेर्भावनैवानृतन्त्रे ॥ ३८६ ॥

औदासीन्येति ॥ पुंप्रवृत्तिरौदासीन्यप्रच्युतिस्तत्प्रापकोऽर्थ आज्ञादिः पुंस इति पदं प्रथमं योज्यम् । पुंस औदासीन्येति । औदासीन्यप्रच्युतिप्रापके आज्ञादावनुगते प्रवर्त्तकात्मनि लिङ्लोडादेर्लोकतो वृद्धव्यवहाराज्ज्ञातशक्तेर्विज्ञातशक्तित्वादनृतन्त्रे वेदे आज्ञादिपुरुषाभिप्रायाभावात्तत्रत्यलिङ्लोडादेर्वाच्या भावनैव प्रेरकत्वेन कल्प्येति योजना । यद्वा, लोकतो लोके लिङ्लोडादेरौदासीन्यप्रच्युतिप्रापकेऽर्थे ज्ञातशक्तेस्तस्यैवानृतन्त्रे वेदे श्रूयमाणस्य लिङ्लोडादेः पुंसः प्रेरकत्वेन भावनैव वाच्या कल्प्या । तत्राज्ञाद्यभावादिति योजना । एवमपि प्रवर्त्तनात्मनि लिङादिशक्तेर्लोकवेदयोः समत्वान्न कार्यवादिन इव भावनावादिनो वैयधिकरण्यमिति भावः ॥ ३८६ ॥

आज्ञादिसापेक्षत्वेन तन्निरपेक्षत्वेनोपाधिनोक्तं लोकवेदयोर्लिङादिवाच्यभेदं स्पष्टयति—

आज्ञाद्यर्थः प्रेरकः पौरुषेये
लिङ्लोड़ादेर्भावना वेदवाक्ये ॥
पुंसोऽभावात्तद्गताज्ञाद्यभावात्
पुंसंबद्धे प्रेरकास्ते हि वाक्ये ॥ ३८७ ॥

आज्ञाद्यर्थः प्रेरक इति ॥ एवं व्यवस्थाया हेतुमुत्तरार्द्धेन आह ॥ पुंसोऽभावादिति ॥ अभावादिति च्छेदः ॥ तद्गतेति ॥ वेदगतेत्यर्थः । ते हि आज्ञादय इत्यर्थः ॥ ३८७ ॥

यदि वेदे भावना लिङर्थः, कस्तर्हि तस्या भावको भाव्यः करणमितिकर्त्तव्यतारूपं चेति वीक्षायामाह—

लिङ्लोडादिर्भावकस्तत्र भाव्या-
ऽनुष्ठेयेऽर्थे पुंप्रवृत्तिः प्रसिद्धा ॥
लिङ्लोडादेः पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठो
व्यापारो यस्तं विदुर्भावनेति ॥ ३८८ ॥

**लिङ्लोडादिर्भावक इति ॥** भावको भावनाभिव्यञ्जकः । अनुष्ठेयोऽर्थो यागादिर्धात्वर्थः । पुंप्रवृत्तिः प्रयत्नः । औदासीन्यप्रच्युतिरिति यावत् । शब्दभावनास्वरूपमाह ॥ **लिङ्लोडादेः पुंप्रवृत्त्यंशनिष्ठ इति ॥** अंशनिष्ठस्तद्विषयक इत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिरूपभाव्यांशविषयको यो लिङादिव्यापारस्तं भावनेति विदुर्भावनावादिन इत्यर्थः ॥ ३८८ ॥

एवं भावकं भाव्यं चोक्त्वा करणमितिकर्त्तव्यता चेत्यंशद्वयं विशदयति—

करणमिह लिङादेर्ज्ञानमेवाङ्गभागः
पुनरभिरुचिहेतुर्दृश्यते च प्रशंसा ॥
विधिरयमिह तन्त्रे जैमिनीये न कार्यं
न च भवति विधिर्नः श्रेयसो हेतुरर्थः ॥ ३८९ ॥

**करणमिति ॥** इह शब्दभावनायां लिङादेर्ज्ञानमेव करणम् । लिङादिशब्देन तद्व्यापारो भावना लक्ष्यते । भावनाज्ञानं करणमित्यर्थः । स्वज्ञानकरणिका शब्दभावनेति हि मीमांसकप्रसिद्धिः । अभिरुचिहेतुः प्रशंसा पुनरङ्गभागो दृश्यते पुंसः कर्मसु

प्ररोचकार्थवादजन्या प्रशंसा कर्मादिस्तुतिरिहेतिकर्त्तव्यताभागो दृश्यते । तत्र तत्र विधिसन्निधौ पुंप्रवृत्त्यात्मकभाव्यनिष्पादने उपकारकत्वेन विद्यत इत्यर्थः । जैमिनीये तन्त्रे शास्त्रे येयमुपपादिता भावना,अयं विधिर्लिङाद्यर्थो, न कार्य, नियोगो विधिर्भवति । न च नापि श्रेयसो हेतुरर्थ इष्टसाधनत्वरूपोऽर्थो विधिर्भवति,नोऽस्माकं मीमांसकानां जैमिनीयानामितियोजना ॥३८९

तर्हि पदान्तरार्थानामनया शब्दभावनया सहान्वयप्रकारः कथमित्यपेक्षायां तमाह—

विधिरिह गुणभूतः प्रत्ययार्थेऽपि नित्यं
भवति च पुरुषोत्था भावनाऽस्य प्रधानम् ॥
भवति दशलकारप्रत्ययैः साभिधेया
विधिविहितलकारैर्भावना शब्दहेतुः ॥ ३९० ॥

विधिरिहेति ॥ प्रत्ययार्थोऽपि विधिः शब्दभावनात्मा इहार्थकदम्बे गुणभूत एव नित्यं, न प्रधानभूत इत्यर्थः । तर्हि किमत्र प्रधानं, तदाह ॥भवति चेति॥ एकस्मिन् वाक्ये प्रत्ययाऽर्थत्वेऽपि द्वयोः प्राधान्यायोगात् क्रियाकाङ्क्षया चेतरेषामन्वयादर्थभावनात्मिका पुंक्रियैवात्र प्रधानमित्यर्थः। कथमेकस्य प्रत्ययस्य भावनाद्वयवाचित्वमितिचेन्नायं दोषो, रूपभेदे द्वयवाचकत्वोपपत्तेरित्याह ॥ भवति दशलकारेति ॥ साऽर्थभावना दशलकारप्रत्ययैस्तिबादिभिः सर्वैरेव लकारैरभिधेया भवति शब्दहेतुर्भावना शब्दभावना । विधौ विहितलकारैर्लिङादिभिरेवाभिधेयेत्यनुवर्त्तते । तथाच लिङस्तिङ्त्वेन लिङ्त्वेन चाकारभेदादुभयविधभावनावाचकत्वोपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३९० ॥

इदानीमर्थभावनाया अपि भाव्याद्यंशानाह—

भवति च पुरुषार्थकर्मिकेयं
पुरुषनिमित्तकभावना न तद्वत् ॥
भवति तु विधिशब्दकर्तृकान्या
न हि निरवद्यपुमर्थताप्रवृत्तेः ॥ ३९१ ॥

भवति च पुरुषार्थेत्यादिना ॥ इयं पुरुषनिमित्तक-भावनार्थात्मिका पुरुषार्थकर्मिका स्वर्गादिपुरुषार्थभाव्या भवतीत्य-ऽर्थः । उपलक्षणमेतत् करणेतिकर्त्तव्यत्वयोः । धात्वर्थो यागादिः करणम् । प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्त्तव्यतेति योज्यम् । अन्या तु या विधिशब्दकर्त्तृका लिङादिशब्दव्यापारात्मिका शब्दभावना सा तद्वदर्थभावनावत् पुरुषार्थभाव्या न भवतीति योजना । कुत इत्यत आह ॥ न हीति ॥ पुंप्रवृत्तिर्हि तस्या भाव्या । न हि त-स्याः प्रवृत्तेर्निरवद्यपुमर्थत्वं, क्लेशरूपत्वादित्यर्थः ॥ ३९१ ॥ पुरुषार्थकर्मिकाऽर्थभावनेत्युक्तम् । तदेव स्पष्टयति—

अभिमतपशुपुत्त्रवृष्टिनाक-
प्रभृतिकभाव्यगता हि भावनेयम् ॥
अनभिमतसुदुष्करातिदुःखां
नयति तु भाव्यपद प्रवृत्तिमन्या ॥ ३९२ ॥

अभिमतेति ॥ पूर्वार्द्धेन । तद्विलक्षणं शब्दभावनाभाव्यं विभजत उत्तरार्द्धेन ॥ अनभिमतेति ॥ नयति पुरुषमिति शेषः । सुगममन्यत् ॥ ३९२ ॥

अनयोश्च भावनयोः प्रतीत्याकारः क इत्यपेक्षायां धात्वर्थ-प्रतीत्याकारव्युदासेन नानयोराकारभेदो ग्रहीतुं शक्यते धात्वर्थ-

घटिततयैवानयोर्न्नियमेनाभिधानादित्याह—

प्रत्ययप्रकृतिशब्दतो बहि-
र्विद्यतेऽभिहितसङ्गतिश्च नः ॥
प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोः पुन-
र्नित्यमन्वितधियो निमित्तता ॥ ३९३ ॥

प्रत्ययप्रकृतीति ॥ प्रत्ययो लिङादिर्ल्लङादिश्च, प्रकृति-र्धातुः । धातुप्रत्ययात्मकैकपदरूपाच्छब्दतो बहिः पृथगभिहितसं-गतिरर्थसबन्धो न विद्यते चकारोऽवधारणार्थः । प्रकृतिप्रत्यय-योरर्थभेदो नैव विद्यत इत्यर्थः । तत्र लिङ्गं ज्ञापकमाह ॥ प्रत्यये-त्युत्तरार्द्धेन ॥ पुनःशब्दो यस्मादर्थे । प्रत्ययप्रकृतिशब्दयोर्य-स्मादन्वितधियोऽपृथग्बुद्धेर्न्निमित्तता विशिष्टैकबुद्ध्युत्पादकता सदैवानुभवसिद्धेति शेषः ॥ ३९३ ॥

यस्मादेवं प्रकृतिप्रत्यययोरेकीभूय विशिष्टबुद्धिहेतुताऽध्यव-सिता अतो हेतोर्लिङादिभिर्विधिप्रत्ययैर्द्धातुवाच्यघटितं प्रकृत्य-र्थोपरक्तं भावनाद्वयं विवक्ष्यते, न प्रकृत्यर्थाकारात् पृथगि-त्याह—

भावनाद्वयमतोऽत्रबोध्यते
धातुवाच्यघटितं लिङादिभिः ॥
प्रत्ययार्थगुणवस्तुवाचिनो
धातवः प्रकृतयो हि धातवः ॥ ३९४ ॥

भावनाद्वयमत इति ॥ यजेतेत्यत्र हि यजतिधात्वर्थो यागस्तस्य कर्त्तव्यता च प्रतीयते, यागं कुर्यादिति । तत्र कुर्या-दित्यत्र कृतिस्तत्प्रेरणा चावसीयते । तत्राप्याख्यातांशेन कृति-

रुच्यते, तद्विशेषेण लिङा कर्त्तव्यता । तदुभयमेकेनैव पदेनोच्चार्यमाणं न पृथग्बुद्धिगोचरतामाचरति । तथाच प्रकृतिप्रत्ययाऽर्थयोः स्वरूपतो भेदेऽपि गुणप्रधानभावेनैकीभूतत्वादेकपदोपात्ततयैकप्रत्ययगम्यतेति भावः । तत्र कस्य गुणभावः, कस्यवा प्राधान्यमित्यपेक्षायामाह ॥ प्रत्ययार्थेति ॥ प्रत्ययार्थस्य गुणभूतं विशेषणीभूतं यद्वस्तु क्रियालक्षणं तद्वाचिनो धातवोऽर्थात् प्रधानविशेष्यवस्तुवाचिनः प्रत्यया इत्यर्थः । धातूनां गुणार्थत्वे हेतुमाह ॥ प्रकृतयो हि धातव इति ॥ प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः, प्रत्ययस्तु प्राधान्येनेति हि वदन्ति । युक्तं चैतत् । सर्वधातुषु विभिन्नेष्वपि प्रत्ययाना स्वरूपतो भेदाभावात्तदर्थभेदाभावाच्च प्रकृतितदर्थभेदकृत एव भेद इति धातुभिः प्रत्यया विशेष्यन्त इति ॥ ३९४ ॥

एवं भावनावाक्यार्थमुपपाद्य तस्मिन्नेव सकलस्य वेदस्य प्रामाण्यं, न सिद्धवस्तुनि । भूतभव्यन्यायादित्याह—

भव्याय भूतमुपदिश्यत इत्यवोचन्
पूज्यास्ततः सकलमेत्र च वेदशास्त्रम् ॥
कार्यप्रधानमिति निश्चिनुमोऽस्मदीये
तन्त्रे च कार्यमुदितः पुरुषप्रयत्नः ॥ ३९५ ॥

भव्याय भूतमिति ॥ पूज्याः शबरस्वामिनः । तत् किं कार्यं यत्परं सकलं वेदशास्त्रमित्यपेक्षायामाह ॥ अस्मदीय इति ॥ पुरुषप्रयत्नः कार्यमुदितो न नियोगरूपमित्यर्थः ॥ ३९५ ॥

एतदपि मतं दूषयति सिद्धान्ती—

अभिदधाति करोति च लिङ्पदं

श्रुतिवचःसु निजामपि भावनाम् ॥
न च करोति न वक्ति च तां पुन-
र्नरवचःस्विति दुःशकमुच्यते ॥ ३९६ ॥

अभिदधातीति ॥ श्रुतिवचःसु लिङ्पदं निजामपि स्वव्यापाररूपामपि शब्दभावनामभिदधाति करोति निष्पादयति चार्थभावनामिति दुःशकमुच्यते । स्वव्यापारस्य स्वयमभिधाने स्ववृत्तिविरोधापत्तेरित्यर्थः । तथा नरवचःसु लौकिकवाक्येषु तां भावनां न करोति, न वक्ति चेति व्यवस्थाङ्गीकरणं दुःशकमुच्यते मीमांसकैरिति योजना । लोकवेदयोरेकस्यैव शब्दस्य वैरूप्याङ्गीकारे लोकवेदाधिकरणविरोधः । शब्दान्तराणामिव सर्वत्रैकरूपत्वसंभवे व्यर्थं च वैरूप्यकल्पनम् । वेदे पृथग्व्युत्पत्तिद्वाराभावात् प्रमाणस्य सतो वेदस्य कारकत्वेऽप्रमाणत्वापत्तेश्चेति भावः ॥ ३९६ ॥

ननु नेदं वैरूप्यं दोषाय भवति । दैवेनैवास्योपसादितत्वात् । लोके शब्दः पौरुषेयो वेदे त्वपौरुषेय इति स्वभाववैरूप्यस्याश्रयणात् प्रवृत्तिवैरूप्यस्याप्युपपत्तेरितिचेन्न । स्वरूपवैरूप्यस्य गत्यन्तराभावादगत्या तदाश्रयणम् । इतरत्रैकरूपत्वसंभवे वैरूप्यकल्पनं गौरवमप्रामाणिकमयुक्तम् । पौरुषेयत्वाऽपौरुषेयत्वभेदादर्थे प्रवृत्तिवैरूप्यकल्पनेऽन्येषामपि पदानां तत्कल्पनप्रसङ्गो लोकवेदाधिकरणानारम्भप्रसङ्गश्चेत्यभिप्रेत्य परिहरति—

वक्तृत्वमेव घटते यदि लिङ्पदस्य
सर्वत्र नार्द्धजरतीयमिदं प्रशस्तम् ॥

सामर्थ्यमेकरसमेव यदोपपन्नं
नानारसं न खलु तत परिकल्पनीयम् ॥ २९७ ॥

वक्तृत्वमेवेति ॥ बोधकत्वेनैव प्रामाण्यात् सर्वत्र लोके वेदे च लिङ्पदस्य वक्तृत्वमेव यद्येकरूपेण घटते तदार्द्धजरतीयमिदं वैरूप्यकल्पनं न प्रशस्तम् । कस्मान्न प्रशस्तमितिचेत् कल्पनागौरवादित्याह ॥ सामर्थ्यमिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ३९७ ॥

इह गौरवमप्यगत्याश्रीयते । लौकिकस्य लिङादिवाच्यस्याज्ञादेर्वेदेऽसंभवादितिचेत्तर्हि भावनाविधिवाद एव त्यज्यतां यत्र गौरवादिदोषापत्तिः, श्रेयःसाधनताविधिवाद आश्रीयतां यत्र न वैरूप्यादिदोष इत्यभिप्रेत्याह—

श्रेयोहेतुत्ववाची यदि भवति तदा संभवत्येकरूपा
शक्तिस्तस्याभिधाने न तु भवति तदा कारकोऽयं प्रवृतेः ॥
श्रेयोहेतुश्च वाच्यः श्रुतिवचसि तदा पौरुषेये च तुल्यः
क्लृप्तश्चासौ न कल्प्यः श्रुतिवचसि यथा भावना
लिङ्गिबद्धा ॥ ३९८ ॥

श्रेयोहेतुत्ववाची यदीति ॥ तस्य श्रेयोहेतुत्वाभिधाने लिङ्गादेरेकरूपा लोकवेदयोः शक्तिर्भवति । वैरूप्यं न भवतीत्यर्थः । एवं सति वेदस्य कारकत्वदोषोऽपि परिहृतः स्यादित्याह ॥ न तु भवतीति ॥ तदा श्रेयोहेतुवाचित्वेऽयं लिङादिः प्रवृत्तेः कारको न तु भवति, प्रवर्त्तको न भवतीत्यर्थः । वाच्यस्याप्यैकरूप्यमास्मिन् पक्ष इत्याह ॥ श्रेयोहेतुश्चेति ॥ शब्दभावनापक्ष इवास्मिन् पक्षेऽप्रसिद्धकल्पनाशङ्कापि नास्तीत्याह ॥ क्लृप्तश्चासौ न कल्प्य इति ॥ श्रुतिवचसि यथा लिङ्गनिबद्धा

भावना कल्प्या तथाऽसौ श्रेयोहेतुर्लिङर्थतया न कल्प्यो, लोकत एव तत्सिद्धेरतो न लोकवेदाधिकरणविरोधोऽप्यस्मिन्मत इत्यर्थः ॥ ३९८ ॥

यत्पुनरर्थभावनात्मिका क्रिया लकारवाच्येत्युक्तं, तदप्य-ऽयुक्तमित्याह—

धात्वर्थतोऽन्या न च भावनास्ति
यां भावनां वक्तुमलं लकारः ॥
धात्वर्थमुद्रिच्य न पुंप्रयत्नो
लोके यतो भाति निरूपणायाम् ॥ ३९९ ॥

धात्वर्थतोऽन्येति ॥ धात्वर्थः क्रिया । नन्वस्तिधात्व-ऽर्थातिरिक्ता भावना । पुरुषप्रयत्नो हि प्रत्ययवाच्या भावना । मनआदिचेष्टा च धात्वर्थः प्रकृतिशब्दवाच्येति तयोर्भेदादिति-चेन्नेत्याह ॥ धात्वर्थमिति ॥ उद्रिच्यातिक्रम्य लकारवाच्यः पुंप्रयत्नो निरूपणाया क्रियमाणायां यतो लोके न भाति अतो यां भावनां वक्तुमयं लकारोऽलं समर्थः सा भावना धात्वर्थतो-ऽन्या न चास्तीति योजना। रथाद्यचेतनकर्तृकेष्वाख्यातप्रयोगेषु प्रत्ययवाच्यस्य प्रयत्नस्यादर्शनात् । न च तत्र तत्प्रयोग उप-चरित इति वाच्यम् । लोकस्य तत्रोपचाराभिमानाभावात् । सर्वस्यापि कारकस्य स्वव्यापारकर्तृत्वस्य मुख्यत्वात्तत्र करोति गच्छतीति मुख्यप्रयोगोपपत्तेश्चेति भावः ॥ ३९९ ॥

तदेवं नियोगवादस्य भावनावादस्य चायुक्तत्वान्न कर्म-काण्डेऽपि तदुभयं, किं पुनर्वेदान्तेष्वविधिप्रधानेष्वित्युपसंहरति—

न कर्मकाण्डेऽपि ततो नियोगो
न भावनाप्युक्तनयेन तस्मिन् ॥

न तद्द्वयं वेदशिरःसु तस्मा-
त्ततो न कार्यार्थपराणि तानि ॥ ४०० ॥

न कर्मकाण्डेष्वपीति ॥ तस्मिन् कर्मकाण्डे भावनापि नेत्यन्वयः । तद्द्वयं नियोगो भावना चेत्यर्थः । तस्मादिति प्रमादपाठः । यस्मादिति पठनीयम् । यस्माद्वेदशिरःसु न तद्द्वयमस्ति । ततो न तानि वेदशिरांसि कार्यार्थपराणीति योजना । यद्वा, तस्मादित्येतत्पद्यादौ योज्यम् । तस्मान्न कर्मकाण्डेऽपीति॥ तत इति प्रथमश्रुतो लिङादिवाची । ततो लिङादेरित्यर्थः । अन्यत् समानम् ॥ ४०० ॥

अपिच नियोगो वा भावना वा यद्यप्यभ्युपगम्यते तथापि कर्मकाण्डेऽपि न सर्वत्र तत्सम्भवो निषेधवाक्येषु तदनिरूपणादित्याह—

अपिच प्रतिषेधचोदना-
विषयः स्यात् प्रतिषिद्धकर्मणः ॥
फलगर्द्धिनिवृत्तिरेव सा
न नियोगो न च तस्य गोचरः ॥ ४०१

अपिचेति ॥ ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादि न अर्थनिष्ठवाक्यगम्यम् । ब्राह्मणहननादिप्रतिषिद्धं कर्म । तस्य प्रतिषिद्धकर्मणो या फलगर्द्धिनिवृत्तिः फलप्रार्थनौदासीन्यरूपोपरतिः सैव प्रतिषिद्धचोदनाविषयः स्यात्, न नियोगो,नाऽपि तस्य नियोगस्य गोचरो विषयभूतो धात्वर्थः प्रतिषेधचोदनाविषयः स्यादिति योजना । नियोगग्रहणं भावनाया अप्युपलक्षणम् । नापि भावना भाव्यो वा तथेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । निषेधवाक्यं तावन्नार्थ-

निष्ठं प्रसिद्धम् । नञर्थश्च निवृत्तिरौदासीन्यलक्षणा । क्रियाया इष्टसाधनत्वं तत्फलस्येष्टत्वं च मोहात् प्रतीतमत्र निषिद्ध्यते इति स्पष्टीकरिष्यति । तस्मान्नियोगो वा भावना वा नात्र वाक्यार्थो, वाक्यं चेदं वैदिकं स्वार्थपरं प्रमाणमेवेति न सर्वो वेदो विधिपर इति ॥ ४०१ ॥

ननु कथं निवृत्तिरेव नञर्थ इत्याश्रीयते । पर्युदासवृत्तेरपि संभवादितिचेत्, सत्यमत्र सा न संभवतीत्याह—

नञः स्वसम्बन्धिपदार्थवस्तुनो
निवृत्तिरर्थः सहजप्रसिद्धितः ॥
अनीक्षणादौ व्रतशब्दसंगतेः
परप्रयुक्ता खलु मानसी क्रिया ॥ ४०२ ॥

नञः स्वसंबन्धीति ॥ सहज उत्पत्तिशिष्टः स्वाभाविक इति यावत् । नेत्युक्ते स्वरसतः संबन्धिनिवृत्तेरेव पुरःस्फूर्तिदर्शनात् । न पर्युदासस्तथेति मुख्यार्थसंभवेऽर्थान्तरं न कल्प्यमित्यर्थः । कथं तर्हि, नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन * नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतमित्यादौ पर्युदासाश्रयणमितिचेत्, कारणान्तरवशादित्याह ॥ अनीक्षणादाविति ॥ अनीक्षणादौ, नेक्षेतेति वाक्यविहिते, नेक्षेऽहमिति या मानसी क्रिया नञर्थपर्युदासेन स्वीकृता सा खलु परप्रयुक्ता । कुतः । व्रतशब्दसंगतेः । अथातः प्रजापतिव्रतमिति वाक्यस्यानुष्ठेयवाचिना व्रतशब्देनोपक्रमादनुष्ठेयपरत्वावगमात्तन्मध्यपातिनोऽनीक्षणाविधेरप्यनुष्ठेयव्रतशब्दसङ्गतेर्हेतोरित्यर्थः।अतउपक्रमतन्त्रतया, नेक्षेतेत्यादौ पर्युदासाश्रयणं, न तत्र नञो मुख्यवृत्तित्वम् । इह तु तथाविधकारणाभावान्न मुख्यार्थपरित्यागो युक्त

इति भावः ॥ ४०२ ॥

किञ्च, प्रतिषेधवाक्यस्याप्यनुष्ठेयार्थनिष्ठत्वे विधिप्रतिषेध-भेदासिद्धिरतोऽपि निषेधवाक्यं नानुष्ठेयपरमित्याह—

अपिच प्रतिषेधचोदना
न तु भिद्येत भवन्मते विधेः ॥
विधिरेव तु चोदनाऽखिला
न हि वेदे वचनं निवर्त्तकम् ॥ ४०३ ॥

**अपिच प्रतिषेधचोदना न त्विति** ॥ भवन्मते विधेः सकाशात् प्रतिषेधचोदना न तु भिद्येतेत्यन्वयः । यतोऽस्मिन् पक्षेऽखिलापि चोदना, अतो वेदे निवर्त्तकं वचनं न हि किमपि सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ४०३ ॥

भवत्वेवं निषेधवाक्यं निवृत्तिनिष्ठमेव, किमेतावता तवा-यातमितिचेद् वेदान्तवाक्यानामप्यविद्यानिवृत्तिमात्रेण प्रतिषेध-वाक्यवदननुष्ठेये वस्तुनि प्रामाण्यासिद्धिरितीदमायातं ममेत्याह—

प्रतिषेधवाक्यवदतः सकलं
विधिशून्यमेव फलवद् भवतु ॥
वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमसि-
प्रभृति प्रतीचि तमसोऽपहतेः ॥ ४०४ ॥

**प्रतिषेधवाक्यवदिति** ॥ यत एवं वेदः सर्वोऽपि न विधिनिष्ठोऽतो विधिप्रधानप्रतिषेधवाक्यवत् त्रयीशिरसि, तत्त्व-मितिप्रभृति सकलं वचनं, विधिशून्यमेव विधिनिरपेक्षमेव फल-वत् प्रमाणं भवतु । तेन सद्यः प्रतीचि तमसोऽनाद्यऽज्ञानस्य संसारबीजस्यापहतेर्बाधनादिति योजना ॥ ४०४ ॥

तदेवं निषेधवाक्ये नञः स्वबन्ध्यभाव एवार्थो मुख्यो, न पर्युदास इति यदुक्तं, तन्न युक्तम् । भाट्टैरन्यथोपपादनादिति तन्मतमुत्थापयति—

नामधातुसहितो नञिष्यते
पर्युदासविषयो मनीषिभिः ॥
न प्रसक्तविनिवृत्तिवाचको-
ऽब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनात् ॥ ४०५ ॥

**नामधातुसहित** इति ॥ अयमर्थः । ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यत्र ब्राह्मणो नामार्थः, हननं धात्वर्थः, नियोगादिस्तव्यार्थ इति स्थितिः । तत्र नामसहितो धातुसहितो वा यदा नञुपादीयते तदा स पर्युदासविषयो मनीषिभिरिष्यत इति योजना । नामधातुभ्या योगे प्रसक्ताविनिवृत्तिवाचको नञ् नेष्यत इति योज्यम् । उक्तपर्युदासवृत्तावुदाहरणमब्राह्मणादिषु तथोपलम्भनादिति ॥ ४०५ ॥

उदाहरणं नञो नामान्वये धात्वन्वये च क्रमेण विभजते—

अब्राह्मणाधर्मगिरोर्नञेष
नामान्वयादाश्रितपर्युदासः ॥
अन्यं विरुद्धं च सदाभिधत्ते
नोद्यन्तामित्यादिषु धातुयोगात् ॥ ४०६ ॥

**अब्राह्मणाधर्मेति** ॥ आश्रितः पर्युदासो येन स तथा । अब्राह्मण इत्युक्ते ब्राह्मणसदृशो ब्राह्मणाभासः क्षत्रियादिरित्यन्यमभिधत्ते । अधर्म इति तु धर्मविरुद्धमर्थान्तरमभिधत्त इति योजना । तथाच नञो नामयोगे यथायथं तदन्यतद्विरुद्धार्थयो-

मुख्यत्वात् पर्युदासवृत्तिरप्यस्य मुख्यैवेति भावः । धातुयोगेऽप्याह ॥ नोद्यन्तमिति ॥ धातुरीक्षणम् । अनीक्षणमितीक्षणविरुद्धार्थं पर्युदासवृत्त्या एष नञ् अभिधत्त इति योजना॥४०६॥

एतदेवोपपादयति—

नोद्यन्तमित्यत्र नञीक्षणार्थ-
समीपकार्यान्तरमुच्यते हि ॥
ततश्च नेक्षिष्य इतीदृशी स्यात्
संकल्पना संनिहितत्वहेतोः ॥ ४०७ ॥

**नोद्यन्तमित्यत्रेति** ॥ ईक्षणार्थसमीपे ईक्षणार्थसमीपस्थं कार्यान्तरं सङ्कल्परूपमुच्यते हि, नोद्यन्तमित्यत्र नञेति योजना । यस्मिन्नीक्षितरि तदीक्षणं वर्त्तते तत्स्थं तद्विरुद्धं कार्यान्तरं नञा पर्युदासवृत्त्या समर्प्यत इत्यर्थः । किमाकारं तत्कार्यान्तरं, तदाह ॥ ततश्चेति ॥ एवं संकल्पनात्र कुतः स्यादित्यत आह ॥ सन्निहितत्वहेतोरिति ॥ मानससंकल्पनायाः प्रतिषेधार्थं प्रति सन्निहितत्वात् प्रतिषेधो हि संकल्पेन परिपाल्य इत्यतो युक्तमिह तादृग्ज्ञानसक्रियापरत्वं वाक्यस्येत्यर्थः ॥ ४०७ ॥

नञस्तदन्यतद्विरुद्धयोः पर्युदासार्थत्वमुदाहृत्य तस्य स्वसंबन्ध्यभावार्थत्वमिदानीमुदाहरति—

द्विजं न हन्यान्न कलञ्जमद्या-
दित्यादिवाक्ये विधिनास्य योगात् ॥
प्रसज्ज्यमानार्थनिवृत्तिमात्रं
नञोऽर्थ इत्याश्रितमादरेण ॥ ४०८ ॥

**द्विजं न हन्यादिति** ॥ अत्र नामधात्वर्थप्रतिषेधकतया तद्-

योगो नञो न युक्तः।प्रत्यक्षविरोधात् परिशेषाद्विधिनैवास्य योग इति विध्यर्थाभावमात्रपरमत्र नञ्पदमित्यर्थः । अक्षरयोजना सुगमा ॥ ४०८ ॥

अन्ये त्वत्रापि, नेक्षेतेत्यादाविव धातुनान्वयं नञः परिकल्प्य नाऽद्यामित्याद्याकारां मानसीं संकल्पक्रियामिच्छन्तीति सर्वत्र पर्युदास एव नञोऽर्थ इति युक्तमित्याह—

नाद्यां न हन्यां न पिबेयमित्यपि
वाक्येषु नञ्वत्सु वदन्ति मानसीम् ॥
संकल्परूपां विधिवर्तिनी क्रियां
नोद्यन्तामित्यादिवचःस्विवापरे ॥ ४०९ ॥

**नाद्यां न हन्यामिति** ॥ अपरे विधिवर्त्तिनीं मानसीं क्रियां वदन्तीत्यन्वयः । सुबोधमन्यत् ॥ ४०९ ॥

ननु प्रत्ययार्थेन प्रधानेन नञोऽन्वयं परित्यज्य धातुनाऽप्रधानेनान्वयः पर्युदासश्च कस्मादाश्रीयत इतिचेत्, तथात्वे प्रत्यक्षविरोधादित्याह—

वाक्येषु नञ्वत्सु निवृत्तिमात्रं
प्रमेयमित्यभ्युपगम्यमाने ॥
प्रत्यक्षमानेन विरुध्यते हि
निवृत्तिशास्त्रं न च युज्यते तत् ॥ ४१० ॥

**वाक्येषु नञ्वत्स्विति** ॥ प्रत्यक्षविरोधं, न हि कलञ्ज-मित्यत्र वक्ष्यति ॥ निवृत्तिशास्त्रं निषेधवाक्यात्मकम् ॥ इष्टापत्तिं परिहरति ॥ न च युज्यते तदिति ॥ मानान्तरविरोधे शास्त्रस्य प्रामाण्यायोगादितिहेतुश्चकारसमुच्चितोऽत्र योज्यः ॥ ४१० ॥

भाष्यकारवचनानुसारेणाप्यत्र धातुयोगेन नञः पर्युदासाऽर्थतैवाङ्गीकार्येत्याह—

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां
निवर्त्तकं नैवमुवाच भाष्यकृत् ॥
ततश्च विघ्नो न हि चोदनाऽस्ति सा
प्रवर्त्तिका या न भवेदिति स्थितिः ॥ ४११ ॥

प्रवर्त्तकमिति ॥ भाष्यकृच्छबरस्वामी चोदनासूत्रे प्रवर्त्तकं वाक्यं चोदनामुवाच, चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमिति । एवं निवर्त्तकं निषेधवाक्यं चोदनां नोवाच । यद्यत्रापि प्रत्ययप्राधान्यं विवक्षित्वा तन्निवृत्तिर्नञर्थः प्रतिषेधवाक्येषु भवेत्तदा चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं निवर्त्तकं च वचनमित्यवक्ष्यत् । तन्नावादीत् । ततश्च हेतोरेवं विघ्नः । सा चोदना न ह्यऽस्ति या प्रवर्त्तिका न भवेदिति स्थितिः शास्त्रमर्यादेति । अन्ते इति शब्दोऽध्याहार्यः ॥ ४११ ॥

एवं मतविशेषमुत्थाप्य तत्र विषयव्यवस्थया नञोऽर्थद्वैविध्यमुक्तं दूषयति सिद्धान्ती—

न नामयोगो न च धातुयोगो
लिङादियोगोऽपि न कारणं नः ॥
नञः स्वसम्बन्धिनिवृत्तिमात्र
स्वतोऽभिधेयं परतोऽन्यदस्य ॥ ४१२ ॥

न नामयोग इति ॥ न कारणं, नञोऽर्थव्यवस्थायामिति शेषः । नोऽस्माकमिष्टमिति योज्यम् । तर्हि कथं निषेधपर्युदासव्यवस्थेतिचेत्तत्राह ॥ नञ इति ॥ स्वसंबन्धिनिवृत्तिमात्रं नञः

स्वतः स्वरसतोऽभिधेयं निवृत्तिरेवास्य सर्वत्र नामधातुप्रत्ययानां योगेऽप्यर्थः स्वभावतः। अन्यत् त्वर्थान्तरं पर्युदासादिरूपं परतः कारणान्तरादित्यर्थः ॥ ४१२ ॥

कुत एवमितिचेत्त्वदुक्तव्यवस्थाया व्यभिचारदर्शनादित्याह-

तथाहि नाग्रे करिणीति नाम्ना

गजोऽत्र नास्तीति च धातुयोगे ॥

लिङादियोगेऽपि निवृत्तिरर्थो

विषं न खादेदिति नञ्पदस्य ॥ ४१३ ॥

तथाहीति ॥ नाग्रे करिणीत्यत्र नञो नामयोगे करिण्या निषेध एव प्रतीयते, न तत्पर्युदासेनार्थान्तरम् । तत्कल्पनानिमित्ताभावादित्यर्थः । अत्र गजो नास्तीति धातुयोगे अस्धातुयोगे च गजाभाव एव नञर्थः प्रतीयते । न खादेदिति लिङादियोगेऽपि नञ्पदस्य निवृत्तिरेवार्थः प्रतीयत इत्यर्थः ॥ ४१३ ॥

लोकप्रयोग इव श्रुतिप्रयोगेऽपि व्यभिचारमाह—

तथा श्रुतौ नेति वचःसु नाम्नि

नानेह नास्तीति च धातुयोगे ॥

तथा विधाने न कलञ्जमद्या-

न्नञोऽविशेषेण निवृत्तिरर्थः ॥ ४१४

तथा श्रुताविति ॥ अथात आदेशो नेति नेतीत्यादिवाक्येष्वित्यर्थः । नेह नानास्ति किञ्चनेत्येतच्छन्दोऽनुरोधेन नानेह नास्तीति व्यत्यस्य प्रयुक्तम् । नञः सर्वत्राविशेषेण निवृत्तिरर्थो, न क्वापि स्वरसतः पर्युदासार्थत्वम् । सर्वत्र निवृत्तिलक्षणमुख्यार्थसंभवादित्यभिप्रायः ॥ ४१४ ॥

एवं तर्हि कथं प्रतिनियताव्यवहारव्यवस्था सर्वत्र निवृत्त्यऽर्थत्वे इतिचेत्तत्राह—

औदासीन्यं पुरुषगतमेवाविशेषान्नञोऽर्थो
भ्रान्तिप्राप्ते सति तु विषये यत्र यत्रैष दृष्टः ॥
नौदासीन्यं पृथगिह भवेदात्मचिन्मात्ररूपात्
सिद्धे वस्तुन्यवसितमतो वेदवाक्यं निषेधे ॥ ४१५ ॥

औदासीन्यमिति ॥ विषये भ्रान्तिप्राप्ते सति यत्र यत्र एष नञ् दृष्टस्तत्र सर्वत्र पुरुषगतमौदासीन्यमेव नञोऽर्थोऽविशेषाद् नामादियोगकृतविशेषाभावादिति योजना । तुशब्दः प्रमाणप्राप्तविषयव्युदासार्थः । न हन्यादित्यादौ प्रतिषिद्ध्यमानक्रियाफलप्रार्थनाया भ्रान्तिप्राप्तत्वान्निषेधसंभवात्तत्र प्रसज्यप्रतिषेध एव नञर्थः । प्रमाणप्राप्तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तत्र पर्युदासइति व्यवस्थासिद्धिरित्यर्थः । ननु निवृत्तिरपि व्यापारोपरमलक्षणाऽनुष्ठेया भविष्यति । अतो निवृत्तिनिष्ठमपि वाक्यं कार्यनिष्ठमेवेतिचेन्नेत्याह ॥ नौदासीन्यमिति ॥ आत्मचिन्मात्ररूपादौदासीन्यं प्रसक्तक्रियाया अकरणरूपं पृथगन्यदनुष्ठेयं वस्त्विह निषेधवाक्ये प्रतीयमानं न भवेत् । भ्रान्तिप्राप्तप्रार्थनायाः परमार्थतोऽभावात्तन्निवृत्तिर्न प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरं संभवतीत्यर्थः । फलितमाह ॥ सिद्धे वस्तुनीति ॥ निषेधे निषेधस्थले वेदवाक्यं सिद्धे वस्तुन्येव प्रमाणमिति निश्चितमित्यर्थः ॥ ४१५ ॥

यत् पुनर्भाष्यकारेण प्रवर्त्तकवचनवन्निवर्त्तकं वचनं चोदनाशब्दार्थत्वेन न व्याख्यातमिति निवृत्तिर्न चोदनार्थ इति गम्यत इति । तन्न । उपलक्षणत्वाद्भाष्यवाक्यस्येत्याह—

प्रवर्त्तकं वाक्यमुवाच चोदनां

निधाय बुद्धौ वचनं निवर्त्तकम् ॥
द्वितीयसूत्रे भगवान् बहुश्रुतो
न चोदनाद्वित्वनिवारणाय तत् ॥ ४१६ ॥

प्रवर्त्तकामिति ॥ भाष्यकारो भगवान् बहुश्रुतः सर्वज्ञो यत् प्रवर्तकं वाक्यं चोदनामुवाच, तन्निवर्तकं वचनमपि बुद्धौ निधायैव, न चोदनाद्वित्वनिवारणाय तद्वचनम्।अन्यथा,चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति सूत्रे अर्थग्रहणं, श्येनाद्यधर्मव्यावृत्त्यर्थमर्थपदमिति तद्भाष्यं चानपेक्षं स्याद्, निषेधेषु चोदनाभावाच्चोदनालक्षणो धर्म इत्येतावतैवानतिव्याप्तधर्मलक्षणसिद्धेरिति भावः ॥ ४१६ ॥

इदानीं प्राभाकरमतमुत्थापयति—

ननु निवृत्तिपरत्वमुदीरितं
विघटयामि निषेधगिरामहम् ॥
न हि कलञ्जमिति प्रतिपाद्यते
यदि तदा नयनेन विरुध्यते ॥ ४१७ ॥

ननु निवृत्तीति ॥ विघटनप्रकारमाह ॥ न हीति ॥ नञो नामान्वयेन प्रतिषेधपरत्वे इदं कलञ्जमिति प्रत्यक्षेण विरोधः स्फुट इत्यर्थः ॥ ४१७ ॥

धात्वन्वयेऽपि स एव दोष इत्याह—

अथ कलञ्जपदार्थगभक्षणं
न हि तदाप्यमुनैव विरुध्यते ॥
अथ तदीयफलस्पृहयान्वयो

न हि तदप्यनुभूतिपराहतम् ॥ ४१८ ॥

अथ कलञ्जेति ॥ भक्षणस्यापि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः । तर्हि नियोगमेव प्रत्ययार्थमादाय तन्निषेधः प्रत्ययसंगतनञर्थ इत्यपि न वाच्यमित्याह ॥ अथ तदीयफलेति ॥ यतस्तदप्यनुभवविरुद्धम् । तदा हि नियोगतः प्राप्तभक्षणस्यैव निषेधो, न यदृच्छाप्राप्तभक्षणस्य निवृत्तिः सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ४१८ ॥

ननु नियोगनिषेधादेव भक्षणस्यानर्थहेतुत्वकल्पनाद्यादृच्छिकतया प्राप्तभक्षणनिवृत्तिरपि सेत्स्यतीत्याशङ्क्य तदपि मनोरथमात्रमित्याह—

अथ तदीयनियोगनिवर्त्तनं
भवतु भक्षणमस्तु तदिच्छया ॥
न हि नियोगनिवृत्तिनिवेदने
सति कलञ्जमभक्ष्यमितीङ्ग्यते ॥ ४१९ ॥

अथ तदीयनियोगनिवर्त्तनमिति ॥ भक्षणनियोगनिवर्त्तनं नञर्थो भवतु इति शङ्कानुवादभागः।दूषणभागो,भक्षणमास्ति तदिच्छयेति ॥ तत्तदापि इच्छया प्राप्तभक्षणमस्त्येव, न निवर्त्तत इत्यर्थः । तदेवोपपादयति । नञ्वता वाक्येन नियोगनिवृत्तिनिवेदने सत्यपि, कलञ्जमभक्ष्यमनर्थहेतुरिति नेङ्ग्यते न कल्प्यते । कृष्यादिवद् दृष्टफलस्य तेनाप्रतिषेधादित्यर्थः॥अप्राप्तप्रतिषेधश्चायं नियोगनिवृत्तिपक्षो भक्षणे नियोगाभावाद् रागत एव तत्प्राप्तेरित्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ४१९ ॥

तर्ह्युक्तेभ्योऽन्यदेव किमपि निषेध्यमिह भविष्यतीतिचेन्नेत्याह—

इह कलञ्जपदेन नञन्वयो

भवति वास्य नञोऽदिसमागमः ॥
अदिगतेन लिङादिपदेन वा
सह समेति नञत्र गतिस्त्रयी ॥ ४२० ॥

इह कलञेति ॥ अदिसंगमो भक्षणान्वयो वा भवति । अदिगतेन भक्षणधात्वर्थसंगतेनेति यावत् । अत्र नञोऽन्वये त्रयी गतिश्चतुर्थी नात्रास्ति, द्वाराभावादित्यर्थः ॥ ४२० ॥

तर्ह्येष्वेव पक्षः कश्चित् कथञ्चिन्निर्वहणीय इतिचेन्न । असंभवादित्याह—

उदितपक्षपरिग्रहकारिणां
न च निषेधगिरामुपपादने ॥
भवति शक्तिरतश्च निषेधगी-
रपि नियोगपराभ्युपगम्यताम् ॥ ४२१ ॥

उदितपक्षेति ॥ उदितपक्षपरिग्रहकारिणां नामधातुप्रत्ययान्वयानां निषेधगिरा निवृत्तिपरत्वोपपादने शक्तिर्न च भवति । तदसंभवस्योक्तत्वादित्यर्थः । तर्हि निषेधवाक्यानां का गतिरिति, तामाह ॥ अतश्चेति ॥ निषेधगीरपीत्यपिशब्दो विधिगीर्दृष्टान्तार्थः ॥ नियोगपरेति ॥ धात्वर्थनिषेधनियोगपरेत्यर्थः । न च भक्षणादेः कर्त्तव्यत्वनिवृत्तिवाक्यार्थपक्षे मानान्तरविरोध इति भावः ॥ ४२१ ॥

यदि निवृत्तिनियोगो निषेधवाक्येषु वाक्यार्थस्तर्हि नाद्यान्न हन्यादित्यादिनिषेधशास्त्राणां मिथो न भेदः स्यान्निवृत्तिनियोगस्यैकत्वादितिचेन्नेत्याह—

यथा च यागाद्यनुबन्धभेदाद्

द्भिन्नेषु शास्त्रेषु नियोगभेदः ॥
निवृत्तिभेदादपि तद्वदस्य
निवृत्तयोऽपि ह्यनुबन्धभूताः ॥ ४२२ ॥

**यथा च यागादीति** ॥ यथा विधिशास्त्रेष्वपि यागदान-होमाद्यनुबन्धभेदादवच्छेदकभेदाद्भिन्नेषु शास्त्रेषु सत्सु तत्तद्विषय-नियोगभेदोऽङ्गीकृत इति शेषः। तद्वदस्य निवर्त्त्यभेदान्निषेध्यभेदा-दपिशब्दाद्धात्वर्थनामभेदान्निषेधभेदाच्च भेद इति योजना । हि यस्मान्निवृत्तयो निषेधा उपलक्षणमेतन्निषेध्यादयोऽप्यनुबन्धभूता निवृत्तिनियोगस्येत्यर्थः। निषेध्यभेदान्निषेधभेदात्तद्विषयनियोग-भेदे सति निषेधशास्त्रवाक्यस्यापि भेदः सिद्ध्यतीत्युक्तं भ-वति ॥ ४२२ ॥

नन्वस्मिन् पक्षे निषिद्धानुष्ठानस्य कथमनर्थहेतुत्वसिद्धिरि-तिचेन्न कथञ्चिदपि, तत्र प्रमाणाभावादित्याह—

निवृत्तिसिद्ध्यापि नियोगसिद्धिः
प्रवर्त्तमानस्य न गर्त्तपातः ॥
निषिद्धचेष्टा निरयस्य हेतु-
र्नियोगतो नाध्यवसीयते हि ॥ ४२३ ॥

**निवृत्तिसिद्ध्यापीति** ॥ निषिद्धानुष्ठानस्य अनर्थहेतुत्वं विनाऽपि निवृत्तिमात्रसिद्ध्याऽपि नियोगसिद्धिर्भवति । नित्य-नियोगवदस्यापि फलानिरपेक्षत्वाद्विषयनिवृत्तिमात्रेण नियोग-सिद्धेरित्यर्थः । एवं निषेधवाक्यस्यापि नियोगनिष्ठत्वान्निषिद्ध-क्रियायां प्रवर्त्तमानस्य न गर्त्तपातो निरयप्राप्तिः शास्त्रतोऽवगम्यत इति शेषः । तदेवोपपादयति ॥ निषिद्धचेष्टेति ॥ हि यस्मान्नि-

षिद्धचेष्टा निरयस्य हेतुरिति नियोगतो विधितो नाध्यवसीयते। न खलु विधिना विना वेदवाक्यादपूर्वार्थावधृतिरस्ति। विधिश्च नियोगमात्रपरो नित्यविधिवन्न तु स्वर्गकामादिविधिवत् फलवन्नियोगपरः। न हि निषेधवाक्येषु, स्वर्गकाम इत्यादिवद्गर्त्तपातपरिहारकामो नाद्यान्न हन्यादित्यादि प्रतीयते। अतो न नियोगतोऽनर्थहेतुत्वं कलञ्जभक्षणादेरवसीयत इत्यर्थः। निषिद्धक्रियानिवृत्त्यनुष्ठाने तद्विरोधिनिषिद्धानुष्ठानासिद्धौ गर्त्तपाताभावोऽर्थसिद्ध इति भावः॥ ४२३॥

नन्वभिमतफलकलञ्जभक्षणादिनिवृत्तौ विशिष्टफलाभावे पुरुषं प्रेरयितुमशक्नुवन्नियोगो निवृत्तेरनर्थपरिहारत्वकल्पनयाऽर्थात् प्रवृत्तेरनर्थफलत्वं कल्पयेन्न फलहीन एवेतिचेन्न। निवृत्तौ साक्षात्प्रेरणाभावादित्याह—

नियोग एवैष पुमान्नियुज्यते
नियोगसिद्ध्यै तु पुनर्नियुज्यते॥
परत्र कर्मस्वथ वा निवृत्तिषु
स्थितिः प्रसिद्धेति नियोगवादिनाम्॥ ४२४॥

नियोग एवैष इति॥ एष पुमानधिकृतो नियोग एव साक्षान्नियुज्यते। प्रथमतः पुनर्नियोगस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवान्नियोगसिद्ध्यै तु निवृत्त्यनुष्ठानेऽपि नियुज्यते, न पुनः साक्षाद्येन तत्र फलकल्पनामित्यर्थः। एतच्च परत्र कर्मसु प्रवृत्तिरूपेषु, अथवा निवृत्तिषु निवृत्तिरूपेषु कर्मसु च तुल्यम्॥ इति इत्थं नियोगवादिनां स्थितिः प्रसिद्धा। सर्वत्र नियोगसिद्धिरेव साध्यो, धात्वर्थस्तु नियोगसिद्ध्यर्थमेवानुष्ठेयः। नियोगस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात्। फलं तु कामिनियोगेऽप्यनुद्देश्यो

नियोगविशेषसामर्थ्यासिद्ध इति भावः ॥ ४२४ ॥

ननु निवृत्तिर्नाम क्रियानुत्पादस्तस्याः प्रागेवसिद्धत्वात् कथमनुष्ठानमितिचेत्तत्राह—

प्रवृद्धरागस्य निवृत्तयोऽस्थिरा-

स्ततः स्थिरत्वाय नियुज्यते पुमान् ॥

निवृत्तिदेशेषु नियोगबुद्धितो

निवृत्तिमूर्ध्वं परिपालयिष्यति ॥ ४२५ ॥

प्रवृद्धरागस्येति ॥ निषिद्ध्यमानक्रियाफलेषु प्रवृद्धो रागो यस्य तस्य प्रवृद्धरागस्य निवृत्तयोऽस्थिराः । निवृत्तिप्रागभावस्य प्रच्युतिर्हि तस्य जायत इत्यर्थः । ततो हेतोः स्थिरत्वाय निवृत्तिस्थैर्याय पुमान्निवृत्तिदेशेषु निवृत्तिनियोगविषयेषु नियुज्यते । कथं नियोगतस्तत्स्थैर्यमिति, तदाह ॥ नियोगबुद्धित इति ॥ नियोगबुद्धेरूर्ध्वं निवृत्ति परिपालयिष्यति नियोगबलान्निवृत्तिनिष्ठ एव भवतीत्यर्थः ॥ ४२५ ॥

ननु नञर्थस्याभावस्य प्राभाकरैरनङ्गीकाराद्भावस्यैव निवृत्तिशब्दार्थत्वात् कथं तत्र नियोगस्तदनुष्ठानं वेतिचेत्तत्राह—

अनाद्यजग्धेश्च निवृत्तिनिष्ठा-

ऽविशिष्टदन्तोष्ठनिविष्टसंवित् ॥

अनन्यसंसर्गिपदार्थसत्रि-

न्निवृत्तिरित्येष हि राजमार्गः ॥ ४२६ ॥

अनाद्यजग्धेश्चेति ॥ न आद्यमनाद्यमभक्ष्यं तस्यानाद्यस्य जग्धेर्भक्षणस्य निवृत्तिनिष्ठा नाम विशिष्टदन्तोष्ठनिविष्टसंवित् ॥ विशिष्टेति कैवल्यमुच्यते । अविशिष्टेति वा छेदः । केवलदन्तोष्ठ-

निविष्टसंविदिति यावत् । निर्व्यापारतया ज्ञायमानदन्ताद्यव स्थानमजग्धिरित्यर्थः । नञर्थोऽपि नाभाव इत्याह॥अनन्येति ॥ केवलपदार्थसंविदित्यर्थः । सर्वत्र हि धर्मिणो निषेद्ध्यसंसर्गवैधुर्य कैवल्यमेव ह्यभावप्रतीतेरालम्बनमिति भावः ॥ ४२६ ॥

ननु यदुक्तं नामादीनामन्यतमस्यापि निषेधोऽत्र प्रत्यक्ष-विरोधान्न संभवतीति नञो नाभावपरत्वमिति । तदसत् । इष्ट-साधनताभावपरत्वसंभवादिति कस्यचिच्छङ्कामुत्थापयति—

ननु समीहितसाधनता लिङो
लशुनगृञ्जनभक्षणसंश्रया ॥
भवति वाच्यतयाभिमतास्य नो
नञपि तद्विनिवृत्तिनिवेदकः ॥ ४२७ ॥

ननु समीहितेति ॥ लशुनादिभक्षणसंश्रया समीहित-साधनता लिङो वाच्यतया नोऽस्माकमभिमता भवति । अस्य निषेधवाक्यस्य सम्बन्धी यो लिङ् तस्यालिङ इति योज्यम्।अस्य लिङ इति सामानाधिकरण्यं वा । अथवाऽस्य प्रकृतवाक्यस्य सम्बन्धी नञपीति सम्बद्ध्यते । तद्विनिवृत्तिनिवेदक इष्टसाधन-ताभावबोधक इत्यर्थः ॥ ४२७ ॥

एतदपि नोपपद्यते प्रत्यक्षविरोधादित्याह-

तदसदिष्टफलोद्भवदर्शना-
ल्लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनात् ॥
न हि निषिद्धपदार्थनिमित्तकः
सुखलवः पुरुषस्य न विद्यते ॥ ४२८ ॥

तदसदिति । सुखं हि सर्वप्रवृत्तीनां फलमिष्टम् । तदिह

प्रत्यक्षम् । लशुनगृञ्जनपर्युषिताशनादिष्टफलोद्भवस्य प्रत्यक्षत्वाल्लशुनादिभक्षणस्य समीहितसाधनत्वनिवृत्तिपरत्वं नञोऽनुपपन्नमित्यर्थः। लशुनं कन्दविशेषः श्वेतो दुर्गन्धिः।गृञ्जनं तु लशुनाऽऽकार आरक्तः कन्दः । पर्युषितं दिनान्तरपक्वमन्नम् । उक्तमेव व्यतिरेकमुखेन व्यनक्ति ॥ न हीति ॥ न विद्यत इति न हि, किन्तु विद्यत एवेत्यर्थः । पूर्वं निरस्तोऽप्ययं पक्षः पुनराशङ्क्य पूर्वपक्षिणा दूषितः सिद्धान्तिनोऽत्रैवादरं दृष्ट्वेतिद्रष्टव्यम् ॥४२८॥

तस्मात् कस्याचिदपि निषेधासम्भवान्निवृत्तिनियोगनिष्ठं निषेधवाक्यमिति प्राभाकरमतं प्राप्तमाभासयति—

अदृष्टदोषं परिहृत्य शंसतः

कलञ्जमास्वाद्य सुखित्वमात्मनः ॥

पुमानबोधोपहतः समीहते

तदीहिताभावपरा निषेधगीः ॥ ४२९ ॥

अदृष्टदोषमिति॥ अलौकिकं शास्त्रैकगम्यं दोषं दुःखफलं परिहृत्यानादृत्य कलञ्जं विषलिप्तेषुहतमृगमांसमास्वाद्यात्मनः सुखित्वं शंसतः प्रार्थयमानस्य पुंसो यदीहितं प्रार्थितं तदीहिताभावपरा निवृत्तिगीरित्यन्वयः । तस्येहितस्य योऽभावस्तत्परं निषेधवाक्यमित्यर्थः। ईहितम् ईहा, तच्च तदीहितं च तदीहितमिति विग्रहः । ननु कलञ्जास्वादनेनात्मनः सुखित्वप्रार्थनाया अपि प्रत्यक्षसिद्धत्वान्न निषेधमर्हतीत्याशङ्क्य तादृशोऽनुभवो न प्रमाणं, किन्तु भ्रम इत्याह ॥ पुमानबोधोपहतः समीहत इति ॥ यस्मादित्यध्याहार्यम् । यस्मात् पुमानेवं प्रार्थयमानोऽबोधोपहतः कलञ्जभक्षणजन्यभाव्यनर्थाज्ञानग्रस्तोऽरण्यप्रदेशे अतिरमणीयदर्शनेन्द्रवारुणीफलभक्षणे प्रवृत्त इव तत्परिपाकानभिज्ञः क्षुधितः

समीहते प्रार्थयते, तस्माद् भ्रान्तिसिद्धप्रार्थनाविषयत्वाल्लिङस्तन्निवृत्तिपरो नञित्याभिप्रायः । न च धर्मिणो निषेध्यसंसर्गराहित्यं कैवल्यमेवाभावप्रत्यालम्बनम्। निषेध्यसंसर्गराहित्यस्यैव तदालम्बनत्वात् । अन्यथा तत्रापि विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वप्रसङ्गात् केवलभावस्य तथात्वाव्यभिचारादिति भावः ॥ ४२९ ॥

ननु अनुभूयमाना प्रार्थना तादृशी कथं निषेद्धुं शक्यत इति चेन्न । तस्याः प्रामाणिकत्वस्य निषेधोपपत्तेरित्याह—

नरकपातविवर्जनवर्त्मना
भवतु विप्रवधात् परमार्थतः ॥
मम सुखित्वमितीच्छति यत् पुमा-
न्न तदितीह निषेधगिरोच्यते ॥ ४३० ॥

नरकपातेति ॥ ब्रह्मवधादौ प्रवर्त्तमानः पुरुषो मम विप्रवधादस्मान्मया क्रियमाणान्नरकपातविवर्जितमार्गेणानिष्टाननुबन्धित्वप्रकारेण सुखित्वं भवत्विति यत् परमार्थतःपरमार्थबुद्ध्या इच्छतीति यत्तन्नेति इह वेदेषु निषेधगिरोच्यते । वस्तुगत्या बलवदनिष्टाननुबन्धिन्यामेव क्रियायां तद्वैपरीत्यं मोहात् कल्पयन् पुमांस्तत्र प्रवर्त्तमानस्तत्क्रियायास्तत्कल्पितसमीहितसाधनत्वाभावबोधनेन श्रुत्या स ततो निवर्त्त्यत इति भ्रान्तिप्रतिपन्नेष्टसाधनताभावबोधकमेव निषेधवाक्यं, नानुष्ठेयबोधकमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४३० ॥ ॥

पूर्वपद्योक्तमेव स्फुटयति—

प्रमाणतो नास्ति निषिद्धकर्मणः
फलस्पृहाऽदृष्टभयं विना तव ॥

भ्रमादबोधप्रभवात् प्रवर्त्तसे
न तात मानेन फलस्पृहाऽत्र ते ॥ ४३१ ॥

**प्रमाणत** इति ॥ या तवादृष्टभयं विना पारलौकिकभयानादरेण निषिद्धकर्मणो विप्रवधादेः फलप्रार्थना सा प्रमाणतो नास्ति, प्रमितिमूला सा न भवतीत्यर्थः।यत एवं तस्माद् हे तात वत्स! अबोधप्रभवादज्ञानमूलाद् भ्रमात्तत्र प्रवर्त्तसे। ते फलस्पृहा या जायते सा प्रमाणतः परमार्थतो नेति योजना ॥ ४३१ ॥

उपपादितां निषेधवाक्यशक्तिमुपसंहरति—

इति श्रुतिः शास्ति निषिद्धकर्मणि
प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञन्विता ॥
न चायमर्थोऽपहृतः प्रमान्तरै-
र्न हि प्रमाणैरपरैर्विरुद्ध्यते ॥ ४३२ ॥

**इति श्रुतिः शास्तीति** ॥ निषिद्धकर्मणि प्रवृत्तिमन्तं पुरुषं नञ्पदेनान्विता श्रुतिरित्यस्मदुक्तप्रकारेण शास्ति बोधयतीत्यर्थः। प्रकृतश्रुतिवाक्यं न स्वार्थपरमिति नआशङ्का कार्येत्याह ॥ न चाऽयमर्थ इति ॥ प्रमाणान्तरैरयमेतच्छ्रुत्युक्तोऽर्थो न चापहृतः। अपशब्दोऽत्रोपशब्दार्थोऽव्ययानामनेकार्थत्वात् प्रयुक्तः । न मानान्तरेण प्रापित इत्यर्थः। अनेनास्यानुवादत्वशङ्का निरस्ता। न ह्ययमर्थः केनचित् प्रमाणेन क्वचित् सिद्धः। तथापि गुणवादो भविष्यतीत्याशापि न कार्येत्याह ॥ न हीति ॥ विरोधिनः प्रमाणान्तरस्यानिरूपणादित्यर्थः । न च प्रकृतक्रियाफल ईप्सितत्वधीविरोधः शङ्कनीयः। तस्याभ्रान्तित्वोपपादनान्मानान्तरस्य तद्विरोधिनोऽदर्शनाच्छ्रुतेः प्रामाण्यस्य स्थितत्वादिति

भावः ॥ ४३२ ॥

भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रोपक्षीणं निषेधवाक्यमित्यत्र दृष्टान्तमाह—

भुजङ्गभोगं सुकुमारशीतलं
निदाघसंतापनिवृत्तये शिशुम् ॥
भ्रमादुपादित्सुमुदीक्ष्य कातरा
निवर्त्तयेत्तज्जननी यथा तथा ॥ ४३३ ॥

भुजङ्गभोगमिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ४३३ ॥

दार्ष्टान्तिकमाह—

भ्रमादनर्थस्य निदानमादरा-
त्कृतार्थतायै लशुनादिभक्षणम् ॥
नञन्विता वैदिकचोदनाप्यसौ
विधित्सुमालक्ष्य निवर्त्तयिष्यति ॥ ४३४ ॥

भ्रमादनर्थस्येति ॥ पूर्वपद्यान्ते स्थितस्तथाशब्दोऽस्मिन् पद्ये योज्यः । वस्तुगत्याऽनर्थस्य निदानं लशुनादिभक्षणं भ्रमात् कृतार्थतायै आदराद्विधित्सुं पुरुषमज्ञमसावपि नञान्विता वैदिकचोदना निवर्त्तयिष्यतीत्यन्वयः ॥ ४३४ ॥

एवं स्वाभिमतं भ्रान्तिप्रतिपन्नक्रियाफलप्रार्थनानिवृत्तिनिष्ठत्वं निषेधवाक्यस्योपपाद्य पराभिमतं नियोगनिष्ठत्वं नैव संभवतीति प्रतिपादयति—

क्रियानुप्रवेशं विना प्रागभावः
प्रसक्तक्रियाया न निर्वोढुमीशः ॥
गुणद्रव्यवन्नित्यनिष्पन्नभावात्

पदत्वं नियोगस्य भावार्थवद् वः ॥ ४३५ ॥

**क्रियानुप्रवेशमिति**॥ अयमर्थः॥ विधेर्ह्यनुष्ठेयो भावार्थो(१) विषयस्तद्द्वारेण नामार्थोऽपि(२) तद्विषयो, न साक्षादिति हि शास्त्रस्थितिः। तथाच निषिद्धक्रियाप्रागभावोऽनुष्ठेय इति वदता तस्य गुणद्रव्यवदारुण्यदध्यादिवत् क्रियानुप्रवेशेन नियोगविषयत्वं वक्तव्यम्। तेन विना प्रसक्तक्रियायाः प्रागभावो नियोगस्य पदत्वं नियोगनिर्वर्त्तकतया तद्विषयत्वं निर्वोढुं नेशो, न समर्थः। कुतः। निष्पन्नभावाद्गुणद्रव्यवन्निष्पन्नस्वरूपत्वाद्वो युष्मत्पक्ष इति योजना। भावार्थवदिति वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा भावाऽर्थः(३) पुरुषकृतिसाध्यत्वात् साक्षान्नियोगविषयो, न तथा प्रागभावो निष्पन्नत्वेनासाध्यत्वादित्यर्थः ॥ ४३५ ॥

तर्हि निवृत्तिं पालयेदिति पालनक्रियानुप्रवेशेन विधिविषयः प्रागभावो भविष्यतीतिचेन्नेत्याह—

न पाल्यत्वयोगादलं भूष्णुभावो<br>
यतः पालनं श्रूयते नात्र वाक्ये ॥<br>
न खल्वश्रुतं गृह्यते न्यायहीनं<br>
यथा न श्रुतं त्यज्यते तन्नयेन ॥ ४३६ ॥

**न पाल्यत्वयोगादिति**॥ अत्रेदं वक्तव्यम्। परिपालनेनाऽनुष्ठेयत्वं प्रागभावस्य युक्त्या कल्प्यते, श्रुत्या वा प्रतीयते? इति। तत्र नाद्य इत्याह॥ न पाल्यत्वेति॥ भूष्णुभावो भवनशीलत्वम्॥ प्रागभावस्येति शेषः। न हि प्रागभावस्यानादिसिद्धस्य पाल्यत्वसंबन्धात् साध्यत्वमलं योग्यमित्यर्थः। न द्वितीय

---

(१) साध्यार्थः॥ (२) सिद्धार्थः॥ (३) धात्वर्थो यागः॥

इत्याह ॥ यत इति ॥ अश्रुतमपि कल्प्यत इतिचेन्न । न्यायविरोधादित्याह ॥न खल्विति॥ श्रुतं प्रसक्तक्रियायाः फलप्रार्थनाप्रतिषेधमकस्मात् परित्यज्याश्रुतपाल्यत्वविधिकल्पनं न्यायपथानारूढमित्यर्थः ॥ ४३६ ॥

ननु यो नञो मुख्योऽर्थः प्रतिषेधः श्रुतः स एव नियोगविषयस्तस्य तु पालनानुप्रवेशेनानुष्ठेयत्वमित्येतावदिह वयं ब्रूमोऽतो न श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्ग इतिचेन्नैवमप्युपपद्यत इत्याह—

उदासीनता च श्रुता नञ्पदार्थो
नियोगे सति त्याज्यतां याति सद्यः ॥
अतद्योग्यभावादयोग्यः पदार्थो
न वाक्यार्थभागिष्यते जैमिनीयैः ॥ ४३७ ॥

उदासीनता चेति ॥ चशब्दोऽवधारणार्थः । नञ्पदार्थ इहोदासीनतैव श्रुता या सा नियोगेऽभ्युपगम्यमाने सति सद्यस्त्याज्यतामेति। कुतः ॥अतद्योग्यभावात्॥ विधिं प्रतिविषयत्वेनाऽन्वययोग्यत्वाभावात् । न ह्यौदासीन्यमनुष्ठेयं भवति। अननुष्ठेयं च न विधिविषय इत्यर्थः। अयोग्यस्यार्थस्य वाक्यार्थतया परिग्रहो न न्यायवित्संमत इत्याह ॥ अयोग्यः पदार्थ इति ॥४३७॥

तदेवमत्र विषयाभावान्न निषेधवाक्यस्य नियोगनिष्ठत्वसंभव इति प्रतिपादितम् । यत्पुनरुक्तं निवृत्तिपरिपालनेन नियोगकर्त्तव्यतायां पर्यवस्यति निषेधवाक्यं, न तु प्रवर्त्तमानस्य गर्त्तपाते तत् प्रमाणमिति । तदत्यन्तमसंगतं सर्वलोकप्रसिद्धिविरोधादित्याह—

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नेति

स्वकर्णौ जनः प्रोर्णुते पापभीरुः ॥
समाकर्ण्य दुर्भाषितं पार्श्ववर्ती
न पापाक्षरं किञ्चिदेतादृगन्यत् ॥ ४३८ ॥

निषिद्धक्रियेति ॥ निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय पापाय नेति दुर्भाषितं समाकर्ण्य पामभीरुः पार्श्ववर्त्ती जनः स्वकर्णौ प्रोर्णुते कर्णरन्ध्रं पूरयत्याच्छादयतीत्यन्वयः। यत एतादृगन्यन्न किञ्चित् पापाख्यमस्त्यतः प्रोर्णुत इत्यर्थः। अविगीतसज्जनप्रसिद्धेर्भ्रान्तिमूलत्वाभावाद्यथा तत्प्रसिद्धिविरोधो न भवति तथा निषेधवाक्यव्याख्यानमुचितं न विपरीतमितिभावः॥४३८॥

किञ्च, निषिद्धक्रियाव्यतिरेकेण दुःखहेत्वनिरूपणात् सैव तद्धेतुरित्यङ्गीकरणीयमित्याह—

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नो चे-
त्तदा दुःखमाकस्मिकं सर्वपुंसाम् ॥
सुखं पुण्यमूलं यथा सर्वपुंसां
तथा दुःखमप्यस्तु वः पापमूलम् ॥ ४३९ ॥

निषिद्धक्रिया प्रत्यवायाय नोचेदिति ॥ आकस्मिकमऽकारणकं स्यादित्यध्याहारः। न ह्यकारणकार्योत्पत्तिः संभवति। अतो दृष्टकारणस्य कस्याचिदभावेऽपि कदाचिज्जलाग्निकण्टकादिसंसर्गद्वारकं दुःखं दृश्यमानमदृष्टमेव कारणं कल्पयति। अदृष्टं च क्रियाजन्यम्। क्रिया च निषिद्धैव पापमूलमिति निषिद्धक्रियोत्पन्नपापादृष्टमूलकमेव सर्वं सर्वेषां प्राणिनां दुःखमिति भावः। एवं सति यथा सर्वपुंसां सुखं पुण्यमूलमित्याविवादं तथा दुःखमपि वो युष्माकं पापमूलमस्तु, नात्रार्द्धजरतीयं युक्तमि-

त्यर्थः ॥ ४३९ ॥

ननु दुःखं पापमूलमस्तु, पापं तु न निषिद्धक्रियाजन्यं, किन्त्वन्यत इति चेन्नैवमित्याह—

निषिद्धक्रियां चोदितस्याक्रियां वा
विना नास्ति पापस्य निष्पत्तिहेतुः ॥
ततस्तद्द्वयं पापनिष्पादकत्वा-
द्भवेत् प्रत्यवायस्य नित्यं निदानम् ॥ ४४० ॥

निषिद्धक्रियां चोदितस्येति ॥ चोदितस्याक्रिया विहितस्याननुष्ठानम् । सुगममन्यत् ॥ ४४० ॥

नन्वेवमपि चोदितस्याक्रियैव प्रत्यवायनिदानमिष्यते, न निषिद्धक्रिया । एतावतैव दुःखस्याकस्मिकत्वशङ्कापरिहारादुभयहेतुत्वे चाननुगमाद्गौरवाच्चेति चेन्नेत्याह—

निषिद्धक्रिया दुःखनिष्पत्तिहेतु-
र्भवेल्लक्षणं चोदितस्याक्रियास्य ॥
अभावान्न भावस्य निष्पत्तिरिष्टा
भवेल्लक्षणं ज्ञायमानस्त्वभावः ॥ ४४१ ॥

निषिद्धक्रिया दुःखेति ॥ दुःखनिष्पत्तौ निषिद्धक्रियैव हेतुर्भवेन्न विहिताकरणमित्यर्थः । चोदितस्याक्रियात्वस्य प्रत्यवायपदवेदनीयस्य दुःखस्य लक्षणं ज्ञापकं भवेन्नोत्पादकमित्यऽर्थः । एवं व्यवस्थायां नियामकमाह ॥ अभावादिति ॥ अकरणं ह्यभावः । न ह्यभावाद्भावस्य दुःखादेर्निष्पत्तिरिष्टा वेदविद्भिरिति शेषः । तथाच श्रुतिः, कथमसतः सज्जायेतेति । यत्तु तार्किकैः

प्रागभावप्रतिबन्धकाभावयोर्भावहेतुत्वम् इष्यते तद् अभावस्य निःस्वभावत्वनिर्व्यापारत्वापादनेन निराकरणीयमिति दिक् ॥

तर्हि कथमकरणस्याप्यभावत्वात् प्रत्यवायज्ञापकत्वं स्यादितिचेत् तत्राह ॥ भवेल्लक्षणमिति । विहितकरणाभावो ज्ञायमानस्वभावः सँल्लक्षणं भवेन्न स्वरूपेण केवलस्य तस्याकारकत्वात् । तज्ज्ञानादेव प्रत्यवायज्ञानमिति भावः ॥ ४४१ ॥

निषिद्धक्रियायाः पापहेतुत्वेऽपि निषेधवाक्यस्य कथं प्रामाण्यमुपपन्नमिति तत्राह–

निवृत्तिनिष्ठे तु निषेधवाक्ये
निषिद्धकर्माचरणादनर्थः ॥
प्रतीयतेऽर्थादिति तत्र युक्तं
दुःखं नृणां दुश्चरितैकमूलम् ॥ ४४२ ॥

निवृत्तिनिष्ठे त्विति ॥ निषेधवाक्ये निवृत्तिपरे स्थिते सति अर्थादनुपपत्तिबलान्निषिद्धकर्माचरणनिमित्तकोऽनर्थ इति प्रतीयते इति यतस्तत्रैवं सति नृणां दुःखं दुश्चरितैकमूलमिति युक्तमिति योजना । अदृष्टभयविरहितनिषिद्धफलप्रार्थनानिषेधनं नञ्वता वाक्येन क्रियमाणं निषिद्ध्यमानफलप्रार्थनाहेतुभूतक्रियाया अदृष्टफलहेतुत्वं विनाऽनुपपन्नमित्यनर्थहेतुकक्रियानिवर्त्तकत्वेन निषेधवाक्यस्य प्रामाण्यमुपपन्नमित्युक्तं भवति ॥ ४४२ ॥

ननु लिङर्थमिष्टसाधनत्वमाश्रित्य नञश्च तत्पर्युदासमर्थमाश्रित्य कलञ्जभक्षणादेरनिष्टसाधनत्वमिति निषेधवाक्येनाञ्जसैव प्रातिपाद्यतां, किं विवक्षितस्यार्थस्यार्थिकत्वकल्पनयेतिचेन्नेत्याह–

समीहितोपायतया लिङन्वयात्

प्रतीयमानस्य तु भक्षणादिनः ॥
न पर्युदासाश्रयणेन नञ्पदा-
दनिष्टहेतुत्वमतिर्भविष्यति ॥ ४४३ ॥

समीहितेति ॥ समीहितोपायतया प्रतीयमानस्य भक्षणादिना भक्षणहननादेर्नञ्पदात् पर्युदासाश्रयणेनानिष्टहेतुत्वमतिर्न भविष्यतीति योजना । किंलक्षणान्नञ्पदात् ॥ लिङन्वयात् ॥ लिङान्वयो यस्य नञ्पदस्य तल्लिङन्वयं, तस्मादिति विग्रहः ॥ ४४३ ॥

कुतो न भविष्यतीत्यत आह—

तथाहि सम्बन्ध्युपमर्दबुद्धये
समर्थमुत्सर्गमपेक्ष्य नञ्पदम् ॥
न पर्युदासाय विनापवादकं
ततो निवृत्त्यर्थपरं तदिष्यते ॥ ४४४ ॥

तथा हीति ॥ नञ्पदमुत्सर्गं मुख्यवृत्त्याऽभावनिष्ठत्वमऽपेक्ष्य संबन्ध्युपमर्दबुद्धये समर्थं यत्तदपवादकं निमित्तं विना न लक्षणया पर्युदासाय समर्थं स्यात् । न चापवादकमिह किमऽप्यास्ति । ततः कारणान्निवृत्त्यर्थपरं तन्नञ्पदमिष्यत इति योजना ॥ ४४४ ॥

तथापि किमत्र युक्तम् । पक्षद्वयेऽपि दोषदर्शनादेकत्र विवक्षितार्थस्यार्थिकत्वमपरत्र नञो लाक्षणिकत्वमिति चेत्तत्राह—

अतः प्रसज्ज्यप्रतिषेधसम्भवा-
न्न पर्युदासाश्रयणं प्रशस्यते ॥

न पर्युदासाश्रयणं विना भवे-
दनिष्टहेतुत्वनञर्थकल्पना ॥ ४४५ ॥

अतः प्रसज्ज्येति ॥ अत इत्यस्य विवरणं, प्रसज्ज्य-
ातिषेधसंभवादिति ॥ मुख्यवृत्तिसंभवे लक्षणाश्रयणेनार्थान्तर-
ल्पनं न प्रशस्यत इत्यर्थः । अतो विवक्षितार्थस्य मुखत एव
तीतेरसंभवादार्थिकतत्प्रतीतिरेतादृशे विषये न दोषायेति भा-
ः। तर्हि विनैव पर्युदासं साक्षादेव नञाऽनिष्टहेतुत्वमुच्यतामि-
तेचेन्न । असंभवादित्याह ॥ न पर्युदासाश्रयणमिति ॥ ४४५ ॥

कथं न भवेदितिचेत्तदित्थमित्याह—

अभीष्टहेतुत्वलिङर्थपृष्ठतो
ह्यनर्थहेतुत्वनञर्थकल्पना ॥
न पर्युदासं परिहृत्य कल्पते
न पर्युदासः प्रतिषेधसंभवात् ॥ ४४६ ॥

अभीष्टहेतुत्वेति ॥ अभीष्टहेतुत्वं लिङर्थमादाय तत्पृष्ठ-
ो लिङो नञन्वयस्वीकारेण वाक्यत्वसंपत्तौ तद्वशादनिष्टहेतु-
वप्रतीतिः स्यात् । तथाचेष्टहेतुत्वपर्युदासमन्तरेण न केवलेन
ञा क्रियाया अनिष्टहेतुता प्रत्याययितुं शक्यते । ततश्च विना
क्षणां नञो न पर्युदासः, पर्युदासादृते नानिष्टार्थत्वबोधकतेति
ात्पर्यार्थः । तर्ह्यस्तु पर्युदास एवेत्यत आह ॥ न पर्युदासः
ातिषेधसंभवादिति ॥ प्रागुक्तन्यायेन नञः प्रतिषेधार्थपरत्वोप-
त्तेरित्यर्थः । अक्षरार्थः सुगमः ॥ ४४६ ॥

एवं निषेधवाक्यस्य निवृत्तिनिष्ठत्वमेव, न कथमपि प्रवृत्ति-
नेष्ठत्वमिति प्रतिपादनेन तव प्रकृते किमायातमितिचेद्, इदमा-
ातमित्याह—

प्रमाणमिच्छन् प्रतिषेधचोदनां
समस्तवेदस्य न कार्यगोचरम् ॥
प्रमाणभावं प्रतिपत्तुमीश्वरो
निषेधवाक्ये तदसंभवादतः ॥ ४४७ ॥

**प्रमाणमिच्छन्निति** ॥ प्रतिषेधचोदनां प्रमाणमिच्छन् वादी समस्तवेदस्य कार्यगोचरं प्रमाणभावं प्रतिपत्तुं नेश्वरो न समर्थः । कुतः । अत उक्तन्यायान्निषेधवाक्ये तदसंभवात् कार्यनिष्ठत्वासंभवादिति योजना ॥ ४४७ ॥

तथाच विनैव नियोगाद्यर्थत्वं वेदान्तानां प्रामाण्यं युक्तमेवेति कैमुत्यन्यायेनाह—

अतो न वेदान्तवचस्सु विद्यते
विधिर्नियोगो न च शब्दभावना ॥
न कर्मकाण्डेऽपि नियोगतोऽस्त्यसौ
यतो निषेधेषु न विद्यते विधिः ॥ ४४८ ॥

**अतो न वेदान्तवचःस्विति** ॥ विधिरिष्टसाधनं कृतिसाध्यं विधेयमिति यावत् । नियोगोऽपूर्वाख्यं कार्यम् । शब्दभावना च न वेदान्तवचःसु विद्यते । अहेयानुपादेयवस्तुमात्रपर्यवसितत्वाद्वेदान्तानामित्यर्थः । यतः कर्मकाण्डेऽप्यसौ विधिर्नियोगतो नियमेन नास्ति । निषिद्धेषु निषेधवाक्येषु विधेरविद्यमानत्वात् तत्र कुतो ज्ञानप्रधाने काण्डे विधेरवकाश इत्यर्थः ॥ ४४८ ॥

निषेधवाक्यानां स्वरूपतोऽर्थतश्च विचार्यमाणे न नियोग-

परत्वं संभवतीति प्रतिपादितम् । इदानीं यदि निषेधवाक्यानामपि विधिपरत्वं,विधेश्च नियोगत्वमभ्युपगम्येत तदापि न वेदान्तेषु विधेरवसरोऽस्तीत्याह—

उपेत्यवादं परिगृह्य चोच्यते
नियोगनिष्ठाऽस्तु निषेधगीरपि ॥
तथापि वेदान्तवचःसु विद्यते
विधेर्न गन्धोऽपि विरोधकारणात् ॥ ४४९

उपेत्य वादमिति ॥ उपेत्यवादोऽङ्गीकारवादस्तं परिगृह्याश्रित्येति यावत् । तमेवाह ॥ नियोगेति ॥ निषेधगीरपि नियोगनिष्ठाऽस्तु भवतु,न नः काचित् क्षतिरित्यर्थः ॥ तथापीति सुगमम् ॥ ४४९ ॥

विरोधकारणादित्युपक्षिप्तं हेतुं प्रपञ्चयति पद्यत्रयेण—

ज्ञानं विधातुं न हि शक्यमेत-
न्न शक्यते कर्तुमकर्त्तुमेतत् ॥
तथाऽन्यथा कर्त्तुमशक्यमेतत्
प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वात् ॥ ४५० ॥

ज्ञानं विधातुमित्यादिना ॥ वेदान्ता अपि विधिपरा इति वदतेदं वक्तव्यम् । किमत्र विधेयमिति । ब्रह्मज्ञानं विधेयमिति चेन्न । तदशक्तेरित्याहाऽऽद्येन पद्येन । यत् पुरुषेण कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा वा कर्त्तुं शक्यं तद्विधेयं, यथा गमनादि । न तथा ज्ञानमित्यतो न विधेयं तदित्यर्थः । तत्र हेतुमाह ॥ प्रमाणमेयैकनिबन्धनत्वादिति॥ मानमेयपरतन्त्रत्वाद् अपुरुषतन्त्रत्वादित्यर्थः ॥ ४५० ॥

किञ्च विधेयब्रह्मज्ञानस्य स्वरूपानवबोधे तस्य कर्त्तव्यत्वं न ह्यवबोद्धुं शक्यते । अतस्तद्विज्ञेयम् । तच्चाशक्यमित्याह—

ब्रह्मज्ञानं जानता ब्रह्मबुद्धेः
कर्तव्यत्वं शक्यते ज्ञातुमेतत् ॥
न ह्यज्ञात्वा ब्रह्मबुद्धिं तदीयं
कर्त्तव्यत्वं कश्चिदीष्टे ग्रहीतुम् ॥ ४५१ ॥

ब्रह्मज्ञानं जानतेति ॥ स्पष्टार्थम् ॥ ४५१ ॥

ज्ञायतां तर्हि विधेयं ब्रह्मज्ञानमितिचेत्तत्र वक्तव्यं, विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानपूर्वकत्वाद्विशेषणीभूतं ब्रह्मानवगतमवगतं वेति । उभयथाऽपि नात्र ज्ञानविधिसंभव इत्याभिप्रेत्याह—

ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मणि ज्ञायमाने
ज्ञातुं शक्यं नान्यथा तच्च तद्वत् ॥
विज्ञातं चेद् ब्रह्मणस्तत्त्वमस्य
प्राप्ता मुक्तिर्नास्ति कृत्यं विधीनाम् ४५२ ॥

ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मणि ज्ञायमान इति ॥ तच्च ब्रह्मज्ञानमिति संबन्धः । नान्यथा अज्ञाते ब्रह्मणीत्यतोऽस्मिन् पक्षे न विधिरित्यर्थः । तद्वत्तथैव पक्षान्तरेऽपि न विधिसिद्धिरित्यर्थः । तदेवाह॥विज्ञातमिति॥ अस्य विदुषः प्राप्ते फले तदर्थकृत्याभावादित्यर्थः ॥ ४५२ ॥

ब्रह्मज्ञानमात्रेण कथं मुक्तिप्राप्तिर्ज्ञानमात्रात् पुरुषार्थादर्शनादिति प्रसङ्गप्राप्तामाशङ्कां परिहरति—

दृशो विराट्सूत्रशरीरगोचरं

परस्पराध्यासमबोधसंभवम् ॥
अनर्थमाहुः श्रुतिमस्तके स्थिता-
स्ततोऽस्य विद्यासमयैव मुक्तता ॥ ४५३ ॥

दृशो विराडिति ॥ विराट् स्थूलं सूत्रं सूक्ष्मं च यत्समष्टि-व्यष्ट्यात्मकं शरीरमभिमानास्पदं भोगायतनं तद्गोचरं तद्विषयमबोधसंभवमनाद्यज्ञानोत्थं परस्पराध्यासं चिज्जडयोस्तादात्म्यावभासलक्षणं दृशः प्रत्यगात्मनोऽनर्थमाहुः श्रुतिमस्तके स्थिताः वेदान्तविद् इति योजना । यत एवमात्मन्यध्यस्त एवायं संसारानर्थस्ततोऽस्य विदुषो विद्यासमयैव विद्योत्पत्तिसमय एव मुक्तता निवृत्तबन्धनता रज्जुतत्त्वज्ञानोदयसमयइव भयादिनिवृत्तिरित्यर्थः । तथाच भ्रमगृहीतस्य बन्धस्य ज्ञानोदयमात्रान्निवृत्तौ पुमर्थत्वदर्शनान्न ज्ञानसिद्धावन्यदपेक्षणीयमिति भावः ॥ ४५३ ॥

अनर्थस्याध्यस्तत्वेऽपि दृढभावितस्य तस्य सहसा ज्ञानोदयमात्रेण न निवृत्तिः सम्भवतीति तदर्थमभ्यासो विधेयइतिचेन्नैवम् । अज्ञानकल्पितस्याज्ञाननिवृत्तौ निवृत्त्युपपत्तेरज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानोदयमात्रायत्तत्वादित्याह—

अनाद्यविद्यापटनेत्रबन्धनं
प्रसह्य वेदान्तनिबन्धना मतिः ॥
स्वजन्ममात्रेण दृढात्मगोचरा
समूलदाहं दहतीति हि श्रुतिः ॥ ४५४ ॥

अनाद्याविद्येति ॥ वेदान्तनिबन्धना वेदान्तप्रमाणजाता मतिरात्मगोचरा आत्मतत्त्वब्रह्माकारा दृढा असम्भावनादिदोषैरचालिता स्वजन्ममात्रेणाऽनाद्यऽविद्यापटरूपनेत्रबन्धनं चिदा-

ऽऽत्मनो यथावदवभासनाच्छादनरूपं समूलदाहं यथा स्यात्तथा प्रसह्य दहति नाशयतीति हि प्रसिद्धा श्रुतिः, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्याद्येति योजना । उत्पन्नेऽपि यथोक्तविज्ञाने केषाञ्चित् सम्यग्बन्धनिवृत्त्यदर्शनं केवलात्मतत्त्वाकारेण दृढतया विज्ञान-स्यानुदयादिति द्रष्टव्यम् । अत एव, दृढेति मतिर्विशेषितेति ॥४५४॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतं विध्यसम्भवम् उपपादित-मुपसंहरति—

विज्ञाते ब्रह्मणि स्याद्विधिरयमफलः प्रत्यये तस्य तद्व-
न्नाज्ञातब्रह्मकर्मा विधिविषय इति प्रत्ययो बुद्धियोग्यः ॥
ब्रह्मात्मप्रत्ययेऽतो विधिरनवसरः सर्वथा चिन्त्यमान-
स्तस्माद् ब्रह्मात्मवस्तुन्यवसितमखिलं विद्धि वेदान्त-
वाक्यम् ॥ ४५५ ॥

विज्ञाते ब्रह्मणीति ॥ ब्रह्मणि विज्ञाते सति तस्य ब्रह्मणः प्रत्ययेऽयं विधिरफलः स्यादिति योजना । पुमर्थसिद्धेः कर्त्तव्यानवशेषादित्यभिप्रायः । तद्वत्तथा अज्ञातब्रह्मकर्मा प्रत्ययो विधिविषय इति न बुद्धियोग्य इत्यन्वयः । न ज्ञातुं शक्यो विषयास्फुरणे विधेरवगमस्याशक्यत्वादित्यर्थः ॥ ब्रह्मात्मप्रत्यये इत्युत्तरार्द्धं स्पष्टार्थम् ॥ ४५५ ॥

इतश्च न ब्रह्मज्ञाने विधिसम्भव इत्याह—

विरुद्धतिकस्य द्वयापत्तिदोषा-
न्न शक्यं विधानं धियः सङ्ग्रहीतुम ॥
यथा वाजपेये गुणस्येह तद्व-
त्ततो नास्ति वेदान्तवाक्ये विधानम् ॥ ४५६॥

विरुद्धत्रिकस्येति ॥ धियो विधानं सङ्ग्रहीतुं न शक्यं, विरुद्धत्रिकस्य द्वयापत्तिदोषादित्यन्वयः । प्रकृते ज्ञानविधौ विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिमुत्तरपद्ये वक्ष्यति । यत्र विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गस्तत्र विधिर्न्न सम्भवतीत्यत्रोदाहरणमाह ॥ यथा वाजपेये गुणस्येति ॥ अयमर्थः । वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेति श्रूयते । तत्र संशयः । किमयं गुणविधिरुत कर्मनामधेयमिति । गुणविधिरिति तावत् प्राप्तम् । वाजमन्नं तत् पेयमस्मिन्नस्तीति वाजपेयगुणविशिष्टतया प्रकृतज्योतिष्टोमस्यैव विधिसम्भवात् स्वाराज्यफलस्य गुणविधिनिबन्धनत्वोपपत्तेः । दध्नेन्द्रियकामस्येत्यादाविवेतिचेत् । अत्र ब्रूमः । नात्र गुणविधिरुपपद्यते विरुद्धत्रिकद्वयापत्तेः । तथाहि । यदा यागमुद्दिश्य वाजपेयगुणस्तस्मिन् विधीयते तदा यागस्योद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमिति त्रिकं प्राप्नोति । यदा पुनः स्वाराज्यफलमनूद्य तादर्थ्येन यागविधिस्तदा फलापेक्षया यागस्य तस्यैव उपादेयत्वं, विधेयत्वं, शेषत्वं चेति त्रिकं प्राप्नोति । तथाचोद्देश्यत्वोपादेयत्वयोरनुवाद्यत्वविधेयत्वयोः प्रधानत्वगुणत्वयोरेकस्मिन्नेकदा विरोधादेकेन वाक्येनोभयात्मत्वबोधानुपपत्तेर्न्नेदं वाक्यं गुणविधिपरं, किन्तु कर्मनामधेयमिति प्रमाणलक्षणे स्थितम् । दधिविधिवाक्ये तु उत्पत्तिसिद्धजुहोत्यनुवादेन दाधिविधिपरत्वात् संयोगपृथक्त्वाच्च न तत्र विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरिति द्रष्टव्यम् । यथा वाजपेयविधौ पूर्वपक्षे गुणविधौ विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरिहापि तद्वद्विद्याविधानेऽपि तदापत्तिः स्यादतो वेदान्तवाक्ये नास्तिविधानमित्यर्थः ॥४८६॥

विरुद्धत्रिकस्वरूपं तावदाह—

उद्दिश्यमानत्वमनूद्यमान-
भावप्रधानत्वमितीदमेकम् ॥

तथाप्युपादेयविधेयशेष-

भावप्रभेद त्रिकमन्यदत्र ॥ ४५७ ॥

उद्दिश्यमानत्वमिति॥सिद्धवन्निर्दिश्यमानत्वमुद्दिश्यमानत्वम् । अनुपादेयत्वमित्यर्थः । अनूद्यमानभावोऽनुवाद्यत्वम् । प्रधानत्वं शेषित्वम् । इत्येकं त्रिकम् । तथात्रान्यत् त्रिकमिति सम्बन्धः । अपिशब्दात्त्रिकयोर्यथासंख्यं विरोधस्फोरणार्थः । उपादेयत्वमुद्देश्यत्वविरुद्धम् । अनुष्ठेयत्वमिति यावत् । पुरुषस्य कृतिर्ह्युपादानं, सा च किञ्चिदुद्दिश्य किञ्चिद्गोचरीकृत्य भवति। यथा स्वर्गादिफलमुद्देश्यं सिद्धवन्निर्दिश्य तेनोपादीयते देशकालादि च । तदवच्छेदेन च साध्यतया निर्देश्यं सर्वमुपादेयम् । यथा यागादि । तथाच पुरुषकृतिसाध्यत्वासाध्यत्वाभ्यामनयोर्विरोधः सुप्रसिद्धः । विधेयत्वमनुवाद्यत्वविरोधि प्रमेयत्वम् । पूर्वसिद्धं ह्यनूद्यते असिद्धं च प्रमीयत इत्यनयोरपि सिद्धसाध्यभावो विरोधः । शेषशेषिणोश्चोपकारकत्वोपकार्यत्वाभ्या भेदे सति स्वरूपविरोधः प्रसिद्ध एव । तदेवमनयोस्त्रिकयोरेकत्र विरोधादेकेन वाक्येन न क्वचित्प्रतीतिरुपपद्यत इति तात्पर्यार्थः॥४५७॥

ज्ञानविधिपक्षे कथं विरुद्धत्रिकागम इत्यत आह—

एकेन वाक्येन धियो विधानं

प्रत्यक्प्रमित्सा च यदि प्रतीचि ॥

त्रिकद्वयं तत्र विरुद्धमेतत्

प्रसज्ज्यते कष्टमतः किमन्यत् ॥ ४५८ ॥

एकेन वाक्येनेति॥ यद्येकेन वाक्येनात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादिनात्मतत्त्वधियो विधानं प्रत्यगात्मनः प्रमित्सा स्व-

रूपावधारणेच्छा चाभिमता तत्र तदा प्रतीच्यात्मनि एतद्विरुद्धं त्रिकद्वयं प्रसज्ज्यते । अतः किमन्यत्कष्टम् । वाक्यस्याप्रामाण्यापत्तेरित्यर्थः ॥ ४५८ ॥

आत्मनि कस्मिन् पक्ष एकं त्रिकं, कस्मिंश्चापरमित्यपेक्षायामाह—

उद्दिश्यमानं तदनूद्यमान-
भूतं प्रधानं च धियो विधाने ॥
प्रमीयमाणं पुनरात्मवस्तु
तदास्पदं स्यादितरत्रिकस्य ॥ ४५९ ॥

उद्दिश्यमानमिति॥ तदात्मवस्तुधियो विधाने ज्ञानविधिपक्षे उद्दिश्यमानमनूद्यमानभूतं प्रधानं चेति त्रिकात्मकं स्यात् । तदेवात्मवस्तु प्रमीयमाणं पुनरितरत्रिकस्यास्पदं स्यादिति योजना । एतदुक्तं भवति । आत्मानं जानीयादित्यात्मतत्त्वमुद्दिश्य तदनूद्य तच्छेषतया च यदा ज्ञानं विधेयं तदा उद्देश्यत्वादित्रिकं तत्र भवति । आत्मनः प्रमीयमाणत्वे पुनरुपादेयत्वादित्रिकं प्रविशति। तद्यथा,मोक्षकाम आत्मानं जानीयादिति विधिस्वरूपे प्रत्यगात्मविशेषितज्ञानविषयके मोक्षोद्देशेन विधेयज्ञानविषयतयात्मनो विधेयत्वादुपादेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि प्राप्नुयुः । यद्यप्यात्मनोऽनुष्ठेयत्वरूपमुपादेयत्वं नास्ति । तथाऽपि मोक्षोद्देशेन प्रवृत्तायाः कृतेः प्रत्यग्ज्ञानसाधनविषयायाः प्रत्यगात्मतत्त्वानुभवपर्यन्तमनुपरमात् सैवानुभवद्वारा प्रत्यग्विषये भवतीत्यनुष्ठेयत्वमुच्यते । शेषत्वं तु मोक्षसाधनज्ञानविशेषणत्वादुपपन्नम् । विधेयत्वं चास्यात्मनः प्रमेयत्वम् । विधेरज्ञातज्ञापनरूपत्वादिति द्रष्टव्यम् । यदा त्वात्मनः प्रमेयत्वमपि तदा ज्ञानं

प्रति तस्योद्देश्यत्वानुवाद्यत्वशेषित्वानि प्राप्नुयुः । तदेतद् दुर्घटमिति ॥ ४५९ ॥

वाजपेये दृष्टान्ते विरुद्धत्रिकद्वयमुक्तमुपपादयति–

प्रथमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
गुणसंगतेरवगमे भवति ॥
चरमत्रिकं यजिनिगद्यगतं
फलसंगतेरवगमे तु पुनः ॥ ४६० ॥

प्रथमत्रिकमिति ॥ वाजपेयेन यजेतेति वाक्येन वाजपेयाऽऽख्यगुणसंगतेरवगमे गुणविधिपरत्वाभ्युपगमे यजिनिगद्यगतं यागगतं प्रथमत्रिकमुद्देश्यत्वानुवाद्यत्वप्रधानत्वरूपं भवति । तथा फलसंगतेरवगमे स्वाराज्यफलोद्देशेन यागविध्यभ्युपगमे तस्मिन्नेव यजिनिगद्ये चरमत्रिकमुपादेयत्वविधेयत्वशेषत्वरूपं संगतं भवतीति योजना ॥ ४६० ॥

किमतः सिद्धं भवतीत्यपेक्षायां विरुद्धयोस्त्रिकयोरेकत्र यौगपद्याप्रमितेर्वाक्याप्रामाण्यं सिद्ध्यतीत्याभिप्रेत्याह–

सकृदुच्चरन् यजतिरेष गुणं
न फलं च सङ्गमयितुं क्षमते ॥
कथितत्रिकद्वयविरोधवशाद्
यजिवस्तुनीति ननु नीतिविदः ॥ ४६१ ॥

सकृदुच्चरन्निति ॥ एष यजतिः सकृदुच्चरन्नुच्चार्यमाणो यजिवस्तुनि यागस्वरूपे गुणं फलं च संगमयितुं संगतमवगमयितुं न क्षमते । कुतः ॥ कथितत्रिकद्वयविरोधवशादिति ॥ ननु नीतिविदो वदन्तीति योजना ॥ ४६१ ॥

तदेवमात्मज्ञानविधौ विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिं दृष्टान्तोक्तिपूर्वक-मुपपाद्य तत्फलमाह—

इति वाजपेयगतनीतिवशा-
दपि नात्मवस्तुविषयावगतौ ॥
विधिरस्ति तेन विधिशून्यतया
परमात्मवस्तुविषयोपनिषत् ॥ ४६२ ॥

इति वाजपेयेति ॥ वाजपेयवाक्यप्रवृत्तिपर्यालोचनाद-प्यात्मवस्तुविषयावगतौ आत्मप्रमितौ विधिर्नास्तीत्यन्वयः ॥ विध्यसंभवे सिद्धमर्थमुपसंहरति ॥ तेनेति ॥ ४६२ ॥

तदेवं ज्ञानविधिपरा वेदान्ता इति पक्षं निराकृत्योपासना-विधिपरा वेदान्ताः स्युः, कथं विधिशून्यतया ब्रह्मात्मवस्तु-विषयोपनिषदित्येकदेशिमतान्तरमाशङ्क्य उपासनावाक्यानां न शेष्यर्थपरत्वमिति(१) प्रतिपादयति—

सगुणवाक्यमपीह समन्वितं
भवति निर्गुणवस्तुनि सर्वशः ॥
न खलु निर्गुणवस्तुसमन्वयं
न सहते सगुणेऽस्य समन्वयः ॥ ४६३ ॥

सगुणवाक्यमपीति ॥ सर्वशः सर्वमपि सगुणवाक्यमिह निर्गुणवस्तुनि समन्वितं भवति, न विपरीतमित्यर्थः । कथमि-त्यत आह ॥ न खल्विति ॥ यद्यपि सगुणवाक्यं सगुणपरमिव प्रतिभाति, तथापि सगुणे समन्वयस्य निर्गुणे समन्वयाविरो-

---

(१) न सगुणशेषिपरत्वम् ॥

धात् । सगुणवाक्यं निर्गुणे समन्वयं न सहत इति न खलु, किन्तु सहत एवेत्यर्थः ॥ ४६३ ॥

कथमित्थं व्यवस्थास्थीयते, विनिगमनाया हेत्वभावादिति-चेत्तत्राह—

सत्यासत्यवपुस्तथाहि सगुणं ब्रह्मास्य विद्या तथा
तद्वत्तद्विषयस्य वेदवचसस्तात्पर्य्यमेवंविधम् ॥
तेनावान्तरमस्य वेदवचसस्तात्पर्य्यमन्यादृशं
चान्यन्निर्गुणवस्तुतत्त्वविषय संकीर्त्यते भागशः ॥४६४॥

**सत्यासत्यवपुरिति** ॥ यत् सगुणं ब्रह्म तत् सत्यासत्य-वपुः । यतः स्वरूपतः सत्यं सद् ब्रह्म अविद्यातत्कार्योपाध्युप-धानवशात् सगुणं ब्रह्म भवति । अतः सत्यासत्यवपुः सगुणं ब्रह्मेत्यर्थः । तत्र श्रुतिप्रसिद्धिं प्रमाणयति ॥ तथाहीति ॥ तथाहि श्रुतिः— सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः, वाक् पादः प्राणः पाद-श्चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कलेत्याद्या । न हि निरञ्जनस्य निरवयवस्य असङ्गकूटस्थात्मनो ब्रह्मणः स्वतः पादा वा कला वा कामादिर्वा विशेष उपपद्यत इति । तथा, यथा ब्रह्म सगुणं सत्यासत्यवपुस्तथाऽस्य विद्या सगुण-ब्रह्मविषयाऽविद्या सत्यासत्यवपुरित्यर्थः । यथाविषयं हि ज्ञान-मिति तदपि तथेति भावः । यथा विषयतज्ज्ञाने तद्वत्तद्विषयस्य सगुणब्रह्मविषयस्य वेदवचसस्तात्पर्य स्वार्थप्रामाण्यलक्षणमेवं-विधं सत्यासत्यवपुरित्यर्थः । सत्यासत्यशबलितविषयत्वादिति भावः । यत एवं तेन हेतुनाऽस्य सगुणब्रह्मविषयस्य वेदवचसो वेदवाक्यस्य तात्पर्यमवान्तरसंज्ञितमन्यादृशं निर्गुणवाक्यतात्प-र्याद्विलक्षणं सत्यानृतशबलविषयामित्यर्थः । चस्त्वर्थः । निर्गुण-

वस्तुतत्त्वविषयं तु तात्पर्यमन्यदन्यादृशं परमार्थैकरसवस्तुविषय-मिति भागशो विभागेन संकीर्त्यते श्रुतिषु सूत्रशास्त्रेषु चेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । यद्यपि सगुणवाक्यानामुपासनाविषयाणामुपा-सनाविधिपरत्वादुपास्यस्वरूपपरत्वं नास्ति, उभयपरत्वे वाक्य-भेदप्रसङ्गात् । तथा निर्गुणवस्तुप्रकरणस्थानामपि सविशेष-वाक्यानामपवादशेषाध्यारोपविषयत्वाद्विशेषे तात्पर्यं नास्ति।तथा-ऽपि विशिष्टस्य तेषु प्रतीयमानत्वादन्यतश्चाप्रमितत्वाद्विशिष्टेऽपि वस्तुनि तात्पर्यमङ्गीक्रियते विशिष्टस्य स्वरूपाव्यभिचारादतो विशिष्टविषयं तात्पर्यं विशेष्यस्वरूपमपि स्पृशतीति कृत्वा विशिष्ट-विषयं स्वरूपविषयं चेति प्रकरणविभागेन विशिष्टविषयमवा-ऽन्तरतात्पर्यं स्वरूपविषयं, महातात्पर्यमिति च विभागेनोच्यत इति ॥ ४६४ ॥

ननु सत्यासत्ययोर्विरुद्धस्वरूपयोः कथं वैशिष्ट्यमितिचेन्नायं दोषो, दृष्टत्वादित्याह—

रूप्यज्ञानं रजतमिदमित्येवमुत्पद्यमानं
सत्यासत्यं विषयमपृथग्दर्शयत्येकमेव ॥
तद्वन्मानं सगुणविषयं सत्यमिथ्यावभास
संसृष्टार्थद्वयमतिदृढं दर्शयत्येकमेतत् ॥ ४६५ ॥

रूप्यज्ञानमिति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् । नचैवं सति शुक्तिरजतज्ञानवत् सगुणज्ञानस्य मिथ्याज्ञानत्वात् सगुणवाक्य-स्याप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम् । गुणवैशिष्ट्यस्यापि व्यावहारिक-सत्यत्वाद् व्यावहारिकप्रामाण्योपपत्तेश्चोदनाया इव धर्माधर्म-योः, स्वार्थे प्रत्यक्षादीनामिव च । तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव सगुण-वाक्यस्य सगुणे तत्त्वे प्रामाण्यं, किन्तु तस्यापि निर्गुण एव पर्यव-

सानम्। सगुणं तु कल्पितमेव निर्गुणवस्तुप्रतीत्यङ्गतयानूद्यते। अतो न कोऽपि विरोध इति गमयितव्यम् ॥ ४६५ ॥

सगुणवाक्यं सत्यासत्यविषयकं, तथात्वेऽपि तस्य नाऽप्रामाण्यमित्युक्तम्। तत्रेदमाशङ्क्यते।वाक्यस्य सत्यासत्यपरतया तात्पर्यद्वैविध्यमिष्यते। विशिष्टस्वरूपयोरन्यतरस्मिन्नेवैकं तात्पर्यमिति। तत्राद्ये वाक्यभेदप्रसङ्ग एको दोषोऽपरश्चाशक्यप्रत्ययत्वम्। यथा, सोमेन यजेतेत्यादौ विशिष्टैक्यपरत्वव्यतिरेकेण न विशेषणे विशेष्ये वा तात्पर्यं प्रत्येतुं शक्यते। तथा सति वाक्यस्य विशिष्टपरत्वायोगात्। तथा अत्रापि गुणविशिष्टब्रह्मपरत्वव्यतिरेकेण सगुणे परित्यक्तगुणे च ब्रह्मणि न तात्पर्यमवगन्तुं शक्यते। तदा विशिष्टविषयत्वासंभवादुपास्यत्वाद्यप्रतीतावुपासनाद्यसिद्धिप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽन्यतरस्यासिद्धिः। गुणविशिष्टैकवस्तुपरत्वे केवलस्वरूपासिद्धिः॥ केवलस्वरूपपरत्वेऽन्यासिद्धिरिति तत्राह—

> तद्बुद्धिमात्रफलतैव च तत्परत्वं
> वेदान्तवादिसमये न तु शेषभावः॥
> शेषत्वमक्षरकलापगताप्तिमात्रं
> प्रत्येव नाध्ययनमर्थधियोऽपि शेषः॥ ४६६ ॥

तद्बुद्धिमात्रफलतैवेति॥ तस्मिन्नर्थे बुद्धिस्तद्बुद्धिः, तदेव फलं यस्य वाक्यस्य तत् तद्बुद्धिमात्रफलं, तस्य भावस्तत्ता। इदमेव वाक्यस्य तत्परत्वं वेदान्तवादिसमये मतं, न तद्व्यवधानेन बुद्ध्यन्तरमिति योजना। ननु शेषत्वं तात्पर्यं मीमांसका इच्छन्ति, तत् कथं भवद्भिर्नानुमन्यते तत्राह॥ न तु शेषभाव इति॥ तात्पर्यं मतमिति योज्यम्। शेषत्वं तात्पर्यं चेत्तदेकस्योभयं प्रति शेष-

त्वायोगात् सगुणे निर्गुणे चैकस्य वाक्यस्य तात्पर्यं विरुध्येत । फलं त्वेकस्यापि वाक्यस्यानेकमपि न विरुध्यते । तत्रोदाहरणं वक्ष्यत इति ॥ ननु शेषत्वं चेन्न तात्पर्यं, कथं तर्ह्यध्ययनस्यार्थाऽवबोधशेषतया तत्तात्पर्यकत्वं मीमांसकैरिष्यत इतिचेद्, इष्यतां नाम तैस्तथा, नास्माभिरध्ययनाङ्गत्वमर्थावबोधस्याऽभ्युपेयते । अक्षरावाप्तेरेव तथात्वाङ्गीकारादित्याह ॥ शेषत्वमक्षरेति ॥ अर्थाव बोधस्यानुष्ठानाद्याक्षिप्ततयैव सिद्धेर्न तत्राध्ययनं विधिना विनियुज्यत इति भावः ॥ ४६६ ॥

ननु यद्यर्थबोधं प्रति स्वाध्यायाध्ययनस्य शेषत्वं न स्यात्तर्हि नार्थावबोधस्तस्य फलमपि स्यादितिचेन्मैवम् । तच्छेषत्वं विनाऽपि तत्फलत्वदर्शनादित्युदाहरणेनाह—

तच्छेषभात्रमनपेक्ष्य च तत्फलं स्या-
दाधानवन्न हि तदङ्गमिह क्रतूनाम् ॥
अग्न्यङ्गमेव हि तदिष्टमथापि तस्य
सर्वक्रतुष्वधिकृतिः फलमभ्युपेतम् ॥ ४६७ ॥

तच्छेषभावमनपेक्ष्येति ॥ अप्यर्थे चकारः । अनपेक्ष्याऽपीत्यर्थः । आधानवदित्युक्तं दृष्टान्तं स्पष्टयति, न हीत्यादिना ॥ श्रुत्यादेर्वा प्रकरणादेर्वा विनियोजकप्रमाणस्यात्राभावात्तदभावे च क्रत्वङ्गत्वानिश्चयादित्यर्थः । तर्हि किमाधानं न कस्याप्यङ्गमेव ? नेत्याह ॥ अग्न्यङ्गमेव हि तदिष्टमिति ॥ व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यत्र प्रोक्षणस्य व्रीह्यर्थत्ववदग्नीनादधातीति द्वितीयाश्रुतेराधानस्याप्यऽग्न्यर्थत्वावगमात् । अत एव फलान्तरकल्पनाया अनवकाश इत्यऽग्न्यङ्गत्वमेवाधानस्येत्यर्थः । तर्हि निष्प्रयोजनमेवाधानं स्यादग्निनिष्पत्तेरफलत्वादितिचेत्तत्राह ॥ अथापीति ॥ यद्यप्याधान-

निबन्धनं किमपि फलं साक्षान्नास्ति, अथापि तस्याधानस्य सर्व-क्रतुष्वधिकृतिः पुरुषस्याधिकारसिद्धिः फलमभ्युपेतं मीमांसकै-रपीति शेषः । आहवनीयादीनामग्नीनां क्रत्वङ्गत्वात् क्रतुनि-ष्पादनद्वारेण क्रतूपकारादाधानस्याग्निद्वारा क्रतुफलत्ववदधीत-स्वाध्यायस्यार्थावबोधहेतुत्वात् स्वाध्यायावाप्तिद्वारेणाध्ययनस्या-ऽर्थावबोधफलत्वोपपत्तेर्नाङ्गत्वकल्पनेति भावः ॥ ४६७ ॥

यद्येवं तद्बुद्धिमात्रफलत्वं तत्परत्वं तर्हि मन्त्रार्थवादाना-मपि तत्परत्वप्रसङ्गस्तेषामपि स्वार्थबुद्धेः कार्यत्वात्, कार्यस्य च कारणं प्रति फलत्वादितिचेन्नेत्याह—

मन्त्रार्थवादगतमध्ययनं तदर्थ-

मात्रप्रतीतिफलमित्यपि नाभ्युपेतम् ॥

विध्यर्थबुद्धिमनुसृत्य फलावसानां

सा तद्वतीति तदतत्परतोपपत्तिः ॥ ४६८ ॥

मन्त्रार्थवादेति ॥ नाऽभ्युपेतं जैमिनीयैरिति शेषः । मन्त्रार्थवादयोः स्वार्थबुद्धेः पुमर्थानुपयोगित्वेनानाकाङ्क्षिततया फलत्वासम्भवादफले च तात्पर्यानुपपत्तेरित्यर्थः । कथं तर्हि तयोः प्रामाण्यमिति तत्राह ॥ विध्यर्थबुद्धिमिति ॥ विध्यर्थबुद्धि-र्हि पुमर्थसाधनविषयत्वेन फलवती । आकाङ्क्षितविषयत्वात् । तथाच फलावसाना विध्यर्थबुद्धिमनुसृत्य सा मन्त्रार्थवाद-जनिता बुद्धिस्तद्वती फलवतीति तदतत्परतोपपत्तिर्विध्यर्थप्राश-स्त्यादिद्वारेण विध्यर्थपरत्वं तत्परत्वं तात्पर्यवत्त्वमुपपद्यते । स्वार्थे च फलाभावादतत्परत्वं चेत्यर्थः । तद्बुद्धिमात्रफलतैव तत्परत्वमित्यत्र मन्त्रादिव्यावृत्त्यर्थं मात्रपदमिति ज्ञेयम् । प्रयो-जनवती हि बुद्धिर्वाक्यस्य फलं, नेतरेति भावः ॥ ४६८ ॥

ननु वाक्यजन्यत्वे समाने बुद्धेः प्रयोजनवत्या फलत्वं, नेतरस्या इत्येतत् कथमवगम्यत इतिचेद् वृद्धव्यवहारादित्याह—

सप्रयोजनकबुद्धिकारणं
वाक्यमाहुरिह तत्परं बुधाः ॥
सप्रयोजनकबुद्धिशेषधी-
हेतुमन्यपरमाश्रयन्ति च ॥ ४६९ ॥

सप्रयोजनकेति ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् ॥ ४६९ ॥

यद्येवं प्रयोजनवद्बुद्धिर्वाक्यस्य फलं तत्फलत्वमेव तत्परत्वं, न स्वार्थबुद्धिमात्रं वाक्यफलं तथा । तर्हि कथमङ्गवाक्यानां स्वार्थबुद्धिः फलं स्यादितिचेत् कश्चिद् ब्रूयात्तदाऽयं समाधिर्बोद्धव्यः— आकाङ्क्षितार्थबुद्धेर्वाक्यफलत्वादङ्गवाक्यानाचप्रधानाकाङ्क्षितेत्थम्भावसमर्पकत्वेन ताद्धियः फलत्वादस्ति तद्वाक्यानां स्वार्थे तात्पर्यम् । न चैवं सति प्रधानविधिशेषार्थत्वानुपपत्तिः । साक्षात्पुमर्थाकाङ्क्षया तदुपेतवाक्यान्तरार्थशेषतया तत्रैव महातात्पर्येऽपि स्वार्थविषयेऽवान्तरतात्पर्यमिति व्यवस्थोपपत्तेः । साङ्गस्यैव कर्मणः फलवत्त्वादङ्गप्रधानाविषयं सर्वमेव वाक्यं स्वाऽर्थे फलवन्न तथार्थवादादिवाक्यं, तस्यारादुपकारकत्वेऽप्यनुष्ठानाऽङ्गत्वाभावादित्यङ्गवाक्यानामर्थवादादिवाक्यानां च विशेष इति ॥ एवं मन्त्रार्थवादानां न स्वार्थे तात्पर्यमित्युक्तस्योत्सर्गस्यापवादं बादरायणमतमाश्रित्याह—

मन्त्रार्थवादवचसामपि गोचरेषु
सौत्रेष्ववान्तरमुशन्ति च तत्परत्वम् ॥
केचित् त्रयीशिरसि खिन्नधियो मुनीन्द्रा-

स्तत्ताद्धियो विधिषु शेषतया निवेशात् ॥४७०॥

**मन्त्रार्थवादवचसामपीति** ॥ सौवेषु स्वकीयेषु गोचरेषु मन्त्रार्थवादवचसामपि तत्परत्वं त्रयीशिरासि खिन्नधियः क्षुण्णधियः केचिन्मुनीन्द्रा उशन्ति जानन्त्यङ्गीकुर्वन्तीति योजना। मन्त्रार्थवादानां न स्वार्थपरत्वं तेषां विधिपरत्वादिति शङ्कावारणायाऽवान्तरमिति विशेषणम् । एतदुक्तं भवति—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते ।

भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधामत, इति न्यायेनोक्तत्वाद्गुणवादानुवादयोःस्वार्थपरत्वाभावेऽपि भूतार्थवादेषु प्रमाणाऽन्तरविरोधतत्पूर्वकत्वयोरभावादस्ति स्वार्थपरत्वम् । तथापि स्वार्थबुद्धेरनाकाङ्क्षितार्थत्वात् साक्षात्फलवत्त्वाभाव इत्यवान्तरतात्पर्यं स्वार्थेऽभ्युपगम्यते । अन्यथा, यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्निति ध्यानविधेर्ध्येयविषयाकाङ्क्षित्वात्तस्य चान्यतोऽसिद्धेः शब्दमात्रस्याध्येयत्वाच्च ध्यानविध्यसिद्धिप्रसङ्गोऽतः स्वार्थस्यानन्यलभ्यतया तात्पर्यगोचरत्वमिति ॥

नन्वेवमपि स्वार्थबुद्धेः फलत्वान्मन्त्रार्थवादाना तद्बुद्धिमात्रफलत्वं तात्पर्यं न लभ्यत इति तत्राह ॥ तत्ताद्धिय इति ॥ देवताविग्रहवत्त्वादिधिय इत्यर्थः । विधिषु स्वर्गाद्यर्थयागादिविधिष्वित्यर्थः ॥ शेषतयेति ॥ यस्यै देवताया इति प्रयोगोपयोगितया तत्तत्स्वर्गादिफलविशिष्टविध्यर्थप्रतिपत्त्युपयोगितया वा शेषतया निविष्टत्वादित्यर्थः । तदेवमुक्तविधया स्वार्थधियः फलवत्त्वात्तद्बुद्धिमात्रफलत्वमेव सर्वत्र तात्पर्यं, न शेषभाव इति व्यवस्थितमेवैतदिति भावः ॥ ४७० ॥

उक्तन्यायेन सगुणवाक्यानामपि निर्गुणे ब्रह्मणि महातात्पर्य,गुणविशिष्टे तस्मिन्नवान्तरतात्पर्यम्,उपासनावाक्यगतानां तु विधिपदानां स्वार्थ एव तात्पर्यं, न ब्रह्मणि । तत्प्रत्यायकत्वाभावात्तेषाम् । विहितोपासनानां तु चित्तैकाग्र्यसंपादनद्वारा ब्रह्मावगत्युपयोगित्वादिति कर्मकाण्डानां नियोगनिष्ठत्वेऽपि सर्वेषां वेदान्तानां निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेव, न नियोगस्पर्शित्वं, भावनास्पर्शित्वं वा । कर्मकाण्डेऽपि प्रतिषेधचोदनाना न नियोगनिष्ठत्वमितीयता प्रबन्धेन प्रतिपादितम् । इदानी कर्मकाण्डेऽपि न नियोगो भावना वा भावी, किमु वेदान्तेष्विति वक्तुं पूर्वोक्तमाकर्षति तद्गतविशेषनिरूपणाय—

श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति च प्रागुक्तमत्यादरा-
च्छ्रेय साधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठं ततः ॥
सर्वं कर्मवचो नियोगपरता तस्यापि नालोचने
वक्तव्या किमुतास्य वेदशिरसः सा नेति भूयोऽपि नः
॥ ७७१ ॥

**श्रेयःसाधनतेति** ॥ यतः श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति प्रागस्माभिरत्यादराद्युक्तिभिरुपपाद्योक्तम् । चोऽवधारणे । उक्तमेवेति संबध्यते । अतः सर्वं कर्मवचः श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थैकनिष्ठम् । न नियोगनिष्ठमिति योजना । यदैवं तस्यापि कर्मकाण्डस्याप्यालोचने निरूप्यमाणे न नियोगपरता लभ्यते, भावनापरता वा तदा भूयोऽपि पुनरपि किमुत वक्तव्यमस्य वेदशिरसः सा नियोगादिपरता नास्तीति नोऽस्माकमाकूतमित्यर्थः ॥ ४७१ ॥

नचास्माकमेवेदमाकूतमपि तु, जैमिनेः सूत्रकारस्य तत्सूत्र-

भाष्यकारस्य चास्मद्विवक्षानुसारित्वदर्शनात्तद्भाष्य इत्याह—

श्रेयःसाधनयागदानहवनाद्यर्थेषु कार्य्यात्मसु
सर्व्वं कर्मवचः प्रमाणमिति तु ग्राह्यं वचो जैमिनेः ॥
भाष्यं पश्यत शाबरं स्फुटतर यो यागमित्यादिकं
श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं धर्माभिधानं वदत् ॥४७२॥

श्रेयःसाधनयागेति ॥ जैमिनेराचार्यस्याऽथातो धर्मजिज्ञासा, चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यत्र यद्धर्मवचस्तत्कार्यात्मसु साक्षात्कृतिसाध्येषु श्रेयःसाधनयागाद्यर्थेषु प्रमाणं ग्राह्यं न नियोगे, भावनाया वेति योजना । प्रयत्नपरतन्त्रश्रेयःसाधनाविषय एव सौत्रधर्मशब्दो विवक्षितोऽवगन्तव्य इत्यर्थः । कुत इत्यत आह ॥ भाष्यमिति ॥ यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इत्याचक्षत इत्यादिकं शाबरं भाष्यं सौत्रधर्मपदव्याख्यानपरं स्फुटतरं संदेहविपर्ययशङ्काकलङ्करहितं यथा स्यात्तथा सूत्रगतधर्माभिधानं श्रेयःसाधनयागमात्रवचनं वदत् पश्यतेति योजना । भाष्यकारेण सौत्रधर्माभिधानस्य श्रेयःसाधनयागादिवाचकत्वेन व्याख्यातत्वात् सूत्रकारस्याप्येषोऽर्थो विवक्षित एवेति गम्यत इत्यर्थः ॥ ४७२ ॥

ननु, धर्म इति द्वितीयसूत्रे पुँल्लिङ्गप्रयोगस्य स्पष्टत्वात् क्रियावाचित्वमवगन्तुं न शक्यते । अपूर्ववाचित्वमेव हि तदा युक्तम् । वैदिकप्रयोगेषु, धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्नित्यादिष्वपूर्वे पुँल्लिङ्गतया क्रतौ च नपुंसकलिङ्गतया प्रयोगदर्शनादितिचेत् तत्राह—

पुँल्लिङ्गताऽपि घटते क्रतुगामिनोऽस्य

सूक्ष्मात्मना भवति हि क्रतुरप्यपूर्वम् ॥
तेन क्रतोरुपचरन्नभिदां पुमान् स्यात्
क्लीबस्तु धर्ममिति हि क्रतुवाचकत्वे ॥ ४७३ ॥

पुँल्लिङ्गताऽपीति ॥ अस्य धर्मशब्दस्य क्रतुगामिनोऽपि पुँल्लिङ्गता घटते । हि यस्मात् क्रतुरपि क्रतुरेव सूक्ष्मात्मनाऽपूर्व भवति । ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः, पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचस इति च श्रुत्योः फलारम्भकाऽपूर्वस्य क्रियापरिणामत्वावगमादित्यर्थः । तेन हेतुना क्रतोरभिदामुपचरन् पुमान् स्यात् । कार्यकारणयोरभेदोपचारात् क्रतावपि धर्मशब्दः पुँल्लिङ्गः स्यादित्यर्थः । केवलक्रतुवाचकत्वे तु धर्ममिति क्लीबः स्यात् । तथाच फलसाधनत्वाकारविहितक्रियावाची धर्मशब्दःसूत्रभाष्ययोर्नानुपपन्न इत्यर्थः ॥ ४७३ ॥

ननु श्रेयःसाधनक्रियाया विधिवाक्यार्थत्वे क्रियाकाङ्क्षया स्वर्गकामपदस्य कर्तृसमर्पणार्थत्वं स्याद्, अधिकारपरत्वं न सिद्ध्येत् । तथाच स्वर्गकामाधिकरणविरोधः । तत्र स्वर्गकामपदस्याधिकारिपरत्वनिर्णयादितिचेन्नेत्याह—

इष्टाभ्युपायवचनो लिङिति स्थितौ च
स्याद्भावनावचनतास्य यदा तदा च ॥
कर्तुर्भवेदधिकृतिस्तु नियोगवादे
स्वाम्ये स्थिते सति भवेदथ कर्तृभावः ॥४७४॥

इष्टाऽभ्युपायवचन इति ॥ लिङ् इष्टाभ्युपायवचन इत्यस्मत्पक्षस्थितौ च परमस्य लिङो यदा भावनावचनता स्यात् तदा भट्टमते चाधिकृतिस्त्वधिकारः कर्तुर्भवेत् । प्रथमं

क्रियापेक्षया कर्तृत्वेनान्वितस्य क्रियासाध्यफलस्वाम्यादधिकारित्वेनान्वयो भवेत् । नियोगवादे तु स्वाम्येऽधिकारान्वये स्थिते सति अथानन्तरं कर्तृभावः कर्त्रन्वयो भवेदित्यर्थः । इदमिह विवक्षितम् । यदा नियोगो लिङर्थस्तदा तस्य विषयनियोज्याभ्यामेव तस्य प्रतीतेर्नियोगप्रतीत्यनुबन्धित्वेन नियोज्यतयैव प्रथमं पुमानन्वेति । ममेदं कार्यमिति प्रतिपद्यमानो हि नियोज्य उच्यते । यस्मादुक्तम्—

नियोज्यः सर्वकार्यं यः स्वकीयत्वेन बुद्ध्यते, इति ॥ स एव स्वर्गकामस्य ममाऽयं नियोग इति प्रतिपद्यमानोऽधिकार्युच्यते । श्रुतिनियोगस्यानिष्पन्नाकारत्वात्तन्निष्पत्तिमन्तरेण च स्वर्गादिफलासिद्धेर्नियोगस्य कार्यत्वे सति तस्य प्राग्विषयत्वेनावगतधात्वर्थस्य करणत्वेन सम्मतस्यानुष्ठानद्वारा नियोगनिष्पादकत्वात् कर्तृत्वं पश्चात् प्रतिपद्यत इति स एव कर्तोच्यत इति प्रक्रिया । यदा भावना लिङर्थस्तदा शब्दभावनाभाव्यार्थभावनायाः प्रयत्नस्य क्रियानुकूलतया तद्वतः प्रथमं कर्तृत्वेन क्रियायामन्वये सति फलकामिनः कर्तृत्वात् कर्तुरधिकार इति प्रक्रिया॥या तु क्रियायाः श्रेयःसाधनत्वं लिङर्थस्तदापि भावनावाद इव कर्तृत्वान्वयपूर्वक एकाधिकारान्वयोऽभ्युपगत इति भावनावादिभिरुक्त एव स्वर्गकामाधिकरणसिद्धान्तोऽस्माभिरभ्युपगम्यते। अतो नियोगानादरेऽपि नाधिकरणविरोधोऽस्माकं स्यात् । न चैकस्य द्विरन्वयासंभवश्चोदनीयो, नियोगवादिभिरपि स्वाम्यन्वयानन्तरं कर्त्रन्वयस्य स्वीकारात् केवल पौर्वापर्यमात्रे विरोधो,न त्वेकस्य द्विरन्वयकल्पनायामिति । स्वर्गकामाधिकरणे चाधिकारान्वयस्य कर्त्रन्वयात् प्राथम्यं नोक्तं प्रतीयते, किन्त्वऽधिकारिपरं फलपरं वा स्वर्गकामपदं, न कर्तृपरमित्येतावदेव

तत्रोक्तं गम्यते । यजेतेत्यत्र श्रेयःसाधनतावच्छिन्नस्य भावनाऽवच्छिन्नस्य वा धात्वर्थस्य कर्तुरर्थसिद्धत्वात् स्वर्गकामपदस्य फलपरत्वे चाधिकारान्वयोऽर्थसिद्धो भवति । कर्तुः क्रियायाः फलनिर्देशे तत्कामितया तत्र तस्याधिकृतत्वोपपत्तेः।नचैवमार्थिकत्वेऽधिकारान्वयस्य तात्पर्यगोचरत्वायोगः शङ्क्यः । अनन्यलभ्यत्वप्रयुक्तत्वात्तात्पर्यगोचरत्वस्य, न मुखतो गम्यमानत्वापेक्षा तस्येति श्रेयःसाधनता लिङर्थ इति वादे न कोऽपि विरोध इति ॥ ४७४ ॥

नन्वज्ञातज्ञापकत्वमप्रवृत्तप्रवर्त्तकत्वं च विधेः स्वरूपमाचक्षते, तत्रेष्टाभ्युपायत्वज्ञानस्याप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मकस्वरूपं विधिलक्षणं न विद्यते।उपायज्ञानमात्रात् प्रवृत्त्यदर्शनात् फलेच्छायाश्च सामान्यतः प्रवृत्तविषयत्वान्नियोगस्य त्वप्रवृत्तविषयत्वात्, कुर्विति साक्षात्प्रवर्त्तनारूपत्वाच्च युक्तं प्रवर्त्तकत्वमितिचेत्तत्राह—

इष्टाभ्युपायो विधिरात्मनीच्छा-
मुत्पादयन् प्रेरकतामुपैति ॥
इष्टाभ्युपायेऽवगते लिङादे-
रिच्छा फलादेनमुपैति सद्यः ॥ ४७५ ॥

**इष्टाभ्युपायो विधिरिति** ॥ फलेच्छुत्वात् सामान्यतः प्रवृत्तोऽपि य उपायाज्ञानादुपायविशेषे न प्रवृत्तस्तस्मिन्नात्मनि पुरुषे इष्टाभ्युपायो विधिरिच्छामुत्पादयन् प्रेरकताम् उपैतीति योजना । यद्वा, यथोक्तो विधिरात्मनीष्टाभ्युपाये पुरुषस्येच्छामुत्पादयन् प्रेरकतामुपैतीति योजना। तत्रोक्तेऽर्थे युक्तिमाह।।इष्टाऽभ्युपायेऽवगत इति।।यद्यपि फले रागः पूर्वमुत्पन्नोऽपि न प्रवर्त्तक उपायविशेषाज्ञानात्तथापि लिङादेः सकाशादिष्टाभ्युपायेऽव-

गते सति उपायविशेषे ज्ञाते सति फलात् सकाशादिच्छा एन-मुपायविशेषं प्रति सद्यस्तत्क्षणमेवैति । फलेच्छया साधनविशेष-मिच्छतः साधनविशेषज्ञानानन्तरं तत्रेच्छा जायते। सा तत्र पुरुषं पूर्वं फलेच्छामात्रदशायामप्रवृत्तं फलसाधनविशेषे प्रवर्त्तयतीतीष्टाभ्युपायाविधिपक्षेऽपि न लक्षणांशाभाव इति सिद्धम् । फले साधनेच्छा हेतुः, साधनेच्छा च प्रवृत्तिहेतुः । सा च साधनज्ञानाधीनेति भावः ।। ४७५ ।।

स्वपक्षे रागोत्पादनद्वारा विधेः प्रवर्त्तकत्वोपपादनेन शङ्कितं दोषं परिहृत्य यदुक्तं नियोगः साक्षात्प्रवर्त्तक इति, तदत्यन्ताऽसंभवीति दूषयति—

नियोगकोट्यापि नरो न कश्चि-
दिच्छां विना दुःखनिदानभूतम् ॥
करोति कर्मेह पुमर्थरागात्
प्रवृत्तिरेवेति हि राजमार्गः ।। ४७६ ।।

नियोगकोट्यापीति ।। नियोगकोट्या नियुज्यमानोऽपि नरः कश्चिदिच्छां विना न कर्म करोति । यतः कर्मकरणं दुःख-निदानभूतमिति योजना । तस्मादिह कर्मणि पुमर्थरागात्तत्प्र-युक्तसाधनरागादेव प्रवृत्तिरिति राजमार्गः सर्वदोषरूपपरिमोषि-रहितः पन्था इत्यर्थः । नियोगो हि नियुज्यमानविषये रागमु-त्पादयन्नेव प्रवर्त्तको,नतु रागवत्साक्षात्।ज्ञातेऽपि नियोगे राग-हीनस्य प्रवृत्त्यदर्शनात् । रागस्तु न नियोगमात्राद्भवति । तस्य दुःखात्मकत्वात्,किन्तु फलसाधनताबोधात्। तस्मात्फलरागिणो नियोगादपि साधने रागोत्पादादेव प्रवृत्तिर्न्न नियोगमात्रा-दिति स्थितौ स्वेष्टसाधनत्वज्ञानस्यावश्याभ्युपेयत्वात् तत एव

साध्यफलरागिण इच्छया प्रवृत्तिरित्यस्मिन् पक्षे न कोऽपि दोष इति भावः ॥ ४७६ ॥

नन्विष्टसाधनज्ञानस्य चन्द्रातपादावपि भावाद्रागद्वारेणापि न नियमेन प्रवर्त्तकतेति व्यभिचारमाशङ्क्याह—

इष्टाभ्युपायस्य च कार्यभावः
प्रयत्ननिष्पाद्यतयोपपन्नः ॥
स चावसेयो वचनाल्लिङादेः
प्रत्यक्षतो रागनिबन्धनस्तु ॥ ४७७ ॥

इष्टाभ्युपायस्येति ॥ कार्यभावो नियमेन कर्त्तव्यताप्रयत्ननिष्पाद्यतयोपपन्नः। प्रयत्ननिष्पाद्यत्वलक्षणकार्यत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वज्ञानस्य न प्रवर्त्तकत्वव्यभिचार इति भावः । उक्तलक्षणमिष्टसाधनत्वं कुतोऽवसीयते त्वयेति, तदाह ॥ स चेति । स उक्तलक्षण इष्टाभ्युपायस्य कार्यभावो लिङादेर्वचनाच्छब्दादवसेयो विज्ञेयः। रागनिबन्धनस्तु कार्यभावः प्रत्यक्षतो मानसप्रत्यक्षात् साक्षिप्रत्यक्षाद्वाऽवसेय इत्यक्षरार्थः । एतदुक्तं भवति । लिङादिशब्दो हि प्रवर्त्तकार्थवाचक इत्यऽविवादम् । तत्र कृत्युद्देश्यताविशिष्टं यत् कार्यत्वं परैः प्रवर्त्तकत्वेनाभिमतं तन्न लिङादिशब्दार्थः । तस्य चिकीर्षाविषयीकृतस्य प्रत्यक्षावसेयत्वाच्छब्दार्थत्वायोगात्। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थोऽभिमतः । तस्मादन्य एव प्रवर्त्तको लिङाद्यर्थः । स च प्रयत्ननिष्पाद्यत्वलक्षणकार्यताविशिष्टेष्टाभ्युपायः। सोऽपि ज्ञायमानः सन् प्रवर्त्तकस्तादृगुपायज्ञाने सति फलरागिणः प्रवृत्त्यवश्यम्भावात्तत्र चेष्टाऽभ्युपायांशस्यानन्यलभ्यतया लिङाद्यर्थत्वम् । प्रयत्ननिर्वर्त्त्यांशस्य तु यद्यपि स्वरूपेणानन्यलभ्यत्वं नास्ति तथापीष्टाभ्युपाय-

विशेषविशिष्टत्वाकारेण तदस्तीति सर्वथा प्रयत्नपरतन्त्रश्रेयः-साधनत्वमेव ज्ञायमानं प्रवर्त्तकं, तज्ज्ञानं च लिङादेरेवेति नास्मन्मते कोऽपि दोष इति ॥ ४७७ ॥

ननु कार्यत्वस्यैकत्वात् कथमित्थं विभागः । केवलं कार्यं प्रत्यक्षावसेयमिष्टाभ्युपायत्वविशिष्टं लिङाद्यवसेयमिति तत्राह—

कार्यत्वमिच्छावशवर्त्ति किञ्चि-
दिष्टाभ्युपाये निजमस्य किञ्चित् ॥
निजं लिङादेरवसेयमस्य
साक्षिप्रसादादितरप्रतीतिः ॥ ४७८ ॥

कार्यत्वमिति ॥ इष्टाभ्युपाये यागादौ किञ्चित् कार्यत्व-मिच्छावशवर्त्ति । यथा नियोगवादिनां कृत्युद्देश्यत्वरूपं कार्यम् । तत्रैवेष्टाभ्युपाये किञ्चिन्निजमसाधारणं कार्यत्वमस्ति, कृतिसाध्य-त्वरूपस्य कार्यत्वस्य स्वाभाव्यात् । तत्रास्य यन्निजं कार्यत्वं लिङादेरवसेयं तत् क्रियास्वभावत्वात् । क्रियायाश्चाख्याता-ऽवसेयत्वाल्लकारसामान्यवाच्यमित्यर्थः । इतरप्रतीतिः कृत्युद्देश्य-तारूपकार्यत्वप्रतीतिः, साक्षिप्रसादात् प्रत्यक्षत इति यावत् । चिकीर्षितत्वं हि कृत्युद्देश्यत्वम् । चिकीर्षा तु रागः। स जायमान एव नियतविषयः सन् साक्षिणावभास्यमान एव जायते, मनसा-ऽवसेयतया वेति प्रत्यक्षत इतरप्रतीतिरित्यर्थः ।। ४७८ ।।

कृतिसाध्यत्वविशिष्टमेवेष्टसाधनत्वं लिङर्थ इत्यत्र विद्वत्सं-मतिमाह—

जानात्यर्थे लिङ्पद गौणमाहु-
र्जानात्यर्थः कर्तृतन्त्रो न हीष्टः ॥

यागाद्यर्थे कर्तृतन्त्रे हि मुख्यो
लिङ्लोडादिः श्रेयसो हेतुभूते ॥ ४७९ ॥

**जानात्यर्थ** इति ॥ ज्ञाधात्वर्थे यल्लिङ्पदं प्रवर्त्तते जानीयादिति तद्गौणमाहुराचार्याः, अनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठीभवतीत्यत्र । तत्र हेतुमाह ॥ जानात्यर्थ इति ॥ साध्यत्वांशाभावात् प्रमाणवस्तुपरतन्त्रस्य ज्ञानस्य कृतिसाध्यत्वासंभवादित्यर्थः । तर्हि कुत्र लिङादिर्मुख्यस्तदाह ॥ यागाद्यर्थ इति ॥ कर्त्तृतन्त्र इति हेतुगर्भ विशेषणम् । श्रेयसो हेतुभूत इति विशेपणमुभयत्र योज्यम् ॥ ४७९ ॥

ननु जानात्यर्थे विधेरमुख्यत्वमिष्टसाधनत्वबोधासंभवादेव भवतु । इतरत्र च मुख्यत्वं तत्संभवादेवास्तु, किमिति तत्र कृतिसाध्यत्वांशभावाभावाभ्यां तथा कल्प्यत इति चेन्नैवमिष्टसाधनत्वांशबोधस्य जानात्यर्थेऽपि संभवादित्याह—

जानात्यर्थे श्रेयसो हेतुभाव-
भागोऽबुद्धो बोध्यते लिङ्पदेन ॥
यागाद्यर्थे श्रेयसो हेतुभावो
मुख्यो बोध्यः कर्तृतन्त्रे न गौणः ॥ ४८० ॥

**जानात्यर्थे श्रेयस** इति ॥ ज्ञाधात्वर्थेऽपि ब्रह्मज्ञानादौ श्रेयसो मोक्षादेर्हेतुभावभागःप्रागबुद्धो लिङा बोध्यते । तद्विजिज्ञासस्व, तमेवैकं जानथ आत्मानं, स म आत्मेति विद्यादित्यादिवाक्येषु लिङ्लोडादिपदैर्ब्रह्मात्मज्ञानस्य मोक्षरूपश्रेयःसाधनत्वं बोध्यते । तथापि तत्र कृतिसाध्यता नास्तीति तत्र लिङादिर्गौण इत्यर्थः । इतरत्र तु न गौणस्तस्य कर्त्तृतन्त्रत्वादेवेत्याह ॥ यागा-

द्यर्थे श्रेयस इति ॥ ४८० ॥

ननु ब्रह्मज्ञानस्य ज्ञेयावगतितन्निबन्धनसंसारनिवृत्तिरूपफल-साधनत्वस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यमानत्वान्नानवबुद्धताऽस्ति अतो न तत्र लिङादिभिः साधनत्वांशोऽपि बोध्यत इतिचेत् तत्राह—

याग्राद्यर्थे मुख्यता यद्वदस्य
ब्रह्मज्ञानस्यान्तरङ्गेषु तद्वत् ॥
तर्कादीनां कर्तृतन्त्रत्वहेतो-
र्ज्ञानादर्वाग्गौणताऽमुख्यभावात् ॥ ४८१ ॥

यागाद्यर्थे मुख्यतेति ॥ अयमर्थः । श्रुतवेदान्तस्य यद्यपि न लिङादेः साधनत्वावगमस्तथाप्यश्रुतवेदान्तस्य सामान्यत उक्तप्रकारेण साधनत्वप्रतीतावप्यनन्तरफलादर्शनाच्छङ्काग्रस्त-तया साधनत्वमबुद्धमिति शास्त्रबोध्यं तत् स्यात् । ब्रह्मज्ञानसाधने श्रवणादौ तु तादृशेऽपि कृतिसाध्यत्वस्यापि सत्त्वान्मुख्य एव लिङादिरिति । अक्षरयोजना तु– अस्य लिङादेर्यागाद्यर्थे यद्व-न्मुख्यता तद्वद्ब्रह्मज्ञानस्यान्तरङ्गे श्रवणादावपि मुख्यता । तत्र हेतुमाह ॥ तर्कादीनामिति ॥ कर्तृतन्त्रत्वहेतोर्यागादिवत् कृति-साध्यत्वांशस्य तत्र भावादित्यर्थः । मननादीनां कर्तृतन्त्रत्वं साधयति ॥ ज्ञानादर्वागिति ॥ आत्मसाक्षात्कारोदयात् प्राक्कर्तुः करोमीत्यभिमानस्य अनपायाच्छ्रवणादिविधौ लिङादेर्गौणत्व-कल्पनाया प्रमाणाभावादिति ॥ तथाच कृतिसाध्यत्वतदभा-वाभ्यामेव लिङादेर्मुख्यामुख्यत्वव्यवस्था, न श्रेयःसाधनत्वतद-भावाभ्यामिति निर्णयः ॥ ४८१ ॥

यद्येवं ब्रह्मज्ञानेऽपि लेशतो विधिरज्ञातश्रेयःसाधनत्वबोधा-

द्भवेच्छ्रवणादौ च सर्वात्मना मुख्यस्तर्ह्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादिविधिश्रवणाऽनुरोधेन विधिनिष्ठत्वमेव वेदान्तानामभ्युपेयं, न वस्तुनिष्ठत्वम् । भूतं भव्यायोपदिश्यत इति न्यायादितिचेत्तत्राह—

भूतस्य भव्याय यथोपदेशः

क्रियापरे वस्तुपरे तु काण्डे ॥

न ह्रीष्टमेवं विपरीतमस्मिन्

भव्यस्य भूताय सदोपदेशः ॥ ४८२ ॥

भूतस्येति ॥ वस्तुपरे तु काण्डे एवं न हीष्टमित्यन्वयः ॥४८२॥

कुत एवं विभागव्यवस्था । काण्डयोरुभयोरपि शब्दप्रमाणत्वाविशेषाद्वेदत्वाविशेषाच्चेति चेदर्थवशादित्याह—

भव्यप्रतीतावुपयोगभाजो

भवन्ति कात्स्न्येंन च सिद्धवादाः ॥

क्रियाप्रधाने न तथात्र किन्तु

भूतप्रतीतौ खलु भव्यवादाः ॥ ४८३ ॥

भव्यप्रतीताविति॥क्रियाप्रधाने काण्डे सिद्धवादा भव्यप्रतीतौ कात्स्न्येंनोपयोगभाजो भवन्ति भव्यशेषविषया एव भवन्ति । भव्यप्रतीतेरेव तत्र पुरुषार्थानुबन्धित्वाद् भूतप्रतीतेरफलार्थत्वात् फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायादित्यर्थः । ज्ञानकाण्डे विपरीतमेतदित्याह ॥ न तथात्रेति ॥ वैपरीत्यमेव विमृश्य स्फुटयति ॥ किन्तु भूतेति ॥ ४८३ ॥

किमित्येवमननुगमोऽभ्युपगम्यते, वेदान्तेष्वपि पूर्वकाण्ड-

तुल्यत्वाय भव्यनिबन्धन एव फलसम्बन्धः कल्प्यतामितिचेन्ना-ऽसम्भवादत्रेत्याह—

भव्यप्रतीतौ न हि कश्चिदर्थो
भूतप्रतीतौ पुनरस्ति मुक्तिः ॥
श्रोतव्य इत्यादि ततो विधानं
भूतोपदेशानुगुणं समस्तम् ॥ ४८४ ॥

**भव्यप्रतीतौ न हीति** ॥ वेदान्तेषु भव्यप्रतीतौ कश्चि-दर्थः पुरुषार्थो न हि दृश्यते श्रूयते वा ॥ नाऽपि कल्पयितुं शक्य-ते । कल्पकाभावादित्यर्थः । कथमित्यत आह ॥ **भूतप्रतीतौ पुनरस्ति मुक्तिरिति** ॥ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यादौ भूतब्रह्म-प्रतीतौ मुक्तिश्रवणाद्विद्वत्प्रत्यक्षभावाच्चास्य प्रामाणिकत्वे सति इतरत्र फलकल्पनया शेषित्वकल्पनाऽयोगादित्यर्थः । तस्मात् फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायेन वेदान्तेषु सर्वो विधि-स्तत्त्वमस्यादिभूतोपदेशशेष एवेत्युपसंहरति ॥ **श्रोतव्य इत्यादी-ति** ॥ ४८४ ॥

कथं वेदान्तेषु भव्योपदेशस्य भूतवस्तुप्रतीत्युपयोगप्रकार इत्यपेक्षायां तद्दर्शयन्, द्रष्टव्य इत्यादिविधौ, न विधौ परः शब्दार्थ इतिन्यायेन दर्शनस्यापि कर्त्तृतन्त्रत्वमेष्टव्यमित्येष पूर्व-पक्ष्याग्रहोऽपि निराकृत इत्याह—

आदाय मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्ती-
र्भव्यप्रतीतिजनकैः सह भूतवादाः ॥
संबन्धिनो विधिवचःसु तथात्र सर्वे
भव्यार्पणाः परिवृढप्रतिपादकेन ॥ ४८५ ॥

आदाय मुख्येति ॥ यथा विधिवचस्सु कर्मकाण्डे भूतवादा मुख्यगुणलाक्षणिकप्रवृत्तीरादाय भव्यप्रतीतिजनकैः सह सम्बन्धिनो भवन्ति तथात्र वेदान्तेषु सर्वे भव्यार्पणा भव्योपदेशाः परिवृढस्य प्रभोर्ब्रह्मात्मनः प्रतिपादकेन सह सम्बन्धिनो भवन्तीति योजना । एनदुक्तं भवति । भव्याभिधाय्याख्यातविरोधे नामपदानामर्थवादादिपदानां च तत्सम्बन्धसिद्धये क्रियाकाण्डे लक्षणाद्याश्रयणं युक्तम् । तत्र भव्यप्राधान्यात् । इह तु सिद्धब्रह्मप्राधान्यात्तदभिधायिना ब्रह्मादिपदेन तत्त्वमस्यादिवाक्येन वा अविरोधेन सम्बन्धसिद्धये विधयो लक्षणाद्यादाय पर्यवस्यन्ति । न विधौ परः शब्दार्थइति विधिशब्दोऽपि विवक्षितार्थपरो, न लिङादिपरः । अतो न न्यायविरोधोऽपीति ॥४८५॥

एवमप्यमुख्यार्थत्वं दोष एवेतिचेन्नायं दोषः । कर्मकाण्ड इव नामपदानां प्रधानान्वयसिद्ध्यर्थत्वादित्याह—

सिद्धार्थवादिवचनेषु न गौणतादि-
र्दोषाय कर्मपरवाक्यगतेषु यद्वत् ॥
कार्यार्थवादिवचनेषु न गौणतादि-
र्दोषस्तथोपनिषदीति समानमेतत् ॥ ४८६ ॥

सिद्धार्थेति ॥ स्पष्टा योजना ॥ ४८६ ॥

ननु वेदप्रमाणत्वाविशेषेऽपि पूर्वोत्तरकाण्डयोर्वैरूप्यकल्पनमयुक्तमेवेतिचेदु अत्यल्पमिदमुच्यते । सर्वप्रसिद्धयोरपि मानमेययोर्गम्यगमकभावोऽप्यत्र विपरीतः । नचायमपि दोष एवेति वाच्यम् । वस्तुस्वरूपानुसारित्वान्मानमेयभावस्येत्याह—

मानेन मेयावगतिश्च युक्ता

धर्मस्य जाड्याद्विधिनिष्ठकाण्डे ॥
मेयेन मानावगतिस्तु युक्ता
वेदान्तवाक्येष्वजडं हि मेयम् ॥ ४८७ ॥

**मानेन मेयेति** ॥ जडं हि स्वयमप्रकाशस्वभावत्वात् परतः प्रकाशमपेक्ष्य प्रमितं भवेत् । तत्प्रकाशकं च प्रमाणं यद्यपि स्वरूपतो जडं, तथापि चिदाभासव्याप्तमेव सत्तदन्यावभासकमित्यऽजडेन जडं मेयमिति स्थितिः।तथाच धर्मस्य जडत्वान्मानेन मेयता कर्मकाण्डे।ज्ञानकाण्डेतु मेयस्य ब्रह्मणः स्वप्रकाशस्वभावत्वादजाड्यात्तेन मेयभूतेन मानस्यावगतिर्युक्ता।तस्मान्मेयावभासकमऽपि मानं येन सिद्ध्यति तन्न मानमेयं, किन्तु विपरीतम् । नचैतावता ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वप्रसिद्धिविरोधः । स्वयं नित्यं प्रकाशमानस्यैव ब्रह्मात्मनः प्रकाशावरणाविद्यापसरणमात्रेण यथावदभिव्यक्त्यपेक्षत्वाद्वेदान्तवेद्यत्वप्रसिद्धेरिति भावः ॥ ४८७ ॥

न चैतावदेवापि च नैरुक्तप्रभृतिभिरुक्तं, वाक्यलक्षणमप्यत्रविपरीतमित्याह—

कर्मप्रधानेऽतिगते च काण्डे
वाक्यत्वमाख्यातपदप्रयुक्तम् ॥
ब्रह्मप्रधाने श्रुतिमस्तकेऽस्मि-
न्नामप्रधान वचनं समस्तम् ॥ ४८८ ॥

**कर्मप्रधानेति** ॥ अतिगतेऽतिक्रान्ते पूर्वस्मिन्नित्यर्थः । चशब्दः किञ्चेत्यर्थे । तत्र वाक्यत्वमाख्यातपदप्रयुक्तं तत्प्रधानमेव । तत्र भव्यावगतेरेव फलवत्त्वादित्यभिप्रायः । श्रुतिमस्तके तु भूतब्रह्मावगतेरेव फलवत्त्वात्तत्प्रधानं समस्तं वचनमिति हेतु-

रनुसन्धेयः ॥ ४८८ ॥

एतादृशं वैरूप्यं न मयैवाश्रितं, भवद्भिरप्यर्थवशादाश्रितं दृश्यत इत्याह—

कार्यप्रधानमखिलं च पदं सुबन्त-
माख्यातमेव फलतः खलु कर्मकाण्डे ॥
तद्वत्तिङन्तमपि वेदशिरःसु सर्वं
नामैव तद्धि परिनिष्ठितवस्तुनिष्ठम् ॥ ४८९ ॥

कार्यप्रधानमिति ॥ कर्मकाण्डे खलु सुबन्तपदं नामत्वेन प्रसिद्धमपि यत्कार्यप्रधानं कार्यार्थनिष्ठमस्ति तदखिलं फलतोऽर्थवशादाख्यातमेव युष्माभिरभ्युपगतमिति शेषः । तद्वद्वेदशिरस्सु सर्वं तिङन्तमप्याख्यातत्वेन प्रसिद्धमपि पदं नामैव नामार्थकमेव । तद्धि यतः परिनिष्ठितवस्तुनिष्ठमस्माभिरर्थवशादभ्युपगतमिति योजना ॥ ४८९ ॥

कर्मकाण्डे नामपदस्याख्यातत्वं कुत्राश्रितं दृश्यत इति तदाह—

आग्नेयमाश्विनमथैन्द्रमितीदृशं हि
सर्वं सुबन्तमपि भव्यपरं प्रसिद्धम् ॥
साऽस्येति तद्धितसमन्वितसन्निधाने
नामैव तद्भवति यद्भवतीति तद्वत् ॥ ४९० ॥

आग्नेयमिति ॥ आग्नेयादिपदानां भव्यपरत्वप्रसिद्धौ निमित्तमाह ॥ साऽस्येतीति ॥ साऽस्येति सूत्रेण हविषो देवतैदमर्थ्ये तद्धितस्य विधानाद् द्रव्यदेवतासम्बन्धात्मकत्वाच्च यागस्य तत्प्रसिद्धिरित्यर्थः । नाम्नामाख्यातत्वापत्तिमुक्त्वा-

ऽऽख्यातानां नामत्वापत्तिप्रकारमाह ॥ तद्धितसमन्वितेति ॥ यद्भवतीत्याख्यातं तदपि आग्नेयमित्यादितद्धितसमान्विततया सन्निधाने नामैव भवति नामार्थक एवार्थवशाद्भवतीति योजना । यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीत्यत्रोक्तविधया ताद्धितस्य नाम्नोऽपि क्रियार्थत्वं नामात्मकताद्धितान्वयात् क्रियार्थस्यापि भवतिपदस्य नामत्वं च भवद्भिरिष्टमिति समुदितार्थः ॥ यथैवं भवतामर्थवशात्प्रसिद्ध्यतिक्रमस्तथाऽस्माकमपीत्याह॥तद्वदिति ॥४९०॥

तदेवोदाहरति—

अस्त्यस्म्यसीति च तिङन्तपदानि सन्ति
वेदान्तवाक्यनिलयानि तथापि तानि ॥
नाख्यातशब्दनिजशक्तिधुरं वहेयु-
रस्तित्वमात्रविषया हि निषक्तिरेषाम् ॥ ४९१ ॥

अस्त्यस्म्यसीतीति ॥ कथं न वहेयुरित्यत्र हेतुमाह ॥ अस्तित्वमात्रेति ॥ स्वरूपसन्मात्रे निषक्तिः पर्यवसानमेषामस्त्याऽऽदीनामित्यर्थः । अन्यत्राप्यस्त्यादेराख्यातत्वं वस्तुस्वरूपसत्तायाः क्रियात्वोपचारेणाङ्गीक्रियते, न तु भव्यवाचित्वेन । न हि घटोऽस्तीत्यत्र घटस्वरूपसत्ताऽतिरिक्तं किञ्चिद्भव्यमनुष्ठानसाध्यं प्रतीयते । तथाच सामान्यवत्स्वप्यर्थेषु प्रयुज्यमानोऽस्त्यादिर्यदा वस्तुसत्तामात्रपरस्तदा वेदान्तेषु निःसामान्यविशेषवस्तुपरेषु किमु वक्तव्यमस्त्यादेर्भव्यार्थत्वासम्भव इति भावः॥ ४९१ ॥

ननु धात्वर्थस्य क्रियात्वादस्त्यादेरपि पच्यादिवत् क्रियात्वाविशेषाद्युक्तमाख्यातत्वमेवेतिचेन्नेत्याह—

पूर्वापरीभूतपदार्थनिष्ठ-
माख्यातमाख्यातविदो वदन्ति ॥

कूटस्थसत्तावगतिप्रधान-

माख्यातवत्साधु तिङन्तमाहुः ॥ ४९२ ॥

पूर्वापरीभूतेति ॥ पूर्वापरीभूतः साध्यस्वभावो यः पदाऽर्थो विक्लेदाद्यात्मकस्तन्निष्ठमाख्यातविदो वदन्ति । क्रिया ह्याख्यातार्थः । सा च साध्यस्वभावेति तत्रैवाख्यातत्वं मुख्यमिच्छन्त्याऽऽख्यातविद इत्यर्थः । असाध्यस्वभावे गौणं तादित्याह ॥ कूटस्थसत्येति ॥ तिङन्तपदं यत्कूटस्थसत्तावगतिप्रधानमस्त्यादिरूपं तदाख्यातवदाख्यातसदृशं नसाक्षादाख्यातमिति साध्वाहुर्युक्तमेव वदन्तीत्यर्थः । सत्तावादिनस्तिङन्तपदस्याख्यातत्वं गौणं तद्वाच्यस्य कल्पितक्रियात्वाश्रयणेन शब्दसाधुत्वमात्रार्थं, तत्प्रयोगादिति भावः ॥ ४९२ ॥

अस्तित्वमात्रनिष्ठं वेदान्तवाक्यमित्येतदुपश्रुत्यासहमानः प्राभाकरश्चोदयति—

अस्तित्ववस्तुविषयोपनिषन्निषक्ति-

राश्रीयते यदि तदा प्रमितं प्रमेयम् ॥

तस्यास्तवापतति मानमितत्वमेव

ह्यस्तित्वमात्मगतमभ्युपयन्ति धीराः ॥ ४९३ ॥

अस्तित्वेति ॥ निषक्तिः पर्यवसानम् । तस्या उपनिषदः प्रमेयं प्रमितं मानविषयीकृतं तव मते आपतीति योजना । एतदेव विद्वत्प्रसिद्ध्योपपादयति ॥ मानमितत्वमेव हीति ॥ मानाऽधीनत्वात् । सर्वत्र सत्तावगमस्येत्यर्थः ॥ ४९३ ॥

यदि मानविषयत्वमेवास्तित्वं तदा मानसम्बन्धस्य क्षणिकत्वात् क्षणिकमेव वस्तु स्यादित्याशङ्क्य मानयोग्यत्वमेव मेय-

त्वमिति पक्षान्तरं स एवाह—

अथ वा मितियोग्यताऽस्तिता

निरवद्यास्तु समस्तवस्तुषु ॥

परमात्मनि तत्प्रतीतये

सकलं वेदशिरः प्रवर्त्तताम ॥ ४९४ ॥

अथवेति ॥ समस्तवस्तुष्वात्मन्यनात्मसु च मितियोग्यता निरवद्या समस्तदोषरहिता शङ्कितदोषरहिता वाऽस्तिताऽस्तु । योग्यताया यावद्वस्तुभावित्वादित्यर्थः । उक्तं सामान्यन्यायं प्रकृते योज्यमित्याह॥परात्मनीति ॥ तथाच मानान्तरसापेक्षत्वं स्यादिति भवतामनपेक्षत्वलक्षणं वेदान्तप्रामाण्यं न सिद्ध्येत् । मानान्तरायोग्ये सिद्धे शब्दप्रवृत्तेरसम्भवादिति भावः ॥४९४॥

मानविषयत्वं मानयोग्यत्वं वा सर्वस्यास्तित्वं तदभावेनाऽस्तित्वमेवेति प्राप्तो दोषो न मयैव परिहरणीयस्तवापि तुल्यत्वादित्यभिप्रेत्य तन्मतेन व्यभिचारमाह—

तदसुन्दरमात्मसंविदो-

रपि सत्ता भवताभ्युपेयते ॥

न तयोर्विषयत्वहीनयो-

र्मितियोग्यत्वमितत्वसंभवः ॥ ४९५ ॥

तदसुन्दरमिति॥भवता प्राभाकरेण॥विषयत्वहीनयोरिति आत्मनो विषयसंविदाश्रयत्वेनैव स्फुरणं,न विषयत्वेन । संविदश्च स्वयम्प्रकाशमानतया न वेद्यतयेत्यभ्युपगमान्न तयोर्मितियोग्यत्वमितत्वसम्भवः । तथाचैतदेव चेद्वस्तुनः सत्त्वं तदात्मसंविदोस्तवासत्त्वप्रसङ्गः ॥ ४९५ ॥

एवमियता ग्रन्थसन्दर्भेणाऽखण्डे ब्रह्मात्मनि सिद्धे तत्त्वमस्यादिमहावाक्यस्य सत्यज्ञानाद्यवान्तरवाक्यस्य च पर्यवसानप्रकारः पूर्वोद्भावितदोषनिराकरणेन प्रपञ्चितः। इदानी जगत्कारणवादिवाक्यजातस्य तत्पदार्थे ब्रह्मणि समन्वयप्रकारकथनायोत्तरसन्दर्भः प्रवर्त्तते । त्वम्पदार्थनिरूपणपूर्वकं वेदान्तानां ब्रह्मात्मनि समन्वयः पूर्वमुपपादितः । इदानी तत्पदार्थोपलक्षणभूतवाक्यजातसमन्वयप्रकारनिरूपणेन स एव समन्वयो दृढीक्रियते। यतो यावदुपलक्षणवाक्यं प्रकृतब्रह्मगामितया नावधार्यते तावदुपलक्षितस्य सत्यज्ञानादिरूपता पूर्वोपपादिता न सिद्ध्येदित्यतस्तदुपपादनीयमिति । तत्र सृष्ट्यादिवाक्यैर्जगत्कारणमुद्दिश्य तस्मिन् ब्रह्मत्वं विधीयते ? ब्रह्म वोद्दिश्य तस्मिज्जगत्कारणत्वम् ? । नोभयथापि । जगतोऽकार्यत्वात् तत्कारणस्याप्रसिद्धेर्ब्रह्मणश्चात्यन्तमलौकिकत्वादेवाप्रसिद्धेर्द्वयोरन्यतराऽनुवादेनान्यतरप्रतिपादनासम्भवादित्याशङ्क्य जगत्कारणमनूद्य तस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनं शक्यमिति वक्तुं जगतः कारणवत्त्वसिद्धये कार्यत्वं तावत् साधयति—

क्षितिजलदहनानिलाम्बराणां
जनिमनुमाय विभक्तताबलेन ॥
जगति हि जनिमद्विभज्यमानं
घटघटिकादि समीक्ष्यते समस्तम् ॥ ४९६ ॥

क्षितिजलदहनानिलाम्बराणामिति ॥ अयमर्थः । पञ्चभूतात्मकं हि जगदभिमतम् । तत्र भौतिकेषु तावत् कार्यत्वे विप्रतिपत्तिर्नास्ति। अतस्तत्साधर्म्याद् भूतेष्वपि कार्यत्वमनुमेयमेव ॥ विभक्तताबलेन विभक्तत्वादितिहेतुसामर्थ्येन॥ क्षितिजल-

दहनानिलाम्बराणां जनिमनुमाय तर्कयन्तीत्युत्तरपद्यगतेन सम्बन्धः। विमतानि महाभूतानि जनिमन्ति। विभक्तत्वादित्यवयवद्वयमुक्त्वा तृतीयं व्याप्त्याख्यमवयवमाह॥ जगति हीति॥ यद्यद्विभक्तं तत्तज्जानिमत्। यथा घटघटिकादीति व्याप्तिर्निरवद्येत्यऽर्थः। न च विभक्तत्वहेतुरात्मनि अनैकान्तिकः। तस्य सर्वसत्तारूपतया कुतश्चिद्विभागासम्भवात् पक्षे च तदनुभवसिद्धमिति, नासिद्धिशङ्कापीति गमयितव्यम्॥ ४९६॥

विमतानि मह्यादीनि भूतानि जनिमन्ति। विभक्तत्वाद् घटादिवदित्यनुमानं सर्वभूतपक्षीकरणेनाभिधाय प्रत्येकपक्षीकरणेनाप्यनुमानान्तराण्याह—

क्षितिजलदहनेषु तत्प्रदेशा-
ञ्जनिसहितानुपलभ्य तद्बलेन॥
क्षितिजलदहनत्वलिङ्गमार्गा-
दपि जनिमेष्वनुमाय तर्कयन्ति॥ ४९७॥

क्षितिजलेति॥ अत्राविप्रतिपन्नेनैकदेशेनैकदेशान्तरं विप्रतिपन्नं साध्यत इत्यनुमानप्रकारभेदो दर्शितः। तथाहि। विप्रतिपन्ना क्षितिर्जनिमती। क्षितित्वात्। नदीस्रोतसा समुह्यमानमृत्सिकताकृतभूप्रदेशवत्। तथा, विमतं जलं, विमतं तेजो, विमतो वायुरित्येते जनिमन्तः। जलत्वात्तेजस्त्वाद्वायुत्वात्। चन्द्रकान्तजनितजलवत्, अरणिमथनोद्भूततेजोवत्। व्यजनाभिघातजन्यवायुवदिति। प्रत्येकं क्रमेण प्रयोक्तव्यम्। एवं सिद्धे भूतचतुष्टयस्योत्पत्तिमत्त्वे वियतोऽप्युत्पत्तिरनुमेया। विमतं वियद् उत्पत्तिमद् भूतत्वात् पृथिव्यादिवदिति। नच वियदनुत्पत्तिमान्निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षताशंसा। अविद्येतरत्वे सति

चेतनावत्त्वोपाधेः सम्भवात् । वेदान्तिनः प्रतिदृष्टान्ते साधन-वैकल्याच्च । न हि द्रव्यत्वमात्मनो वेदान्तिनो मन्यन्ते । निर्गुण-त्वाभ्युपगमादात्मनो निर्गुणस्य च द्रव्यत्वायोगात् । तस्मात् वियदप्युत्पत्तिमदिति द्रष्टव्यम् । एवं कार्यत्वे सिद्धे कारणं विना कार्यासम्भवात् सिद्धकार्यभावस्य जगतः कारणं तर्कयति— केनचिदस्य कारणेन भवितव्यम् । किं तद्युक्तं चेतनमचेतनं वेत्यर्थः ॥ ४९७ ॥

इदं कारणपूर्वकं कार्यत्वात् संमतवदिति तर्किते कारणे चेतनत्वमप्यनुमानादुन्नेतुं शक्यत इत्याह—

जनिमदभवदेतच्चेतनादेव हेतो-
र्घटवदिति पुनस्तत्कारणे चेतनत्वम् ॥
अनुमिमत उदर्के कार्यतालिङ्गतोऽमी
जगति हि परिदृष्टं चेतनादेव कार्यम् ॥ ४९८ ॥

जनिमदिति ॥ एतज्जगच्चेतनादेव हेतोः कारणान्नाचेतना-दित्येवकारार्थो जनिमदभवदिति पुनरुदर्के उत्तरकाले कार्यता-लिङ्गतः कार्यत्वेन हेतुना घटादिदृष्टान्तेन च तत्कारणचेतनत्व-मप्यनुमातारोऽनुमिमत इति योजना । घटादिदृष्टान्ते व्याप्तिं घटयति ॥ जगति हीति ॥ विमतं चेतनकारणकं कार्यत्वाद् घटवत् घटादिश्च चेतनकारणको निश्चित एवेति वाक्यार्थः ॥ ४९८ ॥

एवं चेतने जगत्कारणेऽनुमानतः सिद्धेऽपि पुनस्तस्मिन्ने-कानेकविषयः संशयो भवति । नच तदेकत्वं नानात्वं वानुमान-मात्रान्निश्चेतुं शक्यते । एकस्यापि गोपुरस्तम्भादेरनेकचेतन-पूर्वकत्वदर्शनादनेकेषामपि सूपौदनशाकानामेकेन निर्माणदर्शना-च्च । अतोऽनुमानाज्जगत्कारणस्य न सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरैकत्वानां

सिद्धिरित्यभिप्रेत्य संशयोत्पत्तिप्रकारमाह—

जगदुदयनिमित्तं चेतनं किं नु नाना

किमु भवतु तदेक सर्ववित् सर्वशक्ति ॥

इति भवति तु पश्चात् कारणे चेतनेऽस्मि-

न्ननवगतिनिमित्तः संशयो दुर्निवारः ॥ ४९९ ॥

जगदुदयेति ॥ अनवगतिनिमित्तः श्रुतेरन्यस्य निर्द्धारणे हेतोरभावादज्ञाननिमित्तः संशयो दुर्निवारोऽनुमानशतेनापीत्यर्थः। सामान्यतो दृष्टानुमानाद्विशेषनिश्चयासम्भवात् सर्वज्ञत्वादिविशेषणवत्तया व्याप्तिग्रहाभावादेवानुमातुमशक्यत्वात् पक्षधर्मतायाश्च सपक्षदृष्टरूपाद्रूपान्तरासाधकत्वादन्यथा जगत्कारणे ईश्वरे सांख्यादीनां विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। तार्किकानुमाने च शरीरत्वोपाधेः सम्भवात्। विप्रतिपन्नं न सर्ववित्कर्तृकमसर्ववित्कर्तृकमिति वा, शरीरिकर्तृकमिति वा।कार्यत्वात्। संयमनवदिति प्रतिप्रयोगसम्भवाच्च। न च विशेषणस्य प्रसिद्ध्यप्रसिद्ध्योर्व्याघातः। सर्वज्ञशब्दार्थस्य लोके सामान्यतः सिद्धत्वेऽपि प्रकृते जगत्कारणे तदसिद्धेः। यदीदं चेतनकर्तृकं स्यात्तर्हि शरीरिकर्तृकमपि स्यादशरीरस्य चेतनावतः सत्त्वे प्रमाणाऽदर्शनादित्यादितर्कबाधितत्वाच्चानुमानाच्च विवक्षितेश्वरासिद्धिरिति भावः ॥ ४९९ ॥

एवं सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वैकत्वानेकत्वादिसंशयवदुपादानमप्यस्य जगतः कर्तुश्चेतनादन्यत् स्यात्।कुलालादेरन्यस्य मृत्पिण्डादेर्घटाद्युपादानस्य लोके दर्शनात्।किं वा स एव कर्त्ता चेतनवदुपादानमपि ऊर्णनाभिवदूर्णानां तार्किकात्मवद्वात्मगुणानां स्यादिति सन्देहः स्यात्। तथा सहकारिकारणमप्यूर्णतन्तुनिर्माणे

ऊर्णनाभिरिव बाह्यं नास्ति, किं वा कार्पाससूत्रनिर्माण इव काष्ठ-यन्त्रादिबाह्यमप्यस्तीति संशयो भवेत् । एतदपि संशयजातं न श्रुतेरन्यतो निवर्त्तयितुं शक्यत इत्यभिप्रेत्य श्रुतिवशान्निर्णय-प्रकारमाह—

श्रुतिवचनविशेषाच्चेतने कारणेऽस्मिन्
यत इति निरवद्यादेकताधीरथागात् ॥
प्रकृतिरिति च तस्मिन् कारणे पञ्चमीय
जनयति दृढबुद्धिं तद्विधानादिहैव ॥ ५०

श्रुतिवचनेति ॥ यतो वा इमानि भूतानीत्यस्मिन् वेदा-न्तवाक्ये यत इति निरवद्याच्छ्रुतिवचनविशेषादिति सम्बन्धः । निरवद्यान्निरपेक्षप्रमाणरूपाच्छ्रुतिविशेषाद्वचनविशेषाच्चेत्यर्थः । यत इत्यत्र पदे प्रातिपदिके यच्छब्दः श्रुतिविशेषः । एकवचना-न्तत्वं वचनविशेष इति विभागः । तथाच चेतनमनुमानात् सिद्धं कारणं यत इति यच्छब्दप्रातिपदिकेनाऽनूद्यैकवचनश्रुत्या-ऽस्मिंश्चेतने कारणे एकताधीराद्या प्रथमा जायते । अथानन्तरं, यत इति यस्मादर्थे तसेः प्रयोगादियं पञ्चमी विभक्तिस्तस्मिन् प्रागुक्ते कारण एकस्मिन् प्रकृतिरुपादानमिति च दृढबुद्धिं जन-यति । कथं पञ्चम्याः प्रकृत्यर्थत्वमित्यत आह ॥ तद्विधानादिति ॥ जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति विशेषविधानादित्यर्थः । इहैवास्मिन्नेवो-पादाने पञ्चम्या विधानादित्यर्थः । यच्चेतनं कारणं तदेकमु-पादानं चेति यत इति श्रुत्या निरपेक्षया निर्णीयते । अत एव स्वाङ्गबहिर्भूतं सहकारिकारणान्तरमप्यत्र नास्तीति सिद्धमस्यैक-त्वं सर्वशक्तित्वं चेति भावः ॥ ५०० ॥

अत्र वचनविभक्तिबलादुक्तामेकत्वप्रकृतिसिद्धिं पूर्ववाद्या-

क्षिपति—

एकत्वमेकवचनादवगम्यमानं
यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन् ॥
वाक्ये जगत्प्रकृतिगामितया न विघ्नः
संख्यां विभक्त्यभिहिते वचनं हि नाह ॥ ५०१ ॥

एकत्वमिति॥यत इत्यमुष्मिन् वाक्ये एकवचनादेव गम्यमानं यदेकत्वं तद्यच्छब्दवाच्यनिलयं यच्छब्दप्रातिपदिकगतमेव न विभक्त्यर्थप्रकृतित्वगतमिति योजना । कुत एवमित्यत आह ॥ जगत्प्रकृतीति ॥ हि यस्माद्वचनं विभक्त्यभिहिते पञ्चमीवाच्ये जगत्प्रकृतिगामितया निविष्टां जगदुपादानगतत्वेन प्राप्तां संख्यां नाह न कथयतीति योजना॥एकत्वविवक्षायां यदेकवचनं विधीयते तत् प्रकृतिभूतप्रातिपदिकगतमेवैकत्वं गमयति, नप्रत्ययात्मकविभक्त्यर्थगतं वचनवाच्यसंख्याया विभक्त्यर्थगततया क्वाप्यनुपलम्भादिति तात्पर्यार्थः ॥ ५०१ ॥

नन्वाकाङ्क्षादिवशाद्विभक्तिवाच्यगततयाऽपि संख्याभिधीयतामितिचेन्नैवमेवमपि क्वाप्यदर्शनादित्याह—

न हि विभक्त्यभिधेयपदार्थगं
वचनमाह निजं विषयं क्वचित् ॥
वचनवाच्यगतं न वदन्ति च
स्वमभिधेयमशेषविभक्तयः ॥ ५०२ ॥

न हि विभक्तीति ॥ वचनं कर्तृ, तन्निजं विषयं स्ववाच्यमेकत्वादिकमर्थं विभक्त्यभिधेयपदार्थगतं कारकगतं न ह्याह, न कथयति क्वचिदिति योजना । तर्हि विभक्तिर्वचनार्थगतं

स्वार्थमभिदध्यादितिचेत्तदप्यप्रसिद्धमेवेत्याह ॥ वचनवाच्यगत-मिति ॥ ५०२ ॥

सत्यं विभक्तिवचने प्रातिपदिकार्थगततयैव स्वार्थमादधतो, नान्योन्यार्थगततया । तथापि, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्रत्ययस्तु प्राधान्येनेति न्यायात् प्रत्ययार्थोपरक्त एव प्रकृत्यर्थः प्रतीयते, न केवलं प्रातिपदिकार्थः । तथा, प्रातिपदिकाऽर्थोपरक्त एव प्रत्ययार्थोऽपि प्रतीयते, न केवल इति स्थितौ प्रातिपदिकार्थः प्रतीयमानो विभक्तिवचनार्थान्वित एवावगम्यते । अतो विभक्त्यर्थान्वितप्रातिपदिकार्थगतत्वेन वचनार्थः प्रतीयते । विभक्त्यऽर्थोऽपि वचनार्थान्वितप्रातिपदिकतयेति युगपद्वचनविभक्त्यर्थान्वितत्वेनैव यत इत्यत्र यच्छब्दार्थप्रतीतेस्तास्मिन्नेकत्वप्रकृतित्वे शब्दसामर्थ्यादेव सिद्ध्यत इत्येतत्सर्वमभिप्रेत्य परिहारमाह—

प्रातिपदिकार्थगतमेव वचनानि<br>
स्वं स्वमभिधेयमभिधातुमलमर्थम् ॥<br>
प्रातिपदिकार्थगतमेव निजमर्थं<br>
वक्ति च विभक्तिरपि नेह वचनार्थे ॥ ५०३ ॥

प्रातिपदिकार्थेति ॥ वचनानि प्रातिपदिकार्थगतमेव स्वं स्वमर्थमभिधातुमलं समर्थानि । प्रकृत्यर्थोपरक्तमेव स्वार्थमभिदधति वचनानि, न विभक्त्यर्थोपरक्तमित्यर्थः । तथा विभक्तिरपि प्रातिपदिकार्थगतमेव निजमर्थं वक्ति । इह यत इति पदे । न च पुनर्वचनार्थे।वचनार्थान्वितस्वार्थं न च वक्तीत्यर्थः। तस्मादत्र यत इति प्रातिपदिकवाच्यश्चेतन एकःप्रकृतिश्चेतिप्रतीतिर्न तु प्रकृत्येकत्वयोः परस्परावच्छेदः शब्दशक्त्या भातीत्यभिप्रायः ॥५०३॥

ननु, पशुना यजेतेत्यत्रैकप्रत्ययोपात्तयोः करणत्वैकत्वयोः सन्निकर्षातिशयात् प्रथमं परस्परसम्बन्धाऽवगतिः, पश्चात्तु पदश्रुत्या प्रातिपदिकार्थेन सम्बन्धोऽवगम्यत इत्याहुर्न्यायविदोऽतोऽत्रापि कथं न स्यादितिचेन्नैवम् । तत्रापि पशुरूपप्रकृत्यर्थगततयैव करणत्वैकत्वयोरभिधानाद् युगपत्प्रतीयमानयोर्विशिष्टप्रतीत्यसम्भवादित्याह—

पशुनेति पदे तृतीयया
करणत्वं हि पशोर्निवेद्यते ॥
वचनेन पशोरिहैकता
न पुनः सा करणस्य कथ्यते ॥ ५०४ ॥

पशुनेति ॥ पशुनेत्यस्मिन् पदे या तृतीया विभक्तिस्तया पशोः करणत्वं हि निश्चितं निवेद्यते, न केवलवचनाभिहितस्यैकत्वस्येत्यर्थः । तथाच वचनेनापि इह पदे पशोरेकता निवेद्यते, न पुनः सा एकता करणस्य कथ्यते । अतो नानेनास्मदुक्तिविरोध इत्यभिप्रायः ॥ ५०४ ॥

कथं तर्हि तत्रैकपशुकरणत्वावगतिरितिचेत्तत्र गुरुमतमाश्रित्याह—

अनुपपत्तिबलेन विधेस्तयोः
करणतैकतयोरवगम्यते ॥
करणतैकपशोरिति संगति-
र्न घटते हि विधिर्विरहय्य ताम् ॥ ५०५ ॥

अनुपपत्तिबलेनेति ॥ विधेरनुपपत्तिबलेन विध्यन्यथाऽनुपपत्तिरूपेणोपादानप्रमाणेनैकपशोः करणतेति तयोः करणैक-

तयोः सङ्गतिरवगम्यते, न वचनविभक्तिसामर्थ्यादिति योजना । विध्यनुपपत्तिमेव स्फुटयति ॥ न घटत इति ॥ तां करणत्वैकत्वयोः सङ्गतिं विरहय्य विधिर्नियोगो न घटते । नियोगो हि स्वसन्निधिश्रुतसमस्तार्थजन्यधात्वर्थनिर्वर्त्यतया प्रमीयमाणस्तदऽनुरोधेन करणैकत्वयोरपि सङ्गतिं विना न प्रमीयत इति तामाक्षिपतीत्यर्थः ॥ ५०५ ॥

ननूपादानप्रमाणं सङ्गतिमात्रमाक्षिपेत् सङ्गतिं विना विध्यऽनुपपत्तेरिति । तत्र सङ्गतिविशेष एव पशुकरणकानियोगलक्षणः कुतः सिद्ध्येदिति, तत्राह—

उपादानतः संख्यया संगतिः स्या-
दवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशात् ॥
पशोरेतयोस्तेन मार्गेण कार्ये
निवेशोपपत्तेरुपादानमानात् ॥ ५०६ ॥

उपादानेति ॥ उपादानतो विध्याक्षेपात् संख्यया एकत्वसंख्यया करणत्वस्य सङ्गतिः स्यात् । करणत्वस्य हि धात्वऽर्थसम्बन्धः स्वभावसिद्धः । पशोश्च धात्वर्थावच्छेदकत्वेन करणता तृतीयाश्रुत्यैव समधिगता । तत्रैकत्वसङ्गतौ किं कारणमित्यपेक्षायामाह ॥ अवच्छेदकत्वेनेति ॥ पशोरवच्छेदकत्वेनेत्यन्वयः । तत्रैवैकवचनश्रुत्या पशोरवच्छेदकत्वेन संख्यानिवेशाद्धेतोरित्यर्थः । एवं सति तेन मार्गेण धात्वर्थे करणत्वमार्गेणोपादानमानादेतयोः पश्वेकत्वयोरपि कार्ये निवेशोपपत्तेरित्यक्षरयोजना। एतदुक्तं भवति । पशुना यजेतेति तृतीयाश्रुत्या पशोर्यागकरणता तावदभ्युपगम्यते । तत्र पशुपदस्य जातिवचनत्वात्तेन संख्याविशेषानवगमात् पशुपदावगतस्य पशोः कया संख्यया-

ऽवच्छिन्नोऽहं यागं निर्वर्त्तयेयेति भवत्याकाङ्क्षा । तथैकवचना-ऽवगतैकत्वसंख्यायाश्च ग्राहकप्रयोगवचनवशात् कार्यार्थितयाऽवग-तायाः केन द्वारेणाहं कार्ये निविशेयेति भवत्याकाङ्क्षा । एवं सति पशोरेकत्वसंख्यावच्छिन्नस्य करणत्वमेकसंख्यायाश्च पश्व-वच्छेदेन धात्वर्थकरणत्वमित्येकपशोः करणत्वमिति तद्धि-ऽन्यन्य-थानुपपत्तिलक्षणात् प्रमाणादेकपशुकरणकयागविषयकरणको नियोग इति धात्वर्थद्वारा कार्ये निवेश इति एकपशोः करणत्वा-ऽवगम इति ॥ ५०६ ॥

तर्ह्यत्राप्युपादानमानादेवास्तु प्रकृतित्वैकत्वयोः सङ्गातप्र-मितिरितिचेन्नैवमिह विध्यभावादित्याह—

न चैव विधिः कश्चिदत्रेति न स्या-

दुपादानतः संगतिर्यत्पदार्थे ॥

विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोर्नेह कश्चि-

द्यतो वा इमानीति वाक्ये विधिर्नः ॥ ५०७ ॥

**न चैवमिति** ॥ अत्र, यतो वा इत्यस्मिन् वाक्ये एवंविधो विधिर्विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोरेकत्वसङ्गतिं विनाऽनुपपद्यमानो न च नैव विद्यत इति हेतोर्यत्पदार्थे यच्छब्दप्रातिपदिकार्थे विभक्त्यर्थ-संख्यार्थयोरुपादानतः सङ्गतिर्न स्यादिति योजना।इहापि विधि-रभ्युपेयतां कार्यगौरवादितिचेन्नेत्याह ॥ कश्चिदिति ॥ नो-ऽस्माकं सिद्धान्त इति शेषः। विध्यभ्युपगमे सिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गा-दिति भावः ॥ ५०७ ॥

तर्हि कथमिह विभक्त्यर्थसंख्यार्थयोः सङ्गत्याधिगतिरितिचेद् विध्यभावेऽप्यस्त्यनुपपत्तिः सङ्गत्याधिगमे हेतुरित्याह—

अवितथमिदमेवमेतदस्मि-
न्न खलु विधेर्वचनं पठन्ति वाक्ये ॥
यत इति घटते तथापि योगो
वचनविभक्तिनिगद्ययोरिहापि ॥ ५०८ ॥

अवितथमिति ॥ अस्मिन् वाक्ये विधिर्नास्तीति अस्म-न्मतमिदमवितथं सत्यमेव । एवमेतन्नान्यथेति योजना । वाक्य-स्य ब्रह्मवस्तुलक्षणपरत्वाद्विधिकल्पने तदसिद्धिप्रसङ्गादित्याकूतं विधिप्रत्ययाश्रवणादप्यत्र न विधिरित्याह । अस्मिन्निति ॥ यत इत्यस्मिन् वाक्य इति संबन्धः । यद्यप्येवं विध्यभावस्तथापि वचनविभक्तिनिगद्ययोरिहापि योगो घटत इति योजना ॥५०८॥

विध्यभावे च कयाऽनुपपत्त्या वचनविभक्तिनिगद्ययोर्योगो घटत इत्यपेक्षायामाह—

एकत्वमेकवचनेन समर्पितं य-
द्यच्छब्दवाच्यनिलयं यत इत्यमुष्मिन् ॥
पञ्चम्युपात्तमपि यत्प्रकृतित्वमस्मिन्
संगच्छते तदुभयं पशुवस्तुनीव ॥ ५०९ ॥

एकत्वमिति॥यत इत्यमुष्मिन् वाक्ये यच्छब्दवाच्यनिलयं प्रातिपदिकार्थनिष्ठमेकवचनेन समर्पितं यदेकत्वं पञ्चम्युपात्तमपि यत् प्रकृतित्वं तदुभयमस्मिन् यच्छब्दार्थे चेतने पशुवस्तुनीव संगच्छते संगतं भवतीति योजना। एकवचनपञ्चम्योरपि विशिष्टा-ऽर्थपरतया प्रयुक्तत्वाद्विशेष्यसंगतिमन्तरेण तदनुपपत्तेर्विनापि विधिं पशुवस्तुनीवात्रापि चेतनसंगतिसिद्धिरिति भावः ॥५०९॥

तथाप्यत्र संबन्धाक्षेपकं विविच्यतामितिचेद् उच्यत इत्याह—

एका या प्रकृतिः समस्तजननी तद्ब्रह्म जिज्ञास्यता-
मित्यत्रापि हि वस्तुनिष्ठवचने शक्यैव तत्संगतिः ॥
विज्ञातुं विधिमन्तरेण च तथानर्थक्यभीत्या न हि
स्वाध्यायाध्ययनैकगोचरविधेरापातमर्थं विना ॥ ५१० ॥

एका येति॥ यत इत्यादौ तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेत्यन्ते वाक्ये यत इति पदेन वचनविभक्तिभ्या प्रमीयमाणैका प्रकृतिरिमानि भूतानीति सर्वनामश्रुतेः संकोचकाभावात् समस्तजननीव । तद् ब्रह्म जिज्ञास्यतामित्यत्र वस्तुनिष्ठवचनेऽपि हि तत्संगतिश्चेतन-वस्तुसङ्गातिर्विज्ञातुं शक्यैवेति योजना । एतदुक्तं भवति । ब्रह्म-लक्षणपरत्वाद्वाक्यस्य लक्ष्यमाणं ब्रह्मैव जगतः कारणत्वानुगुणं सम्बन्धम् आक्षिपेत् । तथाच यादृशेन ब्रह्म स्वपदशक्त्यविरोधेन पूर्णात्मतया लक्षितं स्यात्तादृशलक्षणसिद्ध्यनुगुणप्रकृतित्वैकत्व-योरपि यच्छब्दवाच्यताधिष्ठातृचेतनावच्छेदद्वारेणैका प्रकृतिः सर्वजननीति विज्ञातुं शक्यते विधिं विनैवेति । यदि विधा-वाग्रहस्तर्हि सोऽप्यत्रास्त्येव संसर्गावगतिनिमित्तभूत इत्याह ॥ तथानर्थक्यभीत्येति ॥ अध्ययनविधेरनर्थक्यभीत्यैतद्विधिप्रयुक्ता-क्षेपसम्भवादित्यर्थः । तामेव विध्यनुपपत्तिं स्फोरयति ॥ न ही-ति ॥ यत इत्यादिवाक्यस्यापाततः स्वभावतः स्वसामर्थ्यसिद्ध-मर्थं विना स्वाध्यायाध्ययनैकगोचरविधेर्न ह्युपपत्तिरिति योजना। अयं भावः । विधेः फलवत्त्वनियमादध्ययनविधेश्च अर्थाव-बोधफलत्वादक्षरग्रहणान्तविधिपक्षेऽप्यधीतस्वाध्यायस्यानर्थक्य-परिहारार्थावबोधहेतुत्वाभ्युपगमादध्ययनविधिमूलानुपपत्त्या सं-सर्गसिद्धिरितीहाभ्युपपन्नेति ॥ ५१० ॥

अभ्युपगम्येदमुक्तमध्ययनवशात् संसर्गसिद्धिरिति । वस्तु-

तस्तु सर्वत्र शब्दसामर्थ्यादर्थसामर्थ्याद्वा संसर्गसिद्धिरभ्युपेया । अन्यथा स्वाध्यायविध्याक्षिप्तसंसर्गवशाद्विशिष्टार्थबोधः । सति च विशिष्टार्थबोधे दृष्टतया तस्य विधिं प्रति फलत्वकल्पने त्वितरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । तस्मादेतादृशे विषयेऽर्थसामर्थ्यमेव संसर्गाक्षेपकमभ्युपेयम् । तदत्राप्यस्तीत्याह—

वचनार्थविभक्तिवाच्ययो-

रुपपन्नान्वयबुद्धिरर्थतः ॥

पशुनेति पदे यथा तथा

यत इत्यादिपदेऽपि लक्षणे ॥ ५११ ॥

**वचनार्थेति** ॥ पशुनेति पदे यथा तथा, यत इति पदे लक्षणे लक्षणपरेऽपि आदिपदात्, तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते, एतस्माज्जायते प्राणः, तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यादौ वचनार्थविभक्तिवाच्ययोरर्थत एकप्रातिपदिकगतविशिष्टार्थप्रत्यायनसामर्थ्यादन्वयबुद्धिरुपपन्नेति योजना ॥ ५११ ॥

ननु पशुनेति पदे विधिरेवाक्षेपकस्तत्र विधेर्भावात् किमिदमुच्यते, अर्थसामर्थ्यादाक्षेपस्तत्रापिचेत्तत्राह—

विधिनिष्ठवाक्यमपि बोधयति ॥

स्वमपेक्षितं विषयमर्थवशात् ॥

परमात्मनिष्ठमपि तुल्यमिदं

वचसोर्द्वयोरपि तु रूपमतः ॥ ५१२ ॥

**विधिनिष्ठेति** ॥ परमात्मनिष्ठमपि वाक्यम् । अर्थवशात् स्वमपेक्षितविषयं बोधयतीत्यन्वयः । अत इदं तुल्यं द्वयोरपि वचसोर्विधिमदविधिमद्वाक्ययो रूपमिति योजना । तुशब्दः पाद-

पूरणार्थः । विधेरपि हि संसर्गाविबुद्धत्वबलादेव संसर्गाक्षेपकत्वम् । तच्च पदान्तरार्थानामविशिष्टमतः सर्वेषामपि पदार्थानां तुल्यमाकाङ्क्षाद्यनुरोधेन संसर्गविशेषाक्षेपकत्वमितिभावः ॥५१२॥

ननु तथापि कथं, यतो वा इमानीति सिद्धवन्निर्देशः ? न ह्यन्यतः सिद्धिमनपेक्ष्य तत्संभवः । सिद्धवन्निर्देशेन भङ्गेन वाक्यस्य विशिष्टकारणत्वप्रतिपादनपरत्वे च ब्रह्मलक्षणपरत्वाऽसंभवादुभयपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात् । एवंविधं यज्जगत्कारण तद् ब्रह्मेति च विशिष्टतया विधानायोगादितिचेत्तत्राह—

एक चेननमस्य यत्प्रकृतितामापन्नमुत्प्रेक्ष्यते
तद् ब्रह्मेति निशामयेति निपुण ब्रूते परब्रह्मणः ॥
सिद्धं लक्षणमादरेण महता व्यावर्त्तयद्ब्रह्मण-
स्तत्त्वं तत्त्वमसीति वाक्यनिलयं तच्छब्दलक्ष्यं वचः ॥

॥ ५१३ ॥

एकं चेतनमिति॥ चेतनं जगत्कारणमस्तीत्यनुमानात्तावत् सिद्धम् । तच्चैकमिति यद्यप्यनुमानान्न निश्चयस्तथापि संभावनामात्ररूपोत्कटकोटिविषया लाघवतर्केणोत्प्रेक्षिता अस्त्येवैकतासिद्धिः । अत्रैऽपाक्षरयोजना । अस्य जगतः प्रकृतितामुपादानतामापन्नं यदेकं चेतनमुत्प्रेक्ष्यते संभाव्यते तद्ब्रह्मेति निशामय जानीहीति॥ सिद्धमुत्प्रेक्षासिद्धं ब्रह्मणो लक्षणं निपुणं विवक्षितलक्ष्यासिद्ध्यनुगुणं यथा स्यात् तथा ब्रूते,यतो वा इत्यादिवाक्यमिति शेषः । कि कुर्वत् । महता आदरेण परमतात्पर्येण ब्रह्मणस्तत्त्वं व्यावर्त्तयद् । अब्रह्मरूपात् परपरिकल्पितजगत्कारणकलापात् कार्याच्च ब्रह्म व्यवच्छिन्ददित्यर्थः । तथाचानुमानसंभावनाभ्यां सिद्धचेतनैककारणस्वरूपानुवादेन ब्रह्मणो लक्षणाभिधानं विरु-

द्ध्यत इति भावः । निपुणं यदुत्प्रेक्ष्यते इति यदा संबन्धस्तदा जगत्कारणे विपरीतोत्प्रेक्षाप्रकाराणामाभासत्वं यथा स्यात्तथा यदुत्प्रेक्ष्यत इत्यर्थः । भवत्वेवं लक्षणस्य कथञ्चित् प्रसिद्धिर्लक्ष्यस्य ब्रह्मणः कथं सिद्धिः ? । तस्यापि हि सिद्धिर्वक्तव्या । अन्यथा कस्येदं लक्षणानुमानमित्यनध्यवसायादित्याह ॥ तत्त्वमसीति ॥ तत्त्वमस्यादिमहावाक्यगतं वचः तद्ब्रह्मेत्यादिपदं तच्छब्दलक्ष्यं ब्रह्मणस्तत्त्वं स्वरूपं ब्रूत इति योजना। महावाक्यादिति विशिष्टब्रह्मादिपदसामर्थ्यसिद्धं ब्रह्मलक्ष्यमिति भावः॥५१३॥

तदेवं, यतो वा इत्यादिवाक्यस्य ब्रह्मलक्षणपरत्वे न कोऽपि दोष इतिनिर्णीतम् । इदानीं लक्षणमिदं स्वलक्ष्यं लक्षयत् स्वासंबद्धत्वेन तल्लक्षयेत्, स्वसंबन्धित्वेन वा ? नाद्योऽतिप्रसङ्गान्न द्वितीयोऽसङ्गस्य ब्रह्मणो लक्षणसंबन्धाभावात् । अतः कथं लक्ष्यलक्षणसंभव इति शङ्काया वास्तवसंबन्धाभावेऽपि कथञ्चिदस्ति संबन्ध इति स्वसंबन्धितयैव लक्ष्यं लक्षयेदिदं लक्षणमिति दर्शयितुं लक्षणभेदं व्युत्पादयति—

> लक्ष्यस्य लक्षणमिह त्रिविध प्रसिद्ध
> लोके स्वलक्षणममुष्य विशेषणं वा ॥
> यद्वोपलक्षणमिमानि च लक्षणेन
> व्यावर्णयामि पृथगेव तु तत्प्रतीहि ॥ ५१४ ॥

लक्ष्यस्येति ॥ इह लोके व्यवहारभूमौ स्वलक्षणं स्वरूपलक्षणम् । अमुष्य लक्ष्यस्वरूपस्य विशेषणं विशेषलक्षणम् उपलक्षणं कदाचित् कथञ्चित् संगतिमात्रेण लक्षणमिति । लक्ष्यस्य लक्षणमिह त्रिविधं प्रसिद्धमिति संबन्धः । किमेषामसंकीर्ण लक्षणमुदाहरणारूढमिति वीक्षायामाह ॥ इमानीति ॥ पृथगेव

तु लक्षणेन व्यावर्णयामीत्यन्वयः । लक्षणभेदेनेत्यर्थः ॥ ५१४ ॥

लक्षणविभागकथनं प्रतिज्ञातम् । तस्य विभागस्य धर्मिसामान्यकथनमन्तरेण सम्यक्कथनाशक्तेर्लक्षणसामान्यलक्षणं तावदाह—

लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धमतोऽन्यतोऽर्था-
न्निःशेषतो यदतिरिच्य तदर्थवस्तु ॥
लक्ष्यं निवेदयति लक्षणमेतदाहुः
सामान्यलक्षणमिदं त्रिषु लक्षणेषु ॥ ५१५ ॥

लक्ष्यार्थेति ॥ यद्धर्मरूपं वस्तु तदर्थवस्तु लक्ष्यं निवेदयति । एतल्लक्षणमाहुरित्यन्वयः । स चासावर्थश्चेति तदर्थः । तदेव वस्तु परमार्थमिति तदर्थवस्तु इति विग्रहः । किं कृत्वा । अतोऽन्यतोऽर्थान्निःशेषतोऽतिरिच्य । अतो लक्षणीयात् सकाशाद्योऽन्योऽर्थस्तस्मादन्यस्मादर्थाल्लक्ष्यसजातीयाद् विजातीयाच्चाऽर्थान्निशेषतः सर्वस्मादतिरिच्य व्यावर्त्त्येत्यर्थः । लक्ष्यार्थनिष्ठमुपलब्धमिति च मध्ये निर्दिष्टयच्छब्दार्थस्य लक्षणस्य विशेषणे अन्यनिष्ठस्यानुपलब्धस्यार्थस्यान्यव्यावृत्तिबुद्ध्युत्पादनाऽशक्तिरित्यत एतच्छङ्काव्यावृत्तये इदं विशेषणद्वयम् । यद्यस्य निःशेषतः सजातीयविजातीयव्यावर्त्तकं सद् यन्निष्ठमुपलभ्यते तत् तस्य लक्षणमित्युक्तं भवति । एतत्कथनोपयोगमाह ॥ सामान्यलक्षणमिति ॥ त्रिषु वक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः ॥ ५१५ ॥

तत्र स्वरूपलक्षणस्य लक्षणमुद्देशक्रममनुरुध्याह—

लक्ष्यस्वरूपमपि सद्यदमुष्य साक्षा-
दर्थान्तराद्व्यत्ति भेदकमेतदाहुः ॥

अस्य स्वलक्षणतयैव तु लक्षणं खं
छिद्रं जलं द्रवमितीदृशमत्र लोके ॥ ५१६ ॥

लक्ष्यस्वेति ॥ अत्र स्वरूपग्रहणेन विशेषणलक्षणादौ प्रसङ्गो व्यावर्त्यते । एवमुत्तरत्रापि विशेषणकृत्यमनुसंधेयम् । अमुष्य लक्ष्यस्यार्थान्तराद्यत्साक्षाद्भेदकं भवति एतदस्य लक्ष्यस्य स्वलक्षणतयैव स्वरूपभूततयैव लक्षणमाहुर्लक्षणविद इति योजना । अस्योदाहरणमाह ॥ खं छिद्रमित्यादि ॥ ५१६ ॥

विशेषलक्षणस्य लक्षणमाह—

स्वानुरक्तमतिजन्मकारणं
यत्पुनर्भवति लक्ष्यवस्तुनि ॥
तद्विशेषणतयास्य लक्षणं
केसरादिकमिवाश्ववस्तुनः ॥ ५१७ ॥

स्वानुरक्तेति ॥ स्वानुरक्ततया नित्यं स्वसंबद्धतया लक्ष्यस्वरूपावियुक्ततयेति यावत् ॥ यत् पुनर्लक्षणं वस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्मनि हेतुतां भजति तदस्य लक्ष्यस्य विशेषणतया लक्षणमिति योजना । उदाहरणं, केसरादिकमिति ॥ आदिपदं शोणत्वादिसंग्रहार्थम् ॥ ५१७ ॥

उपलक्षणस्य लक्षणमाह उत्तरपद्येन—

स्वानुरक्तमतिजन्महेतुतां
लक्ष्यवस्तुनि निरस्य लक्षणम् ॥
अस्वरूपमपि तस्य यद्भवेत्
काकवत्तदुपलक्षणं विदुः ॥ ५१८ ॥

**स्वानुरक्तेति** ।। लक्ष्यवस्तुनि स्वानुरक्तमतिजन्महेतुता निरस्य तद्व्यतिरेकेणेत्यर्थः। एतेन विशेषलक्षणव्यावृत्तिः सिद्धा।। अस्वरूपमपीति ।। स्वरूपलक्षणव्यावृत्तिः । तस्य लक्ष्यस्य एवंविधं यल्लक्षणं भवेत्तदुपलक्षणं विदुरिति योजना । उदाहरणमस्य, काकवदिति ।। यथा काकनिलयं तद् दृश्यते तद्देवदत्तगृहमित्यत्रोपलक्ष्यस्य गृहस्यास्वरूपभूतस्तत्र विशेषणतया ननु प्रविष्टः काको देवदत्तगृहं लक्षयत्येवंविधमुपलक्षणमित्यर्थः।।५१८।।

एवं लक्षणभेदे स्थिते प्रकृते वाक्ये उपलक्षणार्थत्वमेवेति प्रकृतमुपपादयल्लँक्षणान्तरपरत्वमस्य प्रतिषेधति—

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वमस्य
चिद्वस्तुनो यदसहायपरिग्रहस्य ।।
तद्वर्णनीयमुपलक्षणमेव कस्माद्
ब्रह्मेति लक्ष्यपदशक्त्यविरोधहेतोः ।। ५१९ ।।

**विश्वोद्भवेति**।। अस्य चिद्वस्तुनोऽसहायपरिग्रहस्याद्वितीयस्य लक्ष्यभूतस्य यद् विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वं लक्षणं तदुपलक्षणमेव वर्णनीयं, न लक्षणान्तरमिति योजना। प्रतिज्ञायां हेतुमाह।।कस्मादित्यादिना ।। ब्रह्मेति यल्लक्ष्यपदं तस्य या शक्तिस्तस्या अविरोधसिद्ध्यर्थं पदशक्तेरसंकोचार्थमित्यर्थः ।। ५१९ ।।

उक्तलक्षणस्य विशेषलक्षणत्वे को विरोध उक्त इत्यत आह—

विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतित्वरूप-
मेकाकिनो यदिह लक्षणमुच्यमानम् ।।
तद् ब्रह्मणो यदि विशेषणरूपमिष्टं

ब्रह्मेति लक्ष्यविषयस्य पदस्य भङ्गः ॥ ५२० ॥

विश्वोद्भवेति, पद्यान्तरेण ॥ एकाकिनोऽखण्डाद्वयस्येत्यर्थः । जगत्कारणस्यापि लक्ष्यविशेषणत्वे बृहत्यर्थस्याद्वयत्वस्य भङ्गाल्लक्ष्यवाचिब्रह्मपदशक्तिसंकोचप्रसङ्ग इत्यर्थः । तत्संकोचे च वाक्येनानेनाऽखण्डं ब्रह्म लक्षितं न स्यात् । तस्य चालक्षणे, अधीहि भगवो ब्रह्मेत्युपक्रमविरोध इति भावः ॥ ५२० ॥

ननूपलक्षणपक्षेऽपि लक्षणस्य काल्पनिकत्वात्तद्वाचिपदभङ्गप्रसङ्गस्तुल्यस्तत्र किं वरमिति विशेषनियामकं वाच्यमित्यत आह—

लक्ष्यार्थवाचि पदमत्र हि लक्षणार्थे-
वाक्ये प्रधानमितरद् गुणभूतमाहुः ॥
ब्रह्मेति लक्ष्यविषयं च पदं समर्थे-
भूमानमेव वदितुं न तु मर्त्यमल्पम् ॥ ५२१ ॥

लक्ष्याऽर्थवाचीति ॥ अत्र हि लक्षणार्थे वाक्ये लक्ष्याऽर्थवाचिपदं प्रधानम् उद्देश्यविषयत्वात् । इतरल्लक्षणवाचि सर्वं शब्दजातं गुणभूतं,तच्छेषभूतार्थविषयत्वादित्याहुस्तद्विद इत्यर्थः। गुणानुरोधेन प्रधानभङ्गो दोषाय, प्रधानानुरोधेन गुणभङ्गो न दोषाय, प्रत्युत गुणायैव । प्रधानार्थत्वाद्गुणस्येत्यभिप्रायः । ननु ब्रह्मपदस्य लक्ष्यार्थतया प्रधानत्वेऽपीषद्भेदाङ्गीकारेण लक्षणधर्मकब्रह्मविषयकत्वाऽभ्युपगमेन विरोध इतिचेन्मैवम् । पदस्वारस्यस्याकस्मादेव भङ्गप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह॥ब्रह्मेतीति॥ न च ब्रह्मपदस्येषदपि भेदमादाय वृत्तिसंकोचो युक्तः । भूमलक्षणवाक्ये सर्वभेदरहितं ब्रह्म भूमेतिप्रतिष्ठापितत्वात्तेन विरोधापत्तेरिति सूचयति ॥ भूमानमिति ॥ तथाच श्रुतिर्भूमलक्षणपरा

पठ्यते । यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमेति । सर्वभेदरहितमविषयभूतं वस्तु भूमेत्यभिधाय तद्-द्रढिम्ने तद्विपरीतस्य परिच्छिन्नस्याब्रह्मणः स्वरूपमाह श्रुतिरथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पमथ यदल्पं तन्मर्त्यमिति । विशेषलक्षणपरत्वनिराकरणेनैव अस्य स्वरूप-लक्षणार्थत्वमपि निराकृतं वेदितव्यम् । यस्य धर्मत्वमपि नास्ति, नतरां तस्य स्वरूपत्वमपीति ॥ ५२१ ॥

उपपादितमर्थमुपसंहरति—

तस्मात्प्रधानपदभङ्गभयाद् गुणानां
युक्तं ग्रहीतुमुपलक्षणगोचरत्वम् ॥
ब्रह्मेति चैतदुपलक्ष्यसमर्पणार्थ-
मेवं समञ्जसमिदं पदजातमस्मिन् ॥ ५२२ ॥

तस्मादिति ॥ प्रधानपदभङ्गभयाद् ब्रह्मपदस्वारस्यभङ्गभ-याद् गुणानां लक्षणार्थानां पदानामुपलक्षणगोचरत्वं ग्रहीतुं युक्तमिति योजना । ब्रह्मेति चैतत्पदमुपलक्ष्यब्रह्मवस्तुसमर्पणा-ऽर्थमिति च ग्रहीतुं युक्तमिति पूर्वेणान्वयः। एवमुक्तप्रकारेणास्मिन् वाक्ये इदं पदजातं विभागेनान्वितार्थं सत्समञ्जसमाकाङ्क्षितार्थ-समर्पकतयेत्यर्थः ॥ ५२२ ॥

तदेवं, यतो वा इत्यादिवाक्यस्य लक्षणपरत्वं निर्द्धारितं, लक्षणं चैतदुपलक्षणमेवेति च । तत्रेदं लक्षणं किमर्थमुपादीयत इति विवक्षायां वस्तुस्वरूपज्ञप्त्यर्थमितिकेचिन्मन्यन्ते । मानान्तरै-रज्ञातस्वरूपं ब्रह्म लक्षणवाक्यैर्हि ज्ञाप्यत इत्येतदेव लक्षणकृत्य-मिति तेषामभिप्रायः । अन्ये तु श्रुतिः स्वयमेव सत्यज्ञाना-दिकं वस्तु प्रतिपाद्य यदेवंविधं वस्तु तत्तत्पदस्यार्थ इति वक्तीति

संज्ञासंज्ञिसंबन्ध एव लक्षणकृत्यं नान्यदित्याहुः । तदुभयं दूषयन् स्वमतलक्ष्यस्येतरेभ्यो व्यावृत्तिरेव लक्षणप्रयोजनमित्युपपादयति—

लक्ष्यस्वरूपकथनाय न लक्षणानि
नाप्यस्य वाचकमिदं पदमित्यमुष्मै ॥
व्यावृत्तमेतदखिलादितरार्थजाता-
दित्येतदेव वदितु ननु लक्षणानि ॥ ५२३ ॥

लक्ष्यस्वरूपकथनायेति ॥ सजातीयविजातीयव्यावृत्तिरेव लक्षणकृत्यं, नाज्ञातवस्तुस्वरूपज्ञप्तिरिति ॥ ५२३ ॥

कुतो निर्णय इतिचेत्तत्राह—

लक्ष्यस्वरूपमुपलभ्य तदेकनिष्ठं
दृष्ट्वा च लक्षणमनेन तदेव लक्ष्यम् ॥
व्यावर्त्य बोधयितुमुत्सहते जनोऽयं
तत्त्वान्तरादिति यतः प्रतिपन्नमेतत् ॥ ५२४ ॥

लक्ष्यस्वरूपमुपलभ्येति ॥ अयमर्थः । लक्षणं लक्ष्यगततयाऽवगतं सत्तल्लक्षयेन्नानवगतमिति सर्वेषामनुभवमार्गागतम् । तथाच यन्निष्ठं तल्लक्षणमवगम्यते तदपि लक्ष्यं, नात्यन्तमज्ञातम् । तथा सति लक्ष्यसम्बद्धतया लक्षणप्रतीत्यसम्भवात् कस्येदं लक्षणं स्यादिति । तस्माल्लक्ष्यस्वरूपं पदसामर्थ्याद्वा प्रमाणान्तराद्वोपलभ्य लक्षणं च तदेकनिष्ठं लक्ष्यस्यासाधारणधर्मरूपं दृष्ट्वाऽवगम्य, अनेन लक्षणेन तदेव लक्ष्यं तत्त्वान्तरादलक्ष्यभूतादर्थान्तराद्व्यावर्त्त्य पृथगुद्धृत्य परं बोधयितुमयं जन उत्सहते, नान्यथेति यत एतत् प्रतिपन्नं सर्वजनप्रसिद्धमतो ना-

ऽज्ञातज्ञापनं लक्षणकृत्यमित्यक्षरार्थः ॥ ५२४ ॥

अज्ञातवस्तुज्ञापनार्थं लक्षणमिति मतं निराकृत्य संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीत्यर्थं लक्षणमिति मतं निराकरोति—

संज्ञासंज्ञिसमन्वयावगतये नेष्टं क्वचिल्लक्षणं
व्यावृत्तिप्रतिपत्तिमात्रजनकं लक्ष्ये भवेदन्यतः ॥
लक्ष्यं लक्षणवर्त्मना हि जगति व्यावर्त्तयन्तोऽन्यत-
स्तत्तल्लक्षणमादरेण महता संगृह्णते वादिनः ॥५२५॥

संज्ञासंज्ञीति ॥ क्वचिदिति ॥ गोसदृशो गवय इत्यादावपि लक्षणे गवयादिसंज्ञायाः संज्ञिना सह सम्बन्धप्रतीत्यर्थता नावगम्यते। किन्त्वन्यव्यावृत्त्यर्थतैव । यतो लक्षणतो व्यावृत्ततया प्रतिपन्नस्यैव संज्ञासंज्ञिसम्बन्धावगतिरित्यतो लक्षणं क्वापि यथोक्तसम्बन्धसिद्धिफलमिष्टमित्यर्थः। सर्वथापि लक्षणकथनमन्यतो व्यावृत्तिप्रतिपत्तिमात्रार्थमिति परिशेषात् सिद्धमित्याह ॥ व्यावृत्तीति ॥ सजातीयविजातीयव्यावृत्तिरेव लक्षणकृत्यमित्येतदेव सर्ववादिनामपि सम्मतामित्यतोऽयं सर्वतन्त्रसिद्धान्त इत्यऽभिप्रेत्याह ॥ लक्ष्यं लक्षणवर्त्मनेति ॥ ५२५ ॥

तस्मादस्मन्मतं निर्दुष्टं सिद्धमित्युपसंहरति—

तस्माद् ब्रह्मणि वाच्यवाचकयुजा सिद्ध्यै श्रुतिर्नाभ्यधा-
ज्जन्माद्यस्य समीक्षितस्य जगतो यद् ब्रह्मणो लक्षणम् ॥
नापीदं स्वकरूपबोधनपरं संकीर्तितं ब्रह्मणः
किं त्वब्रह्मपदार्थतोऽस्य सकलाद् व्यावृत्ततासिद्धये ॥
॥ ५२६ ॥

तस्माद् ब्रह्मणीति ॥ वाच्यवाचकयुजासिद्ध्यै इति ॥

संज्ञासंज्ञियोगसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥ अस्येत्यस्य व्याख्यानं समीक्षितस्येति ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणसन्निधापितस्येत्यर्थः । जगतो जन्मादि यल्लक्षणमिति संबन्धः । ब्रह्मणः स्वकरूपेति संबन्धः । अज्ञातब्रह्मस्वरूपबोधार्थमपि नेदं लक्षणमित्यर्थः । सुगममन्यत् ॥ ५२६ ॥

नन्वद्वैतवादे व्यवच्छेद्याभावात् कथमन्यव्यावृत्त्यर्थं लक्षणमितिचेत्, सत्यम् । परमार्थतो ब्रह्मणोऽन्यस्य सजातीयस्य विजातीयस्य चाभावेऽपि भ्रान्तिकल्पितमस्ति चेतनाचेतनात्मकं जगत् परिच्छिन्नम् । ततो व्यवच्छेदार्थं लक्षणकथनमित्याह—

परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदसिद्धै
जगाद श्रुतिर्लक्षणं ब्रह्मणस्तत् ॥
परिच्छिन्नता प्रापिता पूर्वपक्षे
परब्रह्मणस्तन्निषेधार्थमेतत् ॥ ५२७ ॥

परिच्छिन्नेति॥ननु यथोक्ताज्जगतः परिच्छिन्नाद् ब्रह्मणो व्यावृत्तिरपि परिवृढत्वार्थकब्रह्मपदसामर्थ्यवशात् सिद्धेति किं लक्षणेनेतिचेत्तत्राह ॥ परिच्छिन्नतेति ॥ यद्यपि शब्दसामर्थ्यात् परिवृढमपरिच्छिन्नं किञ्चिद् ब्रह्मेति भवति प्रतीतिस्तथापीदं तदिति लोके शास्त्रान्तरेषु वा प्रसिद्धमित्यतस्तत्स्वरूपमन्यैरन्यथोत्प्रेक्षितमाक्षेपिकमहत्त्वोपेतमेव किञ्चिद् ब्रह्मपदार्थ इति तन्निषेधार्थमेतल्लक्षणमपेक्षितमेवेत्यर्थः। सामान्यतः पदसामर्थ्यादवगतस्य वस्तुनः स्वरूपविशेषसिद्धये लक्षणमर्थवदिति भावः ॥५२७॥

किं तत्परिच्छिन्नं ब्रह्म पूर्वपक्षे प्रतिपन्नमितिचेत्तदाह—

कालस्वभावपरमाण्वसुभृत्प्रधान-
स्कन्धप्रतीत्यखिलशून्यकथाप्रसङ्गे ॥

जन्मादिसूत्रमवतीर्णमियं श्रुतिश्च
तस्मादिदम्परमिदं द्वितयं प्रवृत्तम् ॥ ६२८ ॥

**कालस्वभावेति** ॥ जगतः कारणं काल इति ज्योतिर्विदः । स्वभाव इतिस्वभाववादिनो नास्तिकविशेषाश्चार्वाकादयः । परमाणव इति वैशेषिकाः । असुभृज्जीवः कारणमिति हैरण्यगर्भाः । प्रधानमिति सांख्याः । स्कन्ध इति पञ्चस्कन्धवादिनो बौद्धाः । प्रतीतिरेवेति विज्ञानवादिनः । अखिलशून्यमसदेव कारणमिति माध्यमिकाः। एतेषां कथाप्रसङ्गे वाद्युत्प्रेक्षितकारणविचारप्रसङ्गे तन्निरासाय जन्मादिसूत्रमवतीर्णम्, इयं यतो वा इमानीति श्रुतिश्चावतीर्णा यस्मात् तस्मादिदं द्वयं सूत्रं श्रुतिश्चेदं परं कारणमात्रपरं प्रवृत्तम् । अतः परिच्छिन्नकारणव्युदासेनापरिच्छिन्नं किमपि कारणं सिद्ध्येत् कालो वा प्रधानं वा अन्यदेव वा स्वकार्यापेक्षया परिवृढं जगतः कारणं श्रुतिसूत्राभ्या निगद्यते, न त्रिविधपरिच्छेदरहितमद्वयमखण्डं वस्त्विति पूर्वपक्षिभिः परिच्छेदः प्रापित इति भावः ॥ ५२८ ॥

ननु श्रुतिवचनविरोधादित्यादिभिः पद्यैर्लोकत एव सामान्यतोऽनुमानसिद्धस्य चेतनकारणत्वस्य संभावितैकत्वस्य विशेषतो निर्णीतत्वाद्वाक्यस्य च समस्तपरिच्छिन्नार्थव्यावृत्तपरिपूर्णब्रह्मलक्षणपरतायाः सिद्धत्वात् कुतः पुनः परिच्छिन्नत्वशङ्केत्याशङ्क्य प्रकारान्तरेण परिच्छेदशङ्काप्राप्तिं दर्शयन्नाह—

अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावेन योनि-
र्निमित्तं च यत्कारण जन्मभाजाम्
परिच्छिन्नतास्यापि संभावितैव
प्रतीचोऽस्य भेदे परैरुच्यमाने ॥ ५२९

अधिष्ठात्रिति॥ जन्मभाजां कार्याणां योनिरुपादनंनिमित्तं च यत्कारणमस्यापि कारणस्याप्यधिष्ठात्राधिष्ठेयभावेन नियम्य-नियामकत्वेनास्य प्रसिद्धस्य कारणात्मनः प्रतीचो जीवात्मनश्च भेदे परैस्तार्किकैरुच्यमाने परिच्छिन्नता संभावितैवेति योजना । अतस्तटस्थेश्वरपरमिदं सूत्रं श्रुतिश्चेति पूर्वपक्षप्राप्तिरितिभावः ॥

॥ ५२९ ॥

यत एवं पूर्वपक्षप्राप्तिः शब्दमात्रान्न समाधीयते । अतो लक्षणं तत्समाधानार्थ युक्तमुपादातुमित्याह—

ततस्तन्निषेधार्थमेतद्ब्रभाषे
श्रुतिर्ब्रह्म तद्भिन्नता तस्य कस्मात् ॥
प्रतीचोऽपि हि ब्रह्मता नित्यसिद्धा
दृशो भेदसिद्धिर्निरालम्बनैव ॥ ५३० ॥

तत इति ॥ यत एवं पूर्वपक्षशङ्का ततो हेतोस्तन्निषेधार्थ शङ्कितपरिच्छेदनिषेधार्थमेतद्ब्रह्म श्रुतिर्बभाषे लक्षयामासेत्यर्थः। अतस्तस्य प्रतीचस्तद्भिन्नता कस्मात् स्यात् कस्मान्न स्याद्विरुद्ध-धर्माक्रान्ततया तयोर्भेदस्योक्तत्वादित्यत आह॥ प्रतीचोऽपीति॥ हीति ॥ नित्यसिद्धा स्वभावसिद्धा चिद्रूपत्वाविशेषादित्यर्थः । चिद्रूपत्वेऽपि भेदः किं नस्यादित्यत आह ॥ दृश इति ॥ दृशो ज्ञानरूपस्वयम्प्रकाशस्य भास्यभेदासिद्धिर्भेदप्रतीतिर्निरालम्बना विषयशून्या भ्रान्तिरेवेत्यऽर्थः । उपाधिभेदमन्तरेण स्वरूपभेदा-निरूपणादित्यर्थः ॥ ५३० ॥

तदेवं महावाक्यप्रयुक्तब्रह्मपदेनावयवशक्त्या परिवृढवस्तुनि प्रतिपन्ने सति तस्य संकोचकारणाभावेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-भावसर्वज्ञसर्वशक्तिनया संभाविते तस्मिन् पुनरपि पूर्वोक्तप्रकारेण

परिच्छेदशङ्काप्राप्तौ तद्‌व्यवच्छेदार्थं जगत्कारणत्वलक्षणतेत्थं परिच्छेदव्यावृत्तिसिद्धिरित्युपपादितम् । अतो यदुक्तं स्वरूप-सिद्ध्यर्थमिदं ब्रह्मणो लक्षणमुच्यत इति तदसंगतमेवेति सिद्धमि-त्युपसंहरति—

जगत्कारणत्वं पुनर्यत्र दृष्टं
न तल्लक्षण तत्स्वरूपप्रसिद्ध्यै ॥
स्वरूपे यतो लक्षणे दृश्यमाने
प्रसिद्धं ततो लक्ष्यवस्तुस्वरूपम् ॥ ५३१ ॥

**जगत्कारणत्वमिति** ॥ यत्र जगत्कारणत्वं लक्षणं दृष्टं तल्लक्षणं तत् स्वरूपप्रसिद्ध्यै, न भवति, किं त्वन्यवृत्तिसिद्ध्य इत्यर्थः । कुत इत्यत आह ॥ स्वरूपेति ॥ यतो यस्मात् स्वरूपे लक्ष्यस्वरूपे लक्षणे तन्निष्ठतया दृश्यमाने सत्येव ततो लक्षणा-ल्लक्ष्यवस्तुस्वरूपं प्रसिद्धं लक्ष्यस्थतया वा प्रसिद्धस्य क्वचि-ल्लक्षणत्वादर्शनान्न स्वरूपसिद्ध्यर्थत्वं लक्षणस्येत्यर्थः ॥ ५३१ ॥

ननु जगतः कारणमात्रमनुमानादिसिद्धमनूद्यानेन लक्षणेन तस्य ब्रह्मत्वं विधीयते, किं वाऽभिन्ननिमित्तोपादानरूपम् । नाद्यः । तस्य लोकदृष्ट्यनुसारेणैव परिच्छिन्नाचेतनत्वसम्भवे तस्मिँस्तद्विपरीतं ब्रह्मत्वविधानायोगादित्यभिप्रेत्य द्वितीयवस्तु-सत्तासिद्धिपरमेव वाक्यं स्यान्न लक्षणपरमिति शङ्कते—

निमित्तं च योनिश्च यत्कारणं त-
त्परं ब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः ॥
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कथं सिद्धवल्लक्षण सिद्धिबाह्यम् ॥ ५३२ ॥

**निमित्तमिति** ।। निमित्तं च योनिरुपादानं चेत्येकं यत् सर्वस्याशेषस्य जन्मादिभाजो जन्मस्थितिलयभाजः कारणं तत् परं ब्रह्मेति नोऽस्मान् प्रत्येवं, यतो वा इत्यादिश्रुतिः स्पष्टमसन्दिग्धं यथा स्यात्तथाऽऽचष्टे कथयति । एतादृशस्य कारणस्य लोके प्रसिद्ध्यभावाज्जगज्जन्मादिनिमित्तोपादानतयाऽपूर्वं ब्रह्मैषा श्रुतिः प्रतिपादयतीत्यर्थः । एवं सति कथमिदं सिद्धिबाह्यं स्वरूपासाधकं सिद्धवल्लक्षणं स्यान्न कथमपीत्यर्थः।।५३२।।

एतादृशस्यापि कारणस्य, एकं चेतनमस्य यत्प्रकृतितामापत्समुत्प्रेक्ष्यते इत्यत्र प्रसिद्धिमवोचामेतिचेत्तत्राह—

न खल्वीदृशं कारणं लोकसिद्धं
यतोऽनूद्य तल्लक्षणं तेन लक्ष्यम् ॥
व्यवस्थापयन्ती प्रवृत्तैवमेषा
विधत्तेऽनुवक्तीति चैतद्विरुद्धम् ॥ ५३३ ॥

**न खल्वीदृशमिति**।।लोकशब्देन प्रत्यक्षादिप्रमाणमभिप्रेयते, न जनश्रुतिमात्रम् । ईदृशं कारणं प्रत्यक्षादिप्रमाणान्यतमेनाऽपि न स्वसिद्धमित्यर्थः । यद्यप्येकं चेतनमित्यादौ संभावनोक्ता तस्या उत्प्रेक्षामात्रत्वादुत्प्रेक्षायाश्चार्थनियमाभावात् तात्सिद्धं, न सिद्धमेवेति भावः । यतः प्रमाणसिद्धेस्तत्कारणं लक्षणमनूद्य तेन लक्षणेन तल्लक्ष्यं व्यवस्थापयन्त्येषा श्रुतिः प्रवृत्तेति मतं तदीदृशं कारणं न खलु लोकसिद्धमिति योजना । मा भूत्तर्हि लोकतः सिद्धिः,श्रुतिरेवैषा यत इत्येकवचनपञ्चमीभ्यामेतादृशं कारणं साधयत्विति चेन्नैवम् । अस्याः श्रुतेरनुवादस्वरूपत्वादनुवादविधानयोरेकस्मिन् वाक्ये प्रत्येतुमशक्यत्वादित्याह ।। विधत्तेऽनुवक्तीति चैतद्विरुद्धमिति ।। ५३३ ।।

परिहरति—

अनुवददिदमेव वाक्यमर्था-
दुपनयतीदृशकारणं प्रसिद्धम् ॥
अनुवदनमशक्यमन्यथा स्या-
दवगतगोचरमेव हीदमिष्टम् ॥ ५३४ ॥

**अनुवददिदमिति॥** इदमेव वाक्यमेकं चेतनं सर्वसर्वशक्ति जगतोऽधिष्ठातृ प्रकृतिश्चेति यत् कारणं सम्भाव्यते तद् ब्रह्मेति अनुवदत् सिद्धवन्निर्दिशदर्थात् सिद्धवन्निर्देशसामर्थ्यादीदृशकारणं प्रसिद्धमुपनयति विदधाति । अर्थसिद्धिमेवोपपादयति ॥ अनुवदनमिति ॥ इदमनुवदनमित्यर्थः। एतदुक्तं भवति । प्रमितं विनानुवादायोगादन्यतश्चाप्रमितेः प्रामाण्यभूतया श्रुत्यैतादृशस्य जगत्कारणस्य सिद्धवदनुवादादेवेदं ब्रह्म कारणं प्रामाणिकं, नान्यदन्यैरुत्प्रेक्षितं प्रधानादीत्यर्थाद्विधिरपि सिद्ध्यतीति॥५३४॥

अनुवादबलादेवार्थाद्विधिसिद्धौ दृष्टान्तमाह—

यथा विशिष्टस्य विधानतोऽर्था-
द्विशेषणानां घटते विधानम् ॥
स्थितेऽनुवादेऽपि तथेह योज्य-
मनूद्यमानेऽपि जगन्निदाने ॥ ५३५ ॥

**यथा विशिष्टस्येति॥** सोमेन यजेतेत्यादौ यथा सोमादिविशिष्टस्य यागस्य च विधानादर्थाद्विशेषणानां सोमादीनामपि विधानं घटते । विशिष्टविधौ हि विशेषणमपि विधीयते । तस्य चाप्रसिद्धत्वे सिद्धवत्कारेण विशिष्टविधानायोगाद् विषयस्य दध्यादाविव वाक्यान्तरप्रापितस्येहाभावाद्यथाविशेषणविधानमर्थ-

सिद्धमिति दृष्टान्तभागार्थः । दार्ष्टान्तिकमाह ॥ स्थित इति ॥ तथा इहापि वाक्येऽनुवादे स्थिते सत्यनुवादबलादनूद्यमानेऽपि जगन्निदानेऽर्थाद्विधानं योज्यमित्यर्थः । यतो भूतोत्पत्तिस्थितिलया भवन्ति तद् ब्रह्मेति भूतोत्पत्त्यादिहेतुत्वाधारस्य ब्रह्मत्वविधानं भूतोत्पत्त्यादिहेतुसिद्धिमन्तरेण नोपपद्यते । असिद्धसद्भावस्यानुवादासम्भवादतोऽनुवादसामर्थ्यादेतादृक्कारणवस्तुसिद्धिरित्यवसीयते। यथा, सोमेन यजेतेत्यत्र सोमविशिष्टयागविधाने विधेयविशेषणस्य सोमस्य कुतश्चित् सिद्धिराक्षिप्यते तद्वत् । यद्यपि दृष्टान्ते सोमस्य विशेषणत्वं,दार्ष्टान्तिके तु जगदुत्पत्त्यादिहेतुत्वस्योपलक्षणत्वमिति वैषम्यमिति । तथापि सिद्धवन्निर्देशसामर्थ्यादर्थस्वरूपसिद्धौ दृष्टान्ते न विरोध इति गमयितव्यम् ॥ ५३५ ॥

यदा प्रमाणभूतया श्रुत्याऽनुवादादेव इदं प्रामाणिकमिति कल्प्यते तदा प्रमाणेन सहैव तत् कल्प्यतइत्यन्यदेवात्र प्रमाणमनुवादबलात् कल्पितं स्यान्न त्वनुवादश्रुतेरर्थाद्विधायकत्वक्लृप्तिरर्थादपि विधौ वाक्यभेदस्यापरिहरणीयत्वादिति पूर्वापरितोषेणाह—

अथवानुवादमुपलभ्य ततो-<br>
ऽनुपपद्यमानवपुषः प्रमितेः ॥<br>
अपरं निमित्तमिह कल्प्यमिति<br>
प्रवदन्ति केचिदभियुक्ततराः ॥ ५३६ ॥

अथवानुवादमिति ॥ प्रमितिं विनानुपपद्यमानवपुषोऽसम्भावितार्थस्यानुवादमुपलभ्य ततोऽनुवादादुपपादिकायाः प्रमितेरुत्पादकमपरं निमित्तं प्रमाणमिह कल्प्यं,न त्विदमेव वाक्यं तस्याः प्रमितेर्निमित्तमिति केचिदभियुक्ततराः प्रवदन्तीति योजना । अत्र तरपः प्रयोगादयमेव पक्षोऽत्र युक्त इति

भावः ॥ ५३६ ॥

तर्हि विशिष्टविधौ कथमितिचेत्तत्रापीत्थमेव युक्तमित्याह—

अपि विशिष्टविधौ वचनान्तरा-

दनुपपत्तिबलानुमितादिह ॥

विधिरशेषविशेषणगोचरो

न तु पुनस्तत एव विधानतः ॥ ५३७ ॥

अपि विशिष्टविधाविति ॥ विशिष्टविधावपीह विशिष्ट-विधिवाक्ये विशेषणत्वसिद्धवत्कारेण विशिष्टविधानानुपपत्ति-बलानुमिताद्वचनान्तराद्विशेषणविधायकविषयादेवाशेषविशेषण-गोचरो विधिः कल्प्यते, न तु तेनैव पुनस्तत एव विधानतो वि-शिष्टविधायकादेव वाक्याद्विशेषणविधिसिद्धिः कल्प्येति योजना। किं तद्विशेषणविधायकं वाक्यान्तरमिहानुपपत्तिबलात् सिद्धमि-त्यन्वेषणान्नैवं सति स्यादिति न शङ्का कार्या। अस्मादेवानुवाद-बलात्तत्सद्भावस्य तत्प्रकारस्य च निश्चितत्वोपपत्तेस्तथैव प्रकृत-वाक्येऽपि प्रमाणान्तरान्वेषणप्रसङ्गानवसर इतिद्रष्टव्यम्॥५३७॥

तदेवमुक्तप्रकारेणानुवादमुखेनाद्वितीयचेतनकारणसमर्पणसं-भवात्तेन लक्षणेन ब्रह्मणो महावाक्यगतब्रह्मपदशक्त्या सामान्य-तः प्रसिद्धस्य परिच्छिन्नवस्तुव्यवच्छेदेन निरङ्कुशमहत्त्वोपेततया लक्षयितुं शक्यत्वाद्यथाश्रुति लक्षणार्थमेवेदं, यतो वा इमानि भूता-नीत्यादि जगत्कारणवादिवाक्यं, न त्वत्यन्तमप्रसिद्धे ब्रह्मणि प्रमाणकथनार्थमिति सिद्धमिति स्वमतमुपसंहरति—

जन्मादिलक्षणमिदं जगतो यदुक्तं

सद्ब्रह्मणस्तदिह चिह्नतयोपदिष्टम् ॥

नास्मिन् प्रमाणमपरे पुनरेतदेव
ब्रह्मप्रमाणमनुमानमुदीरयन्ति ॥ ५३८ ॥

जन्मादीति ॥ यदिदं जगतो जन्मादिलक्षणं जन्मास्थिति-लयरूपमुक्तं श्रुत्या तत्सद्ब्रह्मणः सच्छब्दनिर्दिष्टस्य प्रकाशसन्मात्रतत्त्वस्य ब्रह्मणश्चिह्नतयोपादिष्टं लक्षणत्वेनैवाख्यातं न पुनरस्मिन् ब्रह्मणि प्रमाणमिदं वाक्यमभिमतमित्यर्थः ॥ नास्मिन् प्रमाणमिति निषेधस्य कुतः प्राप्तिरिति तत्राह ॥अपरे पुनरिति॥ लक्षणकथनमुखेनापीदं वाक्यं ब्रह्मणि प्रमाणमेवेति युक्तम् । यतोऽपरे नैयायिकादय एतदेव वाक्यं ब्रह्मसद्भावसाधके प्रमाणमनुमानं कार्यलिङ्गमुक्तामित्युदीरयान्ति । अतः प्राप्तः प्रतिषेधः कृत इत्यर्थः ॥ ५३८ ॥

अनुमानवादिनामभिप्रायं प्रकटयति—

कार्यानुमानपरतन्त्रमिदं हि शास्त्रं
शास्त्रस्य नोपकरण तदितीक्षमाणाः ॥
तद दुर्घटं न खलु कारणमद्धितीयं
चैतन्ययुक्तमिति कार्यवशात् प्रतीमः ॥ ५३९ ॥

कार्यानुमानपरतन्त्रमिति॥ इदं शास्त्रं, यतो वा इत्यादिरूपं कार्यलिङ्गानुमानपरतन्त्रं हि निश्चितमेव तदनुमानं शास्त्रस्य नोपकरणं शास्त्रोक्तेऽर्थेऽसंभावनापनयेन शास्त्रोपकारकं नभवतीतीक्षमाणा एतदनुमानमुदीरयन्तीति पूर्वेणान्वयः। कार्यलिङ्गकानुमानसिद्धेश्वरप्रणीततयाप्तवाक्यत्वाद्धि वेदप्रमाण्यमतो ब्रह्मणि वाक्यवृत्तिसंभवेऽपि तस्यानुमानगम्याधिकार्थसमर्पकत्वाभावादनुमानात्मनैवंविध-वाक्ययोजनमुचितामितिभावः। एवं युक्तिसिद्धं

मतं कस्माद्भवद्भिरपि नेष्यते इतिचेदसम्भवादेवेति, तन्मतं दूषयति ॥ तद् दुर्घटमिति ॥ दुर्घटत्वमेव प्रकटति ॥ न खल्विति ॥ अक्षराऽर्थस्त्वतिरोहितः । एतदुक्तं भवति । अस्य वाक्यस्यानुमानोपन्यासार्थत्वमेव यदाऽऽश्रीयते तदा यादृशं ब्रह्मेह जगत्कारणतया प्रतिपिपादयिषितं तादृशं न सिद्ध्येत् । सर्वाचेतनस्वभावविलक्षणं हि ब्रह्मेह कारणत्वेनोपलिलक्षयिषितम् । न हि कार्यत्वादिलिङ्गाना तादृशेन व्याप्तिसिद्धिरस्ति । दृष्टान्तभूतस्य तादृशस्यासम्भवात् । अद्वितीयाखण्डवस्तुनश्चेतनस्यानङ्गीकारे च ब्रह्मपदशक्तिरकस्मात् संकुचेत । तस्मात् सामान्यतः प्रसिद्धस्य जगतः कारणस्य सर्वोपादाननिमित्ततया सर्वानुस्यूतसन्मात्रत्वेन परिपूर्णब्रह्मात्मत्वमन्यतोऽप्रसिद्धं लक्षयितुमेवेदं वाक्यमनन्यशेषभूतं प्रवृत्तमिति ॥ ५३९ ॥

नन्वागमोऽपि कथमीदृशो मानान्तरागोचरे कारणे ब्रह्मणि मानं स्यात् । तस्यापि मानान्तराधीनव्युत्पत्त्यधीनत्वादर्थबोधनप्रवृत्तेरितिचेन्नैवमागमस्य ब्रह्मणि प्रामाण्यप्रकारस्य पूर्वमुपपादितत्वादिति । तदेव स्मारयति–

वेदान्तवाक्यमिह येन पथा प्रवृत्तं
लोकप्रसिद्धपदशक्तिमुपाददानम् ॥
विश्वोद्भवस्थितिलयप्रकृतौ निमित्ते
सच्चित्सुखात्मनि परात्मनि नैवमन्यत् ॥ ५४० ॥

वेदान्तवाक्यमिति ॥ इह ब्रह्मणि परात्मनीति सम्बन्धः ॥ ५४० ॥

सत्यमेतादृशं कारणमनुमानान्न सिद्ध्यत्येव, तथापि यादृशं तु सिद्ध्यत्यनुमानात् तद्विषयमेव वेदान्तवाक्यमपि योज्यमतोऽनु-

मानसापेक्षत्वात्तस्येति कणादमतमाशङ्क्य श्रुतहान्यश्रुतकल्पना-प्रसङ्गान्मैवमित्याह—

भङ्क्त्वा कथञ्चिदनुमानवशेन सिद्धे
सर्वेश्वरे कणभुगादिभिरुच्यमाने ॥
वेदान्तवाक्यमपि योज्यमतोऽनुमाने
सापेक्षतोपनिषदां यदि साहसं तत् ॥ ५४१ ॥

भङ्क्त्वेति॥अद्वितीये ब्रह्मणि जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादाने श्रुतेः प्रवृत्तिस्वारस्यं शब्दसामर्थ्यनिबन्धनं भङ्क्त्वानुमानवशेन सिद्धे सर्वेश्वरे तटस्थे वेदान्तवाक्यमपि कथञ्चिद्योज्यमित्यतो-ऽनुमाने उपनिषदां यदि सापेक्षता कल्प्येत तत् साहसमिति योजना ।पुरुषोत्प्रेक्षितानुमानवशादपौरुषेयवेदवाक्यस्य स्वारस्य-भङ्गेन अनुमानानुगुणत्वकल्पनं प्रामाणिकानां न युक्तमिति भावः ॥ ५४१ ॥

ननु सर्वेषां वेदान्तानां न मुख्यार्थलाभः क्वाप्यस्ति । लाक्षणिक्या वृत्तेरपि बाहुल्येनोपलम्भात् । अतोऽत्रापि केषा-ञ्चित् पदानामनुमानुगुणतया तादृशवृत्त्याश्रयणं न साहसमिति-चेन्मैवम् । अतिसाहसत्वादिह तत्कल्पनाया इत्याह—

निष्कारणं श्रुतिशिरोवचनस्य भङ्गं
ये वर्णयन्ति सहसा स्वमनोरथेन ॥
दीप्तस्य दावदहनस्य न ते किमर्थं
ज्वालां पिबन्ति कथनीयमिदं बहुज्ञैः ॥ ५४२ ॥

निष्कारणमिति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् । सर्वत्रापि मुख्यार्थस्यान्वयासम्भवप्रकारप्रयुक्ता लक्षणेति स्थितिः । इह च

मुख्यार्थसम्भव उपपादितः। निष्कारणमेव मुख्यार्थत्यागोऽतिसाहसमेव विशेषतो वेदवाक्येषु। वेदार्थस्य मानान्तरागम्यत्वाद्यथाशब्दमेवाश्रयणीयत्वान्मानान्तरगम्ये त्वर्थे तदनुरोधादपि स्यात् क्वचिच्छब्द उपचारवृत्तिरिति भावः॥ ५४२॥

नन्वत्रापि मुख्यार्थान्वयासम्भवोऽस्ति लक्षणानिमित्तमिति चोदयति—

ननु सच्चिदादिवपुषो जगतः
प्रकृतित्वबोधनमकारणकम्॥
परमात्मनो न हि पदार्थयुजा
रहितेह संभवति योग्यतया॥ ५४३॥

ननु सच्चिदादिवपुष इति॥ सच्चिदादिवपुषः कूटस्थस्य परमात्मनो जगतः प्रकृतित्वबोधनमकारणकं सम्भावनाकारणरहितम्। कुत इत्यत आह॥ न हीति॥ योग्यतया रहिता पदार्थयुजा पदार्थयोग इह शब्देऽर्थे वा न हि क्वचित् सम्भवतीति योजना। कार्योपादानत्वायोग्ये तत्प्रतिपादकशब्दवृत्तिमुख्यत्वं न युक्तमित्यर्थः॥ ५४३॥

ननु कात्रोपादानयोग्यत्वायोग्यतेति, तामाह—

उपादानता सच्चिदानन्दमूर्ते-
र्विरुद्धा जडेष्वेव सा दृश्यते हि
विरुद्धैः पदार्थैर्न वाक्यार्थसिद्धि-
र्न खल्वग्निनोक्षेदितीहान्वयोऽस्ति॥ ५४४॥

उपादानतेति॥ अचेतनं जगत् प्रति सच्चिदानन्दरूपस्य चेतनस्योपादानता विरुद्धा प्रमाणान्तरबाधितेत्यर्थः। तत्र हेतु-

माह ॥ जडेष्वेवेति ॥ हि यतो यत्रोपादानत्वं दृष्टं तत्राचेतनत्व-मेवोपलब्धमित्यर्थः । अचेतनस्य चेतनोपादानकत्वासम्भवफल-माह ॥ विरुद्धैरिति ॥ विरुद्धार्थासङ्गतावुदाहरणमाह ॥ न खल्वि-ति ॥ तस्मादयोग्यानामन्वयाभावस्य लोकसिद्धत्वाद् भवतां च सम्प्रतिपन्नाच्चेतनस्याचेतनोपादानत्वानिश्चये सति वाक्ये प्रतीयमानमप्युपादानत्वं न विवक्षितं, किन्तु कार्योत्पत्त्यादौ नियतस्याधिष्ठातुरीश्वरस्य सद्भावप्रतिपादनानुकूल्येन लक्षणया गौण्या वृत्त्या वेदान्तवाक्यं योज्यमित्यभिप्रायः ॥ ५४४ ॥

यदचेतनं कार्यं तदचेतनोपादानकं, न क्वापि चेतनोपादान-कमिति व्याप्तेर्व्यभिचारं वदन् परिहरति—

उपादानता चेतनस्यापि दृष्टा
यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः ॥
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां
यथा केशलोमादिसृष्टौ च दृष्टा ॥ ५४५ ॥

उपादानतेति ॥ प्रतीचः प्रत्यगात्मनो निद्राभिभूतसकल-करणग्रामस्येत्यर्थः । ऊर्णनाभो लूताकीटः । अन्यत् प्रसिद्धम् । दृश्यते त्विति सिद्धान्तः । तत्र एतद्भाष्यकारैः प्रपञ्चितमिह संगृहीतमिति द्रष्टव्यम् । नचोर्णनाभिपुरुषयोरचेतनभाग एवा-ऽचेतनोपादानं, न चेतनभागोऽपीति वाच्यम् । लोकप्रसिद्धस्यैव दृष्टान्तितत्वात् । लोके चोर्णनाभादौ चेतनत्वप्रसिद्धेः । न हि घटकुड्यादिवदूर्णनाभिपुरुषादिरूपमचेतनं मन्यन्ते लौकिकाः । तस्मान्न कदाचिदिहानुपपत्तिरिति भावः ॥ ५४५ ॥

लोकदृष्ट्या व्याप्तेर्व्यभिचारमुक्त्वा वैशेषिकादिदृष्ट्याप्याह—

बुद्ध्यादिकार्येष्वपि चेतनोऽयं

भवेदुपादानमितीष्यते च ॥
आत्मा गुणी ते च गुणाः प्रसिद्धा
गुणी गुणानां प्रकृतिश्च सिद्धा ॥ ५४६ ॥

बुद्ध्यादीति ॥ इष्यते च वैशेषिकादिभिरिति शेषः । एतदेव स्पष्टयति ॥ आत्मा गुणीति ॥ आत्मा बुद्ध्यादिगुणोपादानं गुणित्वात् पटादिवदित्यर्थः ॥ ५४६ ॥

एतौ च चोद्यपरिहारौ यद्यप्यविरोधाध्यायसङ्गतौ तथापीह जगत्कारणवादिवाक्यगतपदानामन्वययोग्यतासिद्ध्यर्थमानीतौ । अतो योग्यतायाः सद्भावाच्चेतनोपादानकत्वमचेतनस्य वाक्याद् अवगन्तुं शक्यमित्यवान्तरप्रकृतमुपसंहरति—

आकाङ्क्षादिर्विद्यते योग्यतान्ता
यस्मादस्मिन्नागमे जायमाने ॥
सामग्री या वैदिकैरस्य दृष्टा
तस्माद् युक्ता योनिता चेतनस्य ॥ ५४७ ॥

आकाङ्क्षादीति ॥ आदिपदात् सन्निधिर्गृह्यते । तस्मादस्मिन् ब्रह्मण्यागमे वेदान्तवाक्ये बोधकतया ज्ञायमानेऽभिव्यज्यमानेऽस्मिन्नागम इति सामानाधिकरण्यं वा अस्यागमस्य या सामग्री वैदिकैर्दृष्टा सा आकाङ्क्षादिर्योग्यतान्ता विद्यत इति योजना। शब्दस्य स्वार्थमुख्यत्वे सिद्धे फलितमाह ॥ तस्माद्युक्तेति ॥ योनिता उपादानता । यद्वाऽस्मिन् यत इत्याद्यागमे सामग्री वैदिकैर्दृष्टा सा आकाङ्क्षादिर्योग्यता च जायमाने जनिमद्विषये विद्यते यत्प्रकृतित्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत इति योजना । शेषं समानम्। अथवा शब्दस्यार्थबोधने या शास्त्रादिरूपा सामग्री

वैदिकैर्दृष्टा साऽस्मिन्नागमे जायमाने विषये विद्यत इति योजना। सर्वथाऽपि योग्यार्थसम्बन्धोऽस्मिन् विद्यत इत्यर्थः ॥ ५४७ ॥

तस्मान्मुमुक्षोर्जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणार्थमेव, यतो वा इत्यादिवाक्यं नानुमानोपन्यासार्थमिति सिद्धमिति परमप्रकृतमुपसंहरति—

तस्मादेतल्लक्षण चिह्नमाहु-

र्नैतत्तस्मिन् ब्रह्मणि स्यात् प्रमाणम् ॥

आम्नायस्य स्वप्रधानत्वहेतो-

र्लिङ्गस्यास्मिन् शेषभावाच्च नित्यम् ॥ ५४८ ॥

**तस्मादिति** ॥ एतज्जगज्जन्मादिहेतुत्वं ब्रह्मणो लक्षणमाहुर्वैदिका इति योज्यम् ॥ लक्षणशब्दस्य क्वचित् प्रमाणेऽपि प्रयोगदर्शनात् प्रमाणार्थतेह मा भूदित्यर्थं चिह्नमित्युक्तम् । एतद्वाक्यं तस्मिञ्जगत्कारणे ब्रह्मणि प्रमाणमनुमानरूपं न स्यान्नैतदनुमानविधया ब्रह्मणि प्रमाणमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ॥ आम्नायस्येति ॥ स्वप्रधानत्वमाम्नायस्यापौरुषेयतया मानान्तराऽनपेक्षत्वम् । तस्माद्धेतोः । न ह्यपौरुषेयस्यात्यन्तातीन्द्रियार्थबोधनसमर्थस्याऽप्यागमस्य पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितव्याप्त्यादिसहायमपेक्ष्यानुमानतया बोधकत्वं वैदिकैरभ्युपगन्तुं युक्तमित्यर्थः । नचेश्वरसद्भावानुमानापेक्षत्वाद् वेदस्यानुमानसिद्धेश्वरप्रणीततया वेदप्रामाण्यस्य लक्षयितव्यत्वात् कथं न सापेक्षत्वमागमस्येति वाच्यम् । अस्याःशङ्कायाःपूर्वमीमांसकैरेव प्रथमपादे परिहृतत्वादत्रापि तद्विशेषस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । किञ्चास्मिन्नाम्नाये लिङ्गस्य कार्यत्वे लक्षितस्य नित्यं सदा शेषभावादुपपत्त्यर्थवादतयैव तस्य स्तुतिषूपन्यासादनुमानस्यैवास्य श्रुतिसापेक्षतेत्यर्थः । दृष्टव्याप्त्युपजीविनो लिङ्गस्यात्यन्तातीन्द्रियार्थे

बुद्धिजननसामर्थ्याभावाच्चेति चकारार्थः ॥ ५४८ ॥

यतो वा इत्यादिजगत्कारणवादिवाक्यस्य ब्रह्मणि समन्वयप्रकारमुपपादितमुपसंहरति—

इत्थं जगत्कारणवादिवाक्यं
समन्वितं ब्रह्मणि तत्पदार्थे ॥
तल्लक्षणं तस्य तटस्थभूत-
मानन्त्यसिद्धै कथयद् यथोक्तम् ॥ ५४९ ॥

इत्थमिति ॥ इत्थमुक्तप्रकारेण तत्पदार्थे ब्रह्मणि जगत्कारणवादिवाक्यं समन्वितमित्यन्वयः । किं कुर्वदिति ? उच्यते । तस्य ब्रह्मण आनन्त्यसिद्धयै परिच्छेदव्यावृत्त्यर्थं तटस्थभूतमुपलक्षणभूतं यथोक्तं जगज्जन्मादिहेतुत्वं तल्लक्षणं तस्य ब्रह्मणो लक्षणं कथयत् सदिति योजना ॥ ५४९ ॥

विवक्षितब्रह्मानुगुणसमर्पिकां वाक्यवृत्तिमुपपादितामभिनयेनाह—

स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं यदेक
सर्गे विवर्तयति तत्र निमित्तभूतम् ॥
कर्माकलय्य रमणीयकपूयमिश्रं
पश्यन् नृणां परिवृढं तदितीर्यमाणम् ॥५५०॥

स्वात्मानमिति ॥ यदेक वस्तु सर्गे सर्गकाले प्राप्ते तत्र तस्मिन् सर्गे निमित्तभूतं नृणां प्राणिनाम् । नृग्रहणं श्रैष्ठ्यात् । रमणीयं शुभं, कपूयमशुभं, मिश्रं शुभाशुभसाम्यलक्षणमिति त्रिविधं कर्म पश्यदवगच्छदाकलय्य संगृह्य सहकारितयोपादाय च तदनुसारेण स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं कृत्वा विवर्त्तयति

मायया जगद्रूपतामापादयति । तत् परिदृढं ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति नित्यशुद्धत्वादिस्वभावमितीर्यमाणमित्येवँल्लक्षणं कथयदिदं वाक्यं ब्रह्मणि समन्वितमिति पूर्वेणैव योजना ॥ ५५० ॥

तदेवं जन्मादिसूत्रे जगत्कारणवादिवाक्यानां समन्वयो निरूपित इत्युक्तम् । तत्रेदमाशङ्क्यते । यथा समन्वयसूत्रे सर्वेषामेव वेदान्तवाक्यानां प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मणि समन्वय इत्युत्सर्गतः सिद्धौ पुनरानन्दमयोऽभ्यासादित्यारभ्येदमिदं वाक्यमस्मिन्नस्मिन् स्वरूपेण समन्वयं गच्छतीति तत्तदाशङ्कानिराकरणेन पश्चादेव विचारितस्तथा, यतो वा इत्याद्यपि जगत्कारणवादिवाक्यजातं विचार्यतां, किमिति प्रथममस्य विचारः कृत इति । तत्रोपपत्तिमाह—

पदवृत्तिसमन्वयावुभौ
प्रतिपाद्यौ प्रथमे हि लक्षणे ॥
तदवान्तरवाक्यवर्त्मना
पदवृत्तिः प्रथमं प्रकीर्तिता ॥ ५५१ ॥

**पदवृत्तिसमन्वयाविति** ॥ हि यस्मात् प्रथमे लक्षणे समन्वयाध्याये पदवृत्तिस्तत्त्वम्पदयोः स्वार्थे वृत्तिः । समन्वयो नाम तयोरेव पदयोर्वाक्यतामापन्नयोरखण्डे ब्रह्मात्मनि पर्यवसानम् । एतौ पदवृत्तिसमन्वयावुभौ प्रथमाध्याये प्रतिपाद्यौ, न समन्वयमात्रं प्रतिपाद्यम् । तत्तस्मादवान्तरवाक्यवर्त्मना पदार्थमात्रविषयवाक्यगतिप्रकारेण प्रथमं पदवृत्तिः प्रकीर्त्तिता । पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्य प्रथमं पदार्थपरवाक्यविचारो युक्त एव । आनन्दमय इत्यादिविचारस्तु सर्वोऽपि समन्वय विषय एवेति सामान्यतः सिद्धसमन्वयस्य विषयविशेषेण वाक्य-

विशेषयोजनार्थ इति तस्य युक्त एव पश्चाद्विचार इत्यर्थः ॥५५१॥

तर्हि त्वम्पदवृत्तिरपि प्रथममेव वक्तव्या । सत्यम् । साऽप्युक्तैव प्रथमसूत्र इत्याह—

आद्ये सूत्रे त्वंपदस्योदितत्वाद्
वृत्तेरस्मिंस्तत्पदस्योच्यमाना ॥
वृत्तिर्ज्ञेया तत्पदार्थेऽद्वितीये
प्रत्यङ्मात्रे त्वपदस्योदितैव ॥ ५५२ ॥

आद्य इति ॥ त्वम्पदस्य वृत्तेरिति सम्बन्धः । अस्मिन् द्वितीयसूत्रे उच्यमाना वृत्तिस्तत्पदस्य ज्ञेयेति सम्बन्धः । कस्मिन्नर्थे पदयोरनयोर्वृत्तिरिति, तत्राह ॥ तत्पदार्थ इति ॥ अद्वितीये तत्पदार्थे तत्पदस्य वृत्तिः प्रत्यङ्मात्रे सर्वान्तराचिद्रूपे त्वम्पदस्य वृत्तिरुदितैवोक्तैव भवतीत्यर्थः ॥ ५५२ ॥

ननु कथं प्रथमसूत्रे त्वम्पदस्य प्रत्यङ्मात्रे वृत्तिरुक्ता । तस्याधिकारिनिरूपणपरत्वादधिकारिणश्च साधनचतुष्टयाविशिष्टस्य प्रत्यङ्मात्रत्वायोगादितिचेन्नैवम् । प्रत्यङ्मात्रस्यैवाधिकारित्वादित्याह—

अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके
दृगदृशोरितरेतरविभ्रमात् ॥
शमदमादिसमन्विततेष्यते
भवति तेन चितोऽप्यधिकारिता ॥ ५५३ ॥

अनधिकारिणीति॥शुद्धचिदात्मके प्रत्यगात्मस्वरूपे स्वतो- ..धिकारिणि अधिकारित्वधर्मरहिते दृगदृशोः प्रत्यक्पराचोरितरेतरविभ्रमात् परस्पराध्यासान्निमित्ताच्छमदमादिसमन्वित-

ता इष्यते । तेनाध्यासनिबन्धनेन शमादिना योगेन चितोऽपि स्वतो निर्विशेषचिद्रूपस्यात्मनोऽधिकारिता युक्तेति योजना। चिद्रूपात्मनोऽन्यस्य जडस्य शमदमादिमत्त्वस्याधिकारित्वस्याऽसम्भवादुक्तविधया चिदात्मस्वरूपस्यैवाधिकारितेति प्रथमसूत्रेऽधिकारिनिरूपणद्वारेण त्वम्पदस्य प्रत्यगात्मनि वृत्तिरुक्तैवेत्यर्थः ॥ ५५३ ॥

यदि प्रतीच एवाधिकारित्वमिष्यते तर्हि तस्य स्वाभाविकमेव तदिष्यतां, किमध्यासकल्पनयेत्याशङ्क्य स्वतोऽसम्भवादित्युक्तं प्रपञ्चयति—

अनधिकारितया दृगवस्थिता
स्वरसतः परमेश्वरविग्रहा ॥
घनतमःपटलावरणान्वया-
दुपगता श्रवणाद्यधिकारिताम् ॥ ५५४ ॥

अनधिकारितयेति ॥ दृशः स्वरसतोऽनधिकारितयाऽवस्थाने हेतुगर्भं विशेषणम् ॥ परमेश्वरविग्रहेति ॥ अनधिकारिस्वरूपब्रह्मस्वरूपत्वादित्यर्थः । अतोऽध्यासमूलत्वमेव युक्तं परिशेषादित्याह ॥ घनतम इति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ५५४ ॥

एवमपरिशुद्धचिन्मात्रस्याऽधिकारित्वायोगादध्यस्तानात्मधर्मविशिष्टस्याधिकारिता वक्तव्या । तथाच तस्यैव मोक्षफलाऽन्वयित्वमपीत्यध्यासनित्यताप्रसङ्ग इतिचेत्तत्राह—

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायां
द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः ॥
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित्

कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि ॥ ५५५ ॥

अज्ञानतज्जेति ॥ अज्ञानतज्जघटना अविद्यातत्कार्याध्यास-श्रितोऽधिक्रियायामधिकारे द्वारं निमित्तमात्रं परं भवति । अस्या अज्ञानतज्जघटनाया अपि नाधिकृतत्वम् । दृगात्मनोऽधिकारे उपाधित्वमनात्मसम्बन्धस्य न विशेषणत्वमित्यतो नोक्तदोष इत्यर्थः । तत्र युक्तिमाह ॥ नाचेतनस्येति ॥ कर्त्तुरेवाऽधिकारादचेतनस्य च कर्तृत्वासम्भवस्य, रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः ॥ ५५५ ॥

तस्मात् प्रत्यक्चित एवाज्ञानद्वाराधिकारित्वादधिकारिनिरूपणेन प्रत्यङ्मात्रे त्वम्पदस्य वृत्तिनिरूपणादाद्ये सूत्रे उपपन्नेति स्थितम् । तथापि प्रत्यङ्मात्रे त्वम्पदस्य वृत्तिकथनमत्र विवक्षितमिति कुतोऽवगम्यत इतिचेत्तत्राह—

उपसत्तिवाक्यमधिकारिणि यत्
कथितं समन्विततया प्रथमम् ॥
इदमेव चेतसि निधाय तु त-
न्मुनिना प्रकीर्तितमुदारधिया ॥ ५५६ ॥

उपसत्तिवाक्यमिति ॥ अयमर्थः । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यस्मिन् सूत्रे, अथातः–पदाभ्यामधिकार्युक्तः । ब्रह्मजिज्ञासापदेन च, तद्विजिज्ञासस्वेति श्रुतिपदमुदाहृतम् । तत्र च लोण्मध्यमपुरुषेण यो नियुज्यते सोऽत्र साधनचतुष्टयसम्पन्नोऽथातःपदाभ्या सूत्रित इत्यधिकारिसमर्पकमुपसत्तिवाक्यम् । तदेतदाह ॥ अधिकारिणि यदुपसत्तिवाक्यं तद्विजिज्ञासस्वेत्यादिरूपं प्रथमं प्रथमसूत्रेऽधिकारिणि समन्विततया यत् कथितं तदिदमेव त्वम्पदस्य प्रत्यङ्मात्रे पर्यवसानमित्यस्मादुक्तमेवेति

स्वमनसि निधायोदारधिया मुनिना प्रकीर्त्तितमिति ॥ ५५६ ॥

उक्तमेव स्पष्टयति—

शिष्योपसत्तिवचनानि समन्वितानि
शिष्ये चिदात्मनि परात्मनि नित्यमुक्ते ॥
इत्येतदत्र कथितं मुनिना त्वमर्थे
त्वंशब्दवृत्तिकथनाय परे प्रतीचि ॥ ५५७ ॥

शिष्योपसत्तिवचनानीति ॥ परे संघातविलक्षणे प्रतीचि प्रत्यगात्मनि त्वंशब्दवृत्तिकथनायेत्यर्थः । उपसन्नं प्रति तत्त्वमसीत्युपदेशान्महावाक्य उपपन्नस्त्वंशब्दार्थः । अत उपसत्तिवाक्योदाहरणेन त्वम्पदवृत्तिविवक्षा लक्ष्यते । स चोपसन्नः शिष्यो नित्यमुक्तः पर एवेति ब्रह्मविपरीतरूपस्य मिथ्यात्वनिरूपणसामर्थ्यसिद्धेर्वाक्यार्थान्वययोग्ये प्रत्यङ्मात्रे त्वम्पदवृत्तिविवक्षाऽऽद्ये सूत्रे गम्यते इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५७ ॥

तस्मात् सिद्धं सूत्रद्वयस्य पदद्वयवृत्तिनिरूपणार्थत्वमित्युपसंहरति—

उपसदनवचो विचारमार्गात्
त्वमितिपदस्य परात्मनीह वृत्तिम् ॥
कथयति भगवान् द्वितीयसूत्रे
तदितिपदस्य परात्मनीति भेदः ॥ ५५८ ॥

उपसदनेति ॥ परात्मनि संघातात् परस्मिन् प्रत्यगात्मनि इह प्रथमसूत्रे पदयोरेवात्र भेदो न पदार्थयोः स्वरूपेण भेद इति दर्शयितुमुभयत्र परात्मग्रहणमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५५८ ॥

ननु कथं वाक्यगतिनिरूपणमात्रेण निमित्तोपादानात्मकमे-कमद्वितीयं कारणं सिद्ध्येत्। वादिभिस्तु तद्विपरीतस्य कारणस्य युक्तिभिर्निरूपणादितिचेन्नैष दोषः। विवक्षितकारणसमर्थनाया वृत्तेस्तन्त्रेण वा समाश्रयणोपपत्तेरित्याह—

आवृत्त्या वा तन्त्रवृत्त्याथवेदं
सूत्रं युक्तिं वेदवाक्योपयुक्ताम् ॥
अप्याचष्टे बृंहणीमन्तरेण
स्वार्थे युक्तिं वेदवाक्यं न पुष्टम् ॥ ५५९ ॥

आवृत्त्या वेति ॥ जन्माद्यस्य यतो भवति तद् ब्रह्मेति सूत्रवाक्ययोजनायां स्थितायामस्यैव सूत्रस्यावृत्त्या वा जन्माद्य-स्य यतस्तन्न ब्रह्मणोऽर्थान्तरमित्येवंविधयाऽथवा तन्त्रवृत्तिस्त-या वेत्यर्थः। अनेकार्थविवक्षया नान्यद्ब्रह्मणः कारणं जगत इत्यत्रापेक्षितयुक्तीनामपि सङ्ग्रहेणोच्चारणं तन्त्रवृत्तिस्तया वेत्यर्थः। अनेकार्थविवक्षया सकृद्वाक्योच्चारणं तन्त्रमिति तल्लक्षणम्। उक्तस्यैव वाक्यस्य तदर्थोपपादनपरतया पुनरुच्चारणमावृत्ति-रिति तद्विवक्षा। इत्थमक्षरयोजना ॥ जन्माद्यस्य यत इतीदं सूत्र-मावृत्त्या वा तन्त्रवृत्त्याऽथवा वेदवाक्योपयुक्तां बृंहणीं युक्तिम-प्याचष्टे। वेदवाक्योपयुक्तयुक्तिमन्तरेण विनेति। वाक्यगता-ऽक्षरार्थानुकूलयुक्तिव्यतिरेकेण तदर्थोपपादकमुक्तिमप्याचष्ट इत्य-ऽर्थः ॥ ५५९ ॥

एवं महावाक्यगतपदवृत्तिमुक्त्वा क्रमप्राप्तं महावाक्यसमन्वयं निरूपयितुं समन्वयसूत्रमित्याह—

त्वम्पदार्थविषयं समन्वयं

तत्पदार्थविषयं ततः क्रमात् ॥
तस्य शेषमपरं च वर्णय-
न्नुक्तवानथ महावचोगतम् ॥ ५६० ॥

त्वम्पदार्थविषयमिति ॥ त्वम्पदार्थविषयं समन्वयम् आद्ये सूत्रे वर्णयन् ततोऽनन्तरं क्रमात्तत्पदार्थविषयं समन्वयं द्वितीये सूत्रे वर्णयन्नथाऽनन्तरं महावचोगतं समन्वयमुक्तवान् महामुनिरिति योजना । तर्हि मध्ये, शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं किमर्थमित्यपेक्षायां तस्योपयोगितामाह ॥ तस्य शेषमपरं हीति ॥ अयमर्थः । तस्य जन्मादिसूत्रस्य शेषमर्थसिद्धसर्वज्ञत्वसाधनं न्यायेन निश्वासवदबुद्धिपूर्वसृष्टतया वेदस्यानपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यविरोधेन सकलवेदोपादानतया सर्वावभासकज्ञानस्वरूपत्वासिद्ध्यऽर्थं वर्णयन्मध्ये,शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं प्रणीतवानिति ।।५६०॥

एवं पदद्वयवृत्तिनिरूपणानन्तरं महावाक्यनिरूपणं क्रमप्राप्तमेव स्पष्टयति—

त्वम्पदस्य दृशि वृत्तिमद्वये
तत्पदस्य च निवेदयन् मुनिः ॥
प्रत्यगद्वयपरं समन्वयं
शेषिणं पुनरथाब्रवीत्तयोः ॥ ५६१ ॥

त्वम्पदस्येति ॥ दृशि प्रत्यगात्मनि त्वम्पदस्य वृत्तिम् अद्वये ब्रह्मणि तत्पदस्य च वृत्तिं निवेदयन् मुनिस्तच्छेषभूतां पदद्वयवृत्तिं प्रथमं निवेदयन्निति यावत् । अथानन्तरं क्रमप्राप्तं तयोः शेषिणं प्रत्यगद्वयपरं समन्वयं प्रत्यगद्वये ब्रह्मण्यैक्यरूपेण

समन्वयं पुनरब्रवीदिति योजना । सूत्रत्रयेण पदार्थद्वयपदद्वय-वाक्यसमन्वयं प्रतिपाद्य चतुर्थसूत्रेण तयोर्वाक्यरूपाऽखण्डाद्वया-नन्दात्मनि समन्वयमब्रवीदित्यर्थः ॥ ५६१ ॥

अथ चतुर्थे सूत्रे वाक्यार्थेऽखण्डे समन्वयमब्रवीदित्यादिना विस्तरेण समन्वयसूत्रार्थस्योपपादितत्वात्तदिदानीं सङ्क्षिप्याह—

शक्नोति सिद्धमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति कार्यरहितं वदितुं च वाक्यम् ॥
शक्नोत्यखण्डमवबोधयितुं च वाक्यं
शक्नोति मुक्तिफलमर्पयितु च वाक्यम् ॥ ५६२ ॥

शक्नोतीति ॥ मानान्तरनैरपेक्ष्येण सिद्धं ब्रह्मात्मवस्त्व-ऽवबोधयितुं समर्थम् ॥ कार्यरहितमिति ॥ कार्यशेषत्वरहितं स्वप्रधानमेवेत्यर्थः ॥ अखण्डमिति ॥ भेदसंसर्गरहितमित्यर्थः ॥ मुक्तिफलमिति ॥ मुक्तिः फलं यस्य तन्मुक्तिफलं तत्त्वसाक्षा-त्काररूपं ज्ञानमित्यर्थः । स्वार्थे फलवद्विज्ञानजननसमर्थमिति कर्मशेषार्थपरत्वमनेन निरस्तम् । एतेऽर्थाः पूर्वमेव निपुणतर-न्यायतः प्रतिपादिताः स्मर्त्तव्या इति भावः ॥ ५६२ ॥

एवं सूत्रत्रयार्थं विस्तरेण प्रतिपाद्य, ईक्षतेर्नाऽशब्दमित्या-द्युत्तरसूत्रगतन्यायसन्दर्भं भाष्योक्तमेव सिद्धवत्कृत्य समन्वया-ऽध्यायमुपसंहरति—

एतत्समन्वयनिरूपणमेवमस्मिन्
बुद्धिस्थतामुपगते सति वाक्यजन्यम् ॥
विज्ञानमद्वयगतं न ततोऽन्यदन्यत्

पुंसोऽपराधकृतमित्युदियात् प्रतीतिः ॥ ५६३ ॥

इति श्रीदेवेश्वरपूज्यपादशिष्यश्रीसर्वज्ञात्ममहामुनेः
कृतौ शारीरकप्रकरणे संक्षेपशारीरके
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

एतत् समन्वयनिरूपणमिति ॥ यथाशास्त्रं यथान्याय-मस्माभिः कृतमिति शेषः । समन्वयनिरूपणफलमाह ॥ एवमि-ति ॥ एवमुक्तप्रकारेण समन्वये बुद्धिस्थतामुपगते सति अधीत-स्वाध्यायस्य समधिगतशब्दन्यायतत्त्वस्य पुंसो यद्वाक्यजन्यं शब्दस्वारस्यजन्यं विज्ञानं तदद्वयगतं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यगतं ततो-ऽन्यन्न भवति। अर्थान्तरगतं न भवत्येव। अन्यत्तद्विरुद्धार्थविषय-मनेकविधं यद्विज्ञानं तत्पुंसोऽपराधकृत पुरुषदोषनिबन्धनमेवे-त्येवं प्रतीतिः प्रत्यय उदियादुत्पद्येतेति योजना ॥ वेदान्तवाक्य-रूपप्रमाणगताऽसम्भावनाऽपोहेन वाक्यार्थे बुद्धिनियमासिद्धिः समन्वयविचारफलमित्यर्थः ॥ ५६३ ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थशिष्यरामतीर्थकृतायां सङ्क्षेप-
शारीरकटीकायामन्वयार्थप्रकाशिकायां
समन्वयाभिधः प्रथमोऽध्यायः
संपूर्णः ॥ १ ॥

# द्वितीयोऽध्यायः ।

श्रीगणेशाय नमः ॥

अव तदेवं समन्वयलक्षणगतं विशेषं न्यायतो निरूपितमु॰ यद्यपि श्रुतिगतिपर्यालोचनायां सर्वे वेदान्ता अविरोधेन।खण्ड ब्रह्मात्मनि प्रमाणमिति न्यायतो निर्धारितं, तथापि प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्तरमाश्रित्य उक्तं समन्वयमाक्षिपति—

एवं समन्वयनिरूपणयाऽवबोधो
जातोऽप्यखण्डविषयो ननु वाक्यजन्यः ॥
मानान्तरेण परिपीडित एव जातो
भेदप्रकाशनकृताक्षनिबन्धनेन ॥ १ ॥

एवं समन्वय इति॥नन्विति प्रथमं योज्यम् । भेदप्रका-शनेति विरोधिमानान्तरस्वरूपकथनम् । अक्षग्रहणमनुमानादेरपि उपलक्षणार्थम् ॥ १ ॥

अव ननु भेदग्राहिप्रत्यक्षादेरभेदबोधकाद्वैतागमस्य च प्रमाण-त्वाविशेषे श्रुत्यैवैतत्परिपीडनं कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्य, प्रत्यक्ष-विरोधे वाक्यस्यैव बाधदर्शनादेतदेव सम्भाव्यते इत्युदाहरणमाह—

मज्जत्यलाबु सहसाऽप्सु शिलाः प्लवन्त-
इत्यादिकादभिहितादिव वाक्यजातात् ॥
जाताऽपि बुद्धिरपबाधितगोचरैव-
मद्वैतबुद्धिरपि भेदधियाऽऽत्मनि स्यात् ॥ २ ॥

**मज्जतीति** ॥ अभिहितात्, केनचिदिति शेषः।वाक्यजातात्सहसा जाताऽपीति सम्बन्धः। अपबाधितगोचरा बाधितविषयैव यथा, एवमद्वैतबुद्धिरात्मनि जाताऽपि भेदधिया बाधितगोचरैव स्यादिति योजना ॥ २ ॥

अथ अद्वितीयांशे प्रत्यक्षविरोधमुक्त्वाऽसंसारित्वांशेऽपि तमाह—

अध्यक्षगोचरमनर्थमवैमि वाक्यं
निर्मुक्तमाह मम रूपमनर्थहेतोः ॥
एवं च वेदशिरसोऽक्षनिबन्धनेन
ज्ञानेन बाधनमतीव हि दुर्निवारम् ॥ ३ ॥

**अध्यक्षगोचरमिति** ॥ अनर्थं संसारित्वमनर्थहेतोर्मुक्तं मम रूपमाहेति संबन्धः। फलितमाह।एवमिति। अतीव दुर्निरूप्यं चेति योजना ॥ ३ ॥

अथ एवं प्रत्यक्षादिविरोधमुपपाद्य कर्मविधिविरोधमाह—

कर्तृत्वमाह मम कर्मविधिर्नियोगः
संबन्धपूर्वकमपास्तसमस्तभेदम् ॥
मामाह वेदशिरसो वचनं तथा च
सत्यस्य दुःस्थितमिवापतति प्रमात्वम् ॥ ४ ॥

**कर्तृत्वमिति** ॥ "स्वर्गकामोयजेत" "यावज्जीवं जुहुयात्" इत्यादिरूपः कर्मविधिर्नियोगो नियोगरूपः संबन्धपूर्वकं मम कर्तृत्वमाह त्वं कुर्विति। नियोज्यसंबन्धपूर्वको हि नियोगो विधिः कर्म विधत्त इत्यर्थः। कर्तृत्वशक्तिहीनं प्रति नियोगासंभवात्स्वर्गकामादिकर्तृत्वशक्तिमाक्षिपेत्कर्मविधिरिति भावः। कर्तृत्वग्रहणं भोक्तृत्वस्याऽप्युपलक्षणम्। ननु कर्मविधिभिरेतावता को

विरोध उक्तः? इति तमाह । अपास्तेति । भेदो विशेषः । कर्तृत्वादिविशेषरहितं निर्विशेषमित्यर्थः । ननु कर्तृत्वानिर्विशेषत्वागमयोः समत्वाद्विरोधेऽपि कथमेकेनेतरबाध? इति चेत्सत्यं, तथापि सत्प्रतिपक्षानुमानवत्प्रामाण्यदौर्लभ्यमनिवार्यमित्याह । तथाचमत्यस्येति । सत्यस्य सत्यार्थस्य प्रमाणभूतस्य वेदस्येति यावत् । प्रमात्वं प्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

अव ननन्वेवं सति कर्मविधेरपि प्रमात्वदौःस्थ्यसाम्यान्न तेनेतरबाधशङ्केत्याशङ्क्य, केवलस्य तस्याबाधकत्वेपि सहायसंपत्त्या प्राबल्यात्स्यात् बाधकतेत्याह—

प्रत्यक्षकर्मवचसोरुभयोः समूहः
सामर्थ्यवानुपनिषद्विषयापहारे ॥
एकैकमेव तु न पारयतेऽपहर्तुं
स्वार्थप्रकाशनविधावुभयोः समत्वात् ॥ ५ ॥

प्रत्यक्षकर्मवचसोरिति ॥ उत्तरार्धारम्भे यद्यपीति योज्यम् । पूर्वार्धारम्भे तथापीति ॥ ५ ॥

अव ननु प्रमाणयोः संभूय बाधनायोगात्समूहस्तयोर्बाधक इत्ययुक्तं, समूहस्य चाभावादिति चेत्तर्हि प्रत्यक्षमेवास्त्वद्वैतबाधकं कर्मविधयस्तत्तदर्थसंवादितया सहायमात्रमिति पक्षान्तरमाह—

ज्यैष्ठ्यात् समर्थमथवाऽक्षजमेकमेव
तस्यैव कर्मविधिरस्तु सहायभूतः ॥
प्रत्यक्षमेव विधिवाक्यसहायमेवं
ब्रह्मात्मवस्त्वपहरिष्यति को विरोधः ॥ ६ ॥

ज्यैष्ठ्यादिति ॥ प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वाज्ज्यैष्ठ्यम्, एतत्सिद्धपदपदार्थोपजीवनेन प्रवृत्तत्वादागमस्य प्रत्यक्षात्पाश्चात्यत्वात्कनिष्ठतेति स्थितौ, ज्येष्ठं प्रत्यक्षमेवैकमुपजीव्यं स्वोपजीवकस्य कनिष्ठस्याद्वैतागमस्य स्वार्थबाधने समर्थं स्यादित्यर्थः। ननु ज्येष्ठस्यापीदं रजतमिति ज्ञानस्य कनिष्ठेन शुक्तितत्त्वज्ञानेन बाधो दृष्टो ऽतो ज्येष्ठत्वमप्रयोजकमिति चेत्तत्राह। तस्यैव इति। न ज्येष्ठत्वमात्रं बाधकत्वे हेतुं वदामः, किं तु प्रमाणत्वे सति ज्यैष्ठ्यं, रजतज्ञानस्याप्रमाणत्वादस्तु ज्यैष्ठ्ये ऽपि बाध्यता, प्रत्यक्षस्य तु प्रमाणत्वं निश्चितप्रमाणत्वविधिवाक्येन संवादात्सिद्धम्। अतो न तस्य पूर्वस्यापि परेणागमेन बाधशङ्का। एतदभिप्रायेणोक्तं, तस्यैव कर्मविधिरस्तु सहायभूत इति। प्रत्यक्षमेवेत्युत्तरार्धम् उपसंहारार्थम् ॥ ६ ॥

अथ तत्र प्रत्यक्षादेर्व्यवहारसमर्थवस्त्ववभासकतया व्यावहारिकमेव प्रामाण्यं न तत्त्वावेदकं, अद्वैतागमस्य तत्त्वावेदकं प्रामाण्यमतो ऽतत्त्वविषयेण प्रत्यक्षादिना न तत्त्वविषयस्यागमस्य बाधः, किन्तु वैपरीत्यमेव युक्तमित्यभिप्रेत्योभयोर्विषयभेदकथनेन विरोधशङ्कां परिहरति—

अत्रोच्यते न खलु वेदशिरांसि मुक्त्वा
किं चित् प्रमाणमिह तत्त्वनिवेदनाय ॥
शक्नोति येन भवतीह विरोधशङ्का
वेदान्तवाक्यमुखतोऽवगते प्रतीचि ॥ ७ ॥

अत्रोच्यत इति ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् ॥ ७ ॥

अथ कुतः प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदनलक्षणप्रामाण्याभाव? इति चेत् प्रमाणलक्षणस्य तत्र साक्षादवृत्तेरित्याह—

अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं
तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः ॥
न प्रत्यगात्मविषयादपरस्य तच्च
मानस्य संभवति कस्य चिदत्र युक्त्या ॥ ८ ॥

**अज्ञातमिति** ॥ अज्ञातार्थगन्तृत्व हि प्रमाणलक्षणं, तच्च तदेव प्रकाशकरणक्षमं स्वविषये प्रकाशकरणसमर्थं प्रमाणं प्रसिद्धम्। तत् अज्ञातार्थविषयत्वनिबन्धनमित्यर्थः। अभिज्ञाः प्रमाणतत्त्वविदः। आहुरिति शेषः ।तच्चाज्ञातार्थावबोधकत्वं प्रत्यगात्मविषयादपरस्य प्रत्यक्षादेः कस्याचिदपि मानस्य युक्त्या विचार्यमाणे अज्ञाते वस्तुनि न सम्भवतीति योजना। प्रत्यगात्मनो ऽन्यस्याज्ञातत्वाभावादिति भावः ॥ ८ ॥

अव ननु प्रत्यक्षादेरपि प्रत्याग्विषयत्वे सम्भवत्येतल्लक्षणामिति चेन्न । तस्य पराग्विषयत्वादित्याह—

सर्वं पराग्विषयमेव हि मानजातं
वेदावसानवचनानि तु वर्जयित्वा ॥
यद्भौतिकं किमपि भौतिकगोचरं त-
द्रूपप्रदीपकनिदर्शनतः प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

**सर्वमिति** ॥ वेदान्तेतरमानानां पराग्विषयत्वं साधयति। यद्भौतिकमिति। प्रत्यक्षादि भौतिकविषयं भौतिकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा रूपगोचरप्रदीप इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अव ननु यद्भौतिकं तद्भौतिकगोचरमिति भौतिकत्वाकारेण व्याप्तौ रूपेणापि प्रदीपस्य व्यङ्ग्यत्वापत्तिरित्याशङ्क्य, व्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यसजातीयत्वानियमे प्रदीपदृष्टान्तोपादानान्न दोष इत्याह—

यद् व्यञ्जकं किमपि लौकिकमीक्षितं तद्
व्यङ्ग्येन तुल्यमवलोकितमत्र जात्या ॥
दीपः प्रकाशकतया विदितो हि लोके
रूपेण तैजसतया सदृशः प्रसिद्धः ॥ १० ॥

यद्व्यञ्जकमिति ॥ जात्या तुल्यमिति संबन्धः । यद्व्यञ्जकं तद्व्यङ्ग्यसजातीयं यथा रूपव्यञ्जकप्रदीपो रूपसजातीयो दृष्ट इत्यर्थः । रूपप्रदीपयोः केन रूपेण साजात्यं ? तदाह । तैजसतयेति ॥ १० ॥

अथ अस्या व्याप्तेर्मनसि व्यभिचारमाशङ्क्य, तदपि भौतिकमेवेति न व्यभिचार इत्याह—

बुद्धिः समस्तविषयावगमे प्रवृत्ता
साऽपि प्रकाशविषयेण समानजातिः ॥
बुद्धिश्च भौतिकतया श्रुतिषु प्रसिद्धा
तेनास्तु साऽपि खलु भौतिकगोचरैव ॥ ११ ॥

बुद्धिरिति ॥ बुद्धिशब्दोऽन्तःकरणमात्रविषयः । आत्मनोऽपि बुद्ध्या प्रकाश्यत्वात्तस्य चाभौतिकत्वादभौतिकत्वमपि तस्याः स्यादिति चेन्न । आत्मनः स्वप्रकाशत्वाद्बुद्धिव्यङ्ग्यत्वाभावाद्भौतिकमात्रगोचरत्वेनास्या अपि भौतिकत्वं निरपवादमित्यभिप्रेत्य बुद्धेर्भौतिकत्वं साधयति । बुद्धिश्चेति । " अन्नमयं हि सोम्य-मन " इत्यादिश्रुतिष्वित्यर्थः । बुद्धिरपि भौतिकगोचरैव भौतिकत्वाच्चक्षुरादिवदित्याह । तेनेति ॥ ११ ॥

अथ तस्माद्वेदान्तवाक्यातिरिक्तं सर्वमेव प्रमाणमनात्मनीष्टमेवेत्युपसंहरति—

एवं प्रमाणमखिलं बहिरर्थनिष्ठं

वेदान्तवाक्यमपहाय यथोक्तहेतोः ॥
न प्रत्यगात्मविषयं श्रुतिरप्युवाच
स्पष्टं पराञ्चिवचसाऽर्थमिमं यथोक्तम् ॥ १२ ॥

एवमिति ॥ श्रुतिरपीन्द्रियाणां पराग्विषयत्वमेव ब्रवीतीत्याह । श्रुतिरपीति । पराञ्चिखानीति वचसा यथोक्तमिममर्थं श्रुतिरपि स्पष्टं यथा स्यात्तथाऽऽहेत्यन्वयः ॥ १२ ॥

अथ तामेव कठवल्लीगतां श्रुतिमुदाहरति—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १३ ॥

पराञ्चीति ॥ स्वयम्भूः स्रष्टा। खानीन्द्रियाणि। पराञ्चि पराग्विषयतया पराङ्मुखानि। व्यतृणत् हिंसितवान्। व्यसृजदिति वक्तव्ये व्यतृणदिति वदन्पराङ्मुखत्वेन तेषा सृष्टिर्हिंसैव, संसारहेतुत्वादिति दर्शयति । यस्मादेवं तस्मात्तैरिन्द्रियैः पराङ्वानात्मरूपविषयान्पश्यति लोको नान्तरात्मानं पश्यतीत्यर्थः । अत्रेन्द्रियग्रहणं मनसोऽपि ग्राहकं द्रष्टव्यम् । यतः कश्चित्कोऽपि मनुष्याणां सहस्रेषु अमृतत्वं मोक्षमिच्छन्नावृत्तचक्षुर्निगृहीतसर्वेन्द्रियः, चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणं प्रत्यगात्मानमैक्षत् पश्यतीत्यर्थः । तथा च प्रत्यगात्मा नेन्द्रियगोचरोऽत एवानुमानादेरप्यगोचरः। अत्यन्तातीन्द्रियेऽर्थे व्याप्त्याद्यसंभवादिति भावः ॥ १३ ॥

अथ वेदान्तानामपि शब्दत्वात्तस्य भौतिकत्वादिन्द्रियैरविशेषादनात्मविषयत्वमेवेति चेत्तत्राह—

यत् कर्मभावमनपास्य निजप्रमेये
संवित्तिसाधनतया जगति प्रसिद्धम् ॥
मानं जडार्थविषयं तदिहाभ्युपेयं
न प्रत्यगात्मविषयं कथितोपपत्तेः ॥ १४ ॥

यत्कर्मभावमिति ॥ यत्प्रमाणं निजप्रमेये कर्मभावं विषयत्वमनपास्यापरित्यज्य संवित्तिसाधनतया जगति प्रसिद्धं तन्मानं जडार्थविषयं व्यवहारभूमावभ्युपेयम्। न तत्कदाचिदपि प्रत्यगात्मविषयं भवति। कथितोपपत्तेः। व्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यसजातीयत्वनियमादित्युक्तोपपत्तेरित्यक्षरयोजना। वेदान्ता अनात्मविषयाः भौतिकत्वाच्चक्षुरादिवदिति प्रयोगे स्वविषयप्रकाशकत्वमुपाधिरित्युक्तं भवति। तथा च यद्भौतिकं भवति भौतिकगोचरं तदित्यत्र स्वविषयप्रकाशकरं सद्भौतिकमिति हेतुर्विवक्षितोऽतो वेदान्तेषु विशेषणाभावाद्धेत्वसिद्धिश्च। वस्तुतो वेदस्य चिद्विवर्तताया वक्ष्यमाणत्वात् भूतकार्यत्वं न वेदस्यास्तीति स्वरूपतोऽपि हेत्वसिद्धिरिति भावः ॥ १४ ॥

अथ ननु प्रमाणमात्रस्य संवित्फलत्वाविशेषात्सर्वमेव मानं जडविषयम् इति चेत्तत्राह।

यत्तु प्रमाणमवधीर्य निजप्रमेये
कर्मत्वमर्थमवबोधयितुं प्रवृत्तम् ॥
तत् प्रत्यगात्मविषयं भवितुं क्षमेत
तत्त्वमादिवचनं न ततोऽन्यदस्ति ॥ १५ ॥

यत्तुप्रमाणमिति ॥ अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः। मानानां संवित्फलमात्रं न जडविषयत्वे प्रयोजकं, किन्तु स्वाधेयसंवित्फल-

त्वमिति भावं सूचयति। निजप्रमेयेकर्मत्वमिति । तेन न संविज्ज-नकत्वप्रयुक्तं मानत्वं सर्वत्रापि, किन्त्वविद्यानिवृत्तिमात्रफल-त्वमेव मानत्वम्। जडेष्वपि संविदाधानस्याविद्यानिवृत्त्यर्थत्वाङ्गी-कारादिति भावः । तर्हि प्रत्यक्षादिरप्यात्मविषयतया प्रत्यगात्मानं बोधयिष्यति, किमिति तेषामनात्मविषयत्वं नियम्यते ? इति त-त्राह।तत्त्वमादीति। "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तप-सा कर्मणा वा" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इत्यादौ वेदेतरमाना-नां प्रत्यगात्मविषयत्वनिषेधश्रवणादात्मन औपनिषदत्वविशेषण-श्रवणाच्चोपनिषदेकगम्यत्वमेव, न मानान्तरगम्यत्वमपीत्यर्थः॥ १५॥

अथ यद्यप्येवमुक्तरीत्या प्रत्यक्षादेर्नात्मविषयतेति सिद्धम्, तथाप्य-ज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानमित्यत्र प्रत्यगात्मन एवाज्ञातत्वम्, त-द्विषये वेदान्तानामेव तत्त्वावेदनलक्षणं प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षादि-विषयस्य नाज्ञातत्वमिति तद्विषयं सर्वमेव प्रमाणं न तत्त्वावेद-कम्, किन्तु व्यावहारिकमेव तत्प्रामाण्यमिति यदुक्तं, तत्र प्रत्यक्षा-दिविषयस्यानात्मनोऽज्ञातत्वाभावः कुतः ? इति वक्तव्यमिति चे-त् तत्राज्ञातत्वावगमे हेत्वभावादित्याह—

नाज्ञाततावगतिरस्ति जडेषु पूर्वं
मेयेषु तत्स्फुरणकारणवर्जितत्वात् ॥
मानोदयान्न हि पुरा किमपीह मानं
नापि प्रमेयबलतो जडता हि तस्य ॥ १६ ॥

नाज्ञाततेति॥ अयमर्थः । जडेष्वज्ञातता मानादवगम्यते स्व-प्रकाशतया वा। आद्येऽपि जडावगमप्रमाणप्रवृत्तेः प्रागेवावगम्यते पश्चाद्वा। तत्र नाद्य इत्याह । नाज्ञाततेत्याद्येन पादेन । जडेषु मेये-ष्विति सम्बन्धः। कुतः ? इत्याह। तत्स्फुरणकारणवर्जितत्वादिति।

उक्तमेव हेतुमुपपादयति। मानोदयादिति। मानोदयात्पुरा इह विषयस्याज्ञातत्वे न हि किमपि मानमस्ति, अतो मानोदयात्पूर्वं न मानेनाज्ञाततासिद्धिरित्यर्थः। न द्वितीयः, मानोदयात्पश्चाद्विषये ऽज्ञातताया निवृत्तत्वान्न मानावगम्यतेति द्रष्टव्यम्। मानविरोधिनः अज्ञातत्वस्य न मानगम्यतेति भावः। स्वप्रकाशत्वकल्पं प्रत्याह। नापिप्रमेयवलतइति। तस्य प्रमेयस्य जडता हि प्रसिद्धा। अतो नास्यात्मवत्स्वविषयाज्ञानसाधकतया स्फुरणमपि इति जडेषु नाज्ञातताऽस्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अव ननु जडेष्वज्ञातत्वानुभवादेव तत्साधनसामर्थ्यं कल्प्यमिति चेत् न, असम्भवादित्याह—

नाज्ञाततावगतये स्वयमत्र बाह्यं
मेयं समर्थमवबोधविलक्षणत्वात् ॥
नापि प्रमाणमवबोधकमस्ति किञ्चिन्
मानोदयात् पुर इति स्फुटमभ्युपेयम् ॥ १७ ॥

नाज्ञाततेति ॥ अवबोधविलक्षणत्वादिति ज्ञानरूपत्वाभावादित्यर्थः। स्पष्टमन्यत्। पूर्वोक्तस्यैवायं प्रपञ्चः। जडेष्वज्ञातत्वानुभवस्तद्विषयप्रमाणानुदयाद्वा तदवच्छिन्नचिदावरणाद्वा सम्भवतीति भावः ॥ १७ ॥

अव ननु मा भून्मानप्रवृत्तेः प्राक् जडेष्वज्ञाततासिद्धिः, मा च भूत्प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिः, तथापि मानप्रवृत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रागज्ञातत्वं कल्प्यते इति चेत् तत्राह—

नाज्ञाततामनवगम्य पुरा प्रवेशात्
मानस्य किंचिदपि मानबलेन बोद्धुम् ॥

शक्नोति कश्चिदपि मानबलेन बुद्धं
किंवा स्वभाव इति निश्चयहेत्वभावात् ॥ १८ ॥

**नाज्ञाततेति** ॥ मानस्य प्रवेशात्पुराऽज्ञातताामनवगम्य "अवगन्तव्यो मयाऽयमर्थ" इति बुभुत्सया मानबलेन मानं प्रवर्त्य तद्बलेन विषयेऽज्ञातता बोद्धुं कश्चिदपि किञ्चिदीपन्मात्रमपि वा बोद्धुं न शक्नोतीति योजना । तथाच मानप्रवृत्तेः प्रागेवाज्ञातत्वावगमापेक्षणान्न मानोदयोत्तरकाल तत्कल्पना सम्भवतीत्यर्थः। तर्हि बुभुत्सया मानप्रवृत्तिर्मा भूदैवगत्या प्रवृत्तेनैव मानेनार्थं जानीयात्, तदन्यथाऽनुपपत्त्या च प्रागज्ञातत्वमवगच्छतीति चेत्, नैवमपि सम्भवतीत्याह । मानबलेनबुद्धमिति । ज्ञेयस्य वस्तुनः प्रागज्ञातत्वासिद्धौ बुद्धमपि तत् मानबलेन वा बुद्धं किवा स्वभावत एवेति निश्चयो न स्यात्, हेत्वभावादित्यर्थः । वस्तुसिद्धेरागन्तुकत्वानिश्चयात्तदानिश्चये च प्रागज्ञातत्वकल्पनाऽयोगादिति भावः ॥ १८ ॥

अथ ननु मा भून्मानावबुद्धत्वनिश्चयः, बुद्धत्वमात्रं तावत्प्रत्यक्षमस्ति, तेन प्रागबुद्धत्वं कल्प्यतामिति चेत्, नैवमित्यत्र दृष्टान्तमाह—

प्रक्षालनेन धवल किमिदं बभूव
किंवा पुराऽपि धवलं स्वयमेव वस्त्रम् ॥
इत्येवमेव न विवेक्तुमलं कदाचिद्
यो दृष्टवान्न मलिनं वसनं पुरस्तात् ॥ १९ ॥

**प्रक्षालनेनेति** ॥ यः प्रथममेव धवलवस्त्रदर्शी ततः पुरस्तात्पूर्वं कदाचिदपि मलिनं तद्वसनं न दृष्टवान् स एष इदं वस्त्रं प्रक्षालनेन किं धवलमासीत्किं पुराऽपि पूर्वमपि स्वयमेव धवलमि-

त्येवं विवेक्तुं नालं न समर्थो यथेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं पुराऽनधिगतं यदि नानुभूतं
मानेन बोधितमिदं प्रतिभाति मेयम् ॥
न स्वप्रकाशमिति शक्यमिदं विवेक्तुं
केनापि नैव तदवस्थतयैव दृष्टेः ॥ २० ॥

एवंपुरेति ॥ अनधिगतमनधिगतत्वम्। पुरा मानप्रवृत्तेर्यदि नानुभूतं तर्हि इदं मेयं मानेनागन्तुकेन बोधितं सत्प्रतिभाति, न स्वप्रकाशमिदमिति विवेक्तुं केनापि नैव शक्यम्। यतस्तदवस्थतयैव प्रकाशमानावस्थत्वेनैव मेयस्य दृष्टेरिति योजना। प्रकाशस्यागन्तुकत्वादर्शनेऽन्यकृतत्वकल्पनाऽयोगात्स्वाभाविकमेवेदमस्येति पुरुषो मन्यते, न मानकृतमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

अथ तस्मादनात्मनोऽज्ञातत्वासम्भवात्तद्विषयस्य मानस्य न तत्त्वावेदकत्वमस्ति, अज्ञातार्थाधिगन्तृत्वाभावादित्युपसंहरति—

अज्ञातमर्थमवबोधयितुं न शक्त-
मेवं प्रमाणमखिलं जडवस्तुनिष्ठम् ॥
किं त्वप्रबुद्धपुरुषं व्यवहारकाले
संश्रित्य संजनयति व्यवहारमात्रम् ॥ २१ ॥

अज्ञातमिति ॥ तर्हि भ्रान्तिज्ञानवद्व्यवहारविसंवादोऽपि स्यादिति चेत्, नेत्याह। कि त्विति। व्यवहारकाले अप्रबुद्धपुरुषम् अज्ञानदोषदुष्टं नरमाश्रित्य तदप्रबुद्धवस्तुप्रदर्शनव्यवहारमात्रं संजनयति। अतो व्यवहारकाल एव रजतादिविषयभ्रान्तिज्ञानवद्विसंवादाभावात्प्रत्यक्षादिषु प्रमाणत्वव्यवहारो न विरुध्यते इत्यर्थः॥२१॥

अव ननु यदि जाग्रदवस्थाज्ञानस्य तत्त्वानावेदकत्वं, तर्हि सम्यग्ज्ञातस्याभावात् भ्रान्त्यादिविभागासिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्, मैवं, मिथ्यात्वेऽप्यवान्तरभेदाद्व्यवस्थोपपत्तेरिति स्वप्नदृष्टान्तेनाह—

आबोधतः सकलमेव हि सत्यमिथ्या-
भ्रान्तिप्रमाणविनिवर्त्यनिवर्त्तकत्वम् ॥
स्वप्नेऽपि दृष्टमिदमेवमिहापि जाग्र-
त्काले भवत्वखिलमापरमात्मबोधात् ॥ २२ ॥

आबोधत इति ॥ आबोधतः प्रबोधपर्यन्तम्। यथा स्वप्नेऽपि सर्वेषां भ्रान्तित्वाभिमतेऽपि सत्यामिथ्यादि सकलमेव हीदं व्यवस्थितं दृष्टम्, एवमिहापीति । दार्ष्टान्तिकभागः स्पष्टार्थः॥२२॥

अव आबोधत इति पूर्वपद्योक्तमेव विशदयन् पाखण्डिनां शास्त्रमप्रमाणं वेदशास्त्रं तु प्रमाणमिति कथं सिद्ध्येत्सर्वं स्वप्नवज्जागरितस्यापि भ्रान्तत्वे, इति शङ्कां स्वप्नदृष्टान्तेनैव निराकरोति—

स्वप्ने तप्तशिलाधिरोहणगता निःश्रेयसोपायता
मिथ्या ब्राह्मणतर्पणादिनिलया सत्या तथा लौकिकी ॥
स्रक् सत्या तदहिर्मृषैव विदितो निद्रानिवृत्तौ पुनः
स्वप्ने दृष्टमशेषमेव वितथं ग्राह्यं तथा जागरे ॥२३॥

स्वप्न इति ॥ शास्त्रीयो लौकिकश्च व्यवहारः सत्यमिथ्याव्यवस्थया स्वप्नेऽपि विदितो यावन्निद्रादोषानुवृत्तिरिति संपिण्डार्थः ॥ निद्रादोषविनिवृत्तौ पुनः स्वप्ने दृष्टमशेषमेव व्यवस्थयोपलब्धं वितथं मिथ्यैवेति यथा, तथा जागरेऽपि यावदविद्यमेव व्यवहारव्यवस्था, निवृत्तायामविद्यायां सर्वोऽपि व्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्च मृषेति ग्राह्यमित्यवशिष्टभागार्थः॥२३॥

अथ ग्राह्यं तथा जागरे इत्युक्तं दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयति—

श्रेयःसाधनताऽग्निहोत्रनिलया सत्येति संगृह्यते
मिथ्या तप्तशिलाधिरोहणगता शिष्टैः परित्यज्यते ॥
रज्जुः सत्यतया स्थितैव तदहिर्मिथ्यैव तावद् भवेद्
यावन्मूलतमोविदारणपटुर्विद्योदयो नागमत् ॥ २४ ॥

श्रेयःसाधनतेति॥ यावन्मूलतम इति। सर्वसंसारव्यवहारमूलाविद्यानिवारणपटुर्विद्योदयो यावत् तत्त्वमस्यादिमहावाक्यरूपादागमान्न भवेत्तावत्पूर्वोक्तं सर्वं भवेत्, तस्मिंस्तु सति तत्सर्वमपि न भवेत्। अतो वितथमेव सर्वमनात्मजातमित्यर्थः ॥२४॥

अथ ननु यदि सर्वं ग्राह्यं वितथमेवेत्याभिमतं भवतां, तर्हि कथं वेदशास्त्रप्रामाण्यं बुद्धशास्त्राप्रामाण्यं च यथाप्रसिद्धमुपपद्यते व्यवहार इत्युक्तं सङ्गतं स्यात्, साक्षाद्विज्ञानवाद्यादिमतस्यैवाभिधानादिति कश्चिच्चोदयति—

ननु शाक्यभिक्षुसमयेन समः
प्रतिभात्ययं च भगवत्समयः ॥
यदि बाह्यवस्तु वितथं नु कथं
समयाविमौ न सदृशौ भवतः ॥ २५ ॥

नन्विति ॥ शाक्यभिक्षुर्बौद्धः। मुनिसाम्यमेवाभिनीय दर्शयति। यदिबाह्येति ॥ २५ ॥

अथ बाह्यवैतथ्यमात्रेण कथं मतसाम्यं वैषम्यस्यापि कथञ्चित्संभवात्? इति चेत् मैवं, विशेषादर्शनादित्याह—

यदि बोध एव परमार्थवपु-

र्न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति ॥
ननु चाश्रितं भवति बुद्धमुने-
र्मतमेव कृत्स्नमिह मस्कारिभिः ॥ २६ ॥

यदिबोध इति॥ बोधो ज्ञानमात्रं परमार्थस्वरूपं न तु बोध्यं परमार्थसदिति भवतामप्यभिमतं भवति तदा ननु निश्चितं मस्करिभिर्वैणवदण्डधारिभिर्वैदिकसंन्यासिभिरपि बुद्धमुनेर्विज्ञानवादिनो मतमेव कृत्स्नमिहाश्रितं भवति। तेनापि तथैवाङ्गीकारादिति योजना ॥ २६ ॥

अव न हि साम्यमनयोर्मतवैषम्यस्य स्फुटत्वादिति परिहरति—

ननु मातृमानविषयावगती-
रपरस्परं प्रति विभागवतीः ॥
उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः
कथमेष वैदिकमुनिर्भवति ॥ २७ ॥

नन्विति ॥ मातृमानविषयावगतीश्चेत्येवं चतुर्विधं व्यवहारकाले मिथो विभक्ततयाऽसंकीर्णमित्युपयन्नङ्गीकुर्वन्नेष वैदिकमुनिर्भदन्तमुनिना बुद्धाचार्येण कथं सदृशो भवति? न कथमपीत्यर्थः। विज्ञानमेवैकं ज्ञेयाकारं, तच्च क्षणिकमिति विज्ञानवादिनो मतम्। मात्रादिचतुष्टयं परस्परविभक्तं नित्यचैतन्यात्मन्यविद्ययाऽध्यस्तमनिर्वचनीयं, तच्च यावद्व्यवहारं स्थिरमिति वैदिकमुनिमतम् । तदेव वैषम्यमनयोरिति भावः ॥ २७ ॥

अव ननु त्वन्मतेऽपि दृश्यस्य मिथ्यात्वे तस्यासत्त्वमव स्यान्न सत्वं, ततः कुतश्चातुर्विध्यं स्थिरत्वं वेत्याशङ्क्य, उक्तमेव वैषम्यं स्फुटयति—

परमात्मसंश्रयतमोजनितं
प्रविभक्तमेव तु परस्परतः ॥
स्थिरमभ्युपेतमिह नः समये
ननु मातृमानविषयप्रभृति ॥ २८ ॥

परमात्मसंश्रयतम इति ॥ मातृमानविषयप्रभृति इत्यस्य विशेषणानि परमात्मसंश्रयेत्यादीनि । तत्राद्येन विशेषणेन प्रमात्रादेर्ज्ञानात्मत्वनिरासः । द्वितीयेनैकस्यैव ग्राह्यग्राहकाकारतेत्यस्य निरासः । तृतीयेन क्षणिकत्वनिरास इति लेशतोऽपि नास्मन्मतस्य बौद्धमतसाम्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

अव. बाह्यस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमेऽप्यसद्वादानभ्युपगमान्न बौद्धमतसाम्यमस्मन्मतस्येति प्रतिपाद्यान्यमपि बौद्धमताद्विशेषमाह—

तमसा विनिर्मितमिदं सकलं
चतुरः स पश्यति परः पुरुषः ॥
अविकारिबोधवपुरद्वयकः
करणैर्विना सकलसाक्षितया ॥ २९ ॥

तमसेति ॥ किमिदं तमसा विनिर्मितं सकलमिति जिज्ञासायां साक्षिदृश्यं सर्वमित्याह । चतुर इति । पदार्थान्प्रमात्रादीन्परस्तेभ्यो भिन्नः पुरुषः स आत्मा प्रपश्यति । यानेष पश्यतीदं सकलं तमसा विनिर्मितमिति योजना । तस्य मते प्रमात्रादेर्न चिन्निष्ठाज्ञानजत्वं, न च स्वात्यन्ताभिन्नदृश्यत्वमिति ततो विशेष इत्यर्थः । पुरुषस्य दृश्यदर्शनप्रकारविशेषं वैषम्यान्तरमाह । अविकारीति । विकारो जन्मादिः तत्संबन्धरहितोऽविकारी चासौ बोधवपुश्च । अखण्डानित्यज्ञानस्वरूप इत्यर्थः । तस्य विज्ञानं क्षणिकम्,

अस्माकं तु चिदात्मा कूटस्थनित्य इति वैषम्यमुक्तं भवति । तस्यानेकानि ज्ञानानि अस्मन्नये पुरुषो ऽद्वयकः सर्वत्र सर्वदा चैक एवेति च वैषम्यम् । करणैर्विना मपश्यतीति संवन्धः।अनेनाविकारिबोधरूपत्वं समर्थितम्। करणजन्यो हि बोधो विकारी, अयं न तथा इत्यविकारीत्यर्थः। कथं तर्हि मपश्यतीति कर्तृवचनेन निर्देशः? इति तत्राह। सकलसाक्षितयेति। प्रदीपसवित्रादिवत्साक्षिण्यमात्रेणेत्यर्थः। सर्वथाऽपि दृश्यस्य दृशो भेदविलक्षणत्वास्थिरत्वाविद्यानिर्मितत्वानात्मत्वाभ्युपगमात् दृशश्च कूटस्थनित्यत्वैकत्वाभ्युपगमात् अस्मन्मतं शाक्यमतादत्यन्तं विलक्षणं सिद्धमिति भावः ॥ २९ ॥

अव कथं त्वन्मतेऽप्यसंगो ऽद्वयो ऽविकारिबोधरूपः पश्यतीत्युपपद्यते इति चेत्, मायावशात्सर्वमस्माकमुपपन्नमेवेति साक्षित्वमुक्तं विशदयति—

निजमायया परिगतः पुरुषः
परतन्त्रया तु निजया प्रभया ॥
परिकल्पित सकलमाकलयन्
स हि साक्षितामुपगतो भवति ॥ ३० ॥

निजमाययेति ॥ स हि पुरुषो निजमायया परिगतः सन्साक्षितामुपगतो भवतीत्यन्वयः । स्वाश्रया स्वविषया स्वमाया निजमाया तया परिगतः स्वचिदाभासव्याप्त्या तादात्म्याध्यासमापन्नः स्वाध्यस्तां मायामवभासयन्साक्षितामुपगत इत्यर्थः । तर्हि कथं विश्वसाक्षित्वं तस्य तत्संबन्धाभावात् ? इत्यत आह । परतन्त्रयेति । तुशब्दश्चार्थः। परतन्त्रया स्वाश्रयमायोपाधिगतया निजया प्रभया स्वचैतन्याभासेन, साभासया मायया मायाऽनुगत

चैतन्येन च इति यावत् । परिकल्पितं सकलमाकलयन्नवभासयन् स्वचैतन्यावभासखचितं कुर्वन्निति यावत् । अथवा निजमायया स्वासाधारणशक्त्या परतन्त्रया जडया प्रवृत्त्यादौ चैतन्यसापेक्षयेति यावत् । परिकल्पितं सकलं निजया प्रभया स्वचैतन्येनाकलयन् व्याप्नुवन् परिगतो व्यापकः साक्षितामुपगतो भवतीति योजना ॥ ३० ॥

अथ एवं दृशः कूटस्थसाक्षित्वमुपपाद्य स्थिरमभ्युपेतमित्यत्रोक्तं दृश्यस्याक्षणिकलक्षणं स्थिरत्वं साधयति—

ग्राह्यग्राहकयोः स्थिरत्वगमनी तत्प्रत्यभिज्ञा प्रमा
नोपापत्स्यत चेदसेत्स्यदपि नौ सिद्धान्तयोस्तुल्यता ॥
सा निर्वक्ष्यति सिध्यतीति नयतः स्थैर्यं स्वरूपात्मकं
चैतन्यस्य च भङ्गुरत्वमित्र मे सर्वस्य ते दर्शने ॥ ३१ ॥

ग्राह्यग्राहकयोरिति । यदुच्यते बौद्धैः सौत्रान्तिकादिभिः ग्राह्यस्य विषयस्य ग्राहकस्यात्मचैतन्यस्य च क्षणिकतेति तत् तदा निश्चितं भवेत् यदि तयोः स्थैर्यग्राहकं प्रत्यभिज्ञाख्यं क्षणिकत्वानुमानबाधकं न संसिद्ध्येदित्येतदाह । ग्राह्यग्राहकयोर्विषयविषयिणोः स्थिरत्वगमनी एतयोः प्रत्यभिज्ञा नाम प्रमा चेन्नोपापत्स्यत नोपपन्नाऽभविष्यत्, तर्हि नौ आवयोः सिद्धान्तयोस्तुल्यता असेत्स्यदपि सिद्धिमगमिष्यदिति सम्भाव्येत । सा प्रत्यभिज्ञाप्रमा ग्राह्यग्राहकयोः स्थैर्यं सिद्ध्यतीति निर्वक्ष्यति निर्वाहं करिष्यति । कुतः ? नयतो नीतितः । यथा प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे दोषाजन्यत्वबाधाभावाभ्यां न्यायाभ्यां स्वार्थाव्यभिचारित्वम्, एवमस्या अपि न्याययोगात्स्वार्थसाधकत्व सम्भवतीत्यर्थः । न चानयोः स्थैर्यं नाम धर्मो मयाऽभ्युपेयते येन चैतन्यस्य धर्मयोगादेकरसत्वहानिशङ्का

ग्राहकात्मन इत्याह । स्थैर्यमिति । चैतन्यस्य चकाराद्ग्राह्यस्य च स्थैर्यं मे मते स्वरूपात्मकमेव न धर्मः, ते दर्शने सर्वस्य भङ्गुरत्वं क्षणिकत्वमिवेति योजना । ते तव विज्ञानक्षणिकत्वयोर्धर्मधर्मित्वाभ्युपगमे स्वलक्षणत्वमभिमतं हीयेतेति भावः । ग्राहकस्य सर्वविकारसाक्षित्वोपपादनेन पूर्वपद्ये एव स्थैर्यं साधितमपि अत्र प्रत्यभिज्ञासामर्थ्यस्योभयतुल्यत्वादभ्युच्चयार्थं ग्राहकस्य ग्रहणं कृतम्, स्वरूपात्मत्वकथनं तु प्रत्यभिज्ञायाः स्वरूपाविषयत्वाज्ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवद् भ्रान्तित्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थमिति च द्रष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

अथ एवं बौद्धमतसाम्ये परिहृतेऽपि यदुक्तं जागरस्य स्वप्नसाम्यं तत् जाग्रत्स्वप्नयोर्वैलक्षण्यस्य सर्वसंप्रतिपन्नत्वादयुक्तम् इत्याशङ्कते—

ननु कल्पितं सदपि जागरितं
वद कीदृशी खलु विलक्षणता ॥
स्वपनादमुष्य भवतोऽभिमता
परिकल्पितत्वमुभयोस्तु समम् ॥ ३२ ॥

नन्विति ॥ सदपि सत्यत्वेन प्रसिद्धमपि जागरितं कल्पितं चेत्तदा वद कीदृशीति योज्यम् । सुगममन्यत् ॥ ३२ ॥

अथ मिथ्यात्वांशे वैलक्षण्याभावेऽपि अस्ति वैषम्यान्तरमिति परिहरति—

न प्रमातरि सति प्रबाध्यते
जागरः स्वपनदृष्टवस्तुवत् ॥
मातृमानविषयोपलब्धिभिः
साकमेव तमसो निराकृतेः ॥ ३३ ॥

**न प्रमातरीति** ॥ जाग्रत्स्वप्नयोः प्रमाता ह्येकः प्रसिद्धः प्रत्यभिज्ञानात्। तत्र स्वपने स्वप्ने दृष्टं वस्तु यथा प्रमातरि स्वप्नोपलब्धरि सत्येव प्रबाध्यते मिथ्येति निश्चीयते, प्रतिपन्नोपाधौ निषिद्ध्यमानत्वात्। तथा जागरः प्रमातरि सति न प्रबाध्यते। यतः संसारमूलतमोनिवृत्तिव्यतिरेकेण न जाग्रद्भ्रमो निवर्तते।तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजनितज्ञानेन मातृमानविषयोपलब्धिभिः सह तमसो निराकृतेःबाधनात्। तस्मात्प्रमात्राद्यभावे च व्यवहाराभावात् न व्यवहारसमये जागरितस्य मिथ्यात्वप्रतीत्यवसर इति अनयोर्विशेष इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अथ ननूभयोरपि बाध्यत्वाविशेषान्मिथ्यात्वं चेत्समं तर्हि किंनिमित्तो ऽयं विशेषः ? इति चेत्, तत्राह—

देशकालपुरुषैरवस्थया।
जागरस्य खलु कारणं तमः ॥
साकमेव सहसा निरस्यते
वेदवाक्यजनितात्मसंविदा ॥ ३४ ॥

**देशकालपुरुषैरिति** ॥ अथवा जागरितस्य प्रमातरि सत्येव बाधाभावात्प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वलक्षणं मिथ्यात्वं तस्य न सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह।देशकालेति। यद्वा प्रमात्रादिभिः सह तत्कारणतमोनिराकरणाच्च जागरः प्रमात्रादिषु सत्सु न प्रबाध्यत इति उक्तमेव सहेतुकमुपपादयति। देशकालेति।अस्यार्थः। मूलाज्ञानं हि जाग्रत्प्रमात्रादेः कारणं तत् न शुक्तौ रजतवद्देशकालव्यवस्थाप्रमात्रादिषु सत्स्वेव जाग्रद्दृश्यमुद्भावयति, अज्ञानविक्षेपात्प्राग्देशादिविभागासिद्धेः। किं तु देशादिभिः सहैव चिन्मात्राश्रयविषयाज्ञानेन जाग्रद्दृश्यमुद्भाव्यते। तथाच तादृगज्ञानबा-

थनेनैव तत्कार्यजाग्रद्बाधो वक्तव्यः, स च वेदान्तवाक्यजनितात्मतत्त्वज्ञानैकसाध्य इति । एषाऽक्षरयोजना । जागरस्य कारणं तमः अज्ञानं वेदवाक्यजनितात्मसंविदा निरस्यते प्रमात्रादिभिः अवस्थया जाग्रदादिलक्षणया च साकमेव सहैव जाताऽपि सहसा स्वोत्पत्तिमात्रेण निरस्यते बाध्यत इति । एवं सति उभयोर्बाध्यत्वेन मिथ्यात्वे समाने ऽपि सत्सु देशादिषु बाध्यत्वं सहैव देशादिभिर्बाध्यत्वमिति च स्वप्नजागरितयोर्विशेषः सिद्धः। तथा चैतन्यस्यैवाज्ञातस्य जाग्रद्भ्रमाधिष्ठानत्वात् तस्मिन्सत्येव तदज्ञानेन सह जाग्रद्बाधात् प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वमपि अत्राविरुद्धमेव इति मिथ्यात्वं नानुपपन्नम् । तथा सत्सु प्रमात्रादिष्वस्यारोपाभावात् सत्सु तेषु न बाध्यते, किंतु तैः सहैवारोपात्सहैव तैर्बाध्यते। रजतस्वप्नादौ तद्विपर्ययात्तद्विपर्यय इति सर्वमवदातम् ॥ ३४ ॥

अथ ननु देशादिषु सत्स्वेव स्वप्न आरोप्यते, जागरस्तु तैः सह इत्यत्र किं प्रमाणम् ? इति चेत् बाधानुभव एवेत्याह—

स्वप्नदृष्टमिह रज्जुसर्पवद्
देशकालपुरुषेषु बाध्यते ॥
जागरः पुनरयं तथाविध
बाधक न लभतेऽसमीक्षणात् ॥ ३५ ॥

स्वप्नदृष्टमिति ॥ स्वप्नदृष्टं हि देशादौ सत्येव बाधितमनुभूयते । तेन तत् तस्मिन्सत्येव कल्पितं रज्जुसर्पवदिति गम्यते। जागरस्य बाधस्तथा नानुभूयत इति देशकालादिभिः सहैवाज्ञानेन कल्पित इति गम्यत इत्यर्थः । अक्षरयोजना सुगमा ॥ ३५ ॥

अथ तस्मान्मिथ्यात्वाविशेषेऽपि उक्ताद्विशेषाज्जागरितस्य सत्यत्वं, स्वप्नस्य च मिथ्यात्वमिति लोको मन्यते यावत्ब्रह्मा-

त्मदर्शनं, तेन बाधितं तु प्रबुद्धस्य स्वप्न इव सर्वात्मना निवर्तते इत्युपसंहरति—

तेन सत्यमिह जागरं विदुः
स्वप्नविभ्रमविरुद्धधर्मकम् ॥
आपरात्मपरमार्थदर्शनात्
तेन बाधितवपुर्न सत् क्वचित् ॥ ३६ ॥

तेन सत्यमिति ॥ स्पष्टाऽक्षरयोजना ॥ ३६ ॥

अथ तेन बाधितवपुर्न सत्क्वचिदिति कुतः ? स्वप्नादि हि बाधितमपि कालान्तरे भवत् दृश्यते, तद्वत् आत्मतत्त्वज्ञानबाधितमपि कालान्तरे भविष्यतीति सम्भाव्यते इति चेत्, तत्राह—

तत्र सत्यमनृत च भेदतः
प्रत्यगात्मतमसा विकल्पितम् ॥
प्रक्षिणोति परमात्मवस्तुगा
बुद्धिवृत्तिरविचालिनी सती ॥ ३७ ॥

तत्र सत्यमिति ॥ तत्र सच्चिद्रूपे ऽधिष्ठाने प्रत्यगात्मतमसा चिन्मात्राश्रयविषयाज्ञानेन सत्यं जागरितम् अनृतं च स्वप्नादि इति भेदतो विभागेन यल्लोके विकल्पितं तत्सर्वं सविभागं परमात्मवस्तुगा बुद्धिवृत्तिः अविचालिनी सती अन्यदप्रतीक्षमाणैव सती प्रक्षिणोति नाशयतीति योजना। एतदुक्तं भवति । व्यवहारदशायां प्रबोधसमये स्वप्नो बाध्यमानो ऽपि न मूलेन सह बाध्यते, यतो निद्रादिद्वारेण प्रत्यगात्मतमसः स्वप्नहेतुता न स्वरूपेण, अतो निद्राकारितमोनिवृत्तावपि मूलभूतस्य सर्वावस्थाविक्षेपहेतुतमसो

ऽनिवृत्तत्वाद्बाधितस्यापि स्वप्नादेः पुनः पुनः सम्भवो युक्तः, निद्रादिहेतोर्मूलतमसो विद्यमानत्वात् । न एवमिह, मूलाज्ञानेन सहैव तत्कल्पनानिरासात् । पुनरुद्भवे हेत्वभावान्न पुनस्तस्य भवनसंभावनेति ॥ ३७ ॥

अव ननु बुद्धिवृत्तिः कथम् अविद्यां तत्कार्यं च निवर्तयेत् तस्या अपि अविद्याकार्यतया, आविद्यकत्वे सति विरोधाभावात् ? इति चेत्, तत्राह—

नित्यबोधपरिपीडितं जग-

द्विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः ॥

वासुदेवनिहतं धनञ्जयो

हन्ति कौरवकुल यथा पुनः ॥ ३८ ॥

नित्येति॥नित्यबोधेन कूटस्थचैतन्येन परिपीडितम् उत्पत्तित एवाभिभूतं जगद्विभ्रमं वाक्यजाता मतिर्नुदति नाशयति। एतदुक्तं भवति। जाग्रद्विभ्रमो हि जायमानो ऽधिष्ठानसत्तास्फुरणाभ्यां व्याप्त एव जायते, तत्राधिष्ठानस्फुरणव्याप्तत्वेऽपि तेन तस्य न बाधः, अनादिकालमारभ्य तेन सत्त्वाद्विरोधाभावात् । वस्तुगत्या तु स्वाधिष्ठानचैतन्यग्रस्तत्वान्नित्यबोधपरिपीडितं भवति जगत्, वाक्यजा तु मतिरन्तःकरणवृत्तिरूपा स्वयमविद्यात्मिकाऽपि समूलं जगद्विभ्रम विरोधिब्रह्माकारग्राहितया तप्तायोगोलकवत्स्वभावमापन्नाऽत एवाभिभूतजाड्या देदीप्यमानाऽऽगन्तुकी प्रमाणभूतत्वान्नुदति। तत्र दृष्टान्तमनुकूलम् उदाहरति। वासुदेवेति। यथा पुनः कालात्मना वासुदेवेन पूर्वमेव निहतं कौरवकुलं धनञ्जयोऽर्जुनस्तत्कुलोत्पन्न एव सन् तमेव वासुदेवमाश्रित्य तेनोत्तेजितः सन् हन्तिस्मेति योजना ॥ ३८ ॥

अव. एवं सर्वस्यापि द्वैतस्य मिथ्यात्वाविशेषेऽप्यनाद्यनिर्वचनीयाविद्यातदवस्थाविलासिततया सदसत्स्वभावत्वेनावान्तरभेदसंभवादस्मन्मते लोकसिद्धसत्यानृतविभाग उपपद्यते। तत्त्वज्ञानेन चाविद्यात्मकेनापि वस्तुसमाश्रयबलात्सर्वद्वैतनिवृत्तिरप्युपपद्यत इति स्वमतम् उपपाद्य, द्वैतसत्यत्ववादिमते तु सत्यानृतविभागासम्भवमाह स्वमतपरिशुद्धये —

सत्यमेवमनृतं च दुर्लभं
ब्रह्मवादिसमयाद् बहिः पुनः ॥
सत्यतो यदि मृषा पृथग् भवेत्
सत्यमेव तदपि प्रसज्यते ॥ ३९ ॥

सत्यमेवेति॥कथं दुर्लभम्? इति चेत्, इदं तावदिह वक्तव्यम्। सत्यान्मृषा वस्तु भिद्यते न वा अथवा भेदाभेदाविति। तत्राद्यमनूद्य दोषमाह। सत्यत इति। तुच्छत्वे पृथक्त्वधर्मानाश्रयत्वात् मृषा वस्तुनो ऽपि सत्यात्पृथक्त्वधर्मयोगश्चेत् अतुच्छत्वरूपं सत्यत्वं प्रसज्यते। सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्यप्रकारस्यानङ्गीकारादित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अव. द्वितीयमनूद्य दूषयति—

सत्यतो यदि मृषा न भिद्यते
सत्यमेव सुतरां तदिष्यताम् ॥
न द्वयात्मकतयाऽनृतं मतं
पक्षयोः कथितदूषणद्वयात् ॥ ४० ॥

सत्येति॥ सुतरामिति। अस्मिन्पक्षे मृषावस्तुनः सत्यतादात्म्यादित्यर्थः। तृतीयमपि उक्तदूषणद्वयेनैव दूषितमित्याह। न

द्वयेति। सत्याद्भिन्नाभिन्नतयेत्यर्थः। सत्याद्भिन्नाभिन्नतयोः प्रत्येकं कथितदूषणद्वयात् प्रत्येकम् उक्तदूषणद्वयस्य समुच्चयेऽपि अंशत एकैकस्य सम्भवादित्यर्थः। विरोधादय पक्षोऽपि न सम्भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ ४० ॥

अव. न केवलमेवं लोकव्यवहारासिद्धिरेव दोषः, किं तर्हि स्वपक्षसमर्थनं परपक्षदूषणं च परेषां न सम्भवति, सत्यानृतविभागासिद्धेरेव इत्याह—

वेदवाक्यविषयस्य सत्यता

बुद्धवाक्यविषयो मृषा भवेत् ॥

इत्यतः कथयितुं न शक्नुयाद्

ब्रह्मवादिसमयाद् बहिर्मुखः ॥ ४१ ॥

वेदवाक्येति ॥ यतस्तन्मते सत्यमिथ्याविभागासिद्धिः इति अतः कथयितुं न शक्नुयादित्यर्थः। अनिर्वचनीयवादे तु सत्यमिथ्याविभागस्य स्वप्ने इवाप्रबोधाद्विकल्पितत्वाङ्गीकारे न एतादृशविकल्पादिप्रसर इति भावः ॥ ४१ ॥

अव. परिशेषात्सत्यानृतभेदः कल्पित एवाभ्युपेय इत्युपसंहरति—

सत्यमेवमनृतं च भेदतः

कल्पितं भवतु वर्णितान्नयात् ॥

तत्र तद् घटयितुं हि शक्यते

नेतरत्र कथितोपपत्तिभिः ॥ ४२ ॥

सत्यमिति॥ वर्णितान्नयात् मिथ्यात्वाविशेषेऽप्यवान्तरभेदसाधकन्यायादित्यर्थः। तत्र अनिर्वचनीयप्रपञ्चवादे सत्यं

मिथ्येति च द्वयं घटयितुं शक्यते, नेतरत्र प्रपञ्चसत्यत्ववादे कथितोपपत्तिभिः विकल्पदूषणासहत्वादिभिरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अव. यत एवं उक्ताभिरुपपत्तिभिर्वेदान्तेतरमानगम्यस्य न परमार्थसत्यत्वं सम्भाव्यते तथा प्रसिद्धं वैचित्र्यं चोपपद्यते, अतो लौकिकवैदिकव्यवहाराविरोधात्प्रत्यक्षादिप्रामाण्यं व्यवहारसमर्थतत्त्वावेदकलक्षणं न तत्त्वावेदकलक्षणम्, अज्ञातार्थगन्तृताऽऽख्यप्रमाणलक्षणस्य तत्र तत्त्वतोऽभावात् इत्येतत्सर्वैरभ्युपेयमिति परमप्रकृतमुपसंहरति--

व्यावहारिकमतोऽवगम्यतां
मानजातमखिलं न तात्त्विकम् ॥
बाह्यवस्तुविषय विरोधतो-
ऽबुद्धबोधविधिशक्त्यसंभवात् ॥ ४३ ॥

व्यावहारिकमिति ॥ बाह्यवस्तुविषयम् अखिलं मान जातमिति सम्बन्धः । अबुद्धबोधेति च्छेदः ॥ ४३ ॥

अव उपपादितमर्थमनूद्य प्रस्तुतं वेदान्ताना प्रमाणान्तरविरोधाभावं निगमयति—

एव न तत्त्वविनिवेदनशक्तियोगः
सम्भाव्यतेऽनधिगताधिगतेरयोगात् ॥
मानान्तरस्य सकलस्य ततश्च तेन
बाधस्त्रयीशिरसि वर्णयितुं न शक्यः ॥ ४४ ॥

एवमिति ॥ अतत्त्वविषयाणां मानानां तत्त्वगोचरमानबाधने सामर्थ्यासम्भवात् रजतज्ञानामिव शुक्तिकाज्ञानेन प्रत्यक्षादी-

न्येवातत्त्वविषयाणि वेदान्तैस्तत्त्वविषयैर्बाध्यानीति भावः ॥४४॥

अथ तदेवं वेदान्तानां प्रत्यक्षादेश्च तत्त्वातत्त्वविषयतया द्वैतग्राहिप्रमाणैर्व्यावहारिकार्थावभासमात्रसमर्थैः अद्वैतात्मवस्तुग्राहिणां वेदान्तानां तत्त्वार्थावभाससमर्थाना न बाध इति यदुपपादितं तद्युक्तियुक्तमपि मूलशास्त्रसूत्रविरोधान्न श्रद्धेयमिति कश्चिच्छङ्का भवेत् । यतः 'भावाच्चोपलब्धेः' इति सूत्रे निर्विकल्पकवस्त्ववभासित्वं प्रत्यक्षस्य विरोधपरिहाराय सूत्रकृद्भिरुक्तं न तत्त्वानवसायित्वम् अतः सूत्रविरोध इति तत्राह—

आरम्भणादिवचसा खलु निर्विकल्प-
प्रत्यक्षबुद्धिमनुसृत्य विकल्पबुद्धेः ॥
आभासतां मुनिरुवाच तदाऽस्य भावो
विज्ञायते स्फुटतरो गुडजिह्विकायाम् ॥ ४५ ॥

आरम्भणेति ॥ निर्विकल्पप्रत्यक्षबुद्धिं निर्भेदसन्मात्रविषयां प्रत्यक्षधियमनुसृत्य सन्मात्रप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्य विकल्पबुद्धेः भेदविषयस्य प्रत्यक्षादिप्रत्ययस्य आभासतां मिथ्याऽर्थविषयत्वं यदा मुनिः आरम्भणादिवचसा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इति श्रुतिवचनबलेन उवाच तदाऽस्य भावोऽभिप्रायः स्फुटतरो गुडजिह्विकायां विज्ञायते इति योजना । यथा तिक्तरसमौषधं जिह्वायां गुडलेपनेन बालान्पाययन्ति न तत्र तेषां गुडलेपने तात्पर्यं, तद्वदत्रापि प्रतिपत्तिक्रममपेक्ष्य निर्विकल्पकबुद्धेः प्रामाण्याङ्गीकरणं, सूत्रकारस्य न तु तात्पर्यम् । 'सहसा हि प्रत्यक्षस्य सर्वस्य भ्रान्तित्वकथने व्याकुलीभूतं चित्तं न तत्त्वमवगाहेत अतः कथंचिदपि प्रत्यक्षप्रामाण्यमवलंब्य तत्त्वमवगाहयामि ततश्च क्रमेण निर्विकल्पबुद्धेरपि प्रामाण्यमपोह्य बुद्धिशुद्धिमपि

दर्शयिष्यामि' इति मन्यते, न तु निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यं विवक्षितं, वाचारम्भणादिवचनाश्रयात्। न हि वाचारम्भणादिसर्वविशेषापवादिश्रुतीनां प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पप्रामाण्याङ्गीकारेऽपि विरोधस्तत्त्वतः परिहृतः स्यात्। सर्वकार्यानुगतकारणरूपदृश्यसत्ताविषयत्वान्निर्विकल्पकस्य सामान्यविशेषादिविनिर्मुक्तप्रत्यङ्मात्रविषयत्वाच्च विशेषप्रतिषेधश्रुतीनाम्। अतः सविकल्पकवन्निर्विकल्पकस्य आभासत्वमेव सूत्रकाराविवक्षितम्, गुडजिह्विकान्यायेन तत्प्रामाण्याभिधानमिति न सूत्रविरोधोऽस्मदुक्ते शङ्कनीय इति ॥४५॥

अथ यदेतदस्मन्मतं प्रत्यक्षादीना न तत्त्वावेदकं प्रामाण्यमस्ति व्यावहारिकमेव तेषां प्रामाण्यं वेदान्तानामेव तत्त्वावेदकत्वमिति, तत् जैमिनेरपि सम्मतमिति तदुक्ति तत्र नियामिकामाह—

सत्संप्रयोगइति जैमिनिरप्युवाच
यल्लक्षणं तदुभयो. सममेव विद्यात् ॥
आपाततस्तदथ युक्तिनिपीडितं सत्
सन्मातसंविदि निषीदति निर्विशङ्कम् ॥ ४६ ॥

सत्सम्प्रयोगइतीति ॥ यद्वा स्वमतव्यवस्थायां जैमिनिमतविरोधमाशङ्क्य, तत् अस्मदनुकूलमेव न प्रतिकूलमित्याह। सत्संप्रयोग इतीति। 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' इति सूत्रेण विद्यमानसंयुक्तार्थबुद्धित्वं यत् प्रत्यक्षलक्षणं जैमिनिरप्युवाच तत् आपाततो विना विचारं प्रतीतिमात्रेण उभयोः सविकल्पकनिर्विकल्पकयोः सममेव विद्यात्। साधारणाविषयं तत्सूत्रवचनं तत्र विशेषानभिधानाल्लोकानुभवे च विशेषाभावात्। अतस्तदपि प्रत्यक्षलक्षणं 'भावाच्चोपलब्धेः' इति बादरायणाचार्यसूत्रसूचितयुक्तिनिपीडितं सत् सन्मात्रसंविदि वस्तुमात्रविषयायां निर्वि-

कल्पिकायां बुद्धौ निर्विशङ्कं निःसंदेहविपर्ययं यथा स्यात्तथा निषीदति पर्यवस्यतीति योजना । बादरायणोक्तेन न्यायेन सविकल्पकार्थानामसत्त्वनिश्चये सति निर्विकल्पकस्यैव तल्लक्षणमिति विवेके सति व्यावहारिकमेव सविकल्पकप्रामाण्यं निर्विकल्पकस्य च तत्त्वावेदकत्वमिति प्रत्यक्षप्रामाण्यकक्षाभेदोऽभिमतो जैमिनेरपीत्यर्थः । यद्वा संयुज्यमानस्यार्थस्य सदिति विशेषितत्वात् सदेव सोम्येति च सत्यस्य ब्रह्मात्मरूपत्वनिश्चयात्तस्यैवाज्ञातत्वात्तद्विषयमेव वस्तुगत्या सर्वमपि प्रमाणम् । तदनुविद्धेषु पुनरागमापायिषु सविकल्पेष्वर्थेषु वाचारंभणमात्रेषु वेदान्तेतरमानानां व्यावहारिकमेव प्रामाण्यमिति जैमिनिसूत्रस्याभिप्रायो बादरायणसूत्रानुसारेणावगम्यते । जैमिनिना विशेषानभिधानाद्बादरायणेन च विशेषाभिधानात्सामान्यवचनस्य च संप्रतिपन्नविशेषवचनानुकूलतया योजयितुं शक्यत्वात् । अतो न केनापि विरोधो ऽस्ति अस्मन्मते इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अथ यद्येवं निर्विकल्पकार्थस्य प्रत्यक्षस्य तत्त्वावेदकत्वमेष्टव्यम् इति चेत्, मैवं । तत्रापि परमार्थतोऽज्ञातज्ञापकत्वानिरूपणादित्याह—

तत्रापि दुर्घटमवैति यदा तु तत्त्व-
बोधं विवक्षति विसृज्य विकल्पजालम् ॥
किं कारणं वदति येन स तत्त्वगामि
विज्ञानमर्थमवबोधयदप्रबुद्धम् ॥ ४७ ॥

तत्रापीति ॥ यदा तु तत्रापि निर्विकल्पकप्रत्यक्षे ऽपि दुर्घटमवैति निर्विकल्पकसन्मात्रस्यापि जडत्वात् अज्ञातत्वासम्भवेन तद्विषयस्य प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं दुर्घटमिति जानाति तदा विक-

ल्पजालं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च विसृज्य विशुद्धतत्त्वबोधं ब्रह्मात्मविषयमेव साक्षात्प्रमाणं विवक्षति । निर्विकल्पमपि प्रत्यक्षं तत्त्वावगतिद्वारभवनलक्षणव्यवहारसमर्थवस्त्ववभासितया प्रमाणं, न तत्त्वावेदकतयेति मन्यते इत्यर्थः। कथमित्थं जैमिनेरभिप्रायो ऽवसीयते? इति पृच्छति। किं कारणमिति।तदुत्तरमाह।वदति येनेति। येन कारणेन अप्रबुद्धमर्थमवबोधयद्विज्ञानं तत्त्वगामीति जैमिनिर्वदति तेनेत्थं निश्चय इति योजना । अनाधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमाणस्वरूपमिति तेनाभिधानात्प्रत्यगात्मनो ऽन्यस्य च स्वभावतो अनधिगतत्वानिरूपणादित्थं तदभिप्रायो गम्यते इति भावः ॥ ४७ ॥

अव कुत्रेदं प्रमाणलक्षणं तेनोक्तम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

औत्पत्तिके हि भगवानयमप्रबुद्ध-
मर्थं प्रमाणविषयं कथयाम्बभूव ॥
अत्राह तत्र ननु धर्मगत प्रमाण
तत्त्वार्थगामि कथितं न परात्मगामि ॥ ४८ ॥

औत्पत्तिक इति॥ अयं जैमिनिर्भगवानशेषार्थदर्शी हि यस्मात् औत्पत्तिके सूत्रे 'अनुपलब्धे तत्प्रमाणम्' इत्यनेनांशेन-अज्ञातार्थाधिगन्तृ प्रमाणमिति कथयाबभूव कथितवानित्यर्थः। जैमिनीवचनस्यान्यविषयत्वान्नायमर्थो ऽभिमेत इति मीमांसकश्चोदयति । अत्राहेति । तत्र सूत्रे ननु हि धर्मविषयं प्रमाणं तत्त्वार्थगामि अनधिगतार्थबोधकमिति तेन कथितम्। चोदनाख्यं प्रमाणं मानान्तरागोचरधर्मविषयकतया तत्त्वबोधकं तेन तत्र विवक्षितं धर्मप्रमाणनिरूपणस्य प्रक्रान्तत्वात्, न परमात्मगामितया कथितं तस्याप्रस्तुतत्वादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

अव परात्मगामिप्रमाणस्य तत्राप्रस्तुतत्वे ऽपि बादरायण-मतानुकर्षणलिङ्गाद्वर्णिताभिप्रायोऽस्य गम्यते इति परिहरति—

सत्यं यथाऽऽह पितृमान् व्यवहारदृष्टि-
माश्रित्य तत् कथितवान् प्रकृतोपयोगात् ॥
दूरप्रसारितनिसृष्टनिगूढभाव-
स्तद्बादरायणमतानयनात् प्रतीमः ॥ ४९ ॥

**सत्यमिति** ॥ धर्मविषयं प्रमाणं तत्र निरूपितमित्येतत्सत्यं तथैव यथाऽऽह भवान्।पितृमान् पित्रादिभिर्वृद्धैः शिक्षितबुद्धिरित्यर्थः। यत् तत्र धर्मे एव तत् प्रमाणमवोचत् तत् व्यवहारदृष्टिमाश्रित्य कथितवान्, तस्यैव प्रकृतोपयोगात् , न तत्त्वदृष्टिं तस्यास्तदनुपयोगादित्यर्थः । तथापि न तावन्मात्रे व्यवहारे एव पर्यवसितधीः जैमिनिः यतः दूरप्रसारितनिसृष्टनिगूढभावः दूरं वेदान्तेषु प्रसारितो दीर्घीकृतो निसृष्टश्च तत्रैव नितरां क्षिप्तस्तां स्थितिमेवावलम्बमानो निगूढो ऽप्रकटितो भावो ऽभिप्रायो यस्य स तथा। एवं भावकल्पनायां लिङ्गमाह।तद्बादरायणमतानयनात्प्रतीम इति। 'बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति बादरायणमतस्यानुकर्षणाद्वेदान्तानामज्ञातार्थगोचरतया तत्त्वावेदकत्वमभिमतं जैमिनेरित्यर्थः। ब्रह्मणि वेदान्तप्रामाण्यस्थिति कटाक्षीकृत्य तदविरोधेन व्यावहारिकप्रामाण्यमाश्रित्य धर्मे प्रमाणं निरूपितवान्, धर्मविचारस्यैव तदोपक्रान्तत्वात्। न ब्रह्मणि वेदान्ताना प्रामाण्यं मुखतोऽभिहितवान् ,तस्य तदवसरे प्रकृतधर्मविचारविरोधादित्यर्थः। अज्ञातत्वस्य जडे धर्मे तत्त्वतोऽसम्भवात्। एतत्सर्वमभिप्रेतं जैमिनेरिति 'अनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य मतम्' इति तद्वचनादवसीयते इति भावः ॥ ४९ ॥

अव. आत्मन एव मानमेयत्वं तत्त्वतोऽस्तीत्येतच्छ्रुत्याऽपि दर्शितामित्याह—

द्रष्टव्य इत्यपि विधिर्न विधिप्रमेय-

मात्मानमेव विनियच्छति तत् कुतश्चेत् ॥

अज्ञातता च परमात्मन एव यस्माद्

यस्माच्च कर्तृवशवर्ति न दर्शनं तत् ॥ ५० ॥

द्रष्टव्य इति॥ आत्मा द्रष्टव्य इत्यप्ययं तव्यः श्रूयमाणो न विधिः, किन्तु विधिप्रमेयं विधिविषयज्ञानविशेषणतया विधिविषयत्वेनाभिमतमात्मानमेव नियच्छति आत्मतत्त्वमेव प्रतिपादयतीत्यर्थः। अथवा द्रष्टव्य इत्ययमपि विधिर्विधेः प्रमेयभूतमात्मानं नैव विनियच्छति नैव विवर्जयति, किन्तु आत्मन्येव पर्यवस्यति न विधिमात्रे इति योजना। विधौ प्रत्यये सति कथं विध्यनभ्युपगम इति शङ्कते। तत्कुतश्चेदिति। अत्र विधेयाभावाद्विध्यनभ्युपगम इति परिहरति।अज्ञातताचेति। यस्मात्परमात्मन एवाज्ञातता न विधेयक्रियाया नियोगस्य वा तयोर्जडत्वादित्यर्थः। अज्ञातज्ञापको हि विधिर्न परमात्मनोऽन्यं बोधयेत् परमात्मा च न विधेयः इति नात्र विधित्वमस्तीति भावः। चकाराद्विधेयज्ञानविषयतयाऽपि नात्मा प्रतिपाद्य इत्यर्थः। आत्मदर्शनमपि न विधियोग्यम् इत्याह। यस्माच्चेति। यद्विधेयत्वेनाभिमतं तद्दर्शनं च न विधेयं, यस्माद्दर्शनं न कर्तृवशवर्ति, कर्त्रधीनत्वात् विधेयस्य, ज्ञानस्य च तदभावान्न विधेयत्वमित्यर्थः॥ ५०॥

अव यद्यस्यापि वाक्यस्यात्मैव प्रमेयमभिमतं, तर्हि विधौ स्मर्यमाणस्य का गतिः? इति तत्राह—

अर्हे कृत्यतृचश्च पाणिनिवच. स्पष्टं विधत्ते यत-

स्तस्माद् दर्शनयोग्यतां वदति नस्तव्यो न तत्त्वान्तरम् ॥
तस्मादात्मपदार्थमात्रनियतं मेयत्वमेकान्ततो
द्रष्टव्यादिवचो वदत्यनुभवादज्ञात आत्मा यतः ॥ ५१ ॥

अर्हे इति ॥ कृत्यप्रत्ययं तृच्प्रत्ययं च 'अर्हे कृत्यतृचश्च' इति पाणिनिसूत्रात्मकं वचोऽर्हार्थं स्पष्टं विधत्ते यतः तस्मात् अयं तव्यः कृत्यात्मकप्रत्ययो दर्शनयोग्यतामात्मनः अस्मान्प्रति वदति न तत्त्वान्तरं विधिम्। उभयत्र प्रत्ययविधानेऽपि नात्र विध्यर्थता तस्याभ्युपेया पूर्वोक्तविधया तदसंभवात्, किन्त्वर्हार्थतैवाभ्युपेया आत्मनो दर्शनार्हत्वादित्यर्थः । तस्मादात्मैव प्रमेयं न जडमिति सिद्धम् इत्युपसंहरति । तस्मादिति। द्रष्टव्यादिवचः आत्मन एव मेयत्वमज्ञातत्वलक्षणं दर्शनार्हत्वविधानमुखेन वक्ष्यतीति कथं ? तत्राह। अनुभवादिति। यतः आत्मैवाज्ञातो न जडः तथैवानुभवादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अथ तस्मादात्मन एव प्रमेयत्वस्य श्रुत्युक्तत्वात्तदनुरोधेन सूत्रकारेणापि तथैव निर्देष्टुं युक्तत्वान्न जैमिनिसूत्रविरोध इति स्थितम्। तत्रात्मन एव प्रमेयत्वाङ्गीकारे प्रकृतविरोधः स्यात्। अर्थसंप्रयोगजत्वलक्षणस्य प्रत्यक्षलक्षणस्य लौकिकप्रत्यक्षे अभावप्रसङ्गात्, चोदनायाश्च धर्मे प्रमाणलक्षणत्वाभावप्रसङ्गादिति पुनराशङ्कायाम् अविचारितदृष्ट्या तदुपपत्तेर्न लक्षणाव्याप्तिशङ्केति परिहारमाह—

रूप्यादिविभ्रममपेक्ष्य हि शुक्तिकादौ
सत्सम्प्रयोगजनितैव तु बुद्धिवृत्तिः ॥
तामप्यपेक्ष्य सति संहृतसर्वभेदे
सत्सम्प्रयोगजनिता मतिरभ्युपेया ॥ ५२ ॥

रूप्यादिविभ्रममिति ॥ शुक्तिकादौ तु या बुद्धिवृत्तिः सत्संप्रयोगजनिता शुक्तिकासंप्रयोगजनिता लोकप्रसिद्धा सा रूप्यादिविभ्रममपेक्ष्यैवेति योजना । यदा शुक्त्यादेर्व्यभिचारित्वेनानृतत्वं नान्विष्यते तदा भ्रमादृष्टरजताद्यपेक्षया शुक्त्यादेः सत्यत्वाभिमानगोचरत्वात्सविकल्पकाऽपि धीः सत्संप्रयोगजनितैवेति न तत्र प्रत्यक्षलक्षणाव्याप्तिः । यदा तामपि सविकल्पबुद्धिमपेक्ष्य संहृतसर्वभेदे सति निर्विकल्पकसन्मात्रे शुक्तित्वादिविकल्परहिते इति यावत् सत्संप्रयोगजनिता व्यभिचारिसविकल्पकशुक्त्याद्यपेक्षया यत् सत् निर्विकल्पं तत्संप्रयोगजनिता मतिरभ्युपेया तदा न परमार्थतः साऽप्यनधिगतविषयेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अव ननु सन्मात्रस्याऽव्यभिचारात्तद्धियो नापेक्षिकसद्विषयता तदपेक्षया सतो ऽन्यस्याविशेषादित्याशङ्क्याह—

वेदान्तवाक्यजनितां परमात्मबुद्धि-
वृत्तिं व्यपेक्ष्य पुनरत्र न का चिदस्ति ॥
सत्सम्प्रयोगजनिता भुवनत्रयेऽपि
बुद्धिस्तमोविरचितं हि जगत् समस्तम् ॥ ५३ ॥

वेदान्तवाक्यजनितामिति ॥ परमात्माकारां बुद्धिवृत्तिमित्यर्थः । अत्र भुवनत्रये ऽपि अन्या सत्संप्रयोगजनिता बुद्धिवृत्तिर्नास्तीत्यत्र हेतुमाह । तमोविरचितं हीति ।प्रत्यक्स्वरूपव्यतिरेकेण दृश्यसन्मात्रस्याप्यभावात्प्रत्याग्विषयां धियमपेक्ष्य सर्वाऽपि प्रत्यक्षधीरसदर्थैवेति वाक्यार्थः। शुक्तावनुगतसन्मात्रस्य निर्विकल्पस्य यद्यपि प्रत्यग्रूपत्वमेव वस्तुतः तथापि तत्तदर्थानुरक्ततया संसृष्टत्वाकारस्य तत्तदर्थपरतन्त्रतया व्यभिचारित्वान्न परमार्थसत्त्वं, किन्तु शुद्धस्यैव प्रत्यगात्मन इति तात्पर्यार्थः ॥५३॥

अव प्रत्यक्षलक्षणस्य लौकिकप्रत्यक्षाव्याप्तिशङ्कां परिहृत्य चोदनाप्रमाणस्य धर्मे ऽव्याप्तिशङ्कामपि तस्यापि प्रत्यगज्ञानमयत्वाङ्गीकारेण परिहरति—

धर्मेऽपि तत्त्वमतिरेव तु चोदनायाः
सत्त्वादिवस्तुनि यथाऽक्षनिबन्धना धीः ॥
अज्ञातताऽपि सदृशी व्यवहारकाले
तत्त्वावबोधसमये न तु तत्त्वबुद्धिः ॥ ५४ ॥

धर्मेऽपीति ॥ चोदनायाः विधिवाक्यात् धर्मे या मतिः सा तत्त्वमतिरेव व्यावहारिकदृष्ट्या भवति, यथा सत्त्वादिवस्तुषु निर्विकल्पकसविकल्पकवस्तुषु अक्षनिबन्धना धीः तद्वत् । अज्ञातत्वाभावाद्भावनात्मनो धर्मस्य न मानमेयतेति च न शङ्कास्पदमित्याह । अज्ञाततापीति। तत्त्वावबोधसमये तु प्रत्यग्याथात्म्यावधारणकाले पुनश्चोदनाजनिता वा अक्षादिजनिता वा तत्त्वबुद्धिर्न भवति । प्रागपि प्रतिभासत एवाविचारितरमणीयतया तत्त्वबुद्धिः सा न परमार्थत इत्यर्थः । तस्माद्व्यावहारिकप्रामाण्याश्रयणेन चोदनादिप्रामाण्योपपत्तेर्बादरायणमतानुरोधेन ब्रह्मात्मन्येव तत्त्वावेदनलक्षणं प्रामाण्यमित्यङ्गीकारेणापि न प्रकृतविरोध इति सिद्धम् ॥ ५४ ॥

अव ननु बादरायणमतमेतदेवेति कुतो निश्चेतव्यम्? । न हि प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकत्वं नास्तीति तेन कण्ठतः कथितं दृश्यते इति चेत्, नैवम् । वाचारम्भणवाक्यस्य तेनोदाहृतत्वादित्याह—

आरम्भणादिवचनं सकल प्रवृत्तं
प्रत्यक्षबुद्धिविषयादपहर्तुमुच्चैः ॥
तत्त्व यथोदितनयेन विवर्तवाद-

माश्रित्य सत्यपरिणामनिवारणेन ॥ ५५ ॥

आरम्भणादिवचनमिति॥ यथोदितनयेन तत्त्वमपहर्तु-मितिसंबन्धः।केन व्यापारेण प्रवृत्तम्? इति तदाह।विवर्तवादमिति। 'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादौ चिदात्मनो जगद्रूपेण परिणामश्रवणात्,परिणामसत्यतायां च'सदेकमेवाद्वितीयं' 'तत्सत्यम्' इत्युपक्रमोपसंहारयोरखण्डाद्वितीयवस्तुसत्यत्वावगम-विरोधप्राप्तिमालक्ष्य विवर्तवादमाश्रित्य सत्यपरिणामानिवारणेन श्रूयमाणपरिणामस्य परमार्थत्वनिरासेन प्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथ तदेवमुदाहृतश्रुत्याभिप्रायमुपवर्ण्य 'तदनन्यत्वमारम्भ-णशब्दादिभ्यः' इति तादृशवाक्यमुदाहरतः सूत्रकारस्याप्यय-मेवाभिप्रायो गम्यते इत्याह—

वाक्यप्रवृत्तिमनुसृत्य च सूत्रकारः<br>
सिद्धान्ततामनयदत्र विवर्तवादम् ॥<br>
तत्त्वप्रकाशनविधावपहृत्य शक्ति-<br>
मारम्भणादिवचनादपरप्रमायाः ॥ ५६ ॥

वाक्यप्रवृत्तिमिति॥'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृ-त्तिकेत्येव सत्यम्' 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति वा-क्यानां तत्त्वप्रतिपादनप्रवृत्तिमाश्रित्य अत्र अस्मिन् शास्त्रे सूत्रकारः सिद्धान्ततामनयादिति योजना। किं कृत्वा? तदाह। तत्त्वप्रकाशेति। वचनात् वचनबलात्। अपरप्रमायाः वेदान्तेतरस-र्वप्रमाया इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अथ ननु 'स्याल्लोकवत्' इति परिणामवादस्यापि सूत्रितत्वा-

स्कथं विवर्त्तवाद एव सिद्धान्तो ऽभिमतः सूत्रकारस्येति निश्चीयते ?। न च तर्ह्युभावपि सिद्धान्तावभिमताविति वाच्यम्। परस्परविरुद्धयोः पक्षयोरेकत्र सिद्धान्तत्वायोगादिति चेत्, तत्राह—

आरम्भसंहतिविकारविवर्तवादा-

नाश्रित्य वादिजनता खलु वावदीति ॥

आरम्भसंहतिमते परिहृत्य वादौ

द्वावत्र संग्रहपदं नयते मुनीन्द्रः ॥ ५७ ॥

आरम्भसंहतीति॥ संहतिः संघातवादः। विकारः परिणामवादः। लोकसिद्धे कार्यकारणभावे खलु वादिजनता प्रकारभेदान् कल्पयन्ती वावदीति अतिशयेन वदति इति पक्षचतुष्टयं प्रसिद्धमित्यर्थः।किं ततः ? इत्यत आह। आरम्भसंहतिमते इति। परिहृत्योपेक्ष्य अत्र शास्त्रे मुनीन्द्रो द्वावपि पक्षौ परिणामविवर्तपक्षौ संग्रहपदं प्रयोजनवशात्संग्राह्यतां नयते प्रापयति।अयं भावः। न ह्यस्मिञ्शास्त्रे परिणामवादो विवर्तवादो वा प्रतिपाद्यो ऽभिमतः, ब्रह्मण एवैकस्य शास्त्रप्रतिपाद्यत्वात्, किं तु श्रुतस्याद्वितीयस्यात्मतत्त्वस्य प्रतिपत्त्युपायतया तत्र यो वादो ऽत्रानुकूलः स इहोपादेयो न प्रतिकूलः । तथाच आरम्भसंहतिवादौ श्रौततत्त्वप्रतिपत्तिविरुद्धत्वात् तावत् तत्र न संगृहीतौ, इतरौ तु आनुकूल्यात्संगृहीतौ । न च उभयोर्मिथोविरोधादेकत्र सिद्धान्तत्वानुपपत्तिः, पूर्वोत्तरभूमिकारूपेणाविरोधस्य वक्ष्यमाणत्वादिति ॥ ५७ ॥

अथ कथं भूमिकाभेदो ऽत्र ?इति तं व्युत्पादयितुमुपक्रमते-

तत्रापि पूर्वमुपगम्य विकारवादं

भोक्त्रादिसूत्रमवतार्य विरोधनुत्त्यै ॥

प्रावर्तत व्यवहृतेः परिरक्षणाय
कर्मादिगोचरविधावुपयोगहेतोः ॥ ५८ ॥

तत्रापि पूर्वमिति। तयोः परिणामविवर्तयोर्मध्ये पूर्वं प्रथमं विकारवादं परिणामपक्षमुपगम्य अभ्युपेत्य भोक्त्रादिसूत्रमवतार्य विरोधनुत्त्यै प्रावर्तत सूत्रकार इति योजना। यद्यद्वैतमेव तत्त्वं तर्हि भोक्तृभोग्यादिविकारभेदप्रत्यक्षानुभवविरोधः, अभेदे सर्वसाङ्कर्यापत्तेः इति विरोधं 'भोक्त्रापत्तेरविशेषश्चेत्' इति सूत्रभागेनोद्भाव्य 'स्याल्लोकवत्' इति भागेन सर्वस्य ब्रह्माभेदे ऽपि न भोक्त्रादेः सङ्करः, जलस्वरूपाभेदे ऽपि तरङ्गादेरिव परिणामभेदोपपत्तेरिति परिहारं कुर्वन्प्रावर्तत इत्यर्थः। परिणाममाश्रित्य परिहारप्रयोजनमाह। व्यवहृतेः परिरक्षणायेति। तद्वा किमर्थम्? इति तत्राह। कर्मादीति। आदिपदादुपासना गृह्यते। अयं भावः। प्रथममेव विवर्तवादाभिधानेन विरोधपरिहारे क्रियाकारकफलभेदाभावादुपास्योपासकादिभेदविलोपाच्च कर्मोपासनाद्यसम्भवात्तद्विधीनां प्रामाण्याभावः प्रसज्येत। न च तद्युक्तम्। उपासनाविधीनामास्मिन्नेव शास्त्रे विचार्यमाणत्वात्तन्निर्वाहो ऽत्रैव वक्तव्यः। तथा कर्मविधीनां चाधिकारसिद्धिद्वारेणात्रोपयोगान्निर्वाहोऽप्यनुमन्तव्यः। अतस्तेषां प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनाय परिणामवादः प्रथमं सूत्रितः ॥ ५८ ॥

अथ नन्विह विवर्तवादस्य सिद्धान्तत्वाभिधाने को विशेषः प्रयोजनशेषतया निर्देशस्योभयोरप्यविशेषात्? इति तत्राह—

साक्षादिहाभिमतमेव विवर्तवाद-
माहत्य सूत्रयति पूर्वमपेक्षमाणः ॥
आरम्भणादिवचनेन विवर्तवादं

शक्नोति वक्तुमुदिते परिणामवादे ॥ ५९ ॥

साक्षादिति ॥ निर्गुणब्रह्मावगतेरत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वात्तत्र च विवर्त्तवादस्य साक्षादुपयोगात् इह अस्मिञ्शास्त्रे साक्षादभिमतं विवर्तवादमाहत्य मुखतः सूत्रयति। आहत्येत्युक्त्या पूर्वसूत्रे ऽपि विवर्त्तवादः सूत्रकारस्याभिप्रेत इति सूच्यते। यद्येवं विवर्तवाद एवात्र प्राधान्येनाभिमतस्तर्हि स एव प्रथमं सूत्रयितुं युक्तः पश्चादितरः तस्यात्रामुख्यत्वादिति चेत्, मैवम्। परिणामनिरूपणसापेक्षत्वाद्विवर्तनिरूपणस्य परिणामस्यैव प्राथम्यं युक्तमित्याह। पूर्वमपेक्षमाण इति।पूर्वं परिणामम्। तदपेक्षामेव विशदयति। आरम्भणादीति। प्रथमं परिणामवादे उदिते सति आरम्भणादिवचनेन विवर्तवादं वक्तुं शक्नोति नान्यथा। कार्यकारणस्वरूपस्याप्रतीतौ तस्य मिथ्यात्वप्रतिपत्त्ययोगादित्यर्थः ॥५९॥

अथ परिणामविवर्तयोरुपायोपेयभावेन पौर्वापर्यनियममुपपादयति—

आरुह्य भूमिमधरामितराऽधिरोढुं
शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम् ॥
उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन
संप्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्ध्यै ॥ ६० ॥

आरुह्यभूमिमिति ॥ शक्येति, प्रसिद्धमिति शेषः। न केवलं लोकदृष्टान्तमात्रेणायमभ्युपगमः श्रुतिगतिपर्यालोचनायामपि परिणामवादस्य विवर्तसिद्धिं प्रति उपायत्वं प्रतीयत इत्याह।शास्त्रमपीति। पुरा प्रथमं सृष्टिवाक्यैः परिणतिप्रतिपादनेन कार्यकारणभावं ब्रह्मजगतोरुक्त्वा संप्रति इदानीं विकारमृषात्वसिद्ध्यै तमपो-

इति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' इति च प्रतिपन्नोपाधौ प्रतिषेधेन विकारस्य तत्कारणत्वस्य च मिथ्यात्वमावेदयति क्रमेणेत्यर्थः ॥ ६० ॥

अव ननु सोपानपर्वणामुपर्यधोभावावस्थानाद्युक्तमुपरितनस्थानप्राप्तिंप्रति अधरस्थानारोहस्योपायत्वम्, अत्र कथम्? इति चेत्, अत्रापि वस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिसोपाने परिणामविवर्त्तवादयोरधरोत्तरभूमिभावादेवेत्याह—

विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमि-
र्वेदान्तवादे परिणामवादः ॥
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे
स्वयं समायाति विवर्तवादः ॥ ६१ ॥

विवर्त्तवादस्येति॥ पूर्वार्धेन प्रतिज्ञातमेव उत्तरार्धेन प्रतिपादयति। व्यवस्थित इति। जगत्कारणतया ब्रह्मणः सद्भावसिद्ध्यर्थं कार्यकारणभावस्तावद्वक्तव्यः। तस्य चास्मिन्परिणामवादे व्यवस्थिते सति जगतो ब्रह्मपरिणामत्वे निरूपिते विवर्तवादः स्वयं समायाति। कूटस्थस्य ब्रह्मणो मृदादिवत्परिणामानुपपत्तिप्रतिभासादुक्तः कार्यकारणभावो विवर्त्त एव पर्यवस्यति। अनुक्ते हि कार्यकारणभावे अधिष्ठानस्याप्रतिपन्नत्वाद् भ्रान्तित्वप्रतीत्यसम्भवादित्यर्थः॥ ६१ ॥

अव तथा चोपायत्वात्प्रथमं परिणामवादाभिधानं युक्तमेव श्रुतेः सूत्रकारस्य च इत्युपसंहरति—

उपायमातिष्ठति पूर्वमुच्चै-

रूपेयमाप्तुं जनता यथैव ॥
श्रुतिर्मुनीन्द्रश्च विवर्तसिध्यै
विकारवादं वदतस्तथैव ॥ ६२ ॥

**उपायमिति** ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् ॥ ६२ ॥

अथ वादिप्रसिद्धाः आरम्भादिवादाः इत्युक्तं वादिजनता खलु वावदीतीत्यत्र, तत्र कस्य को वादः? इति वीक्षायामाह—

आरम्भवादः कणभक्षपक्षः
संघातवादस्तु भदन्तपक्षः ॥
सांख्यादिपक्षः परिणामवादो
वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः ॥ ६३ ॥

**आरम्भवाद** इति ॥ भदन्तः सुगतः ॥ ६३ ॥

अथ ननु परिणामवादोऽपि वेदान्तसिद्धान्त एव ब्रह्म-प्रतिपत्त्युपायत्वादिति चेत्, नेत्याह—

विकारवादं कपिलादिपक्ष-
मुपेत्यवादेन तु सूत्रकारः ॥
श्रुतिश्च संजल्पति पूर्वभूमौ
स्थित्वा विवर्तप्रतिपादनाय ॥ ६४ ॥

**विकारवादमिति** ॥ उपेत्यवादेन अभ्युपगमसिद्धान्तेन कपिलादिपक्षं सांख्यादिशास्त्रसिद्धं विकारवादमाश्रित्य सूत्र-कार इत्यादि सुगमम् । तथा चाभ्युपगमसिद्धान्तान्तर्गततया अभ्युपगमेऽपि न साक्षादयं सिद्धान्त इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अथ परिणामविवर्तयोर्भेदं तल्लक्षणकथनेन व्युत्पादयति—

अभेदिनः सावयवस्य सत्य-

विचित्ररूपान्तरदर्शकत्वम् ॥

वदन्ति धीराः परिणाममस्या

वसुन्धराया इव सस्यसृष्टिम् ॥ ६५ ॥

अभेदिन इति ॥ रूपान्तरदर्शकत्वमित्युक्ते अर्थाद्रूपान्तरस्येति लभ्यते, रूपान्तरस्य निजरूपाद्रूपान्तरदर्शकत्वं धीराः परिणाम वदन्ति। अत्र विचित्रविशेषणं प्रदर्शनार्थं न व्यावृत्त्यर्थम्। यतो विचित्ररूपदर्शकत्वं विवर्तपरिणामयोः समानरूपम्। अभेदिन इति विशेषणं आरम्भनिवारणाय। एकस्यारम्भकत्वानङ्गीकारात्।सावयवस्येति पदं परिणामिवस्तुस्वरूपकथनार्थम्। सत्येति रूपविशेषणं विवर्तव्यावृत्त्यर्थम्। रूपान्तरग्रहणेनैव संघातपक्षनिरासो द्रष्टव्यः, संघातस्य संहन्तृभ्यो रूपभेदानङ्गीकारात्तद्वादिभिः। यद्वा अभेदिन इत्यनेनैव संघातस्यापि व्यवच्छेदः, संहन्तॄणामनेकत्वादित्यर्थः। अस्याः इति उदाहरणम् ॥ ६५ ॥

अथ विवर्तलक्षणमाह—

अभेदिनो निर्विकृतेरनेक-

मृषास्वरूपान्तरदर्शकत्वम् ॥

विवर्तशब्दार्थ इह प्रसिद्ध-

स्तरङ्गभेदादिव चन्द्रभेदः ॥ ६६ ॥

अभेदिन इति ॥ निर्विकृतेरिति परिणामव्यावृत्तिः। मृषेति विवर्तस्वरूपकथनमात्रं न व्यावृत्त्यर्थमेतत्। अथवा एतदेव परिणामव्यावृत्त्यर्थं, निर्विकृतेरिति स्वरूपकथनार्थमिति द्रष्टव्यम्। अन्यत्समानम्। अत्रोदाहरणं तरङ्गभेदादिवेति ॥ ६६ ॥

अथ एतौ वादौ कुत्र कुत्र श्रुत्योक्तौ ? इति तदाह—

अहं प्रजायेय बहु स्वय स्या-
मित्यादिनाऽऽदौ परिणाममुक्त्वा ॥
विकारमिथ्यात्वमथ ब्रुवाणा
विवर्तवादं श्रुतिरानिनाय ॥ ६७ ॥

अहमिति॥आदौ प्रथमं 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इति स्वात्मन एव बहुरूपकार्यभावाशंसनपूर्वकं 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादिना परिणाममुक्त्वा, अथ अनन्तरं विकारमिथ्यात्वं 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इत्यादिना ब्रुवाणा श्रुतिः विवर्तवादमानिनाय पूर्वोक्त परिणामं विवर्तत्वेन व्यवस्थापितवतीत्यर्थः । विचित्रानेकसृज्यशक्तिमत्त्वेन ब्रह्मणोऽपि सावयवत्वाङ्गीकारात्तस्मिन्नस्ति परिणामलक्षणयोगिता, पुनर्वाचारम्भणागिरा सृज्यशक्तीनां मायामयत्वस्य अर्थादुक्तत्वात् विशुद्धचिदेकरसस्यैवात्मनः आद्याः मायाशक्तयः ताभिर्विचित्ररूपान्तरापत्तिर्विवर्त एव इति साक्षादभिमतं श्रुतिर्दर्शयतीति भावः ॥६७॥

अथ यदा चैवं विवर्त एव साक्षादाभिमतः, वस्तुगत्या ब्रह्मणः स्वतो निरवयवत्वेन परिणामलक्षणयोगित्वाभावात्, तदा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचसां सृष्ट्यादेर्मृषात्मत्ववादिनामपि सामञ्जस्यं स्यात् इत्याह—

मायाश्रुतिस्मृतिवचः सकलं तथा च
वस्तुत्वमर्दनपरं घटते विवर्ते ॥
सर्वस्य कारणविकारविभागभाजः

प्रागाद्दतस्य परमार्थतया प्रतीतेः ॥ ६८ ॥

मायाश्रुतीति॥तथाच एवं उक्तव्यवस्थायां स्थितायां विवर्त्ते सिद्धे सति मायाश्रुतिस्मृतिवचः सकलं प्रतीतेर्हेतोः प्राक् परमार्थतया आद्दतस्य तस्य सर्वस्य जगतः कारणविकारविभागभाजः कार्यकारणरूपेण विभक्तस्य उपमर्दनपरं घटते इति योजना। अतो विवर्त एव साक्षात्सिद्धान्तत्वेनाभिमतः, परिणामवादस्य तु पराभिमतस्यैवाभ्युपगममात्रेण सिद्धान्तकोटिनिवेशः इति सिद्धम् ॥ ६८ ॥

अव यद्येवमङ्गीकरणवादमात्रेण सिद्धान्तकोटिनिवेशः तर्हि संघातारम्भवादयोरपि सिद्धान्तकोटिनिवेशः स्यात्, अङ्गीकरणवादस्य तयोरपि भावादिति चेत्, मैवम्। विशेषोपपत्तेरित्याह—

संघातवादमुपगम्य तु तत्र पक्षे
संहन्त्रभाव इति सूत्रकृदाह दोषम् ॥
स्थायी भदन्तसमये न हि कश्चिदत्र
संघातसजननशक्तिसमन्वितोऽस्ति ॥ ६९ ॥

सङ्घातवादमिति ॥ चतुर्विधानां परमाणूनां पञ्चानां रूपविज्ञानादिस्कन्धानां च संघातः सृष्टिरिति यो वादः स संघातवादः, तं सङ्घातवादम् उपगम्य पूर्वपक्षत्वेनोपस्थाप्य, तत्र पक्षे 'समुदायउभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः' इत्यादिभिः सूत्रकृत् संहन्त्र भाव इति दोषमाहेति योजना। तथा च दूषयितुमेव तत्पक्षग्रहो न स्वपक्षसिद्ध्युपायतया इति न तस्यापि सिद्धान्तकोटिप्राप्तिरिति भावः। उक्तमेव दोषं स्फुटयति । स्थायीति । अक्षणिकश्चेतनः अन्यो वा संघातजननशक्तिसमन्वितः स्थायी कश्चित् अत्र भदन्तसमये नास्ति, तदभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

अव तथा आरम्भवादोऽपि तदीयरीत्या तदुक्तदूषणसमाधानार्थमेव क्वचिदभ्युपगतो न स्वपक्षसाधनाय इत्याह—

आरम्भवादमुपगम्य तदीययुक्ते-
स्तत्प्रक्रियामनुसरन् व्यभिचारमाह ॥
वैशेषिकं प्रति महद्वदिदं हि योज्यं
यद्वाऽपि दीर्घवदिदं जडमित्यनेन ॥ ७० ॥

आरम्भवादमिति॥ तदीययुक्तेरिति । अयमर्थः। यद्गुणकं कारणद्रव्यं तत् तादृग्गुणकमेव स्वकार्यद्रव्यं जनयति । यथा श्वेतगुणास्तन्तवः श्वेतमेव पटं जनयन्ति । तथा च चिद्गुणकं ब्रह्मद्रव्यं यदि जगद्द्रव्यस्योपादानं तर्हि तदपि चिद्गुणमेव स्यात्, तदभावान्न चिद्गुणब्रह्मोपादानकं जगदिति अस्यास्तदीययुक्तेः वैशेषिकं प्रति तस्य वैशेषिकस्य प्रक्रियामनुसरन् व्यभिचारमाह सूत्रकार इति योजना। केन सूत्रेण ? इति तदर्थं सूत्रम् अर्थतः पठति । महद्वदिति । 'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपारिमण्डलाभ्याम्' इत्यनेन सूत्रेणेति । अणुह्रस्वपरिमाणेभ्यो द्व्यणुकेभ्यो यथा महत् त्र्यणुकं जायते, यथा वा तेभ्य एव दीर्घत्र्यणुकं तद्वत् इदं जडं चेतनाज्जायते इति योज्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥

अव तमेव सूत्रार्थं विवृणोति—

ह्रस्वारब्धं त्र्यणुकमणुभिस्तद्वदारब्धमेतद्
ह्रस्वं नो तन्न च तदणुवत्संमतं तद्वदेतत् ॥
सर्वं कार्यं गगनधरणीमध्यगं चेतनोत्थं
निश्चित्कं नो जडिमघटितं युक्तमित्याचचक्षे ॥७१॥

ह्रस्वारब्धमिति ॥ यत् त्र्यणुकं प्रसिद्धं तद् ह्रस्वारब्धं ह्रस्वैर्द्व्यणुकैरारब्धं तथापि तत् त्र्यणुकं ह्रस्वं नो संमतं नेष्टम् इत्येकोऽन्वयः। तद्वत् यथा ह्रस्वैरारब्धं त्र्यणुकं तद्वत् अणुभिस्तैरेव द्व्यणुकैरेतत्त्र्यणुकमारब्धं तथापि तदेतत्त्र्यणुकं नाणु संमतं, किन्तु महद्दीर्घं च तत् संमतमिति पुनर्योजना । यथैवं वैशेषिकाणां समवायिकारणगता गुणाः कार्ये गुणान्तरं सजातीयमारभन्ते इति न नियमः तद्वत् नः अस्माकमप्येतत्सर्वं कार्यं चेतनोत्थमपि निश्चित्कम् अचैतन्यमयं च जडिमघटितं कारणचैतन्यविपरीतेन जाड्यधर्मेण युक्तम् इत्येतत् युक्तम् इत्याचचक्षे सूत्रकार इति योजना । गगनधरणीमध्यगमिति कार्यविशेषणं, गगनमारभ्य धरणीपर्यन्तमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अथ तथा द्व्यणुकपरिमाणमपि तत्कारणगुणविलक्षणमेव संमतम् अतज्जन्यश्च इत्याह—

ह्रस्वाणुत्वे कारणाद्वित्वहेतो-<br>
र्जाते नैते पारिमाण्डल्यहेतोः ॥<br>
दीर्घत्वं यद् यच्च दीर्घे महत्त्व<br>
द्रव्ये ते द्वे कारणात्रित्वहेतोः ॥ ७२ ॥

ह्रस्वाणुत्वे इति ॥ द्व्यणुकगते ह्रस्वाणुत्वे न पारिमण्डल्यहेतोर्जाते, पारिमाण्डल्यस्य परमाणुपरिमाणस्य अनारम्भकत्वाङ्गीकारात्। अन्यथा द्व्यणुकस्यापि परिमण्डलत्वापत्तेरित्यर्थः। तथा त्र्यणुकगते दीर्घत्वमहत्त्वे अपि न द्व्यणुकपरिमाणजन्ये इत्याह । दीर्घत्वमिति । दीर्घे द्रव्ये इति सम्बन्धः । द्व्यणुकगतत्रित्वसंख्याजन्ये अभिमते इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अथ एवं वैशेषिकाभ्युपगम इति कुतोऽवगतम् ? इति तत्राह—

द्व्यणुकस्य जन्म परमाणुयुगात्
परिमण्डलादिति कणादमतम् ॥
द्व्यणुकत्रयात् त्र्यणुकजन्म पुन-
र्नियमं न कश्यपसुतो वदति ॥ ७३ ॥

द्व्यणुकस्येति ॥ पुनरित्यन्तं स्पष्टार्थम् । यत एवमिदं मतं दृश्यते अतः कश्यपसुतः कणादः नियमं कारणद्रव्यस्य कार्यगतसजातीयगुणारम्भकगुणाश्रयत्वे कारणगतगुणस्य कार्यसजातीयगुणारम्भकत्वे च नियमं न वदतीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

अव उक्तमेव व्यभिचारं संगृह्याह—

द्व्यणुकत्र्यणुकव्यपाश्रयं
परिमाणं प्रति कारणाश्रयः ॥
न तु कारणमिष्यते गुण-
स्तदवष्टभ्य वयं जिगीषवः ॥ ७४ ॥

द्व्यणुकत्र्यणुकव्यपाश्रयमिति ॥ व्यभिचारप्रदर्शनफलमाह । तदवष्टभ्येति । तन्मतमाश्रित्येति यावत् । त्वत्प्रक्रियामेवाश्रित्य त्वदुक्तनियमस्य व्यभिचारं दर्शयन्तः त्वां जयाम इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अव अथ व्यभिचारनिराचिकीर्षया परमाणुपरिमाणात्पारिमाण्डल्यादेव द्व्यणुकपरिमाणोत्पत्तिः द्व्यणुकपरिमाणाच्च त्र्यणुकपरिमाणोत्पत्तिः इत्यभ्युपगच्छाम इति ब्रूयात्, तदप्यसङ्गतम् इत्याह—

यदि कारणसंश्रयाद् गुणाद्
द्व्यणुकादेः परिमाणमिच्छति ॥

द्व्यणुकादिसमाश्रये तदा

परिमाणेऽतिशयो विरुध्यते ॥ ७५ ॥

यदीति ॥ अस्मिन्पक्षे सर्वं कार्यं परिमण्डलमेव स्यादिति द्व्यणुकत्र्यणुकादौ परिमाणातिशयो न स्यात् । अतश्च त्र्यणुकादेरप्यतीन्द्रियत्वापत्तेरित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अथ तदेवं संघातारम्भवादयोर्न स्वीयतयाऽभ्युपगमः, किंतु दूषणार्थमेव इह शास्त्रे तन्निबन्धनमिति स्थितम् । तथा परिणामवादोऽपि परपक्षदूषणार्थमेव क्वचिदभ्युपगत इत्याह—

परिणामवादमुपगम्य तथा

रचनाद्यसंभवमुवाच मुनिः ॥

परमेश्वरं न हि विना घटते

जडरूपवस्तुपरिणाम इति ॥ ७६ ॥

परिणामवादमिति ॥ तथा संघातारम्भवादवन्निराकरणाय परिणामवादमुपगम्येति योजना । परमेश्वरं चेतनमधिष्ठातारं विना जडरूपवस्तुनः प्रधानस्य परिणामो न घटते इति जगद्रचनाद्यसम्भवं परिणामपक्षे दोषं मुनिरुवाच 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' इत्यादिभिः सूत्रैरित्यर्थः ॥ ७६ ॥

अथ तस्मात् न एतादृशैरभ्युपगमवादैः सिद्धान्तत्वप्राप्तिः इत्युपसंहरति—

क्व चिदभ्युपेत्य कथनं कुरुते

परपक्षदूषणकथावसरे ॥

निजपक्षदोषपरिहारपरः

क्व चिदभ्युपेत्य वदतीह मुनिः ॥ ७७ ॥

क्वचिदभ्युपेत्येति ॥ परपक्षदूषणकथाप्रस्तावे दूषणार्थमेव सङ्घातवादं परिणामवादं चाभ्युपेत्य क्वचित्कथनं कुरुते, न तन्मते स्वपक्षदूषणपरिहाराय किञ्चित्पश्यन्नित्यर्थः। आरम्भवादं पुनर्निजपक्षदोषपरिहारं कुर्वन् क्वचिदभ्युपेत्य इह शास्त्रे मुनिर्वदतीत्येष विशेषोऽवगन्तव्यः इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अव मतान्तराङ्गीकरणफलमुक्तमेव स्पष्टयति—

परपक्षनिषेधमाचरन्
क्वचिदङ्गीकरणं करोति सः ॥
परदर्शितदोषनुत्तये
क्वचिदित्येष विशेष ईरितः ॥ ७८ ॥

परपक्षनिषेधमाचरन्निति॥आचरन्निति हेतौ शतुर्निर्देशः, परपक्षनिषेधार्थं क्वचिदङ्गीकार इत्यर्थः। उत्तरं स्पष्टार्थम् ॥७८॥

अव तदेवं प्रसङ्गतो भाष्यानुक्ताद्यर्थकथनेन अस्य ग्रन्थस्य वार्तिकत्वं दर्शितम् । तदेवमुक्तन्यायेन भोक्त्रादिसूत्रे परिणामवादाङ्गीकारः परोक्तदोषपरिहारार्थतया न सिद्धान्तत्वेन इति स्थितमर्थमाह—

भोक्त्रादिसूत्रे परिणामवाद-
माश्रित्य तद्वादिभिरुक्तदोषम् ॥
समादधानो मुनिराह तस्मात्
सिद्धान्तसिद्धिः पुनरुत्तरत्र ॥ ७९ ॥

भोक्त्रादीति ॥ उत्तरत्र उत्तराधिकरणे तदनन्यत्वमित्यत्रेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अथ यद्येवं तर्हि द्वावत्र वादौ संग्रहपदं नयत इति कि-मुक्तम् ? इति तत्राह—

प्रत्यासन्ना परिणतिरियं विप्रकृष्टस्तु पूर्वः
संघातादिः सकल उदितो वेदसिद्धान्तसिद्धेः ॥
एतावत्त्वादियमभिमता सूत्रकारस्य भाति
भ्रान्तिभ्रष्टस्फुटनिजमनःकौशलानां नराणाम् ॥८०॥

प्रत्यासन्नेति॥ वेदसिद्धान्तो वेदान्तः तत्सिद्धेः सिद्ध्यर्थम् इयं परिणतिः परिणामवादः प्रत्यासन्ना विवर्त्तप्रतिपत्त्युपायत्वात्, पूर्वः प्रागुक्तः संघातादिस्तु सकलः पक्षो विप्रकृष्टः अद्वैतवेदसिद्धान्ताननुरूपत्वादित्यर्थः। परिणामवादः सूत्रकारस्य सिद्धान्तोऽभिमतः इति केषाञ्चित् भ्रमोऽपि प्रत्यासत्तिवशादेव इत्याह। एतावत्त्वादिति। मनःकौशलं विवेकसामर्थ्यम् ॥ ८० ॥

अथ परिणामवादस्य प्रकृतशास्त्रार्थप्रतिपत्त्युपायतया प्रत्यासत्तिमेवोपपादयति—

आरोपदृष्टिरपवादकदृष्टिरेव
व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम् ॥
संगृह्य सूत्रकृदयं पुरुषं मुमुक्षुं
सम्यक् प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण ॥ ८१ ॥

आरोपदृष्टिरिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ८१ ॥

अथ किमासां दृष्टीनां स्वरूपं, को वा क्रमः, कथं वाऽस्य दृष्टिकथनस्य परिणामवादोपकारित्वप्रदर्शनोपयोगः ? इति वीक्षायां दृष्टिस्वरूपक्रमौ तावदाह—

आरोपदृष्टिरुदिता परिणामदृष्टि-
द्वैतोपशान्तिरपवादकदृष्टिरन्त्या ॥
मध्ये विवर्तविषया द्वयमिश्रदृष्टि-
र्व्यामिश्रदृष्टिरधरोत्तरभूमिभावात् ॥ ८२ ॥

आरोपदृष्टिरिति ॥ आरोपदृष्टिशब्देन परिणामदृष्टिरुदिता सा इह प्रथमा इति योज्यम् । ब्रह्मात्मकं सर्वं जगदिति ब्रह्मणि प्रपञ्चारोपदृष्टिरित्यर्थः । द्वैतस्योपशान्तिर्यस्याः सा द्वैतोपशान्तिः निर्विशेषाद्वयानन्दात्मब्रह्मदृष्टिः या भवति सा अपवाददृष्टिः अन्त्या तृतीयतयोदितेत्यर्थः । मायया सप्रपञ्चं स्वतस्तु निष्प्रपञ्चं ब्रह्म इति आरोपापवादात्मिका इत्येवं या द्वयमिश्रदृष्टिः विवर्तविषया द्वैतमिथ्यात्वालम्बना सा मध्ये परिणामापवाददृष्ट्योर्मध्ये भवतीति व्यामिश्रदृष्टिरित्युच्यते इत्यर्थः । अस्याः कुतो मध्यत्वम् ? इत्यत आह । अधरोत्तरेति । आरोपोऽधरभूमिः अपवादः उत्तरभूमिः तयोर्भावात्सत्त्वात्, आरोपापवादाभ्यां व्यामिश्रणादित्यर्थः । अथवा कथमित्थमासां दृष्टीनां क्रमानियमः ? इति तत्र हेतुमाह । अधरोत्तरभूमिभावादिति । उक्तक्रमेणैव आसामुद्भवादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अव उक्तमेव हेतुमुपपादयति—

तत्त्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्त्वक्षतिर्मध्यमा
तत्त्वप्रच्युतिविभ्रमक्षतिकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मता ॥
जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगातितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा
भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वलब्धिर्भवेत् ॥ ८३ ॥

तत्त्वावेदकमानदृष्टिरिति ॥ या परिणामदृष्टिः सा

तत्त्वावेदकमानजा दृष्टिः, प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य तत्त्वावेदकदृष्ट्यु-पेतत्वात् आरोपदृष्टिः, एषाऽधमा प्रथमा च विशुद्धब्रह्मावगतिं प्रति दूरस्थत्वादित्यर्थः । तत्त्वक्षतिः प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकत्वक्षतिः यया सा तथा विवर्तदृष्टिः मध्यमा, आरोपरूपतामतीत्य केवलापवादरूपत्वं चाखण्डाद्वयब्रह्मात्मालम्बनत्वलक्षणं न प्राप्नोतिमध्यमेत्यर्थः । तत्त्वप्रच्युतिरूपस्य विभ्रमस्य क्षतिं निवृत्तिं कुर्वती अपवाददृष्टिः अन्त्या प्रथममध्यमापेक्षया उत्तमा, ब्रह्मैव प्रत्यगेकरसं परमार्थसन्नान्यत्किञ्चिदभूद्भवति भविष्यतीति यद्वेदान्तैकवेद्यतत्त्वं तस्य प्रच्युतिस्तिरस्कारो लेशतोऽपि ब्रह्मान्यवस्तुदर्शनलक्षणः स एव विभ्रमस्तस्य क्षतिर्बाधस्तं कुर्वती परां काष्ठां प्राप्ताऽन्त्याऽपवाददृष्टिर्मता, वाक्यार्थावगतिं प्रति अत्यन्तं सन्निकृष्टत्वादित्यर्थः । एवं दृष्टित्रैविध्यं तत्क्रमं तत्स्वरूपं चोपपाद्य, मध्यमाया विवर्तदृष्टेर्द्वैविध्यम् उपायोपेयभावक्रमस्य विशदीकरणायाह । जीवैकत्वेति । एक एवाहं जीवः स्वप्न इव स्वात्मन्येव स्वाविद्यया कल्पितो जीवभेदप्रतिभासो जीवेश्वरभेदावभासो मुक्तामुक्तादिप्रकारभेदकभिन्न आध्यात्मिकादिप्रकारजगदवभासश्च, एतच्च सर्वं मत्कृतेन मत्तत्त्वब्रह्मज्ञानेन निःशेषं निवर्तयिष्यते इति अहमेक एव मुमुक्षुरित्येका गतिः प्रकारः । बहवो जीवास्ते च यथाप्रतिभासं विभिन्नस्वभावा एव सन्ति परमात्मविषयकस्वाश्रयानेकाविद्याविलसिताः क्रमेण च मुमुक्षवोऽनाद्यनन्ताश्च संसारमार्गे इति अपरा गतिः प्रकारः । एवं जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितः प्रतिपत्तिप्रकारभेदतो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा भिन्ना ज्ञेयेत्यर्थः । एवं दृष्टिभेदं व्यवस्थाप्य आसां दृष्टीनाम् अधममध्यमोत्तमरूपाणां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन उत्तरोत्तरप्राप्तिहेतुत्वम् इत्युपायोपेयभावं संगृह्णाति । तत्र चेति । तासां च मध्ये इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

अव संग्रहं विवृणोति—

परिणामबुद्धिमुपमृद्य पुमान्
त्रिनिवर्तयत्यथ विवर्तमतिम् ॥
उपमृद्य तामपि पदार्थधिया
परिपूर्णदृष्टिमुपसर्पति सः ॥ ८४ ॥

**परिणामबुद्धिमिति**॥अयमर्थः। प्रत्यक्षादेरप्यस्ति स्वार्थेषु तत्त्वावेदकं प्रामाण्यम् । ब्रह्मणः परिणाम एव जगत् सृष्ट्यादिवाक्यप्रमितमिति या परिणामदृष्टिः प्रथमा तां परिणामदृष्टिं, ब्रह्मणो विशुद्धत्वान्निरवयवसन्मात्रत्वाच्च परिणामो न संभवति, प्रत्यक्षादेरपि व्यवहारव्यवस्थामात्रहेतुत्वाद्व्यावहारिकमेव प्रामाण्यं, जीवेश्वरभेदो जीवानां मिथो भेदश्च व्यवहारदृष्ट्या वर्तते एव इत्येवं या विवर्तदृष्टिः तयोपमृद्य, परिणामं ब्रह्मणः सहसा प्रतीयमान विवर्तत्वेनाकलय्येति । पुमान् परिणामबुद्धिं त्रिवर्तबुद्ध्या उपमृद्येति योज्यम्। अथ विवर्त्तमति परिणामबुद्धेरुपमार्दिनीमपि विनिवर्तयति दृष्टिसृष्ट्याश्रयणेन जीवाजीवजगद्भ्रमस्य केवलस्वप्नसाम्यापादनेन च पूर्वोक्तां विवर्त्तदृष्टिमप्याभासमात्रतया आकलयतीत्यर्थः। पुनस्तामपि दृष्टिसृष्टिरूपां विवर्त्तमतिं पदार्थधियाऽपवादरूपया केवललक्ष्यार्थधिया उपमृद्य सच्चिदात्मकवस्तुमात्रतया विलाप्येत्यर्थः। सोऽधिकारी तदा परिपूर्णदृष्टिं वाक्यार्थावगतिरूपामुपसर्पति प्राप्नोतीत्यर्थः। एवमासां दृष्टीनां क्रमेण ब्रह्मावगतिहेतुत्वाद्युक्तं परिणामवादस्य पूर्वभूमिकात्वेनोपायत्वमिति भावः ॥ ८४ ॥

अव ननु मुमुक्षूणामेता दृष्टय एकैकस्मिन् क्रमभाविन्यो नोपलभ्यन्ते, कश्चित् हि परिणामदृष्टिमेव यावज्जीवमेवावलम्बमानो दृश्यते,

काश्चित्तु प्रथममेव विवर्त्तदृष्टिमपवाददृष्टिं वा इति चेत्, सत्यम्। सन्तु तादृशा अधिकारिणः तथापि अत्र अथातःशब्दाभ्यां सूचितो यः श्रवणाधिकारी स एता दृष्टीः क्रमेणावलम्बते, अन्ते च वाक्यार्थ-धिया विगलितनिखिलदृष्टिभेदः सन् निजमहिम्न्यवतिष्ठमानो मुक्तो भवतीत्याह—

अथशब्दसूचितमुमुक्षुरिमं
खलु दृष्टिभेदमुदितक्रमतः ॥
उपढौकते विगलिताखिलधी-
रवतिष्ठते निजमहिम्नि ततः ॥ ८५ ॥

अथशब्दसूचितमुमुक्षुरिति ॥ अक्षरार्थो अवतारि-कयैव व्याख्यातः। य इह चतुरध्यायीलक्षणस्य सम्पूर्णशास्त्रस्य श्रवणाधिकारी साधनचतुष्टयसम्पन्नः सूचितः तस्यैव एवं क्रमेण मुक्तिफलावसानाः दृष्टयो भवन्ति, इतरेषां तु तत्त्वश्रद्धा-मात्रेण प्रवृत्तानां सम्यक्साधनसम्पत्तिरहितानां परिणामे विव-र्त्ते वा दृष्टिः परिनिष्ठिता स्यात्, तादृशाश्च बहवः, पूर्वोक्तस्तु विरल इति न दृष्टिविरोध इति भावः ॥ ८५ ॥

अव इमं दृष्टिभेदं मुमुक्षुरुदितक्रमतः उपढौकते इत्युक्तमेव च क्रमं स्पष्टयति—

परिणाम इत्यथ विवर्त इति
बहवोऽहमेव च मुमुक्षुरिति ॥
परिपुष्कलं च परमं पदमि-
त्यवगत्य तिष्ठति महिम्नि निजे ॥ ८६ ॥

परिणाम इति ॥ प्रथमं परिणामो ब्रह्मणो जगत् इत्यवगत्य

अथ अनन्तरं विवर्त्त इत्यवगत्य तत्रापि विवर्ते बहवो मुमुक्षवः इति प्रथममवगत्य पश्चादहमेव च मुमुक्षुर्न मदन्ये सन्तीत्यवगच्छति । पुनर्विवर्तोऽपि नास्ति नित्यशुद्धचित्स्वरूपे ब्रह्मात्मनि अज्ञानस्यासम्भवात् इत्यपवाददृष्ट्या परिपुष्कलं परमं पदम् अखण्डचित्सदानन्दरूपमेवात्मतत्त्वम् इत्यवगम्य निजे महिम्नि स्वरूपे निर्लुठितसामान्यविशेषे स्वप्रकाशसदानन्दघने ब्रह्मण्यवतिष्ठते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

अथ यत्पूर्वं विवर्तदृष्टेर्व्यामिश्रदृष्टित्वमुक्तं तत्प्रपञ्चयति—

परिणामधियो विवर्तधी-

रपवादात्मतया व्यवस्थिता ॥

सकलद्वयमर्दिनीं धियं

प्रति साऽऽरोपगिराऽभिधीयते ॥ ८७ ॥

परिणामधिय इति ॥ विवर्त्तप्रतिपत्तौ वस्तुनः शुद्धत्वप्रतीत्या परिणामस्यापवादात् विवर्तधीः परिणामधियः अपवादतया व्यवस्थिता, सकलद्वयमर्दिनीमपवादधियम् उत्तमां प्रति तामपेक्ष्येति यावत्, सा धीः आरोपगिराऽभिधीयते, व्यावहारिकदृष्टिरपि परमापवाददृष्ट्यपेक्षया समारोप एवेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अथ अतो विवर्तदृष्टिः आरोपापवादव्यामिश्रेत्युक्तम् इत्याह—

उभयव्यतिमिश्ररूपतां

भजते तेन विवर्तधीरियम् ॥

प्रथमोत्तमयोर्द्वयोः पुन-

र्व्यतिमिश्रीभवनं न विद्यते ॥ ८८ ॥

उभयव्यतिमिश्ररूपतामिति ॥ तेन पूर्वपद्योक्तेन हेतु

नेत्यर्थः । परिणामापवाददृष्ट्योस्तु न केनचिद्व्यामिश्रताऽस्ति, अतस्तयोः केवलतैवेत्याह । प्रथमोत्तमयोरिति । निमित्ताभावादित्यर्थः ॥ ८८ ॥

अथ पुरुषमतिभेदादेवायं दृष्टिभेदो न एकस्यैव क्रमवर्तिन्य एता दृष्टय इति मतान्तरमाह—

कृपणधीः परिणाममुदीक्षते
क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम् ॥
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते
व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥ ८९ ॥

कृपणधीरिति ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्प्रमेयेषु यथादर्शनं तत्त्वमतिः कृपणधीः, पुमानिति शेषः । वस्तुविवेचनसामर्थ्यरहितधीः अशुद्धान्तःकरण इत्यर्थः । तद्विपरीतः शुद्धान्तःकरणः क्षपितकल्मषधीः । परिणाम इति विवर्त्त इति वा । विक्षेपरहिततया तत्त्वे निश्चलमतिः स्थिरमतिरिति भेदः ॥ ८९ ॥

अथ यत्पुनर्मध्ये विवर्तद्वैविध्यमुक्तं तदपि पुरुषभेदादेवेत्याह—

पुरुषभेदवशाद् विविधा भवेत्
क्षपितकल्मषधीरपि मध्यमा ॥
जगदनेकमुमुक्षुकमीक्षते
पुरुष एकतरो न तथेतरः ॥ ९० ॥

पुरुषभेदवशादिति ॥ एकतरो द्वयोरेकः अनेकमुमुक्षुकं जगदीक्षते, न तथा इतरोऽन्योऽनेकमुमुक्षुकमीक्षते, किन्तु एकमुमुक्षुकमेवेत्यर्थः ॥ ९० ॥

अव उक्तमपि मतान्तरमङ्गीकरोति--

इति तु केचिदुशन्ति महाधिय-
स्तदपि सम्भवतीति न दुष्यति ॥
इह तु सूत्रकृताऽथगिरोदितः
पुरुष एकविधस्तिविधो न तु ॥ ९१ ॥

इति तु केचिदिति॥ तदपि सम्भाव्यते एतादृशाः अप्यधिकारिणो मतिविशुद्धितारतम्यदशापन्नाः इत्यर्थः । अत्राथशब्दसूचितः अस्त्वेकविध एवाधिकारीति तस्य क्रमभाविन्यः एताः दृष्टय इत्यस्मन्मतमित्याह।इह त्विति।एतदुक्तं भवति। शास्त्रन्त्वेतन्न नानाधिकारिकं काम्यकर्मकाण्डवदुपपद्यते, परमपुरुषार्थमोक्षफलब्रह्मात्मैक्यप्रतिपत्तिमात्रार्थत्वेनास्यारम्भात्। न च परिणामविवर्तदृष्ट्योरन्यतरनिष्ठस्य साक्षात्तत्त्वप्रतिपत्तिरस्ति, अतो न तमासाद्य शास्त्रं चरितार्थं भवेत् । यद्यप्यपवादवृष्टिनिष्ठस्य तत्त्वप्रतिपत्तिः सम्भवति तथापि तस्य सा दृष्टिः आरोपविषयसिद्धिसापेक्षत्वादध्यारोपदृष्टिमपेक्षते इति प्रथमत एव न भवति । ततश्च शास्त्रं तान् मिथो भिन्नानधिकारिणोऽपेक्ष्य न प्रवर्तितुमर्हतीत्येकविध एवात्राथशब्दसूचितो ऽधिकारी ज्ञेयः।मतान्तराभ्युपगमस्तु एवंविधा आपि लोके सन्तीत्येतावन्मात्राभिप्रायेणैव, न पुनः शास्त्रसम्मतत्वेन, अत एव तदपि सम्भवतीत्यपिशब्दप्रयोग इति ॥ ९१ ॥

अव तदेवमेकस्यैव क्रमवर्त्त्यनेकदृष्ट्यवस्थाप्राप्त्या तादृशदृष्टिक्रमावलम्बिशास्त्रस्य सामस्त्येन श्रवणेन कृतार्थत्वोपपत्तेः स एव इहामुष्याधिकारीत्यभिप्रेत्याह—

तिसृषु भूमिषु तस्य च तिष्ठतः

क्रमवशात् स्वयमुत्तमभूमिका ॥
समुपसर्पति तत्र च तिष्ठतः
समुपशाम्यति कारणकार्यधीः ॥ ९२ ॥

त्रिसृष्विति ॥ क्रमवशात् क्रमेणेति यावत् । क्रमवशात्त्रिसृषु तिष्ठत इति सम्बन्धः । उत्तमभूमिका वाक्यार्थनिष्ठा सा स्वयमेव अनायासेन समुपसर्पति उपगच्छति, पदार्थमतिदार्ढ्ये सति वाक्यार्थमतेरयत्नग्राह्यत्वादित्यर्थः । कारणकार्यधीः प्रपञ्चविषया बुद्धिः सम्यगुपशाम्यति तदा निवृत्तसर्वसंसारबन्धो भवतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अव एवं दृष्टिभेदाश्रयणेनेदं शास्त्रं प्रवृत्तमिति कुतोऽवसितं भवतेति वीक्षायामाह—

श्रुतिवचांसि मुनिस्मरणानि च
द्वयविशारदगीरपि सर्वशः ॥
त्रयमपेक्ष्य दशात्रितयं विना
न हि घटामुपयान्ति कदाचन ॥ ९३ ॥

श्रुतिवचांसीति॥"सृष्टिवाचारम्भणैतदात्म्यतत्त्वम्" इत्यादिवाक्यानि श्रुतिवचांसि, "स्याल्लोकवत्" "तदनन्यत्वम्" इत्यादीनि सूत्राणि मुनिस्मरणानि द्वयविशारदः श्रुतिसूत्रोक्तार्थाविष्करणनिपुणो भाष्यकारः तस्य गीर्भाष्यवचनजातम् एतत्सर्वमप्यालोक्य इत्थं व्यवस्थाप्यते मयेति योज्यम् । श्रुत्यादिवचांस्यप्येतत् दृष्टित्रयमपेक्ष्य प्रवृत्तानीति कुतः प्रमाणान्निश्चयः इत्यत आह । त्रयमपेक्ष्येति । उक्तदृष्टित्रयमपेक्ष्य उक्तदशात्रितयं विना परस्परानुरोधेनोपकार्योपकारकावस्थासम्पादनं विना घटां घटनाम् ए-

कपुरुषार्थपर्यवसिततया सामञ्जस्यं न ह्युपयान्ति कदाचन श्रुतिवचनादीनि इति योजना । दृष्टित्रयनिबन्धनमधिकारिदशात्रयं विना श्रुत्यादिवचनानुपूर्व्याः सामञ्जस्यं न लभ्यते, तदपेक्षायां लभ्यते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामयमर्थो निश्चेतव्यः इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

अथ एवमुक्तप्रकारेण विवक्षितार्थोपयोगात्प्रथमं "स्याल्लोकवत्" इति परिणामवादमवलम्ब्य विरोधपरिहारः कृतः न तु सिद्धान्ततयेति सिद्धमुपसंहरति—

अतोऽनपोह्यैव तु तत्त्वसंवि-
दुत्पादनेऽध्यक्षमितेः पुरस्तात् ॥
सामर्थ्यमक्षादिविरोधमस्य
निवारयामास समन्वयस्य ॥ ९४ ॥

अतोऽनपोह्यैव इति ॥ यत एवं परिणामवादस्याप्यत्रोपकारिता अतो हेतोः अध्यक्षमितेस्तत्त्वसंविदुत्पादने सामर्थ्यमनपोह्य अनिराकृत्यैव पुरस्तात्प्रथममस्य समन्वयस्य अक्षादिविरोधं प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधं निवारयामास सूत्रकृदिति योजना॥९४॥

अथ पश्चादारम्भणाधिकरणे साक्षात्सिद्धान्तं विवर्तवादमाश्रित्य, प्रत्यक्षादेश्च व्यावहारिकप्रामाण्याश्रयणेन यथासिद्धव्यवहारव्यवस्थानिरूपणेन विरोधपरिहारं चकारेत्याह—

इहाधुनारम्भणशब्दशक्तिं
संश्रित्य तत्त्वावगतिक्षमत्वम् ॥
अक्षादिमानस्य निराकरोति
समन्वयस्यापनयन् विरोधम् ॥ ९५ ॥

इहाधुनेति ॥ इह शास्त्रे अधुना अखण्डवाक्यार्थानुकूलतया विरोधपरिहारान्तरस्य वक्तव्यत्वप्राप्तौ आरम्भणशब्दशक्तिं संश्रित्य अक्षादिमानस्य तत्त्वावगतिक्षमत्वं निराकरोति सूत्रकारः समन्वयस्य विरोधे सम्यगपनयन्निति योजना ॥९५॥

अथ ननु परिणामवादाश्रयणेन विरोधः परिहृतश्चेत्, किं विवर्तवादमाश्रित्य परिहारान्तरकरणेन? इति चेत्, अस्यैवाखण्डवाक्यार्थसमन्वयसाधकत्वात् पूर्वस्य तदभावादित्यभिप्रेत्याह—

अखण्डवाक्यार्थमनुव्रजन्ती
समन्वयोत्थापितबुद्धिवृत्तिः ॥
अक्षादिभिस्तत्त्वनिवेदने हि
सद्यः परिम्लायति निर्विशङ्कम् ॥ ९६ ॥

अखण्डवाक्यार्थमिति ॥ अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः । अद्वितीयसन्मात्रे वेदान्तसमन्वयस्य विरोधः पूर्वं परिहृतः यद्यपि, तथाप्यखण्डैकरसे तु समन्वयविरोधस्तदवस्थः, कार्यकारणभेदेनाद्वयत्वसिद्धावपि अखण्डैकरसस्यासिद्धेः, अतस्तत्परिहाराय विवर्तः आश्रयणीयः इति भावः ॥ ९६ ॥

अथ तर्ह्यखण्डैकरसे समन्वयो मा भूत्, अद्वैतमात्रं तावत्सिद्धमेव श्रौतमिति चेत्, मैवम् । समन्वयसूत्रादिना समन्वयस्याखण्डैकरसे साधितत्वादित्याह—

अखण्डमेवाद्वयमात्मतत्त्वं
त्रयीशिरोवाक्यमनुप्रविष्टाः ॥
वदन्ति शब्दा इति शब्दशक्ति-
निरूपणे पूर्वमुदीरितं हि ॥ ९७ ॥

अखण्डमेवेति ॥ भेदसंसर्गरहिततया वस्तुमात्रमेवाद्वयं न संसृष्टाद्यात्मकमित्यर्थः । सुगममन्यत् ॥ ९७ ॥

अथ अतो विवर्तवादाश्रयणेन आरम्भणाधिकरणप्रवृत्तिर्युक्तैवेत्याह—

अतो विरोधस्य निरासंसिद्धयै
निरस्यतेऽक्षादिषु तत्त्वभागः ॥
संरक्ष्यतेऽसंव्यवहारशक्ति-
भागः पुनः सर्वमतोऽनवद्यम् ॥ ९८ ॥

अतः इति ॥ निरस्यते आरम्भणाधिकरणे इति शेषः॥९८॥

अथ यदि प्रत्यक्षादीनां तत्त्वावेदकत्वं न स्यात् तर्हि व्यावहारिकं प्रामाण्यमपि न स्यात्, तत्त्वानावेदकेषु शुक्तिरजतादिज्ञानेषु प्रामाण्यलेशस्याप्यदर्शनादिति चेत्, नेत्याह —

चितिवस्तुनः स्वमहिमस्फुरणे
स्वयमेव कारणमिति प्रगतम् ॥
प्रतिबध्य तच्चितिगताग्रहणं
विपरीतबुद्धिमुपढौकयति ॥ ९९ ॥

चितिवस्तुन इति ॥ चितिवस्तु प्रत्यगात्मस्वरूपं तस्य स्वमहिमा स्वयाथात्म्यं स्वरूपमिति यावत् । तस्य स्फुरणे प्रकाशे स्वयं स्वरूपमेव कारणं न कारणान्तरापेक्षा स्वप्रकाशकत्वादिति प्रगतं प्रकर्षेणावगतं श्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैरित्यर्थः । अत्र "स्वयं दासास्तपस्विनः" इतिवत्स्वयमेव कारणमित्यन्यव्यावृत्तिपरं वचनं न स्वकारणत्वविधिपरमिति द्रष्टव्यम् । चिति-

गताग्रहणं तु चिन्मात्राश्रयविषयमज्ञानं तु चितिवस्तु प्रतिबध्य यथावत्स्फुरणमाच्छाद्य तस्मिन् विपरीतबुद्धिं संसारित्वपरिच्छिन्नत्वादिविक्षेपरूपामुल्लासयति, स्फुरत एव चिदात्मनो याथातथ्येन स्फुरणमावृत्य तद्गताविद्या तस्मिन् विपरीताकारतामाभासयतीति वेदान्तप्रक्रियास्थितिरित्यर्थः। एतादिह विवक्षितम्। प्रत्यगज्ञानजन्यं हि सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणं तत्प्रमेयजातं च। तथा च प्रत्यक्षादेरविद्यादिदोषजन्यत्वात्स्वाविषयतत्त्वस्यानवभासकत्वात्तद्विपर्ययेण वाचारम्भणप्रपञ्चाकारावभासकत्वाच्च चिदात्मतत्त्वज्ञानापेक्षया शुक्तिरजतादिज्ञानवद् भ्रान्तित्वेऽपि व्यवहारसमर्थस्वविषयावभासकत्वस्यानुभवसिद्धत्वान्न व्यावहारिकांशेऽपि तस्य भ्रान्तितेति ॥ ९९ ॥

अथ ननु प्रत्यगज्ञानस्य चेत्तत्त्वावभासं प्रति दोषत्वं तर्हि स्वकार्ये मनआदावपि तद्दोषमासञ्जयेत्, अन्यथा तस्य तत्त्वावेदकत्वप्रसङ्गात्। अतः कारणदोषदूषितत्वात् तस्य व्यावहारिकमपि प्रामाण्यं न सिद्ध्येदित्याशङ्का परिहरन्प्रत्यक्षादौ स्वकार्ये नाज्ञानस्य दोषतेत्येतदाह—

व्यवहारनिर्वहणशक्तिमसौ
न चिदग्रहोऽस्य विनिवारयति॥
परमार्थवेदनविधिक्षमता-
मवखण्डयन्नपि मनःप्रभृतेः ॥ १०० ॥

व्यवहारानिर्वहणशक्तिमिति ॥ अस्य मनःप्रभृतेः व्यावहारिकप्रमाणस्य असौ चिदग्रहः प्रत्यगज्ञानं परमार्थवेदनविधिक्षमतामवखण्डयन्नपि तत्त्वावेदनजननसामर्थ्यं निरुन्धन्नपि व्यवहारनिर्वहणशक्तिं न निवारयतीति योजना।

अज्ञानस्य स्वाश्रयापेक्षया दोषत्वे ऽपि न स्वकार्यापेक्षया दोषत्वं प्रत्युत गुणत्वमेव, यथा काचादेर्नेत्राद्यपेक्षया दोषत्वं स्वहेतुभूतपापानुमाने गुणत्वम् । अतो न प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकांशे दोषजन्यतेति न तत्र प्रामाण्यहानिरिति भावः ॥१००॥

अथ एवं तर्हि वेदान्तानामपि तत्त्वावेदकत्वं न स्यात् तेषामपि कारणदोषदूषितत्वादिति चेत्, तत्राह—

चितिवस्तुबुद्धिजनकस्य पुन-
र्वचसो न खण्डयति शक्तिमसौ ॥
स्वनिबन्धनस्फुरणमेव चितेः
प्रतिबध्य तिष्ठति न वाचनिकम् ॥ १०१ ॥

चितिवास्त्विति ॥ असौ चिदग्रहः कस्मान्न खण्डयतीत्यत आह । स्वनिबन्धनेति । चैतन्यस्य स्वतःप्राप्तप्रकाशमेव प्रतिबध्नाति, वाचानिकं वेदान्तवाक्यजन्यं तु स्फुरणं न प्रतिबध्नाति तस्य तत्त्वावेदनशक्ति न खण्डयतीत्यक्षरार्थः । अज्ञानस्य स्वप्रकाशस्फुरणं प्रत्येव दोषत्वम् । एवमपि स्वकार्ये प्रत्यक्षादावेव अज्ञानं स्वं दोषमासञ्जयति न वेदान्तेषु, तेषामज्ञानकार्यगोचरत्वाभावादिति तात्पर्यार्थः ॥ १०१ ॥

अथ कारणदोषानुबन्धश्चक्षुरादिष्विव न वेदान्तेष्विति कुतः एतत् ? इत्यत आह—

प्रत्यक्षादेरेव दोषस्ततोऽयं
वेदान्तानां नैव दोषानुबन्धः ॥
सत्यं वस्तु च्छादयन्नद्वितीयं
द्वैतं यस्मादानयत्येष दोषः ॥ १०२ ॥

**प्रत्यक्षादेरिति॥**पूर्वार्द्धेनोक्तप्रतिज्ञायां हेतुम् उत्तरार्द्धेनाह। सत्यं वस्त्विति । द्वैतस्य दोषजन्यत्वात् तद्विषयकप्रत्यक्षादेर्वस्तुतत्त्वावरणविपरीतकारित्वदर्शनात् तस्यैव कारणदोषानुविद्धता, वेदान्तानां तु तत्त्वावेदकत्वदर्शनान्न तेषां कारणदोषानुबन्धः इत्यर्थः । अयं भावः । प्रत्यक्संविदवच्छिन्नं ह्यज्ञानं प्रमाणाकारेण विवर्तते, तत्राज्ञानदोषप्राधान्येन चक्षुरादिविवर्त्तः, संवित्प्राधान्येन वेदविवर्त्त इति स्थिते युक्तोऽयं विशेषः इति ॥ १०२ ॥

अव तदेवं प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकत्वाभावान्न तेन तत्त्वावेदकानां विरोध इति प्रतिपाद्य, विषयभेदेनापि विरोधं परिहरति—

> किं च प्रतीचि सकलोपनिषत् प्रवृत्ता
> मानान्तर सकलमेव तु तत्पराचि ॥
> प्रत्यक्पराग्विषयगोचरयोश्च बुद्ध्योः
> स्पर्द्धा न सम्भवति मेयविभागसिद्धेः ॥ १०३ ॥

**किं च प्रतीचि सकलेति** ॥ प्रत्यक्परागूपयोः मिथो-विरुद्धसंस्थानयोरर्थयोरवभासकत्वेन भिन्नविषयत्वाद्गवाश्वविषयोरिव ज्ञानयोर्न बाध्यबाधकभावो वेदान्तानां प्रत्यक्षादीना चेत्यर्थः । अक्षरयोजना सुगमा ॥ १०३ ॥

अव इतोऽपि नानयोर्विरोधो भेदप्रत्यययुक्तिबाधितत्वेन मिथ्यात्वप्रसिद्धेरित्याह—

> अभिन्न एवैष पटः समीक्ष्यते
> न भेदगन्धोऽपि पटे समीक्ष्यते ॥

पटेऽपि भेदो यदि कल्प्यते तदा
पटो विदीर्येत कुतस्तदा पटः ॥ १०४ ॥

अभिन्नेति ॥ समीक्ष्यमाणे पटे यदि भेदस्तदा इदं वक्तव्यम्, स्वस्मादेव पटस्य भेदोऽन्यस्माद्वेति। तत्राद्ये दोषमाह । पटेऽपि भेदो यदीति । स्वस्माद्भेदे हि विशकलीभावः पटस्य स्यात्, तदा तस्य पटत्वहानिः शकलस्यापि स्वतो भेदाभावात्, तस्यापि स्वतो भेदे स्वरूपहानेः एवं शकलेष्वपि तथात्वान्निःस्वरूप एव पटः स्यादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

अथ द्वितीयपक्षमप्यनूद्य दोषमाह—

घटात् पटो भिन्न इतीष्यते यदि
स्फुटं प्रसज्येत विकल्पिता भिदा ॥
न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्
तथा च यत्नेन निवेदयिष्यते ॥ १०५ ॥

घटादिति ॥ विकल्पिता मिथ्याभूता भिदा प्रसज्येत अन्यापेक्षत्वादित्यर्थः । अन्यापेक्षनिरूपणस्वभावत्वे ऽपि भेदस्य कथं मिथ्यात्वम् ? इत्यत आह । न सत्यमिति। यदापेक्षिकम् अन्यापेक्षस्वभावं तत् क्वचिदपि न सत्यमीक्षितं यदापेक्षिकं तदसत्यमेव दृष्टं, यथा ऽऽलक्तकाद्यपेक्षकं स्फटिकलौहित्यमित्यर्थः । यथा सापेक्षस्वभावकं क्वचिदपि न सत्यं तथा यत्नेन निवेदयिष्यते तृतीयेऽध्याये पदार्थशोधनावसरे प्रतिपादयिष्यते इत्यर्थः। तस्माद्भेदो न सत्यः अन्यसापेक्षस्वभावत्वात्स्फटिकलौहित्यादिवदित्युक्तं भवति ॥ १०५ ॥

इतो ऽपि न प्रामाणिको भेदः इत्याह—

न भेदबुद्धिर्घटते प्रमाणतो
विना च धर्मिप्रतियोगिसंविदा ॥
न भेदबुद्धिं विरहय्य कल्पते
तथैव धर्मिप्रतियोगिधीरपि ॥ १०६ ॥

न भेदबुद्धिरिति ॥ धर्मिप्रतियोगिसंविदा विना प्रमाणतः भेदबुद्धिः न घटते, कस्य कुतो भेदः इति न स्यात् धर्म्यादिबुद्ध्यपेक्षत्वात्, तथैव धर्मिप्रतियोगिधीरपि भेदबुद्धि विरहय्य न कल्पते, एकस्यैकदा एकं प्रति धर्मिप्रतियोगित्वायोगात्। तथा च सिद्धे भेदे धर्मिप्रतियोगिसिद्धिः इतीतरेतराश्रयापत्तेर्न भेदः प्रामाणिकः इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अव. अन्योन्याश्रयान्तरमाह—

परस्पराभावधिया न भेदधी-
र्विनोपपन्ना न तया विनेतरा ॥
इतीदमन्योन्यसमाश्रयं यतो
मतिद्वयं तेन तदस्तु कल्पितम् ॥ १०७ ॥

परस्पराभावेति ॥ पूर्वं धर्म्यादिबुद्धेर्भेदबुद्धेश्चान्योन्याश्रयतोक्ता, अत्र तु धर्मिप्रतियोगिनोस्तादात्म्याभावबुद्धेर्भेदबुद्धेश्चान्योन्याश्रयतोच्यते इति विवेकः। सुयोज्यान्यक्षराणि ॥१०७॥

अव जडे भेदप्रपञ्चे प्रमाणयोग्यताऽभावान्न तद्विषया धीः प्रमेत्युक्तम्। इदानीं तत्र प्रमाणकृत्याभावाच्च न तद्धीः प्रमाणं किन्तु भ्रान्तिरेवेत्याह—

असन्निवृत्तिर्न च सन्निवृत्ति-

र्न चोपपन्ना सदसन्निवृत्तिः ॥
जडप्रमाणस्य फलं ततोऽपि
न तेन वेदान्तजबुद्धिबाधः ॥ १०८ ॥

असन्निवृत्तिरिति ॥ कस्यचिन्निवृत्तिः उत्पत्तिर्वा सर्वत्र मानफलं वाच्यं, तत्र निवृत्तिपक्षे किमसन्निवृत्तिः प्रमाणफलं सन्निवृत्तिर्वा सदसन्निवृत्तिर्वा ? सर्वथापि न सम्भवतीति क्रमेणाह । असन्निवृत्तिरित्याद्येनार्द्धेन । असतो नित्यनिवृत्तिरूपत्वात् तस्य प्रमाणसाध्यत्वाभावात्, सतो ज्ञाननिवर्त्त्यत्वासम्भवात्, अत एव सदसन्निवृत्त्ययोगः सदसदात्मकवस्तुनोऽभावाच्च तन्निवृत्त्यसम्भव इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

अथ विषयगतकिञ्चिन्निवृत्तिः प्रमाणफलमिति पक्षं निरस्य उत्पत्तिपक्षमपि ततो निराकरोति—

असत्प्रसूतिर्न च सत्प्रसूति-
र्न चोपपन्ना सदसत्प्रसूतिः ॥
जडे प्रमाणस्य फलं ततोऽपि
न तेन वेदान्तजबुद्धिबाधः ॥ १०९ ॥

असत्प्रसूतिरिति ॥ यतो विचार्यमाणे जडे प्रमाणकृत्याभावः ततोऽपि हेतोस्तेन प्रत्यक्षादिना न वेदान्तजबुद्धिबाधः इति फलितमाह । ततोऽपीति । स्पष्टार्थः ॥ १०९ ॥

अथ यथा सदादिविकल्पासहत्वात्कस्य चिदुत्पत्तिर्निवृत्तिर्वा मानकृत्यं न सम्भवति, तथा जडे मानस्य कुर्वत्त्वाकुर्वत्त्वविकल्पानुपपत्त्या तत्र संविदुत्पत्तेर्मानफलत्वासम्भवं प्राह—

जडार्थसंविन्न हि कुर्वतः फलं

तदा हि कुर्वत्त्वमपीदृशं भवेत् ॥
अकुर्वतस्तत्फलमित्युदीरयन्
विहस्यते दुर्मतिरर्भकैरपि ॥ ११० ॥

जडार्थसंविन्न हीति ॥ कुर्वत्त्वं नाम व्याप्रियमाणत्वम् । तत्र कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि प्रमाणस्य न जडार्थसंवित् फलमुपपद्यते। अकुर्वतः फलं चेत्कुर्वत्त्वस्यापि कार्यत्वात् तदपीदृशं भवेत् कुर्वतः फलं भवेत्, तथा च तदपि तादृशमित्यनवस्थाप्रसङ्गः। कुर्वत्त्वस्यापि कार्यत्वे तत्फलस्य संवेदनस्याप्यनादित्वेन फलत्वाभावप्रसङ्गात्, न हि जडार्थसंवित् कुर्वतः फलमित्यर्थः।पक्षान्तरं तु सर्वलोकानुभवविरुद्धमित्याह। अकुर्वत इति। स्पष्टार्थः ॥११०॥

अथ संविदुत्पादकपर्यालोचनया संविदो मानफलं निरस्य, संवित्स्वरूपपर्यालोचनयाऽपि तन्निरस्यति—

सती न संवित् क्रियते हि सत्त्वा-
न्न चासती तद्वदसत्त्वहेतोः ॥
न चोपपन्नं सदसत्त्वमस्या-
स्ततो न कार्यत्वमुपैति संवित् ॥ १११ ॥

सती न संविदिति ॥ अक्षरार्थः स्पष्टः । सतोऽसतो वोत्पत्तिर्न मानफलमिति पूर्वं सामान्यतो विकल्प्य दूषणमुक्तम्, अत्र संविदि विशेषतो विकल्प्य दूषणं कथ्यते इति विशेषः॥१११॥

अथ कार्यकारणभावसामान्यविषयमपि दोषं संविदुत्पत्तावाह—

न शक्यमुत्पाद्यमिति प्रशस्यते

तदा हि शक्तेरपि जन्यताऽऽपतेत् ॥
अशक्यमुत्पाद्यमितीष्यते यदि
द्रुतं नभश्चूर्णय मुद्गरादिना ॥ ११२ ॥

न शक्यमिति ॥ शक्तं कारणं शक्यं च कार्यमिति हि स्थितिः । तत्र संवेदनं मानस्य शक्यमशक्यं वा । आद्ये शक्त्यवच्छिन्नस्य शक्यत्वात् तदा शक्तेरपि जन्यताऽऽपतेत् । शक्तेरपि जन्यत्वे तत्रापि शक्त्यन्तरकल्पना प्रसज्येत । अतः शक्यमुत्पाद्यमिति न प्रशस्यते, न युक्तिसहमित्यर्थः । द्वितीये दोषमाह । अशक्यमुत्पाद्यमिति । अतिप्रसङ्गान्नायमपि पक्षः साधुरित्यर्थः । न चात्मन्यज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणफलमिति पक्षे ऽप्येतद्विकल्पस्य दूषणगणप्रसरणं सममिति शङ्क्यम् । अज्ञानस्यानिर्वचनीयत्वान्मानस्य तन्निवर्तकत्वमप्यनिर्वचनीयमेवेति मानयुक्त्यसहिष्णुतायाः अस्मन्मतालङ्कारत्वादिति भावः ॥ ११२ ॥

अथ एवं जडप्रमाणदूषणे फलितमर्थमाह—

जडप्रमाणस्य फलानिरूपणा-
ज्जडस्य तत्त्वं न निरूपणक्षमम् ॥
अतो न मानान्तरमर्थतोऽपि न-
स्त्रयीशिरोवस्तु निराकरिष्यति ॥ ११३ ॥

जडप्रमाणस्येति ॥ प्रत्यक्षादेर्जडप्रमाणत्वाभिमतस्य फलानिरूपणात् अफलस्य चाप्रमाणत्वात्, तस्य भ्रान्तिमात्रत्वे सति तत्प्रमेयस्य जडस्य तत्त्वं च न निरूपणक्षमं न प्रामाणिकं, किंत्वनिर्वाच्यमेव तदपीत्यर्थः । जडार्थस्याप्रामाणिकत्वे च किमायातं ? तदाह । अत इति । प्रत्यक्षादेरद्वैतागमस्य च भिन्नविष-

यत्वेन मिथो विरोधपरिहारेऽपि मानान्तरेण वस्त्वन्तरसद्भावावगमेऽर्थादद्वयरूपस्य प्रमेयांशस्य वेदान्तानां प्रत्यक्षादिभिर्विरोध इति यः आर्थिकोऽपि विरोध उत्प्रेक्ष्यते सोऽप्यत्र नावतरति, परमार्थसदद्वैतार्थाबाधकत्वादिति तात्पर्यार्थः । अतः उक्तयुक्तिजालात् मानान्तरम् अर्थतोऽपि अपिशब्दात्स्वरूपेणापि नोऽस्माकं त्रयीशिरोवस्तु अद्वैतलक्षणं न निराकरिष्यतीत्यक्षरयोजना ॥ ११३ ॥

अव एवं युक्तिशतेन विरोधे निराकृते ऽपि यदि विरोधान्तरं प्रकारान्तरेणाशङ्क्येत तदङ्गीकृत्यापि परिहारमाह—

आत्मन्येव समस्तमस्तु यदि वा मानान्तरं तेन च
स्पष्टं वेदशिरो विरुद्धमिति च स्वीकुर्महे कामतः ॥
एवं सत्यपि पूर्वभावि सकलं मानान्तर बाधते
पश्चात् कस्य चिदेव वेदशिरसो जाता परब्रह्मधीः॥ ११४॥

आत्मन्येव समस्तमिति॥ आत्मन एवाज्ञाततया मेयत्वात् तस्यैव भोक्तृभोग्यादिमत्तयाऽवस्थानात्प्रत्यक्षादिना च प्रपञ्चविषयत्वेनात्मैवावेद्यते नानारूपः, वेदान्तैस्तु तद्विपरीततयाऽद्वैतात्मोपदिश्यते । अतः एकविषयत्वेन विरोधस्तदवस्थः । न च प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकप्रमाणत्वाद्वेदान्तानां च तत्त्वावेदकत्वान्न विरोध इति युक्तं वक्तुं, प्रत्यक्षादेरपि तत्त्वावेदकतयैव सर्वसंप्रतिपत्तेः तदानी वेदान्तानामप्रवृत्तेर्विरोधाभावात्स्वतः प्रामाण्याच्च तत्त्वावेदकत्वस्यैवाभ्युपेयत्वादिति विरोधशङ्का, एतदभिप्रेत्योक्तम् आत्मन्येवेति । समस्तं प्रमाणान्तरमप्यात्मन्येवास्तु प्रमाणं तेन स्पष्टं वेदशिरो विरुद्धमिति च स्वीकुर्महे कामतस्तवेच्छयेत्यर्थः । उत्सर्गापवादन्यायमाश्रित्याङ्गीकृतं विरोधं परिहरति । एवं स-

त्यपीति। पूर्वभावि सकलं मानान्तरं सर्वान्प्रत्यविशिष्टं सत् उत्सर्गः, सर्वमेव प्रमाणं तत्त्वावेदकं प्राप्तं यत् तत् पश्चात्कस्य चिदेव साधनचतुष्टयसंपन्नस्य वेदशिरसो जाता मतिस्तदपवादकतयोत्पन्ना बुद्धिर्बाधते । उत्सर्गादपवादो बलीयानिति न्यायः प्रसिद्धो भूतहिंसाप्रतिषेधाग्नीषोमीयपश्वालम्भविध्यादौ । अतः प्रत्यक्षादेर्वेदान्तैरेव बाध इति विचारतो व्यावहारिकमेव प्रामाण्यं प्रत्यक्षादेर्न तत्त्वावेदकतेति तेन न वेदान्तबाध इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

अथ पाश्चात्येन पूर्वबाधो लोकेऽपि प्रसिद्धः इत्याह—

पूर्वोत्पन्नमृगाम्बुविभ्रमधियो बाधं विना नोत्तरं
विज्ञानं समुदेतुमूषरभुवो याथात्म्यमावेदयत् ॥
शक्नोतीति यथा मृगाम्बुधिषणामुन्मृद्यदुत्पद्यते
तद्वद्वेदशिरोवचोजनितधीर्भेदभ्रमं ब्रह्मणि ॥ ११५ ॥

पूर्वोत्पन्नमृगाम्बुविभ्रमधिय इति ॥ मृगाम्बुविभ्रमधीः मृगतृष्णायामुदकमिति मिथ्याबुद्धिस्तस्याः पूर्वोत्पन्नाया बाधम् अपहृतविषयत्वं विना ऊषरभुवो याथात्म्यमावेदयदुत्तरं विज्ञानमुदेतुं न शक्नोति इति प्रसिद्धमिति योजना । उक्तदृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिके योजयति । उन्मृद्यत् बाधमानमेवोत्पद्यते ऊषरभुवो याथात्म्यधीरित्यनुषङ्गः । दार्ष्टान्तिकार्थः सुगमः । तथा च पूर्वप्रवृत्तस्य प्रत्यक्षादेर्मृगतृष्णिकोदकवद्भ्रान्तित्वं सिद्धमित्यर्थः॥११५॥

अथ पूर्वापरमात्रेणापरेण पूर्वबाध इत्ययमर्थो जैमिनीयेऽपि तन्त्रे न्यायतो निर्द्धारितः इति—

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यमाह
षष्ठेऽध्यायेऽत्रास्थितो जैमिनिर्यत् ॥

वक्ष्यामस्तत्सर्वमानीय तुभ्यं
बुद्धिं स्वीयां सम्यगत्रावधत्स्व ॥ ११६ ॥

**पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यमाह** इति ॥ पौर्वापर्ये पूर्वस्य निमित्तस्य दौर्बल्यं बाध्यत्वं जैमिनिराचार्यः षष्ठेऽध्यायेऽधिकारलक्षणेऽवस्थितो यदाह "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" इत्यत्र, तत्सर्वं विषयाद्यङ्गैः परिपूर्णमानीय संग्रहेणोपनीय तुभ्यं वक्ष्यामो वयम् अत्रास्मद्वाक्ये स्वीयां बुद्धिं सम्यगवधत्स्व अवहितामेकाग्रां कुर्विति योजना । न्यायस्यास्य दुर्बोधत्वादत्र सावधानः सन् शृण्वित्यर्थः ॥ ११६ ॥

अव. तदेव विषयादिविभजनेन कथयति—

उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकतया जातौ वियोगौ क्रमाद्
यस्मिन् कर्मविधिप्रयोगसमये तत्रैव नः संशयः ॥
किं सर्वद्रविणव्ययो भवतु वा संस्थापनं दक्षिणा-
हीनस्येति तदा परं बलवदित्यूचे मुनिर्जैमिनिः ॥ ११७ ॥

**उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकतयेति** ॥ "अध्वर्युं निष्क्रामन्तमुद्गाता सन्तनुयात्" इत्यादिनोद्गातृप्रभृतीनामृत्विजां सोमयागे सुत्यादिने बहिष्पवमानस्तोत्रार्थमेकैकस्येतरेतरसंसृष्टतयोत्तरवेद्याः सदः प्रति हविर्धानस्योत्तरतः प्रसर्पणं विहितं, तत्र यदि विच्छेदो मध्ये यस्य कस्यापि स्यात्तदा प्रायश्चित्तं तत्तदृत्विग्विच्छेदनिमित्तमाम्नातम् अविरुद्धं यत्तद्यथाऽऽम्नातमनुष्ठेयमिति तदस्य न्यायस्य न विषयः, यत्पुनः उद्गातृप्रतिहर्त्रोर्विच्छेदे प्रायश्चित्तं विहितं "यद्युद्गाता विच्छिन्द्याददक्षिणो यज्ञः सन्तिष्ठते यदि प्रतिहर्ता सर्वं स्वं दद्यात्"इत्येतच्चोद्गातुरध्वर्योर्विच्छेदे प्रकृतस्य यागस्य विना द-

क्षिणादानं समापनं, प्रतिहर्त्तुरुद्गातृसकाशाद्विच्छेदे तस्मिन्नेव यागे यजमानस्य सर्वस्वदानम् इत्येवं मिथो विरुद्धं प्रायश्चित्तमवगतम्। तत्र द्वयोर्युगपद्विच्छेदे यजमानस्येच्छया विकल्पो निर्द्धारितः। क्रमेण विच्छेदे पुनरिदं विचार्यते कतरन्निमित्तं नैमित्तिकं प्रयोजयेदिति । एकस्मिन्नेव कर्मणि सर्वस्वदानदक्षिणाहीनत्वयोरयोगात् अन्यतरस्यैवानुष्ठेयत्वे कतरदनुष्ठेयमिति संशयस्यावश्यंभावात् इत्येतत्सर्वं पूर्वार्द्धेनोच्यते । तस्यैषाऽक्षरयोजना। यस्मिन् कर्मविधिप्रयोगसमये उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकतया क्रमाद्वियोगौ जातौ भवतः तत्रैष नो ऽस्माकं संशयो जायते इति । एष इत्युक्तं संशयमेव स्फुटयति । किं सर्वेति । अत्र यथासङ्ख्यक्रमो न विवक्षितः श्रुत्याम्नानविरोधादिति द्रष्टव्यम् । तदा पूर्वमसञ्जातविरोधित्वात्प्रबलं सत् उत्तरं बाधेतेति पूर्वमेव निमित्तं नैमित्तिकं प्रयोजयेदिति पूर्वपक्षप्राप्तौ जैमिनिर्मुनिः परम् उत्तरं बलवदित्यूचे। पूर्वसमये ऽस्यानुत्पन्नत्वात्तेनास्य बाध्यत्वायोगात्, उत्तरस्य च पूर्वोपमर्दमन्तरेणोत्पत्त्यसम्भवादुत्तरमेव बलवत्सत् प्राप्तबाधकं स्वनैमित्तिकं प्रयोजयेदिति "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" इत्यवोचादित्यर्थः। पूर्वोत्पन्ना विच्छेदविषया बुद्धिः पश्चादुत्पन्नया ऋत्विगन्तरविच्छेदविषयया बुद्ध्या बाध्यते, अज्ञायमानयोर्विच्छेदयोरप्रयोजकत्वात् तेन ज्ञातयोरेव प्रयोजकतेति बुद्ध्योरेवेदमुदाहरणमिति द्रष्टव्यम् । तदुक्तम् ।

पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम् ।
अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेदिति ॥११७॥

अथ पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यमिति भागं व्याख्याय प्रकृतिवदिति सूत्रभागं दृष्टान्तपरं व्याचष्टे—

यद्वत् प्राकृतवैकृतावतितरामन्योन्यसस्पर्धिनौ

धर्मौ बाध्यनिवर्तकावभिमतौ बुद्धौ क्रमेणान्वयात् ॥
पाठव्यत्ययसम्भवेऽपि च तयोर्बुद्धिक्रमो विद्यते
पूर्वा प्राकृतधर्मधीरितरधीरन्त्या तथैवोत्थिते: ॥ ११८॥

यच्चादिति॥ प्रकृतावुपदिष्टः प्राकृतो धर्मः, विकृतावुपदिष्टो वैकृतः, तौ च क्वचिदन्योन्यसंस्पर्द्धिनौ मिथो बाध्यनिवर्त्तकावभिमतौ च, अत्राप्युत्तरेण पूर्वो बाध्यतयाऽभिमतः इत्यर्थः। कुतः? बुद्धौ क्रमेणान्वयात्। क्रमेण ज्ञायमानत्वात् इत्यक्षरयोजना। एतदुक्तं भवति। अस्ति हि प्रकृतिर्विकृतिश्चेति विहितानां कर्मणां द्वैविध्यम्। तत्र समग्राङ्गसंयुक्ततया विधीयमानं कर्म प्रकृतिः, विकलाङ्गतया विहितं कर्म विकृतिरिति तयोर्लक्षणे। यथा दर्शपूर्णमासौ सर्वासां विकृतीनां प्रकृतिः, स्वप्रकरणे एव सर्वाङ्गोपेततयाऽऽम्नानात्। "सौर्यं चरुं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः" इत्याद्या विकृतिः, विकलाङ्गतयाऽऽम्नानात्। तथा क्वचिद्विकृतिविशेषे कतिपयान्यङ्गानि विधीयन्ते। यथा "अभिचरन् यजेत" इत्यभिचारप्रकरणे "शरमयं बर्हिः वैभीतक इध्म" इत्यङ्गविशेषाम्नानम्। तत्र विकृतिविधावितिकर्त्तव्यताऽभावे करणोपकारासिद्धेः करणनिष्पत्तितत्फलयोरप्यनिष्पत्तेरिति कर्त्तव्यताऽपेक्षा विद्यते। सा चाङ्गानुष्ठाननिबन्धना। अङ्गानि च विकृतौ नाम्नातानीति तदपेक्षायां चोदनासामान्यादिना प्राकृतान्यङ्गानि विकृतावतिदिश्यन्ते "दर्शपूर्णमासप्रकृतिवत्कुर्यात्" इति। यत्र पुनः प्राकृतानि साधनानि कुशमयादीनि बर्हिरादिवस्तूनि विकृतिविधिप्रतीतिसमये एव प्रथममतिदेशेन प्राप्तानि, तैश्च यत्कार्यं निर्वर्त्तनीयं तदर्थतया यदि विकृतिप्रकरणविशेषे वस्त्वन्तरशरमयाद्याम्नानं दृश्यते तत्र भवति विरोधस्फूर्तिः विकल्पसमुच्चययोर्भिन्नप्रकरणत्वे-

नासम्भवात्। तथाचैकेनैव निर्वर्त्तनीयस्याङ्गोपकारकत्वस्यैकमेव साधनतामुपैतीति तयोरन्यतरेणान्यतरस्य बाधेऽवश्यकर्त्तव्ये विकृतावुपदिष्टाना निरवकाशत्वात् "सावकाशनिरवकाशयोर्नि-रवकाशं बलवत्" इति न्यायादुत्तरेण वैकृतोपदिष्टेन पूर्वमतिदेश-प्राप्तस्य प्राकृतस्य बाधोऽवसितः। यथा तद्वदुद्गातृप्रतिहर्तृकाविच्छे-देऽपि पूर्वबुद्धिरुत्तरया बुद्ध्या बाध्येत्युत्तरमेव निमित्तं नैमित्ति-कप्रयोजकं न पूर्वमिति निर्णयः । तथाऽत्रापि प्रथमोत्पन्नप्र-त्यक्षादिबुद्धिः पश्चादुत्पन्नया वेदान्तवाक्यजनितया बाध्या ना-न्यथेति सिद्धमिति । यद्येवं परेण पूर्वबाध इति नियमस्तर्हि यत्र क्वचिद्विकृतेः कतिपयाङ्गोपेताया: प्रथगमाम्नानं, प्रकृतेश्च स-मग्रायाः पश्चात्पाठस्तत्राह । पाठव्यत्ययसम्भवेऽपीति । पाठ-क्रमविपर्यासेऽपि तयोः प्राकृतवैकृतयोर्बुद्धिक्रमो विधेय: । कीदृशः क्रमः ? इति तमाह । पूर्वेति । उक्तबुद्धिपौर्वापर्यनियामकमाह । तथैवोत्थितेरिति । अयमर्थः। विकृतिर्हि इतिकर्त्तव्यताभागमाका-ङ्क्षमाणा स्वसन्निधावुपदिष्टमङ्गसाधनमसम्पूर्णत्वान्न स्वीकरो-ति, प्रकृतौ च समग्रस्य धर्मस्योपदिष्टत्वात्तदेव धर्मजातं चोदना-सामान्यादिना स्वीकरोति, पश्चात्स्वप्रकरणोपदिष्टमपि सन्निधि-प्रमाणात्स्वीकरोति, तस्यानवकाशत्वेनोपेक्षाऽनर्हत्वात्, तदाम्ना-नवैयर्थ्यपरिहारायावश्यं स्वीकार्यत्वात् । तस्मादतिदेशोपदेशबु-द्ध्योः पूर्वोक्तक्रमेणैवोत्पत्तेः पाठव्यत्ययेऽपि पूर्वा प्राकृतधीः अन्त्या चोपदेशधीरित्यनयोर्नियत एव क्रम इति ॥ ११८ ॥

अथ यद्येवं पौर्वापर्ये पूर्वस्योत्तरेण बाध एव न्यायस्तर्हि प्रथमश्रुतानुसारेण चरमश्रुतं नेयमिति न्यायस्य को विषयः ? इति तमाह—

सापेक्षावुदितौ यदा तु भवतः पूर्वापरप्रत्ययौ

पूर्वस्तत्र निवर्तको भवति तत्रान्त्यो निवर्त्यो यथा ॥
वेदोपक्रमजा मतिर्बलवती नर्गादिसंहारजा
वेदोपक्रममुख्यजा भवति तन्नर्गादिवाणी गुणात् ॥ ११९॥

सापेक्षाविति ॥ विरुद्धयोर्बुद्ध्योः परस्परं नैरपेक्ष्ये परेण पूर्वबाधः। यदा तु पूर्वापरप्रत्ययौ सापेक्षावुदितौ भवतस्तत्र तदा तत्र तयोर्मध्ये पूर्वप्रत्ययो निवर्तको भवति, अन्त्यस्तु निवर्त्यः इति निर्णयः । पूर्वापेक्षयोत्पद्यमानस्योत्तरस्य पूर्वाविरोधेनैवोत्पत्तेः, पूर्वस्य तूत्तरोत्पत्तिसमये नापेक्षा नापि विरोधः, किन्तु पर्यवसानायैवापेक्षा तदा च विरोधः इति तदवस्थायां पूर्वेणोत्तरं मुख्यार्थात्प्रच्याव्यते तद्यथा तथोदाहरिष्यामः इत्यर्थः। उदाहरणमाह। वेदोपक्रमजेति । "प्रजापतिर्वेदानसृजत" इत्युपक्रम्य श्रूयते "उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषेति"। तत्र ऋगादिशब्दः किं मन्त्रमात्रपरः किंवा ऋग्वेदादिपर इति सन्देहे मुख्यार्थपरिग्रहे बाधकाभावाद्यत्र यजुर्वेदेऽपि नियताक्षरपादावसानाः मन्त्रास्तेऽप्युच्चैः प्रयोक्तव्याः, ऋग्वेदेऽपि ये ब्राह्मणप्रभवाः निगदादयोऽपि मन्त्रास्ते उपांशु प्रयोज्याः इति प्रापय्य सिद्धान्तितम्। "प्रजापतिर्वेदानसृजत" इति वेदशब्देनोपक्रमात् "उच्चैर्ऋचा क्रियते" इत्यादौ वेदसम्बन्धि किञ्चिद्विधीयते इति तावत्प्रतीयते, पश्चाच्च ऋचा यजुषेतिऋग्यजुःशब्दयोर्मन्त्रसम्बन्धितया उच्चैश्च नीचैश्च कर्तव्यता भाति, तत्र वेदशब्दोपक्रमजाता मतिरसञ्जातविरोधितया बलवती स्वार्थपरैव स्वीकर्त्तव्या, ऋगादिशब्दोपसंहारात् जाता मतिर्न बलवती स्वार्थपरा न भवति उपक्रमसापेक्षतया तद्विरोधे स्वार्थपरत्वायोगादित्यर्थः। एतदेव स्फुटयति । वेदोपक्रममुख्यजेति । तथा चोपक्रमतन्त्रतया ऋगादिशब्दो मन्त्रविशेषे मुख्योऽपि गौण्या

वृत्त्या वेदपर एवेति । तस्मात् ऋग्वेदविहिते कर्मणि अनादेशे मन्त्रप्रयोगस्योच्चैस्त्वं विधीयते । यजुर्वेदविहिते चोपांशुत्वं, न तु यत्र मन्त्रस्तत्र तथा प्रयोग इति निर्णयः ॥ ११९ ॥

अव वेदान्तेष्वपि तादृशमुदाहरणमस्तीत्याह—

ब्रह्मपुच्छमितिवाक्यगामिनो-

र्ब्रह्मपुच्छमिति शब्दयोर्द्वयोः ॥

ब्रह्मशब्दबलवत्तरत्वतः

पुच्छशब्दपरिपीडनं मतम् ॥ १२० ॥

ब्रह्मपुच्छमितीति ॥ "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इति वाक्यगतयो-र्ब्रह्मपुच्छपदयोः प्रथमश्रुतब्रह्मशब्दस्य निरपेक्षत्वात्पुच्छशब्दस्या-वयववाचिनो ऽवयविसापेक्षत्वात्प्रथमश्रुतब्रह्मपदानुसारेण चर-मश्रुतपुच्छशब्दो लक्षणयाऽऽधारपरत्वेन नियत इति वाक्यार्थः । अक्षरयोजना सुकरा । यदि च ब्रह्मशब्दादप्यानन्दमयस्यैव त-द्वाक्योपक्रमे श्रवणात्प्राथम्यमुच्येत तदा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इतिमहावाक्योपक्रमगतब्रह्मशब्दादानन्दमयशब्दस्य स्वार्थबाधो वक्तव्यः। अत एवोक्तम् "मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" इति॥१२०॥

अव. अयमपि न्यायो निरपवाद इति प्रदर्शयन् प्रसङ्गा-च्छारीरकाधिकरणे प्रदर्शितानां न्यायानां विवेकप्रतिपत्तये पु-नर्न्यायभेदानुपन्यस्यति—

अथ यद्युपक्रमणमल्पतरं

भवति प्रभूतमुपसंहरणम् ॥

बलवत्तदा चरममेव भवे-

दुभयोर्विरोधसमये नितराम् ॥ १२१ ॥

अथ यदीति ॥ अथ शब्दो न्यायान्तरोपक्रमार्थः । यद्युपक्रणम् उपक्रमोऽल्पतरं निर्देशमात्रं भवति, उपसंहरणं वाक्यशेषलक्षणं प्रभूतं बहुलं भवति तदा उभयोरुपक्रमोपसंहारयोर्विरोधसमये चरममेव नितरा बलवद्भवेदिति योजना । अत्र तरपः प्रयोगादविरोधेऽपि क्वचिद्वाक्यशेषेणोपक्रमगतस्य निर्णयनिदर्शनादुपसंहरणबलवत्तां सूचयति । यथाऽन्तर्यामिशब्दस्योपक्रमगतस्यानिश्चितार्थतया अविरुद्धार्थत्वेऽपि वाक्यशेषात् अदृष्टो द्रष्टाऽऽत्माऽमृतादिरूपात् चेतनेश्वरत्वनिर्णयः इत्यर्थः। "आकाशस्तल्लिङ्गात्" "अत एव प्राणः" "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्याद्यधिकरणेषु प्रथमश्रुतानामप्याकाशप्राणगायत्र्यादिशब्दाना "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि" "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यादिवाक्यशेषगतबहुलिङ्गश्रुत्यादिवशेन स्वार्थबाधो दर्शितः इत्येतदिहोदाहरणम् ॥ १२१ ॥

अथ अस्यापि न्यायस्यापवादमाह—

अथ यद्युपक्रमणमल्पमपि
प्रतिपाद्यवस्तुविषयं भवति ॥
अविवक्षितार्थविषय चरमं
भवति प्रभूतमपि बाध्यमदः ॥ १२२ ॥

अथ यदीति ॥ अक्षरार्थो निगदव्याख्यातः । अस्योदाहरणम्। "आत्मा गृहीतिरितरवदुत्तरात्" इति।अत्र हि "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यात्मैकत्वावधारणेनोपक्रमगतेन प्रतिपाद्यार्थविषयेण तद्विपरीतो वाक्यशेषगतो महान्प्रपञ्चः "ताभ्यो गामानयत्" इत्यादिसविशेषात्मविषयो बाध्यत इति निर्धारितम्। एवमन्यत्राप्युदाहरणमन्विष्येत्थं न्यायो योज्यः ॥ १२२ ॥

अथ इदानीं प्रासङ्गिकं परित्यज्य प्रकृतमेव वेदान्तैः प्रत्यक्षादेर्बाधं पुनरपि न्यायान्तरेणाह—

आसन्नवस्तुविषयेण यथाऽक्षजेन
बाधो भवत्यनुमितेर्व्यवधानयोगात् ।
प्रत्यक्त्वमात्रविषयेण तथाऽऽगमेन
युक्तोऽक्षजादिविषयावगमस्य बाधः ॥ १२३ ॥

आसन्नेति ॥ सन्निहितार्थविषयेणाक्षजेन प्रत्यक्षज्ञानेनानुमितेर्बाधो भवति, कुतः ? व्यवधानयोगात् व्याप्त्यादिज्ञानव्यवधानार्थप्रतिपादनात्, द्रष्टुः स्वगतव्यापारागोचरत्वेन व्यवहितार्थत्वाद्वा । यथाऽग्निरनुष्णः पदार्थत्वादित्यादौ । तथा प्रत्यक्त्वमात्रविषयेण द्रष्टुः स्वरूपमात्रगोचरेणागमेन तत्त्वमस्यादिरूपेणाक्षजादिविषयावगमस्य कर्त्ता भोक्ता धनी गोमान् ब्राह्मणः इत्याद्यात्मकस्य परोपाधिद्वारकतया व्यवहितार्थस्य बाधो युक्त इति योजना ॥ १२३ ॥

अथ व्यवहिताव्यवहितार्थविषययोर्विरोधे व्यवहितार्थकं ज्ञानमितरेण बाध्यमिति न्यायेन वेदान्तप्राबल्यमुक्त्वा, उपजीव्योपजीवकयोर्विरोधे उपजीव्येनोपजीवकबाध इति न्यायेनापि वेदान्तप्राबल्यमाह—

किं चाम्नायवचः प्रमेयबलतः सर्वं प्रमाणान्तरं
स्वार्थं साधयतीति तत्सकलमेवायत्तमस्मिन्भवेत् ॥
यद् यत्रायतते विरोधसमये तेनास्य तद्बाधने
सामर्थ्यं न च विद्यते श्रुतिवचोबाधो यथा हि स्मृतः १२

किञ्चाम्नायेति ॥ आम्नायवचः प्रमेयं प्रमात्रादिसाक्षी कूटस्थानुभवस्तद्बलतस्तदाश्रित्य सर्वं प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादिकं विधिनिषेधार्थकं च स्वार्थं साधयति, प्रमाणप्रमेयभावस्य तन्नियमस्य च नित्यानुभवात्मापेक्षसिद्धिकत्वादिति हेतोरस्मिन् वेदान्तप्रमेये कूटस्थानुभवे तत्सकलमेवेतरत्प्रमाणजातम् आयत्तं भवेत् उक्तानुभवोपजीवकं मानान्तरं भवेदित्यर्थः । यद्यदधीनसिद्धिकं तन्न तस्य बाधकमित्येतत्साधयति । यद्यत्रायतते इति । स्मृतिः धर्मशास्त्रवचनम् ॥ १२४ ॥

अथ तस्माद्वेदान्तवाक्योत्था मतिः विषयेन्द्रियव्यवहारं बाधते इत्युपसंहरति—

ब्रह्माज्ञानसमुद्भवं ग्रहगणं सातिग्रहं ब्रह्मणः
स्वाकारग्रहणेन वेदशिरसो जाता मतिर्बाधते ॥
विद्या वस्तुबलेन जन्म लभते माया तु निर्वस्तुका
सा तामुद्भवमात्रतः क्षपयति ध्वान्तं यथा भास्करः ॥ १२५ ॥

ब्रह्माज्ञानेति ॥ ग्रहाः इन्द्रियाणि "प्राणो वै ग्रहश्चक्षुर्वै ग्रहः" इत्यादिश्रुतेः । अतिग्रहाः विषयाः "स रूपेणातिग्रहेण गृहीतः" इतिश्रुतेः । वेदशिरसो महावाक्याज्जाता मतिः सातिग्रहं ग्रहगणं बाधते । तस्य सत्यत्वात्कथम् उक्तमतिबाध्यत्वम् ? इत्यत आह । ब्रह्माज्ञानसमुद्भवमिति । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" "युक्ता ह्यस्य हरय" इतिश्रुतेः इन्द्रियाणामात्माज्ञानमयत्वावगमाद्युक्तं ज्ञानबाध्यत्वमित्यर्थः । ननु बाधितार्थवचनमेतत्, अवगतवाक्यार्थानामपि केषाञ्चित्तद्बाधादर्शनादिति चेत्, तत्राह । स्वाकारग्रहणेन । स्वोऽसाधारणो यः प्रत्यग्ब्रह्माकारस्तस्य ग्रहणेन प्रत्यगात्मतत्त्वाकारग्रहणसामर्थ्यादित्यर्थः । चित्तदोषाप्रतिबद्धत-

या केवलात्माकाराग्रहणादेव केषाञ्चिदज्ञानतत्कार्यबाधादर्शनं, न तु वाक्यार्थज्ञानस्य तत्राशक्तिः सहायापेक्षा वेति भावः । नन्वज्ञानकार्यबुद्धिपरिणामत्वाद्वाक्यजन्यज्ञानस्याप्यज्ञानात्मकत्वात् कथमज्ञानादिनिवर्तकता? इति चेत्, तत्राह। विद्येति। विद्यायाः मेयाकारतयैवोत्पत्तेः, सा च वस्तुबलेन मेयबलेन जन्म लभते, माया तु अज्ञानात्मिका निर्वस्तुका परमार्थवस्त्वाकाररहिता । तथाच स्वप्रकाशपरमार्थवस्त्वाकाराकारितया तद्रहितजडमात्राज्ञानादिविरोधित्वाद्विद्या ऽविद्यां बाधेतेत्याह । सा तामिति । स्पष्टार्थः ॥ १२५ ॥

अथ विद्यया ऽविद्या निवर्ततां नाम द्वैतलक्षणः संसारः कथं निवर्तनीयः ? इति तत्राह—

रागद्वेषप्रशाखं विषयगुणसमुद्भासिधीवृत्तिशाखं
धर्माधर्मप्रवृत्तिप्रचुरसुखसमुद्वेगभोगप्रवालम् ॥
छिन्द्याः संसारवृक्षं निशितमतिमहाशस्त्रनिक्षेपदक्षः
प्रत्यक्तत्त्वस्थलीगं निबिडतमतमोमूललब्धप्ररोहम् ॥ १२६ ॥

**रागद्वेषप्रशाखमिति** ॥ अत्र वृक्षरूपकालङ्कारेण संसारवर्णनं वृक्ष इव मूलोच्छेदे स्वमूलाविद्याछेदे संसार उच्छिद्यते इति दर्शयति । निशितमतिमहाशस्त्रनिक्षेपदक्षः सन् त्वं संसारवृक्षं छिन्द्याः इत्यन्वयः । मतेर्नैशित्यम् असम्भावनादिप्रतिबन्धराहित्यम् । महत्त्वविशेषणेनोत्पन्नाया विद्यायां प्रयत्नबलाद्यपेक्षाऽभावः सूच्यते । दक्ष इति सावधानता चित्तवैयग्र्यहेतुपरिहारेण स्थिरीभावः सूचितः । विशेषणैः सर्वैरस्य वृक्षत्वं प्रपञ्च्यते। तत्र बीजरूपं मूलमाह । निबिडतमेति । अतिनिबिडं महाजडं यत्तमः आवरणविक्षेपशक्तिमदज्ञानं प्रतीच्यध्यस्तं त-

लक्षणं यन्मूलं तस्माल्लब्धः प्ररोहो अङ्कुरीभावो येन स तथा तम्। कस्मिन् स्थाने ऽस्योक्तबीजात्प्रादुर्भावः? इति तदर्थं विशिनष्टि । प्रत्यक्तत्त्वस्थलगिमिति । ब्रह्मणि स्वबीजेन सहाध्यस्तामित्यर्थः । तत्र यद्यपि वृक्षस्योपादानबीजव्यतिरेकेणापि बाह्यतोयमृदाद्यवयवा उपचयदार्ढ्यहेतवः सन्ति, नैवमिह, किन्त्वविद्यात एवोपचयोऽप्यस्येति दर्शयन् पुनर्विशिनष्टि। रागद्वेषेत्यादिभिर्विशेषणैः । रागादेरविद्याक्षेत्रत्वं पातञ्जलसूत्रेणोपदिष्टम् "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्" इति । रागद्वेषौ प्रकृष्टे शाखे स्थूलविटपौ यस्य, विषयाः शब्दादयस्तेषां गुणाः शोभनाशोभनरूपाः सङ्कल्पमात्रसिद्धास्तदवभासिन्यो या धीवृत्तयस्ताः शाखाः क्षुद्राः यस्य, रागद्वेषाभ्यां शोभनाशोभनाध्यासाभ्यां विषयावभासिन्यो धीवृत्तय उत्पद्यन्ते विटपाभ्यामिव शाखाः इत्यर्थः । अन्तः सूक्ष्मरूपेण बहिर्विस्तृतरूपेण प्रथमानं पल्लवस्थानीयमिह यदस्ति तदाह। धर्माधर्मेति। धर्माधर्माभ्यां केवलवासनारूपाभ्यां प्रवृत्तिः वृद्धिर्यस्य, प्रचुरा असङ्ख्याताः सुखसमुद्वेगभोगाः सुखदुःखानुभवाः प्रवालाः पत्राणि यस्य, धर्माधर्मप्रवृत्तिश्चासौ प्रचुरसुखदुःखभोगप्रवालश्चेति तथा तमिति विग्रहः । तथाच प्रत्यगज्ञानमूलकत्वात्संसारस्य प्रत्यक्तत्त्वज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ मूलोन्मूलनेन च वृक्षः संसारः उद्वर्ततैवेति न ज्ञानादन्यत् अज्ञानतत्कार्यसंसारनिवृत्तावपेक्ष्यते इति भावः ॥ १२६ ॥

अव ननु भवेदेतदेव, यद्यज्ञानविलासो भेदप्रपञ्चलक्षणः संसार इत्यत्र प्रमाणं भवेत् । न तु तद्दृश्यते इत्यत आह—

प्रत्यग्वस्तुन एव तत्र विषये माया तमः कारणं

ध्वान्तं बीजमबोध इत्यपि गिराऽविद्यैव संकीर्त्यते ॥
तस्या एव विलास एष भवता गुर्वादिभेदान्वितः
संक्लृप्तो न तु विद्यते पृथगसौ संध्ये यथा धामनि॥ १२७॥

प्रत्यग्वस्तुन इति ॥ आत्मतत्त्वस्य संबन्धि प्रत्यक्चैतन्याश्रितमिति यावत् । तत्र प्रत्यग्वस्तुनि विषये विषयभूते । प्रत्यगात्माश्रयं प्रत्यगात्मविषयं च यदज्ञानम् अविद्या साऽविद्यैव माया तमः इत्यादिकयाऽपि गिरा जगत्कारणं श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सङ्कीर्त्यते, अतोऽज्ञानहेतुकत्वं द्वैतप्रपञ्चस्य प्रामाणिकमित्यर्थः । तस्मात् तस्याः अविद्यायाः एवैष विलासो विपरिणामो गुर्वादिभेदान्वितो भवता ऽविद्यावता त्वया संक्लृप्तः संकल्पमात्रेणास्तीति प्रतीतिपथमानीतः न त्वसौपरमार्थतः पृथक् प्रत्यगात्मनो भेदेन स्वतन्त्रो विद्यते, यथा सन्ध्ये धामनि स्वप्नस्थाने ऽविद्यामात्रविलसितो गुरुशिष्यादिभेदप्रपञ्चः केवल आत्मन्युपलभ्यमानः ततः पृथक् न विद्यते तद्वदिति योजना । विमतः संसारोऽविद्याविलसितः अविद्यावस्थायामेव विभाव्यमानत्वात्स्वप्नवदित्यर्थः ॥ १२७ ॥

अथ "गुर्वादिभेदान्वितः" इत्युक्तं प्रपञ्चयन् उपपादितमर्थं प्रपञ्चयति—

मुक्तामुक्तौ विद्वदज्ञौ त्वदन्या-
वाकाशादि क्ष्मावसानं च विश्वम् ॥
स्वाविद्योत्थस्वान्तनिष्पन्दनं तद्
विज्ञातव्यं मा ग्रहीरन्यथैतत् ॥ १२८ ॥

मुक्तामुक्ताविति ॥ अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः । समष्टिव्य-

ष्टिशरीरेषु द्विविधेषु तत्कारणे चाव्याकृते साक्षिण एकत्वात् अन्यस्य चात्मनः सत्त्वे प्रमाणाभावात् विद्वदज्ञमुक्तामुक्तत्वादि-विरुद्धधर्मत्वेन येयमात्मभेदकल्पना या चाकाशादिभोग्यवि-श्वकल्पना एतत्सर्वं स्वाविद्याप्रसूतान्तःकरणपरिणतिमात्रं स्वप्नवदिति विज्ञातव्यं विवेकिना, परमार्थमेव तद् यथादृश्य-मानमिति न ग्राह्यम्, अविद्यान्वयव्यतिरेकानुविधायिनः स्वप्ना-दिवदविद्यामात्रशरीरत्वादित्यर्थः ॥ १२८ ॥

अथ ननु बन्धमोक्षादिव्यवहारस्यानादिकालमारभ्य प्र-वृत्तस्यागामिनि चानन्ते काले वर्त्तिष्यमाणस्य श्रुतिस्मृतिन्याय-लोकानुभवसिद्धत्वात् तद्विरुद्धमिदं "त्रिष्वपि कालेषु बन्धमोक्षा-दिभाक् अविद्वदादिरूपः प्रत्यगात्मनोऽन्यो नास्ति" इति वचनमिति चोदयति—

कालोऽतीतोऽनादिरेष्यन्ननन्तो
मुक्तामुक्तौ तत्र पूर्वं तथोर्ध्वम् ॥
तस्मादेतद् दुर्घटं शङ्कसे चेत्
मा शङ्किष्ठाः स्वप्नदृष्टान्तदृष्टेः ॥ १२९ ॥

कालोऽतीत इति ॥ अतीतः कालोऽनादिः एष्यन् भ-विष्यंश्च कालोऽनन्त इति योजना। तत्र तयोः कालयोः मुक्तामु-क्तौ सर्वतः प्रसिद्धाविति शेषः । यस्मादेवं प्रामाणिकोऽयमर्थः तस्मादेतत् उक्तमस्याविद्यात्वं दुर्घटमित्यर्थः। उत्तरमाह। मा शङ्कि-ष्ठाः इति। लोकप्रसिद्धेः भ्रान्तिमात्रत्वाल्लोकप्रवादानुवादित्वाच्च श्रुत्यादेर्न तेनेदं प्रमीयते। तथा चाविद्यामात्रविपरीतवर्तिस्व-प्नवन्मिथ्याभूतस्याप्यस्य व्यवहारास्पदत्वोपपत्तेर्न तद दुर्घटमि-ति भावः ॥ १२९ ॥

अथ स्वप्नौपम्यमेव प्रपञ्चयति—

सुप्तो जन्तुः स्वल्पमात्रेऽपि काले
कोटीः पश्येद् वृत्तसंवत्सराणाम् ॥
पश्येत्कोटीरेवमागामिनां च
जाग्रत्काले योजयेत्सर्वमेतत् ॥ १३० ॥

सुप्तो जन्तुरिति ॥ १३० ॥

अथ "जाग्रत्काले योजयेत्सर्वमेतत्" इत्युक्तं विशदयति—

कालोऽनादिस्तत्र मुक्तः शुकादिः
कालोऽनन्तो मोक्ष्यते तत्र चान्यः ॥
इत्येवं ते बन्धमोक्षव्यवस्था-
संसिद्धिः स्यादापरात्मावबोधात् ॥ १३१ ॥

कालोऽनादिरिति ॥ आप्रबोधात् स्वप्न इवापरमात्मसाक्षात्काराात्ते बन्धमोक्षव्यवस्थासंसिद्धिः स्यात्, आविद्यकत्वेऽपीत्यर्थः ॥ १३१ ॥

अथ तदेवमविद्यायास्तत्कार्यव्यवहारस्य विदुषो निवृत्तत्वात् बन्धमोक्षादिव्यवस्थाऽपि तं प्रति निवर्तते एव, अविदुषस्तु स्वाप्नव्यवहारवत्सा यथाऽनुभवं सिध्यतीत्यविद्यावस्थायामेव सर्वाऽपि व्यवस्था न विद्यावस्थायामिति स्वमते बन्धमोक्षव्यवस्थोपपादिता । तत्रैव पक्षानन्यान् उक्तार्थविमलीकरणायोपन्यस्यति—

अज्ञानं सकलभ्रमोद्भवनकृत् पिण्डेषु सामान्यव-
ज्जीवानां प्रतिबिम्बकल्पवपुषां बिम्बोपमे ब्रह्मणि ॥

विद्वांसं पुरुषं जहाति भजते विद्याविहीनं नरं
नष्टानष्टमिवात्मपिण्डमधुना जातिस्तथैके जगुः॥१३२॥

अज्ञानमिति ॥ सकलभ्रमः साधारणासाधारणरूपः समस्तद्वैतप्रपञ्चः तस्योद्भवनकृत् अज्ञानमेकमेव तच्चानेकजीवाश्रयं ब्रह्मविषयकं च, न चैतावता जीवब्रह्मभेदो वास्तवोऽभ्युपगतो भवति, बिम्बप्रतिबिम्बयोरिवौपाधिकभेदाभ्युपगमादित्यभिप्रेत्याह । जीवानामिति । बिम्बोपमे ब्रह्मणि विषये प्रतिबिम्बकल्पवपुषां जीवानामाश्रयभूतानाम् उक्तलक्षणमज्ञानमिति योजना । कथमनेकेष्वेकमज्ञानं प्रवर्त्तेत ? इत्यत्र दृष्टान्तमाह । पिण्डेषु सामान्यवदिति । प्रति पिण्डं सामान्यमिव प्रतिजीवं कार्त्स्न्येन वर्त्तते इत्यर्थः । कथमस्मिन्पक्षे बन्धमोक्षव्यवस्थोपपत्तिः ? इति तत्राह । विद्वांसमिति । यथा नष्टं स्वपिण्डं परित्यज्यानष्टे एव जातिस्तिष्ठति न नश्यति, तथा मुक्तं विद्वांसं परित्यज्याज्ञानमप्यविद्वांसममुक्तमाश्रित्य तिष्ठति न नश्यतीत्यर्थः । अधुना व्यवहारकाले जातिरिवेत्यन्वयः ॥ १३२ ॥

अथ पक्षान्तरमाह—

अज्ञानानि बहून्यसंख्यवपुषो जीवान् मुमुक्षूनपि
ज्ञानाज्ञानसमाश्रयाननुयुगं तेषां च निःश्रेयसम् ॥
मायामीश्वरसंश्रयामनुगमात् संसारसंवर्त्तिनीं
केचित् दैवविघातनिघ्नमनसः स्वीचक्रुरल्पश्रुताः॥१३३॥

अज्ञानानीति ॥ केचित् अज्ञानानि बहूनि स्वीचक्रुरित्यन्वयः । अस्मिन्पक्षे ज्ञानेनाज्ञानस्य निवृत्तिप्रसिद्धिर्न बाध्यते, अज्ञानबहुत्वाच्च मुक्तामुक्तव्यवस्था सुस्थेत्यर्थः । असङ्ख्यव-

पुषो जीवानिति । स्वरूपत एव भिन्नान् जीवान्, स्वीचक्रुरिति प्रत्येकं सम्बध्यते । मुमुक्षूनपि ज्ञानाज्ञानसमाश्रयान् कांश्चित् ज्ञानसमाश्रयान् कांश्चिदज्ञानसमाश्रयांश्च स्वीचक्रुः, तेषां च मुमुक्षूणां प्रतियुगं युगे युगे एकैकस्य निःश्रेयसं च स्वीचक्रुः, मायां चान्यां जीवाज्ञानेभ्यः ईश्वरसंश्रयामेकां स्वीचक्रुः, किंलक्षणाम्? अनुगमात् संसारसंवर्त्तिनी जीवाज्ञानेष्वनुप्रवेशात्तत्क्षोभकतया च संसारप्रवर्तिकां तत्त्वज्ञानानाश्यां नित्यामित्यर्थः । अस्मिन्पक्षे ऽद्वैतवादपरित्यागापत्तेर्मायाऽविद्यातद्भेदस्वीकारोऽनर्थक इति पक्षोपन्यासावसर एव । तान् कुत्सयति । दैवेति । भाग्यक्षयेण निघ्नमवशीकृतं मनो येषां ते तथोक्ताः । विघ्नमनस इति पाठे प्रतिबद्धाविवेकबुद्धयः इत्यर्थः । एवं पक्षस्वीकारे हेतुगर्भविशेषणम् अल्पश्रुताः इति ॥ १३३ ॥

अथ पक्षान्तरमाह—

आकाशे विहगोऽस्ति नास्ति च यथा तद्वत् परब्रह्मणि
स्वच्छे चिद्वपुषि स्वभावविमलेऽसङ्गे शिवे शाश्वते ॥
निर्भेदेऽनुदयव्ययेऽनवयवेऽविद्या भवेन्नो भवे-
दित्येवं निरवद्यमाहुरपरे पक्षव्यवस्थार्थिनः ॥ १३४ ॥

आकाशेति ॥ यथा ऽऽकाशे एकस्मिन्नेव विहगसद्भावाभावौ तद्वत् परब्रह्मण्येकस्मिन्नेवाविद्या भवेदित्येवं निरवद्यम् अविद्याया दुर्घटत्वस्यालङ्कारत्वादेकत्र भावाभावविरोधदोषहीनम् अद्वैतपक्षपरित्यागप्रसङ्गदोषहीनं चैतन्मतं मुक्तामुक्तपक्षव्यवस्थार्थिनः आहुरिति योजना । ब्रह्मविशेषणानामेषोऽर्थः। स्वच्छे निर्मले। आदर्श इवान्यकृतं नैर्मल्यं न भवतीत्याह । स्वभावविमले इति। तत्र हेतुश्चिद्वपुषीति । स्वभावविमले ऽप्यागन्तु-

कमलयोगशङ्कां वारयति। असङ्गे इति। तत्साधयति। शिवे इति। निर्गुणे इत्यर्थः। तत्र हेतुः। शाश्वते इति। अनित्यं हि सगुणं सत्साङ्गि भवति नेदं ब्रह्म तथेत्यर्थः। शाश्वतत्वं साधयति। अनुदयव्यये इति। सर्वस्योदयव्ययसाक्षित्वादधिष्ठानत्वाच्च स्वतः उदयनाशशून्यमित्यर्थः। तथाऽप्यविद्याभावाभावयोरेकत्र विरोधात्तदाश्रयत्वाय कथंचिद्भेदो ऽभ्युपेय इति चेत्, नेत्याह। निर्भेद इति। स्वभावतो निर्भेदत्वं साधयति। अनवयवे इति। भेदाभावे ऽप्याकाश इव भावाभावाश्रयत्वं न विरुध्यते इति भावः॥ १३४॥

अथ एकत्रैकस्यैव भावाभावौ निर्द्वारं विरुद्धाविति मन्यमानानां मतमाह—

शुद्धे वस्तुनि यद्यपि प्रविशति ध्वान्तं मनः कारणं<br>
स्वीकृत्यैव तथाऽप्युपाधिमपरं ब्रह्मस्वरूपे विशेत्॥<br>
तच्चान्त.करणं सुसूक्ष्मवपुषा तिष्ठद् बहिः सर्वदा<br>
चैतन्ये तमसो नियामकमिति स्वीचक्रुरन्ये पुनः॥१३५॥

शुद्धे वस्तुनीति॥ यद्यपि ध्वान्तमज्ञानं शुद्धे वस्तुनि प्रविशति तथाऽप्युपाधिम् अपरं मनोरूपं कारणं द्वारं स्वीकृत्यैव ब्रह्मस्वरूपे विशेत् न निर्द्वारमित्यक्षरार्थः। अज्ञानं हि विक्षेपस्वभावत्वाद्ब्रह्मणि प्रविशदेवानेकानि मनांसि सृजति, तानि चोपाधिमात्रेण स्थितानि द्वारीकृत्य ब्रह्माश्रितं जायते इत्युक्तं भवति। एवं सति व्यवस्थाऽपि सुस्थेत्याह। तच्चेति। मनसो नाज्ञानाश्रयकोटिनिविष्टतया तमोनियामकत्वं किन्तु ततो बहिस्तादस्थ्येन तिष्ठत् पशुत्वामिव हतिहरिशब्दार्थनियमवदज्ञानं ब्रह्मणि नियमयतीत्यर्थः। सुसूक्ष्मवपुषा सर्वदा ति-

ष्टदिति मनसो विनश्वरत्वमाह । तथाच ब्रह्मण्यज्ञानस्य मनोद्वारेणैव निवृत्त्यनिवृत्ती अपीत्यविरोधात्सुस्था व्यवस्थेति भावः ॥ १३५ ॥

अथ यदि मनः सृष्ट्वा ऽज्ञानस्य तद्द्वारा चैतन्ये प्रवेशः तदा स्यादितरेतराश्रयता, यतो ऽस्वतन्त्रस्याज्ञानस्य चैतन्यसम्बन्धं विना मनःसर्जनासम्भव इति । मनसश्च सूक्ष्मरूपेण सदा सत्त्वं तस्यानादित्वात्कार्यत्वासम्भवः इति दोषं मन्वानानां पक्षमाह—

अज्ञानि ब्रह्म बुद्धीरनुसरति ततः स्थावरं जङ्गमं च
स्वाज्ञानादेव भूत्वा क्वचिदवगतितो मुक्तमन्यत्र बद्धम्॥
तच्चाज्ञानं विनष्टं स्थितमथ च तदेवांशभेदोपपत्ते-
रेव सर्वव्यवस्था परमपुरुषगा जाघटीतीति केचित्॥ १३६॥

अज्ञानि ब्रह्मेति ॥ अज्ञानमस्मिन्ननादितया सहजशक्तिरूपमस्तीत्यज्ञानि ब्रह्म चिन्मात्रमिति यावत् । तद् बुद्धीरनुसरति । एतदुक्तं भवति । चिन्मात्रगतमेव सदज्ञानं बुद्धीर्मनांसि सृजति, सृष्ट्वा च तत्र तत्रानुगतं वर्त्तते, ब्रह्म चाज्ञानसम्बद्धं सत् ताः बुद्धीरनुसरति तासु प्रतिबिम्बभावमापद्यते इति । तत एवं परस्परान्वयात्स्वाज्ञानसृष्टं स्थावरं जङ्गमं च सर्वं भूतभौतिकलक्षणं स्वाज्ञानादेव भूत्वा स्वाज्ञानकृतबुद्धिगताभासद्वारेण तत्तद्भावमिवापद्य क्वचिदुपाधाववगतितः तत्त्वज्ञानोदयात्तदेव ब्रह्म मुक्तं भवति, अन्यत्र अवगत्युदयरहिते बद्धं यथापूर्वं संसरदेव भवति, तच्चाज्ञानं तस्मिन्नेव मुक्ते ब्रह्मणि विनष्टं स्वकार्येण समस्तद्वैतेन सह बाधितं सर्वात्मना भवति । अथ च तदेवाज्ञानं स्थितं तस्मिन्नेव ब्रह्मणि स्वकार्यं संसारमा-

पादयद्वर्तते । कुत एवं स्यात् ? इत्यत आह । अंशभेदोपपत्तेरिति । अयमर्थः । यस्यां बुद्धौ विद्योत्पत्तिस्तदुपादानांश एवाज्ञानस्यैकोंशः तद्द्वारा बुद्धिनाशात् सर्वात्मना सह कार्येण अज्ञानं नश्यति, उपाध्यन्तरोपादानांशद्वारेण तु तिष्ठतीत्येवमंशभेदो विवक्षितः, न पुनरज्ञाने एकदेशस्यैव नाशों ऽशान्तरस्यावस्थानम् इत्यंशभेदविवक्षा, तच्चाज्ञानं विनष्टं स्थितमथ च तदेवेत्येकत्वावधारणविरोधादिति । एवं सति सर्वव्यवस्थेत्युक्तार्थम् ॥ १३६ ॥

अव. मतान्तरमाह—

बाह्याध्यात्मिकवस्तुजातजननी माया हरेर्बन्धनी
शक्तिर्दाशकजालवत् प्रसरणं प्राप्नोत्यविद्यावतः ॥
जीवान् सङ्कुचतीच्छया भगवतः सत्याऽस्तु मिथ्याऽथ वा
सङ्कोचश्च विलक्षणश्च भवतः स्वाभाविकावित्यपि॥१३७॥

बाह्याध्यात्मिकेति ॥ अज्ञानानि बहूनीति पूर्वोक्ते द्वितीयपक्षे साधारणप्रपञ्चः ईश्वरमायाकृतः असाधारणस्तु जीवाविद्याकृत इति मतम् । अत्र हरेः परमात्मनः मायाशक्तिर्बाह्याध्यात्मिकवस्तुजातजननी साधारणासाधारणसर्वप्रपञ्चकारणमिति शेषः । जीवाज्ञानानि तु तेषां भगवत्तत्त्वावरकाण्येव केवलं, न विक्षेपकाणीत्यर्थादुक्तं द्रष्टव्यम् । सा च मायाशक्तिरविद्यावतो जीवान्प्रति भगवदिच्छया दाशकानां कैवर्त्तानां जालवत्प्रसरणं विकासं प्राप्नोतीति तेषां बन्धनी बन्धकरी भवति। भगवदिच्छया जगद्रूपपरिणामं प्राप्ता सती जीवानविदुषो बध्नातीत्यर्थः। भगवत एवेच्छया ऽर्थाद्विदुषो जीवान्प्रति संकुचतीति, तान्प्रति प्रपञ्चमकुर्वती निवर्तते इत्यर्थः । सा च माया सत्या

वा मिथ्या वा ऽस्तु नास्माकं तत्राभिनिवेशो ऽस्ति, परं तूक्तव्यवस्थया तस्याः सङ्कोचश्च विलक्षणश्च विकासश्च भवतः । तौ च सङ्कोचविकासौ स्वाभाविकौ केवलमीश्वरेच्छानिबन्धनौ । न विद्यानिबन्धनः सङ्कोचो नाप्यविद्यानिबन्धनो विकास इत्यर्थः ॥ १३७ ॥

अथ मतान्तरमाह—

संस्कारभ्रमसन्ततिं प्रतिनरं भिन्नां परब्रह्मणि
स्वीचक्रुर्विषये प्रवाहवपुषाऽनादिं तमः के चन ॥
तामुच्छिद्य समुच्चयेन घटते मोक्षाय कश्चिन्नरः
कश्चित्तद्विरहेण संसरति ना जीवाश्रया सेति च ॥ १३८ ॥

संस्कारभ्रमेति ॥ भ्रमो विक्षेपः । संस्कारस्तज्जन्यः तज्जनकश्च । संस्कारभ्रमयोः सन्ततिः प्रवाहः एषैवाविद्या नान्या तदुपादानभूता दण्डायमाना ऽविद्याऽस्तीत्येतदस्य मतम् । तां प्रतिनरं प्रतिजीवं भिन्नां प्रवाहवपुषा ऽनादिं परब्रह्मणि विषये तमः अज्ञानं स्वीचक्रुः केचन मण्डनमिश्रमतानुसारिणः इत्यर्थः । यद्वा परब्रह्मणि विषये यत्तमः प्रसिद्धं जीवानां तां संस्कारभ्रमसन्ततिं केचन स्वीचक्रुरिति योजना। तत्र कश्चिन्नरः समुच्चयानुष्ठानेन साधनेन तामविद्यामुक्तरूपामुच्छिद्य मोक्षाय घटते । कश्चिन्ना जीवः तद्विरहेणोक्तसाधननिष्ठाऽभावात् संसरति, सा चाविद्या जीवाश्रयेति च तन्मतमित्यर्थः ॥ १३८ ॥

अथ एवमुद्भाविताः सप्त पक्षाः, तेष्वाद्यपक्षद्वये जीवानां ब्रह्मविषयमज्ञानमिति यन्मतं तत्तावदसङ्गतमित्याह—

अज्ञस्तावत् प्रत्यगात्माऽहमज्ञ-

इत्येवं नः सिध्यति स्वप्रकाशात् ॥
अज्ञातं तु ब्रह्म सिध्येत् कुतो वः
सम्यग् ज्ञानाद् भ्रान्तितः स्वप्रकाशात् ॥१३९॥

अज्ञस्त्वाद्यादिति ॥ स्वप्रकाशात् स्वयंप्रकाशज्ञानरूपत्वात्प्रत्यगात्मा "अहमज्ञः" इति तावत्सिद्ध्यति नोऽस्माकं, नात्र विप्रतिवाद इति शेषः। स्वयं भासमानः प्रत्यगात्मा स्वाश्रितामविद्यां स्वचैतन्याभासखचितां कुर्वन् "अहमज्ञः" इति स्वस्याज्ञत्वमनुभवतीत्यर्थः। अज्ञातं तु ब्रह्म स्वरूपेणाज्ञातत्वेन च वो युष्माकं कुतः सिद्ध्येदिति वक्तव्यम्। कुतःशब्दसूचितं विकल्पं स्फुटयति। सम्यग्ज्ञानादिति। किं सम्यग्ज्ञानाद्भ्रान्तितो वा स्वप्रकाशाद्वेति वाच्यमित्यर्थः ॥ १३९ ॥

अथ तत्राद्ये कल्पे दोषद्वयमाह—

सम्यग्ज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
जाड्यं तस्य स्याद् घटादेर्यथैव ॥
सम्यग्ज्ञानाद् ब्रह्मणोऽज्ञानसिद्धौ
तस्यापि स्यात् सत्यता तद्वदेव ॥ १४० ॥

सम्यग्ज्ञानादिति ॥ वेदनगोचरस्य जडत्वनियमादित्यर्थः। ब्रह्मणो ऽज्ञानसिद्धौ अज्ञातत्वसिद्धौ तस्याज्ञानस्यापि प्रमाणसिद्धत्वात्सत्यता स्यात् तद्वत् ब्रह्मवदेवेत्यर्थः ॥ १४० ॥

अथ द्वितीयं दूषयति—

भ्रान्तिज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
तस्यापि स्यात् कल्पितत्वं तमोवत् ॥

अज्ञातं चेद् ब्रह्म नः स्वप्रकाशं
मा भाषिष्ठा नानुभूतिस्तथा नः ॥ १४१ ॥

भ्रान्तिज्ञानादिति ॥ तृतीयं प्रत्याह । अज्ञातं चेदिति । यद्येवं तदा तथाऽनुभूयेत तदभावादज्ञातं ब्रह्म स्वप्रकाशमिति मा भाषिष्ठाः मा मृषा वादीरित्यर्थः ॥ १४१ ॥

अथ द्वितीयपक्षे यत् "मायामीश्वरसंश्रयाम्" इति ब्रह्मणो मायावित्वमुक्तं, जीवानां तत्सिद्धिरप्युक्तन्यायेन निरसनीये-त्यत्रापि पूर्वविकल्पान्सञ्चारयति—

अज्ञातत्वे यानवोचाम दोषान्
मायावित्वे ब्रह्मणस्तानवेहि ॥
मिथ्याज्ञानात् स्वप्रकाशात् प्रमाणात्
सासिद्धिः स्यात्तस्य तत् कथ्यतां नः ॥ १४२ ॥

अज्ञातत्वे इति ॥ तस्य ब्रह्मणः । तत् मायावित्वमित्यर्थः ॥ १४२ ॥

अथ विकल्पक्रमेण दूषयति—

मिथ्याज्ञानाद् ब्रह्मणः सिद्धिपक्षे
मायेव स्यात् कल्पितं तच्च तद्वत् ॥
मानादिष्टं ब्रह्म मायावि चेद् वा
मायायाः स्यात् सत्यता जाड्यमस्य ॥ १४३ ॥

मिथ्याज्ञानादिति ॥ अस्य ब्रह्मणः ॥ १४३ ॥

अथ तृतीयं कल्पं प्रत्याह—

तत मायावि ब्रह्म चेत् स्वप्रकाशं

मायाऽपि स्याद् ब्रह्मवत् स्वप्रकाशा ॥
मायां पश्येद् ब्रह्म चेत् स्वप्रकाश
तत्रापि स्यात् स्वानुभूत्या विरोधः ॥ १४४ ॥

तन्मायावीति ॥ विशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वे विशेषणस्यापि तत्प्रसङ्गादित्यर्थः । मायाया अपि स्वप्रकाशत्वे चिद्रूपत्वात्सत्यत्वाच्च मायात्वव्याकोप इति द्रष्टव्यम् । ब्रह्मण एव स्वप्रकाशत्वं मायायास्तु तद्वेद्यतेति स्वीकारान्नोक्तदोषः इति चेत् , तत्राह । मायां पश्येदिति । अनुभवविरोधान्नेयं कल्पना प्रामाणिकीत्यर्थः ॥ १४४॥

अथ अनुभवविरोधमेव स्पष्टयति—

आत्मा मूढः स्वप्रकाशो यथाऽयं
नैवं मायि ब्रह्म नः स्वप्रकाशम् ॥
अज्ञादन्यद् ब्रह्म चेत् स्वप्रकाशं
द्वे विस्पष्टे स्वप्रकाशे स्फुरेताम् ॥ १४५ ॥

आत्मा मूढ इति ॥ ननु कथं न ब्रह्म स्वप्रकाशं स्वप्रकाशात्मावीविक्ततयाऽस्यापि स्वप्रकाशत्वेन स्फुरणोपपत्तेरिति चेत् , तत्राह । अज्ञादन्यदिति । स्वप्रकाशं ब्रह्म अज्ञात् अन्यत् अनन्यद्वा ? तत्राद्ये दोषमाह । द्वे इति । तथाऽज्ञादन्यत्वे स्वप्रकाशत्वे भेदस्य स्फुटत्वान्नाविवेककल्पनाऽवकाश इति भावः । द्वितीये स्वात्मन एवाज्ञातत्वं मायावित्वं चोक्तं स्यात् । तत्र च ब्रह्मान्यन्मायावीति पक्षक्षतिरिति द्रष्टव्यम् ॥ १४५ ॥

अथ यद्यपि जीवाः ब्रह्म तन्मायावित्वं च न जानीयुः, तथापि ब्रह्म जीवानज्ञांस्तद्भेदं च जानीयादिति ब्रह्मणो विविक्तजीवासिद्धौ जीवविविक्तब्रह्मसिद्धिरपि भविष्यतीत्याशा-

ऽपि न कार्या, तत्राप्युक्तविकल्पदूषणप्रसारादित्याह—

ज्ञायन्ते चेद् ब्रह्मणा जीवभेदा
जाड्यं तेषां कुड्यवन्निर्विवादम् ॥
न ज्ञायन्ते ब्रह्मणा चेत्तदानीं
सर्वज्ञत्वव्याहतिर्दुर्निवारा ॥ १४६ ॥

ज्ञायन्ते चेदिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ १४६ ॥

अथ ब्रह्मणो जीवाः स्वयंप्रकाशतया सिध्यन्ति अतो नोक्तदोषः इति चेत्, तत्राह—

जीवा एते स्वप्रकाशस्वभावा
निर्भासन्ते ब्रह्मणश्चेद् विभक्ताः ॥
तेषां भेदः स्वप्रकाशो न वा स्याद्
दोषं ब्रूमो दुर्निवारं द्विधाऽपि ॥ १४७ ॥

जीवा एते इति ॥ ब्रह्मणो विभक्ताः सन्तो निर्भासन्ते चेदित्यन्वयः । तर्हि विभागस्तेषां स्वप्रकाशो न वेति वक्तव्यमिति विकल्पयति। तेषां भेद इति। दूषयति। दोषं ब्रूम इति ॥१४७॥

अथ दुर्निवारं दोषमेवाह—

तेषां भेदः स्वप्रकाशो यदीष्टः
सत्यत्वं स्यात्तस्य तेषां तथैव
वेद्योऽभीष्टस्तद्विभागो यदि स्यात्
तानज्ञात्वा तद्विभागो न वेद्यः ॥ १४८ ॥

तेषामिति ॥ तस्य भेदस्य चिदात्मवत्सत्यत्वं स्यात् तेषां

जीवानामपि तथैव सत्यत्वं स्यात्। यद्यपि जीवाः स्वरूपतः सत्यास्तथापि जीवत्वोपाधिवैशिष्ट्येन न सत्याः। स्वप्रकाशत्वे तु जीवत्वोपाधिरपि सत्यः स्यात्। तथा च ज्ञानेन तन्निवृत्त्यभावादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। जीवभेदस्य च सत्यत्वे ऽद्वैतमतहानिरिति भावः। द्वितीयं कल्पमनूद्य दूषयति। वेद्योऽभीष्ट इति। भेदस्य धर्म्यादिज्ञाननिरूप्यत्वात् तस्य वेद्यत्वे तद्विशेषणीभूतभेदिनामपि जीवानां वेद्यता वक्तव्या। तदा च तेषा जडत्वादिप्रसङ्गो दुर्निवारः इत्यभिप्रेत्याह। तानज्ञात्वेति ॥ १४८ ॥

अथ यथेश्वरस्य जीवतद्भेदज्ञानम् उक्तन्यायासहिष्णुत्वाद्दुर्घटं, तथा जीवानामपि जीवान्तरतद्भेदज्ञानं दुःशकमित्याह—

जीवाः सर्वे त्वां प्रति प्रस्फुरन्तः
सम्यग् ज्ञानात् प्रस्फुरन्ति स्वतो वा ॥
यद्वा मिथ्याज्ञानसामर्थ्यतोऽमी
पक्षः कस्ते रोचते ब्रूहि तन् मे ॥१४९ ॥

जीवाः सर्वे इति ॥ स्वतो वा स्वप्रकाशाद्वेत्यर्थः ॥१४९॥

अथ विकल्पान् क्रमेण दूषयति—

सम्यग् ज्ञानाज्जीवभेदप्रसिद्धा-
वद्वैतत्वं ब्रह्मणो न प्रसिद्ध्येत् ॥
जीवाः सर्वे मां प्रति स्वप्रकाशा
इत्युक्तिस्ते स्वानुभूत्या विरुद्धा ॥ १५० ॥

सम्यग्ज्ञानादिति ॥ अद्वैतत्वं ब्रह्मणः, तवाभीष्टमिति शेषः। द्वितीयेऽनुभवविरोधमाह। जीवा इति ॥ १५० ॥

अव. तृतीयं निराकुर्वन्नाह—

मिथ्याज्ञानाज्जीवभेदप्रसिद्धौ
सम्यग्ज्ञानाद् बाध एवाभ्युपेयः ॥
मिथ्याज्ञानाद्रज्जुसर्पः प्रसिद्धः
सम्यग्ज्ञानात्तस्य बाधोऽपि सिद्धः ॥ १५१ ॥

मिथ्याज्ञानादिति ॥ सम्यग्ज्ञानबाध्यत्वे च तेषां मिथ्यात्वाद् बन्धमोक्षभाक्त्वं न स्यात्, तथा च तद्व्यवस्थास्थापनाय पक्षोद्भावनं न तव निरर्थकमिति भावः । जीवाः सम्यग्ज्ञानबाध्याः मिथ्याज्ञानसिद्धत्वाद्रज्जुसर्पवदिति व्याप्तिमाह । मिथ्याज्ञानादित्युत्तरार्धेन ॥ १५१ ॥

अव एवं पक्षद्वयनिराकरणेन पारिशेष्यात्प्रत्यगात्मैक एव स्वप्रकाशतया सिद्ध्यति, तदास्पदश्चायं प्रत्यगविद्याविलसितो जीवेश्वरजगद्भेदभ्रमः प्रत्यक्चिदाभास्यतया सिद्ध्यतीत्यभ्युपेयम् । अतश्च जीवानामज्ञानित्वं ब्रह्म च तदज्ञानविषयस्तच्च मायावीत्यादिकल्पना न सम्भवतीत्युपपादितम् । इदानीं ब्रह्मण्येवाज्ञानमेकं च तद् ब्रह्मण्येवैकस्मिंस्तस्य स्थितिनाशाभ्या बन्धमोक्षव्यवस्थेति तृतीयः पक्षो यः उत्प्रेक्षितः सोऽपि न युक्तिसहः इत्याह—

एकोपाधावेकवस्तुप्रसिद्धौ
भावाभावौ नेक्षितौ क्वापि लोके ॥
पक्ष्यादीनामस्तिता नास्तिता च
व्योम्न्येकस्मिन्नप्यवच्छिन्नएव ॥ १५२ ॥

एकोपाधाविति ॥ एकस्मिन्नधिकरणे इत्यर्थः । एकव-

स्तुनः प्रतियोगिभूतस्य सम्बन्धितया प्रसिद्धौ भावाभावौ लोके क्वापि नेक्षिताविति योजना। न हि द्वारभेदं विना एकस्मिन्नेकस्यैकदा भावाभावौ क्वचिद् दृष्टावित्यर्थः। तत्राकाशे विहगोऽस्ति नास्तीति तदुक्तं निदर्शनमाशङ्क्य, तत्रापि कल्पितप्रदेशभेदं द्वारं विना नास्ति पक्ष्यादिभावाभावावस्थानमित्याह । पक्ष्यादीनामिति। अवच्छिन्ने एव, केनचिदुपाधिनेति शेषः॥ १५२॥

अव- ननु यदुपाधिव्यवच्छिन्ने नभसि पक्ष्यादेर्भावाभावौ तदुपाध्यवच्छेदस्यापि भावाभावावेकस्मिन्नाकाशे एव भवत इति स एवास्तु दृष्टान्तः इति शङ्कते—

सोऽवच्छेदोऽप्यस्ति नास्त्यम्बरे चेत्
तत्रान्वेष्यः कोऽप्यवच्छिन्नभावः ॥
सोऽवच्छेदोऽप्यस्ति नास्त्यम्बरे चेत्
बाढं तस्मिन्सोऽप्यवच्छिन्नएव ॥ १५३ ॥

सो ऽवच्छेदो ऽपीति ॥ तत्राप्युपाध्यन्तरावच्छिन्ने एव नभसि तौ स्तः न केवले इति परिहरति। तत्रान्वेष्यः इति। अवच्छिन्नभावो ऽवच्छेदकान्तरेणावच्छिन्नत्वं तर्हि तस्यैवोपाधेर्भावाभावावेकस्मिन्नाकाशे स्यातामित्याशङ्क्य, तावपि पूर्ववदवच्छिन्नप्रदेशगतावेव भवेताम् अन्यत्र भावाभावयोर्निरुपाधिकैकस्मिन्ननुपलम्भादित्याह। सोऽवच्छेद इत्युत्तरार्धेन॥ १५३॥

अव तर्ह्यनवस्था दुरवस्थानेति चोदयति—

नन्वेवं स्याद् दुर्निवाराऽनवस्था
बाढं का नो हानिरिष्टैव साऽपि॥
कर्मोद्भूतं नः शरीरं शरीरात्

कर्मोद्भूतिस्तत्र किं नेष्यते सा ॥ १५४ ॥

नन्वेवं स्यादिति ॥ अनादित्वाददृष्टमूलत्वाच्च नेयमनवस्था मूलक्षयकरीति तामभ्यनुजानाति । बाढमिति । तादृश्याः अनवस्थायाः अन्यत्राप्यदोषतया दृष्टत्वाच्च नास्ति दोषतेत्याह । कर्मोद्भूतामिति । कर्म धर्माधर्मलक्षणम् । कर्मशरीरयोः प्रवाहरूपेण कार्यकारणभावे यथाऽनवस्था न दोषाय तथाऽत्राप्यवच्छेदकपरम्परायामनवस्था न दोषायेत्यभिप्रायः ॥ १५४ ॥

अथ किं च ब्रह्मण्यज्ञानस्य स्थितिनाशयोः साधकाभावाच्च न तौ तत्र भवेतामित्याह—

किं चाज्ञानं ब्रह्मणोऽस्यास्ति नास्ती-
त्येतत्कस्मात्त्वं विजानासि हेतोः ॥
मूढोऽस्मीति प्रत्ययादस्ति बुद्धि-
र्मुक्ते दाहान्मोहनास्तित्वबुद्धिः ॥ १५५ ॥

किञ्चाज्ञानमिति ॥ अस्य ब्रह्मणोऽज्ञानमिति सम्बन्धः । प्रश्नं मत्वा उभयमप्यनुभवादेव जानामीत्येकदेशी शङ्कते । मूढोऽस्मीति । पूर्वं मूढोऽस्मीत्यनुभवादज्ञानास्तित्वबुद्धिः, मुक्ते विदुषि मोहस्याज्ञानस्य दाहान्नास्तित्वबुद्धिः, न ह्यनुभवसिद्धेऽर्थे विवाद इत्यर्थः ॥ १५५ ॥

अथ तर्हि मुक्ते विदुषि तदज्ञाननाशे च साधकं किमपि वाच्यं तदसम्भवान्न तत्सिद्धिरिति मत्वाऽऽह—

मुक्तेऽज्ञानं दग्धमित्येतदेवं
कस्माद्धेतोर्वेत्सि तत् कथ्यतां नः ॥
मिथ्याज्ञानात् स्वप्रकाशात्प्रमाणा-

न्मुक्तेऽज्ञान दग्धमित्यस्य सिद्धिः ॥ १५६ ॥

**मुक्तेऽज्ञानमिति**॥प्रमाणादिति सम्यग्ज्ञानादित्यर्थः॥१५६॥

अथ विकल्पोद्देशक्रमं विहायाक्रमेणैव दूषयति—

सम्यक्ज्ञानान्मुक्तिसिद्धिर्यदीष्टा
नूनं मुक्तः कुड्यवत्ते जडः स्यात् ॥
मिथ्याज्ञानान्मुक्तिसिद्धिर्यदीष्टा
स्रक्सर्पादिप्रख्य एवैष मुक्तः ॥ १५७ ॥

**सम्यग्ज्ञानादिति** ॥ यत् प्रमाणज्ञानात्सिद्ध्यति तत् कर्मतयैव सिद्ध्यति, न ह्यविषयभूतं वस्तु प्रमाणेनावगम्यते, तथा च सम्यग्ज्ञानात्प्रमाणतो मुक्तिसिद्धिरिष्टा यदि तदा वेद्यस्य जडत्वानियमात् मुक्तस्यात्मनो जडत्वापत्तिः। अस्मिन्नपि पक्षे बन्धमोक्षभागिता तस्यासम्भाविनीत्यर्थः ॥ १५७ ॥

अथ तर्हि स्वप्रकाशत एव तात्सिद्धिरस्त्विति मध्यमं पक्षमनूद्य, स किं ताटस्थ्येन भासते प्रत्यक्त्वेन वेति विकल्पासहत्वादयमपि पक्षो न युक्त इत्याह—

मुक्तो मह्यं स्वप्रकाशश्चकास्ती-
त्येषा वाणी स्वानुभूत्या विरुद्धा ॥
न ह्यश्रुत्वा शास्त्रमेतत् मनुष्यः
कश्चिज्जानात्येष मुक्तः शुकादिः ॥ १५८ ॥

**मुक्तो मह्यमिति** । मुक्तस्य ताटस्थ्ये तमन्यः स्वप्रकाशतया जानातीत्येतदनुभवविरुद्धमेव तटस्थस्य वेद्यत्वानियमात्, प्रत्यक्त्वं त्वन्यस्यान्य प्रत्यनुभवविरुद्धमेवेति "मुक्तो मह्यं स्व-

प्रकाशश्चकास्ति" इत्येषा वाणी स्वानुभूत्या विरुद्धा। मृषा वागेवेत्यर्थः। ननु "शुको मुक्तः" इत्यादिरूपेण मुक्तसिद्धेः प्रसिद्धित्वाद्गत्यन्तराभावात्स्वप्रकाशतयैव तत्सिद्धिरेष्टव्येति चेत्, मैवम् । तद्विषयकागमप्रमाणमन्तरेण तत्सिद्धेरदर्शनादित्याह । न ह्यश्रुत्वेति। एष मुक्तः शुकादिरिति एतद् वस्तु शास्त्रं श्रुतिस्मृत्यादिलक्षणमश्रुत्वा, उपलक्षणमेतत्, स्थितप्रज्ञलक्षणं तथा मुक्तलिङ्गं चाबुद्ध्वा मनुष्यो देवेभ्योऽन्यः कश्चिन्न हि जानातीति योजना। तस्मादात्मनः परत्वं तस्य विद्वत्त्वं मुक्तत्वं वा स्वाविद्याविलसितमेव यावदज्ञानं भवति, स्वतत्त्वज्ञानोदये तु सर्वमेव निवर्त्तते न किञ्चिदवशिष्यते मूलाभावादित्यभ्युपेयमिति सिद्धम् ॥ १५८ ॥

अथ यः पुनर्मनउपाधिद्वारा ब्रह्मण्यज्ञानसम्बन्धः उपाधीनां च भेदात्तद्द्वारेण ब्रह्मण्येव बन्धमोक्षादिव्यवस्थेति चतुर्थः पक्षः तं दूषयितुमनुभाषते—

ताटस्थ्येनोपाधिमादाय मोह-
श्चैतन्येऽस्मिन् स्वप्रकाशे प्रविष्टः ॥
तेनेह स्याद् बन्धमोक्षव्यवस्थे-
त्युक्तं यत्प्राग्दूषणं तस्य विद्धि ॥ १५९ ॥

ताटस्थ्येनेति ॥ तेनेति । उपाधिनेत्यर्थः ॥ १५९ ॥

अथ दूषणमेवाह—

ताटस्थ्येनोपाधिरङ्गं यदि स्यान्
मोहाविष्टे ब्रह्मणि स्वप्रकाशे ॥
अग्निक्षेपस्योल्मुकं यद्वदेवं

मोहस्य स्यान्न प्रदेशस्थितत्वम् ॥ १६० ॥

**ताटस्थ्येनेति** ॥ स्वप्रकाशे ब्रह्मणि मोहाविष्टे मोहावेशश्च यद्युपाधिस्ताटस्थ्येनैवाश्रयकोटावप्रविष्ट एवाङ्गं हेतुः स्यात् तदा मोहस्य न प्रदेशस्थितत्वं स्यात्, किंतु सम्पूर्ण एव ब्रह्मणि मोहावेशः स्यादिति योजना। तत्र दृष्टान्तमाह। अग्निक्षेपस्येति ॥ १६० ॥

अथ उक्तदृष्टान्तं स्पष्टयन् दार्ष्टान्तिके योजयति—

अग्निः क्षिप्तो ह्युल्मुकेन प्रदेश-
मात्रव्याप्तिं वर्जयित्वा समस्तम् ॥
वेश्म व्याप्नोत्येवमेवेह कृत्स्नं
ब्रह्म व्याप्नोत्याधिनाऽस्तं तमोऽपि ॥ १६१ ॥

**अग्निः क्षिप्तो हीति** ॥ न ह्युल्मुकेन वेश्मनि क्षिप्तोऽग्निर्वेश्मैकदेशे एवावतिष्ठते, किंतु समस्तं वेश्म। यथा दृष्टान्ते एवमेवेह दार्ष्टान्तिके तत् तमोऽपि आधिना उक्तान्तःकरणोपाधिना द्वारेण कृत्स्नं ब्रह्म व्याप्नोति न ब्रह्मैकदेशम् अतो न तन्निमित्ता व्यवस्थासिद्धिरित्यर्थः ॥ १६१ ॥

अथ यस्माद्ब्रह्मण्येवाविद्याप्रवेशो नापि तत्र द्वारापेक्षा, प्रत्यग्रूपमेव च ब्रह्म, तादृशे एव चिद्रूपे परिकल्पितानि जीवत्वान्यनन्तानि, तथेश्वरत्वं, तदुपाधिभूतकार्यकारणप्रपञ्चव्यवहारः तद्गताश्च व्यवस्थाः सर्वाः अपि त्वदविद्याविलसिता एव, तस्य सर्वस्य त्वयि चिद्रूपे ऽध्यासात्त्वच्चिदाभासव्याप्ततया स्फुरणम् इत्यस्मन्मतमेव ग्राह्यमित्युपसंहरति—

तस्माद् ब्रह्माविद्यया जीवभावं

प्राप्याऽसित्वा तात्त्वके तु स्वरूपे ॥
त्वच्चित्तेन स्पन्दितं जीवजात-
माकाशादि क्ष्माऽवसानं च पश्येत् ॥ १६२ ॥

तस्माद्ब्रह्मेति ॥ आसित्वा स्थित्वा । त्वच्चित्तेनेति चित्तशब्देनाविद्योच्यते ॥ १६२ ॥

अथ यस्तु "अज्ञानि ब्रह्म बुद्धीरनुसरति" इति पञ्चमः पक्षस्तत्रापि निर्द्वारं ब्रह्मण्येवाविद्यायाः स्थितिनाशाभ्युपगमे व्यवस्था न सिद्ध्यति, ब्रह्मण्येवैकस्मिन्नखण्डे तत्प्रवेशात् । यदि बुद्धिद्वारभेदादविद्या ब्रह्म प्रविशति बुद्धिभेदाच्च व्यवस्थेत्यभ्युपगमस्तदा बुद्धेरुल्मुकवत्तद्द्वारमात्रत्वे ताटस्थ्यान्न तद्वशाद्व्यवस्थासिद्धिः । न च तटस्थाऽपि बुद्धिर्ब्रह्मण्यविद्याभावाभावयोर्नियामिका पशुत्वमिव द्दतिहरिशब्दप्रवृत्तेरिति वाच्यम् । तत्र द्दतिहरणकर्तृत्वाधिकरणानामनेकत्वादनेकरूपत्वाच्च स्वसमानाधिकरणे एव द्दतिहारिकर्तृत्वे द्दतिहरिपदनियामकत्वोपपत्तेः । अत्र तु ब्रह्मण एकत्वान्निरंशत्वाच्चोपाधिरपि कुत्राविद्याभावाभावौ नियमयेत्, तस्मादयमपि पक्षो ऽत्रासङ्गत एवेति पूर्वोक्तदूषणेनैव दूषित इति । तथा षष्ठसप्तमयोः पक्षयोरपि दूषणं स्फुटमेव । हरेर्मायाशक्तेः प्रत्यगविद्यातिरिक्ताया अवगमहेतुविकल्पदूषणानामिहापि प्रसरात् । ईशमायाऽसिद्धौ च जीवेषु तदीयसङ्कोचविकासासिद्धेः षष्ठपक्षे व्यवस्थायाः नैव सिद्धिः । सप्तमेऽपि पक्षे ऽनाद्यज्ञानानभ्युपगमे भ्रमतत्संस्कारयोरुपादानासम्भवादसिद्धिः स्यात् । न च तयोः परस्परोपादानता बीजाङ्कुरयोरिवेति युक्तम् । गुणत्वाच्चयोरुपादानत्वायोगात्, कार्यस्य नष्टस्य कार्यान्तरं प्रत्युपादानत्वासम्भवाच्च । न चात्मै-

वोपादानमस्तीति वाच्यम् । तथा सत्युपादाननिवृत्ति-मन्तरेण कार्यप्रवाहस्यात्यन्तिकनिवृत्त्यसम्भवात् आत्मनश्च नित्यत्वादनिवृत्तेः संसारमोक्षणाभावप्रसङ्गात् । अविकृतस्य कूटस्थस्योपादानत्वादर्शनादात्मनो भ्रमसंस्कारोपादानत्वे विकारित्वापत्तावनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः इत्यादिदूषणगणो ऽतिस्फुट एवेति नैतेषु पक्षेषु पृथक् दूषणमाचार्येणाभिहितमिति। यद्येवं सर्वस्यापि जीवाजीवभेदप्रपञ्चस्यैकाचिन्मात्रविषयाश्रयैकाविद्याकल्पितत्वमिति मतं, तदा आचार्याद्यभावान्न विद्याप्राप्तिः, न च विनैवाचार्यादिना विद्या सिद्ध्यति "आचार्यवान्पुरुषो वेद" "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैराचार्यादिपूर्वकत्वावगमाद्विद्याप्राप्तेरिति चेत्, तत्राह—

स्वीयाविद्याकल्पिताचार्यवेद-
न्यायादिभ्यो जायते तस्य विद्या ॥
विद्याजन्मध्वस्तमोहस्य तस्य
स्वीये रूपेऽवस्थितिः स्वप्रकाशे ॥ १६३ ॥

स्वीयाविद्येति ॥ "स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा" इत्यत्र चिदात्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य चिदाश्रयविषयाविद्याकल्पितत्वं पूर्वमेव प्रसाधितम् । तस्मादाचार्यादीनि ज्ञानसाधानान्यप्यस्य जिज्ञासोः स्वीयाविद्याकल्पितानि । आदिपदाच्चित्तसमाधानं गृह्यते । एतेभ्यस्तस्य जिज्ञासोर्विद्या जायते, एवंविधमेवाचार्यादिकमभिप्रेत्य श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ता इति नात्र काऽप्यनुपपत्तिरित्यर्थः । कल्पितका-

रणेभ्यो जाता विद्याऽपि कल्पितैवेति सा न किञ्चित्करीति च न शङ्का कार्येत्याह। विद्याजन्मेति । विद्योदयनान्तरीयकतयैव मोहध्वस्तिः, प्रकाशस्य स्वविरोध्युपमर्दोदयस्वभावत्वदर्शनात् । अतः स्वरूपसत्यत्वाभावेऽपि विषयावभासात्मनैवोदयात्, विषयस्य च परमार्थत्वात्तद्गतमोहनिवृत्तिमात्रेण कण्ठगतमणिवल्लब्धस्वरूपलाभे कृतकृत्यता पुंसो भवतीति समर्थैव विद्येत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । अत्र कल्पितत्ववचनं न स्वप्नशुक्तिरजतादितुल्यविषयं, तथा सति समर्थार्थक्रियाऽसम्भवात् । न च समर्थत्वेनैव कल्पनाऽपीति वाच्यम् । निरधिष्ठानकल्पनाऽयोगात् । स्वेच्छामात्रकल्पिताच्चाचार्यादेः कार्यादर्शनात् । अतो व्यावहारिकप्रमाणाभिमतेनैव ज्ञानेन सर्वविकल्पाधिष्ठानं ब्रह्मैव ब्रह्मवित्तया कल्पितमाचार्यः, वेदाद्यात्मना च कल्पितं प्रमाणादिरपि, यथाऽज्ञत्वेन परिकल्पित ब्रह्मैव शिष्यः । तस्माद्यथा शिष्यः स्वाविद्याकल्पितमाचार्यं द्वैतं च पश्यति तथाऽऽचार्योऽपि ब्रह्मविद्याबाधितयाऽपि प्रारब्धकर्मशेषवशादनुवर्तमानया स्वाविद्यया शिष्यमन्यच्च पश्यति, दृष्ट्वा च तस्य बन्धोच्छेदाय तत्त्वमुपदिशतीति न मुक्तस्य भेददर्शनाभावेनोपदेष्टृत्वाभावशङ्काऽपि । तस्माद्ब्रह्मैव चिदात्मकं स्वाविद्याकल्पितानेकद्वैतमपश्चं तत्तच्छरीराद्युपाधिवशादापन्नगुरुशिष्यादिभावं स्वत एव विद्यामुत्पाद्य स्वाविद्यां तया प्रबाध्य निवृत्ताशेषद्वैतबन्धं स्वरूपावस्थितं भवतीति । तथा चोक्तं प्राक् "सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभागिति ॥ १६३ ॥

अथ तदेवमेकाविद्याविलसितमेव समस्तं द्वैतम्, अविद्या च ब्रह्माश्रयाविषयेति प्रतिष्ठापितम् । तत्राचार्यग्रन्थेषु क्वचिज्जीवस्यानन्यमभिमतमिति प्रतिभाति "कस्याविद्या ? यस्त्वं पृच्छसि तस्य

ते इति वदामः" इत्यादिभाष्यवाक्यदर्शनात् । अतस्तस्य गतिर्वाच्येति चेत्, तत्राह—

अज्ञानि ब्रह्म जीवो भवति भवति च स्पष्टमज्ञानमस्य
प्रागस्पष्टं सदन्तःकरणनिपतितज्योतिराभासयोगात् ॥
चैतन्यैकप्रतिष्ठ स्फुरति न हि तमस्तादृश यादृशं तद् बुद्धि-
स्थाभासनिष्ठं स्फुरति तदुचितं जीवमौढ्याभिधानम् ॥ १६४ ॥

अज्ञानि ब्रह्मेति ॥ ब्रह्म चिन्मात्रम् अज्ञानि अनाद्यज्ञानसम्बन्धि जीवो भवति संसारी जायते । एतदुक्तं भवति । अज्ञानं ह्यावरणविक्षेपरूपाकारद्वयवत् तत्र ज्ञानापनोद्यत्वमावरणाकारः, सर्वकार्यानुगतजाड्यं विक्षेपाकारः । यदाऽऽवरणात्मना चिदात्मतत्त्वमाच्छाद्यैवावतिष्ठते तदा न चिदात्मनि जीवेश्वरजगद्भेदावभासः यथा सुषुप्तिप्रलययोः । यदा तु विक्षेपात्मना विवर्तते स्वाधिष्ठानमेवान्यथा प्रथयति तदा यथोक्तभेदावभासः । तत्र यदा स्वाज्ञानाच्चिदात्मनोऽज्ञानात्कल्पितान्तःकरणगतचिदाभासद्वारेण तदाविविक्ततया "अहमस्मि" इत्यभिमानो भवति तदा ज्ञानि ब्रह्म चित्स्वरूपं जीवो भवति जीवत्वमनुभवतीति । तथा च चिन्मात्रगतमेवाज्ञानमन्तःकरणोत्पत्तेः प्राक् सुषुप्त्यादावस्पष्टम् अज्ञानत्वेनानभिव्यक्तं सत् अन्तःकरणनिपतितज्योतिराभासयोगादस्य चिदात्मनोऽज्ञानं स्पष्टं च भवति, चिन्मात्रगतत्वेन नाज्ञानं स्पष्टं भवति चिदात्मनो निर्विकल्पकत्वात्, अन्तःकरणगताभासद्वारेण लब्धविशेषस्य तु स्पष्टं भवति, "अहं न जाने" इत्येवंरूपेण हि स्फुटमज्ञानं भासते न चिदज्ञमिति । तदेतदाह । चैतन्यैकेति । तत्तस्माद्भाष्यकारस्य जीवमौढ्याभिधानमुचितम्. "अहं न जानामि" इति विशेषस्फुरणा-

भिप्रायं भाष्यवचनमित्यर्थः ॥ १६४ ॥

अथ यदि चिन्मात्रस्य निर्विकल्पकत्वात्तदाश्रयं सदज्ञानमस्फुटं स्वकार्येण तद्गताभासेन चोपरागात्सविकल्पकं च भवेत् तर्हि अन्तःकरणादन्यत्राकाशादावपि सविकल्पं भासेतेति चेत्, तत्राह—

अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा जीवाद्बहिः सिध्यति
जीवारूढमहं न जानइति तु ज्ञानापनोद्यात्मना ॥
संसिद्धिं प्रतिपद्यते तदुचितं जीवाज्ञताभाषितं
द्वैरूप्ये सति रूपमेकमनिशं भात्येवमन्यन्न हि॥ १६५॥

अज्ञानं जडेति॥ जीवात् बहिः आकाशादावप्यज्ञानं सिद्ध्यति भासते एवेति यावत्। केनाकारेण ? इत्युच्यते । जडशक्तिमात्रवपुषा सर्वकार्यानुगतजाड्यात्मनेत्यर्थः । जीवारूढं तु "अहं न जाने ऽहमज्ञः" इत्येवं ज्ञानापनोद्यात्मना ज्ञानपर्युदासस्वरूपेण ज्ञानविरोध्याकारेण संसिद्धिं प्रतिपद्यते स्फुरणगोचरतामुपैति । तथा च जीवे तद्बहिश्चाज्ञानं यद्यस्ति तथापि यथोक्तद्वैरूप्ये सति एकं ज्ञानापनोद्याकाररूपं भाति यथा स्पष्टम् एवमन्यद्रूपं जडशक्त्याकारं हि यस्मान्न भाति तस्माज्जीवाज्ञताभाषितमुचितं भाष्यग्रन्थे इति योजना ॥ १६५ ॥

अथ अज्ञानस्योक्ताकारभेदे प्रमाणमाह—

जडशक्तिमात्रवपुषा गगन-
श्वसनादिकार्यजननी भवति ॥
पुरुषोत्तमस्य वशवर्तितया
प्रकृतिः परस्य जगदेकगुरोः ॥ १६६ ॥

जडशक्तिमात्रवपुषेति ॥ प्रकृतिर्जगदुपादानमज्ञानं

जडशक्तिमात्रवपुषा विक्षेपशक्तिप्रधानाकारेण गगनश्वसनादिकार्यजननी भवतीति योजना । जडरूपकार्यदर्शनात्तत्कारणं जडप्रधानमवसीयते, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्येत्यर्थः । न चैतावता प्रधानवादाश्रयणप्रसक्तिरित्याह । पुरुषोत्तमस्य वशवर्त्तितयेति । सत्तास्फुरणार्थक्रियासु चिदात्मपराधीनत्वेन कार्यकरी न स्वातन्त्र्येणेत्यङ्गीकारान्न प्रधानवादप्रसक्तिरित्यर्थः । तथा च श्रुतिः "यस्तमसि तिष्ठन् यस्तमोऽन्तरो यमयति" इति । परस्येत्यादि पुरुषोत्तमविशेषणद्वयं पुरुषोत्तमत्वसाधकं, क्षराक्षराभ्यां परस्येत्यर्थः । "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः"इतिस्मृतेः, "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" इतिस्मृतेश्च अर्थं स्मृत्वा सर्वजीवान्तर्यामित्वेन पुरुषोत्तमत्वं जगदेकगुरोरित्यनेनोक्तम् ॥ १६६ ॥

अथ अज्ञानस्य जडात्मतामुपपाद्य ज्ञानापनोद्यात्मत्वमुपपादयति—

इयमेव सर्वजननी प्रकृति-
र्वशिनी शरीरिणमिमं पुरुषम् ॥
अधिरुह्य जीवमहमज्ञ इति
स्फुरणैकगोचरवपुः स्फुरति ॥ १६७ ॥

इयमेवेति ॥ इयमेव प्रकृतिर्जीवमिमं पुरुषमधिरुह्येति सम्बन्धः। कार्यभूतान्तःकरणगताभासाविवेकद्वारा कार्यात्मभावमागतं चैतन्यं जीवः, स एव पुरि शयनात्पुरुषः तमिमं सन्निहितमपरोक्षं च शरीरिणं शरीरे ऽभिव्यज्यमानत्वाच्छरीराभिमानित्वाद्वा शरीरवन्तं जीवं पुरुषमधिरुह्य कार्यान्तःकरणद्वारेणारुह्य परिच्छिन्नप्रतिभासयोग्यं कृत्वेति यावत् । व-

शिनी स्वकार्यान्तःकरणतद्विकारैस्तं वशीकुर्वती स्फुरणैकगोचरवपुः साक्षिमात्रविषयरूपा सती "अहमज्ञो मूढः" इत्येवं ज्ञानापनोद्यात्मना स्फुरति, जीवे स्वेनावरणरूपेण ज्ञानापनोद्याकारेणाविर्भवति चिदात्मनः स्वविरोधिरूपाभासं स्वतो नित्यं प्राप्तमपि तिरस्कुर्वतीत्यर्थः । अज्ञानस्यावरणात्मकं रूपमनुभवसिद्धमित्युक्तं भवति ॥ १६७ ॥

अथ एकस्यैवाज्ञानस्य चैतन्यमेकमेव प्रति स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये किंकृते इत्यपेक्षायामाह—

चितिशक्तिबाधितवपुः परमं
पुरुषं प्रति स्फुरति सा प्रकृतिः ॥
चितिशक्तिबाधकवपुः पुरुषं
पुरवर्तिनं प्रति पुनः स्फुरति ॥ १६८ ॥

चितिशक्तीति ॥ चितिस्वरूपमेव शक्तिः, चितेः सर्वाधिष्ठानत्वेन कारणत्वाच्छक्तित्वम् उपचर्यते । सा प्रकृतिश्चितिशक्त्या ब्रह्मणः स्वाभाविकेन स्वरूपेण बाधितवपुः अभिभूतस्वरूपा सती परमपुरुषं प्रति स्फुरति । एतदुक्तं भवति । यत् यदधीनसत्तास्फूर्तिकं तेन तत् परमार्थतो ऽभिभूयते यथाऽऽरोपितेन रजतेन शुक्तिस्वरूपं, तथाऽत्राविष्कृतचैतन्याधीनसत्तास्फूर्तिकेनाज्ञानेन न चैतन्यस्वभावो ऽभिभूयते, तस्याभिभवे स्वस्य सत्तास्फुरणयोरसम्भवात्, किन्तु चिदात्मना स्वाभासविक्षेपद्वारा तस्यावरणाकारः स्वस्मिन्नाभिभूयते, एतदस्य चितिशक्तिबाधितत्वं न निवृत्तिः नैसर्गिकत्वेन सहवृत्तेः । अतः "ईश्वरो ऽहमज्ञः" इति न मुह्यतीति । जीवे तु विपरीतमित्याह । चितिशक्ति बाधकवपुरिति । अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः । कार्यस्यान्तःकरणादेः

कारणपरतन्त्रत्वात्कार्यमात्मत्वेनाभिमन्यमानस्य जीवस्य अज्ञान-पारतन्त्र्यं कार्यधर्ममात्मन्यध्यारोपयतोऽज्ञानेनाभिभूतनिज-स्वभावता भवति, यथाऽऽरोपितरजतोपरक्तशुक्तिसत्तायाः शुक्त्यज्ञानेनाभिभूतस्वभावता। तदिदमुक्तं चितिशक्तिबाधकवपुरिति। तथा च कार्यकारणोपाधिद्वयकृते अज्ञानस्यैकस्यैकस्मिंश्चिदात्मनि स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये इत्यभिप्रायः ॥ १६८ ॥

अथ ननु जडशक्त्यात्मकं मायाख्यमीश्वरेऽज्ञानमन्यदेव, अन्यच्चावरणशक्त्याख्यमज्ञानं जीवगतमिति हि वदन्ति। युक्तं चैतत्। विरुद्धरूपयोरेकात्मत्वासम्भवादिति चेत्, मैवम्। ऐक्यानुमानविरोधाद्भेदासिद्धेरित्याह—

> दृश्यत्वजाड्यपरतन्त्रचिदाश्रयत्वै-
> र्मायेश्वरस्य तमआत्मतयाऽनुमेया॥
> स्वप्नप्रपञ्चरजतभ्रमलिङ्गदेह-
> दिक्चन्द्रविभ्रममरीचिजलोपमानैः ॥ १६९ ॥

दृश्यत्वेति ॥ ईश्वरस्य माया दृश्यत्वादिभिर्हेतुभिः स्वप्नप्रपञ्चादिदृष्टान्तैस्तमआत्मतया ऽज्ञानात्मतया ऽज्ञानात्मत्वेनानुमेया, न हि दृश्यं जडं परतन्त्रं चिदाश्रयं च यथोक्ताज्ञानस्वभावमतिवर्तते। न च पक्षे दृश्यत्वाद्यभावोऽपि, चित्स्वरूपातिरिक्ते तत्सम्भवादित्यर्थः। बहुदृष्टान्तोपादानं व्याप्तिदृढीकरणार्थम्॥१६९॥

अथ अनुमानान्तरमाह—

> एकाज्ञानविकल्पितं सकलमेवाकाशपूर्वं जगद्
> बाध्यत्वादिह यद्यदीदृशमदस्तादृग् मतं स्वप्नवत् ॥
> बाध्यं चेदमभीप्सितं भवति वस्तस्मादिदं तादृशं

शुद्धं धूमवदेव साधनमिदं तत्पाञ्चरूप्यान्वयात्॥ १७०॥

एकाज्ञानेति ॥ पूर्वत्र मायापक्षः, इह तु कार्यमाकाशादीतिपक्षभेदादनुमानभेदः । बाध्यत्वम् अधिष्ठानतत्त्वज्ञानापनोद्यत्वम्, एतद् दृश्यत्वादेरप्युपलक्षणम् । आकाशपूर्वं सकलमेव व्यावहारिकप्रमाणोपनीतं जगत् एकाज्ञानविकल्पनम् एकाज्ञानकृतमिति प्रतिज्ञा। एकत्वविशेषणम् अनेकाज्ञानपक्षमादायार्थान्तरत्वशङ्काव्यासेधार्थम् । अज्ञानमिति च जगत्कारणस्य स्वतन्त्रमायात्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थम् । यद्वा एकेति मायाऽविद्याख्यस्वरूपभेदराहित्यं विवक्षितं, न प्रत्यगज्ञानान्येशमायाविकल्पनमित्युक्तं भवति । व्याप्तिमाह । इह यद्यदीदृशमिति । हेत्वसिद्धिं परिहरति । बाध्यं चेदमिति । चेच्छब्दोऽसन्देहे सन्देहवचनो "यदि वेदाः प्रमाणम्" इतिवत् । "परेऽव्यये सर्वे एकीभवन्ति" "अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिश्रुतिभिर्विद्वदनुभवेन च सकारणस्य जगतो बाध्यत्वादित्यभिप्रायः । उपनयनिगमने आह । तस्मादिदं तादृशमिति । एषामनुमानानां सङ्क्षेपेणाभासानुद्धरति । शुद्धमिति । धूमवद् धूमानुमानवदिदं साधनं बाध्यत्वादिरूपं शुद्धं निर्दुष्टं तद्वत् । पाञ्चरूप्यान्वयात् पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपोपेतत्वादित्यर्थः । अनेनान्वयव्यतिरेकित्वमेषामनुमानानां सूचितम्। व्यतिरेकव्याप्तावात्मा दृष्टान्तः ॥१७०॥

अथ ननु "मायां तु प्रकृतिम्" इत्याद्यागमानामज्ञानव्यतिरिक्तजगदुपादानमायाभिधानत्वात्तैर्बाधितविषयाण्यनुमानानीति शङ्कित्वा परिहरति—

अनुमानमागमविरुद्धमिदं
प्रतिवादिनो यदि मतं तदसत् ॥

न तमोऽतिरिच्य जगतो जनक-

प्रतिपादकं वचनमस्ति यतः ॥ १७१ ॥

**अनुमानमिति** ॥ तदसादिति दूषणप्रतिज्ञाया हेतुमाह । न तम इति । "नासदासीन्नो सदासीत्" इत्युपक्रम्य "तम आसीत्" इति तमस एव जगद्बीजत्वं स्पष्टं प्रदर्श्यते, तमश्चाज्ञानमेव श्रुतिषु श्रूयमाणमिति तदेव क्वचिन्मायाक्षरमव्यक्तमसदव्याकृतमित्यादिशब्दैरभिलप्यते, अतस्तमोव्यतिरेकेणार्थान्तरं जगज्जनकमस्तीति प्रतिपादकं वेदवचनं नास्ति तस्मान्मायाश्रुतिर्नानुमानबाधिका, अत एवात्रोपाधिशङ्काऽपि नावतरति इति "तम आसीत्" इत्यादिश्रुतिभिर्विरोधादिति भावः ॥ १७१ ॥

अथ नन्वज्ञानं चेदुपादानं तर्हि तस्य क्षोभकतया सहकारि किञ्चिदभ्युपेयं काचादिस्थानीयं तच्चाभ्युपगम्यमानं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेश्वराश्रयमायाख्यमज्ञानादन्यदेवेति चेत्, न । अज्ञानस्य स्वकार्ये सहकार्यपेक्षाऽभावादित्यभिप्रेत्याह—

विषयकरणदोषान्न भ्रमः संविदि स्या-

दपि तु भवति मोहात् केवलादेवमेव ॥

भगवति परमात्मन्यद्वितीये समस्त-

द्वयमतिरियमस्तु भ्रान्तिरज्ञानहेतुः ॥ १७२ ॥

**विषयकरणदोषादिति** ॥ पूर्वाध्याये पद्यमिदं व्याख्यातम्। सर्वत्राज्ञानक्षोभकं चैतन्यमेव, काचादिरूपेणापि तस्यैव क्षोभकतयाऽवस्थानाङ्गीकारादिति भावः ॥ १७२ ॥

अथ नन्वेकस्यैव चैतन्यस्येश्वरत्वे जीवत्वे चैकमेवा-

ज्ञानमुपाधिश्चेत्स्यात् कथं मुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वादिव्यवस्थेति चेत्, अज्ञानोपाधेरेकत्वेऽपि पूर्वोक्तरूपभेदात्तदुपपत्तिरित्याह—

अज्ञानिनो भवति दुःखमनेन क्लृप्तं
सर्वेश्वरस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि ॥
सर्वज्ञतादिगुणजातममुष्य नास्य
संसारिणः स्फुरति मोहसमन्वितस्य ॥ १७३ ॥

अज्ञानिन इति ॥ अनेनाज्ञानेन क्लृप्तं विवर्तितं दुःखमज्ञानिनो भवति, आवरणप्रधानं ह्यज्ञानं चैतन्यपारतन्त्र्यापादकमिव जीवे भाति, अतस्तस्मिन् दुःखित्वादिभ्रमबीजं भवति, अतो "अहं न जाने" इति अज्ञानित्वमात्मनि पश्यतो जीवस्यैव दुःखित्वं भवतीत्यर्थः । सर्वेश्वरस्य विक्षेपप्रधानाज्ञानोपाधिकस्य न खलु प्रतिभासतोऽपि दुःखं भवति, तस्य ज्ञानप्रतिबन्धकाहङ्करणाद्यभावात्, किन्तु तस्मिन् स्वाभाविकस्वरूपातिरस्कारात्स्वोपरागतो विक्रियामिवासञ्जयतीव जगत्स्रष्टृत्वादिकं धर्मजातमापादयतीवेत्यर्थः । एवमेव सर्वज्ञत्वादिव्यवस्थाऽपीत्याह । सर्वज्ञतादीति । अमुष्य ईश्वरस्य । मोहसमन्वितस्येति जीवस्येश्वराभिन्नस्यापि सर्वज्ञत्वाद्यस्फुरणहेतुः ॥ १७३ ॥

अथ तदेवं चिन्मात्राश्रयविषयमज्ञानं तद्वशादेव च चैतन्यस्य जीवेश्वरभावः तद्गतधर्मव्यवस्था चेत्युक्तं, तत्र जीवस्याज्ञानमिति सिद्धवत्कृत्य जीवन्मुक्तिप्रकरणे व्यवहारोऽस्ति, अन्यत्र च भाष्यकारीय एव तादृशो व्यवहारो दृश्यते सोऽप्युक्तरीत्यैव व्याख्येयः इत्याह—

जीवन्मुक्तिगतो यदाह भगवान् सत्सम्प्रदायप्रभु-

जीवाज्ञानवचस्तदीदृगुचितं पूर्वापरालोचनात् ॥
अन्यत्रापि तथा बहुश्रुतवचः पूर्वापरालोचना-
न्नेतव्यं परिहृत्य मण्डनवचस्तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम्॥१७४॥

जीवन्मुक्तीति॥ भगवान् श्रीकृष्णः। तदुक्तेः प्रत्येतव्यत्वे हेत्वर्थं विशेषणं सत्सम्प्रदायप्रभुरिति। सः जीवन्मुक्तिगतः जीवन्मुक्तिप्रकरणं प्रकृत्य स्थितः " यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति" इति यज्जीवाज्ञानवचः आह तत् ईदृगुचितम् उक्तन्यायेन चिन्मात्राश्रयविषयमप्यज्ञानं जीवकोटावावरकतया स्पष्टीभवतीति। ईश्वरकोटौ चिन्मात्रे च न तथा स्पष्टीभवतीति कृत्वा जीवाज्ञानव्यवहार इति युक्तमित्यर्थः। अन्यत्रापि ग्रन्थान्तरे च बहुश्रुतो भाष्यकारः तस्य वचः पूर्वापरालोचनादित्थमेव नेतव्यं, किन्तु मण्डनवचः परिहृत्य त्यक्त्वा, हि यस्मात् तत् अन्यथा प्रस्थितं प्रस्थानान्तरं तत्, जीवस्यैवाज्ञानमिति मण्डनस्य मतं यत् तथैव तदस्तु नास्माकं तदुपरोध्यमित्यर्थः। यद्वा भगवानिति भगवत्पादः श्रीमच्छङ्कराचार्य उक्तः। सत्सम्प्रदायप्रभुरिति च तद्विशेषणम्। बहुश्रुताः सुरेश्वराचार्यप्रभृतयः। अन्यत्समानम् ॥ १७४ ॥

अथ तथा अन्यदपि भाष्यं जीवाज्ञानाभिधायि यत् तत् अर्थतः उपादाय उक्तप्रकारेण योज्यमित्याह—

जीवस्य कार्यकरणाधिपतेरविद्या-
दोषान्वितस्य तमसाऽऽवृतमूढदृष्टेः ॥
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमित्यपीदं
भाष्याक्षरं कथितनीतिवशेन योज्यम् ॥ १७५ ॥

जीवस्येति ॥ अक्षरब्राह्मणभाष्ये तावदुक्तम् "अविद्याविशिष्टः कार्यकरणोपाधिरात्मा जीव उच्यते, नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते" एतदिह पूर्वार्धेनार्थतोऽनूदितम्। धर्माधर्मप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वं जीवस्य दोषः तेन दोषेणान्वितस्य जीवस्याविद्या न तद्रहितस्येश्वरस्येति योजना। तमसाऽऽवृतमूढदृष्टेरिति तस्याविद्यावत्त्वमनुभवसिद्धमिति दर्शयति। तथा भगवद्गीताभाष्ये ऽपि "त्वं न जानीषे धर्माधर्मप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात्, अहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वादनावरणज्ञानशक्तित्वाद्वेद" इत्यादि यदुक्तं, यच्च प्रागुक्तं, यच्चान्यत्राप्युक्तं भवेत् तत्सर्वमपि कथितनीतिवशेनोक्तन्यायेन योज्यमित्युत्तरार्धेनाह। ज्ञानं निरावरणमिति ॥ १७५ ॥

अव कथितन्यायमेवाविष्करोति ।

स्पष्टं तमःस्फुरणमत्र न तत्र तद्वत्<br>
सर्वेश्वरे तदिति तत्र निषिध्यते तत् ॥<br>
बिम्बे तमोनिपतिते प्रतिबिम्बके वा<br>
देहद्वयावरणवर्जितचित्स्वरूपे ॥ १७६ ॥

**स्पष्टं तम इति** ॥ अत्र जीवे, तत्र सर्वेश्वरे, तमःस्फुरणं तद्वत् जीव इव न स्पष्टमिति कृत्वा तत्र सर्वेश्वरे तत् तमः निषिद्ध्यते न तमःसम्बन्धस्यैवाभावादिति योजना। यदि जीवाश्रितमज्ञानं न भवति ईश्वरे च तत् निषिद्ध्यमानं तदाश्रितं न भवति तर्हि किमाश्रितं तत्? इत्यपेक्षायामाह। बिम्बे इति। तमोनिपतिते कारणमायाप्रतिबिम्बिते ईश्वरे प्रतिबिम्बके कार्योपाधिमायागताभासविशिष्टे जीवे वा न तम इति नकारानुकर्षणेन योजना। अपि तु चित्स्वरूपे। देहद्वयावरणवर्जितेति चित्स्वरूपवि-

शेषणेनोपाधिसम्बन्धं निरस्यति । कार्यकारणोपाधिरहिते तदुपलक्षिते सर्वानुस्यूते चिन्मात्रे तमः आश्रितमित्यर्थः ॥ १७६ ॥

अव एवं च चिन्मात्रमेवाविद्यावशाज्जीवत्वमीश्वरत्वं च भजते इत्यस्मिन्पक्षे जीवस्याज्ञानित्वादिकम् ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वादिकमित्याद्यभिदधद्भाष्यं समञ्जसं न विपर्यये इत्यभिप्रेत्याह—

किञ्चिज्ज्ञताऽस्य तमसाऽऽवृतनित्यदृष्टेः
सर्वज्ञता पुनरमुष्य परस्य पुंसः ॥
अज्ञानतज्जकरणादिविवर्जितत्वा-
दित्येतदेवमुपपन्नतरं हि भाष्यम् ॥ १७७ ॥

किञ्चिज्ज्ञतेति ॥ स्पष्टयोजनं पद्यम् ॥ १७७ ॥

अव ननु चिन्मात्रस्य चेदज्ञानाज्जीवेश्वरभावः तर्हि तस्य उभयत्र समत्वात् कथमीश्वरे सर्वज्ञत्वमज्ञानतत्कार्यविवर्जितत्वं च, जीवे चाज्ञत्वादिव्यवस्था, द्वयोश्चिन्मात्रगताज्ञानायत्तत्वाविशेषादिति चेत्, तत्राह—

अज्ञोऽहमित्यवगतिर्न परस्य पुंसः
सर्वज्ञताऽवगतिरात्मनि नास्य पुंसः ॥
अत्रापि कारणमहङ्कृतिवर्जितत्वं
तद्वत्तया च परमेऽल्पतरे च पुंसि ॥ १७८ ॥

अज्ञो ऽहमिति ॥ पूर्वार्द्धोक्तप्रतिज्ञायामुत्तरार्धेन हेतुमाह । अत्रापीति । अत्र उक्तव्यवस्थायामपि परमे पुंसीश्वरे ऽहङ्कृतिवर्जितत्वम् अहङ्कारात्माभिमानरहितत्वं सर्वज्ञत्वादि प्रथते अज्ञत्वादेरप्रथने च कारणम्, अल्पतरे पुंसि जीवे च पुनस्तद्वत्तयाऽहङ्कारात्माभिमानवत्तयाऽज्ञत्वादिस्फुरणं चेति योजना । तथा च

चिदात्मनो जीवकोटावहङ्काराद्यधिकोपाधिप्रवेशात् ईश्वरकोटौ च तदभावादुक्ता यथोक्तव्यवस्थेति भावः ॥ १७८ ॥

अव नन्वीश्वरस्याज्ञानसम्बन्धश्चेदस्ति तर्ह्यहङ्करणसम्बन्धो ऽपि स्यादितरस्येवेति चेत्, नेत्याह—

बिम्बस्य नापि तमसि प्रतिबिम्बकस्य
सङ्घट्टनं क्व चिदहङ्करणेन शक्यम् ॥
वक्तु प्रभोः सकललोकहितावतार-
स्वेच्छाविनिर्मितवपुर्वरमन्तरेण ॥ १७९ ॥

बिम्बस्येति ॥ बिम्बस्य चिन्मात्रस्य क्वचिद्विषये ऽहङ्करणेन सङ्घट्टनं वक्तुं न शक्यं, तस्य सर्वविकल्पाधिष्ठानतया कूटस्थस्य निर्विकल्पज्ञानरूपत्वात् । नापि तमसि कारणाव्याकृतात्मकेऽज्ञाने प्रतिबिम्बकस्य क्वचिदहङ्करणेन सङ्घट्टनं वक्तुं शक्यं, तस्याज्ञानतत्कार्याधिष्ठातृत्वेन स्वातन्त्र्यात् तस्मिन्नज्ञानतत्कार्यकृतातिशयायोगादिति योजना । कथं तर्हि ईश्वरस्य सतः श्रीकृष्णस्य "अहमात्मा गुडाकेश" इत्याद्यहङ्करणसम्बन्धव्यञ्जकं वचनं ? तत्राह । प्रभोरिति । सकललोकहिताय यो ऽवतारस्तस्मिन्स्वानां भक्तानामिच्छया प्रार्थनया विनिर्मितं सङ्कल्पमात्रेण सम्पादितं वपुर्वरं वपुःश्रेष्ठमन्तरेण तद्वर्जयित्वा, तत्र हि व्यवहारसिद्ध्ये प्रभुणाऽहङ्करणं स्वातन्त्र्येणाङ्गीकृतमिति भावः ॥ १७९ ॥

अव तर्ह्यहङ्कारसम्बन्धाभावे ऽपि अज्ञानसम्बन्धादेवेशस्याज्ञानित्वस्फुरणं स्यादिति चेत्, नेत्याह—

नाहङ्कृतिं च परिहृत्य तमस्वितावीः
सम्भाव्यतेऽपहतपाप्मनि नित्यमुक्ते ॥

तामन्तरेण घटते न च मूढभाव-
सम्भावनाऽपि परमेशितरि प्रसन्ने ॥ १८० ॥

नाहङ्कृतिं चेति ॥ स्वाभाविकं हीश्वरस्यापहतपाप्मत्वादि तादृशे परमेश्वरे ऽहङ्कृति विरहय्य स्वतः तमस्विताधीर्न सम्भाव्यते अहतपाप्मत्वादिस्वभावविरोधादित्यर्थः । तामन्तरेण तमस्वित्वधियं विना मूढभावसम्भावनाऽपि परमेशितरि प्रसन्ने स्वभावनिर्मले प्रकाशमाने न च घटते । तथा च चित्सदानन्देश्वरस्वभावबाधितवपुष्ट्वात्तस्मिन्नज्ञानस्य न ज्ञानावरणप्रतिभासः तदभावे च न मूढभावो ऽतः स्वभावानुरोधीश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिकमेव तत्र भवति न विपरीतमिति भावः॥१८०॥

अथ तथापीश्वरस्य स्वेच्छाविग्रहे ऽहङ्कारादिसम्बन्धदर्शनात् अज्ञत्वाद्यपि तस्मिन्सम्भाव्यते इति चेत्, तत्राह —

स्वेच्छाविनिर्मितवपुर्भजतोऽपि तस्य
नाज्ञानिताऽवगतिरस्ति वशित्वहेतोः ॥
वश्यत्वहेतुकमिदं स्फुरणं नराणां
नाहं विजानइति नास्ति तदीश्वरस्य ॥ १८१ ॥

स्वेच्छाविनिर्मितेति ॥ सत्यं, स्वेच्छाविनिर्मितवपुषोऽहङ्करणमपि कदाचिद्भवेत् ? एतावता तस्येश्वरस्याज्ञानिताऽवगतिर्नास्ति न कल्प्यते । कुतः ? वशित्वहेतोः अज्ञानवशित्वात्, न हि योऽज्ञानं वशीकृत्याहङ्कारं शरीरं च स्वेच्छावशादसृजत तस्य स्वातन्त्र्यस्य स्फुटत्वात् तस्मिंस्तत्कार्यगतपारतन्त्र्यस्यारोपसम्भावनेत्यर्थः । यस्मान्नराणां जीवानां "नाहं विजाने" इदं स्फुरणं वश्यत्वहेतुकं कार्यगतपारतन्त्र्यारोपे निमित्तम्, अतस्तदभा-

ादीश्वरस्य तदावरणरूपेण "नाहं विजाने" इति अज्ञानस्फुरणं
ास्ति स्वेच्छयाऽवतारे ऽपीत्यर्थः ॥ १८१ ॥

अथ नन्वज्ञत्वादिकमपीश्वरस्य श्रीरामावतारे दृष्टमिति चेत्,
ादपि स्वातन्त्र्यविजृम्भितमेव, न जीवानामिव पारतन्त्र्यप्र-
ुक्तं, तदज्ञत्वादेः सङ्कल्पपूर्वकत्वश्रवणादित्याह—

सङ्कल्पपूर्वकमभूद्रघुनन्दनस्य
नाहं विजानइति कं चन कालमेतत् ॥
ब्रह्मोपदेशमुपलभ्य निमित्तमात्रं
तच्चोत्ससर्ज स कृते सति देवकार्ये ॥ १८२ ॥

सङ्कल्पपूर्वकमिति ॥ कञ्चन कालं दुष्टराक्षसनाशपर्यन्तं
'नाहं विजाने" इत्येतदज्ञत्वं सङ्कल्पपूर्वकमभूत् नाहङ्करणपार-
त्र्येनेत्यर्थः । नन्वौपदेशिकविद्यापोहितत्वात्तस्याप्यज्ञत्वं जीवा-
ज्ञत्वसममिति चेत्, नेत्याह। ब्रह्मोपदेशमिति । ब्रह्मणः प्रजापते-
रुपदेशं निमित्तमात्रं सङ्कल्पत्यागस्य द्वारमात्रमुपलभ्यादाय तच्च
देवकार्ये देवकण्टकोद्धारे कृते सति उत्ससर्ज, सङ्कल्पगृहीत-
मप्यज्ञत्वं स्वातन्त्र्येणैव तत्याज न लोकवज्जन्यविद्याबलादि-
ति गम्यते, स्वातन्त्र्यस्य रामे कदाऽपि तिरोधानादर्शना-
दित्यर्थः ॥ १८२ ॥

अथ तस्मादीश्वरस्याज्ञानसम्बन्धे ऽपि ज्ञानावरणाभा-
वात् इतरस्याहङ्कारकञ्चुकितया तत्सत्त्वादिति युक्ता सर्वज्ञत्वा-
दिव्यवस्थाऽस्मन्मते इत्युपसंहरति—

अज्ञानवर्जिततया परमेश्वरोऽसौ
सर्वज्ञ एव यदहङ्कृतिबन्धहीनः ॥

ज्ञानं निरावरणमिष्टममुष्य यस्मा-
जीवस्य सावरणमेव यतोऽनभिज्ञः ॥ १८३ ॥

अज्ञानवर्जिततयेति ॥ यच्छब्दस्तस्मादर्थे प्रथमं योज्यः। यतो ऽहङ्कृतिरूपबन्धहीनो ऽतः आवरणात्मकाज्ञानवर्जिततया ऽसौ परोक्षः परमेश्वरः सर्वज्ञ एवेत्यन्वयः। अर्थादहङ्कृतिबन्धवतो ऽज्ञत्वमल्पज्ञत्वमनीश्वरत्वं चेत्युक्तं भवति। उक्तव्यवस्थायां पूर्वोक्तं नियामकं स्मारयति। ज्ञानमिति। अमुष्य ईश्वरस्य ॥ १८३ ॥

अथ ननूभयोश्चेतनत्वादविशेषे कथमीशस्य ज्ञानं निरावरणं जीवस्य तत्सावरणमिति व्यवस्थेति चेत्, तत्राह—

सर्वप्रमाणफलभूतसमस्तसंवि-
ज्ज्ञानं बिभर्ति परमः पुरुषो न जीवः ॥
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमस्तु तस्मा-
जैवं च सावरणमस्य विशेषहेतोः ॥ १८४ ॥

सर्वप्रमाणेति ॥ अयमर्थः। अस्ति तावत् सर्वप्रमाणानां फलभूता विषयस्फुरणाभिधेया संवित्प्रसिद्धा, सा च नाज्ञानेनाभिभाव्या तस्याः अज्ञाननिवर्तकत्वात्, अन्यथा विषयव्यवहारासिद्धेः, तस्याश्च प्रतिप्रमाणव्यापारं जायमानतया भासमानाया उपादानं तावदपेक्ष्यते, तदपि स्वसमानस्वभावा संविदेव सर्वफलोपादानतया सर्वात्मिका ऽखण्डैकरसाऽभ्युपेया, सा च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इतिश्रुतेर्ब्रह्मरूपैव सती तद्धर्मतया व्यवह्रियते इति। एषाऽक्षरयोजना। सर्वेषां प्रमाणानां फलत्वेन भवती या समस्तसंवित्सर्वा एव संविदः तदेव ज्ञानं तत् पर-

मः पुरुषो बिभर्त्ति स्वात्मतया धारयति न जीवः, अन्तःकरणवृत्तिपरिच्छिन्नाचिदाभासमात्रज्ञानत्वात्। तस्य फलितमाह । ज्ञानं निरावरणमिति । तस्मादिति प्रथमं योज्यम् । तथा च चेतनत्वसाम्येनेश्वरस्याज्ञताऽनुमानम् एतद्विरोधाद्विपक्षे बाधकाभावाच्चाप्रयोजकमिति सिद्धम् ॥ १८४ ॥

अथ "विशेषहेतोः" इत्युक्तं विशेषं स्फुटयति—

अज्ञानतज्जमखिलं जगदात्मभासा
नित्यं प्रकाशयति सन्निहितः सदात्मा ॥
जीवस्तु नैवमिति सावरणं तदीयं
ज्ञानं निरावरणमैश्वरमुच्यते हि ॥ १८५ ॥

अज्ञानतज्जमिति ॥ सदात्मा सच्छब्दनिर्दिष्टः परमात्मा अज्ञानाद्यखिलं जगत् तदधिष्ठानत्वेन सदा सन्निहितः सन् स्वभासा स्वाभाविकेन चैतन्यज्योतिषा प्रकाशयति आदित्यवत्स्वयं प्रकाशमानः स्वाध्यस्तं सर्वं प्रकाशयति, जीवस्तु नैवं, तस्य स्वतःसिद्धज्ञानरूपत्वेऽप्युपाधिप्रविष्टतया परिच्छिन्नत्वात्, इति अतो हेतोः तदीयं ज्ञानं सावरणम्, ऐश्वरं तु ज्ञानं निरावरणमित्युच्यते । हिशब्दो विद्वत्प्रसिद्ध्यवद्योतकः । जीवस्य हि ज्ञानं पुण्यापुण्यप्रयुक्तं प्रमाकरणदोषतारतम्यभावेन जायमानम् अन्तःकरणवृत्तिकञ्चुकितं भवति सावरणं वस्तुतत्त्वानवगाहित्वात्, ईश्वरस्य त्वेवंविधदोषाभावात्तरतमसंबन्धाभावान्नित्यनिरतिशयमेकरूपं सत् निरावरणमेव भवतीत्यभिप्रायः ॥ १८५ ॥

अथ ईश्वरस्य निरावरणज्ञानत्वम् आवरणाभावादेव, न त्वत्यन्तमेवाज्ञानासंबन्धात् इत्यत्र विष्णुपुराणवाक्यं प्रमाणमाह—

ज्ञानात्मकस्यामलसत्त्वराशे-
रपेतदोषस्य सदा स्फुटस्य ॥
किं वा जगत्यत्र समस्तपुंसा-
मज्ञातमस्यास्ति हृदि स्थितस्य ॥ १८६ ॥

**ज्ञानात्मकस्येति** ॥ अत्र अमलसत्त्वराशेरितिपदेनेश्वरस्याज्ञानसंबन्धः सूचितः, सत्त्वस्याज्ञानधर्मत्वात्। अपेतदोषस्येत्यावरणात्मकाज्ञानसंबन्धो निरस्तः। तत्र हेत्वर्थं विशेषणं सदा स्फुटस्येति। वैपरीत्येन वा ऽनयोर्हेतुहेतुमद्भावः। ज्ञानात्मकस्येति सदा स्फुटत्वे हेतुः। समस्तपुंसां हृदि स्थितस्येति सर्वजीवान्तर्यामित्वोक्त्या सर्वजीवविलक्षणत्वेन परमेश्वरत्वमुक्तम्। एवंविधस्यास्य भगवतो ऽत्र जगति किं वाऽज्ञातम् अविदितं विद्यते, न किमपीत्यर्थः ॥ १८६ ॥

अथ ईश्वरस्य मायावित्वविषयं श्रवणमपि तत्र साक्षान्निर्दिष्टमित्याह—

मायामसौ वितनुते विभुरेवमेनां
सर्वेश्वरः सततमेव वशीकरोति ॥
इत्यादिवाक्यमुपपन्नतरं पुराणे
स्वाज्ञानमस्य च वशे चिदधीनभावात् ॥ १८७ ॥

**मायामिति** ॥ यतो ऽसौ भगवान् विभुः अतो मायां वितनुते जगदात्मना विस्तारयति। यतश्च सर्वेश्वरः अत एवैवम् एनां मायां सततमेव वशीकरोति, न कदाऽपि मायापरवशो ऽसावित्यर्थः। इत्यादिवाक्यं पुराणे पठ्यमानम् अस्मदुक्तरीत्योपपन्नतरम्, अन्यथा तत् बाधितार्थं स्यादित्यर्थः। तत्र मायासंबन्ध एवोक्तः

ईश्वरस्य नाज्ञानसंबन्धः इति प्रतिभासात् कथमिदमुक्तेऽर्थे प्रमाणमिति चेत्, मैवम्। मायाऽविद्याऽज्ञानशब्दानामर्थभेदाभावादित्यभिप्रेत्याह। स्वाज्ञानमस्य चेति। चिदधीनभावात्, अज्ञानस्य सत्तास्फूर्त्योरिति शेषः। चितश्चेश्वरस्वरूपत्वाद्युक्तमस्याज्ञानवशित्वमित्यर्थः ॥ १८७ ॥

अथ एवं जीवेश्वरयोरज्ञत्वसर्वज्ञत्वधर्मव्यवस्थाऽभिधायिग्रन्थगतिम् अज्ञानोपाधिकतयैवोपपाद्य उपसंहरति —

जीवाज्ञतावचनमेवमिदं समस्तं
सर्वत्र योज्यमितरत्र च तन्निषेधः ॥
तस्मात् समञ्जसमिदं मतमस्मदीय-
माचार्यवाक्यमुपपन्नतरं हि तत्र ॥ १८८ ॥

जीवाज्ञतेति ॥ समस्तमिदं जीवाज्ञतावचनं वृद्धैरुपनिबद्धं एवम् अस्मदुक्तप्रकारेण सर्वत्र ग्रन्थसान्निवेशेषु योज्यम्। चिदात्मनि जीवत्वोपाधावेवावरणात्मकाज्ञानस्फुरणम् इति "अज्ञो जीवः" इति वृद्धानां वचनम्। इतरत्रेश्वरे तादृग्रूपस्यास्फुरणाभिप्रायेण तन्निषेधः इत्यर्थः। तदेवं प्रत्यक्चैतन्यमेवाविद्ययाऽनेकजीवेश्वरादिभेदेन प्रत्यवभासते इत्यस्मन्मतम् आचार्यसम्मतं युक्तमेवेति सिद्धमित्युपसंहरति। तस्मादिति। तत्र अस्मन्मते ॥ १८८ ॥

अथ न केवलमाचार्यवाक्यमेवास्मन्मतानुसारि अपितु वेदान्तवाक्यप्रवृत्तिरपीदमेव मतमाश्रितेत्याह—

चैतन्यमेव तु तमस्वि तदप्रबुद्धं
सर्वज्ञमेतदिह विश्वमिमं विभागम् ॥
जीवेश्वरौ च जगदित्यपि निर्मिमीत-

इत्येव वेदशिरसः प्रथितः प्रचारः ॥ १८९ ॥

चैतन्यमेवेति ॥ तमस्वि अनाद्यज्ञानशबलितं चैतन्यमेव तु स्वतो निर्विभागं स्वगततमोविकारानुरोधेन तत् चैतन्यम् अप्रबुद्धं कार्योपाधिप्रवेशेनाज्ञं जीवशब्दवाच्यं जायते । एतदेव चैतन्यं सर्वज्ञं कारणोपाध्यनुरोधेन सर्ववस्तूपरागेण प्रकाशमानं सत् सर्वावभासकतया सर्वज्ञं च सत् जीवेश्वरौ जगदित्यपि चेमं विश्वविभागम् इह व्यवहारकाले निर्मिमीते इत्येव वेदशिरसः प्रचारः प्रथितः सर्वशाखासु प्रसिद्धः इति योजना। वेदान्तेषु हि ब्रह्मात्मविद्यया तदविद्यानिरासेनाखिलस्यास्य जीवेश्वरजगद्विभागस्य निवृत्तिर्ब्रह्मभावापत्तिश्च श्रूयते, तत् सर्वस्याविद्याकल्पितत्वमन्तरेण नोपपद्यते, विद्यापोह्यस्याविद्यात्मत्वनियमात् सत्यस्य विद्यापोह्यत्वासम्भवात् । तद्यथा बृहदारण्यके तावत् "यदेतद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेत्" इत्याक्षेपपूर्वकं "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इति विद्योत्पत्तेः प्रागपि ब्रह्मण एवाज्ञत्वमभिधाय "तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति तस्यैव विद्यया स्वतःसिद्धसर्वज्ञं सर्वात्मकं ब्रह्मभावं श्रावयति ब्रह्मकण्डिकादिश्रुतिः। अत्र "सर्वमभवत्" इति श्रूयमाणसर्वात्मभावस्य न मुख्यार्थत्वं किंत्वपवादार्थत्वम्। तथाच यदिदं सर्वं जीवेश्वरजगद्विभागरूपं विश्वं तत्सर्वं तद्ब्रह्माभवत् ब्रह्मणः पृथङ्नाभूद्भवति भविष्यच्चेत्यर्थः। तथा ऽन्यत्राध्यारोपापवादाभ्यां विश्वस्य प्रत्यगज्ञानासिद्धत्वं तद्याथात्म्यज्ञानबाध्यत्वं चावगम्यमानम् एकस्यैव चिदात्मनोऽज्ञत्वसर्वज्ञत्वशुद्धत्वादिकं स्वाविद्यया स्वविद्यया चोपपन्नमिति गमयति । तस्माच्छ्रुतिगतिपर्यालोचनायामप्यस्मन्मतं युक्तमेवेति भावः ॥ १८९ ॥

अव नन्वीश्वरो जीवान्मोहयतीत्यभिध्यानाच्छ्रुतिस्मृत्योरीश्वरमाया जीवमोहकरी जीवाज्ञानादन्यैवेति चेत्, नेत्याह—

जीवेशानजगद्विभागजननी शक्तिर्जडा वैष्णवी
मायेशानगता सती भवति सा जीवावधिर्मोहगीः ॥
जीवानीश्वर एष मोहयति ते जीवा विमुह्यन्त्यतः
शश्वद्विश्वदृगीश्वरो भवति ते जीवा विमूढा मुहुः॥ १९०॥

जीवेशानेति ॥ या जीवादिजगद्विभागजननी प्रत्यगज्ञानात्मिका जडा शक्तिः सैवेशानगता सती वैष्णवी माया भवति नान्या। जीवावधिः जीवमर्यादा जीवे स्फुटतरं व्यवह्रियमाणेति यावत्। सैव शक्तिःजीवावधिः सती मोहगीः मोहादिशब्दवाच्या भवतीति योजना । मायामोहयोरनिर्वचनीयत्वस्वभावाविशेषान्न स्वरूपभेदः, किन्तूक्तशक्तिवशित्वेन तद्वश्यत्वेन चेशजीवयोर्मायित्वमूढत्वव्यपदेशः, मायावीश्वरपारतन्त्र्यात् जीवस्य मायामोहितत्वव्यपदेशव्यवहारश्चोपपद्यते इत्यभिप्रेत्याह । जीवानीश्वर इति । एवं सति सर्वज्ञत्वाज्ञत्वाद्यपि व्यवस्थितमुपपद्यते इत्याह । अत इति ॥ १९० ॥

अव अत एवैकाज्ञानं प्रति वशित्ववश्यत्ववशादीशस्य जगद्धेतुत्वं जीवस्य दुःखित्वादिसंसारधर्मवत्त्वं व्यवतिष्ठते इति प्रकरणोपसञ्जिहीर्षयाऽऽह—

अज्ञानिनो भवति मोहविजृम्भितं त-
द्दुःख जगज्जनकता परमेश्वरस्य ॥
मायामयी भवति तेन विलक्षणत्व-
मेकान्ततः श्रुतिशिरःसु तयोः प्रसिद्धम् ॥ १९१॥

अज्ञानिन इति ॥ तत् प्रसिद्धं दुःखम् अज्ञानिनो जीवस्य मोहविजृम्भितं भवति, परमेश्वरस्य जगज्जनकता मायामयी भवति, उपपद्यते इत्यर्थः। तेन यथोक्तन्यायेनोक्तप्रकारेण च तयोः जीवेश्वरयोः श्रुतिशिरःसु विलक्षणत्वमेकान्ततः प्रसिद्धं न प्रकारान्तरेणेत्यर्थः ॥ १९१ ॥

अथ एवं सति वृद्धानां जीवाज्ञत्ववचनमपि उक्तप्रकारेणोपपन्नमिति प्रकरणार्थमुपसंहरति—

चैतन्यस्याज्ञानशक्तेरनादे-
र्जीवत्व तु व्यञ्जक कल्पयन्तः ॥
जीवारूढं व्यक्तमज्ञानमाहु-
र्जीवो मूढः कथ्यतेऽतो बहुज्ञैः ॥ १९२ ॥

चैतन्यस्येति ॥ चैतन्यस्य चिन्मात्रस्य संबन्धिनी या तदाश्रयविषयाऽज्ञानात्मिका शक्तिस्तस्याः अनादेरज्ञानात्मना व्यञ्जकं जीवत्वं चैतन्यस्य अन्तःकरणोपाध्युपरक्तत्वलक्षणं कल्पयन्तः आचार्याः जीवारूढं सत् अज्ञानम् अज्ञानात्मना व्यक्तमाहुः। अतो हेतोः बहुज्ञैर्विद्वद्भिर्जीवो मूढः कथ्यते, इत्यपि सिद्धमित्यर्थः। तस्मात्प्रत्यक्चैतन्यमेवाज्ञानसंबद्धं सत् ईश्वरभावेन जगत्स्रष्टृत्वादिभाग्भवति, जीवभावेन च संसरति, तत्त्वज्ञानेन च समस्तविभागप्रहाणेन मुच्यते इत्ययमेव सूत्रकारस्यापि सिद्धान्तः इति द्रष्टव्यम् ॥ १९२ ॥

अथ यद्येवं कथं तर्हि "स्याल्लोकवत्" इति सूत्रकारस्य परिणामाभिधानं, जीवेश्वरभेदासिद्धवत्कारेण च "नेतरोऽनुपपत्तेः" "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्यादि विवरणं चोपपद्यते इति चेत्, नायं दोषः। यथोक्ते एव सिद्धान्ते कञ्चनोपकारमालक्ष्य प्रौढि-

चादतया तथा निर्देशोपपत्तेरित्याह—

अत्रैव वस्तुनि दृढं व्यवतिष्ठमानः
प्रौढिप्रदर्शनपरः पुनरन्यदन्यत् ॥
भाषापदं किमपि निक्षिपति स्फुटं त-
दस्माभिरेवमुपपादितमञ्जसैव ॥ १९३ ॥

अत्रैवेति ॥ चिन्मात्रमेव अविद्याशक्तियोगाज्जीवेश्वरादिभेदभागित्यत्रैव वस्तुनि दृढं स्वसिद्धान्तनिश्चिततया व्यवतिष्ठमानः सूत्रकारः प्रौढिप्रदर्शनपरः सन् पुनरन्यदन्यद्भाषापदं किमपि निक्षिपति, परिणामवादजीवेश्वरभेदादिद्योतकं पदं कथयति, न तत्र तस्य तात्पर्यमित्यर्थः । यद्भाषापदं सूत्रकारोऽकथयत् तदस्माभिः एवम् उक्तरीत्याऽञ्जसा सामञ्जस्येनोपपादितमेवेति योजना ॥ १९३ ॥

अथ नन्वयं सूत्रकारस्य प्रौढिवादो न सिद्धान्तत्वेनाभिमतः इति कथमवगम्यते ? मायावाद एव तथा किं न स्यात् इति चेत्, मैवम् । "सर्वधर्मोपपत्तेः" इतिसूत्रेण स्वपक्षसाधनप्रकरणमुपसंहरता सूत्रकारेण "अज्ञानमाययैव कारणत्वापेक्षितसर्वधर्मसिद्धिरीश्वरस्य" इति मुखतो मायावादस्य सिद्धान्तितत्वदर्शनादित्याह—

विस्पष्टमात्ममतमेव हि सर्वधर्म-
सूत्रेण सूत्रकृदिदं दृढमाचचक्षे ॥
सर्वज्ञतादिपरिपालनतत्परः सन्
तत्रैव भाष्यकृदपीदमुवाच यत्नात् ॥ १९४ ॥

विस्पष्टमिति ॥ इदमेवात्ममतमिति सम्बन्धः । इदं वि-

स्पष्टं चेदं मायानिबन्धनमीश्वरस्य कारणत्वाद्युक्तवानिति कथं ? तस्मिन्सूत्रे ऽज्ञानमायादिशब्दादर्शनादिति चेत्, तत्राह। तत्रैवेति। अस्मिन्नेव सूत्रे सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामाय च ब्रह्मेति वदन् भाष्यकृत् यत्नादिदं माययैव ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादिधर्मो जीवेश्वरजगदाकारश्चेत्येतदाहेति। तथाच भाष्यवचनादेव सूत्राभिप्रायस्य सर्वत्र ज्ञायमानत्वान्नात्र विप्रतिपत्त्यवकाशः इत्यर्थः ॥ १९४ ॥

अव तदेवं प्रत्यङ्मात्राश्रयविषयमज्ञानं तद्विलासश्चायं सर्वो जीवेशादिभेदस्तस्यैव प्रत्यक्चिन्मात्रस्य विद्योदये सर्वात्मना निवर्त्तते इति स्वमतं उपपादितम्, इदानीं तत्स्थेमार्थं पुनरपि प्रत्यावृत्त्य "जीवस्यैवाज्ञानं ब्रह्मविषयकं न ब्रह्मणोऽज्ञानसम्बन्धः, तथात्वे तस्य जीवत्वापत्तेर्विशुद्धं ब्रह्मेश्वरो वा न सिद्ध्येत्" इति ये मन्यन्ते तन्मतं दूषयति—

> अज्ञानित्वं ब्रह्मणो जीवता चे-
> न्नाज्ञानित्वं तत्र जीवस्य युक्तम् ॥
> अज्ञानित्वे चान्यदप्यभ्युपेत-
> मज्ञानित्वं यद्यहो कष्टपिष्टिः ॥ १९५ ॥

अज्ञानित्वमिति ॥ "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य" इत्यादिप्रवेशश्रुतिरनुसरता ब्रह्मण एव स्वसृष्टकार्यानुप्रवेशेन जीवभाव इति वक्तव्यम्। तत्रेदमभिधीयतां, ब्रह्मणो जीवत्वं नामाज्ञानित्वात् अन्यत् अज्ञानित्वमेव वा। नाद्यः विद्यापोद्यस्य जीवभावस्याविद्यात्मत्वानपायात् ब्रह्मण्यविद्याप्रवेशात्। द्वितीये ब्रह्मणो जीवत्वं चेदज्ञानित्वमभिमतं तत्र पक्षे जीवस्याज्ञानित्वं न युक्तं ब्रह्मण

एवाज्ञत्वाज्जीवस्य तदसिद्धेः । कुतो जीवस्याज्ञत्वासिद्धिः ? इति चेत्, तत्र वक्तव्यम् । किं ब्रह्म येनैवाज्ञानेन जीवभावमापन्नं तेनैवाज्ञानित्वं जीवस्य अज्ञानान्तरेण वेति ? तत्राद्ये स्यादात्माश्रयता, अज्ञानविशिष्टे जीवेऽज्ञानाश्रयत्वमिति स्वाश्रयत्वापत्तेरित्यर्थः । द्वितीयमनूद्य दूषयति। अज्ञानित्वे चेति। यद्यन्तः पूर्वपक्षानुवादः । अहो इत्यादिर्दूषणभागः । पिष्टिः पेषणं तच्च कष्टं क्लिष्टं कल्पनम् । पूर्वाज्ञानेनैवाभिमतव्यवहारसिद्धेरज्ञानान्तरवैयर्थ्यादनवस्थापाताच्चेत्यर्थः ॥ १९५ ॥

अथ न केवलमस्मिन्पक्षे जीवे ऽज्ञानाभावः अपि तु ब्रह्मण्यज्ञानमभ्युपगतं स्यात्, अज्ञानित्वलक्षणजीवत्वस्य ब्रह्मण्येवाङ्गीकारादित्याह—

अज्ञानित्वं ब्रह्मणश्चानभीष्ट-
मस्मिन् पक्षे दुर्निवारं प्रसक्तम् ॥
अज्ञानित्व ब्रह्मणश्चेदभीष्ट-
मस्मत्पक्षस्त्यज्यते कस्य हेतोः ॥ १९६ ॥

अज्ञानित्वमिति ॥ दुर्निवारं पूर्वोक्तमेवानवस्थालक्षणं दूषणं प्रसक्तम् अतो ब्रह्मण्येवाज्ञानसिद्धिरित्यर्थः। नन्वस्माभिरपि ब्रह्मण्येवाज्ञानमिष्यते किन्तु तज्जीवकोटावेव न साधारणतयेत्येतावान्विशेषः इति स यदि ब्रूयात् तत्राह । अज्ञानित्वं ब्रह्मणश्चेदभीष्टमिति। तर्हीश्वरो ऽज्ञानोपाधिरित्यस्मत्पक्षः कस्मान्निमित्तात्त्यज्यते, एकाज्ञानकल्पितत्वस्योभयत्राविशेषादित्यर्थः॥१९६॥

अथ ईश्वरस्याज्ञानित्वे ऽशुद्धिप्रसङ्गादपहतपाप्मत्वादिविरोधः स्यात् अतस्तन्मा भूदित्यज्ञान तत्र नेष्यते इति शङ्कते—

शुद्धत्वार्थं ब्रह्मणस्त्यज्यते चे-

दस्मत्पक्षेऽप्यस्ति शुद्धत्वमस्य ॥
अस्मत्पक्षे शुद्धता वास्तवी चेद्
युष्मत्पक्षे कल्पिता शुद्धता किम् ॥ १९७ ॥

शुद्धत्वार्थमिति ॥ अज्ञानसम्बन्धाभ्युपगमे ऽपि तस्य तत्र कल्पितत्वान्न वास्तवशुद्धिश्रुतिविरोधः इति परिहरति । अस्मत्पक्षे ऽपीति । नन्वेवं सति वास्तव्येव शुद्धिः स्यान्न प्रतीतितो ऽपीति शङ्कामुत्थाप्य दूषयति । अस्मत्पक्षे इति । अक्षरार्थः स्पष्टः । वास्तव्येव शुद्धिर्न प्रातीतिकीति वदतो वास्तव्याः शुद्धेरविरोधमालम्ब्य प्रतिभासतः ईश्वरस्याप्यस्ति सविशेषत्वलक्षणाऽशुद्धिरिति गूढो ऽभिप्रायः ॥ १९७ ॥

अथ ईश्वरस्य व्यावहारिक्यशुद्धिरपि जगत्स्रष्टृतादिलक्षणैव न जीववत्संसारित्वलक्षणेति पूर्वमेवोपादिता ऽस्मन्मते व्यवस्था । तस्मादज्ञानकल्पितजीवभावविशिष्टस्यैवाज्ञानं तस्य च विद्यया ब्रह्मभावो मोक्ष इति कल्पितस्य जीवस्य ब्रह्मभाव इति वदतः पक्षः सर्वन्यायविरुद्ध इति नोपादेयः श्रेयो ऽर्थिभिः किंत्वस्मत्पक्ष एवोपादेय इत्युपसंहरति—

कष्टः कष्टः कल्पितो ब्रह्मवादः
श्रेयोमार्गाद् भ्रश्यतो भ्रान्तबुद्धेः ॥
त्यक्तव्यस्ते सज्जनैरस्मदीयः
श्रेयोमार्गः श्रेयसे चाभ्युपेयः ॥ १९८ ॥

कष्टः कष्ट इति ॥ सज्जनैः श्रेयो ऽर्थिभिः शुद्धबुद्धिभिः । स्पष्टमन्यत् ॥ १९८ ॥

अथ अस्तु ब्रह्मण्येवाज्ञानं तथाप्यज्ञानित्वमेव तस्य जीव-

रूपत्वं तदसम्बद्धरूपेण चेश्वरत्वं तत्त्वज्ञानादेव । एवं च नैकत्रैकस्य भावाभावविरोधः, एकस्मिन्नप्याकाशे पक्ष्यादीनां भावाभावविरोधादर्शनादिति शङ्कते—

एकोपाधावस्तितता नास्तितता च

मूढत्वस्य स्वीकृता चेत् परस्मिन् ॥

व्योम्न्येकस्मिन्नस्तितता नास्तितता च

पक्ष्यादीनां यद्वदिष्टा तथैव ॥ १९९ ॥

एकोपाधाविति ॥ परस्मिन् ब्रह्मणि मूढत्वं चेद्भवतेष्यते इति योज्यम् । तदा एकोपाधावस्तितता नास्तितता चाज्ञानस्य स्वीकृतैव, न विरोधो ऽपि दृष्टान्तसम्भवादित्याह। व्योम्नीति। स्पष्टार्थः ॥ १९९ ॥

अव आकाशे पक्ष्यादेर्भावाभावप्रतीतिरुपाधिभेदापेक्षयैव, न निर्द्वारं क्वापि भावाभावप्रतीतिः इत्यनुभवबलमादाय परिहरति—

नैतत् सारं सत्त्वमिष्टं यदि स्या-

दस्तित्वादेरिष्टहानिः प्रसक्ता ॥

एकोपाधावस्तितता नास्तितता चे-

त्स्यादित्येवं स्वीकृतेऽस्मिन् हि पक्षे ॥ २०० ॥

नैतत्सारमिति ॥ अस्तित्वादेरस्तित्वनास्तित्वयोरेकस्मिन्सत्त्वं यदीष्टं स्यात्तदेष्टहानिः प्रसक्तेति योजना । कस्य मते प्रसक्ता ? इत्यत आह । एकोपाधाविति । चेत्येतावदिह विवक्षितम् । चेदिति छन्दःपूरणार्थः प्रयोगः ॥ २०० ॥

अव इष्टहानिप्रसङ्गमेव स्पष्टयति—

धूमे सत्ता स्यादसत्ता च तस्मिन्
धूमस्यैवं कारण कल्प्यते किम् ॥
कादाचित्क कारणं नान्तरेण
स्यादित्येवं तस्य क्लृप्तिः कुतो वः ॥ २०१ ॥

धूमे सत्तेति ॥ धूमे सत्त्वस्फुरणकाले तस्यासत्त्वस्यापि सम्भवाद्‌ धूमेऽसत्ता स्यात्, तस्मिन्नेव स्थाने काले वा सत्ता च स्यात्, एवं सति धूमस्य कारणमग्निः किं कल्प्यते अनुमीयते नैवे-त्यर्थः। यद्वा तस्मिन् धूमे असत्ता च स्यादिति सम्बन्धः। तत्रासत्त्व-पक्षे तेनाग्न्यनुमानासम्भवं स्फुटयति। कादाचित्कं कारणमिति । कादाचित्कं कारणं लिङ्गमन्तरेण कारणानुमानं न स्यादित्येवं सति तस्याग्नेः क्लृप्तिरनुमानं धूमस्यासत्त्वपक्षे कुतो वः स्या-दित्यर्थः ॥ २०१ ॥

अव तदेवमेकोपाधावेकस्यास्तित्वनास्तित्वे वदन् विरोधं न परिहर्तुं शक्नुयात् इत्युपसंहरति—

कादाचित्कात् कल्पनां कारणस्य
प्रत्याचक्षीताविरोधं ब्रुवाणः ॥
एकोपाधावस्तिनास्तित्वयोर्हि
तस्मादेषा कष्टक्लृप्तिर्न कार्या ॥ २०२ ॥

कादाचित्कादिति ॥ हि यस्मात् एकोपाधावस्तित्वना-स्तित्वयोरविरोधं ब्रुवाणः कादाचित्कात्कार्यात्कारणस्य कल्प-नामनुमानं प्रत्याचक्षीत तस्मादेषा कष्टक्लृप्तिर्न कार्येति यो-जना। एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रतीत्यैव भावाभावाविति कल्पना न कार्या, न्यायविरोधादनुभवविरोधाच्चेत्यर्थः ॥ २०२ ॥

अथ निरस्तेऽप्येवं पक्षे पुनः सिद्धान्त्यभिमतं दृष्टान्तमुपालभ्य पूर्वपक्षी स्वपक्षस्थापनं शङ्कते—

ननु चैव रूपचितिवस्तुगतं

स्फुरणं तदस्फुरणमेव च वः ॥

अविरुद्धमभ्युपगतं द्वितय

तदिवास्तिनास्तियुगलं भवतु ॥ २०३ ॥

नन्विति ॥ स्वप्रकाशसन्मात्रत्वमेकरूपत्वं स्वप्रकाशतया स्फुरणं अज्ञानादस्फुरणं चेति द्वितयम् एकस्मिन् ब्रह्मणि यथा युष्माकमभ्युपगतमस्तीति दृष्टान्तार्थः । अस्तिनास्तीतिभावाभावरूपं युगलमज्ञानस्य ब्रह्मणि भवत्विति दार्ष्टान्तिकार्थः ॥२०३॥

अथ वस्तुतस्तु स्फुरणं भ्रान्त्या चास्फुरणमित्यस्माकमभ्युपगमो ऽतो दृष्टान्तवैषम्यमिति परिहरति—

न तदात्मनः स्फुरणमेव निजं

परतोऽप्रकाशनमबोधवशात् ॥

न च किं चिदन्यदनयोरुभयो-

रविरोधसिद्धिकृदुदाहरणम् ॥ २०४ ॥

न तदात्मन इति ॥ न तदिति पक्षनिषेधार्थः । यत आत्मनः स्फुरणं निजमेव स्वाभाविकमेव निरपेक्षमेवेति । यदप्रकाशनं तु परतो ऽन्यस्मात् तदेवाह । अबोधवशात् अज्ञानवशादित्यर्थः । अस्फुरणं चिदात्मनः आरोपितं स्फुरणं निजं सत्यं सदातनमेवेति नास्माकमुभयमेकनिमित्तकमिति न दृष्टान्तासिद्धिरिति भावः । एवमन्यत्रापि यत्र यत्र भावाभावसङ्करशङ्का तत्र सर्वत्र द्वारभेदेन वा तात्त्विकत्वातात्त्विकत्वेन वा तत्प-

रिहारोऽस्त्येवेत्याह। न च किञ्चिदिति॥ २०४॥

अथ आत्मनः स्फुरणास्फुरणयोर्भावाभावत्वानभ्युपगमान्न भावाभावयोरविरोधस्येदमुदाहरणमित्याह—

स्फुरणास्फुरणे च नात्मनः
सदसद्भावतया मनीषिते॥
स्फुरणं चितिरात्मवस्तुन-
स्तदविद्याऽस्फुरणं च कथ्यते॥ २०५॥

स्फुरणास्फुरणे इति॥ २०५॥

अथ तस्मादज्ञानित्वं न भवति किन्तु ततोऽन्यदेवेत्याह—

अज्ञानित्वं जीवभावो न तस्मा-
ज्जीवत्वादेः कारणं युक्तमेतत्॥
प्राणोपाधेर्वाचको जीवशब्द-
श्चैतन्यस्य स्यात् प्रसिद्धो हि तत्र॥ २०६॥

अज्ञानित्वमिति॥ तस्मादज्ञानित्वं जीवत्वं न जीवभावः आत्माश्रयत्वादिदोषप्रसक्तेरित्यन्वयः। तर्ह्यज्ञानं क्वोपयुज्यते? इति तदाह। जीवत्वादेरिति। जीवत्वस्येश्वरत्वस्य जडप्रपञ्चस्य साधारणं कारणमज्ञानमित्यर्थः। तर्हि जीवत्वस्य को विशेषहेतुः? इत्यपेक्षायामाह। प्राणोपाधेरिति। प्राणशब्देन ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकप्राणेन्द्रियान्तःकरणसङ्घातरूपमज्ञानस्य प्रथमं कार्यं लिङ्गशरीरं विवक्ष्यते, तस्मिन्नहमित्यात्मत्वाभिमानेन प्रविश्य तद्धारणनिमित्तं चिदात्मनो जीवत्वं नाज्ञानित्वमात्रमिति भावः। प्राणोपाधेश्चैतन्यस्य वाचको जीवशब्दः स्यादिति सम्बन्धः।

कुतोऽवगम्यते एतदिति चेत्, तत्राह । प्रसिद्धो हि तत्रेति । प्राणोपाधौ जीवशब्दः प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ २०६ ॥

अथ प्रसिद्धमेव स्पष्टयति—

अज्ञानजन्यकरणप्रतिबिम्बवाचि

जीवाभिधानमिह वृद्धजनप्रसिद्धम् ॥

अत्रैव निर्वचनमस्ति च तस्य तस्मा-

ज्जीवो भवेत् करणपूगवशीकृता चित् ॥ २०७ ॥

अज्ञानेति ॥ करणशब्दो लिङ्गवचनः । प्रतिबिम्बत्वं तस्मिन्नभिमानित्वेन विशेषतोऽभिव्यक्तिः । वृद्धजनप्रसिद्धं जीवशब्दोऽत्र रूढ इत्यर्थः । जीवपदस्य योगवृत्तिरप्यत्रैवेत्याह । अत्रैवेति । तस्य जीवपदस्यात्रैवोक्तोपाधिके चिदात्मन्येव निर्वचनमस्ति "जीव प्राणधारणे" इति धातुपाठदर्शनादिति योजना । उपसंहरति । तस्मादिति । पूगः समूहः । लिङ्गशरीरवशीकृता चित् जीवो भवेदित्यर्थः ॥ २०७ ॥

अथ तस्माच्चिदात्मन्येवाज्ञानं न जीवे ततोऽन्यत्र जडप्रपञ्चे वेति प्रसिद्धमिति परमप्रकृतमुपसंहरति—

ब्रह्मैवाज्ञानि तस्मादिह भवितुमलं नापरं वस्तु किं चित्

तस्याज्ञानात्मकत्वान्न च तमसि तमस्तन्निवृत्तेरयोगात् ॥

नाज्ञानोत्थस्य विद्याजनिरिह घटते तां विना तन्न नश्येत्

न ह्यज्ञानं विनश्येदवगतिजनकज्ञानजन्मान्तरेण ॥ २०८ ॥

ब्रह्मैवेति ॥ अपरं वस्तु नाज्ञानि भवितुमलमित्यत्र हेतुमाह । तस्याज्ञानात्मकत्वादिति । तस्य जीवत्वस्याज्ञानकार्यतया

ऽज्ञानात्मकत्वादित्यर्थः। तादृशे च नाज्ञानमित्यत्र दृष्टान्तमाह। न च तमसि तम इति। अतमाश्रयत्वापत्तेरित्यर्थः। स्ववृत्त्यभ्युपगमे ऽपि न तन्निवृत्तिसम्भव इत्याह। तन्निवृत्तेरयोगादिति। अयोगमेवाह। नाज्ञानोत्थस्य विद्येति। अज्ञानकार्यस्य जडत्वात् तस्मिन् विद्याजनेरसम्भवादित्यर्थः। जीवत्वविशिष्टे चिदात्मन्यज्ञानमिति मते ऽप्यात्माश्रयत्वादिदोषानिवृत्तिप्रसङ्गश्चोक्तो वेदितव्यः। मा-ऽस्तु तर्हि तमोनिवृत्तिर्ज्ञानादिति चेत्, तत्राह। तां विनेति। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इतिश्रुतेर्नात्मविद्यामन्तरेणाज्ञाना-त्मकतमोनाशः सम्भवतीत्यर्थः। उक्तमेव साधयति। नहीति। "तस्मिन् दृष्टे परावरे" इतिश्रुतेः प्रकाशोदयं विना तमो-निवृत्तेरदर्शनादित्युपपत्तेश्चेत्यर्थः ॥ २०८ ॥

अथ जीवत्वस्याज्ञानाश्रयत्वानभ्युपगमे च तवापसिद्धा-न्तप्रसङ्ग इति वदन्नुक्तमुपसंहरति—

अज्ञानात्मकत्वस्तु नाश्रयतयाऽज्ञानस्य सम्भाव्यते
नाज्ञानात्मकताबहिष्कृतमिदं जीवत्वमङ्गीकृतम् ॥
नाज्ञानाश्रयमध्यपाति घटते जीवत्वमेतेन त्व-
श्चैतन्याश्रयमेतदस्तु घटने तत्रैव हीदं तमः ॥२०९॥

अज्ञानेति ॥ अज्ञानस्येतिच्छेदः। अङ्गीकृतं, त्वयेति शेषः। अतः फलतः स्वमतमेवैकदेशिनाऽप्यास्थेयमित्याह। नाज्ञानाश्र-यमध्यपातीति। स्पष्टार्थः ॥ २०९ ॥

अथ चिन्मात्राश्रयमज्ञानमित्येतदनुभवविरुद्धत्वादयुक्तमिति शङ्कते—

ननु चाद्वयाश्रयतमः स्फुरणं

न कथं चिदत्र न हि तत्स्फुरति ॥
स्फुरदाश्रयस्य तमसःस्फुरणं
घटते न चाद्वयमिह स्फुरति ॥ २१० ॥

नन्विति ॥ अत्र व्यवहारभूमौ । तत्र युक्तिमाह । न हि तत्स्फुरतीति । तत् अद्वयं वस्तु व्यवहर्तृणा न हि स्फुरति तदस्फुरणे तदाश्रिततमःस्फुरणायोगात्, न ह्याश्रयस्फुरणं विना तद्गतधर्मस्फुरणं सम्भवतीति प्रसिद्धमेतदित्यर्थः । उक्तमेव स्फुटयति । स्फुरदाश्रयस्येति ॥ २१० ॥

अथ सत्यम् अद्वैताकारेणाज्ञानाश्रयत्वं नेष्यते तथाऽनुभवाभावादेवेति परिहरति—

नाज्ञानमद्वयसमाश्रयमिष्टमेवं
नाद्वैतवस्तुविषयं निशितेक्षणानाम् ॥
नानन्दनित्यविषयाश्रयमिष्टमेतत्
प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयताऽनुभूतेः ॥ २११ ॥

नाज्ञानमिति ॥ निशितेक्षणानां निशितमतीनामस्माकम् अद्वयसमाश्रयम् अज्ञानं नेष्टं तटस्थब्रह्माश्रयत्वमज्ञानस्य नेष्टमित्यर्थः । तर्हि चिन्मात्राश्रयस्याज्ञानस्याद्वैताकारं ब्रह्म विषयः स्यादिति रूपभेदेन विषयाश्रयभेदः इष्टः स्यादिति चेत्, नेत्याह । एवं नाद्वैतवस्त्विति । अज्ञानानुभवदशायामद्वैताकारवस्तुनोऽसिद्धत्वादेव विषयतयाऽपि तस्य नाज्ञानावच्छेदकत्वमवभासते, अद्वैतानुभवदशायां त्वज्ञानमेव नानुभूयते इति कुतो विषयाश्रयभेदानुभवः इत्यर्थः । अनुभवाभावादेव नानन्दनित्याद्यात्मनाऽप्यज्ञानाश्रयविषयतेष्यते इत्याह । नानन्दनित्येति । कथं

नेष्टम्? इत्यत आह। प्रत्यक्त्वेति। "अहमज्ञो मामहं न जानामि" इति ह्यज्ञानमनुभूयते न "अद्वैतं ब्रह्मानन्दादिरूपम् अहं न जानामि" इति। अतः प्रत्यक्चैतन्याश्रयविषयत्वेनैवाज्ञानानुभवात् वस्तुतस्तस्याद्वयात्मत्वेऽपि न तेनाकारेणाज्ञानावच्छेदकता, तस्य शास्त्रैकगम्यत्वादित्यर्थः ॥ २११ ॥

अथ नन्वावृतत्वं ह्यज्ञानविषयत्वं, प्रत्यग्रूपेण स्फुरतश्च चिदात्मनः कथं तद्रूपेणावृतत्वं, येन विषयत्वं स्यात्, अतो विषयत्वमद्वैताकारस्यान्यस्य वा वक्तव्यमिति चेत्, नेत्याह—

प्रत्यक्त्वमात्रविषयाश्रयमोहहेतोः
प्रत्यक् तिरोहितमिति प्रतिपादयामः ॥
प्रत्यञ्चमेव खलु वेद्मि न वेद्मि चेति ॥
प्रत्यक्षमस्ति ननु वेदनमस्य पुंसः ॥ २१२ ॥

प्रत्यक्त्वेति ॥ यदाश्रयतयाऽज्ञानं स्फुरति तस्मिन्नेव तत्कृतोऽतिशयोऽस्तु तमस इव स्वाश्रयादन्यत्र तस्यातिशयजननसामर्थ्याभावादिति प्रतिपादयाम इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह। प्रत्यञ्चमिति। प्रत्यक्षमस्ति, स्फुटानुभवोऽस्तीत्यर्थः। नन्विति सम्बोधने। अस्य पुंसोऽज्ञस्येत्यर्थः ॥ २१२ ॥

अथ ननु विरुद्धमेव एतत्, स्फुरत एव वस्तुनोऽस्फुरणमिति चेत्, न। संवित्स्वप्रकाशपक्षे तथा दृष्टत्वादादरणीयमित्याह—

संवित् परिस्फुरति न स्फुरतीति तस्या
वैजात्यदूषितधियोऽप्यत्रिसत्रदन्ते ॥
अज्ञानतस्तदपि तद्वदिहाद्वयत्वं
भादप्रभादिव विमूढधियो वदन्ति ॥ २१३ ॥

संविदिति ॥ तस्याः संविदः वैजात्यं स्वरूपेणैव स्फुरन्त्या अपि केन चिदाकारेणास्फुरणरूपम् इतरपदार्थविलक्षणत्वं तेन दूषिता कलुषीभूता धीर्येषां ते तथा । अविसंवदन्ते न विसंवदन्ते इत्यर्थः । छन्दोविदामपि क्वचिच्छान्दसः प्रयोगो दृष्टत्वादेव न दुष्टः । यदा ननु संवदन्त इति पाठो लभ्यते तदा न काऽपि चिन्ता । ननु तत्राप्यनुपपत्तिरेवेति चेत्, न । अस्फुरणस्य भ्रमत्वादित्याह । अज्ञानत इति । तदपि अस्फुरणमपि । स्पष्टमन्यत् ॥ २१३ ॥

अथ ननु स्फुरतो भ्रान्त्याऽपि स्फुरणाभावो विरुद्ध एवेति चेत्, तत्राह—

अव्युत्पत्तिं बिभ्रती भाति संवित्
तद्वद्ब्रह्माप्यद्वितीयस्वरूपम् ॥
अव्युत्पत्तिं नाशयद्भाति वेद्यं
तस्मादेतच्चोद्यमस्मासु नास्ति ॥ २१४ ॥

अव्युत्पत्तिमिति ॥ संवित् प्रत्यक्चिदात्मिका स्वयमलुप्तप्रकाशतया भासमानाऽपि अव्युत्पत्तिम् आवरणात्मकमज्ञानं बिभ्रती स्वाध्यस्त धारयन्ती तस्य सत्तां स्फुरणं चापादयन्ती भाति, तद्वत् अद्वितीयस्वरूपं ब्रह्मापि प्रत्यङ्मात्राकारेणाज्ञानं स्वावरणमिति । स्फुरणास्फुरणयोर्भावाभावरूपत्वाभावान्न विरोध इत्यर्थः । यद्यज्ञानावस्थायामप्यात्मनः स्फुरणमस्ति तर्हि तत्त्वज्ञानेन किमात्मनि स्यात्? तत्राह । अव्युत्पत्तिं नाशयदिति । वेद्यं वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यारूढं सत् तदेवात्मतत्त्वम् अव्युत्पत्तिशब्दितमज्ञानं नाशयद्बाधमानं भाति । अज्ञानावरणनिरासाय तत्त्वज्ञानमर्थवदित्यर्थः । यस्मादेवं यथोक्ताज्ञानमेवास्फुरणं न तु

ज्ञानाभावः स्वतश्च स्फुरणं नित्यम्, आवरणाज्ञानबाधनाय च तत्त्वज्ञानमप्यर्थवदित्यस्मन्मतं, तस्माद्भवतामपि भावाभावविरोधः समान इत्येतच्चोद्यम् अस्मासु न प्रसरतीत्युपसंहरति। तस्मादिति। इदमत्राकूतम्। स्फुरमाणाऽपि संविन्न नित्यात्मरूपेण तद्धर्मत्वेन वा स्थिरत्वक्षणिकत्वाद्यात्मना वा स्फुरति, किंतु स्वप्रकाशत्वेन स्वयं भाति, तत्रानवभासमानः उक्ताकारो न सवित्स्वरूपादन्यः तथात्वे मानाभावात्, तथाच स्वप्रकाशायां संविदि आगन्तुकज्ञानस्यानपेक्षणान्न तदभावनिबन्धनं तदस्फुरणं किंत्वभावविलक्षणाज्ञाननिबन्धनमेवेति ॥ २१४ ॥

अव एवम् इयता ग्रन्थेन न जीवाश्रयमज्ञानं नाप्यद्वैतब्रह्माश्रय किंतु प्रत्यङ्मात्राश्रयविषयं, तन्निमित्तश्च जीवेश्वरभावो न त्वज्ञानभावाभावाभ्यां, तयोरेकत्र विरोधात्, अत एव चाज्ञानस्य स्थितिनिवृत्त्योरपि ब्रह्मण्यनुपपत्तेर्बन्धमोक्षव्यवस्थाया अपि तत्र न सम्भव इति प्रतिपादितम्। तत्र बन्धमोक्षव्यवस्थाऽभावे तच्छास्त्रविरोधं चोदयति—

नन्वेवं चेद् बन्धमोक्षव्यवस्था-
शास्त्रं कुप्येन्नाप्रबोधात् प्रवृत्तेः ॥
बद्धो मुक्तो ज्ञानवानज्ञ इत्य-
प्येतत् सर्वं यावदज्ञानमिष्टम् ॥ २१५ ॥

नन्वेवमिति ॥ एवं चेत् प्रत्यक्चिन्मात्रगतैकाविद्यानिबन्धना चेद्व्यवस्थाऽऽस्थीयते तदा "जीवो बद्धः ईश्वरो मुक्तः शुको मुक्तो यज्ञदत्तो ऽयं बद्धः" इति बन्धमोक्षव्यवस्थाशास्त्रं कुप्येत् भेदाभावे तस्य निर्विषयत्वापत्तेरित्यर्थः। विद्वद्दृष्ट्या बन्धमोक्षव्यवस्थाऽभावेऽप्यविद्यादशायामविद्वद्दृष्ट्या तद्भावान्न शा-

स्त्रविरोध इति परिहरति । नेति। न शास्त्रं कुप्येदित्यर्थः। कुतः ? इत्यत आह। आप्तबोधात्प्रवृत्तेरिति। विदुषस्तु जीवतः शिष्यादिप्रतिभासो बाधितानुवृत्तिमात्रः प्रारब्धकर्माक्षिप्ताविद्यालेशानिबन्धन एवेति द्रष्टव्यम् । नन्वविद्वदवस्थायामप्यन्यस्यात्मनोऽभावात्स्वात्मनि बन्धनस्य प्रत्यक्षत्वाद्विदुषो मुक्तस्यान्यस्याभावादाचार्यासम्भवे कथं विद्याप्राप्तिरिति चेत्, तत्राह। बद्धो मुक्त इति । अक्षरार्थोऽतिरोहितः । व्यवस्थाशास्त्रस्य व्यावहारिकप्रामाण्यात् व्यवहारस्य चाविद्यानिबन्धनत्वादेकस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वाविद्याकल्पितानेकविचित्रोपाधिभिरनेकधा विभाव्यमानस्य बद्धमुक्तविद्वदज्ञत्वादिव्यवस्था सर्वाऽपि यावदज्ञानं स्वप्न इवोपपन्नैव, निवृत्ते त्वज्ञाने तत्कल्पितसकलभेदनिवृत्तेः व्यवस्थाप्यविषयाभावाद्विद्यावस्थायां सर्वव्यवस्थातत्प्रतिपादकशास्त्रादेरप्यभाव इष्ट एवेति भावः ॥ २१५ ॥

अथ अपि च बन्धमोक्षशास्त्रस्यान्यपरत्वादपि न तद्विरोधः शङ्कनीय इति वक्तुं विकल्पयति—

किं चैतत् किं बन्धमोक्षव्यवस्था-
शास्त्रं यत्नात्तत्परं सत् प्रवृत्तम् ॥
किं चान्यस्मात् प्राप्तमेवानुभाष्य
तस्या रूपं ब्रह्मतत्त्वं विदध्यात् ॥ २१६ ॥

किं चेति॥ एतत् बन्धमोक्षादिशास्त्रं यत्नात्प्रवृत्तं तत्र तत्परं सत् प्रवृत्तमिति योजना। अन्यस्मादाविद्वल्लोकव्यवहारात्। तस्याः इति तच्छब्दो व्यवस्थापरः। शास्त्रविशेषणत्वेनोपात्ता ऽपि व्यवस्था बुद्ध्या निष्कृष्य परामृष्टेति द्रष्टव्यम् । रूप्यते ऽस्मिन्निति रूपं सर्वव्यवस्थाविकल्पास्पदं ब्रह्मतत्त्वमिति योजना ॥ २१६ ॥

अथ तत्राद्यं पक्षं दूषयति—

शास्त्रं तावत्तत्परं नेष्यते त-
दानर्थक्यात्तत्स्वरूपप्रतीतेः ॥
ब्रह्मात्मैक्यप्रत्ययेनार्थवत्त्वं
वक्तुं युक्तं तच्च नोऽभीष्टमेव ॥ २१७ ॥

शास्त्रमिति ॥ तत् बन्धमोक्षादिबोधकं शास्त्रं तत्परं स्वार्थपरं तावन्नेष्यते, कुतः? तत्स्वरूपप्रसिद्धेरानर्थक्यात् "असौ मुक्तोऽयं बद्धः" इत्यादिज्ञानात्पुरुषार्थादर्शनादित्यर्थः। तर्हि किंपरं तच्छास्त्रम्? इत्यपेक्षायां तदपि ब्रह्मात्मैक्यपरमेवेति द्वितीयपक्षमङ्गीकरोति। ब्रह्मात्मैक्येति। जीवस्य ब्रह्मत्वबोधकमहावाक्यप्रत्ययपर्यवसानात्तेनार्थवत्त्वं बन्धमोक्षादिशास्त्रस्य वक्तुं युक्तम् इत्यक्षरार्थः। एतदुक्तं भवति। पूर्वेषां वामदेवादीनां ब्रह्मविद्यया मोक्षप्राप्तिकथनेन इदानीन्तनस्यापि विद्यया मोक्षः स्यादेवेत्याश्वाससिद्धिः, अत्र ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य प्रवृत्तावेतदर्थवादवाक्यकृतः उपकारस्तेन द्वारेणैव तादृशं शास्त्रं ब्रह्मात्मतत्त्वं विदध्यादिति। नन्वर्थवादत्वेऽपि नायं गुणवादः तस्य मानान्तरविरोधित्वात्तेन व्यवस्थाया असम्भवात्। नाप्यनुवादो वामदेवमुक्त्यादेरागमेतरप्रमाणासिद्धेः। परिशेषात् देवताऽधिकरणन्यायेन भूतार्थवादतया व्यवस्थाहेतुताऽस्यास्थेयेति चेत्, सत्यम्। तदास्थीयत एवेत्याह। तच्च नोऽभीष्टमेवेति। यादृग्व्यवस्थारूपमास्थितं सत् ब्रह्मात्मप्रत्ययोपयोगि स्यात् तादृशं शास्त्रं प्रमाणं तस्मिन् दृष्टमेवेत्यर्थः। न चैवं सत्यन्यस्मात्प्राप्तमेवानुभाष्येत्यनुवादकत्वेन विरोधः शङ्कनीयः, सामान्यतोदृष्टनिबन्धनत्वादाविद्वद्व्यवहारत एतत्प्राप्तेः। सामान्यतो दृष्टस्य च सम्भावनामात्रहेतुत्वे ऽपि न निश्चयहे-

तुतः । तस्मात्तदनुवादित्वे ऽपि शास्त्रप्रामाण्यादेव बन्धमोक्षव्यवस्थासिद्धिः । ब्रह्माविद्यया बन्धस्तत्त्वविद्यया मोक्ष इति या व्यवस्था " यत्र हि द्वैतमिव भवति " " यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदिति " श्रुतिशास्त्रोक्ता ता व्यवस्थामुपोद्बलयन्नयमर्थवादस्तच्छेषतया प्रामाण्यमश्नुते इत्यभिप्रायः ॥ २१७ ॥

अव तदेवमविद्वद्दृष्ट्यैव बन्धमोक्षव्यवस्था तद्विषयमेव च शास्त्रमपि, न विद्वद्दृष्ट्येत्युक्तम् । एवं तर्हि वस्तुतो बन्धमोक्षव्यवस्थाऽभावात् "मत्तो ऽन्यः कश्चिन्मुक्तो बद्धो वा कश्चिदपि नास्ति" इत्युक्त स्यात् । तच्चानुभवविरोधादयुक्तमिति चोदयति—

नन्वन्यो मद् बन्धमोक्षादिभागी
भूतो भावी वर्त्तते वा न कश्चित् ॥
इत्युक्तार्थं स्वानुभूत्या विरोधा-
न्नाहं जातु प्रोत्सहे संग्रहीतुम् ॥ २१८ ॥

नन्विति ॥ मदन्यः कश्चिदिति संबन्धः । एक एवात्मा बद्धश्च मुक्तश्च नान्यः कालत्रयेऽपीति योऽर्थो भवद्भिरुक्तस्तमर्थं संग्रहीतुं नोत्सहे । स्वानुभूत्या विरोधात् । न स्वानुभवविरुद्धं युक्तिशतेनापि व्यवस्थितं भवेत्, अनुभवार्थत्वात् युक्तीनामित्यर्थः ॥ २१८ ॥

अव येनानुभवेन विरोधात्परमार्थतो बन्धमोक्षादिव्यवस्था नास्तीत्यस्मदुक्तिर्न संगृह्यते को ऽसावनुभवः ? इति वक्तव्यमिति विकल्पयति—

किं द्वैतानुभवो विरोधपदभाक् किं वा परोऽस्मीत्ययं
यद्वा कश्चिदिहापरोऽस्त्यनुभवो यस्ते विरोधावहः ॥
नाद्वैतानुभवः क्षतिं वितनुते तस्येति युक्तं वचो

नापि द्वैतमुपोल्लिखन्ननुभवस्तेनास्य बाधो यतः॥२१९॥

किं द्वैतानुभव इति ॥ अध्यात्मादिद्वैतदर्शनं द्वैतानुभवः किं स विरोधपदभाक् किमयमस्मदुक्ते ऽर्थे विरोधमाचरति, किंवा परः परमात्माऽस्मीत्ययमद्वैतानुभवो वाक्यजन्यः, यद्वा अन्यः कश्चिदिह व्यवहारभूमावनुभवो द्वैतग्राहकोऽस्ति यस्तव विरोधबुद्धिमावहतीति द्वैतादिकल्पत्रयार्थः। तत्र मध्यमे पक्षे न विरोध इति तावदाह।नाद्वैतानुभव इति।बन्धमोक्षव्यवस्था नास्ति किन्तु सत्यग्रूपं ब्रह्मैवास्तीत्यनुभवो ऽद्वैतानुभवः तस्मात् अस्मदुक्तार्थस्याद्वैतानुभवः क्षतिं वितनुते इति वचो न युक्तमित्यन्वयः। तस्य तद्रूपत्वेन विरोधाभावादित्यर्थः। आद्यं पक्षं प्रतिक्षिपति नापीति। अनुभव इत्यत्र क्षतिं वितनुते इत्यनुषङ्गः।कुतः?इत्यत्र आह। तेनास्येति। तेनाद्वैतानुभवेन समस्तद्वैततदनुभवोपमर्दकेन विद्वत्प्रत्यक्षरूपेणास्य द्वैतानुभवस्याविद्वद्दृष्ट्या बन्धमोक्षादिव्यवस्थासद्भावोल्लेखिनो यतो बाधो मत इति योजना। सर्वभेदव्यवस्थोपमर्द्यद्वैतानुभवसमये द्वैतानुभवस्यावस्थानाभावात्कथं तेन तद्बाधशङ्काऽवकाशः इत्यर्थः॥ २१९॥

अथ तृतीयं कल्पमनुवदति—

द्वैताद्वैतनिवेशिनोऽनुभवनाद्बाधोभयस्येति चेत्
तादृङ् नानुभवोऽस्ति कस्य चिदपि स्थानत्रये जीवतः॥
भास्वच्छार्वरगोचरं ह्यनुभवं बिभ्रज्जनो दृश्यते
तस्मिन् संसृतिमण्डले स न भवेत् कस्मादयं चेद्भवेत्॥२२०॥

द्वैताद्वैतेति॥ उभयस्येति द्वैतस्याद्वैतस्येवेत्यर्थः। एतादृशोऽनुभव एव नास्ति विरोधात्, बाधकत्वं तु तस्य दूरनिरस्तमेवेति परिहरति।तादृगिति। स्थानत्रये जाग्रदादिलक्षणे। जीवतो वर्त्त-

मानस्येत्यर्थः । यद्वा विद्योदयात्प्रागूर्ध्वं तत्काले च वर्तमानस्येत्यर्थः । विरोधमेव स्पष्टयति । भास्वदिति । भास्वान् सविता, शार्वरं तमः, युगपत्सवितृतमोगोचरमनुभवं बिभ्रज्जनोऽस्मिन्संसारमण्डले व्यवहारभूमौ न दृश्यते । अयं चेत् द्वैताद्वैतानुभवो भवेत् तदा सवितृतमोगोचरोऽनुभवः कस्मान्न भवेत्, उभयत्र विरोधस्य तुल्यत्वादिति योजना । व्यवस्थाप्रमाणस्य व्यवहारगोचरत्वादद्वैतप्रमाणस्य च तत्त्वावेदकत्वान्नानयोः सम्भूय प्रवृत्तिरित्यतो नायमस्मदुक्तार्थबाधकः इति भावः ॥ २२० ॥

अव तस्माद्बाधकानुभवाभावाद्वस्तुनि बन्धमोक्षव्यवस्थालक्षणम् अन्यद्वा द्वैतं वस्तुतो नास्तीति अस्मन्मतं न केनापि विरुद्ध्यते इत्युपसंहरति—

यत एवमत्र न विरोधलवोऽ-
प्युपढौकते कथितनीतिवशात् ॥
उपगृह्यतां मतमिदं सुदृढं
गुरुसंप्रदायवचनानुगतम् ॥ २२१ ॥

यत एवमिति ॥ एवं सति अत्रास्मन्मते कथितनीतिवशान्न विरोधलवोऽप्युपढौकते यतः अतः इदं मतम् अस्मदीयमुपगृह्यतामङ्गीक्रियतां, यतः सुदृढम् अबाधितम् । न केवलं युक्तित एव सुदृढम् अपि तु गुरुसंप्रदायवेदवचनानुगतं प्रमाणसिद्धं चेति योजना ॥ विवर्त्तवादे गुरुसंप्रदायवचनानुगतिः पूर्वमेव दर्शितेति भावः ॥ २२१ ॥

अव इदमुपगृह्यतामित्युक्तमेव विशदयति —

तव गाढमूढतमसा रचितं
जगदीशजीववपुषा सकलम् ॥

प्रतिभाति तावददृढं दृढवत्

समुदेति यावदवबोधरविः ॥ २२२ ॥

तव गाढेति ॥ अवबोधरविः वाक्यजन्यज्ञानभास्करो यावत् समुदेति तावत् तव प्रत्यगात्मनो गाढमूढेन प्राप्तेन स्वस्मिन्नध्यस्तेन तमसाऽनाद्यनिर्वचनीयेनाज्ञानेन रचितं जगदीशजीवरूपेण विकृतं विश्वमदृढमपि दृढवत्प्रतिभाति स्वप्न इवाप्रबोधोदयम्, उदिते तु तत्त्वावबोधे द्वैतलेशोऽपि न प्रतिभासते इत्यर्थः॥२२२॥

अथ ननु आश्चर्यमेतत् असन्नेवायं विचित्रो द्वैतप्रपञ्चो निर्विपरीतस्वभावे आत्मनि प्रतिभासते इति चेत्, न । अविद्यातिमिरावृतदृष्टेः सर्वाश्चर्यसम्भवादित्याह—

प्रभुरेष सर्वविदहं कृपणो

जगदेतदद्भुतवितानमिति ॥

प्रतिपत्तयस्तिमिरलुप्तदृशो

यदिहोद्भवन्ति न तदद्भुतकम् ॥ २२३ ॥

प्रभुरेष इति ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् ॥ २२३ ॥

अथ अविद्यावस्थस्य चैवं प्रपञ्चदर्शनं, निवृत्तायामविद्यायां विद्वान्न किञ्चिद्विचित्रं पश्यति दुःखं वाऽनुभवतीत्याह—

अभयं सनातनमनातुरधी-

रवलोकयन्निजमनन्तसुखम् ॥

न मुनिः प्रपश्यति किमप्यसुखं

सकलं जिघत्सति जगत् स्वचिता ॥ २२४ ॥

अभयमिति॥अनातुरधीः अविक्षिप्तचित्तो मुनिः तत्त्वज्ञान-

वान् अनन्तसुखम् अपरिच्छिन्नानन्दरूपं ब्रह्म निजं प्रत्यग्रूपं स्वरूपमवलोकयन् साक्षात्कुर्वन् किमप्यसुखं दुःखरूपं संसारं न पश्यति नानुभवति। निजमित्यस्य विशेषणम् अभयं सनातनमिति च। निर्विकारं नित्यं चेत्यर्थः। कस्मादेवंविधं निजं तत्त्वं पश्यन् दुःखं किमपि न पश्यतीति, तत्राह। सकलमिति। स्वचितेतीत्थंभावे तृतीया। यस्मात्सकलं जगत् स्वचिता स्वरूपचैतन्यात्मना जिघत्सति खादितुमिच्छति स्वात्मसात्करोतीत्येतत्। आरोपितनिवृत्तेरधिष्ठानादन्यत्वासम्भवादित्यर्थः ॥ २२४ ॥

अथ नन्वात्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्याविद्यात्मकत्वे साधकाभावान्निजरूपवस्तुनः कुतः सिद्धिः। न चाविद्यैव तत्साधिकेति युक्तं, तस्या विपरीतप्रत्ययहेतुत्वात्। न चोभयहेतुत्वं, विरोधादिति चेत्, तत्राह—

तव चित्तमात्मतमसा जनितं
परिकल्पयत्यखिलमेव जगत् ॥
तव कल्पनाविरचितः स गुरु-
स्तव रूपमद्वयमुदाहरति ॥ २२५ ॥

**तव चित्तमिति** ॥ आत्मतमसा निजाविद्यया जनितं तव चित्तम् अखिलमेव जगत् परिकल्पयतीति हि शास्त्रस्थितिरित्यर्थः। तत्र सः प्रसिद्धो गुरुरपि तव कल्पनाविरचितः सन् तवाद्वयं निजं स्वरूपमुदाहरति बोधयतीति योजना। अविद्या पूर्वपूर्वप्रपञ्चभ्रमसंस्कारसचिवाऽऽत्मनि लीनचित्तमुत्पाद्य प्रपञ्चमात्मन्यवभासयति, सैव कदाचिद्विशुद्धधिषणामुत्पाद्य तत्त्वजिज्ञासां जनयन्ती तत्त्वज्ञानसाधनं गुर्वादिकमपि कल्पयित्वा तद्द्वारा स्वरूपप्रकाशमपि जनयतीति नात्र कोऽपि विरोध इति भावः ॥ २२५ ॥

अथ ननु चित्तदृश्यत्वे ऽप्यर्थक्रियासमर्थत्वात्कथं जगतो गुर्वादेर्वा ऽविद्यामयत्वं सत्यत्वोपपत्तेरिति चेत्, तत्राह—

न हि चित्तदृश्यमपि सत्यमिति
प्रतिपन्नमस्ति भुवि किं चिदपि ॥
रशनाभुजङ्गसदृशं सकलं
जगदिन्द्रजालमिति सिद्धमतः ॥ २२६ ॥

न हि चित्तेति ॥ यत् चित्तदृश्यं तन्न हि सत्यं क्वाप्युपपादयितुं शक्यं तस्य रशनाभुजङ्गवद्बाध्यत्वनियमात्, व्यवहाराविसंवादस्य च स्वप्न इवाप्रबोधमुपपत्तेरित्यर्थः । तस्माच्चित्तकल्पितस्य सर्वस्याविद्याकल्पितत्वं न विरुध्यते इत्युपसंहरति । रशनेति । अत इति प्रथमं योज्यम् ॥ २२६ ॥

अथ ननु यदि कल्पितो ऽप्यर्थो वस्तु बोधयेत् तदा को ऽयमाचार्यादिष्वाग्रहो ऽन्यस्मादपि कल्पितात्तत्सिद्धिरस्त्विति चेत्, तत्राह—

परिकल्पितो ऽपि सकलज्ञतया
गुरुरेव पूर्णमवबोधयति ॥
परिकल्पितो ऽपि मरणाय भवे-
दुरगो यथा न तु नभो मलिनम् ॥ २२७ ॥

परिकल्पितोऽपीति ॥ यद्वा यच्च आचार्याद्यपि कल्पितमेव स्यात् तर्हि कल्पितस्य जडत्वान्न ततः परमार्थावबोधप्राप्तिरित्याह । परिकल्पितोऽपीति । परिकल्पितो गुरुरेव गुरुत्वेनाभिमत एव पूर्णं ब्रह्मावबोधयति न यत्किमप्यन्यत् । कुतः? सकलज्ञतया तत्त्वज्ञत्वादिति योजना । एतदुक्तं भवति । न हि परिकल्पितस्य

परिकल्पितत्वादेव तत्त्वावबोधहेतुत्वमिष्यते किंतु सर्वज्ञत्वादेव, सर्वज्ञो हि गुरुत्वेन कल्प्यते न जड इति । यद्वा परिकल्पितोऽपि गुरुः सकलज्ञतयैव परिकल्पितः सन् पूर्णमवबोधयत्येवेति योजना । अत्र कल्पितानामपि कल्पनाविशेषवशाद्व्यवस्थितविचित्रार्थक्रियाहेतुत्वस्य लोके दृष्टत्वान्नासम्भावना कार्येत्यभिप्रेत्य उदाहरणमाह । परिकल्पितोऽपि मरणायेति । उरगो रशनायां परिकल्पितः । शङ्काविषेणापि मरणदर्शनादित्यर्थः ॥२२७॥

अथ मिथ्याभूतमपि सत्यार्थहेतुः क्वचिद्भवतीति सम्भावनामुक्त्वा सत्यत्वं सत्यार्थबोधे न प्रयोजकं किन्तु शक्तत्वेनावधारितमात्रमेवेत्याह—

यदि सत्यमित्यवगतिं कुरुते
घटते घटादपि हुताशनधीः ॥
यदि चानृत न जनयेत् प्रमितिं
ननु चोदनाऽपि जनयेन्न धियम् ॥ २२८ ॥

यदि सत्यमितीति ॥ सत्यत्वमेव चेत् सत्यार्थबोधहेतुः तर्हि धूमादिवद्घटादपि हुताशनधीर्घटते जायेतेत्यर्थः । अनृतं चेत्प्रमितिं न जनयेत्तदा ननु निश्चितं चोदना विधिवाक्यमपि धर्मविषयां धियं न जनयेत्, तस्या अनृतत्वादित्यर्थः । तस्मात्सत्यत्वानृतत्वे न प्रामाण्याप्रामाण्यप्रयोजके किन्तु व्यावहारिकप्रमाणसमधिगता विशेषाः, ते च सत्यत्वपक्षे इवानृतत्वपक्षेऽप्यविशिष्टा इत्यतो नोक्तदोषः इति भावः ॥ २२८ ॥

अथ चोदनाया अनृतत्वं सिद्धवत्कृत्योक्तं साधयति—

जनयत्यसाविह मृषावपुषा

करणीयवस्तुनि मतिं सुदृढाम् ॥
ध्वनिधर्मभेदघटितो हि मृषा
स्वरसेन सन्नपि तु वर्णगणः ॥ २२९ ॥

जनयत्यसाविति ॥ इह व्यवहारभूमौ असौ चोदना मृषावपुषा मिथ्याशरीरेण करणीयवस्तुनि अनुष्ठेये यागादौ सुदृढां प्रमारूपां मतिं जनयति । कथमस्या मृषावपुष्ट्वं वर्णात्मकत्वात्, वर्णानां च सत्यत्वादित्यत आह । ध्वनिधर्मेति । वर्णगणः स्वरसेन स्वरूपतः सन्नपि सत्योऽपि ध्वनिधर्मभेदैरुदात्तादिभिर्ह्रस्वादिभिश्च घटितो विशिष्टः सन् मृषा मिथ्यैव, न ह्युदात्तादिधर्मविशेषवैशिष्ट्यं विना वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतिर्जायते, न च वर्णेषु ते परमार्थाः व्यभिचारित्वात् किन्त्वारोपिता एव अतो ध्वनिधर्मविशिष्टचोदना मृषेवेत्यर्थः ॥ २२९ ॥

अथ उदात्ताद्यारोपितधर्मविशिष्टस्यैव शब्दस्य बोधकत्वमित्यत्र नैरुक्तसम्मतिमाह—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ २३० ॥

मन्त्रो हीन इति ॥ स्वरतो वर्णतो वा हीनो यथास्थानमपेक्षितस्वरादिवैशिष्ट्यहीनो मन्त्रः प्रयुज्यमानो मिथ्याप्रयुक्त इत्युच्यते, स्वराद्यन्यथात्वमेव मिथ्यात्वमित्यर्थः । एवं प्रयुक्तो मन्त्रो न तमर्थमाह यस्मिन्नर्थे प्रयुज्यते तमित्यर्थः । न केवलं विवक्षितार्थाकथनमात्रं दोषो मिथ्याप्रयोगे, अपि तु अनि-

ष्टजनकत्वं चेत्याह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्तीति। स मन्त्रो-वाग्वज्ररूपः सन् यजमानम् अनिष्टेन योजयतीत्यर्थः । तत्रोदा-हरणमाह । यथेति । त्वष्टा हि देवो विश्वरूपाख्ये स्वपुत्रे इन्द्रेण हते क्रुद्धः सन् इन्द्रनिग्रहसमर्थपुत्रोत्पादनायाभिचारिकं कर्म कुर्वन् "स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इत्यनेन मन्त्रेणातिशिष्टं सोममग्नौ जुहावेत्या-ख्यायिका वेदे पठ्यते, तत्र तत्पुरुषे स्वरे प्रयोक्तव्ये बहुव्रीहि-स्वरमाद्युदात्तम् इन्द्रपदं मन्त्रे प्रयुक्तवान् तेन दोषेणोत्पन्नस्य वृत्रासुराख्यस्य पुत्रस्य इन्द्रो हन्ता संवृत्तः इत्यनर्थपर्यवसायी मन्त्रप्रयोगो जात इत्यर्थः । तथाच ब्राह्मणम्—

"स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्मादस्येन्द्रः शत्रुरभवत्" इति॥२३०॥

अथ नन्वेवं सति यस्य धर्मा उदात्तादयः सैव चोदनाऽस्तु अतो नानृता चोदना भविष्यतीति चेत्, मैवम् । मीमांसकैस्त-थाऽनभ्युपगमादित्याह—

न च वर्णपूगमपहाय भवे-
दिह चोदनेत्यभिमत त्रिदुषाम् ॥
यदि सत्यमेव गमकं भवति
स्फुटमप्रमाणमियमप्युदिता ॥ २३१ ॥

न च वर्णेति ॥ विदुषां मीमांसकानां वर्णेष्वेव चोदना-त्वमभिमतं न ध्वनिष्वित्यर्थः । तथा च सत्यमेव गमकं चेत्तदा चोदनायाः प्रामाण्यं न लभ्येतेत्याह । यदि सत्यमिति। इयमपि चोदना ॥ २३१ ॥

अथ वर्णानामुत्पत्तिमत्त्वात्तद्धर्मा एवोदात्तादय इति न चो-दनाया अनृतत्वप्राप्तिरिति तार्किकमतमाशङ्क्य, तान्प्रत्युदाहरणा-न्तरमाह—

श्रवणेन्द्रियं च किल कर्णगतं
परिकल्पनोपचरितं नभसः ॥
वलयं प्रकाशयति शब्दगणं
परमार्थमित्यपि कणादमतम् ॥ २३२ ॥

श्रवणेन्द्रियमिति ॥ कर्णगतं नभसो वलयं किल श्रवणेन्द्रियमिति परिकल्पनयोपचरितं शब्दगणं यत् प्रकाशयति तत् परमार्थमिति कणादमतमपि दृश्यते एव, अतो न तैरपि सत्यत्वाग्रहः कार्य इत्यर्थः। न ह्याकाशस्य स्वरूपेण श्रोत्रत्वमस्ति। तथा सति सकृदुत्पन्नस्य शब्दस्य सर्वत्रोपलम्भप्रसङ्गः। किन्तु कर्णदेशावच्छिन्नस्य। न हि सोऽवच्छेदो नभसः परमार्थः, निरवयवस्य पूर्णस्यैकदेशतः स्वरूपतो वाऽवच्छेदासम्भवात्। अतः कल्पितोऽवच्छेदः कल्पितं च यथाकल्पनमर्थाभावान्मिथ्यैव। तादृशादपि सत्यार्थप्रतिपत्तिरभ्युपगतेति न चोद्यावसर इति भावः ॥२३२॥

अथ तस्मात्कल्पितयैव विद्यया ऽविद्यानिवृत्तिं कल्पितेनैवाचार्यादिना विद्योत्पत्तिं चाङ्गीकुर्विति शिष्यं प्रत्याह—

त्वमतः स्वमोहरचितं गहनं
भवसागरं तर परावगतेः ॥
परिकल्पितद्वयनिबन्धनतः
परमार्थसंविदुदये सति भोः ॥ २३३ ॥

त्वमत इति ॥ यत एवमविरोधो ऽतः इत्यर्थः। भोः सुबुद्धे परिकल्पतगुरुशिष्यशास्त्ररूपद्वयनिबन्धनतो द्वैतावष्टम्भेन परमार्थसंविदुदये सति परावगतेः परब्रह्मणः साक्षादभिव्यक्तेर्हेतोः स्वमोहरचितं गहनं भवसागरं तर स्वस्थो भवेति योजना ॥ २३३ ॥

अथ तदेवं प्रतिबन्द्या कल्पितस्य तत्त्वावगतिहेतुत्वमुक्तम्, इदानीं पराभिमतात् स्वाभिमतस्य विशेषं दर्शयन् कैमुतिकन्यायमनुसरति—

भ्रान्त तथोपचरितं च यथाविभाग-
मङ्गीकृतं कणभुगादिमुनीन्द्रमुख्यैः ॥
यन्नास्ति तत्फलनिबन्धनमस्मदीये
तन्त्रे तमोविरचितं न फलाय कस्मात् ॥२३४॥

भ्रान्तमिति ॥ उदात्तादिभेदाविशिष्टवर्णस्वरूपं भ्रान्तं, तथोपचरितम् उक्तरूपं श्रवणेन्द्रियं च यथाविभागं स्वस्वमतानुसारेण कणभुगादिमुनीन्द्रमुख्यैः अङ्गीकृतं, जैमिनीयैः काणादैश्चाभ्युपगतमित्यर्थः । तच्च तैरसदेव सदर्थप्रतीतिकरणमभ्युपगतमित्याह । यन्नास्तीति । फलनिबन्धनं सत्फलकारणमिति यावत् । परमतयोरुक्तोदाहरणद्वयस्य केनापि रूपेण सत्त्वेऽपि सदर्थप्रतीतिहेतुविशिष्टाकारेणापि न सत्त्वमस्ति, आरोप्यसंसर्गस्य तैरधिष्ठाने सत्त्वानङ्गीकारात् । एवमसदपि चेत् सदर्थं प्रत्याययेत्तदाऽसद्विलक्षणमनिर्वचनीयं प्रत्याययेदिति किमु वक्तव्यमित्याह । अस्मदीये इति । तमोविरचितम् अनाद्यनिर्वचनीयाज्ञानविलसितम् असद्विलक्षणतया सत्त्वेन प्रतीतियोग्यमित्यर्थः ॥ २३४ ॥

अथ नन्वनिर्वचनीयस्यैव मुख्यतया सदर्थप्रत्यायकत्वानुपपत्तिः इतीच्छावादिनं प्रत्याह—

असदपि फलवत्तामश्नुते युष्मदिच्छा-
मनुसरदथ कस्मान्मायया निर्मितं सत् ॥

न भवति फलवत्ताभाजनं चित्रमेतद्
वयमिह न समर्था यूयमत्यन्तशक्ताः ॥ २३५ ॥

असदपीति ॥ युष्मादिच्छामनुसरादिति वदता असतः फलवत्त्वकल्पने प्रमाणयुक्ती न स्तः इति सूचितम् । असदपि सत्फलार्थं भवति, असाद्विलक्षणं मायानिर्मितं न भवतीत्येतच्चित्रम् अहो आश्चर्यम् ! इत्यर्थः । अन्यत्सुगमम् ॥ २३५ ॥

अव कल्पितस्य कल्पिताकारेणैव तत्त्वावगतिहेतुत्वमित्यङ्गीकारे परः कोऽपि दोषं तत्र वक्तुं न शक्नुयादिति स्थितम् । अस्मत्प्रक्रियायां तु चोद्यस्यास्योदय एव नास्तीत्याह—

परमेव तत्त्वमगृहीतमभू-
दखिलस्य कारणमनर्थकरम्
परमेव तत्त्वमवबुद्धमतः
परितृप्तये भवति पुष्कलतः ॥ २३६ ॥

परमेवेति ॥ परमेवाखिलस्य कारणं सर्वाधिष्ठानं तत्त्वम् अविद्यावशादगृहीतं सत् अनर्थकरमभूत्, नाविद्यामात्रमनर्थकारणं, तस्याः स्वतो जडाया अकिञ्चित्करत्वात्, किन्त्वधिष्ठानसामर्थ्यावलम्बनेनैवाविद्याया अपि सामर्थ्यमेतत्प्रागुक्तमेव "आत्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन" इति । अतः परमार्थमेव वस्तु अविदितं सत् साभासाविद्याद्वारा सर्वानर्थहेतुरित्यस्मन्मतमित्यर्थः। पुरुषार्थहेतुत्वमपि परमार्थस्य चिद्वस्तुनः एवेत्याह परमेवेत्युत्तरार्धेन । परमेव तत्त्वमनिर्वचनीयवाक्योत्थबुद्धावभिव्यक्ततयाऽवबुद्धं सत् पुष्कलतः परितृप्तये भवति परिपूर्णचित्सदानन्दात्मनाऽवस्थानरूपपुरुषार्थायानकल्पते, वाक्योत्था वृत्ति-

द्वारमात्रं न स्वयं पुरुषार्थहेतुरित्यप्यस्मन्मतमित्यर्थः । तादृश-वृत्तिहेतुत्वमपि परमात्मन एव परिकल्पितविद्वच्छरीरादिद्वारा-ऽऽचार्यभावेन कल्पितवर्णकलापवेदत्वेन चेत्यपि द्रष्टव्यम् ॥२३६॥

अथ ननु परतत्त्वमेव चेत् ज्ञानाज्ञानाभ्यामर्थानर्थहेतुस्तर्हि तस्य सदा सत्त्वात्तत एव बन्धमोक्षौ स्यातामिति कोऽपराधो मम यत्नो वा को मया कार्यः स्यादिति चेत्, तत्राह—

तव रूपमेव बत दुःखकरं
यदि तन्न पश्यसि बहिर्मुखधीः ॥
तव रूपमेव तव तृप्तिकरं
यदि तत् प्रपश्यसि निवर्त्य तमः ॥ २३७ ॥

तव रूपमिति ॥ न हि परं तत्त्वं त्वत्तो भिन्नं किं तु तव रूपमेव "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतेः । अतो बताहो कष्टं! बहिर्मुखधीः देहादावात्मबुद्धिः सन् यदि तत् तव तत्त्वं न पश्यसि श्रुत्याचार्याभ्यां नावगच्छसि तदा तव रूपमेव परं तत्त्वं तव दुःखकरं संसारापादकं भवति, अतस्तवैवापराधात्तव दुःखमित्यर्थः । तदुक्तं भगवता "आत्मैव रिपुरात्मनः" इति। यदि पुनः श्रुत्याचार्यप्रसादेनानाद्यज्ञानरूपं तमः निवर्त्य तत् परं तत्त्वं पश्यासि साक्षादनुभवसि तदा तदेव रूपं तव तृप्तिकरं कृतार्थत्वापादकं भवतीत्यर्थः । तदुक्तम् " आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः" इति ॥ २३७ ॥

अथ तदेवं यथोक्तरीत्या सर्वस्यापि द्वैतभानस्याविद्यामात्रत्वे सिद्धे प्रत्यगात्मनो हेयोपादेयाभावोऽपि सिद्धः इत्याह—

तव बोधमात्रमनुपनेयमत-

स्तव मोहमात्रमपनेयमपि ॥
तव बोधमोहजनिहानिकर
वचनं त्रयीशिरसि तत्त्वमिति ॥ २३८ ॥

**तव बोधमात्रमिति** ॥ यतोऽनर्थरूपं सर्वमविद्यामयम् आत्मा नित्यशुद्धमुक्तस्वभावो ऽतः कारणात् तव बोधमात्रं बुद्धिवृत्तिमात्रमात्मासाधारणाकाराकारितमुपनेयं सम्पाद्यं नान्यदित्यर्थः । तेन च तव अपनेयमपि मोहमात्रमेव नान्यदित्यर्थः । उक्तबोधजन्मद्वारा मोहहानिमात्रं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापि कृत्यं नापूर्वाधानामित्याह । तव बोधमोहेति ॥ २३८ ॥

अथ पूर्वपद्योक्तमात्रशब्दद्वयव्यावर्त्यमाह—

तव बोधजन्मनि पुरा न पुन-
स्तव कश्चिदप्यतिशयो भवति ॥
तम एव पूर्वमभवन्न भव-
त्यवबोधजन्मनि ततो न परम् ॥ २३९ ॥

**तव बोधजन्मनीति** ॥ तव प्रत्यगात्मनो बोधजन्मनि विद्योत्पत्तिसमये पुरा ततः पूर्वं पुनर्विद्योदयानन्तरं वा तव कश्चिदप्युपादानलक्षणो हानलक्षणो वाऽतिशयो न भवति, अनाधेयातिशयकूटस्थस्वरूपत्वात्तवेत्यर्थः । ननु विद्योदयात्पूर्वं ममानर्थोऽभूदिदानीं तन्निवृत्तिर्जातेत्यतः कथमतिशयाभावः इति चेत्, तत्राह । तम एवेति । पूर्वं विद्योदयात्त्वयि तमोऽज्ञानमेवाभवन्न तदतिरिक्तोऽनर्थो भूदित्यर्थः । अवबोधजन्मनि सति इदानीं न भवति तम इत्यनुवर्तते, ततस्तमोनिवृत्तेरपरं बोधकृतमतिशयरूपं नाभूदस्ति भविष्यति चेत्यर्थः ॥ २३९ ॥

अथ तर्हि तमसो भावाभावावतिशयौ मयीति कथमनाधेयातिशयत्वं ममेति चेत्, नेत्याह—

न तमोऽपि पूर्वमभवन्न भव-
त्यवबोधजन्मनि तमोऽभिभवः ॥
तम एव केवलमिदं सकलं
न तमो विनाऽऽत्मनि किमप्यभवत् ॥ २४० ॥

न तमोऽपीति ॥ पूर्वं विद्योदयात् तमोऽपि न भवेदेव अत एवावबोधजन्मनि तमोऽभिभवोऽपि न भवति, तमसो वस्तुसंस्पर्शत्वाभावादित्यर्थः । तर्हि किमिदमुद्घुष्यते 'पूर्वं तमोऽभूत् इदानी तन्निवृत्त्या कृतकृत्यता ज्ञाता" इति चेत्, एतदप्यज्ञानमेवेत्याह । तम एव केवलमिति । "पूर्वं तमोऽनर्थकरमभूत् इदानी तन्निवृत्तौ कृतकृत्योऽभूवमहम्" इत्यादि सकलमपि केवलं तम एव अज्ञानमात्रं न तु तमो विनाऽऽत्मनि किमप्यभवत् आत्मा सदैकरूप एव तस्मिन् बन्धमोक्षादिकं सर्वमज्ञानादेव भाति न परमार्थत इत्यभिप्रायः ॥ २४० ॥

अथ तमसो निवृत्तिरपि तम एवेति यदुक्तं तदयुक्तम् । प्रतियोगितदभावयोरेकत्वायोगादिति भ्रमान्मन्वानं प्रतिबोधयति—

न तमः परिहृत्य लभ्यते
तमसो हानिगता निरूपणा ॥
इति सा तम इत्युदीरिता
न निवृत्तिस्तमसस्तमोमयी ॥ २४१ ॥

न तमः परिहृत्येति ॥ तमसो हानिगता निरूपणा

तमो निवर्त्तते इति प्रतिपादनं यत् तत् तमः परिहृत्य तमःप्रतियोगित्वेनानुल्लिख्य न लभ्यते इति कृत्वा सा तमोनिवृत्तिः तम इत्युदीरिता उक्ता, न त्वाप्तवस्त्वपेक्षया, न तु तमसो निवृत्तिस्तमोमयीत्यस्माभिरुक्तामिति योजना। अयं भावः। तमो नात्मनि परमार्थतः सङ्गतं सम्भाव्यते असङ्गकूटस्थस्वप्रकाशे तद्विपरीतस्य तमसो विरोधात्, किंत्वारोपितं तत्र तत् प्रतिषिध्यते, यत्रारोपितं प्रतिषिध्यते तत्र तन्निवृत्तेः "यक्षानुरूपो हि बलिः" इतिन्यायेन तदानुरूप्यादनिर्वचनीयाज्ञाननिवृत्तिरप्यनिर्वचनीयैव। बाधो ह्यत्र निवृत्तिशब्दार्थः। स च कालत्रयाभावबोधलक्षणः इत्यप्राप्तमेव प्राप्तवत्प्रतिषिध्यते दिव्यग्निनयननिषेधवत् इत्यतस्तमोरूपा तमोनिवृत्तिरिति वाक्प्रवृत्तिमात्रमेतदुक्तं मिथ्यात्वाभिप्रायेण, न पुनस्तमःप्रतियोगिकाभावाभिप्रायेणेति ॥ २४१ ॥

अथ तदेवं प्रत्यक्षादिविरोधं ब्रह्मात्मनि वेदान्तसमुच्चयस्य परिहृत्य, इदानीं कर्मकाण्डेन विरोधमपि परिहरति—

विधयश्च कर्मविषयाः स्वतमः-<br>
पटलावृते त्वयि बहिर्मनसि ॥<br>
कुत एव सम्यगवबोधहृते<br>
तमसि प्रवृत्तिरिह सम्भवति ॥ २४२ ॥

विधयश्चेति ॥ कर्मविषयाः विधयश्च स्वतमःपटलावृते बहिर्मनसि त्वयि सति प्रवर्तन्ते तवाविद्यावस्थायां भ्रान्तिसिद्धकर्तृत्वाद्यादाय त्वां प्रवर्तयन्ति, अविद्यावद्विषयं कर्मकाण्डमित्यर्थः। इदानीं सम्यगवबोधेन निराकृते तमसि सति इह कर्मसु कुत एव प्रवृत्तिः सम्भवति, क्रियाकारकफलभेदबुद्धेरुपमर्दितत्वा-

न्निर्विषयं कर्मकाण्डं कथं त्वामिदानीं प्रवर्त्तयेदित्यर्थः । विद्याव-स्थायामधिकार्यभावाद्विधीनामपि न प्रामाण्यमित्यभिप्रायः॥२४२॥

अथ यथा विद्याया जातायामपि प्रत्यक्षादि प्रवर्त्तते अन्यथा जीवनासम्भवात्, तथा विधयो ऽपि देहधारणकाले प्रवर्त्तन्तामिति चेत्, न। तस्यां दशायां पारलौकिकफलेच्छाऽभावात् तया विना तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, प्रत्यक्षादेश्च बाधितानुवृत्तिमात्रत्वाद्विदुषः इत्यभिप्रेत्याह—

विदिते पदे भगवतः परमे

परिपुष्कले परमतृप्तिमतः ॥

तव तृष्णया विरहितस्य कथं

विधिषु प्रवृत्तिरपवर्गतः ॥ २४३ ॥

विदित इति॥ परिपुष्कले क्रियाकारकादिसर्वव्यवहारातीततया परिच्छेदाभावात्परिपूर्णे भगवतः परमे सर्वोत्तमे पदे विदिते साक्षात्कृते सति परमतृप्तिमतः संप्राप्तसकलकामस्य परमानन्दरूपस्य तव अत एवार्वाचीनस्वर्गादिविषयया तृष्णया रहितस्यापवर्गवतो निवृत्तसर्वक्लेशस्य कथं विधिषु प्रवृत्तिः, न कथमपि, द्वाराभावादित्यर्थः ॥ २४३ ॥

अथ ननु फलेच्छाऽभावे ऽपि यावज्जीवादिशास्त्रं कर्तव्यतां कर्मणां बोधयेदेव, अतः कथमप्रवृत्तिर्विदुषः इति चेत्, तत्राह—

अभिचारकर्मविधयो हि यथा

फलभागबाधमनु बाधयुजः ॥

करणादिभागनिरुपाख्यतया

विधयस्तथैव परमात्ममतेः ॥ २४४ ॥

अभिचारेति ॥ अभिचारकर्मविषयः " न हिंस्यात्सर्वा-भूतानि " "नाभिचरेत्"इत्यादिप्रतिषेधशास्त्रार्थज्ञानसंस्कारवतोऽभिचारभावनायाः फलभागस्य भाव्यांशस्य बाधितत्वप्रतिपत्तेर्भाव्यबाधमनु बाधयुजः बाधिताः न प्रवृत्तिकराः यथा तथैव परमात्ममतेः विदुषः करणादिभागनिरुपाख्यतया अद्वैतात्मतत्त्वावगमे च कर्तृकरणफलादिसर्वभागस्यैव बाधिततया सर्वा एव विधयो बाधयुजो भवन्तीति योजना । एतदिह तात्पर्यम् । यद्यपि कर्मकाण्डस्य न चक्षुरादिवद्विभ्रमहेतुत्वमस्ति निर्दुष्टवेदरूपत्वाद्वेदान्तवत्स्वार्थतात्पर्योपपत्तेः, तथापि भ्रान्तिसिद्धक्रियाकारकफलभेदावलम्बनेन तदुपहितमेव स्वार्थं बोधयति कर्मकाण्डं, न वेदान्तवाक्यवत्प्रतीयमानभेदापवादेनेति । यावद्भेददृष्ट्यनपवादस्तावत् प्रवर्तकतया प्रामाण्यं लभते, यथाऽभिचारविधिः हिंसादोषानभिज्ञतया "अनेनामुं हिंसिष्ये"इति भावयन्तं पुरुषमाश्रित्य तद्दृष्ट्यनपवादेनैव तं तत्र प्रवर्तयन् प्रमाणभावं भजते तद्वत् । यथा पुनर्हिंसानिषेधशास्त्रभावनया बाधितभाव्यांशामभिचारभावनां पश्यन्तं बोधयितुं प्रवर्तयितुं चाशक्नुवन्नभिचारविधिस्तं प्रति प्रमाणभावान्निवर्तते । तथा वेदान्तवाक्यादद्वैतात्मतत्त्वज्ञानबाधितसकलभेदवन्तं बोधयितुं चाशक्नुवन्तः कर्मविधयो विद्वांसं प्रति प्रमाणभावान्निवर्तन्ते ॥२४४॥

अथ ननु कथं करणादिबाधेन विधीनामप्रवृत्तिरिति चेत्, भावनाया असम्भवादित्याह—

यदि भाव्यभागविलये न भवेत्
फलभावना कथमिहोत्सहते ॥
करणादिभागविलये भवितुं

विधिरन्तरेण घटते न च ताम् ॥ २४५ ॥

**यदि भाव्येति** ॥ फलभावनाऽभिचारादौ भाव्यभाग-विलये सति यदि न भवेत्, अंशत्रयवती भावना यद्येकांशविर-हमात्रेऽपि न भवेदिति यावत् । तदा करणादिभागविलये कर-णेतिकर्त्तव्यताभाव्यरूपसमस्तांशविलये सति इह वेदान्तेषु विधि-र्भवितुं कथमुत्सहते, भावनाऽत्र कथं स्यादित्यर्थः । मा सिद्ध्यतु भावनेति चेत्, तत्राह । अन्तरेणेति । तां भावनामन्तरेण विधिः न च घटते, विधिपदं मध्यमणिवदुभयत्र संबद्ध्यते । न हि क्रि-याकारकफलभेदमन्तरेण विधिरुपपद्यते इत्यर्थः ॥ २४५ ॥

अथ भावनायाः अभावे विध्यसम्भवः इत्युक्तं प्रपञ्चयति—

अधिकारिणं च विषयं च विना

न नियोगबुद्धिरुपपत्तिमती ॥

न विना तमस्तदुभयं घटते

विदितात्मनश्च न तमो घटते ॥ २४६ ॥

**अधिकारिणं चेति** ॥ यद्वा भावनावाददृष्ट्या विध्य-भावे ऽपि नियोगवाददृष्ट्या तत्सम्भवः इत्याशङ्क्य, तत्रापि स-माऽनुपपत्तिरित्याह। अधिकारिणमिति। अधिकारी नियोज्यः। नियोज्यविषयौ विना नियोगबुद्धिर्नोपपत्तिमती न घटते इत्यर्थः। कथमिहाधिकारिविषययोरभावो येन नियोगासम्भवः ? इत्यत आह। न विनेति। न हि विनाऽऽत्मतत्त्वाज्ञानम् "अहं ब्राह्मणो ममेदं कार्यम्" इत्यादिबुद्धिरुपपद्यते। अस्त्वेतदपीति चेत्, नैवम्। तत्त्वज्ञानबाधितत्वात्तमसः इत्याह । विदितात्मनश्चेति ॥२४६॥

अथ तस्मात् भ्रान्तिसिद्धक्रियाकारकाद्यवलम्बित्वात्कर्म-काण्डस्य न वेदान्तार्थबाधकत्वं सम्भवति किन्तु व्यवहारगो-

चरमेव प्रत्यक्षवत्तस्यापि प्रामाण्यमित्युपसंहरति—

व्यवहारगोचरमतः सकल
विधिवाक्यमित्यवगतिं मनसि ॥
उपनीय वेदशिरसां विधिभि-
र्न विरोध इत्यपि समाकलय ॥२४७ ॥

व्यवहारगोचरमिति॥ निगदव्याख्यातमिदं पद्यम्॥२४७॥

अव तस्माद्वेदान्तेभ्यो ऽद्वैतात्मतत्त्वावगतौ न मानान्तरविरोधः स्वप्ने ऽपि शङ्कनीयः, मानान्तराणामपि तदानीं बाधितत्वे ऽसत्त्वावगमादित्यध्यायार्थमुपसंहरति—

एवं वेदान्तवाक्यैरवगतिपदवीमद्वये नीयमाने
प्रत्यक्तत्त्वे समस्तद्वयकृति तमसि क्षीयमाणे च सद्यः ॥
स्वाराज्यं त्वय्यवाप्ते परमसुखभुजि स्वच्छचैतन्यमात्रे
लेशो मानान्तराणामपि दुरधिगमस्तत्र दूरे विरोधः॥२४८॥

एवमिति ॥ एवमविरोधेन वेदान्तवाक्यैरद्वये ब्रह्मात्मरूपे ऽवगतिपदवीं नीयमाने तन्नान्तरीयकतया समस्तद्वयकृति सर्वद्वैतोपादाने तमसि प्रत्यक्तत्त्वे सद्यः क्षीयमाणे च सति त्वयि स्वच्छचैतन्यमात्रे ऽनुदितानस्तमितस्वयंप्रकाशज्ञानैकस्वभावे परमसुखभुजि परमानन्दमनुभवति स्वाराज्येऽवाप्ते मानान्तराणां शेषो ऽपि दुरवगमो मानान्तरावशेष एव तदा न भवति, तत्रैवं सति तत्कृतो विरोधो दूरापास्त एवेति योजना ॥ २४८ ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थशिष्यरामतीर्थकृतायां सङ्क्षेपशारीरकटीकायाम् अन्वयार्थप्रकाशिकायाम् अविरोधाभिधो द्वितीयो ऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

# तृतीयोऽध्यायः ।

श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ तदेवं सर्ववेदान्तानां प्रत्यगेकरसे परे ब्रह्मणि समन्वयं विरोधपरिहारेण दृढीकृत्य, इदानीं यथोक्तब्रह्मज्ञानसाधनाविचार-परं तृतीयाध्यायमवतारयिष्यन् आदौ शिष्यप्रश्नमवतारयति—

श्रुत्वाऽविरोधमुपपन्नसमन्वयोऽथ
ब्रह्मात्मतामतिरयं पुनरप्युवाच ॥
ब्रह्मात्मताफलशिरस्कमतिं प्रसूते
यत् साधनं तदखिलं प्रतिपित्समान ॥ १ ॥

श्रुत्वाऽविरोधमिति ॥ अयं जिज्ञासुः शिष्यः प्रथमा-ध्यायनिरूपितवेदान्तसमन्वयस्य परैरुद्भावितसर्वप्रकारविरो-धपरिहारं श्रुत्वा उपपन्नसमन्वयः सम्यक्संभावितसमन्वयः अत एव ब्रह्मात्मतामतिः ब्रह्मात्मैक्यमतिरेव सम्यक्तत्त्वज्ञानं नान्यदिति निश्चितमतिः सन् अथ अविरोधश्रवणानन्तरं गुरोरविरोधनिरूप-णादुपरमानन्तरं वा पुनरप्युवाच पप्रच्छेति योजना । किमिच्छ-न्नुवाच? इति तदाह। ब्रह्मात्मतेति। ब्रह्मात्मता मोक्षः तदेव फलं परमपुरुषार्थरूपं शिरस्युह्यमानं यस्या मतेः तां मतिं ब्रह्मात्मतत्त्वा-विर्भावकारिणीं साक्षान्मोक्षफलां धियं यत्साधनं साक्षात्पारंप-र्येण च कारणं प्रसूते जनयति तदखिलमशेषं प्रतिपित्समानः प्रतिपत्तुमिच्छन्नुवाचेति योजना ॥ १ ॥

अथ एतेन द्वितीयतृतीययोरध्याययोर्हेतुहेतुमद्भावलक्षणः

सम्बन्धो दर्शितः । शिष्यबुभुत्सामेव विशदयति—

ऐदंपर्यमखण्डवस्तुविषयं वेदान्तवाक्यस्य यत्
पूर्वं वर्णितमस्य भूदपहतिर्मा नाम मानान्तरैः ॥
किं त्वस्याः परिनिष्ठितस्वविषयध्वान्तच्छिदो जन्मने
विद्याया वचनादृते किमपरं कृत्य भवेत् साधनम् ॥२॥

ऐदंपर्यमिति ॥ पूर्वं प्रथमाध्याये यद्वेदान्तवाक्यस्य अखण्डवस्तुविषयम् ऐदंपर्यं वर्णितमासीत् अस्य ऐदंपर्यस्य मानान्तरैः प्रत्यक्षादिभिः अपहतिर्विरोधो मा नाम भूत्, तत्परिहारस्योपपादितत्वात् तत्र नास्ति मम असम्भावनाशङ्का, किन्तु अन्यदस्ति बुभुत्सितमिति योजना। तदेवाह। अस्या इति । अखण्डब्रह्मात्मैक्यमतेरस्याः विद्यायाः किं लक्षणायाः? परिनिष्ठितः सिद्धरूपो यः स्वविषयः स्वप्रमेयं तद्गतध्वान्तमज्ञानलक्षणं छिनत्तीत्येवंविधायाः जन्मने वचनात् महावाक्यादृते किमपरं साधनं कृत्यं भवेत् मया कर्त्तव्यं भवेत् ? तन्मम बुभुत्सितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । यद्यपि मानान्तरविरोधपरिहाराद्वेदान्तवाक्यजनिताखण्डवस्तुज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानमिति ममास्ति दृढनिश्चयः, तथाऽपि शब्दयुक्तिपरतन्त्रतया तदनुसन्धानावसर एव तदवभासते न केवलवस्तुपरतन्त्रतया ब्रह्मात्माकारेण दृढा विद्योत्पन्ना दृश्यते, अतः केवलवस्त्वाकारबुद्ध्युत्पत्तिसाधनमनुष्ठेयं किमपि भविष्यति यत्सम्पत्तावनायासेन उक्ता बुद्धिर्दृढा स्वयमेवोत्पद्यते तद् बुभुत्सितं कृपया कथयेति॥२॥

अथ गुरुः पृष्टमर्थमाविष्कुर्वन्नाह—

वैराग्यस्य दृढत्वमेकमपर तत्त्वंपदार्थज्ञता
वाक्ये निर्गुणनिष्ठिते च सकले न्यायादियत्तामतिः ॥

सम्यग्ज्ञानसमीपदूरभवयोर्हेत्वोर्विवेकज्ञता
वाक्यार्थप्रतिपत्तिसाधनमिदं यत्नेन कृत्यं यतेः ॥ ३॥

वैराग्यस्येति ॥ वैराग्यदार्ढ्यमेकं तावत्कार्यं साधनम्, अपरं द्वितीयं तत्त्वंपदार्थशोधनं, सकले निर्गुणनिष्ठिते वाक्ये न्यायात् गुणोपसंहारन्यायतः इयत्तामतिः वाक्यपरिमाणावधारणं तृतीयं, चकारादुपासनापरवाक्येष्वपीयत्तावधारणं समुच्चीयते, एतदप्युपासकानुग्रहाय भविष्यतीति भावः । चतुर्थं साधनमाह । सम्यगिति। समीपभवो हेतुः सन्निपत्योपकारकः दूरभवः आरादुपकारकः अनयोर्हेत्वोर्विवेकज्ञता इतीदं चतुष्टयं वाक्यार्थप्रतिपत्तिसाधनमस्मिन्नध्याये चतुर्भिः पादैः क्रमेण प्रतिपाद्यमानं यतेः संन्यासिनो यत्नेन कृत्यं कर्त्तव्यमिति योजना। यतिग्रहणेन तस्यावश्यमनुष्ठेयत्वमेषां विवक्ष्यते । एतेषा साधनानामननुष्ठाने यतेः प्रत्यवायापत्तेः । तथा यतिनैवैतानि सम्यगनुष्ठातुं शक्यानि नान्याश्रमिभिः । तेषां तत्तत्क्रियास्वाधिकृताना सर्वात्मना यथोक्तसाधननिष्ठत्वानुपपत्तेरिति च द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

अथ तत्र वैराग्यमेव तावत्कथं सम्पाद्यं, को वा ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ तज्जन्य उपकारः ? इत्यपेक्षायामाह—

संसारदोषमवधारयतो यथावद्
वैराग्यमुद्भवति चेतसि निष्प्रकम्पम् ॥
वैराग्यजन्मनि दृढे च सति प्रवृत्ति-
स्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनकर्मणि स्यात् ॥ ४ ॥

संसारदोषमिति ॥ रागाक्रान्तचितस्य पदार्थद्वयतत्त्वावधारणासम्भवात् वैराग्ये सति तु तत्सम्भवात्पदार्थज्ञानपूर्वकवा-

क्यार्थावधारणानुकूले श्रवणादौ प्रवृत्तिः वैराग्यकृत उपकार इत्यर्थः। अक्षरयोजना सुगमा ॥ ४ ॥

अव तर्हि संसारदोषमेव कथमहमवधारयेयम् ? इति जिज्ञासमानं प्रत्याह—

संसाररूपमवगच्छ विविच्यमानं
यस्मिन् श्रुते भवति तद्विषया जुगुप्सा ॥
वेदः प्रकाशयति संसरण यथाऽस्य
जीवस्य जन्ममरणे व्रजतः क्रमेण ॥ ५ ॥

**संसाररूपमवगच्छेति** ॥ किं प्रमाणबलमाश्रित्य संसारस्य दुष्टत्वं वर्ण्यते ? इति तत्राह। वेद इति। यथा क्रमेण जन्ममरणे व्रजतोऽस्य जीवस्य संसरणं वेदः प्रकाशयति तथा विविच्यमानं संसाररूपमवगच्छेत्यन्वयः ॥ ५ ॥

अव ननु जीवस्य संसरणमिति कथं विशेषनिर्देशः ? यावता अद्वैतवादे परस्मादन्यो न जीव इति चेत्, सत्यम्। तथापि जीवभावापत्त्यैव चिदात्मनः संसारित्वं न स्वरूपेणेत्येतदुपपादयन्नाह—

शुद्धः परो न खलु वाङ्मनसव्यतीतः
ससारदुःखमतिदुःसहमश्नुवीत ॥
स्वाविद्यया हि पर एव स जीवभाव-
मागत्य संसरति लिङ्गसमागमेन ॥ ६ ॥

**शुद्धः पर इति** ॥ परः परमात्मा दुःसहसंसारदुःखं न खलु अश्नुवीतेति सम्बन्धः। कुतः ? यतः शुद्धो निरञ्जनः। कुतः शुद्धः ? यतो वाङ्मनसव्यतीतः वाङ्मनसगोचरसर्वव्यवहारातीत इत्यर्थः।

न हि सर्वव्यवहारागोचरे वस्तुतः संसारव्यवहार उपपद्यते इति भावः । तर्हि किं परस्मादन्यो जीवो यस्य संसारः? हन्त तर्हि कथमद्वैतमतस्थितिरित्यत आह।स्वाविद्ययेति। स एव परः परमात्मा स्वाविद्यया स्वाश्रयविषयाज्ञानेन कल्पितलिङ्गसमागमेन वक्ष्यमाणलिङ्गशरीरात्माध्यासाज्जीवभावमागत्य संसरति, न ततोऽन्यो जीवोऽङ्गीकृत इत्यर्थः । एतच्च "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादिवेदान्तप्रसिद्धमिति द्योतनाय हिशब्दः ॥ ६ ॥

अथ ननु यस्य सम्बन्धस्तस्यैव मुक्तिरिति नियमात् केवलस्य परस्यैव संसारबन्धो वक्तव्यः तस्यैव मुक्तिभाक्त्वात् सोपाधिकस्य तस्य संसारित्वे मुक्तिरपि सोपाधिकस्यैव स्यात्, तच्चायुक्तं मुक्तावुपाधिसद्भावे मुक्तत्वव्याघातादिति चेत्तत्राह—

ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव
दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य ॥
मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य
स्वाज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च ॥ ७ ॥

ब्रह्मैवेति ॥ नह्युपाधिविशिष्टस्य संसारोऽस्माभिरुच्यते येन प्रसञ्जयेम विरोधं, किन्तु ब्रह्मैव संसरति एतदेव ब्रह्म मुच्यते इति वदामः । तर्हि किमिति तस्य संसरणे जीवभावो व्याख्यातः? इति तत्राह । दौवारिकमिति । तस्य परस्य संसरणं प्रति लिङ्गसमागमनं दौवारिकं द्वारमेव दौवारिकं ब्रह्मणि स्वतःशुद्धे लिङ्गसङ्गमः संसारारोपद्वारमात्रं न पुनस्तद्वैशिष्ट्येन संसरणम् असङ्गस्य तद्वैशिष्ट्यायोगादित्यर्थः। संसार इव मुक्तौ तस्य न द्वारापेक्षेत्याह। मुक्तिः पुनरिति।चिद्वपुषेति। इत्थम्भावे तृतीया। वस्तुतो नित्यमुक्तत्वादित्यर्थः। उक्तव्यवस्थाया क्रमेण हेतुद्वयमाह। स्वाज्ञानत

इत्यादि । लिङ्गसमागमस्याज्ञानकृत्वादज्ञानतः संसरणं तच्च न वस्तुतो वस्तु स्पृशति, अज्ञानस्यारोपितत्वादारोपितस्य चाधिष्ठाने विकारहेतुत्वासम्भवादज्ञानकृतोपाधिसम्बन्धाध्यासद्वारा चिदात्मैव संसरतीत्यर्थः । मुक्तिः पुनः स्वमाहिमप्रतिबोधतः केवलवस्तुमाहिमानुरोधिज्ञाननिबन्धना भवतीति, वस्त्वनुसारित्वात्तत्त्वज्ञानस्येत्यर्थः । यद्यपि वाक्यजन्यवृत्त्यधीना ऽज्ञाननिवृत्तिरूपा मुक्तिः, तथापि स्वरूपानन्दाविर्भावरूपा नान्यापेक्षेति भावः ॥ ७ ॥

अव एवं तर्ह्यज्ञानमपि परोपाधिकमेवास्तु संसारवत्तस्यापि वस्तुस्वभावानुरोधित्वाभावात्, ज्ञानस्य च वस्तुस्वभावानुरोधित्वादन्तःकरणोपरागमन्तरेणैव तत्प्राप्तिरस्त्विति चेत्तत्राह—

स्वाज्ञानान्वयिनी चिदेव भवति स्वज्ञानमस्याः पुन-
र्नास्त्यन्तःकरणोपरागशबलीभावं विना युक्तितः ॥
कूटस्थे न तमस्विता न घटते नो विक्रिया तत्त्व न-
स्तस्मादेष विशेष ईषदुचितः स्वीकर्त्तुमेते प्रति ॥८॥

स्वाज्ञानान्वयिनीति ॥ चिदेव निरुपाधिका अन्तःकरणादिसम्बन्धद्वारमनपेक्ष्य स्वाज्ञानान्वयिनी भवति युक्तितः इति सम्बन्धः।तथा अस्याश्चितः पुनः स्वज्ञानम् अन्तःकरणोपरागलक्षणशबलीभावं विना युक्तितो नास्तीत्यन्वयः। उभयत्र युक्तिमाह। कूटस्थे इत्यादिना। कूटस्थे निर्विकारचिन्मात्रे तमस्विता अज्ञानान्वयित्वं न घटते इति न, अपि तु घटते इति योजना। नह्यज्ञानसम्बन्धः कौटस्थ्यविरोधी चिदात्मस्वरूपप्रकाश्यस्याज्ञानस्य चिदात्मस्वभावविरोधित्वायोगात्, किन्तु विरोधिभवदज्ञानं चिदात्मनः शुद्धत्वादिप्रतिभासं विरुणद्धि अज्ञानतत्कार्यसम्बन्धो-

ह्यशुद्धिरिति, अतो ऽज्ञानसम्बन्धस्य कौटस्थ्याविरोधान्न परिणाम्यन्तःकरणादिद्वारत्वं कल्प्यमिति भावः। अज्ञानसम्ब-न्धस्य कौटस्थ्याविरोधमुक्तं स्फुटयति। नो विक्रिया तत्र न इति। अज्ञानसम्बन्धमात्रेण यदि चिदात्मनि विक्रिया भवेत् तदा तस्य विरोधिता स्यात्तन्नास्ति, नो ऽस्माकं तत्र चिदात्मनि विक्रिया न प्रतिभाति, सुषुप्तावज्ञानसम्बन्धे ऽपि तत्र विक्रियाऽनुपलम्भादि-त्यर्थः। अर्थात् ज्ञानस्य परिणामिमनोद्रव्यद्वारता सिद्धेत्युपसंहर-ति। तस्मादिति।ज्ञानं ह्यागन्तुकं परिणामः, तस्य स्वतः कूटस्थत्वा-त्परिणामिद्रव्यान्तरसम्बन्धद्वारत्वमेष्टव्यं, तच्चान्तःकरणशाबल्यं, तेन विना तददर्शनात्। एवमपि ज्ञानस्याश्रयकोटावेवान्तःकरणद्वा-रत्वापेक्षणाद्विषयकोटौ तदनपेक्षणात्केवलवस्त्वाकारतया वस्तु-स्वभावानुरोधित्वस्य चाविरोधः इत्येष विशेष ईषन्मात्रः एते ज्ञा-नाज्ञाने प्रति स्वीकर्तुमुचित इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अव तदेवं चिदात्मनो ऽज्ञानसम्बन्धो ऽज्ञानमात्रद्वारकः, तस्य संसारस्त्वज्ञानकार्यलिङ्गसङ्घातद्वारकः, तत्त्वज्ञानमपि लिङ्गद्वारकं, मोक्षस्तु वस्तुस्वभावाऽनुरोध्येवेति चेत्येतदुपपादितम्। इदानीं संसरति लिङ्गसमागमेनेत्युक्तं संसरणोपाधिलिङ्गशरीरं व्याख्या-स्यंस्तत्सम्बन्धस्य संसारहेतुत्व विशदयति—

पुर्यष्टक भवति तस्य परस्य मोहा-
त्तेनान्वितस्य तु नभोमलवद् व्यलीकम् ॥
दुःखं त्रिधा भवति संसरणाभिधानं
नान्यः परादधिकरूपधृगस्ति जीवः ॥ ९ ॥

पुर्यष्टकमिति॥ तस्य चिदात्मनः परस्य सङ्घातविलक्षणस्य मोहादज्ञानमात्रात्पुर्यष्टकं वक्ष्यमाणलक्षणं भवति जायते तेन पु-

र्येष्टकेनान्वितस्य तत्तादात्म्याध्यासमापन्नस्य संसरणाभिधानं त्रिविधमाध्यात्मिकादिरूपं दुःखं भवति न स्वत इत्यर्थः। भवदप्युपाधिवशात् दुःखं न परमार्थं, किन्तु प्रतिभासमात्रमेवेत्येतत् दृष्टान्तेनाह। नभोमलवद्व्यलीकमिति। नन्वेवं यदि परस्मिन्स्वतः संसारित्वं न सम्भवति तर्हि किमिति तस्मिन्नुपाधिं परिकल्प्य संसारित्वमारोप्यते परस्मादन्य एव जीवः संसारी कस्मान्नेष्यते? इति चेत्, मैवम्। परस्मादन्यस्य जीवस्य स्वरूपतोऽसंभवादित्याह। नान्यः परादिति। जीवस्यापि चित्स्वरूपत्वेन परस्मात्स्वतो विशेषाभावादित्यर्थः॥ ९॥

अव० जीवस्य परादन्यत्वं प्रतिषिद्ध प्रतिपादयति—

नांशः परस्य न च तस्य विकार एष
नात्यन्तमेव च विभिन्नवपुः परस्मात्॥
जीवोऽयमभ्युपगतः कुत एतदेव
ब्रह्मात्मतावचनजातविरोधहेतोः॥ १०॥

**नांश** इति॥ अन्यत्वं वदन् प्रष्टव्यः स किं परस्यांशः पुरुषस्य हस्तादिवत् किं वा भूमेरूषरादिवत् विकारः अथवाऽत्यन्तमेव घटात्पट इव भिन्न इति पक्षत्रयमपि प्रतिषेधति क्रमेण। नांश इति। योऽयं जीव एष परस्य नांशोऽभ्युपगत इत्यादि योज्यम्। निषेधप्रतिज्ञायां प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह। कुत इत्यादिना। तत्त्वमस्यादिवाक्यानां निरुपचरितात्मैक्यपरत्वस्य प्रतिपादितत्वात्तद्विरुद्धेयं कल्पना न प्रामाण्यमर्हतीत्यर्थः॥ १०॥

अव अपि च स्रष्टुरेवाविकृतस्येश्वरस्य जीवभावेनानुप्रवेशश्रुतिविरोधाच्च न जीवस्य ब्रह्मविकारत्वादिपक्षसिद्धिरित्याह—

अपि च विश्वमनुप्रविवेश तत्
परममेव पदं परमात्मनः ॥
इति वदत्सु सुहृत्स्विव तत्पर-
श्रुतिवचःसु कथं स ततोऽधिकः ॥ ११ ॥

अपिचेति ॥ तत् स्रष्टृत्वेनोपलक्षितं परमात्मनः परमं पद-मिति सम्बन्धः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "अनेन जीवेनात्म-नाऽनुप्रविश्य" इत्यादिप्रवेशवादिश्रुतीनामर्थवादत्वात्स्वार्थाभावे सति न पक्षाविरोधितेत्याशङ्क्य उक्तं तत्परेति । अर्थवादत्वे ऽपि प्रमाणान्तरसंवादविसंवादाभावात्स्वार्थपरत्वस्य न्यायप्राप्तत्वा-दस्ति तत्परत्वमपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अथ ननु जीवपरयोश्चिद्रूपत्वे समाने ऽपि कथञ्चिद्रूपा परस्यैव जीवभावे ऽपि न तयोरत्यन्तमेकरूपत्वं सम्भवति, जीवे परस्माद् ब्रह्मणोऽधिकस्य कर्तृत्वादिलक्षणस्य रूपान्तरस्य दर्श-नादिति चेत्, दृश्यतां नाम जीवे रूपान्तरं, तस्य आरोपितत्वा अनुमानेन निश्चयात् न तत्तस्य स्वाभाविकं, किन्तु मिथ्येत्यभि-प्रेत्याह—

प्रच्यावि वस्तु यदिहास्ति निजस्वरूपा-
दप्रच्युतैकरससंविदधीनमस्य ॥
प्रच्यावितास्फुरणमित्यवगत्य तत्र
तत् कल्पितं सकलमाकलयानुमानात् ॥ १२ ॥

प्रच्यावि वस्त्विति ॥ अस्य जीवस्य निजस्वरूपात् प्रत्यक्चै-तन्यस्वलक्षणात् यत् इह जीवे प्रच्यावि परस्मादुद्रिक्तम् आगमापा-यि वा वस्त्वस्ति प्रतिभासमानतया वर्त्तते तत् प्रच्यावितास्फुरणं

प्रच्याविरूपत्वेन स्फुरणम् अप्रच्युतैकरससंविदधीनं कूटस्थसाक्षि-
संविदायत्तं न स्वप्रकाशं दृश्यमेवान्तःकरणादिवत् इत्यवगत्य
दृग्दृश्यविवेकेन निश्चित्य तत्सकलमधिकरूपं तत्र चिदेकस्वभावे प्र-
त्यगात्मनि कल्पितमारोपितम् इति अनुमानात् आकलय्य विजानी-
हि इति योजना॥विप्रतिपन्नं प्रत्यक्चिन्मात्रादधिकं रूपं प्रत्यक्-
चिदेकरसाधीनप्रकाशं भवितुमर्हति प्रत्यक्चिदतिरिक्तत्वादाग-
मापायित्वाद्वा बुद्ध्यादिवदिति प्रयोगः । न च हेत्वसिद्धिः सुषु-
प्त्यादौ प्रत्यक्चैतन्ये स्फुरत्यपि रूपान्तरस्यास्फुरणेनास्या-
तिरेकागमापायित्वयोरध्यवसितत्वात् । तथा च दृश्यस्य कल्पि-
तत्वात्कल्पितस्य चावस्तुत्वात्प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप एव जीवः न
तदंशस्तद्विकारो ऽन्यो वा इति समाकलयेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अव० नन्वज्ञत्वं संसारित्वं च दृश्यमानं न ब्रह्मण्युपपन्नं
तस्य तदयोग्यत्वात्, अतस्तस्मिंस्तत्कल्पनमनुभवन्यायविरुद्ध-
मिति चेत्, न । तथाऽनभ्युपगमादित्याह—

चैतन्यवस्तुविषयाश्रय एव मोहो
नाद्वैतवस्तुविषयाश्रयकोऽप्रतीतेः ॥
बुद्ध्यादिवेष्टितचितो न तमस्त्वितीति
ब्रह्माश्रयत्वमुदितं तमसः पुरस्तात् ॥ १३ ॥

चैतन्यवास्त्विति ॥ मोहो ऽज्ञानं चैतन्यवस्तुविषयाश्रय
इत्येवास्माभिरभ्युपगम्यते। यत्राज्ञानं तत्रैव संसारानुभवश्च । नाद्वै-
तवस्तुविषयाश्रयको न ब्रह्माश्रयविषयकस्तथा प्रतीत्यभावादि-
त्यर्थः। तर्हि ब्रह्मण्येवाज्ञानसम्बन्धो न जीवे इत्ययं निर्बन्धः प्रा-
क् कुतो ऽसङ्गतः इति चेत्,तत्राह। बुद्ध्यादीति। बुद्ध्यादिसङ्घात-
वेष्टितचितो बुद्ध्यादिगतप्रतिबिम्बस्य वा तद्गताभासमात्रस्य वा न

तमास्त्विवेति प्रतिपादयितुमेव पुरस्तात्पूर्वं ब्रह्माश्रयत्वमुदितं तमसः, नाद्वैतवस्त्वाश्रयत्वाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ नाद्वैतवस्तुविषयाश्रयको मोहः, किन्तु प्रत्यक्चिदाश्रयविषयक एवेत्युक्तमुपपादयति--

ब्रह्माश्रयं न हि तमोऽनुभवेन लभ्यं
नाप्यागमान्न च किमप्यपरं प्रमाणम् ॥
ब्रह्माश्रयत्वविषयं तमसस्ततश्च
प्रत्यक्प्रकाशविषयाश्रयमेतदस्तु ॥ १४ ॥

ब्रह्माश्रयमिति ॥ अपरम् अनुमानादीत्यर्थः। न हि ब्रह्म मूढमिति प्रतीतिहेतुः आगमो वाऽनुमानादि वाऽस्तीत्यर्थः । न च किमप्यपरं तमसो ब्रह्माश्रयत्वविषयं प्रमाणं सम्भवतीति योजना । ततो जडस्य मोहाश्रयत्वासम्भवात्परिशेषात्प्रत्यक्चैतन्यविषयाश्रय एव मोह इत्युपसंहरति । ततश्चेति । जीवब्रह्मविभागानालिङ्गितं सर्वभेदकल्पनाधिष्ठानं चिन्मात्रमिह प्रत्यक्प्रकाश इत्युच्यते, तदाश्रयविषयत्वं मोहस्यास्माकं विवक्षितमिति भावः ॥ १४ ॥

अथ जीवत्वविशिष्टस्य चिदात्मनो नाज्ञानाश्रयत्वमिष्टमित्येतत्प्रतिपादयति—

जीवत्वमेव तु तदाश्रयमध्यपाति
नेच्छन्ति युक्तिकुशला न हि युज्यते तत् ॥
अज्ञानमेव खलु तन्न तमस्तमस्वि
चैतन्यवस्तु पुनरस्तु न तद्विरोधः ॥ १५ ॥

जीवत्वमेवात्विति ॥ कस्मान्नेच्छन्तीत्यत आह। न हि

युज्यते तदिति। जीवत्वस्याज्ञानाश्रयमध्यपातित्वं न हि युज्यते इत्युक्तेऽर्थे युक्तिमाह। अज्ञानमेवेति। तज्जीवत्वमज्ञानमेव खलु, संसारित्वं हि जीवत्वं, तच्चाज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादज्ञानमयमिति तद्विशिष्टस्याज्ञानाश्रयत्वाङ्गीकारे स्यादात्माश्रयतेत्येषाऽत्रयुक्तिरित्येतदाह। न तमस्तमस्वीति। तस्माज्जीवोपलक्षितप्रत्यक्चैतन्याश्रयविषयमज्ञानमित्यभ्युपगमे न कोऽपि न्यायविरोधोऽनुभवविरोधो वाऽस्तीत्युपसंहरति। चैतन्यवस्तु पुनरिति। अस्तु तमस्वीत्यनुषङ्गः॥ १५॥

अथ तस्मात्प्रत्यक्चैतन्याश्रयविषयत्वादज्ञानस्य तन्निबन्धनं संसारित्वमपि तस्यैव न पुर्यष्टकाविशिष्टस्य, पुर्यष्टकं तु तत्र द्वारमात्रमित्युक्तम्। तत्र किं तत्पुर्यष्टकम्? इत्यपेक्षायां तदाह—

कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मनआदिचतुष्टयं च॥
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः॥ १६॥

कर्मेन्द्रियाणीति॥ कर्म धर्माधर्मलक्षणम्। तमः भ्रान्तिज्ञानम्। अन्यत्प्रसिद्धम्॥ १६॥

अथ नन्वष्टभ्योऽतिरिक्तमपि संसारप्रयोजकमस्ति विद्यापूर्वप्रज्ञारूपम् अतः कथमयं सङ्ख्यानियमः? इत्यत आह—

विद्या च विश्वविषयाऽनुभवोत्थपूर्व-
प्रज्ञा च कर्मवचसैव तु सगृहीते॥
बन्धप्रयोजकतया सदृशत्वहेतो-
रेकत्र च श्रुतिवचस्युपसंग्रहेण॥ १७॥

विद्या चेति ॥ विद्या वक्ष्यमाणविधा, विश्वविषयानुभवो- त्था पूर्वप्रज्ञा संस्काररूपा च कर्मवचसैव कर्मपदेनेव संगृहीते । तत्र निमित्तमाह । बन्धेति । एकत्र च एकस्मिन्नेव श्रुतिवाक्ये बन्धप्रयो- जकतयोपसंग्रहेण सदृशत्वाद्धेतोः । यद्वा एकत्र च श्रुतिवचस्युप- संग्रहेण सहपाठेन बन्धप्रयोजकतया सदृशत्वहेतोः समानार्थ- त्वनिश्चयादित्यर्थः ॥ १७ ॥

अव० पदैकवाक्यतया कर्मणा सह पाठाद्विद्यापूर्वप्रज्ञयोः कर्मपदनोपसंग्रहणमुक्तं स्पष्टयति ।

तं विद्येति हि वाक्यमेकमिह च स्पष्टं त्रयं कीर्त्तित
तस्मात् कर्मवचस्तयोरपि भवेत् सग्राहक कारणात् ॥
विद्या चात्र चतुर्विधाऽप्यभिमतैवारम्भिका कर्मवत्
संस्कारोऽपि तथा चतुर्विध इति ज्ञेयस्तथा सम्भवात् ॥ १८ ॥

तं विद्येति ॥ इह वाक्ये तस्मात्कारणादित्यन्वयः । तदेव संसारप्रयोजकं विद्यादिस्वरूपमाह । विद्या चात्रेति । अत्र उत्क्रान्तिप्रकरणस्थवाक्ये विद्या ज्ञानमात्रं मानसं, सा चतु- र्विधाऽप्यारम्भिकाऽभिमता, विहिता तत्समा प्रतिषिद्धा तत्समा चेति विद्या चतुर्विधाऽपि चतुर्विधकर्मवत्संसारारम्भिकाऽभिम- तैव । तथा संस्कारोऽपि विद्याकर्मकृतः तथा कारणवच्चतुर्विध इति ज्ञेयः । कुतः? तथा सम्भवात् कार्यस्य कारणानुविधायित्वेन कारणस्य चातुर्विध्ये कार्यस्यापि चातुर्विध्यसम्भवादित्यर्थः । तथाच विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यैका पुरी, कामाख्यैका कर्मप्रवर्त्तिका पुरी, तमःशब्दितमोहात्मिका कामस्यापि हेतुभूता ऽपरा पुरीति विवेकः । अन्यत्पुरीपञ्चकं प्रसिद्धम् ॥ १८ ॥

अव० ननु क्वचिल्लिङ्गशरीरं जीवोपाधित्वेनोच्यते "आ-

त्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" "लिङ्गं मनो यत्र नि-षक्तमस्य" इत्यादिश्रुतेः । तदपि किं पुर्यष्टकमेव किं वाऽन्यत् ? इति तत्राह—

पुर्यष्टकं तदिदमप्यभवद्धि लिङ्गं
तेनोच्यते तदपि लिङ्गगिरा क्वचित्तु ॥
पुर्यष्टकं न खलु लिङ्गगिरोऽभिधेय
मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथित हि लिङ्गम् ॥ १९॥

पुर्यष्टकमिति ॥ इदमप्युक्तं पुर्यष्टकमपि हि यस्माल्लिङ्गम-भवत् प्रत्यगात्मसद्भावगमकमभूत्, तेन हेतुना क्वचित्तु तदपि लिङ्ग-गिरोच्यते लक्षणया न मुख्यया वृत्त्या । कुतः ? इत्यपेक्षायां पुर्यष्टके लिङ्गशब्दस्य प्रसिद्ध्यभावादित्याह । पुर्यष्टकं न खल्विति । सप्त-दशकं तु वक्ष्यमाणसप्तदशकस्यामोक्षमविपरिवृत्ततया ऽनुवृत्ते-स्तदेव जीवत्वोपाधिभूतं लिङ्गशब्दस्य मुख्यमभिधेयं, न तु वि-द्याकर्मपूर्वप्रज्ञाभ्रान्तिभूतसूक्ष्माण्यपि, तेषां प्रतिजन्म विपरिणा-मभेदात्, अतः पुर्यष्टकेऽपि सप्तदशकस्य सत्त्वात्तदपि लिङ्गं जीवोपाधिरित्युपचारेणोच्यते इति भावः ॥ १९ ॥

अव० मुख्यं सप्तदशकं लिङ्गमाह—

इह तावदक्षदशकं मनसा
सह बुद्धितत्त्वमथ वायुगणः ॥
इति लिङ्गमेतदमुना पुरुषः
खलु सङ्गतो भवति जीव इति ॥ २० ॥

इह तावदिति ॥ बुद्धिरेव तत्त्वं बुद्धितत्त्वं, प्राणादिपञ्चकं वायुगणः इत्येतत्सप्तदशकं लिङ्गम् । अमुना सङ्गतः खलु पुरुषो

जीव इति प्रसिद्धो भवति, उक्तलिङ्गतादात्म्याध्यासनिबन्धनो हि प्रत्यगात्मनो जीवत्वव्यवहार इत्यर्थः ॥ २० ॥

अथ उक्तलिङ्गस्य जीवत्वनियामकत्वेऽपि न तावन्मात्रेण संसारित्वं, किन्तु पुर्यष्टकोपेतस्यैव इत्यत्रान्वयव्यतिरेकौ प्रमाणयन् पुर्यष्टकस्य चिदात्मनि संसरणद्वारत्वमुक्तं समर्थयति—

न पुराष्टकेन रहितस्य तव
क्वचिदस्ति संसरणदुःखयुजा ॥
न पुराष्टकेन सहितस्य तथा
क्व चिदस्ति दुःखविगमश्च तव ॥ २१ ॥

न पुराष्टकेनेति ॥ दुःखयुजा दुःखयोगः ॥ २१ ॥

अथ अयं पुरसम्बन्धश्चेदात्मनः स्वाभाविकः स्यात् तदा संसारोऽपि स्वाभाविक एवेति तस्य ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्यादिति चेत्, नैवम् । पुरसम्बन्धस्यारोपितत्वादित्याह—

तव नित्यमुक्तसुखचिद्वपुषो
न कदा चिदस्ति पुरसङ्गमनम् ॥
तव मायया विरचित सकल
पुरसङ्गतिप्रभृतिकं वितथम् ॥ २२ ॥

तव नित्यमुक्तेति ॥ कदाचित्कालत्रयेऽपीति यावत् । प्रमाणसिद्धनित्यमुक्तसुखचिद्रूपत्वविरोधादित्यर्थः । तस्मात्पुरसम्बन्धस्तन्निबन्धनं संसारित्वादिकं च सर्वमात्मनि मोहमात्रायत्तमित्युपसंहरति । तव माययेति । अनेन स्वाज्ञानत इति पूर्वोक्तं प्रपञ्चितम् ॥ २२ ॥

अथ काल्पताभ्यामपि संसारमोक्षाभ्यामात्मनो योगाद्वि-

कारित्वप्रसङ्गो दुर्वार इति चेत्, मैवम्। आभासधर्मस्याधिष्ठाना-स्पर्शित्वादिति दृष्टान्तेनाह—

मलिनं नभो न हि कदा चिदभूद्
विमलं कदा चिदभवन्न नभः
उभयं नभस्यभवदेवमिह
त्वयि नित्यमुक्तचिति संसरणम् ॥ २३ ॥

मलिनं नभ इति ॥ नभसः स्वभावतोऽसङ्गत्वान्निर-वयवत्वाच्च न मलेन संश्लेषः सम्भवति, तथापि मलिनं नभ इति प्रतीयते, मलसंश्लेषाभावे च न तन्निवृत्तिरूपं विमलत्वमपि तस्मिन्नुपपद्यते, तथापि घनधूमाद्यपाये विमलं नभ इति प्रती-यते। यथेदं द्वयं नभसि भ्रान्तिमात्रं कल्पितमेव एवं चिदात्मनि नित्यमुक्तस्वभावे सदेकरूपे संसरणं मोक्षश्चेत्युभयं भ्रममात्र-सिद्धं न परमार्थमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अथ यद्यत्र कल्पितं न तत्तत्र परमार्थमिति प्रतिपादयन् दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयति—

न हि कल्पनाविरचितं वितथं
परमार्थवस्त्ववितथं स्पृशति ॥
परमार्थवस्तु च तथा तमसा
परिकल्पितं न किमपि स्पृशति ॥ २४ ॥

न हि कल्पनाविरचितमिति ॥ कल्पनाविरचितं यतो वितथम् अतोऽवितथं परमात्मवस्तु न हि स्पृशतीति योजना। ननु कल्पितस्याज्ञानादिबन्धस्य जडत्वात्स्वयं स्प्रष्टृत्वासम्भवे-ऽपि परमात्मनो नित्यसिद्धस्य चेतनस्य स्प्रष्टृत्वं स्यादिति

चेत्, नेत्याह । परमार्थवस्तु चेति । कल्पितपरमार्थयोर्विरोधान्नान्योन्यसंस्पर्श इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अव कल्पितपरमार्थयोः संसृष्टतया भासमानयोरपि परस्परासंस्पर्शित्वे दृष्टान्तमाह—

न हि भूमिरूषरवती मृगतृड्-
जलवाहिनीं सरितमुद्वहति ॥
मृगवारिपूरपरिवारवती
न नदी तथोषरभुवं स्पृशति ॥ २५ ॥

न हि भूमिरिति ॥ २५ ॥

अव इतश्चात्मनि संसारः कल्पित एवेत्याह—

न तव क्वचिद् गमनमस्ति विभो-
र्न पुराष्टकस्य जड़रूपभृतः ॥
न च मध्यवर्त्तिजड़चिद्वपुषो-
र्गमनक्षमं किमपि संभवति ॥ २६ ॥

न तवेति ॥ क्वचित् परलोकादौ तव गमनं नास्तिविभुत्वात्, विभौ च क्रियाऽसम्भवादित्यर्थः । पुराष्टकस्यापि न क्वचिद्गमनमस्ति जडस्वरूपत्वात्, न हि जडं स्वतः प्रवृत्तिमद् दृष्टमित्यर्थः । तथापि चिदात्मपुराष्टकयोर्मध्ये किमपि स्वतो गमनसमर्थ भविष्यति येन स्वयं गच्छता चिदात्मपुराष्टके अपि नीयेते इत्याशङ्कायामाह । न च मध्यवर्त्तीति । चिज्जडातिरिक्तस्य वस्तुनोऽसम्भवादित्यर्थः ॥ २६ ॥

अव ननु यद्यपि चिदात्मा विभुत्वात्स्वयं न गतिमान् तथापि पुराष्टकपरिवेष्टिततया परिच्छिन्नत्वाद्गच्छेदिति चेत्, नेत्याह—

पुरवेष्टितं न खलु चिद्वलयं
परलोकमार्गमनुसर्त्तुमलम् ॥
घटवेष्टितं न हि नभोवलय
व्रजति व्रजत्यपि घटे विनते ॥ १७ ॥

पुरवेष्टितमिति ॥ उपाधिगमने ऽपि नौपाधिकस्य गमनमस्ति, घटगमने ऽप्याकाशस्येवेत्यर्थः । उपाध्यपसरणे स्वरूपस्योपहितत्वमपसर्पति केवलं, न स्वरूपमप्यपसरतीति भावः॥१७॥

अथ ननु गच्छत्युपाधौ औपाधिकस्यापि गमनं दृश्यते घटे गच्छति तदवच्छिन्नाकाशस्य गमनदर्शनात् । अतो नोक्तदृष्टान्तः स्पष्ट इति चेत्, नेत्याह—

घट एव गच्छति नभस्त्वचलं
व्रजता घटेन तु ततश्च ततः ॥
परिवेष्टनेन घटखं क्रियते
घटखानि तत्र सुबहूनि ततः ॥ १८ ॥

घट एवेति॥ कथ तर्हि गमनप्रतीतिर्नभसः?इति चेत्,तत्राह। व्रजतेति। व्रजता तु घटेन नीयमानेनेति यावत्। ततश्च ततः, पदे पदे। नभसः परिवेष्टनेन घटखं क्रियते, तत्र तदा ततो वेष्टनात् सुबहूनि घटखानि केवलं भवन्तीति योजना । तत्र भेदाग्रहात् घटाकाशो गच्छतीति भ्रमो लोकस्य, निरवयवस्य परमार्थतो घटेनाकर्षासम्भवादित्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ दृष्टान्ते साधितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

पुरमेव गच्छति चितिस्त्वचला

व्रजता पुरेण यदि साऽपि चितिः ॥
परिवेष्ट्यते तु सुबहूनि तदा
वलयानि पूर्ववदुपाश्रयसे ॥ २९ ॥

पुरमेवेति ॥ साऽपि चितिर्व्रजता पुरेण यदि नभ इव घटेन परिवेष्ट्यते तदा तु बहूनि वलयानि परिच्छेदान् पूर्ववत् पूर्वतुल्यानुपाश्रयसे इति योजना ॥ २९ ॥

अव तर्ह्येतदेवास्तु परलोकगमनं यत्पुरगमनमनु नैरन्तर्येण चिद्वलयानां जननमिति चेत्, तदा महान् दोषः प्रादुःष्यादित्याह—

अकृतागमश्च कृतनिष्फलता
फलतः समापतति कर्तृगतेः ॥
अपरस्य भोक्तुरुदयाच्च दिवि
व्यसनस्य सततिरहो विषमा ॥ ३० ॥

अकृतागमश्चेति ॥ विना कारणानुष्ठानं कार्यनिष्पत्तिरकृतागमः, कृतप्रयत्नस्य निष्फलत्वं फलजननमन्तरेण पर्यवसानं कृतनिष्फलता, एतत् द्वयं फलतो ऽर्थात्समापतति, यदि चिद्वलयानां जन्माभ्युपेयते इति योजना । कुतः ? इत्यत आह । कर्तृगतेरपरस्य भोक्तुरुदयाच्चेति । भूगतं हि ब्राह्मण्यादिविशेषितं चिद्वलयं कर्मणां कर्तृ तस्य कर्तुर्गतेर्गमनान्नाशात्तत्कृतस्यापि नाश इत्यर्थः । तथा स्वर्गादौ अपरस्य कर्तुरन्यस्य भोक्तुरुदयात्तस्य क्रियाऽभावेऽपि भोगस्याकृतस्यागम इत्यर्थः । प्रमाणन्यायविरुद्धं कल्पयतो न स्वास्थ्यं कदापीत्याह । व्यसनस्येति । विषमा दुरन्तेत्यर्थः ॥ ३० ॥

अव. ननु कुतो व्यसनसन्ततिरापाद्यते, उपाधिगमनेनौपाधिकं

तदेव गच्छतीति प्रतीतेर्बाधकादर्शनात्प्रतिपदमुपाधिगमने चिद्दलयोत्पत्तिनाशकल्पनायोगात्। अतोऽकृताभ्यागमादिदोषप्रसङ्गाभावश्च स्यादिति चेत्, मैवम्। न्यायबाधितत्वादुपाधिगमनेनोपहितगमनस्येति दृष्टान्तेनोपपादयति—

चलने ह्युपाध्यभिमतस्य भवे-
ज्जनितस्य तेन विगमः सुदृढम् ॥
ननु कुण्डलापसरणे पुरुषा-
दथ न प्रणश्यति न कुण्डलिता ॥ ३१ ॥

चलन इति ॥ उपाध्यभिमतस्य चलने जायमाने तेनोपाधिना जनितस्यौपाधिकस्य सुदृढं सुनिश्चितं यथा स्यात्तथा वियोगो विच्छेदो विनाशो भवेदिति योजना। कुण्डलिनः पुरुषात्कुण्डलापसरणे जायमाने अथ तदा कुण्डलिता न प्रणश्यतीति न, किन्तु प्रणश्यत्येव, ननु प्रसिद्धम् इत्युत्तरार्द्धयोजना। तथा च कुण्डलापगमे तन्नाशे वा कुण्डलोपाधानविशिष्टस्य कुण्डलिनोऽपि नाशदर्शनात् तद्वद्घटचलने घटवेष्टितस्याकाशस्य नाश एवाभ्युपेयः। एवं पुरवेष्टितस्य चिद्दलयस्यापि नाश एव परचलने युक्त इति स्यादेवोक्तदोषप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अत्र पुरसंबन्धमात्मनोऽङ्गीकृत्येदमुक्तं,वस्तुतः स एवात्मनि न सम्भवतीत्याह—

न पुरान्वयश्च तव चिद्वपुषः
परमार्थतो भवति तर्कसहः ॥
नभसो यथा घटसमागमनं
न ततोऽपि लिङ्गघटितो व्रजसि ॥ ३२ ॥

न पुरान्वयश्चेति ॥ नभसो यथा घटसमागमनं परमार्थत-स्तर्कसहं न भवतीति योज्यम् । फलितमाह । न तत इति । ततोऽपि पुरसङ्गमस्य दुर्निरूपत्वादपि तत्कृतचिद्वलयस्य कल्पि-तत्वान्नात्मनो लोकान्तरगमनं भोक्तृत्वादि वा परमार्थतः स-म्भवतीति न लिङ्गघटितः परिवेष्टितस्त्वं व्रजसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अथ दृष्टान्तत्वेनोपात्तनभःपरिवेष्टनस्य तर्कासहत्वं ताव-दुपपादयति—

नभसः प्रदेशविरहान्नभसो
न घटः प्रदेशपरिवेष्टनकृत् ॥
न नभः समस्तमपि वेष्टयते
नभसोऽवशेषविरहापतनात् ॥ ३३ ॥

नभसः प्रदेशेति ॥ किं घटेन नभः एकदेशेन परिच्छि-द्यते सर्वात्मना वा ? नाद्यः सङ्गच्छते, यतो घटो न नभसः प्रदे-शपरिवेष्टनकृत्सङ्गच्छते, नभसः प्रदेशविरहात् निरवयवत्वेन प्रदे-शाभावादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति । न नभः समस्तमिति । घटा-द्बहिर्नभसोऽभावप्रसङ्गात्तत्र निर्गमनप्रवेशादिव्यवहारविलोपः स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अथ दार्ष्टान्तिकेऽपि तथैव तर्कासहत्वमाह—

परमात्मभागपरिवेष्टनकृ-
न्न पुरं तथाऽनवयवो हि परः ॥
न च कृत्स्नमेव परमं पुरुषं
पुरवस्तु वेष्टयितुमुत्सहते ॥ ३४ ॥

परमात्मेति ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् ॥ ३४ ॥

अथ परममहतश्चिदात्मनः परिच्छिन्नेन पुरेण कृत्स्नशो वेष्टनमसम्भावितमित्युक्तं, तदभ्युपगमे च दोषान्तरप्रसक्तिर्दुर्वारेत्याह—

यदि कृत्स्न एव परमः पुरुषः

पुरवेष्टितो भवति जीवतया ॥

न तदेश्वरो भवितुमुत्सहते

न च जीवजातमपरं सकलम् ॥ ३५ ॥

यदि कृत्स्न एवेति ॥ एकेनैव पुराष्टकसङ्घातेन चिदात्मनो जीवतया क्रोडीभावे जीवान्तरमीश्वरो वा नावशिष्येत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ मास्त्वीश्वरो जीवान्तरं वेति चेत्, तत्राह—

गुरुशिष्यसङ्गतिरतो न भवे-

न्न च बन्धमोक्षनियमो घटते ॥

विषयं विना सकलमापतति

स्फुटमत्र वेदवचनं च वृथा ॥ ३६ ॥

गुरुशिष्येति ॥ अतोऽवशिष्यमाणजीवान्तराभावे गुरुशिष्यसम्बन्धादिः प्रसिद्धो व्यवहारो न भवेत्।कुतः? इत्यत आह। न च बन्धेति। बद्धो हि शिष्यो मुक्तश्च गुरुः अतो बन्धमोक्षयोर्जीवान्तरानङ्गीकारे व्यवस्थाऽभावाद् गुरुशिष्यव्यवस्थाऽपि न स्यादित्यर्थः। मास्तु काऽपि व्यवस्थेति चेत्, तत्राह। विषयं विनेति। अत्र अव्यवस्थापक्षे सकलं च वेदवचनं स्फुटं यथा स्यात् तथा विषयं विना वृथा पतति अप्रमाणं भवेदित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। जिज्ञासोः शिष्यस्याभावे शास्त्रं कं प्रतिबोधयेत् तत्त्वं, तथा ज्ञानवत्याचार्येऽसति कः उपदेष्टा कमाश्रित्य शास्त्रं जिज्ञासुं

बोधयेत्, तथा च गुर्वाद्यभावे निर्विषयं शास्त्रमप्रमाणमेव स्याद्। गुर्वादिभावश्च मुक्तत्वबद्धत्वे विना नोपपद्यते । तथेश्वराभावे चान्तर्यामिब्राह्मणं "स सेतुर्विधरणः" "एषह्येव साधु कर्म कारयति" "रातेर्दातुः परायणम्" इत्यादीश्वरविषयश्रुतिस्मृत्यादिवादा अपि निर्विषयतया न प्रमाणम्भवेयुरिति ॥ ३६ ॥

अव अत्र परमात्मन एवाविद्ययाऽनेकजीवभावः तेषामेकैकस्य बन्धमोक्षभाक्त्वमित्येवं व्यवस्थापक्षमभ्युपगम्याचार्यः प्रवृत्तः।अतो व्यवस्थापक्षोऽप्यनेकजीववादोऽस्येष्ट एवेति गम्यते । पूर्वत्रैकजीवस्वीकारो गुर्वादेः शिष्याविद्याकल्पितत्वाभिधानं वा सर्वमपि द्वैतस्य तत्त्वज्ञानेन निवृत्तिप्रदर्शनार्थमेवेति निश्चीयते । यद्वा पूर्वत्र सर्वस्य गुर्वादिभेदस्य चिदाविद्याकल्पितत्वेन मिथ्यात्वनिरूपणं सदद्वैतमेव सत्यं नान्यत्सत्यमस्तीति प्रदर्शनाय । इह व्यवस्थया जीवसंसारस्य निरूपणं तु व्यवहारदृष्ट्येति ग्रन्थकारस्याभिप्रायो गम्यते । सर्वथा युक्तिबाह्यात्परिकल्पित एव पुरसम्बन्धस्तद्द्वारं च चिदात्मनः संसरणं न स्वत इत्युपसंहरति—

न पुरान्वयोऽत उपपत्तिसहः<br>
परमार्थतोऽस्ति परमार्थदृशेः ॥<br>
वियतो घटान्वयवदेव ततः<br>
परिकल्पितं पुरसमागमनम् ॥ ३७ ॥

न पुरान्वयोऽन इति ॥ परमात्मदृशेः पुरान्वयो न परमार्थतो ऽस्ति तत्रोपपत्त्यसहिष्णुत्वात्, यद्यत्रोपपत्ति न सहते न तत्तेन परमार्थतः सम्बध्यते यथा वियतो घटान्वयस्तथा चायं ततस्तस्मात्पुरसमागमनं परिकल्पितमेवात्मनो न परमार्थमिति योजना ३७ ॥

अथ एवं सति पुरसङ्गमनिबन्धनं परलोकगमनमपि कल्पितमेवास्येत्याह—

यत एवमेतदुपपत्तिपथं
न तत्र प्रयाति विरहय्य तमः ॥
परलोकमार्गगमनं स्वतम-
परिकल्पितं चलनवन्नभसः ॥ ३८ ॥

यत एवमिति ॥ सुगमार्थं पद्यम् ॥ ३८ ॥

अथ कथं तर्हि "उभौ लोकावनुसञ्चरति" इतिश्रुत्युक्तगमनमुपपद्यते ? इत्यत आह—

पुरधर्ममात्मनि विकल्प्य तथा
स्वचिदात्मतां च पुरधर्मतया ॥
स्वपुर स्वय च दृढमेकतया
परिकल्पयन् व्रजसि मूढमतिः ॥ ३९ ॥

पुरधर्ममिति ॥ "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति" इतिसमानश्रुत्या पुरात्मनोः परस्पराध्यासस्योक्तत्वात्पुरात्मनोरन्योन्यधर्माध्यासात्पुरे आत्मत्वावभासः आत्मनि च गमनाद्यवभासस्तयोरेकतापत्त्या विभाव्यते इति तात्पर्यार्थः । अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः ॥ ३९ ॥

अथ तस्मादात्मनि संसारस्यानिरूपणान्नित्यमुक्त एवात्मेत्याह—

परिपूर्णचिद्रसघनः सततं
स्वमहिम्नि तिष्ठसि निरस्तमले ॥

न तथाऽपि तत्त्वमिति वाक्यकृतां
मतिमन्तरेण तव केवलता ॥ ४० ॥

परिपूर्णेति ॥ यद्यहं निरस्तमले स्वमहिम्नि सतत तिष्ठामि तर्हि किं शास्त्रेण मम कृत्यम् ? इत्यत आह। न तथाऽपीति। यद्यपि वस्तुतो नित्यमुक्तोऽस्मि एवं तथापि तत्त्वमसीतिवाक्यकृतां मतिमन्तरेण तव केवलता निवृत्ताविद्यातत्कार्यप्रतिभासतया स्वरूपावस्थानलक्षणकैवल्यं न भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

अथ यदि वस्तुतो मयि नास्त्येव संसरणं, किमिति नित्यमुक्ततां विना वाक्यश्रवणं न जानामि ? इति चेत्, तत्राह—

न तव प्रतीचि करणानि बहि-
र्विषयाणि येन करणानि सदा ॥
सहजं च गाढमतिमूढतमं
तम इत्यत. पुरमनुव्रजसि ॥ ४१ ॥

न तव प्रतीचीति ॥ करणानि मनःप्रभृतीन्द्रियाणि यानि तव सन्ति तानि प्रतीचि प्रत्यग्विषयाणि न, यतः सदा करणानि बहिर्विषयाणि "पराञ्चि खानि" इतिश्रुतेः । अतस्तव स्वरूपनिर्भासः करणसाध्यो न भवतीति न त्वं तैः स्वस्वरूपं जानासीत्यर्थः । स्वतोऽपि तत् यथावत् न भासते इत्याह । सहजं चेति। अतिमूढतमम् अत्यन्तनिबिडतमं गाढं दृढं च सहजम् अनादिसिद्धं तमः त्वत्सतत्त्वावरणमनुवर्त्तते, अतोऽपि न जानासि । तथापि यद्यनुसन्धीयते कदाचित् तदा ज्ञातुं शक्यते, अनुसन्धानमेव दुर्लभं गुरूपदेशवेदान्तवाक्यं विनेति भावः । यत एवं वाक्यजन्यतत्त्वज्ञानहीनः अतः पुरमनुव्रजसि आत्मनो नित्यमुक्त-

तामजानन् संसारमनुभवसीति ॥ ४१ ॥

अथ एवमुपाधिपरतन्त्रं कल्पितमेव परलोकगमनादीति-युक्त्या निरूपितेऽर्थे श्रुतिं प्रमाणमवतारयति—

स समान इत्युपनिषद्वचनं
प्रतिपादयत्युदितमर्थमतः ॥
स्वमनीषिकेति न कदाचिदपि
प्रतिपत्तिरत्र भवतो भवतु ॥ ४२ ॥

स समान इति ॥ धिया समानः इत्यर्थः । अतः प्रमाण-युक्तिसिद्धत्वान्नायमर्थः स्वकपोलकल्पित इति मन्तव्यमित्याह । स्वमनीषिकेति । स्वबुद्धिकल्पिता इति इयं, कल्पनेति शेषः । अत्र मद्वचने ॥ ४२ ॥

अथ परिकल्पितमपि किं तदात्मनो गमनम् ? तदाह—

पुरहेतुकं यदभवच्च विभोः
परिकल्पितं किमपि चित्सदृशम् ॥
जलपात्रहेतुकमिव द्युमणे-
स्तदसंततं भवति तद् व्रजति ॥ ४३ ॥

पुरहेतुकमिति ॥ त्वयि स्वाविद्याऽध्यस्तपुरहेतुकं यत्कि-मपि विभोः चित्सदृशं चिदाभासनं परिकल्पितमभवत् तत् असन्ततं परिच्छिन्नं भवति तत् तस्मात् परिच्छिन्नत्वात् व्रज-तीतियोजना । चित्सदृशं परिकल्पितमित्यत्र दृष्टान्तो जलपात्र-हेतुकमिव द्युमणेरिति । द्युमणिः सूर्यः ॥ ४३ ॥

अथ ननु कथमेवमपि परलोकगमनसंभवः पुरस्य । न स्वा-तन्त्र्येण गमनं संभवति जडत्वात्, तस्मिंस्तदा चिदाभासोऽपि न

संभवति, बुद्धिद्वारकत्वाच्चिदाभासोदयस्य, बुद्धेश्च तदानीं लीनत्वादिति चेत्, न । " तद्यथा नः सुसमाहितमुत्सर्ज्जद्यायात् " "प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्ज्जद्याति" इतिश्रुत्युक्तप्रकारेणेश्वराधीनतया गमनसंभवादिति वक्तुं प्राक् प्रतिपादितमर्थं स्मारयति–

जडशक्तिरस्ति परमस्य विभोः
परमात्मनस्तम इति प्रथिता ॥
पुरमष्टक तव यथा भवति
श्रुतितः प्रसिद्धमिदमप्यखिलम् ॥ ४४ ॥

जडशक्तिरिति ॥ यथा तव जीवस्य पुर्यष्टकं भवत्युपाधिः तथा परस्य विभोः परमात्मनः परमेश्वरस्य तम इत्येवं प्रथिता जडशक्तिरस्ति उपाधिरिति योजना । यथा प्रत्यगज्ञानस्यैव तमसो जडशक्तित्वेन परमेश्वरोपाधित्वम् अज्ञानात्मना च जीवोपाधित्वं निर्वहति तथा उपपादितं पूर्वमेवेति भावः । अज्ञानिनो जीवस्य पुर्यष्टकयोगो जडशक्त्युपाधेरीश्वरता वेति कुतोऽवसीयते ? इत्यत आह । श्रुतित इति ॥ ४४ ॥

अथ ततः किं जातम् ? तदाह––

पुरहेतुकं तव यथा च वपु-
र्भवतीह जीववचसो विषयः ॥
जडशक्त्युपाधिकममुष्य तथा
परमेश्वरस्य वपुरुद्भवति ॥ ४५ ॥

पुरहेतुकमिति ॥ यथा पुरहेतुकं तवाज्ञस्य जीववचसो विषयः जीवशब्दवाच्यं वपुः आकारविशेषः रूपं भवति, तथा अमुष्य परमेश्वरस्य जडशक्त्युपाधिकं वपुः आकारविशेषः उद्भ-

वति अभिव्यक्तो भवति । एतस्य जीवोत्क्रान्तिसमये ऽपि स-त्त्वात्तदायत्तमस्य गमनं संभवतीति भावः ॥ ४५ ॥

अव परमेश्वरतन्त्रतया परलोकगमनम् इत्यत्र श्रुतिप्रसिद्धं जीवस्य संसारमोक्षयोः परमेश्वरायत्तत्वं प्रमाणमाह—

पुरुहेतुरूपघटितस्य दृशो-
जडशक्त्युपाधिपरमेश्वरतः ॥
भयमुद्भवत्यनवबोधवशा-
दिति च त्रयीशिरसि राजपथः ॥ ४६ ॥

पुरुहेतुरूपेति ॥ " यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति " "निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतम्" "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इत्यादित्रयीशिरसीत्यर्थः । सु-गममन्यत् ॥ ४६ ॥

अव अतः परमेश्वरतन्त्रतया मरणावस्थाया पुर्यष्टकगमन-मुपपन्नम् इत्याह—

परमेश्वरेण विभुना रणयन्
परिबृंहितः शकटवद् व्रजसि ॥
शकटं हि शाकटिकयोगवशाद्
व्रजति स्वयं न परतन्त्रतया ॥ ४७ ॥

परमेश्वरेणेति ॥ विभुना परमेश्वरेण परिबृंहितः उत्ते-जितो रणयन् हिक्कादिशब्दं कुर्वन् शकटवद् व्रजसीति योजना । शकटदृष्टान्तं स्फुटयति । शकटमिति ॥ ४७ ॥

अव ननु शकटस्याचेतनत्वाद्युक्तं शाकटिकाधीनत्वं, जीवस्य चेतनत्वात्कथं चेतनान्तराधीनं गमनम् ? इति चेत्, नैषदोषः

जीवस्य चेतनत्वेऽपि भ्रान्त्या परतन्त्रत्वोपपत्तेरित्याह--

पुरवेष्टितः पुरवशानुगतः

पुरतन्त्रचिन्निभविभिन्नवपुः ॥

दिवि यातनाभुवि च कर्मफला-

न्यनुभूय भूय इह संभवसि ॥ ४८ ॥

पुरवेष्टित इति ॥ यतः पुरवेष्टितोऽतः पुरवशानुगतः पुरपरतन्त्रः। कीदृशं तत् पारतन्त्र्यं तदाह। पुरतन्त्रेति। पुरानुप्रविष्टतया पुरतन्त्रो यश्चिन्निभश्चिदाभासः तेन विभिन्नं विशिष्टं वपुर्यस्य स तथा । पुरगतचिदाभासाविवेकादात्मानं परिच्छिन्नं मन्यमान इत्यर्थः । अतः परमेश्वरेण परिबृंहितो व्रजसीति युक्तमिति पूर्वानुषङ्गेण योजना । एवं परलोकगमनस्य मायामयत्वं पारतन्त्र्यं च वैराग्यार्थम् उपपाद्य अवरोहप्रकारमाह। दिवीति। स्वर्गे यातनाभुवि च वैतरण्यादिनरकप्रदेशे च क्वचित् कदाचित्किञ्चित्कर्मफलान्यनुभूय पुनः कर्मशेषवशात् इह मनुष्यलोके यथाकर्म सम्भवसि जन्म प्रतिपद्यसे इत्यर्थः । श्रुतौ धूमादिमार्गेण चन्द्रस्थलं गतानामवरोहप्रकारकथनं नरकस्थानादवरोहप्रकारस्याप्युपलक्षणार्थम् इत्यभिप्रेत्य तुल्यवन्निर्देशः इति द्रष्टव्यम्॥४८॥

अथ उक्तमेव स्पष्टयति—

सुकृतदुष्कृतकर्मवशादयं

दिवमथो यमसादनमेव वा ॥

अनुभवेन समाप्य पुनर्मही-

तलमबोधवशादवरोहति ॥ ४९ ॥

सुकृतदुष्कृतेति ॥ यमसादनं नरकभूमिः ॥ ४९ ॥

अव. कर्मसम्बन्धिनो ज्ञानस्य उपासनालक्षणस्यापि संसार-फलत्वमेवेत्याह—

यदि वा समुच्चयवशात् पुरुषः
कमलासनं व्रजति कामुकधीः ॥
पुनरेव मानवमिमं तु विना
परिवर्त्तमाव्रजति मूढमतिः ॥ ५० ॥

यदिवेति ॥ शास्त्रीयज्ञानकर्मणोः संसारफलत्वं कामिन एव न निष्कामस्य, तस्य तु बुद्धिशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानहेतुत्वादित्यभिप्रेत्य उक्तं कामुकधीरिति । तत्र गतोऽपि यदि मूढमतिः परमात्मरूपप्रत्यक्तत्त्वज्ञानशून्यः तदा पुनरेव पुनरपि परिवर्त्तं संसारं प्रति आव्रजति आगच्छति । किन्तु इमं मानवं विना, अस्मिन् कल्पे नाव्रजति कल्पान्तरे तु अवश्यमाव्रजतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

अव समुच्चयफलस्यापि कृतकत्वेन क्षयावश्यम्भावात्पुनरावृत्तिरुक्ता, इदानीं तु ब्रह्मलोकं गतानां तेषामपि केषाञ्चिद्भोगावसाने तत्रोत्पन्नज्ञानवशान्मुक्तिमाह—

अथवा स तत्र परमात्ममतिः
परिमुच्यते सकलबन्धनतः ॥
क्रमयोगमुक्तिरुदिता श्रुतिषु
प्रतिशाखमेवमुपपन्नतरा ॥ ५१ ॥

अथवेति ॥ परमात्ममतिः, चेदिति शेषः । तत्र प्रमाणमाह । क्रमयोगेति । क्रमयोगेन क्रमप्राप्त्या ब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण श्रुतिषु प्रतिशाखं या मुक्तिरुदिता सा तु एवम् अस्मदुक्तप्रकारेणोपपन्नतरा । परब्रह्मक्रतूनां क्रममुक्तिः तद्रहितानां मानवान्तरे

पुनरावृत्तिरिति व्यवस्थेति भावः ॥ ५१ ॥

अथ क्षुद्रजन्तुलक्षणामपि कष्टतरां संसारगतिं श्रुत्युक्तां वैराग्यार्थमाह—

देवयानपितृयानयोः पथो-
र्ज्ञानकर्मरहितत्वकारणात् ॥
नैकमप्यनुसरन्ति ये पुनः
क्षुद्रजन्तव इहोद्भवन्ति ते ॥ ५२ ॥

देवयानेति ॥ देवयानम् अर्चिरादिमार्गः पितृयानं धूमादिमार्गः । ज्ञानकर्मरहितत्वात्कारणाद्यथाक्रमं देवयानपितृयानयोः पथोर्मध्ये ये पुनर्नैकमपि पन्थानमनुसरन्ति ते इह भूर्लोके क्षुद्रजन्तवः कीटपतङ्गादिरूपाः सन्तः उद्भवन्ति, अहो कष्टमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथ संसारचिन्तां सङ्क्षेपेण प्रदर्श्य तत्प्रकरणमुपसंहरति—

इति कामुकस्य तव संसरणं
शतशो बभूव परिमूढमतेः ॥
इह विप्रजन्मनि विरक्तमतिः
कुरु साधनं यदपवर्गकरम् ॥ ५३ ॥

इति कामुकस्येति ॥ तवेतिपदावृत्तिपाठः प्रामादिकः । परिमूढेति योज्यम् । वैराग्याय संसारवर्णनेन सिद्धं वैराग्यस्य कृत्यं व्यपदिशति । इहेति ॥ ५३ ॥

अथ किं तदपवर्गकरं साधनम् इति ? तदाह—

श्रवणादिकं शमदमादिपरः

परमात्मनः परमभागवतः ॥
कुरु तावता परममेव पदं
परमात्मनस्त्वमवलोकयसि ॥ ५४ ॥

श्रवणादिकमिति ॥ शमदमादिपरः परित्यक्तसकलैषणः परमभागवतो भगवत्येव परमात्मन्यर्पितमनाश्च सन् परमात्मनः श्रवणादिकं कुरु, तावता श्रवणादिजनितज्ञानमात्रेण सहायान्तरनिरपेक्षेण परमात्मनः परमं पदं त्वमवलोकयस्येवेति योजना ॥५४॥

अथ विपर्यये पुंसोऽनर्थप्रदर्शनेन श्रवणादौ प्रोत्साहं जनयति—

यदि तन्न पश्यसि हरेः परमं
पदमम्बुशीतलमिवेद्धशिराः ॥
न खलु प्रदीप्तशिरसोऽस्ति सुखं
तव दुःखपावकशिखाभिरहो ॥ ५५ ॥

यदीति ॥ यदि तद्धरेः परमं पदम् उक्तसाधननिष्ठः सन्निद्धशिरा इव शीतलमम्बु न पश्यसि तदा तव अहो कष्टं दुःखपावकशिखाभिः प्रदीप्तशिरसो न खलु सुखमस्तीति योजना । तीव्रातपादिनेद्धशिरा यदि शीतलमम्बु न पश्यति न लभते, तस्य यथा न सुखमस्ति तद्वदिति दृष्टान्तार्थः ॥ ५५ ॥

अथ यस्मात्सम्यग्ज्ञानं विना उक्तोऽनर्थोऽपरिहार्यस्तस्मादाध्यात्मिकादिदुःखत्रयरूपं दुःसहसंसारम् उक्तप्रकारेण विदित्वा तद्विलक्षणे ब्रह्मात्मनि परिपूर्णे सम्यग्ज्ञानावताराय वेदान्तश्रवणादिनिष्ठो भवेदिति फलितार्थमाह—

एवं विज्ञाय तापत्रयमतिगहनं मोहमूलं परस्मि-
न्नात्मन्यात्मप्रकाशे त्वयि परमसुखे निष्कले निष्कलङ्के ॥

सत्ये नित्यस्वभावे परिहृतमकलद्वैतकूटानुषङ्गे
सम्यग्ज्ञानानुरागं कुरु विषयगतं भिन्धि निर्बन्धमेनम् ५६॥

एवं विज्ञायेति॥एवम् उक्तप्रकारेण अतिगहनं दुरन्तं ताप-त्रयं मोहमूलं विज्ञाय परस्मिन्नात्मनि त्वयि ब्रह्मस्वरूपे प्रत्यगात्मनि प्रत्यग्रूपे ब्रह्मणि सम्यग्ज्ञानानुरागं कुरु, तज्ज्ञानानुकूले व्यापारे प्रयत्नवान् भव इति योजना। सर्वाण्येव विशेषणानि श्रुत्युक्तब्रह्मस्वरूपलक्षणपराणि ज्ञेयानि। एनम् अनुरागं विषयगतम् ऐहिकामुष्मिकविषयानुषक्तं निर्बन्धं यथा स्यात् तथा भिन्धि विदारय, यथा पुनः विषयप्रवृत्तिकरो न स्यात् तथा विनाशयत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अथ उत्पन्नवैराग्यस्य तत्त्वंपदार्थशोधनानन्तरः इति क्रमं विवक्षन् पदार्थशोधनप्रकारजिज्ञासाप्रयुक्तं शिष्यप्रश्नमुत्थापयति–

इत्युक्त्वोपरते गुरौ पुनरथ जिज्ञासया प्रेरित-
स्तत्त्वंशब्दनिगद्यलक्ष्यविषयं शिष्यो गुरुं पृच्छति ॥
वैराग्येऽतिदृढीकृते सति यतः प्राज्ञो यतिर्मन्यते
संदीप्तं शिरसीव पावकमिदं संसारदुःखं महत् ॥ ५७ ॥

इत्युक्त्वोपरते इति ॥ निगद्यो वाच्योऽर्थः। संसारनिरूपणानन्तरं जिज्ञासाहेतुमाह । वैराग्य इति ॥ ५७ ॥

अथ प्रश्नप्रकारमाह––

वैराग्यं विषयेषु पूर्वमपि मे जातं हरेरर्चना-
द्यज्ञादिक्रियया निरस्तफलया किं त्वद्य दार्ढ्यं गतम् ॥
संसारस्य निरूपणेन धिगिदं कर्मादिजन्यं फलं

विश्वं नश्वरमम्बुबुद्बुदसमं पद्मासनानन्त जगत् ॥ ५८ ॥

वैराग्यमिति ॥ निरस्तफलया यज्ञादिक्रियया हरेः परमात्मनोऽर्चनात्पूर्वमपि मे विषयेषु वैराग्यं जातं, किन्तु अद्य संसारस्य निरूपणेन दार्ढ्यं गतामिति योजना । वैराग्यदार्ढ्यमेवाभिनयति धिगिदामित्यादिना ॥ ५८ ॥

अथ एवं संसारनिरूपणफलमुत्पन्नं प्रदर्श्य, प्रथमं त्वंपदलक्ष्यार्थजिज्ञासामाह—

किं तु त्वंपदलक्ष्यमर्थमधुना कर्तृत्वभोक्तृत्वयो-
र्जाग्रद्भूगतयोरपोहमुखतो वाञ्छाऽवगन्तु मम ॥
कर्तृत्वादिकमस्य किं निजमभूत् स्वाभाविक जाग्रतः
किं वा तत् परतः कुतश्चिदभवच्चैतन्यधातोरिति ॥५९॥

किन्तु त्वम्पदेति॥जाग्रद्भूगतयोः जाग्रदवस्थापन्नयोः कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः अपोहमुखतः त्वम्पदलक्ष्यमर्थम् अवगन्तुम् अद्य मम वाञ्छा जातेति योजना । यद्यपि कर्तृत्वादिकं प्रतीच्यध्यस्तमिति शास्त्रारम्भे जीवप्रकरणे च प्रदर्शितं, तथापि तदपोहेन तत्साक्षि त्वंपदलक्ष्यं सम्यक् न प्रदर्शितम् । अतः सर्वदृश्यधर्मापवादेन केवलः प्रत्यगात्मा प्रदर्शयितव्य इत्याभिप्रेत्य, कर्तृत्वादेरस्वाभाविकत्वमुक्तमप्यनुक्तमिव कृत्वा सन्दिहानः पृच्छति । कर्तृत्वादिकमिति । अस्य चैतन्यधातोश्चैतन्यैकस्वभावस्येति सम्बन्धः । सुगममन्यत् । कर्तृत्वादेः स्वाभाविकत्वे तदपोहो न शक्यः, परकृतत्वे तु हेत्वपोहेनापोहितुं शक्यः । अतोऽन्यकृतं चेत्कर्तृत्वादि तर्हि तदपवादेन साक्षात्प्रत्यग्रूपं प्रदर्शयेत्याभिप्रायः ॥ ५९ ॥

अथ केवलस्य प्रतीचोऽप्रदर्शने को दोषः ? इति तत्राह—

यावत्त्वंपदलक्ष्यवस्तुविषयो बोधो न मे वर्त्तते
तावत् मे बधिरेषु गीतमिव तच्छ्रौतं वचोऽनर्थकम् ॥
तस्मात्त्वंपदलक्ष्यवस्तुविषयः कर्तृत्वभोक्तृत्वयो-
र्जाग्रद्भूगतयोरपोहमुखतो बोधो ममोत्पाद्यताम् ॥ ६० ॥

यावदिति ॥ तच्छ्रौतं वचः तत्त्वमस्यादिवाक्यम् अनर्थक विरोधस्फुरणानपायात् केवलाद्वितीयवस्त्वाकाराग्रहादित्यर्थः । यस्मादेवं तस्मादिति सुगमम् ॥ ६० ॥

अव. आचार्यः आह—

कर्त्रादेरवभासकत्वमगमः शुद्धः स्वयं भास्वर-
श्चैतन्येन निजेन तेन भवतः कर्त्रादिबुद्धिर्भ्रमः ॥
कूटस्थस्य चिदात्मनस्तव कुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वयो-
शङ्का जागरितेऽपि कारकगणं कर्त्रादिकं पश्यतः ॥ ६१ ॥

कर्त्रादेरिति ॥ शुद्धो दृश्यधर्मसंसर्गरहितः । कुतः ? यतः स्वयं भास्वरः स्वयम्प्रकाशः, न हि प्रकाशस्वभावस्य प्रकाश्यधर्मः स्वाभाविकः सम्भवतीत्यर्थः । अत एव निजेन स्वरूपभूतेन तेन चैतन्येन कर्त्रादिकं विकारजातं पश्यतः साक्षिमात्रस्येति यावत् । एवंभूतस्य भवतस्तव कर्त्रादिबुद्धिरहं कर्त्तेत्यादिधीः भ्रमः मिथ्याज्ञानमेव स्वाध्यस्ताहङ्काराविवेकनिबन्धन इत्यर्थः । विमतः कर्तृत्वादिर्न द्रष्टृधर्मः दृश्यत्वाद्रूपादिवदित्यनुमानमाह । तव कुत इति । हेतोर्व्यभिचारमात्मन्याशङ्क्याह । चिदात्मन इति । चिद्रूपत्वमेव साधयति । कूटस्थस्येति । ज्ञातृत्वादिविकाररहितस्येत्यर्थः । यद्वा निजेन चैतन्येन यतस्त्वं कर्त्रादेरवभासकत्वमगमः स्वयं भास्वरतया शुद्धो दृश्यधर्मानास्कन्दितः सन् तेन हेतुना भव

तस्तव कर्त्रादिबुद्धिरहं कर्त्तेत्याद्या धीः भ्रमः । कुतो भ्रमः ? इत्यपेक्षायामाह । कूटस्थस्येति । निर्विकाराचिदात्मतया कर्त्रादिकं कारकगणं पश्यतस्तव जागरितेऽपि कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः शङ्का कुतः स्यात्, दृश्यानां द्रष्टृधर्मत्वासम्भवादित्यर्थः ॥ ६१ ॥

अव ननु कूटस्थस्य कथं कर्त्रादिकारकगणद्रष्टृत्वम् । अतो दृश्यदर्शनाय दर्शनक्रियाऽभ्युपेया, अन्यथा द्रष्टृत्वानुपपत्तेरिति चेत्, नेति दृष्टान्तेनोपपादयति—

व्यापारं सकलस्य भासयति यो भास्वत्करो भास्करो
नासौ कर्तृतया जनस्य विदितो भूमौ द्युलोकस्थितः ॥
एवं रवे महिमन्यवस्थितवतः संघातमुत्पश्यतः
स्वव्यापारसमान्वितं तव कुतः कर्तृत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

व्यापारमिति ॥ द्युलोके स्थितो यो भास्वत्करो भास्करः व्यापारं सकलस्य जगतो भासयति, असौ भूमौ स्थितस्य जनस्य कर्तृतया न विदितः, न हि सविता प्रतिविषयं प्रकाशं कुर्वन् केनापि विज्ञातोऽस्तीत्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह । एवमिति । अक्षरार्थः स्पष्टः । आत्माऽपि स्वरूपभूताचित्प्रकाशेन सवितृवदविक्रिय एव सर्वमवभासयति । अन्यथा तस्यापि कारकत्वेन द्रष्टृत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्मात्साक्षितामात्रेण सर्वावभासके त्वयि कर्तृत्वादिकमुत्प्रेक्षितुमपि न शक्यमिति भावः ॥ ६२ ॥

अव कस्य धर्मस्तर्हि सर्वा विक्रिया ? इत्यत आह—

भूतानि पञ्च तव मोहसमुद्भवानि
संघातरूपपरिणाममुपागतानि ॥
कुर्वन्ति कर्मफलमश्नुवते च तेषा

साक्षी त्वमन्तरविलुप्तचिदेकरूपः ॥ ६३ ॥

भूतानीति ॥ सङ्घातरूपेति । देहद्वयाकारं परिणतानीत्यर्थः । तान्येव कर्म कुर्वन्ति तत्फलं चाश्नुवते । कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणा विक्रिया साभासस्य भूतसङ्घातस्यैव तदविवेकात्त्वय्यध्यारोपितैवावभासते, न त्वयि कोऽपि विकारोऽस्तीत्यर्थः । यतः तेषां भूतानाम् अन्तःसाक्षी यतोऽविलुप्तचिदेकरूप इति योजना ॥६३॥

अथ नन्ववभास्यसम्बन्धं विना नावभासकत्वं सम्भवति, सम्बन्धे च विक्रिया प्राप्तेति चेत्, न । आभासद्वाराऽवभासकत्वोपपत्तेरिति वक्तुं दृष्टान्तमाह—

क्षीरस्य पूर्णे चषके निरस्तो

मणिर्यथा मारकतो महार्हः ॥

क्षीरं समस्तं क्षणमात्रतस्तत्

करोति तच्छायमनूनतेजाः ॥ ६४ ॥

क्षीरस्येति ॥ तच्छायं मरकतमणिच्छायाभासम् ॥ ६४ ॥

अथ दार्ष्टान्तिकमाह—

तथा तमःसंभवमच्छमन्त-

र्बहिर्जडिम्नाऽन्वितमन्तरात्मा ॥

जगच्चिदेकच्छवि चित्स्वरूपः

करोति सान्निध्यवशेन विश्वम् ॥ ६५ ॥

तथा तम इति ॥ यथा मरकतमणिः क्षीरपूर्णचषके निक्षिप्तः क्षीरेणासंश्लिष्ट एवान्तःस्थितः चषकस्थं क्षीरं मरकतमणिच्छायं स्वाकारतामापादयति, तथाऽन्तरात्मा तमःसम्भवञ्जगत् अन्तः

अच्छं चैतन्यसान्निकृष्टाकारेण स्फटिकादिवन्निर्मलं बहिर्जडिम्ना-ऽन्वितं जाड्येनास्कन्दितं चिदेकच्छवि चैतन्यच्छायं स्वचैतन्या-भासव्याप्तं करोति सान्निध्यवशेन, न विकारयोगेनेत्यर्थः। विश्वं जगदिति सम्बन्धः। सर्वं जगदित्यर्थः। चित्स्वरूपः इत्यन्तरात्म-विशेषणम्। अतोऽशेषस्य जगतश्चिदात्मन्यध्यस्तत्वात् आध्यासिके च सम्बन्धे विकाराप्रसङ्गादविक्रिय एवात्मा सन्निधिसत्तामात्रेण स्वाध्यस्तं सर्वं चिच्छायं कुर्वन्नवभासमानः अवभासक इति व्यपदेशभाग्भवतीति भावः ॥ ६५ ॥

अथ तदेवं सर्वभूतभौतिकविक्रियाजातस्य साधकत्वात्स्वयं विक्रियारहितः कूटस्थचिद्रूपः आत्मेत्युपपादितम्। तथापि प्रतिश-रीरमात्मभेदस्य प्रसिद्धत्वान्नाद्वैतब्रह्मभावयोग्यताऽस्यास्तीति चे-त्, मैवम्। उपाधिभेदनिबन्धनत्वाद्भेदावभासस्य आकाशस्येव न स्वतो भेदसंभव इत्याह—

तान्येव कार्यकरणानि बहुप्रकारं
भेदं च बिभ्रति भवानपि तत्र लग्नः ॥
भेदेन भाति जलपात्रनिविष्टमूर्त्ति-
मार्त्तण्डमण्डलवदन्वयमन्तरेण ॥ ६६ ॥

तान्येवेति ॥ यानि पञ्चमहाभूतविकारात्मकानि कार्य-करणानि तान्येव बहुप्रकारं देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण भेदं बि-भ्रति, चकारात्समष्टिब्रह्माण्डरूपेणाभेदं च बिभ्रति। भवानपि चिदात्मा अन्वयमन्तरेण वास्तवसम्बन्धं विनापि तत्र तेषु लग्नः अभिमानेनात्मभावमापन्नो भेदेन भाति। तथा चैकत्वमनेकत्वं च तव उपाधिनिबन्धनमेव न परमार्थम्। उपाधयश्च पञ्चभूतव्यतिरे-केण न सन्ति, पञ्चभूतानि च तत्कारणसाभासाज्ञानव्यतिरेकेण

न सन्ति, अज्ञानं चात्मन्यध्यस्तमिति न परमार्थः कोऽपि कस्यापि भेदोऽस्ति। अतः कुतो जीवभेदशङ्केति भावः। अपरिच्छिन्नस्यासङ्गस्यापि अन्यत्र प्रवेशेन परिच्छिन्नतयाऽवभासे दृष्टान्तमाह । जलपात्रनिविष्टेति ॥ ६६ ॥

अत एव च सति समष्टिव्यष्टिसर्वशरीरसाक्षितया सर्वत्रात्मैकत्वं सिद्धमित्याह—

अध्यात्ममेवमधिभूतमथाधिदैवं
सूत्र विराजमपि पश्यसि साक्षिभूतः ॥
साक्षित्वकारणमशेषजगन्निदान-
मज्ञानमात्मचिदवज्वलित सदैव ॥ ६७ ॥

अध्यात्ममिति ॥ यदि साक्षिभूतः आत्मा तदा तस्य साक्ष्येण संबन्धो वाच्य एव,तदा तदाभासोऽपि सदा अनात्मसंबद्धःस्यादिति चेत्, तत्राह । साक्षित्वकारणमिति । आत्मचिदवज्वलितम् आत्मचैतन्याभासखचितम् अशेषजगन्निदानमज्ञानमेव सदा साक्षित्वकारणम् । तथा च साक्ष्यसंबन्धोऽविद्याध्यस्तो न परमार्थ इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अत सर्वाण्येव कार्यकरणान्येकस्यैवात्मन उपाधिभूतानीत्युक्तमर्थम् अनुमानेन साधयति—

देहव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
देहव्यक्तिर्देहताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ६८ ॥

देहव्यक्तिरिति ॥ विप्रतीत्यास्पदत्वं याता सर्वा देह-

व्यक्तिः पक्षः, सा तावकी त्वदीयैवेति साध्यनिर्देशः, देहताकारणेन देहव्यक्तित्वादिति हेतुनिर्देशः,तावकी देहव्यक्तिरिव संप्रतिपन्नदेहव्यक्तिरिवेत्युदाहरणोक्तिः । फलितार्थमाह । तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एक इति। विमतानि त्वच्छरीरातिरिक्तानि सर्वाणि शरीराणि त्वयैवात्मना आत्मवन्ति शरीरत्वात् संप्रतिपन्नत्वच्छरीरवदिति प्रयोगः। तथा च सर्वशरीरेष्वात्मैक्य सिद्धमित्यर्थः ॥६८॥

अथ स्थूलदेहभेदादात्मभेदशङ्कामनुमानेनोद्धृत्य, बुद्धिभेदादपि भेदशङ्कामपाकरोति—

बुद्धिव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
बुद्धिव्यक्तिर्बुद्धिताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ६९ ॥

बुद्धिव्यक्तिरिति ॥ पूर्ववद्योजना ॥ ६९ ॥

अथ बाह्येन्द्रियविषये ऽप्याह—

अक्षव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्व
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
अक्षव्यक्तिस्त्वक्षताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७० ॥

अक्षव्यक्तिरिति ॥ अत्र प्रत्येकमपि चक्षुरादिकं पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यं चक्षुर्वृत्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वमित्यादि ॥ ७० ॥

अथ बुद्धिवृत्तिपक्षीकारेणाप्याह—

ज्ञानव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं

याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
ज्ञानव्यक्तिर्ज्ञानताकारणेन
स्तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७१ ॥

ज्ञानव्यक्तिरिति ॥ ७१ ॥

अथ प्रमाणफलविषयमप्यनुमानमाह—

संविद्व्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्व
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
संविद्व्यक्तिः सविदात्मत्वहेतो-
स्तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७२ ॥

संविद्व्यक्तिरिति ॥ ७२ ॥

अथ रागः इच्छा तत्राप्याह—

रागव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
रागव्यक्ती रागताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७३ ॥

रागव्यक्तिरिति ॥ ७३ ॥

अथ द्वेषो मत्सरः तत्राप्याह—

द्वेषव्यक्तिर्विप्रतीत्यास्पदत्वं
याता सर्वा तावकी तावकीव ॥
द्वेषव्यक्तिर्द्वेषताकारणेन
तस्मादात्मा सर्वभूतस्थ एकः ॥ ७४ ॥

द्वेषव्यक्तिरिति ॥ ७४ ॥

अथ एवमनुक्तेष्वप्यनुमानं प्रयोक्तव्यम् । तस्मात्सर्वसाक्षित्वात्कर्तृत्वप्रमुखं संसारित्वम् आत्मन्यविवेकिभिः कल्पितमेव न वस्तुभूतमिति सिद्धमित्युपसंहरति—

एवं सतीदमविवेकनिबन्धनं ते
कर्तृत्वमात्मनि विभाति न वस्तुभूतम् ॥
बालेन कल्पितमतीव विशुद्धरूपे
व्योम्नीव भूम्नि मलिनत्वमबोधहेतोः ॥ ७५ ॥

एवं सतीति ॥ आत्मनि भूम्नीति संबन्धः । निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥ ७५ ॥

अथ यद्येवं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिः कार्यकरणधर्मो नात्मधर्मः, तदा किमात्मना तत्र कृत्यमस्ति । सद्भातप्रकाशनमेव सद्भातातिरिक्तात्मकृत्यमिति चेत्, न । आदित्यादिज्योतिभिरेव तत्सिद्धेरित्यत आह—

बाह्यैरसौ रविनिशाकरवह्निवाग्भि-
र्ज्योतिर्गणैरुपकृतोऽपि हि कर्मजातम् ॥
निर्वर्तयन्न खलु तावकमन्तरेण
चैतन्यसान्निधिबलं पुरुषः करोति ॥ ७६ ॥

बाह्यैरिति ॥ असौ पुरुषः संघातात्मा कर्मजातम् आसनोत्थानगमनागमनादिरूपं निर्वर्तयन् बाह्यैः देहबहिःस्थितैः रव्यादिभिर्ज्योतिर्गणैः उपकृतोऽपि प्रकाशेनानुगृहीतोऽपि तावकं त्वत्स्वरूपभूतं चैतन्यसन्निधिबलम् आविर्भूतचिदाभासव्याप्तिरूपमात्मसान्निध्यबलमन्तरेण न खलु करोति स्वव्यापारं न निर्वर्ते-

यतीति योजना । "अस्तमिते आदित्ये चन्द्रमस्यस्तमिते शान्ते ऽग्नौ शान्तायां वाचि स्वप्नाद्यवस्थायामप्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपर्येति" इतिश्रुतेरवस्थान्तरेऽपि बाह्यज्योतिःप्रकाशितोऽपि आन्तरचैतन्यज्योतिःप्रकाशं विना न किमपि पुरुषः कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अथ यदि जागरे बाह्यज्योतिःसद्भावेऽप्यान्तरज्योतिरपेक्षा, तदा स्वप्ने बाह्यज्योतिरपेक्षाऽपि तुल्या स्यात् अविशेषात् इति चेत्, तत्राह—

ज्योतिर्द्वयान्तरित एव हि कर्मजातं
सर्वं करोति पुरुषोऽन्नमयः सदैव ॥
कर्मादिकारणविनिर्मितमस्य बाह्यं
ज्योतिस्त्वनित्यमनिमित्तकमान्तरं चित् ॥ ७७ ॥

ज्योतिर्द्वयेति॥अन्नमयः पुरुषः स्थूलसङ्घातात्मा ज्योतिर्द्वयान्तरितः बहिः आदित्यादिज्योतिषा अन्तश्चैतन्यज्योतिषा च व्याप्त एव हि सर्वं कर्मजातं सदैव करोति। तस्य भौतिकत्वेन भौतिकज्योतिरुपकारापेक्षणादान्तरस्य लिङ्गात्मनोऽपि यद्यपि भौतिकत्वं, तथाऽपि तस्य नित्यं चैतन्यज्योतिर्ग्रस्ततयैव सत्त्वादान्तरेणैव ज्योतिषा तस्य व्यवहारोपपत्तिरिति न स्वप्नादौ बाह्यज्योतिरपेक्षेति भावः। तथापि जागरिते ज्योतिर्द्वयान्तरितत्वमस्य न सिद्ध्यति, तत्रान्तरज्योतिःसद्भावे मानाभावात् । तत्र कर्मादिकार्यस्यादित्यादिज्योतिषैव सिद्धेरित्यत आह । कर्मादीति । अस्य सङ्घातात्मनो बाह्यं ज्योतिस्त्वनित्यं, यतः कर्मादिकारणत्वेन विनिर्मितं लोकयात्रामात्रार्थत्वेन सृष्टम् । यद्वा कर्मादिकारणेन कर्मकरणगमनागमनादिलक्षणेन लिङ्गेन विनिर्मितं

त्रिस्पष्टं नितरां मितम् आन्तरज्योतिरनुमातुं व्याप्तिग्रहणस्थानत्वेन निर्णीतम् । अथवा व्यवहर्तुः प्राणिनो यत् कर्मज्ञानपूर्वप्रज्ञादि तदेव कारणं तेन विनिर्मितम् उपचितं बाह्यं ज्योतिः अस्य व्यवहर्तुः अनित्यं सर्वदा सर्वव्यवहारेष्वननुवृत्तेरित्यर्थः । चित् चैतन्यं त्वान्तरं ज्योतिः अनिमित्तम् अनागन्तुकम् अनागमापायि सर्वावस्थासु प्रकाशकतयाऽनुगतं नित्यमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । "आदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते" इत्यादिबाह्यज्योतिरुपन्यासो न तत्सद्भावविधानार्थः, किन्तु सद्भातस्य व्यवहारः प्रकाशव्याप्तः यथा बहिः क्षेत्रादिगमनव्यवहारः आदित्यादिज्योतिषा व्याप्त इति व्याप्तिदर्शनार्थः । अतो न तैरेवायं व्यवहरति, तेषामभावेऽपि गाढान्धकाराद्वृतगिरिगुहादिषु स्वप्ने चास्य व्यवहारोपलम्भात् भवितव्यं च तत्र प्रकाशकेन ज्योतिषेति सामान्यतः सिद्धौ, परिशेषादात्मज्योतिरान्तरं तत्र प्रकाशकतया सिद्ध्यत् सर्वावस्थाव्यवहारहेतुतयैव सिद्ध्यति। न हि बुद्ध्यन्तर्ज्योतिःप्रकाशनं विना कदापि कोऽपि कस्य चिद्व्यवहारो दृष्टः, सुषुप्त्यवस्थायां सत्स्वपि बाह्यज्योतिष्षु व्यवहारादर्शनात्। तस्मान्नित्येनात्मज्योतिषैव त्वं नित्यं व्यवहरसि। बाह्यं तु ज्योतिर्जातं तवेन्द्रियप्रवृत्तौ सहकारिमात्रमिति सर्वमनवद्यमिति ॥ ७७ ॥

अथ ननु नित्यत्वेऽप्यान्तरज्योतिषस्तत्कृतोपकारः आगन्तुकः स्यात् । अतश्च जागरिते तदभावोऽपि स्यात्, अन्यथा यदा बाह्यं ज्योतिरस्ति तदा स्वप्नेऽपि तदुपकारः प्राप्नुयादिति चेत्, नैवमित्याह—

श्रोत्रादिजन्यमतिवृत्तिषु बाह्यशब्दा-
द्यर्थाकृतिर्विशति कर्मवशेन कर्तुः ॥
बोधाकृतिस्तु तत्र सन्निधिमात्रहेतु-

धींवृत्तिषु प्रविशति स्वरसेन नित्यम् ॥ ७८ ॥

श्रोत्रादिजन्येति ॥ अथवा बाह्यस्य ज्योतिषोऽनित्यत्वम् आन्तरस्य नित्यत्वं चोक्तं स्फुटयति । श्रोत्रादिजन्येति । कर्तुः सङ्घातात्मनः कर्मवशेन भोगहेतुकर्मप्रयुक्ततया श्रोत्रादिद्वारा जन्याः याः मतिवृत्तयो बुद्धिपरिणामरूपाः तासु बाह्यशब्दाद्यर्थाकृतिः तदर्थव्याप्त्या तत्तदर्थाकारो विशति, तासां वृत्तीनां स्वसंबद्धाकारता भवतीत्यर्थः । ततो बाह्यस्येन्द्रियग्राह्यज्योतिषः तत्तदर्थाकारबुद्धिवृत्त्युत्पादकत्वेनैव प्रकाशकत्वाद् वृत्तीनां चानित्यत्वादागन्तुकतेतिभावः । तास्वेव धीवृत्तिषु या बोधाकृतिश्चिदाकारः सा तव सन्निधिमात्रहेतुः अधिष्ठानतयाऽनुगममात्रहेतुका नित्यं सर्वदा स्वरसेन व्यापारव्यवधानं विना प्रविशति । प्रकाशस्य स्वरूपत्वाद्धीवृत्तीनां तत्राध्यासान्नेन्द्रियव्यापारादिव्यवधानापेक्षाऽत्रास्तीति नित्यमेवात्मज्योतिरित्यर्थः । तथा च शब्दादीनां संबन्धाच्छ्रोत्रादिद्वारा कर्तुः कर्मप्रयुक्ततया बुद्धिवृत्तयो जायन्ते, तास्वेव बाह्यशब्दादिज्योतिरुपकारलक्षणा तदाकृतिः भवति । अतः इन्द्रियोपरमस्थाने कर्मोपरमहेतुके न तत्प्राप्तिरिति न स्वप्नेऽपि बाह्यज्योतिरुपकारशङ्केति भावः ॥ ७८ ॥

अथ नन्वान्तरज्योतिरुपकारोऽप्यागन्तुकः स्यात् ज्योतिरुपकारत्वात् बाह्यज्योतिरुपकारवत् इत्यनुमानमाशङ्क्य, तस्याप्रयोजकता वदन् नित्यचित्संसर्गस्योक्तं निरुपाधिकत्वं साधयति—

स्वाभाविकी हि वियदन्वितता घटादेः
क्षीरादिवस्तुघटना पुनरन्यहेतुः ॥
एवं धियामपि चिदन्वितताऽनिमित्तं
शब्दादिवस्तुघटना खलु कर्महेतुः ॥ ७९ ॥

**स्वाभाविकीति** ॥ घटादिर्ह्यन्यसञ्ज्ञित्वेन प्रसिद्धः तस्य घटादेर्वियदन्वितता व्योमव्याप्यता स्वाभाविकी उत्पत्तित एव सिद्धा, न तत्र हेत्वन्तरानिबन्धनतेत्येतत्प्रसिद्धमित्यर्थः। तस्यैव क्षीरादिवस्तुघटनासम्बन्धः पुनरन्यहेतुः प्रापयितृतन्त्रोऽनित्यः कादाचित्क इत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकमाह। एवमिति। अनिमित्तामिति पदच्छेदः। निमित्तरहितं यथा स्यात्तथा धियां चिदन्वितता उत्पत्तिसिद्धा नित्यैवेत्यर्थः। शब्दादीति स्पष्टार्थम्। तथा च वस्तूनां स्वभाववैचित्र्यादनुमानमप्रयोजकमिति भावः ॥ ७९ ॥

अव ननु बोधाकृतिर्न धीवृत्तिषु प्रसिद्धेति चेत्, न। प्रमाणफलत्वेन सर्वप्रसिद्धत्वादित्याह—

संवेदनं यदिह मानफलं प्रसिद्ध
तच्च प्रमातरि विकारिणि निष्ठितं नः ॥
तस्य प्रमातुरपि साक्षितयाऽन्तरात्मा
सर्वस्य तिष्ठति भवानविकारभूतः ॥ ८० ॥

**संवेदनमिति** ॥ इह व्यवहारभूमौ यत् संवेदनं प्रमित्याख्यं मानफलं प्रसिद्धं, चक्षुरादिद्वारकबुद्धिवृत्तौ प्रविष्टं सत् यत् मानफलत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः। भवतु प्रसिद्धं तथापि तस्यात्मनिष्ठत्वं विषयनिष्ठत्वं वा स्यात्, न बुद्धिवृत्तिगतत्वमिति चेत्, तत्राह। तच्चेति। तच्च संवेदनं नोऽस्माकं मते प्रमातरि निष्ठितम्। किंलक्षणे प्रमातरि? विकारिणि। प्रमाणवृत्त्याश्रयो हि प्रमाता वृत्तिश्च परिणामः प्रमातृविकार एव इति साविकार एव प्रमाता भवति। विकारित्वं चान्तःकरणस्य नात्मनः तस्य कूटस्थत्वात्, प्रमाणफलं च प्रमात्राश्रयं युक्तं न विषयाश्रयम् "इदमहं जानामि" इति प्रमात्राश्र-

यत्वेनैव तस्यानुभवात् । तथा चात्मस्वरूपचैतन्यमेव प्रमातृगताचिदाभासाविविक्तं प्रमातृनिष्ठं तद्गताभासावसानं सत् मानफलता-व्यपदेशभाग्भवति । तस्मात्परिणाम्यन्तःकरणगतमेव मानफलं न साक्षाच्चिदात्मगतं, नापि विषयगतं, चिदात्मविषययोस्तु परिणाम्यन्तःकरणव्याप्तिनिबन्धनं प्रमित्याश्रयत्वमाननित्यभिप्रायः। यदि परिणामिन एव प्रमातृत्वं तत्फलभोक्तृत्वं च तर्हि तत्र किमात्मना कार्यमित्यत आह । तस्य प्रमातुरपीति। प्रमातुः सर्वस्यापि साक्षितया तिष्ठतीत्यन्वयः । विकारिणः प्रमातुरतद्विकारजातस्य सर्वस्य तद्व्याप्तविषयादेश्च सर्वसाक्षितनेत्यर्थः । साक्षित्वे ऽपि विकारप्राप्तिमाशङ्क्याह । अविकाररूप इति। विकाररहित इत्यर्थः। अविकारत्वं साधयति। अन्तरात्मेति। परिणामिनः स्वयं विकारापन्नस्य न स्वाविकारसाक्षिता सम्भवतीत्यतः साक्षित्वमात्मनः कृत्यं, तद्वशाद्धि परिणामिनः प्रमातृत्वादीत्यभिप्रायः ॥ ८० ॥

अथ यद्येवं प्रमातृत्वादिर्बुद्धिगत एव न प्रत्यगात्मगतः प्रत्यगात्मा तु स्वयंप्रकाशस्तत्साक्षी तर्हि कथमात्मनि प्रमातृत्वादिप्राप्तिर्येन तत्र तत्प्रतीयत इति चेत्, तत्राह—

> कर्त्रादिसंनिधिबलेन तवापि कर्तृ-
> भोक्तृप्रमातृवपुरापतति भ्रमेण ॥
> तद् बुद्धिसंश्रयमनात्मगतं प्रतीचि
> शुद्धेऽपि पश्यसि तमःपटलावृताक्षः ॥ ८१ ॥

कर्त्रादिसन्निधीति ॥ जपाकुसुमादिसन्निहितस्फटिके लौहित्यादिप्रतीतिवत्कर्तृत्वादिधर्मकबुद्ध्यादिषु साक्षितया सन्निहिते प्रत्यगात्मनि कर्तृत्वादिप्रतीतिराविवेकनिबन्धनेति ता-

त्पर्यार्थः । अक्षरार्थोऽतिरोहितः । अविवेककृतां भ्रान्तिमेवानुभवानुसारेण विशदयाति । तद् बुद्धिसंश्रयमिति । तत् कर्तृत्वादि अज्ञानावृते निजतत्त्वे कर्तृत्वादिधर्मकबुद्ध्याद्यध्यासात् आभासगतमप्याभासाविवेकादात्मनि पश्यसीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अथ तदेवं कर्तृत्वादि न द्रष्टृगतं दृश्यत्वाद्रूपादिवदित्युक्तं, तत्र दृश्यत्वेऽपि द्रष्टृधर्मता किं न स्यादित्यप्रयोजकतामाशङ्क्य, द्रष्टृधर्मत्वे दृश्यत्वासिद्धिश्चैतन्यवदित्यभिप्रेत्याह—

कर्तृत्वादि च दृश्यवर्गपतितं द्रष्टुः स्वभावः कथं
संभाव्येत तव प्रसन्नविमलस्वच्छप्रकाशात्मनः ॥
यद्यद् दृश्यतया जगत्यभिमतं सर्वस्य तत्तद्भवेद्
दूरं द्रष्टुरिति प्रसिद्धमखिलं भूभृत्समुद्रादिकम् ॥८२॥

कर्तृत्वादि चेति ॥ द्रष्टुस्तवेति सम्बन्धः । कर्तृत्वादेर्दृश्यवर्गान्तःपातित्वम् आगमापायित्वादिति द्रष्टव्यम् । तस्य द्रष्टुः स्वभावत्वासम्भवसाधनाय विशेषणं प्रसन्नेति । प्रसन्नत्वम् अविकृतत्वं, विमलत्वम् उत्पत्त्यादिमलरहितत्वं, स्वच्छत्वम् असङ्गत्वम्, एवंभूतो यः प्रकाशः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तस्य तवेत्यर्थः । परिणाम्यागमापायिपराधीनसत्ताकं न तद्विरुद्धस्यात्मनः स्वभावः संभाव्यते इत्युक्तं भवति । एवमनभ्युपगमे व्याप्तिविरोधः प्रसज्यते इत्याह । यद्यदिति । सर्वस्य द्रष्टुरिति सम्बन्धः । दूरमिति असंसृष्टमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अथ तदेवं ज्योतिर्द्वयान्तरित एवेत्यारभ्य इयता ग्रन्थेन द्रष्टृदृश्यभावं साक्षिसाक्ष्यभावं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयता "आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते" इत्यादिश्रुत्यनुगतोऽर्थो विशदीकृतः। इदानीमागमापायितदवध्यन्वयव्यतिरेकपरं "स यत्र प्रस्वपिति"

इत्यादिवाक्यमाश्रित्यापि कर्तृत्वादिप्रहाणेन विशुद्धचिद्रूपत्व-
मात्मनो विशदयति—

एतस्माच्च न जाग्रतस्तव भवेत् स्वाभाविकी कर्तृता
यद्येषा स्वत एव किं न भवति स्वप्नेऽपि ते तिष्ठतः ॥
यत् स्वप्ने परिपश्यसि त्वमखिलं तन्मायया निर्मितं
कर्तृत्वादि न सत्यमत्र घटते कात्स्न्र्यानभिव्यक्तितः ॥८३॥

एतस्माच्चेति ॥ "स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा" इति श्रुतौ स्वप्ने जाग्रत्कर्तृत्वादिप्रहाणेन नूतनकर्तृत्वादि-निर्माणश्रवणात् एतस्माच्च हेतोः तव जाग्रतः जाग्रदवस्थापन्नस्य कर्तृता न स्वाभाविकी भवेत् । कुतः? इत्यत आह । यद्येषेति । एषा कर्तृता यदि स्वत एव स्वाभाविक्येव स्यात् तदा स्वप्नेऽपि तिष्ठतः ते तव किन्न भवति कस्मान्न स्यात्, तथा चावस्थान्तरे त्वयि व्यतिरेकदर्शनात्कर्तृत्वादिर्न तव स्वाभाविकः इति नित्यशुद्ध एव सदा त्वमित्यर्थः । ननु जागरित इव स्वप्नेऽपि व्यवहारो दृश्यते, अतः कथं जाग्रद्व्यवहारस्य स्वप्ने व्यभिचारः इति चेत्, नैवम् । स्वाप्नव्यवहारस्य मायामात्रत्वादित्याह । यत्स्वप्न इति । स्वाप्नव्यवहारस्य मायामात्रत्वेनासत्यत्वे "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति सूत्रोक्तं हेतु पातयति । कार्त्स्न्यानभिव्यक्तित इति ॥ ८३ ॥

अथ हेत्वर्थं विशदयति—

कार्त्स्न्यं हीष्टमबाधनं न खलु तत् स्वप्नस्य जाग्रद्धिया
बाधाद् बाधितमेव सत्यमिति चेन्नैव विरोधान्मिथः ॥

सत्यत्वे न हि बाधितत्वघटना बाधे च सत्यं कुतः
सत्यं बाधितमित्यतीव पदयोः संबन्धिता दुर्घटा ॥८४॥

कात्स्न्यं हीष्टमिति ॥ स्वप्ने व्यवह्रियमाणपदार्थोचितदेशकालादिसद्भावः कार्त्स्न्यं तत् यद्यपि स्वप्नदशायामबाधितमुचितमिव प्रतीयते, तथापि तस्य जागरिते विसंवादात्तद्बाध्यते, प्रतीतमपि वस्तुतस्तत्र नाभूदिति हि जाग्रदवस्थायां तदवगम्यते, अतो देशतः कालतो वस्तुतश्च यदबाधनं व्यवह्रियमाणार्थानां तत्कार्त्स्न्यमिष्टं हीति यतः इति योजना। भवतु स्वप्नेऽपि कार्त्स्न्यं नेत्याह। न खल्विति। तत् अबाधलक्षणं कार्त्स्न्यमित्यर्थः। भवतु जाग्रद्धिया स्वप्नस्य बाधस्तथापि कुतोऽस्यासत्यता, सत्यमिथ्याविभागस्यासिद्धेरिति कश्चिच्छङ्कते। बाधितमेव सत्यमिति चेदिति। बाधितमपि सत्यमेवेति चेदिति योजना। व्याघातान्नेयं शङ्का इहावतरतीति परिहरति। नैवं विरोधान्मिथ इति। विरोधमेव स्फोरयति। सत्यत्वे इति। सत्यपदं हि लोके बाधानर्हे वस्तुनि व्युत्पन्नं, बाध्यपदं च सत्यपदाविषयादन्यस्मिन् विषये प्रसिद्धम् अतः सत्यं बाध्यमित्यनयोरेकस्मिन् विषये सहप्रयोगो दुर्घटः विरुद्धस्वभावयोरैक्यायोगात्। अतो व्युत्पत्तिविरुद्धं बाधितस्य सत्यत्वमित्यर्थः। व्युत्पत्त्यनुभव एव विभागहेतुरिति भाव.॥८४॥

अथ ननु स्वप्नस्याविद्यामयत्वं भ्रान्तित्वं वा वक्तुं युक्तं, न मायामयत्वं, मायायाः अभ्रान्तेषु मायाविषु प्रसिद्धेः, स्वप्नस्य च भ्रान्तपुरुषनिष्ठत्वादिति मायाऽविद्ययोर्भेदमङ्गीकुर्वताम् इह प्रत्यवस्थानावसरमाशङ्क्य, तदनवसरत्वाय मायाऽविद्ययोरभेदं साधयितुमुपक्रमते—

मायामेनां जागरे लोकसिद्धा-

मुक्त्वा तद्वत् स्वप्नमायां विविच्य ॥
शक्तिव्याप्ती तत्र सिद्धे गृहीत्वा
मायासिद्धं जागरं साधयामः ॥ ८५ ॥

**मायामेनामित्यादिना** ॥ या माया जागरे जाग्रदवस्थायां लोकव्यवहारे सिद्धा ताम् एना प्रसिद्धामुक्त्वा भ्रान्त्यविद्याशब्दवाच्यसाधारणतया निरुन्य तद्वत् तत्समानस्वभावतया स्वप्नमायाञ्च भ्रान्त्याविद्यालक्षणां विविच्य निष्कृष्य मायाऽविद्यादिशब्दानामेकप्रवृत्तिनिमित्ततया एकलक्षणयोगित्वमुपपाद्येति यावत्। तत्र एवंविधे ऽनिर्वचनीये ऽर्थे ये शक्तिव्याप्ती सिद्ध्यतः ते गृहीत्वा मायादिशब्दस्य शक्ति मायाऽविद्ययोरेकत्वसाधकलिङ्गस्य व्याप्तिं च गृहीत्वेति यावत् । जागरं मायासिद्धम् ईश्वरमायया रचितमप्यविद्यामयं साधयाम इति प्रतिज्ञापद्ययोजना ॥ ८५ ॥

अथ का तर्हि लोकसिद्धा माया ? या भ्रान्त्यविद्यादिसाधारण्येन निर्विवक्षितेत्यपेक्षायामाह—

लोके हि मायाऽधिगता न माया
तमोऽतिरिक्ताऽस्ति निरूप्यमाणा ॥
व्याप्तिश्च शक्तिश्च निरूप्यमाणा
भविष्यतीहैव तु नेतरत्र ॥ ८६ ॥

लोके हि मायेति । या लोके प्रसिद्धा ऐन्द्रजालिकैः प्रसार्यमाणा अधिगता सर्वजनविदिता सा माया निरूप्यमाणा लक्षणप्रमाणाभ्यां प्रतिपाद्यमाना न तमःशब्दवाच्याविद्यातिरिक्ता ऽस्ति । एवं सति मायाशब्दस्य शक्तिः मायामयत्वव्याप्तलिङ्गानां व्याप्तिश्च निरूप्यमाणा इहैव अविद्यायामेव भविष्यति, नेतरत्र न

ततो ऽर्थान्तरे इति योजना ॥ ८६ ॥

अव परिशेषप्रमाणेन मायाशब्दवाच्यम् अनिर्वचनीयमेवेति साधयितुं प्रसक्तमनिषेधमारभते । तत्र मणिमन्त्रादियुक्ते पुरुषे मायाविलक्षणसिद्धेर्मण्यादिरेव माया, स च नाविद्या तत्र तत्त्वसिद्ध्यभावात् इति मण्यादौ मायात्वमाशङ्क्य निराकरोति—

मायाविनो न मणिमन्त्रमहौषधं वा
मायेति शक्यमिह वर्णयितुं कुतश्चेत् ॥
सत्यं हि तत् सकलमिष्टमिदं ह्यसत्या
माया ततोऽन्यदिह किं चन वर्णनीयम् ॥ ८७॥

मायाविन इति ॥ मण्यादेर्मायात्वं वर्णयितुं न शक्यम् इत्यत्र हेतुं प्रश्नपूर्वकमाह । कुतश्चेत्सत्यं हीति । मायाशब्दस्य मिथ्याऽर्थे एव लोके प्रसिद्धत्वात् मण्यादेश्च सत्यत्वात् मण्यादिभ्यो ऽन्यदेव मायाशब्दवाच्यं किमपि वर्णनीयं न मण्यादिरित्यर्थः । लोके "माया मया दृष्टा" इति मिथ्याभूते दृष्टनष्टस्वरूपे वस्तुनि व्यवहारदर्शनान्मण्यादेरतादृशस्य तादृग्व्यवहारायोग्यत्वान्न मण्यादिर्मायेति भावः ॥ ८७ ॥

अव अथ मणिमन्त्रादिजन्यं मायाविनः सामर्थ्यं मायेति मतं, तदपि न । तत्राप्युक्तदूषणानतिवृत्तेरित्याह—

सामर्थ्यमस्य मणिमन्त्रनिमित्तमस्ति
माया भविष्यति जनभ्रमहेतुरेषा ॥
इत्युच्यते यदि तदप्यतिफल्गु कस्मात्
सामर्थ्यमप्यवितथं हि तदिष्टमस्य ॥ ८८ ॥

सामर्थ्यमस्येति ॥ अस्य मायाविनो मणिमन्त्रनिमित्तकं यत्सामर्थ्यमस्ति एषा जनभ्रमहेतुर्माया भविष्यतीत्युच्यते यदीति शङ्काभागयोजना । दूषयति । तदप्यतिफल्ग्विति । सुगममन्यत् ॥ ८८ ॥

अथ न मण्यादिर्माया, नापि तज्जन्यं मण्यादिमतः सामर्थ्यं, किन्तु मायाविनः कोऽपि शक्तिविशेषो माया, सा चाविद्यातो ऽन्या इति यदि कश्चिद् ब्रूयात्, तस्यापि पक्षो न निर्वहति विकल्पासहत्वादित्याह—

न च शक्तिरस्य सहजा यदि वा
जनिताऽस्ति केन चिदिति ब्रुवतः ॥
परिपुष्कल स्वमतनिर्वहण
भवितुं क्षमं तदनिरूपणतः ॥ ८९ ॥

न च शक्तिरस्येति ॥ अस्य सा शक्तिः किं सहजाऽस्ति ? उत्पत्तित एव सिद्धेति यावत् । यदि वा केन चिज्जनिताऽस्ति ? उत्पत्त्यनन्तरं केनापि निमित्तयोगेन प्राप्ता वेत्यर्थः । दूषणमुभयत्र साधारणमाह । इति ब्रुवत इति । परिपुष्कलं स्वमतनिर्वहणं भवितुं न च क्षममिति सम्बन्धः । तत्र हेतुः तदनिरूपणत इति । उभयथाऽपि निरूपयितुमशक्यत्वादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

अथ सहजत्वपक्षदुर्निरूपत्वं साधयति—

न च शुक्रशोणितसमागमने
न च गर्भशायिन इयं विदिता ॥
न च मातृयोनिविवरादुदरा-
दपसर्पतो बहिरियं घटते ॥ ९० ॥

**न च शुक्रशोणितेति** ॥ सहैव जायते इति हि सहज त्वमुच्यते, तत्र पुंसो रेतोनिषेककाले मातुरुदरप्रवेशे सह जायते, किं वा गर्भागारे शरीरपरिणामकाले, अथवा मातुरुदराद्बहिर्निः-सरणकाले सा शक्तिः इति विकल्पत्रयं क्रमेण निराकरोति । न च शुक्रशोणितसमागमने इत्यादिना । इयं शक्तिः । अनुभवपराहतत्वात्कल्पनायाः इत्यर्थः । यद्येतास्ववस्थासु उक्तशक्तिसम्भवः पुरुषस्य भवेत् तदा निषेकादिप्रकारस्य सर्वेषामविशेषात्सर्वेष्वेव सा शक्तिः स्वतो वा कार्यतो वोपलभ्येत, नचोपलभ्यते, तस्मादेतदसङ्गतमिति भावः ॥ ९० ॥

अथ आगन्तुकत्वपक्षोऽप्ययुक्तः इति प्रतिपादयति—

मणिमन्त्रमौषधमितीदृशकं<br>
विरहय्य नापरमिहार्पयति ॥<br>
पुरुषोऽपि कश्चिदत एवमियं<br>
परतोऽपि नास्य घटनामटति ॥ ९१ ॥

**मणिमन्त्रमिति** ॥ अस्मिन्पक्षे हि मायाविपुरुषान्तरोपदेशादस्य मायाप्राप्तिर्वक्तव्या । तथाच कश्चिन्मायावी पुरुषोऽपि मणिर्मन्त्रं चौषधं वा इति इत्थम् ईदृशकम् अन्यद्वा विरहय्य विना अन्यच्छक्तिलक्षणम् इह अस्मिन् शिष्ये नार्पयति । मणिमन्त्रमिति द्वन्द्वैक्यम् । मायावीपुरुषः पुरुषान्तरे मण्यादिप्रदानव्यतिरेकेण न शक्तिं काञ्चिदाधत्ते । मण्यादिश्च न शक्तिर्नापि मायाशब्दवाच्यः तस्य सत्यत्वात् मायायाश्चानृतत्वेन प्रसिद्धत्वादित्यभिप्रेत्याह । अत एवमिति ॥ ९१ ॥

अथ यद्यपि पुरुषगतशक्तेरस्याः सहजत्वादिप्रकारो न नियमेन निरूपयितुं शक्यते, तथापि प्रसिद्धत्वादेव काचन मा-

याऽभ्युपेया, सा च शक्तिरेवास्तु कार्यं प्रति अन्तरङ्गत्वात् कार्यैका-वसेयत्वेन च शक्तिलक्षणयोगित्वात्, तथाच सत्यानृतत्वलक्षणा-कारविशेषानादरेण परविभ्रमहेतुः पुंसः शक्तिर्मायेत्यभ्युपगम्य-ते, लोके तादृशे विषये मायाशब्दप्रयोगात्। सा क्वचिदनृताऽपि भवतीति तस्यां मिथ्यात्वव्यवहारोऽपि क्वाचित्को न विरुध्यते इत्यभिप्रेत्य पक्षान्तरं शङ्कते—

अन्यस्य विभ्रमकरी पुरुषस्य शक्ति-
राकारमन्यमनपेक्ष्य मनीषिता चेत् ॥
वाच्येह लौकिकजनव्यवहारभूमौ
मायागिरस्तदपि दुर्घटमिष्टहानेः ॥ ९२ ॥

अन्यस्य विभ्रमकरीति ॥ इह लौकिकजनव्यवहारभूमौ अन्यमाकारं सहजत्वागन्तुकसत्यत्वमिथ्यात्वादिविशेषम् अनपे-क्ष्य अन्यस्य विभ्रमकरी पुरुषस्य शक्तिर्मायागिरो वाच्येति मनी-षिता चेदिति योजना। दूषयति। तदपि दुर्घटमिष्टहानेरिति ॥९२॥

अव इष्टहानिमेवाह—

मायामयत्ववचनादखिल मृषेति
यद् भाष्यकारवचनं तदसङ्गतं स्यात् ॥
प्रत्यक्षमुत्सृजसि कारणमन्यदन्यद्
यत्किञ्चिदानयसि कष्टमतः किमन्यत् ॥ ९३ ॥

मायामयत्ववचनादिति॥ "मायैव सन्ध्ये सृष्टिर्न परमा-र्थगन्धोऽप्यस्ति" इत्यादिवचनादखिलं मृषेति यद्भाष्यकारवचनम् एतादृशमन्यदपि मायाऽविद्ययोरेकत्वसूचकं च भाष्यकारवचनं तत् सत्यामिथ्यासाधारणपुरुषशक्तिर्माया इत्यभ्युपगमे अकारणमप्रमा-

णं स्यात्, तच्चायुक्तम् उपजीव्यविरोधात् । अतो भाष्यरूपमूलशास्त्रविरोधान्नेयमपि कल्पना घटते इत्यर्थः । अपि च प्रत्यक्षं सर्वजनानामनुभवरूपं द्रष्टॄणां मायाविविषयमज्ञानं मायाव्यवहारविषय इति प्रसिद्धमुत्सृजासि त्यजासि अन्यत् अन्यद्यत् किञ्चित्कारणमप्रसिद्धं मायाशब्दप्रवृत्तौ आनयासि अतोऽन्यत्किं कष्टम् ! अव्यवस्थितवचनत्वान्न तव कल्पना प्रामाणिकीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

अथ ननु परमेश्वरस्य जगज्जननशक्तिरपि मायेत्युच्यते श्रुतिस्मृतिपुराणेषु, न च तस्याः अज्ञानत्वं युक्तं, तथा सतीश्वरस्यापि भ्रान्तिप्रसङ्गात् । अतोऽज्ञानादन्यदेव मायाख्यं किमपि वाच्यमिति चेत्, नैवम् । परमेश्वरशक्तेरप्यज्ञानत्वाङ्गीकारे विरोधाभावात् । सृष्ट्यादेः परमार्थत्वस्याविवक्षितत्वात् । न चेश्वरस्य भ्रान्तत्वापत्तिः, तस्याज्ञानवशित्वस्योपपादितत्वादित्यभिप्रेत्याह—

अज्ञानमेव च भविष्यति शक्तिरेषा
सर्वप्रपञ्चजननी परमेश्वरस्य ॥
मायाश्रुतिस्मृतिवचोभिरुदीर्यमाणा
शक्तिग्रहो हि परविभ्रमहेतुशक्तौ ॥ ९४ ॥

अज्ञानमेव चेति ॥ श्रुतिस्मृतिवचोभिरुदीर्यमाणा या परमेश्वरस्य सर्वप्रपञ्चजननी शक्तिरेषाऽज्ञानमेव भविष्यतीति योजना । चकारः शङ्काव्युदासार्थः । नन्वज्ञाने मायाशब्दो विरुध्यते अज्ञाने मायाशब्दाप्रयोगादिति चेत्, तत्राह । शक्तिग्रहो हीति । परविभ्रमहेतुभूता या शक्तिस्तस्यां हि मायाशब्दस्य शक्तिग्रहः परविभ्रमहेतुश्चाज्ञानमिति न विरोध इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । मायावी हि लोके मणिमन्त्रादिप्रयोगविशेषेण मायां सङ्क्षोभयति सा च संक्षुभ्यमाणा द्रष्टॄणां मायाविविषयादज्ञानान्नार्थान्तरभूता ।

द्रष्टारो हि स्वाज्ञानविलसितमेवान्यथाभूतं वस्तूपलभन्तो भ्रान्ताः भवन्ति, यतः "माया मया दृष्टा" इति ते एव मन्यन्ते।अतो दृश्यमानायथार्थज्ञान विभ्रमः तमुपजनयन्ती माया, सा च द्रष्ट्रज्ञानं, तस्य च मन्त्रादिप्रयोगे स्वतन्त्रं मायाविनं प्रति तदधीनतया परविभ्रमहेतुशक्तित्वेनावस्थानात्तदेव मायाव्यपेक्षया मायेत्युच्यते। प्रेक्षकेषु च तदधीनतया स्थितत्वादविद्येति व्यवह्रियते । अतोऽविद्यामायाशब्दयोर्विभ्रमहेत्वनिर्वचनीयशक्तिरूपैकार्थविषयत्वेऽपि तादृशशक्तिवशित्ववश्यत्वाभ्यां मायावित्त्वाज्ञत्वभ्रान्तत्वाभ्रान्तत्वादिव्यवहारव्यवस्था न निरुध्यते इति ॥ ९४ ॥

अथ नन्वेवं लोके मायायाः अज्ञानत्वेऽपि वेदे ततोऽन्यत्रैव मायाशब्दव्युत्पत्तिर्युक्ता, समभिव्याहृतैः सर्वज्ञादिशब्दैर्मायायाः सर्वज्ञेश्वरत्वादिघटकत्वावगमात् अज्ञानस्य तदयोगादित्याशङ्क्याह—

न च प्रसिद्धार्थपदान्तराणां
प्रयोगसान्निध्यवशेन शक्तिः ॥
ग्रहीष्यतेऽस्येति समञ्जसं स्या-
दलौकिके शब्द इव हि युक्तम् ॥ ९५ ॥

न च प्रसिद्धेति ॥ न च समञ्जसं स्यादित्यन्वयः । यद्यपि प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहाराद्वेदे पदव्युत्पत्तिग्रहो वर्त्तते, तथापि मायापदस्यास्य न तथा शक्तिग्रहः समञ्जसः, अस्य तेन विना लोकेऽपि शक्तिग्रहोपपत्तेरित्यर्थः । तत्रास्यात्यन्तालौकिकत्वाभावादिति हेतुमाह । अलौकिक इति । यूपाहवनीयादिशब्दे इत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अथ उक्तं हेतुं विशदयति—

अयं तु मायेति न शब्द एव-

मलौकिको लौकिक एव तस्मात् ॥
यदर्थवाची जगति प्रसिद्ध-
स्तमेव वेदेऽपि स वक्ष्यतीह ॥ १६ ॥

अयं त्विति॥ मायेति अयं शब्दस्तु एवं यूपादिशब्दवत् न अलौकिकः, किन्तु लौकिक एव यस्मात् तस्माज्जगति लोके यदर्थवाची यः शब्दः प्रसिद्धः तमेवार्थं स शब्दः इह वेदेऽपि वक्ष्यति, इतरथा लोकवेदाधिकरणन्यायविरोधापातादित्यर्थः ॥१६॥

अथ ननु "उद्भिदा यजेत" "चित्रया यजेत" इत्यादौ योगवृत्त्या वा वर्णविशेषवाचित्वेन वा लौकिकानामप्युद्भिदादिपदानां भावार्थसामानाधिकरण्यबलात्कर्मनामधेयत्वं व्यवस्थापितम्। तथेहापि लौकिकमपि मायापदम् अलौकिकार्थं भविष्यतीति चोदयति—

ननूद्भिदादेर्यदि नाम लोके
प्रसिद्धमर्थान्तरवाचकत्वम् ॥
तथापि भावार्थनिपीडितस्य
विजानते कर्मणि शक्तिमस्य ॥ १७ ॥

ननूद्भिदादेरिति॥ यदि नामेति, यद्यपीत्यर्थः। उद्भिनत्तीत्युद्भिदिति खनित्रादिर्लोके उद्भिच्छब्देन योगवृत्त्याऽभिधीयते, चित्ररूपवत्यजा गौर्वा चित्रेति, तथापि यजेतेति भावार्थयजिपदसमभिव्याहारेण लोकप्रसिद्धार्थानिपीडनेन अस्य उद्भिदादिपदस्य कर्माणि शक्तिं कर्मनामत्वं विजानते निरूपयन्ति परीक्षकाः इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ परिहरति—

सत्यं न गत्यन्तरमस्ति तत्र

ततस्तथा निश्चितमत्र नैवम् ॥
मायागिरोऽज्ञाननिवेदनेऽपि
न काचिदत्रानुपपत्तिरस्ति ॥ ९८ ॥

**सत्यं न गत्यन्तरमिति** ॥ अयमर्थः। "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यत्र उद्भिच्छब्दो यदि गुणविधिपरोऽभ्युपगम्यते तदा गुणापेक्षया फलापेक्षया च यागे विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या वैरूप्यमापद्यते। अतो न गुणविधिरत्र युक्तः। नाप्यत्र "सोमेन यजेत" इतिवद्विशिष्टविधिरुपपद्यते, मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गात्। न च सेहोपपद्यते, सोमपदस्य द्रव्यविशेषे रूढत्वात्तदनुरोधेन तत्र मत्वर्थलक्षणा घटते। उद्भिदादिशब्दस्य तथा क्वचिदर्थविशेषे रूढत्वाभावात्, योगवृत्तेश्च यत्र क्वापि कथं चित्सम्पादयितुं शक्यत्वाद्व्यवस्थितविद्ध्यर्थाप्रतीतेर्नेह विशिष्टविधिरपि घटते। अतो गत्यन्तरासम्भवादुद्भिदादिपदाना कर्मनामधेयत्वं यजिसामानाधिकरण्यादाश्रितमिति। मायागिरो मायापदस्य तु अज्ञाननिवेदने ऽपि अत्र वेदे न काचिदनुपपत्तिरस्ति, लोकव्युत्पत्त्यनुरोधेनाज्ञानाभिधायित्वेऽपि विरोधाभावादेतदेवात्र युक्तमित्यर्थः ॥ ९८ ॥

अथ नन्वस्त्येवात्रापि विरोधो, मायायाः सर्वज्ञेश्वरत्वादिघटकत्वात्, अज्ञानस्य तदयोगादिति चेत्, मैवम्। अज्ञानपक्षेऽपि तद्योगोपपत्तेरित्याह—

अज्ञानं जडशक्तिमात्रवपुषा सर्वेश्वरस्येष्यते
सर्वज्ञत्वविरोधि तन्न च भवेदुक्तप्रकारेण नः ॥
सर्वज्ञेश्वरसंश्रया भवति सैवाज्ञानमाया श्रुतौ
तस्मादुद्भिदिवेति वर्णनमिदं वैषम्यदुष्टं तव ॥ ९९ ॥

अज्ञानमिति ॥ जडशक्तिमात्रवपुषेति। विक्षेपशक्तिप्राधान्ये-नेत्यर्थः। उक्तप्रकारेणेति। द्वितीयाध्याये प्रत्युपपादितप्रकारेणेत्यर्थः। तथाच या श्रुतौ सर्वज्ञेश्वरसंश्रया माया श्रूयते साऽज्ञानात्मिका मायैव भवति, नाज्ञानादर्थान्तरभूतेति योजना। यस्मादेवं त-स्मात् तत्रोद्भिदिवेतीदं वर्णनं वैषम्यदुष्टं, विषमो ऽयमत्र दृष्टा-न्तस्त्वयोपन्यस्तः इत्यर्थः ॥ ९९ ॥

अथ तथाप्यज्ञानमात्रे मायाशब्दप्रयोगादर्शनात् तत्पर्या-यत्वमयुक्तमिति चेत्, तत्राह—

मायाऽनिर्वचनीयमेव तु तमो मायाविनो गीयते
द्रष्टॄणां भ्रमकारणं विषयता मायाविता तस्य तु ॥
तं हस्त्यादिविकल्पनाघटितवन्मूढाशया जन्तवो
रज्जुं सर्पतयेव तद्विरहितं जानन्त्यबुद्धस्त्ववत् ॥ १०० ॥

मायाऽनिर्वचनीयमिति॥ द्रष्टॄणां भ्रमकारणम् अनिर्वच-नीयं तम एव मायाविनो मायेति गीयते, न ततोऽर्थान्तरम्। यद्वा ऽनिर्वचनीयं तमो ऽज्ञानं यत्प्रसिद्धं तदेव द्रष्टॄणां भ्रमकारणं सन्मायेति गीयते, नाज्ञानमात्रमिति योजना। तस्य तमसो वि-षयता तु मायाविता। तथाच मायाविविषयं द्रष्टॄणां भ्रमोत्पादकं यदनिर्वचनीयमज्ञानं तन्मायाशब्दवाच्यमिति। अज्ञानस्याव-स्थान्तरे मायाशब्दवाच्यत्वात् तत्पर्यायत्वादर्शनं न दोषावहमि-त्यभिप्रायः। प्रतिज्ञातमर्थं साधयति। तं हस्त्यादीति। आद्यो वति-प्रयोगो वस्तुवृत्तापेक्षः। वस्तुतो हस्त्यादिविकल्पनारूपेणाघटि-तमपि तद्रूपेण घटितमिव मूढाशया जन्तवो जानन्ति। वत्यर्थं स्फुटयति। तद्विरहितमिति विशेषणेन। वस्तुतो हस्त्यादिविकल्प-नाविरहितमित्यर्थः। रज्जुं सर्पतयैवेति दृष्टान्तार्थः स्पष्टः। मूढा-

शयत्वं स्फुटयति । अबुद्धत्ववत् इति । अत्र स्वार्थे भावनिर्देशः । अबुद्धमिव अपूर्वमिवेत्यर्थः । यद्वा उपसंहृते मन्त्रादौ तं मायाविनं तद्विरहितम् अबुद्धत्ववदज्ञातमिव जानन्तीत्यर्थः ॥ १०० ॥

अथ मायाविविषयसम्यग्ज्ञानेन भ्रमनिवृत्तेश्च तद्विषयो भ्रम इत्याह—

सम्यग्ज्ञानबलेन तं विरहितं हस्त्यादिभिर्यत्क्षणे
जानीयुस्तदनन्तरं न स भवेद्धस्त्यादियुक्तः पुमान् ॥
तेनास्मत्तम एव तत्र विषये मायास्तु मायाविनः
सोऽज्ञातो यमज्ञकोटिपतिता मायी स तेनोच्यते॥१०१॥

सम्यग्ज्ञानेति ॥ यद्वा तद्विरहितमित्याद्युक्तं विशदयति । सम्यग्ज्ञानेति । हस्त्यादिभिर्विरहितमिति सम्बन्धः । तस्मात् द्रष्टॄणामज्ञानमेव मायाविविषयं सन्मायाविनो मायेत्युच्यते । विषयविषयित्वसम्बन्धादेव लौकिकमायाविनो मायावित्वमिति सिद्धम् इत्युपसंहरति । तेनेति । स्पष्टा अक्षरयोजना ॥ १०१ ॥

अथ ननु च अज्ञानविषये सर्वत्र मायावित्वप्रसिद्ध्यभावादज्ञानविषयित्वादन्यदेव मायावित्वं वाच्यमिति चोदयति—

नन्वेवं सति रज्जुखण्डलकमप्यज्ञातमज्ञानिभि-
र्मायावीति गिरोच्यतां न तु तथा लोके प्रसिद्धिः क्वचित् ॥
तेनाज्ञातविलक्षणत्वमुचितं मायाविनो लौकिका
मायावीति पुमांसमेव निपुणं येनाहुरत्यादरात् ॥१०२॥

नन्वेवं सतीति॥ खण्ड एव खण्डलकम् । मायाविनोऽज्ञातविलक्षणत्वम् उचितमित्यत्र हेतुमाह । लौकिका इति ॥१०२॥

अव सत्यम् । अज्ञानविषयत्वमात्रान्न भवति मायाविव्य-वहारः, किन्तु अज्ञानक्षोभकमणिमन्त्रादिमत्त्वमप्यपेक्ष्य मायावित्वव्यवहारः, ततो न विरोधः इति परिहरति—

नैवं भ्रान्तिनिमित्तकारणमयं संगृह्य पूर्वक्षणे
मन्त्रादिप्रचुरं प्रयत्नजनितं तज्जीवने वर्त्तते ॥
तेनात्रैव तु लोकरूढिरभवन्मायाविता गोचरा
यद्वद्ब्राह्मणताप्रसिद्धिरभवन्मुक्त्वा परिव्राजकान् ॥ १०३ ॥

नैवं भ्रान्तीति । पूर्वक्षणे द्रष्टॄणां भ्रमोत्पत्तेः पूर्वमेवायं पुरुषो मन्त्रादिलक्षणं प्रचुरम् अनेकविधं भ्रान्तिनिमित्तकारणं सगृह्य यस्माद्वर्त्तते तेन हेतुना अत्रैव पुरुषे एव मायाविता गोचरा लोकरूढिर्लोकप्रसिद्धिरभवादिति योजना । ननु रज्ज्वादेरपि साहश्यादिद्वारेणाज्ञानक्षोभकत्वमस्तीति तत्रापि कथं मायावित्वप्रयोगो न भवेत् ? इत्यत आह । प्रयत्नजनितामिति । भ्रान्तिनिमित्तस्य पुरुषे प्रयत्नजनितत्वं पुरुषविशेषणेन स्फुटयति । तज्जीवन इति । रज्ज्वादेरज्ञानक्षोभकत्वमनियतं, कदाचिद्दैवगत्यैव तद्धेतुत्वात् । अयं तु प्रयत्नेन मण्यादिकमज्ञानक्षोभकं संपाद्य तेनैव जीवं-स्तत्परो वर्त्तते इति अतोऽत्रैव लोकस्य मायावित्वप्रसिद्धिः न इतरत्रेत्यर्थः । रज्ज्वादेः पुरुषस्य चाज्ञानक्षोभकत्वाविशेषेऽपि पुरुषे एव मायावित्वप्रसिद्धिरित्यत्र दृष्टान्तमाह । यद्वदिति । परिव्राजकानामपि ब्राह्मणत्वाविशेषे तान् विहाय यथा गृहस्थादिष्वेव ब्राह्मणताप्रसिद्धिरभवत् । तैर्ब्राह्मण्यजात्यभिमानस्य प्रयत्नेन धारणादित्यर्थः १०३ ॥

अव एवं तावदज्ञानं प्रति वशित्वादेव पुंसो मायावित्वं, न विषयमात्रात येन शुक्त्यादेरपि मायावित्वापादनप्रसङ्गः। अज्ञानस्या-

पि वश्यत्वादेव मायात्वं न विषयत्वमात्रात् । अतो न द्रष्टृणामपि मायावित्वप्रसङ्ग इति स्थिते, श्रुत्यादिषु श्रूयमाणाऽपि परमेश्वरमाया लोकसिद्धव्युत्पत्त्यनुसारेणेश्वरवश्यतया प्रत्यक्चिदाश्रयविषयामिथ्याऽज्ञानमेवाभ्युपेया, नार्थान्तरमिति सिद्धम् इत्यवान्तरप्रकृतमुपसंहरति—

एवं तावल्लोकसिद्धा न माया
मिथ्याज्ञानाद्भिद्यतेऽतश्च तत्र ॥
शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ वर्णयित्वा
वेदाल्लिङ्गाच्चान्यमायात्वसिद्धिः ॥ १०४ ॥

एवं तावदिति॥एवम् उक्तयुक्त्या लोकसिद्धा माया मिथ्याऽज्ञानाद्यतो न भिद्यते अतश्च अत एव लोकवेदाधिकरणन्यायेन तत्र लौकिकमायायाम् अज्ञानात्मिकायां मायाशब्दस्य शक्ति मायामयत्वलिङ्गस्य व्याप्तिं च प्रति प्रत्ययौ वर्णयित्वा मायाविषयशक्तिव्याप्तिज्ञाने अज्ञानविषयत्वेन संपाद्येति यावत् । वेदात् वैदिकवाक्यात् लिङ्गाच्च मानात् अन्यस्य द्वैतस्य मायामयत्वसिद्धिः अज्ञानमयत्वसिद्धिर्वर्णिता भवतीति योजना॥विमतं द्वैतम् अज्ञानमयं मायामयत्वाद्यदेवं तदेवं यथा लौकिकमायामयं हस्त्यश्वादि तथेदं तस्मात्तथेति प्रयोगः ॥ १०४ ॥

अथ इममेव श्लोकार्थं व्यक्तीकरोति—

जाग्रद्भूमौ या प्रसिद्धेह माया
सा निर्णीता तावदज्ञानमेव ॥
तस्यां शक्तिव्याप्तिविज्ञानसिद्धे-
र्विज्ञानव्या सैव वेदानुमानात् ॥ १०५ ॥

जाग्रद्भूमाविति ॥ यद्वा हेतोर्वैयधिकरण्यशङ्कामपाकरोति । जाग्रद्भूमाविति । वेदशानुमानं च वेदानुमानं तस्मादिति योज्यम् । सुगममन्यत् ॥ १०५ ॥

अथ यस्मादज्ञानमेव माया नान्यदिति निश्चितं तस्मात्स्वप्नेऽपि स्वप्नदृगज्ञानव्यतिरेकेण मायाशब्दयोग्यो ऽर्थो नास्तीति सूत्रकृत् अज्ञानमयेऽपि स्वप्ने मायाशब्दं प्रायुङ्क्त "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति । परमप्रकृतमुपसंहरति—

स्वप्नेऽप्येवं स्वप्नदृङ्मोहमात्रा
दन्या का चिन्न प्रसिद्धाऽस्ति माया ॥
तत्रैवायं सूत्रकारस्य तस्मात्
मायाशब्दो वर्त्तते नापरत्र ॥ १०६ ॥

स्वप्नेऽप्येवमिति ॥ एवमिति जाग्रद्वदित्यर्थः । तत्रैवाज्ञानात्मके मोहे एवायं प्रसिद्धो मायाशब्दः सूत्रकारस्याभिमतो वर्त्तते, नापरत्र सत्यार्थे न वर्त्तते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ तथापि सूत्रकारस्य स्वप्ने मायाशब्दप्रयोगे किं प्रयोजनं, लोके तत्र तत्प्रसिद्ध्यभावेऽपि ? इति चेत्, तदाह—

शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ कारयिष्यन्
स्वप्ने स्थित्वा प्रत्यगज्ञानमात्रे ॥
मायावाचा लोकवत्सूत्रकारो
वेदं लिङ्गं चापनेतुं प्रवृत्तः ॥ १०७ ॥

शक्तिव्याप्तिप्रत्ययाविति ॥ सूत्रकारः प्रत्यगज्ञानमात्रे मायाशब्दमायामयत्वालिङ्गयोः शक्तिव्याप्तिप्रत्ययौ कारयिष्यन

तत्स्वप्ने स्थित्वा स्वप्नमाश्रित्य लोकवद्वेदे च लिङ्गं चकारा-न्मायाशब्दशक्तिं चोपनेतुं मायावाचा प्रवृत्तः "मायामात्रं तु" इति सूत्रेणेति योजना । लौकिकशक्तिव्याप्तिग्रहानुरोधेन वेदेऽपि मायाशब्दं प्रत्यगज्ञानमात्रविषयतया नेतुमित्यर्थः ॥१०७॥

अथ भगवद्गीतावाक्यादप्यज्ञानमायापदयोरेकार्थत्वं गम्यते इत्याह--

अज्ञानमावरणमावरणं च माया
सर्वेश्वरेण हरिणा दृढमभ्यधायि ॥
चैतन्यवस्तुन इति प्रतिपद्यमाना-
स्तत्त्वं तदेकमिति निश्चयतः प्रतीमः ॥ १०८ ॥

अज्ञानमावरणमिति ॥ सर्वेश्वरेण सर्वज्ञेन परमात्मना हरिणा चैतन्यवस्तुनः अज्ञानम् आवरणमभ्यधायि "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इति । तथा माया च चैतन्यवस्तुनः आवरणमभ्यधायि "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः" इति । दृढमिति क्रियां विशिषन् भगवद्वाक्यस्य प्रामाण्यदार्ढ्यं सूचयति । इति इत्थं भगवद्वाक्यं च प्रतिपद्यमानास्तन्मायाऽविद्ययोस्तत्त्वमेकमिति नि-श्चयतः प्रतीमो वयमिति योजना ॥ १०८ ॥

अथ तथा "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति च भगवता माया-ऽज्ञानयोरपि ज्ञाननिवर्त्यत्वाभिधानाच्च अज्ञानमाययोः स्वरूप-भेदो नास्तीति गम्यते इत्याह—

ज्ञानं निवर्त्तकमपि द्वितयस्य तस्य

गीतागतः करुणया भगवाननुवाच ॥
तेनापि तत्त्वमिदमेकमिति प्रतीति-
रानीयते कथितलक्षणतुल्यभावात् ॥ १०९ ॥

**ज्ञानं निवर्तकमिति** ॥ तस्य द्वितयस्यापीति सम्बन्धः । कथितलक्षणेति । विभ्रमहेत्वनिर्वाच्याशक्तिर्मायाऽज्ञानं चैतदेवेति कथितलक्षणतुल्यभावादित्यर्थः । यद्वा ज्ञानावरकत्वतत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वरूपलक्षणसाम्यादित्यर्थः ॥ १०० ॥

अथ मायाऽज्ञानयोरावरकत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन पूर्वश्लोकयोरर्थादुक्तान्येव भगवद्वाक्यान्युदाहरति—

नाह प्रकाश इति तावदनेन माया-
ऽज्ञानेन चावृतमितीरदभ्यभाणि ॥
मामेव ये तु परमं पुरुषं प्रपन्ना
ज्ञानेन तु प्रभृतिना च धिया निवृत्तिः ॥११०॥

**नाहमिति** ॥ "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इत्यनेन तावन्मायाऽभाणीति सम्बन्धः । "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं" चकारात् "अवजानन्ति मां मूढाः" इति च तावत् अज्ञानमप्यभाणीति योजना। आवरकत्वं मायाऽज्ञानयोरुदाहृत्य, ज्ञाननिवर्त्यत्वमपि तयोर्भगवदुक्तमुदाहरति। मामेवेति। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" इतिप्रभृतिना इत्यादिवाक्येन धिया तत्त्वज्ञानेन मायाऽज्ञानयोर्निवृत्तिश्चाभाणीत्यर्थः ॥ ११० ॥

अथ एवमज्ञानमाययोरेकत्वाभिधानाच्च ज्ञानाभावोऽज्ञानमिति च भगवद्वचनप्रामाण्यादेव निश्चीयते इत्याह—

ज्ञानस्य प्रागभावादपरमभिहितं प्रत्यगज्ञानमेत-
त्संसारव्याधिबीजं कथितनयवशादेव बुध्यस्व बुद्ध्या ॥
ज्ञानेनाज्ञाननाशं कथयति भगवानेष गीतागतः सन्
न ज्ञानात् प्रागभावक्षय इति घटते तत्क्षये तत्प्रसूतेः॥१११॥

ज्ञानस्य प्रागभावादिति ॥ कथितनयवशादेवेति । भग-वद्वाक्योपबृंहितोक्तयुक्तिकदम्बादित्यर्थः । भगवता अज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाभिधानाच्च तस्य ज्ञानाभावान्यत्वसिद्धिरित्या-ह। ज्ञानेनेति । "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति ज्ञानेनाज्ञानहानिं गीतागतः सन्नेव भगवान् कथयतीत्यर्थः । कथमज्ञानस्यैतावता ज्ञानप्रागभावादन्यत्वासिद्धिः? तस्य स्वप्रति-योगिनिवर्त्यत्वादिति चेत्, मैवम् । तदसम्भवादित्याह। न ज्ञाना-दिति। अयमर्थः।अभावतत्प्रतियोगिनोरेकत्रैकदा विरोधाद्यौगपद्यं तावन्न सम्भवति। तथाच विद्यमाने प्रागभावे न तत्प्रतियोगिनः सम्भवः । न चानुत्पन्नो ऽलब्धात्मकश्च प्रतियोगी स्वप्रागभावं निवर्त्तयेत्, (अन्त्ययोस्तु पक्षयोर्न ज्ञाननिवर्त्यत्वं विरोधाभावात्)। अतो निवृत्ते प्रागभावे तत्प्रतियोगिनः प्रसूतिर्वक्तव्या, प्रागभाव-प्रतियोग्युत्पत्त्योर्यौगपद्यं वा तयोरेकत्वं वा वक्तव्यम् । सर्वथापि न ज्ञाननिवर्त्यस्तत्प्रागभाव इति ज्ञानप्रागभावादन्यदेवाज्ञानपदवा-च्यं लब्धात्मकेन ज्ञानेन निवर्त्यते इति युक्तम् अभावान्यत्व-मज्ञानस्येति ॥ १११ ॥

अथ एवं प्रासङ्गिकं सूत्रकारस्य मायाशब्दप्रयोगकृत्यं प्र-दर्श्य, प्रकृतमेव कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वेन स्वप्नमिथ्यात्व-मुक्तम् उपसंहरति—

मायामात्रमतः समस्तमभवत् स्वप्ने प्रसिद्ध दृशः

कर्तृत्वादि तमोमयं वितथमेवाज्ञानमात्रं यतः ॥
तस्माज्जागरितेऽपि नैतदभवत् स्वाभाविकं यत् पुन-
स्तादृक्षं तव सर्वदैव तु भवेत् स्वप्नेऽपि चैतन्यवत् ॥ ११२ ॥

**मायामात्रमिति** ॥ एशः आत्मनः स्वप्ने प्रसिद्धं कर्तृत्वादि समस्तम् अतः उक्तयुक्तेः मायामात्रं तमोमयं वितथं मिथ्यैवाभवत् यतो ऽज्ञानमात्रमिति योजना। यथा स्वाप्नस्य कर्तृत्वादिव्यवहारस्य आगमापायित्वान्मायातमोमात्रत्वं, तथा जागरिते ऽपि कर्तृत्वप्रमुखस्य व्यवहारस्य मायामयत्वमेव, न स्वाभाविकत्वम् इत्येतात्सिद्धमित्याह। तस्मादिति। एतदभवत् कर्तृत्वादि मायिकमित्येतत्सिद्धमित्यर्थः । स्वाभाविकत्वे दोषं वदन् मायामयत्वं द्रढयति। स्वाभाविकं यत्पुनरिति। यदि पुनरित्यर्थः। तादृक्षं तादृशं कर्तृत्वादिलक्षणं तवात्मनो यदि पुनः स्वाभाविकं भवेत्, तदा चैतन्यवदेव स्वप्ने ऽपि सुषुप्तिप्रलयमुक्तिष्वपि भवेत्, न च भवति, जाग्रद्व्यवहारस्यावस्थान्तरे व्यभिचारात्। अतः आगन्तुकत्वान्मायामयमेव सर्वव्यवहारजातं न स्वाभाविकमित्यर्थः ॥ ११२ ॥

अथ ननु किमित्यागन्तुकमात्रेण मायामयत्वमात्मनि कर्तृत्वादेरिष्यते, कादाचित्कत्वे ऽप्याम्रश्यामत्वादिवत्परमार्थत्वे ऽपि विरोधाभावादिति चेत्, नैवम् । आत्मनः कूटस्थत्वेनापरिणामित्वादित्याह—

सत्यप्यलुप्तमिति यत्त्वयि नास्ति कर्तृ-
भोक्तृप्रमातृमुखमन्यदपीह किञ्चित् ॥
जाग्रद्दशाऽवगतमप्यखिलं न तत्ते
स्वाभाविकं भवितुमुत्सहते विरोधात् ॥ ११३ ॥

सत्यपीति॥यत्र आगन्तुकधर्मयोगः पारमार्थिकः तत्र धर्मिणमविकृत्य न धर्माविर्भावतिरोभावौ, पूर्वरूपे स्थिते तत्र रूपान्तरासम्भवात् । पूर्वरूपस्य चाश्रये सति विनाशायोगादिति परिणामिनः सावयवस्य द्रव्यस्य स्यादागन्तुकधर्मयोगित्वं पारमार्थिकं, न कूटस्थस्य, यतः त्वय्यलुप्तचिति कूटस्थचित्स्वरूपे सत्यपि यथाऽवस्थितेऽपि यत् कर्तृत्वादिप्रमुखं कार्यकारणभोग्यभोगप्रमेयप्रमितिरूपम् अन्यदपि आधिदैविकादि जाग्रद्दशावगतमपि अखिलं व्यवहारजातं नास्ति, यत् त्वयि स्वरूपेण सत्यपि त्वां व्यभिचरतीति यावत् । तत् ते तव स्वाभाविकं भवितुं नोत्सहते विरोधात्, व्यभिचारिणो धर्मस्य धर्मिस्वभावत्वविरोधादिति योजना ॥ ११३ ॥

अव यत् यस्य स्वाभाविकं तन्न तस्य आगन्तुकं, यथा अग्नेरौष्ण्यमिति स्वाभाविकस्यानागन्तुकत्वेन व्याप्तिं दर्शयन्नुक्तविरोधं स्फुटयति—

स्वाभाविकी हुतभुजः खलु नोष्णता तं
जातु प्रमुञ्चति न तामपि जातवेदाः ॥
एवं भवन्तमपि जागरितोपलब्धं
स्वप्ने भवानपि च जागरितं न मुञ्चेत् ॥ ११४ ॥

स्वाभाविकी हुतभुज इति ॥ एवं हुतभुजः उष्णतावत् यदि तव जागरितं कर्तृताप्रमुखं स्वाभाविकं स्यात् तर्हि जागरितोपलब्धं स्वप्नेऽपि भवन्तं न मुञ्चेत्, भवानपि च जागरितं न मुञ्चेत्, मुञ्चति च भवान्स्वप्ने जागरितं, जागरितं च भवन्तमिति। अतो न तव स्वाभाविकं कर्तृत्वादीत्यर्थः ॥ ११४ ॥

अव० ननु सति व्यभिचारे कर्तृत्वादेः अस्वाभाविकता स्यात्,

स एव नास्ति, अत एव भवन्तमित्याद्युक्तमसङ्गतम् इत्याशङ्क्य, उक्तं व्यभिचारमुपपादयति—

स्वप्ने न जागरितमस्ति मृषात्वहेतोः
स्वप्नस्य सत्यमिति जागरितं वदन्ति ॥
स्वप्नस्य बाधनबलादनृतत्वमुक्तं
तस्माच्चिदेव तव रूपमतोऽन्यदार्त्तम् ॥ ११५॥

स्वप्ने न जागरितमस्तीति। कुतो नास्ति तत्रापि जागरितवदेव व्यभिचारदर्शनात्? इत्यत आह। मृषात्वहेतोः स्वप्नस्येति। अनृतत्वहेतोरिति वा पाठः। स्वप्नस्य मृषात्वं लोकप्रसिद्धं प्रागुपपादितं स्मर्तव्यमित्यर्थः। ननु जागरितस्याप्यनृतत्वं तत्र तुल्यमिति चेत्, सत्यम्। तथापि व्यवहर्तृलोकदृष्ट्या तत्रानृतत्वप्रसिद्ध्यभावात्सत्यत्वस्यैव प्रसिद्धेः सत्यं जागरितमित्याह। सत्यमिति। जागरितं वदन्तीति स्वप्नेऽनृतत्वहेत्वसिद्धिमाशङ्क्य आह। स्वप्नस्येति। बाधनबलात् व्यवहर्तॄणामेव व्यवहारकाले बाधितत्वप्रतीतिबलात्स्वप्नस्यानृतत्वमुक्तं, जागरिते तददर्शनात्सत्यं जागरितं वदन्ति इति चोक्तमिति योज्यम्। यस्मादेवं त्वयि कर्तृत्वादिसंसारधर्मः आगन्तुकत्वान्न स्वाभाविकः तस्मात्सदैव कूटस्थशुद्धचित्सदानन्दरूप एव त्वमित्युपसंहरति। तस्मादिति। अतः चिद्रूपादन्यत् त्वयि प्रतीयमानम् आर्तं विनाशि न स्वाभाविकमित्यर्थः ॥११५॥

अथ यदि जागरितमपि वस्तुतोऽसत्यं तर्हि तस्य तत्त्वज्ञानहेतुत्वमपि न स्यादित्याशङ्क्य, "सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः" इति सूत्रोक्तन्यायमाश्रित्य, स्वरूपतो मिथ्याभूतस्यापि सत्यार्थबोधकत्वं न विरुद्धमित्युत्तरमाह—

स्वप्नोपलब्धमखिलं वितथं तथापि

तत्सूचयत्यवितथं परमार्थवस्तु ॥
जाग्रद्दशावगतमप्यनृतं तथापि
तद्वत्तदप्यवगतिक्षममेव भूम्नः ॥ ११६ ॥

स्वप्नोपलब्धमखिलमिति॥निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥११६॥

अथ ननु स्वप्नजागारितयोर्यद्यनृतत्वं स्वरूपतस्तुल्यं तर्हि कं विशेषमाश्रित्य व्यवहारे तयोर्मृषात्वसत्यत्वाभ्यां वैषम्यमुक्तम् ? इति चेत्, तत्राह—

स्वप्नभ्रमोऽपि सुकृतादिनिबन्धनत्वा-
त्तावत् परिस्फुरति यावददृष्टमस्ति ॥
क्षीणे तु तत्र लयमेति जगन्निदाने
गाढे तमस्यनुभवावगते प्रतीचः ॥ ११७ ॥

स्वप्नभ्रमोऽपीति ॥ अपिशब्दो जाग्रद्दृष्टान्तार्थः । अयमर्थः। जागरितं पुण्यापुण्यकर्मनिबन्धनं तथा स्वप्नो ऽपि तन्निबन्धन एवेति समानं यद्यपि, तथापि जाग्रद्भोगो यथा यावज्जीवमेकेन एकजातीयेन शरीरेण निर्वर्तनीय इति जन्मादिमरणान्तं तदारम्भककर्मणामनुपरमः नैवं स्वप्नभोगहेतुकर्मणां, तेषां प्रतिस्वप्नं भिन्नजातीयशरीरादिहेतुतायाः कार्यदर्शनोन्नेयत्वात्। तथा च स्वप्नारम्भकयोः सुकृतदुष्कृतयोः क्षुद्रत्वात् क्षिप्रमेव स्वकार्यं कृत्वा उपरमात्तन्निबन्धनस्वप्नस्यापि क्षिप्रमेवोपरमो भवतीति सर्वेषां स्वप्नानां परस्परासङ्गतार्थत्वात् व्यवहारकाले एव तद्बाधप्रतीतेस्तत्र मृषात्वं व्यवह्रियते । जागरितहेतुकर्मणां यावज्जीवभावित्वेनाक्षुद्रत्वात्स्वकार्यं भोगमसमाप्य अनुपरमात्प्रतिजागरणं च सङ्गतार्थत्वप्रतीतेः, तस्य बाधितत्वाननुभवाद्व्यवहारे तस्य सत्यत्वमिष्य-

ते, सुषुप्तौ स्वप्नवज्जागरितस्योपरमेऽपि पुनर्जागरितान्तरस्य पूर्व-प्रारब्धकर्मशेषफलत्वात्परस्परसंवाद इति विशेषोपपत्तेरिति। एषा अक्षरयोजना। यावत्सुकृतादिरूपमदृष्टमस्ति तावत्स्वप्नभ्रमोऽपि परिस्फुरति जाग्रद्वत् सुकृतादिनिबन्धनत्वात् यथा जाग्रद्भ्रमो यावत्कर्मक्षयमनुवर्त्तते तथा स्वप्नभ्रमोऽपीत्यविशिष्टं कर्मणाश्चिराचिरोपरमानिबन्धनं तु वैषम्यमित्यर्थः। कर्मक्षयादुपरमणं स्वप्नजागरितयोः स्वकारणे लयमात्रं न बाध इत्याह। क्षीणेत्विति। तत्र तस्मिन् स्वहेतुकर्मणि क्षीणे तु जगन्निदाने गाढे तमसि जागरितवत्स्वप्नोऽपि लयमेति। किंलक्षणे तमसि? प्रतीचः प्रत्यगात्मनोऽनुभवावगते साक्षिमात्रसिद्धे साभासे इत्यर्थः। स्वप्नजागरितयोः साक्षाद्बाधः प्रत्यक्तत्त्वब्रह्मावगमादेव, ततः प्राक् कारणे लयमात्रं तत्रापि मिथः स्वप्नानामसङ्गानां क्षुद्रत्वाच्च बाधितत्वव्यवहारः तद्वैपरीत्याज्जागरिते तदभावः इति भावः। अस्यापरा व्याख्या। स्वप्नवत्स्वरूपतो मिथ्यात्वेऽपि जागरितस्य भूमावगतिक्षमत्वं सम्भवति। स्वप्नस्य सत्यार्थसूचकत्ववादित्युक्तं, तत्र स्वरूपतोऽसतः स्वप्नस्यैव तावत्कथं सत्यार्थसूचकत्वसम्भवः? इत्याशङ्क्य, तस्यापि जागरितवत्पुण्यापुण्यनिबन्धनत्वान्नात्यन्तासत्त्व, परमार्थसद्विलक्षणत्वाभिप्रायेणैव मिथ्यात्वं विवक्षितं, सदसद्विलक्षणत्वस्यैव मिथ्याशब्दार्थत्वादित्यभिप्रेत्याह। स्वप्नभ्रमोऽपीति। अक्षरार्थः पूर्ववत् ॥ ११७ ॥

अथ ननु यावददृष्टमस्ति तावत्परिस्फुरतीत्ययुक्तं, कर्मणः क्षणमात्रापवर्गिणः फलोपभोगपर्यन्तमवस्थानासम्भवादिति चेत्, नैष दोषः। तस्यापूर्वात्मनाऽवस्थानसम्भवादित्याह—

निष्पादिता सकलकारकवर्गसाध्या
सर्वेण कारकगणेन सहैव तावत् ॥

कर्मक्षये तदखिले परमात्ममाया-

माश्रित्य सूक्ष्ममवतिष्ठत एव लीनम् ॥ ११९ ॥

स्वप्नश्चेति ॥ कर्मफलं विभाति, व्यावहारिक्या दृष्ट्येति-शेषः। एवं तर्हि कर्मफलत्वात्संसारस्य कर्मक्षयात्क्षय इति ज्ञान-वैयर्थ्यं स्यादिति चेत्, नेत्याह।कर्मक्षय इति।तदखिलं जाग्रत्स्वप्न-व्यवहारगोचरतामापन्नं संसारजातं कर्मक्षये फलभोगेन कर्म-विनाशे सति परमात्ममायां स्वमूलकारणमाश्रित्य तत्र लीनं संस्काररूपतामापन्नं सत् सूक्ष्मं यथा स्यात्तथाऽवतिष्ठते एव, नात्यन्तमुच्छिद्यते, अतो न तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यमित्यर्थः । एतेन अर्थात् मोहप्रसूतत्वमपि जाग्रत्स्वप्नयोः समर्थितं वेदितव्यम् । अतत्प्रसूतस्य तस्मिंल्लयायोगादिति ॥ ११९ ॥

अथ यद्येवं सुषुप्तेऽपि संसारस्य प्रत्यगज्ञानशेषतयाऽवस्था-नमस्ति तर्हि तदा अज्ञानस्य संमारसंस्कारस्य च विद्यमान-त्वात् "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च" इति न्यायेन समर्थ्य-माना प्रत्यगात्मनो विशुद्धिरनुपपन्ना स्यादिति चेत्, तत्राह—

उत्थानलिङ्गकृतकल्पनयैतदेव

विज्ञायते न तु तथाऽवगतं तदानीम् ॥

अज्ञानलीनमखिल जगदस्ति सूक्ष्मं

तत्रेति नानुभवनादवगम्यते हि॥ १२०॥

उत्थानेति ॥ सुषुप्तस्य पुनरुत्थानरूपं यल्लिङ्गं तत्कृता या कल्पना अनुमानरूपा तयैव एतदेवं विज्ञायते सम्यक्।अव्यवधानेन ब्रह्मसंपन्नत्वे ततः पुनरुत्थानासम्भवादस्ति तत्र व्यवधानमिति पुनरुत्थानात्संसारबीजस्य सुषुप्तावप्यवस्थानं कल्प्यत इत्यर्थः ।

तदानीं सुषुप्तौ तथा नावगतम्, अज्ञानतत्कार्यसद्भावः सौषुप्तानुभवेन न प्रतीत इत्यर्थः। तथेत्युक्तमेव प्रपञ्चयति। अज्ञानलीनमिति। सूक्ष्मम् इत्यतः परस्तादितिशब्दोऽध्याहर्तव्यः इति। तत्र सुषुप्तावनुभवनान्नैवावगम्यते हीत्यन्वयः ॥ १२० ॥

अथ ननु सौषुप्तानुभवोप्युत्थितस्य परामर्शबलात्तादृशः कल्प्यते इति चेत्, सत्यम्। सोप्यज्ञानमात्रविषय एव न ततोऽधिकविषयः इत्याह—

अज्ञानमेव तु तदावगत त्वदीयं
येनोत्थितो वदसि नावगतं मयाऽद्य ॥
सुप्तेन किं चिदपि गाढतमस्यभूवं
क्षिप्तः समस्तविषयावगमासमर्थः ॥ १२१ ॥

अज्ञानमेवत्विति ॥ तदा सुषुप्तौ त्वदीयमज्ञानमेवावगतं न तत्र लीनं जगदपीति गम्यते इति शेषः। कुतः? येन कारणेन त्वमुत्थितः सन् अद्य सुप्तेन *सुषुप्तेन मया किञ्चिदपि नावगतमिति वदसि, गाढे तमसि क्षिप्तो मग्नः सन् समस्तविषयावगमासमर्थोऽभूवमिति च वदसि, अतो नाज्ञानातिरिक्तं सुषुप्तेऽनुभूतमस्तीति गम्यते इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अथ ननु सुषुप्तौ अज्ञानानुभवोऽपि मा भूत्, परामर्शस्य विकल्पमात्रत्वात्, तस्य चाप्रमाणत्वात्सौषुप्तानुभवकल्पकत्वायोगादिति चेत्, मैवम्। विकल्पस्यापि निर्मूलत्वायोगात्, तेन स्वमूलकल्पनं घटते इत्यभिप्रेत्य, पूर्वपद्योक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—

अज्ञानमत्र यदि नानुभवात् प्रसिद्धं
नाज्ञासिषं त्विति कुतस्तव निश्चयोऽभूत् ॥

अज्ञानमस्त्यवगतं च सुषुप्तिकाले
तेनेति निश्चिनु तवानुभवप्रमाणात् ॥ १२२ ॥

अज्ञानमत्रेति ॥ तेन नाज्ञासिषमिति परामर्शेन कल्प्यमानात् तन्मूलात् तवानुभवप्रमाणान्निर्विकल्पकानुभवात्सुषुप्तिकाले ज्ञानमास्ति तच्चावगतमिति निश्चिनु विश्वसिहीति योजना ॥१२२॥

अव नन्वेवं तर्हि तत्र तत्र भाष्यकारादीनां सुषुप्तावज्ञानाभाववचनं असङ्गतं स्यात् " स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" इत्यादि श्रुतिवचनं चेति चेत्, मैवम् । अहंकारोपरागाभावेन सुषुप्तौ अज्ञानानुभवस्यास्फुटत्वाभिप्रायत्वात्तत्राज्ञानाभाववचनानामित्याह—

स्पष्टानुभूतिविषयो न तमस्तदानी-
मासीदहंकरणहीनतयाऽधुना तु ॥
निष्पाद्य कार्यमिदमंशमहं न जाने
मूढोऽस्मि चेत्यवगतेर्विषयत्वमागात् ॥ १२३ ॥

स्पष्टानुभूतीति ॥ अहङ्कारे सति सुषुप्तिव्याघातात् तदभावे च " अहमज्ञः " इति विशेषाकारेणाज्ञानाभिव्यक्त्यभावात्सुषुप्तौ विद्यमानमप्यज्ञानम् अविद्यमानसमं विक्षेपाभावादिति, तत्र अज्ञानाभाववचनमप्युपपन्नमेवेत्यभिप्रायः। अहङ्काराभावादेव सुषुप्तौ अज्ञानानुभवस्य स्पष्टताऽभावो नाज्ञानानुभवाभावमात्रात् इत्यत्र लिङ्गमाह। अधुना त्विति। जागरणे इति यावत्। अहमित्यत्र यो ऽयं दृश्यांशः स इदमंशः तमिदमंशं स्वकार्यं निष्पाद्य "अहं न जाने मूढो ऽस्मि च" इति स्पष्टावगतेर्विषयत्वमागात्, अज्ञानमिति शेषः । तथा च सति अहङ्कारे स्पष्टानुभवस्य अवश्यंभावात्त-

दभावे चाभावात् अहङ्काराभावकृतस्तत्र स्पष्टानुभवाभावोऽज्ञानस्येत्यर्थः ॥ १२३ ॥

अथ तथा च प्राकृतदृष्ट्यनुरोधेन सुषुप्तौ तमःस्वरूपमपि "नानुभूतं मया" इति या तव दृष्टिः सा तदनुभवस्यास्फुटत्वादेवेति सिद्धमित्याह—

एतावता तव तमोऽपि सुषुप्तिकाले
नास्तीति बुद्धिरुदितं गुरुभिश्च कैश्चित्॥
स्थाने क्व चित् क्व चिदतो द्वयमुच्यमानं
ग्राह्यं विविच्य भवता विषयं विभज्य ॥ १२४ ॥

एतावतेति ॥ अहङ्करणाभावेन स्पष्टानुभवाभावमात्रेणेत्यर्थः। कैश्चिद्गुरुभिः भाष्यकारादिभिराचार्यैश्च एतावतैव क्वचित्क्वचित् प्रत्यगात्मनो विशुद्धिप्रतिपादनप्रकरणे सुषुप्तावज्ञानं नास्तीत्युदितं, यत एवम् अतः द्वयम् अज्ञानसद्भावः तदभावश्चेत्युभयमुच्यमानं विषयं विभज्य सद्भाववचनम् अस्पष्टतया स्वरूपानुभवपरम् अभाववचनं त्वनुभवस्य स्पष्टत्वाभावपरमिति विषयं विभज्य विविच्योभयमपि वचनं सालम्बनमेव नान्यतरेणान्यतरस्य बाध इति त्वया ग्राह्यमित्यर्थः ॥ १२४ ॥

अथ किं तत् द्वयमुच्यमानम् ? इति तदेव स्फुटयति—

नाज्ञानमस्ति च सुषुप्तिगतस्य पुंसो
गाढे तमस्ययमभूत् पुरुषः सुषुप्तः॥
इत्युच्यमानमविरुद्धतया विविच्य
ग्राह्यं त्वयाऽनुभवयुक्तिनिरूपणेन ॥ १२५ ॥

नाज्ञानमस्तीति ॥ स्पष्टार्थं पद्यम् । अनुभवयुक्त्यनुरोधेनोभयम् अविरुद्धतया ग्राह्यमित्यर्थः ॥ १२५ ॥

अथ अन्यदप्यर्थसिद्धं सुषुप्तौ अज्ञानाभाववचनमाचार्याणामेवमेव योज्यमित्याह—

एवं तमोऽपि न बभूव सुषुप्तिकाले
भाषान्तरेण पुरुषः पर एव जीवः ॥
निर्बीजतामुपगतः स निरन्वयेन
न स्पष्टमत्र तमसोऽनुभवोऽस्ति यस्मात् ॥ १२६ ॥

एवमिति ॥ जीवः परः पुरुष एव संवृत्त इति भाषान्तरेण शब्दान्तरेण सुषुप्तिकाले तमो ऽपि न बभूवेति यत् आचार्याणामर्थसिद्धं वचनं तदप्येवमेव उक्तप्रकारमेवेति योजना । तत्रैव वचनान्तरमाह । निर्बीजतामिति । स जीवो निरन्वयेनोपाधिसम्बन्धविलयेन निर्बीजतां संसारबीजराहित्यमुपगत इति वचनं विद्यमानमपि सुषुप्तौ अज्ञानं विक्षेपाभावादविद्यमानसमम् आकिञ्चित्करत्वात् इत्यभिप्रायं ज्ञेयमित्यर्थः । सर्वत्रोपपत्तिं पूर्वोक्तां स्मारयति । न स्पष्टमिति । अत्र स्पष्टं तमसो ऽनुभवो नास्ति यतः, तस्मादिति योजना ॥ १२६ ॥

अथ तथाऽन्यदपि केषाञ्चित् आचार्याणां वाक्यमुदाहरति—

अज्ञानतज्जमतिहीनतया सुषुप्ते
शुद्धः परोऽसि भगवानसि नित्यमुक्तः ॥
कामश्च कर्म सकलं च तदा कुतस्त्यं
चित्सागरेऽनवकरे त्वयि तायमाने ॥ १२७ ॥

अज्ञानतज्जेति ॥ अनवकरे अनात्मसङ्कररहिते त्वयि

तायमाने परिपूर्णतया अभिव्यज्यमाने इत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अथ यद्येवम् अस्पष्टतया ऽपि सुषुप्ते ज्ञानं तिष्ठति, तस्मिंश्च लीनतया सकलं जगदप्यस्ति, तर्हि तत्रात्मनो विशुद्धिः कथमुच्यते ? इति चेत्, तत्राह—

आसीदहंकरणमात्मतमोनिमित्तं
तज्जाग्रतश्च भवतः स्वपतश्च दुःखम् ॥
आनीय दर्शयति तन्न सुषुप्तकाले
बीजक्षयादिति भवानतिनिर्मलोऽभूत् ॥ १२८ ॥

आसीदिति॥आत्मतमोनिमित्तम् अज्ञानकार्य यत् अहंकरणमासीत् तत् स्वपतः स्वप्नं गतस्य जाग्रतश्च तव सुखदुःखं सुखं च दुःखं चानीय उद्भाव्य दर्शयति। अतः अहङ्कारकञ्चुकेनाविष्टत्वादेव तवाशुद्धिः इत्यशुद्धिबीजमहङ्कारः नाज्ञानस्वरूपमात्रामित्यभिप्रायः। सुषुप्तिकाले तदहङ्करणं नासीदित्यहङ्काररूपसंसारबीजक्षयात् भवान्सुषुप्तौ अतिनिर्मलोऽभूदिति योजना। अतः सबीजस्य दुःखस्य तदानीमभावात्सत्यप्यज्ञाने प्रत्यगात्मा ऽतिनिर्मल एव अवगम्यते इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

अथ अहङ्कारं प्रति उपादानत्वमज्ञानस्य यदुक्तम् आत्मतमोनिमित्तमित्यत्र, तत्सिद्धये तस्य भावरूपत्वमुक्तं स्मारयति—

सद्रूपमावरणतानुभवादभीष्ट-
मज्ञानमात्मचिति नैशतमोवदेतत् ॥
ज्ञानं दिवाकरवदस्य जडप्रकाश-
रूपं निवर्तकमिति प्रवदन्ति धीराः ॥ १२९ ॥

सद्रूपमिति॥आत्मचिति स्वप्रकाशतया नित्यप्राप्तप्रकाश-

स्वभावे आत्मनीति यावत् । अज्ञानम् आत्मचित्यावरणतानुभवात् यथावत्स्फुरणाच्छादकतया ऽनुभूयमानत्वात् एतत् मद्रूपमभीष्टं नैशतमोवत् अन्धकारवदिति योजना । विमतं सद्रूपम् आवरकत्वात्तमोवदित्युक्तं भवति। न ह्यभावस्य प्रकाशाच्छादकत्वं सम्भवतीत्यतः आवरकत्वादेव तमश्च भावरूपमेष्टव्यं तार्किकैरपीति भावः । नन्वेवं सति अज्ञानस्य चित्प्रकाशेन विरोधाभावात् चित्प्रकाशस्य चात्मस्वरूपतया नित्यत्वेनागन्तुकत्वाभावात्, आगन्तुकज्ञानाभावे सति कथमज्ञाननिवृत्तिः सम्भवेत् ? इति चेत्, तत्राह। ज्ञानं दिवाकरवदिति । दिवाकर इव तमसोऽस्य अज्ञानस्य जडप्रकाशरूपं ज्ञानं महावाक्यप्रमाणजनितसाभासान्तःकरणवृत्तिलक्षणं निवर्त्तकम् इति धीराः धीमन्तः प्रवदन्तीति योजना ॥ १२९ ॥

अथ अज्ञानस्य भावरूपत्वे वादिभिरपि न विवदितुं शक्यमित्याह—

प्रावादुकैरपि तथैव तदेषितव्यं
संवेदनेऽस्फुरणमभ्युपयद्भिरग्रे ॥
संवेदनेन खलु संविदभावरूप-
मज्ञानमभ्युपगतं न च बुद्ध्यभावः ॥ १३० ॥

प्रावादुकैरपीति॥ अस्फुरणमिति च्छेदः। अग्रे उत्तरकालमित्यर्थः । संविदभावो वा बुद्ध्यभावो वा संवेदने ज्ञानं भविष्यति कुतोऽस्य भावरूपत्वसिद्धिरिति चेत्, तत्राह । संवेदन इति। संवेदनस्य वेदनान्तरवेद्यत्वानङ्गीकारान्न संविदभावो बुद्ध्यभावो वा संविदस्फुरणमिति । परिशेषाद्भावरूपाज्ञानादेव संविदस्फुरणमङ्गीकार्यमित्यर्थः ॥ १३० ॥

अथ तदेवमज्ञानकार्यस्याहङ्कारस्य तत्कृतदुःखस्य चाभावा-

त्सुषुप्ते संसाराभावः उच्यते, नत्वज्ञानस्यापि अभावात्, अतश्च तद्विषयाणि श्रुत्यादिवाक्यानि न विरुद्धानीत्युपसंहरति—

तस्मादशेषजगदेकनिदानभूत-
मज्ञानमात्मविषयं न विरुद्धमूचुः ॥
वेदावसानवचनानि मुनीश्वराश्च
स्थानेषु भूरिषु ततोऽवकरो न कश्चित् ॥१३१॥

तस्मादिति ॥ अवकरः सङ्करो विरोधः इति यावत् । स्पष्टमन्यत् ॥ १३१ ॥

अथ ननु सुषुप्ते अज्ञानानुभव इष्यते चेत्, तदनुभवितृत्वलक्षणं प्रमातृत्वमपि स्यात्, तथा चाहङ्कारोऽपि तत्र स्यादिति चेत्, नैवम् । साक्षित्वमात्रेणाज्ञानस्य तदाऽनुभवादिति परिहरति—

साक्षित्वमात्मतमसा मतिकञ्चुकेन
मातृत्वमेतदपि नेह सुषुप्तिकाले ॥
यद्धेतुकं भवति यन्न हि तद्विना तत
सम्भाव्यते न च तदत्र सुषुप्तिकाले ॥ १३२ ॥

साक्षित्वमिति ॥ चिदात्मनि आत्मतमसा स्वसंबद्धाज्ञानमात्रेण साक्षित्वम् अज्ञानसंबन्धमात्रेणात्मनः साक्षित्वं भवति नाहङ्कारापेक्षं तत्, सुषुप्तौ च साक्षिमात्राकारेणैवाज्ञानानुभवनमित्यर्थः । मातृत्वं पुनर्मतिकञ्चुकेन अन्तःकरणोपाधिप्रवेशेन भवति नाज्ञानसंबन्धमात्रात्, एतदपि मतिकञ्चुकम् इह सुषुप्तिकाले नास्ति, तदभावे च तत्र मातृत्वमपि नास्ति हेत्वभावे फलाभावादित्याह । यद्धेतुकमिति । व्याप्तिमुक्त्वा पक्षधर्मतामाह । न च तदत्रेति । सुषुप्तावात्मनो न प्रमातृत्वमस्ति तत्र तद्धेत्वभावात्, यत्र

यस्य हेत्वभावस्तत्र तन्न भवति, यथा महाह्रदे वन्ह्यभावे धूमस्याप्यभावस्तथा चायं तस्मात्तथेति प्रयोगः ॥ १३२ ॥

अथ ननु यदि सुषुप्तावज्ञानानुभवः स्पष्टो नास्ति तदाऽज्ञानमेव तत्र नास्तीति कस्मान्न निश्चीयते, तदभावे च तत्र लीनं जगदपि नास्तीत्येवं कल्पनीयम्, एवं चात्मविशुद्धिश्रुतिरसङ्कुचितार्था भविष्यतीति चेत्, मैवम्। सुषुप्तेर्मोक्षवैलक्षण्याभ्युपेयत्वात्। अन्यथा पुनरुत्थानाभावप्रसङ्गात्। अत उत्थानलिङ्गादेनाज्ञानं प्रविलीनस्वकार्यं सुषुप्तावस्तीत्यङ्गीकार्यमित्याह—

अज्ञानमस्ति सकलं च सुषुप्तिकाले
तत्र प्रलीनमिति यद्यपि नास्ति पुंसः ॥
स्पष्टानुभूतिरपवर्गविलक्षणत्वा-
द्दृष्टव्यमेव तु सुषुप्तिभुवस्तथात्वम् ॥ १३३ ॥

अज्ञानमस्तीति ॥ सुषुप्तिभुवः सुषुप्तिस्थानस्य। तथात्वं प्रविलीनसमस्तस्वकार्याज्ञानवत्त्वमित्यर्थः ॥ १३३ ॥

अथ यद्यात्मनि सुषुप्तावप्यज्ञानं यथोक्तरूपमस्ति तर्हि तस्यानागन्तुकत्वाच्चैतन्यवत्स्वाभाविकमेव तत् स्यात् इत्याशङ्कते—

एवं सतीह तमसो न विविच्य वस्तु
साक्षान्निवेदयितुमस्ति निदर्शनं चेत् ॥
नैतत्परागवगतेर्विषयो विभाति
गाढं तमो न तु तथाऽवगतिः प्रतीचि ॥१३४॥

एवं सतीति ॥ सुषुप्तावप्यज्ञानसद्भावे सतीत्यर्थः। इह सुषुप्तौ वस्तु आत्मस्वरूपं तमसः सकाशात्साक्षाद्विविच्य निवेदयितुं

निदर्शनं प्रमाणं नास्तीति चेदिति योजना। उक्तस्य तमसो दृश्यत्वादेवात्मस्वभावत्वाभावासिद्धिरिति परिहरति । नैतदिति । गाढं तमः सुषुप्तौ परागत्वगतेः पराक्त्वेन दृश्यतयाऽवगतिरनुभवः तस्याः विषयो विभाति विषयत्वेनैव तत्राज्ञानानुभव इत्यर्थः । प्रतीचि प्रत्यगात्मनि तथा विषयत्वेनावगतिर्न त्वास्ति, अतोऽनुभवानुसारेण प्रत्यक्पराग्भावेन आत्माज्ञानयोर्विवेकः सुसंपाद इत्यर्थः ॥ १३४ ॥

अथ उक्तमेवार्थं विविच्य दर्शयति—

प्रत्यक्पराग्विषयवस्तुविवेचनाय
क्लेशो न सम्भवति कस्य चिदत्र जन्तोः ॥
दृश्यं तमो घटपटादिवदेष तस्य
द्रष्टा सुषुप्तिभुवि चिद्घनविग्रहोऽभूत् ॥ १३५ ॥

प्रत्यक्परागिति ॥ अनुभवानुसारित्वाद्विवेकस्य न क्लेशोऽत्र सम्भवतीत्यर्थः।ननु एवंविधो विवेकः स्पष्टत्वाज्जागरिते स्यान्न सुषुप्ताविति चेत्, न। उत्थितस्य परामर्शस्वभावानुरोधेन कल्प्यमानाज्ञानानुभवस्य तथैव कल्पनादित्याह। दृश्यं तम इति। सुषुप्तिभुवि तमो घटपटादिवत् दृश्यमभूत्, एष चिद्घनविग्रहः आत्मा तस्य द्रष्टाऽभूदिति विवेकोपपत्तेरित्यर्थः। उत्थितो हि सौषुप्तानुभवं परामृशन् "अहमेतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्" इति परामृशति । तत्राहमिति द्रष्टोल्लिख्यते, नावेदिषमिति चावेदनं ज्ञानपर्युदासेनाज्ञानं द्रष्टुर्दृश्यत्वेनैवोल्लिख्यते, अतस्तदनुसारेण स्वापावस्थायामप्यज्ञानं विषयत्वेन, आत्मा च तद्द्रष्टा प्रत्यक्त्वेन अविषयतयाऽभादिति कल्प्यते इत्यभिप्रायः ॥ १३५ ॥

अथ तथाप्यवस्थावत्त्वं मम स्यादिति चेत्, न। अवस्थाना-

मपि तव दृश्यत्वादित्याह—

तिस्रोऽपि चिद्धनतनोस्तव दृश्यभूताः
दूरं चकासति मतेर्बहिरेव तावत् ॥
आविस्तिरोभवनधर्मतया ह्यवस्थाः
कः सङ्करो विमलचिद्वपुषः स्तवाभिः ॥ १३६ ॥

तिस्र इति ॥ मतेः तिस्रोऽप्यवस्थाः इति संबन्धः । चिद्धनतनोः स्वप्रकाशज्ञानरूपस्य तव बहिरेव विषयत्वेनैव तावत् दृश्यभूताना-त्मधर्मत्वेनेति यावत् । हि यस्मादाविस्तिरोभवनधर्मतया आगमा-पायवत्तया दूरे चकासति पृथगेव भासन्ते । तस्माद्विमलचिद्व-पुषस्तव ताभिः अवस्थाभिः कः सङ्करः कुतो वैशिष्ट्यमिति योजना ॥ १३६ ॥

अथ नन्ववस्थाना मतिधर्मत्वे ऽपि नात्मनः शुद्धिः सि-द्ध्यति, सावस्थायाः मतेरात्माश्रितत्वात् नान्याश्रयत्वं स्वातन्त्र्यं वा मतेर्युक्तम् अद्वैतमतविरोधादिति चेत्, तत्राह—

त्वय्येव कल्पितमहङ्करणं बिभर्ति
तिस्रोऽपि ताः सहितमेव तु तच्च ताभिः ॥
त्वच्चित्प्रकाशविषयत्वमुपेत्य भाति
स्वाज्ञानवत्तव न रूपमतश्चतुष्कम् ॥ १३७ ॥

त्वय्येवेति ॥ तिस्रो ऽपि ताः अवस्थाः त्वयि कल्पितमे-वाहङ्करणम् अन्तःकरणं बिभर्त्ति, अवस्थाश्रयभूताऽपि मतिस्त्वय्य ज्ञानकल्पिता ऽध्यस्तैवेति नाद्वैतमतविरोध इत्यर्थः । तथाप्यव-स्थाभ्यस्तद्धर्मकाहङ्करणाच्चात्मा कथं विविच्य प्रत्येतव्यः इति चेत्, साक्ष्यसाक्षिभावेनेत्याह । सहितमेव त्विति । तच्चाहङ्करणं ताभि-

रवस्थाभिः सहितमेव त्वच्चित्प्रकाशविषयत्वमुपेत्य प्राप्य भाति, न स्वतो नापि परस्परमित्यर्थः। अतो दृश्यत्वात्स्वाज्ञानवदिदमपि चतुष्कम् अवस्थात्रयमहङ्करणं च तव तत्साक्षिणो द्रष्टुर्न रूपं न स्वभाव इत्यर्थः । अतो वस्तुतो मतेरवस्थानां चाभावान्नावस्था-तदाश्रयकृताऽशुद्धिशङ्काऽप्यात्मनोऽस्तीति भावः ॥ १३७ ॥

अथ तथापि मतेस्तदवस्थानां च पृथक् सत्त्वान्नाद्वैतता प्रतीचः प्रतीयेतेति चेत्, नेत्याह—

नान्वेति तत्तव चिता व्यतिरेकिता तु
दूरे न सम्भवति तस्य चतुष्टयस्य ॥
नाभावरूपभजनाय समर्थमेत-
देवं चिदेव तु चतुष्टयमेतदासीत् ॥ १३८ ॥

नान्वेति तदिति ॥ तत् पूर्वोक्तं चतुष्कं तव चिता चिदात्मकेन तव स्वरूपेण नान्वेति, स्वरूपतया वा धर्मतया वा न संबध्यते स्वभावविरोधादित्यर्थः । तथा तस्य चतुष्टयस्य व्यतिरेकिता तु त्वत्स्वरूपानाश्रयणेन स्वतन्त्रता तु दूरे न सम्भवति नैव सम्भवतीति यावत् । जडस्य स्वरूपतोऽज्ञानकल्पितस्य तस्य सत्तास्फुरणयोः स्वातन्त्र्याभावादित्यर्थः । तर्ह्यत्यन्तासदेवैतत्स्यादिति नेत्याह । नाभावेति । शून्यरूपत्वभजनायाप्येतन्न समर्थम् अपरोक्षत्वादित्यर्थः । परिशेषासिद्धमर्थमाह । एवं चिदेव त्विति । एतत् चतुष्टयं वस्तुतो विचार्यमाणमेवं सति चिदेव विशुद्धत्वद्रूपमेवासीत्, त्वत्स्वरूपातिरिक्तमिदं नाभूदस्ति भविष्यतीति निश्चयोपपत्तेः प्रतीचो ऽद्वैतता प्रतीयेतैवेति भावः ॥ १३८ ॥

अथ ननु यदि दृश्यं सर्वं कल्पितं तर्हि दृगपि कल्पितैवास्तु वस्तुत्वादिति चेत्, मैवम् । व्यभिचारित्वोपाधिहतत्वादन-

मानस्येत्याह—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छितनतनूनिष्क्रान्त्यवस्थासु य-
च्चैतन्यं व्यभिचारिणीष्वनुगत तत्सत्यमेवात्मनः ॥
यत्किञ्चिद्व्यभिचारि तन्ननु मृषा स्रक्सर्पदण्डादिव-
न्नानुस्यूतचिदात्मवस्तु वदितु शक्यं मृषा रज्जुवत्॥१२९॥

जाग्रत्स्वप्नेति॥ तनूनिष्क्रान्तिः मरणम्।अवस्थाना व्यभि चारित्वं सत्यात्मन्यन्योन्यत्राननुगमात्प्रसिद्धम्।व्यभिचारिणीष्व-वस्थासु यदात्मनश्चैतन्यमनुगतं तत् सत्यमेव। न हि चैतन्यम् उक्ता-वस्थाः व्यभिचरति, तथा सति अवस्थाना सर्वस्यापि दृश्यस्य अ-सिद्धिप्रसङ्गात्,अतो न साधनव्यापकतोपाधेरित्यर्थः। व्यभिचारि-त्वमेव कल्पितत्वे प्रयोजकं न वस्तुत्वमपीत्यत्रोभयत्र व्याप्तिमाह । यत्किञ्चिदिति। तन्ननु मृषा तदेव मृषेत्यर्थः।सुगममन्यत्। अस्य पद्य-स्यापरा योजना। एवम् उक्तचतुष्कस्य चिदात्मव्यतिरेकेण सत्त्वं न सम्भाव्यते इति अतस्तस्यात्मनि कल्पितत्वमेवेत्युक्तं, तदेवेदानीं कल्पितत्वं साधयति । जाग्रत्स्वप्नेति । विमतं सर्वं चिदात्मनि कल्पितं चिदात्मन्यनुवर्त्तमानेऽपि तद्व्यभिचारित्वात्। व्यभिचा-रित्वं त्ववस्थानां व्याख्यातम् । चिदात्मन्यागमापायित्वं वा तद्व्य-भिचारित्वं तच्चानुभवसिद्धमिति न हेत्वसिद्धिः । अवस्थानामात्म-व्यभिचारित्वे त्वात्मनोऽपि तद्व्यभिचारः स्यात् । अतो हेतो-रात्मनि व्यभिचार इत्याशङ्क्याह । अनुगतमिति । आत्मनो ऽवस्थाव्यभिचारित्वे तदासिद्धिप्रसङ्गान्न तत्र हेतुरस्तीति न व्यभिचार इत्यर्थः । इदानीं व्यभिचारिणः कल्पितत्वे ऽव्य-भिचारिणः परमार्थत्वे च क्रमेण व्याप्तिमाह । यत्किञ्चि-दिति । ननु निश्चितमित्यर्थः । चिदात्मवस्तु मृषा वदितुं न

शक्यमिति संबन्धः । अनुस्यूतेति विशेषणं तत्र हेतुः । अन्याऽप्यस्य योजना । चिदेव तु चतुष्टयमेतदासीदिति चतुष्टयस्य चित्तादात्म्यमङ्गीकृतं चेत् चिदात्मभूतस्य चतुष्कस्य व्यभिचारित्वाच्चिदात्मनोऽपि स्याद्व्यभिचारिता, ततः "तदेतत्सत्यम्" "तत्सत्यं स आत्मा" इत्यादिश्रुतेः बाधप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम् । व्यभिचारिणीषु साक्षित्वेनानुगतस्य व्यभिचारासम्भवादित्याह । जाग्रत्स्वप्नेति । व्यभिचारिणीष्ववस्थास्वनुस्यूतत्वेन चिदात्मनः सत्यत्वोक्तौ अर्थादवस्थानां तासां मृषात्वमपि प्रतिज्ञातमिति सिद्ध्यति । अतस्तदुभयं व्याप्तिमुक्त्वा साधयति । यत्किञ्चिदिति । तस्मान्मृषार्थतादात्म्यस्यापि मृषात्वान्नात्मन्युक्तदोषशङ्काऽवकाशः इति भावः ॥ १३९ ॥

अथ नन्वेवमज्ञानकल्पितत्वाच्चतुष्कस्य मृषात्वादात्मनस्तत्कृताशुद्ध्यभावेऽप्यज्ञानसंबन्धकृताशुद्धिः स्यादित्याशङ्क्य, उक्तानुवादपूर्वकम् अज्ञानस्याप्यात्मनि कल्पितत्वमाह—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मकमिदं चित्तं त्वदज्ञानतः
प्रादुर्भूतमतस्त्वमेव सततं त्वत्तो न तद्भिद्यते ॥
स्वाज्ञानं च तवानुभूतिबलतः सिद्धं मृषा तत्त्वतो
नासीदस्ति भविष्यतीति भवतः पूर्णा चितिःशिष्यते ॥ १४० ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मकमिति ॥ उक्तानुवादात्मकेन पूर्वार्धेन पूर्वश्लोकोक्तानुमानस्योपनयनिगमने दर्शिते, उत्तरार्धेन शङ्कितदोषपरिहारः इति विभागः । स्वाज्ञानं चेति चकारोऽप्यर्थे । स च जाग्रदादिदृष्टान्तार्थः । स्वाज्ञानं च तवानुभूतिबलतः सिद्धं त्वत्सत्तास्फूर्त्यधीनसत्तास्फूर्तिकम्, अतो दृश्यत्वादवस्थावदज्ञानमपि मृषा कल्पितं न परमार्थमित्यर्थः । अतः कालत्रयेऽप्यज्ञा-

नतत्कार्यरूपस्य दृश्यस्य चिदात्मनि तत्त्वतोऽसम्भवान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवात्मेति फलितमर्थमाह। अतोनासीदिति॥ १४०॥

अथ एवमात्मनो नित्यशुद्धत्वे उक्तयुक्तीनामनुग्राह्यं प्रमाणं वदन् अर्थादस्माकं मतं न वैशेषिकादिमतवत् स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रसिद्धं किन्तु श्रुतिमौलिप्रमाणसिद्धमिति दर्शयति—

ज्योतिर्ब्राह्मणवाक्यमानबलतः सम्पूर्णरूपा चिति-
र्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधर्मरहिता मोक्षाय निश्चीयते ॥
तस्मादस्मदुदीरितं स्वकवपुः श्रद्धत्स्व मानं विना
नास्माभिः प्रतिपादिता चितिरियं वाक्यार्थसंबन्धिनी॥ १४१॥

ज्योतिर्ब्राह्मणेति ॥ तत्र हि "किंज्योतिरेवायं पुरुषः" इत्यादिना "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" इत्यन्तेनात्मनः सर्वव्यवहारसाक्षितया विशुद्धचैतन्यज्योतिःस्वरूपत्वमुपपाद्य, ततः परेण ग्रन्थेन अवस्थात्रयस्यागमापायित्वोक्तिपूर्वकं महामत्स्यनिदर्शनेन असङ्गत्वं चोपपाद्य, आत्मनो नित्यशुद्धचिद्रूपत्वं प्रतिपादितं दृश्यते, अतो नात्र शङ्का कार्येत्यर्थः। अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः। मोक्षायेति ब्रह्मभावायेत्यर्थः। यस्मात्प्रमाणसिद्धोऽयमर्थः तस्माद्युक्त्याऽस्मदुदीरितं स्वकवपुः स्वस्वरूपं श्रद्धत्स्व तथैवेति विश्वसिहि। इयं वाक्यार्थसंबन्धिनी चितिः अस्माभिः मानं विना न प्रतिपादिता, किन्तु मानसिद्धायामेवास्यामसम्भावनापोहाय युक्तयोऽभिहिताः इत्यर्थः॥ १४१ ॥

अथ त्वंपदार्थतत्त्वशोधनप्रकरणमुपसंहृत्य, तत्पदार्थतत्त्वशोधनप्रकरणमारभमाणः तत्र शिष्यप्रश्नमुत्थापयति—

एवं त्वंपदलक्ष्यवस्तु भवता यत् पृष्टमासीत् पुरा

तन्निर्णीतमतोऽन्यदस्ति यदि ते चित्तास्थितं पृच्छ तत्॥
बुद्धिस्थं कुरु पूर्वमुक्तमखिलं यद्वक्ष्यमाणं च तद्
बोद्धुं धारय ते मनः स्थिरतरं श्रद्धाधनाद्याश्रयः॥ १४२॥

एवं त्वंपदेति ॥ शिष्यजिज्ञासानुसारेण बोद्ध्यमानो ह्यर्थः सम्यक् बुद्धिमारोहतीत्याभिप्रेत्याह। अतोऽन्यदस्तीति। अर्थान्तरप्रश्नव्यग्रतया पूर्वगृहीतस्य विस्मृतिर्मा भूदित्याह । बुद्धिस्थमिति। तत्रैव लग्नचित्तश्च मा भूः, तदा हि प्रतिवचनार्थग्रहणं न भवेदित्यभिप्रेत्याह। यद्वक्ष्यमाणमिति । श्रद्धाधनाद्याश्रय इति सूक्ष्मार्थावधारणे श्रद्धायाः अन्तरङ्गत्वं सूचितम्। एवमुक्तवक्ष्यमाणयोरर्थयोः शिष्यबुद्धिसंग्रहकथनं, पदार्थज्ञानमात्रान्न ते कृतकृत्यता किन्तु वाक्यार्थज्ञानादेवेति दर्शयितुमिति द्रष्टव्यम् ॥ १४२ ॥

अथ एवं गुरुणाऽभ्यनुज्ञातः शिष्यः उक्तार्थानुवादपूर्वकं तत्पदलक्ष्यार्थबुभुत्सामाविष्करोतीत्याह—

इत्युक्ते गुरुणा स पृच्छति पुनस्त्वंशब्दलक्ष्यं मम
ज्ञानं न्यायबलेन पूर्वमुदितावस्थात्रयापोहनात्॥
तच्छब्देन तु लक्ष्यमर्थमधुना बोद्धुं मनो मामकं
धावत्याशु तमप्यपोह्य सकलद्वैतप्रपञ्चं वद ॥ १४३ ॥

इत्युक्ते गुरुणेति॥ मम ज्ञानं जातं, मया सम्यगवधारितमित्यर्थः । सकलद्वैतप्रपञ्चमपोह्य युक्तिभिर्निरस्य तमपि तत्पदलक्ष्यार्थमपि वदेति योजना ॥ १४३ ॥

अथ प्रश्नप्रकारमाह—

किं सप्रपञ्चमिदमस्त्वथ वा समस्त-
द्वैतप्रपञ्चरहितं परिपूर्णरूपम् ॥

यद्वोभयात्मकमिदं परमार्थतोऽस्तु
विष्णोः परं पदमितीह विचारणीयम् ॥ १४४ ॥

**किं सप्रपञ्चमिति॥** परमार्थतः इति पदं पूर्वयोरपि पक्षयोः सम्बध्यते । इदं ब्रह्म । सुगममन्यत् ॥ १४४ ॥

अत्र विचारणीयमित्यनेन सन्देहः सूचितः । तमेव सन्देहं तद्बीजप्रदर्शनपूर्वकम् आविष्करोति —

वेदान्तवाक्यगतिरत्र बहुप्रकारा
काचित्कथञ्चिदिति संशय उत्थितो मे ॥
तत्त्वं प्रकाशय निवर्तय मोहमूलं
मत्संशयं मम हिताय गुरो प्रसीद ॥ १४५ ॥

**वेदान्तवाक्यगतिरिति॥काचित्कथञ्चिदिति।** अस्यायमर्थः। यद्यपि जन्मादिसूत्रे निष्प्रपञ्चमेव ब्रह्म प्रतिपादितम्, आरम्भणाधिकरणे च तथैवोपपादितम् । तथापि "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः वामनीः भामनीः" इत्येवं सविशेषवाक्यानामपि ब्रह्मपराणां श्रूयमाणत्वाद्वेदान्तवाक्यगतेरेव व्याकुलतादर्शनात् तस्याः विषयव्यवस्थाया निर्णयस्य च मम अनुदयात् पूर्वश्लोकोपन्यस्तस्त्रिविधः संशयो मम जातः इति । किं तत्रोभयविधश्रुतिदर्शनात् श्रुत्येकगम्येऽर्थे विरोधस्यानवगाहनात् उभयात्मकमेव ब्रह्म मया प्रत्येतव्यम्, उपाधिवशाद्ब्रह्म सप्रपञ्चं स्वतस्तु निष्प्रपञ्चमिति व्यवस्थया वा उभयरूपं ब्रह्माभ्युपेयम्, अथवा निष्प्रपञ्चवाक्यस्यान्यपरत्वकल्पनया सप्रपञ्चमेव ब्रह्मतत्त्वं ज्ञेयम्, सप्रपञ्चवाक्यस्यान्यपरत्वकल्पनया वा निष्प्रपञ्चमेव ब्रह्म विज्ञेयमिति संशयानं मां प्रति तत्त्वं याथात्म्यं

ब्रह्मणः प्रकाशय, मम मोहमूलं मत्संशयं निवर्तय, मम हिताय भव, प्रसीद मम प्रसन्नो भवेति ॥ १४५ ॥

अथ एवमुपसन्ने जिज्ञासौ शिष्ये उभयविधं ब्रह्मेति यत् प्रकारद्वयेनोत्प्रेक्षितं तन्न युक्तम् इति तावत् गुरुराह—

न स्थानतोऽप्यस्ति परस्य कश्चिद्
विशेषयोगः परमार्थरूपः ॥
स्वतः पुनर्दूरनिरस्त एव
परस्य तत्त्वस्य विशेषयोगः ॥ १४६ ॥

न स्थानतोऽपीति ॥ परस्य ब्रह्मणः कश्चित् परमार्थरूपो विशेषयोगः सप्रपञ्चत्वलक्षणः स्थानतः उपाधितोऽपि नास्ति, "पृथिवीमय आपोमय" इत्यादौ पृथिव्याद्युपाधियोगात् श्रूयमाणोऽपि विशेषो ब्रह्मणः परमार्थतो नास्तीत्यर्थः। स्थानतो ऽपीत्यपिशब्दसूचितमर्थमाह।स्वतःपुनरिति। स्वतस्तु सुतरां विशेषयोगो दूरनिरस्त एवेत्येतत्साधयति। परस्य तत्त्वस्येति ।परस्य कार्यकरणप्रपञ्चातीतस्य नेतिनेत्यादिलक्षणस्य यत्तत्त्वं याथात्म्यं स्वाभाविकं स्वरूपं तस्येत्यर्थः ॥ १४६ ॥

अथ यद्यपि जन्मादिसूत्रे सत्यज्ञानादिरूपं ब्रह्म लक्षितं, नेतिनेत्यादिभिश्च श्रुतिवाक्यैर्निर्विशेषं तदित्यवगतं, तथापि तस्योपाधियोगात्सविशेषत्वमपि परमार्थमभ्युपेयं, तस्यापि श्रुतिसिद्धत्वादिति चेत्, मैवम् । उपाधियोगात्प्रतीयमानस्य विशेषस्य मृषात्वादिति सदृष्टान्तमाह—

स्वभावतश्चिद्घनविग्रहस्य
मृषा ह्युपाधिप्रभवा विशेषाः ॥

यथा जपापुष्पनिबन्धनः स्यात्

मृषा मणेर्लोहितिमा तथैव ॥ १४७ ॥

**स्वभावत इति** ॥ सैन्धवघनवद्विज्ञानघन एवेत्यवधारणात् स्वभावतश्चिदेकरसस्य उपाधिप्रभवाः विशेषाः मृषा स्युरिति योजना। यथेति दृष्टान्तार्थः स्पष्टः। तथैवोपाधिप्रभवाः विशेषाः इति पूर्वेणान्वयः। उपाधिसम्बन्धस्यापि ब्रह्मणि परमार्थत्वासम्भवान्न तद्योगकृतो विशेषः परमार्थः, अतः सविशेषब्रह्मवाक्यानां न स्वार्थपरता इत्यन्यार्थताकल्पनस्यावश्यंभावात्, निर्विशेषवाक्यानां च गत्यन्तरासम्भवेन स्वार्थपरत्वनिश्चयान्निर्विशेषमेकरूपमेव ब्रह्मतत्त्वमवधेयमिति पक्षान्तरकल्पनाशङ्काऽपि सर्वा निरस्तैवेति भावः ॥ १४७ ॥

अथ नन्वीश्वरत्वलक्षणो विशेषो ब्रह्मणि वास्तवोऽभ्युपेयः, अन्यथा तस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। तथा प्रतीचो जीवत्वरूपो विशेषः स्वीकरणीयः, इतरथा तस्यापीश्वरत्वं जडत्वं वा प्रसज्येतेति चेत्, नैवम्। उभयत्राप्युक्तविशेषयोरौपाधिकत्वादित्याह—

मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वं

कार्योपाधेर्जीवता च प्रतीचः ॥

मिथ्यैव स्याद् बन्धुजीवप्रसून-

सम्पर्कात्था रक्तताऽभ्रकादेः ॥ १४८ ॥

**मायोपाधेरिति** ॥ अद्वयस्य ब्रह्मणः। ईश्वरत्वस्येशितव्यापेक्षत्वाद्विना मायायोगम् अद्वयस्येशितव्यासम्बन्धात् मायाकल्पितमेवेश्वरत्वमित्यर्थः। तथा प्रतीचोऽहङ्कारादिसाक्षिणः स्वस्मिन् स्वाज्ञानाध्यस्तकार्योपाधिप्रयुक्तमेव जीवत्वं, कर्तृत्वप्रमा-

तृत्वादिसंसारधर्मयोगित्वं हि जीवत्वं, कर्तृत्वादि च न तस्मिन्नहङ्काराद्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण निरूपणपथमवतरतीति जीवत्वमप्यौपाधिकमेवेत्यर्थः। उपाधिसंबन्धकृतोऽपि धर्मः पारमार्थिकः स्यादिति न शङ्कास्पदम् इत्यौपाधिकस्य मिथ्यात्वम् अनुमानेन साधयति । मिथ्यैव स्यादिति । बन्धुजीवप्रसूनं नाम मध्याह्नविकासिरक्तवर्णपुष्पविशेषः । अभ्रकं तु सूर्यतप्तजलस्थलनिष्पन्नः शुभ्रवर्णो धात्वाभासविशेषः ॥ १४८ ॥

अथ यदौपाधिकं तन्मृषेति न व्याप्तिः, भल्लातकोपाधिकलङ्किते वस्त्रे व्यभिचारात्। न च तदपि मृषा, तस्य सति वस्त्रे वियोगादर्शनात्, तथा च व्याप्त्यभावान्नेश्वरत्वादिकम् उपाधिप्रयुक्तमपि मृषेति चेत्, तत्राह—

भल्लातकादिरसयोगनिबन्धनं च
वस्त्रे कलङ्कितमनेन पथा निरस्तम् ॥
तस्यापि पक्षपतितत्वमभीष्टमत्र
तस्मादसौ न भवति व्यभिचारभूमिः ॥ १४९ ॥

भल्लातकेति ॥ अनेन पथेति सर्वेषामौपाधिकधर्माणां स्फटिकलौहित्यादिवन्मिथ्यात्वसमर्थनन्यायमार्गेणेत्यर्थः। अतः उक्तोदाहरणस्यापि पक्षतुल्यत्वान्न तत्र व्यभिचारः शङ्कनीयः इत्यर्थः । वस्त्रे भल्लातकरसकलङ्कावियोगादर्शनं तु तद्वियोजनस्य दुःशकत्वादेव, न परमार्थत्वात्, तदानीमपि तन्तुगतशौक्ल्यस्य वास्तवस्यानपायात्, कालिम्नस्तु भल्लातकरससङ्गतस्यैव प्रतीतेः। अतो वस्त्रं कलङ्कितमित्यविवेकनिबन्धनो भ्रमः इति भावः॥ १४९ ॥

अथ अस्त्वेवमौपाधिकस्यानृतत्वं, चिदात्मनि विशेषवत्त्वमौपाधिकमेवेति कुतो निश्चीयते ? इति चेत्, श्रुतिप्रामाण्यादिति

मन्वानः श्रुतिमेव पठति—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वा-
नपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ॥
उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ १५० ॥

यथा ह्ययमिति ॥ अयं हि प्रसिद्धो ज्योतिरात्मा प्रकाशस्वरूपो विवस्वानादित्यः एक एव सन् भिन्ना आपो भिन्नस्थानगततया भिन्नानि जलानि बहुधाऽनुगच्छन् प्रतिबिम्बरूपेण प्रविशन् उपाधिना भिन्नभिन्नजललक्षणेन भेदरूपः क्रियते विशेषयोगः संपाद्यते, जलभेदेन भेदः जलकम्पादिना च कम्पादिमत्त्वमित्यादिविशेषवत्ताप्रतीतिविषयः क्रियते। यथेति दृष्टान्तभावार्थः। एवं यथाऽयं दृष्टान्तस्तथाऽयमात्मा देवः स्वप्रकाशज्ञानमात्रस्वरूपोऽजो जन्मादिविकाररहितोऽपि क्षेत्रेषु स्थूलसूक्ष्मशरीरेषु भेदरूपो भेदविशेषविकारवत्तया लक्ष्यमाणः क्रियते, न स्वतोऽस्य भेदो विशेषो विकारो वाऽस्तीत्यर्थः ॥ १५० ॥

अथ परमात्मनः ऐश्वर्यं मायोपाधिकमनृतमेवेत्युक्तं स्वमतं स्थिरीकर्तुं मतान्तरमुत्थापयति—

ऐश्वर्यमस्य परमात्मन उक्तमन्ये
साक्षात् स्वरूपमवबोधसुखादितुल्यम् ॥
तेनेशते किल यथायथमीशितव्यान्
भृत्यान् प्रतीश्वरतया जगतीभृतोऽपि ॥ १५१ ॥

ऐश्वर्यमस्येति ॥ अस्य परमात्मनो यदैश्वर्यं तदप्यवबोधसुखादिवत् सत्यज्ञानानन्दादिवत्साक्षात्स्वरूपमेवेत्युक्तेऽर्थे यु-

क्तिमाह । तेनेशत इति । किलेत्यस्य पक्षस्यानभिमतत्वं द्योतयति । जगतीभृतो राजानो लौकिकेश्वराः तेऽपि यथायथं तारम्येन ईशितव्यान् भृत्यान्प्रतीश्वरतया तेन लोके तारतम्येन प्रतीयमानेनैश्वर्येण ईशते नियन्तारो भवन्ति । तच्चैश्वर्यं तेषां स्वरूपमेव सत् तत्र तत्रोपाधिवशात्तारतम्येनाभिव्यज्यते, अन्यथा जडस्य परतन्त्रतया ऐश्वर्यायोगात्तेष्वीश्वरत्वव्यवहारो निर्विषयः स्यादित्यर्थः ॥ १५१ ॥

अथ नन्वीश्वरत्वस्येशितव्यसापेक्षत्वात् उत्पत्त्यादिमत्त्वात् तारतम्याच्च नात्मस्वरूपता युक्ता, निरपेक्षनित्यैकरूपत्वादात्मनः इति चेत्, तत्राह—

नित्य प्रियादिषु सुखं प्रतिबिम्बितं स-
ल्लोके वदन्ति विषयेन्द्रियसंप्रयोगात् ॥
उत्पन्नमन्यदिति तद्वदिहेश्वरत्वं
मायातदुत्थमतिषु प्रतिबिम्बितं सत् ॥ १५२ ॥

नित्यं प्रियादिष्विति ॥ यथा नित्यं कूटस्थं निरतिशयमेकरूपमेव सुखं प्रियादिषु प्रीत्यास्पदविषयाकारबुद्धिवृत्तिषु । आदिपदं प्रीतिष्वेवाल्पत्वमहत्त्वादिभेदविषयम् । तेषु प्रतिबिम्बितं सत्प्रतीयमानं लोके विषयेन्द्रियसंप्रयोगादुत्पन्नमन्यदन्यदिति वदन्ति । तद्वदिह परमात्मनोऽश्वरत्वं मायातदुत्थमतिषु प्रतिबिम्बितं सत् सापेक्षत्वादिरूपेण प्रतीयते । तत्रापि मायायां प्रतिबिम्बस्य सापेक्षत्वमात्रम्, अन्तःकरणादिमायाकार्यप्रतिबिम्बि तूत्पत्त्याद्यपि प्रथते इति भेदः ॥ १५२ ॥

अथ अत्र मायायां प्रतिबिम्बितमीश्वरत्वं नित्यं सर्वापेक्षं च सत् निरातिशयं परमेश्वरत्वं भवति, बुद्धिप्रतिबिम्बितमीश्वरत्वं त

तारतम्येन हिरण्यगर्भादिषु कर्मनिमित्तबुद्धितारतम्यानुरोधा-त्सातिशयमीश्वरत्वं भवतीत्याह—

मायानिविष्टवपुरीश्वरबोध एष
सर्वेश्वरो भवति सर्वमपेक्षमाणः ॥
बुद्धिप्रविष्टवपुरेष तथेश्वरः स्या-
दात्मीयभृत्यजनवर्गमपेक्षमाणः ॥ १५३ ॥

मायानिविष्टेति ॥ आत्मीयभृत्येति । यस्य यावदीशितव्यत्वेनोपस्थितं भवति तावदपेक्षमाण इत्यर्थः । उक्तार्थमन्यत् ॥ १५३ ॥

अथ विदुषस्तु मुक्त्यवस्थायां पारमैश्वर्यप्राप्तिदर्शनाच्चात्मनः ऐश्वर्यं स्वरूपमेवेति गम्यते इत्याह—

सम्यग्ज्ञानध्वस्तसर्वप्रपञ्चः
स्वीये रूपे निर्गुणे निर्विशेषे ॥
पूर्णैश्वर्ये स्वप्रकाशस्वभावे
स्वाराज्येऽस्मिन् स स्वराडेव तिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

सम्यग्ज्ञानेति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥ १५४ ॥

अथ सम्यग्ज्ञानध्वस्तमोहप्रपञ्चः स्वीये पूर्णैश्वर्ये तिष्ठे-दित्यत्र प्रमाणं श्रुतिमुदाहरति—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ॥
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे

विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ १५५ ॥

**ज्ञात्वा देवमिति**॥ तस्य देवस्य ईश्वरस्याभिध्यानात् आभिमुख्येन प्रत्यगभेदेन ध्यानात् तत्प्रसादेन तमेव देवं ज्ञात्वा विश्वैश्वर्यमाप्नोतीति योजना। केन क्रमेणेत्यपेक्षायामाह। सर्वपाशापहानिः। पाशाः क्लेशाः अविद्याऽस्मितादयः तेषां सर्वेषां हानिर्विच्छेदः आत्यन्तिकः प्रथममस्य भवतीति योज्यम्। ततः क्षीणैः क्लेशैः क्लेशेषु क्षीणेष्विति यावत्। क्लेशक्षये तत्प्रयुक्तकर्माभावाज्जन्ममृत्युप्रहाणिः जन्मादिविकारहानिः अस्य सिद्ध्यतीत्यर्थः। ततो देहभेदे वर्त्तमानदेहस्य भेदने प्रारब्धक्षयान्नाशे सतीति यावत्। उक्तपाशक्लेशहानिजन्ममृत्युप्रहाणिरूपद्वयापेक्षया तृतीयं विश्वैश्वर्यमाप्नोति, ईश्वर एव भवतीत्यर्थः। तदा च केवलो निरतिशय आप्तकामः कृतकृत्य एव तदा भवतीति श्वेताश्वतरीयोपनिपन्मन्त्रार्थः ॥ १५५ ॥

अथ स्वाराज्येऽस्मिन्नित्यत्रापि श्रुतिरस्तीत्याह—

स स्वराडिति च विद्यते श्रुति-
र्वर्णितेश्वरवपुःप्रकाशिनी ॥
तेन सत्यसुखबोधवद् भवे-
दीश्वरत्वमिति केचिदूचिरे ॥ १५६ ॥

**स स्वराडिति** ॥ "आत्मक्रीड आत्मरतिरात्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इतिश्रुतिर्वर्णितेश्वरवपुःप्रकाशिनी विद्यते इत्यर्थः। उत्थापितं परमतमुपसंहरति। तेन सत्येति ॥ १५६ ॥

अथ इदानीमेतद् दूषयितुमुपक्रमते—

तन्न भाति चतुरस्रमुच्चकै-
स्तत्प्रमाणविरहादिह श्रुतौ ॥
सत्यबोधसुखवत्तन्न तत्परा
रात्युवाच यत ईश्वर श्रुतिः ॥ १५७ ॥

**तन्न भाति चतुरस्रमिति** ॥ निषेधप्रतिज्ञायां हेतुमाह । उच्चकैस्तत्प्रमाणेति । इह आत्मनः ऐश्वर्यस्य स्वाभाविकत्वे श्रुतौ उपनिषद्ग्रन्थेषु उच्चैस्तत्परतया तत्प्रतिपादकप्रमाणविरहादिति योजना । " एष सर्वेश्वरः " इत्यादिश्रुतिदर्शनात्कथं तत्प्रमाण-विरहः ? इति चेत्, मैवम् । एवंविधश्रुतीनां स्वार्थपरत्वासम्भवा-दित्याह । सत्यबोधेति ॥ १५७ ॥

अथ सत्यबोधादिरूपत्वप्रतिपादकश्रुतिवदीश्वरत्वावेदक-श्रुतेस्तत्परत्वाभावम् उक्तं विशदयति—

तत्परश्रुतिवचःप्रमाणकं
सत्यबोधसुखविग्रहं परम् ॥
ब्रह्म तद्वदिह नेश्वरत्वभाक्
तत्परश्रुतिवचःप्रमाणकम् ॥ १५८ ॥

**तत्परश्रुतीति** ॥ सत्यबोधसुखविग्रहं परं ब्रह्म यथा तत्परश्रुतिवचःप्रमाणकं तद्वत् ईश्वरत्वभाक् ब्रह्म इह श्रुतिशास्त्रे तत्परश्रुतिवचःप्रमाणकं न भवतीति योजना ॥ १५८ ॥

अथ ननूक्ता श्रुतिरैश्वर्यविषया कथं न तत्परा ? इत्यत आह—

या फलश्रुतिरिहोपवर्णिता
सा न तत्परतयाऽवगम्यते ॥

तत्त्वमादिवचनं हि तत्परं
तत्परा न तु फलश्रुतिः क्व चित् ॥ १५९ ॥

**या फलश्रुतिरिति** ॥ कुतो नावगम्यते ? इत्यत आह। तत्त्वमादीति। स्वार्थबोधे दृष्टफलत्वात्तत्त्वमादिवचनस्य स्वार्थपरत्वमित्यर्थः । फलश्रुतिरपि स्वार्थपरा अस्तु इति चेत्, मैवमित्याह । तत्परा नत्विति । क्वचिदपि फलश्रुतिस्तत्परा न भवति, तस्याः सर्वत्रान्यतः सिद्धफलप्रकाशनेन साधकप्रवर्त्तनपरत्वादित्यर्थः ॥ १५९ ॥

अथ फलवाक्यावगतस्याप्यर्थस्य स्वरूपत्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गश्च स्यादित्याह—

सामगानमपि तत्स्वरूपतां
जक्षणं च जगतश्च सर्जनम् ॥
अश्नुवीत फलवाक्यतः श्रुतं
तत्स्वरूपमिति यद्युपेयते ॥ १६० ॥

**सामगानमपीति** ॥ "एतत्साम गायन्नास्ते" इति क्वचित्सामगानमपि फलं विदुषः श्रुतं, तथा "जक्षन् क्रीडन् रममाणः" इत्यत्र जक्षणपदवाच्यं हासभक्षणादि श्रुतं, तथा "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" इत्यादौ जगतः सर्जनं च फलमवगतम् । तथा च फलवाक्यतः श्रुतं तत्स्वरूपमिति यद्यभ्युपेयते तदा सामगानाद्यपि तत्स्वरूपतां ब्रह्मस्वरूपतामश्नुवीतेत्यर्थः ॥ १६० ॥

अथ तत्किमिदानीमर्थवादानां क्वापि स्वार्थपरत्वं नास्त्येव? हन्त तर्हि बादरायणदेवताधिकरणन्यायाविरोधः इति चेत्, सत्य-

म्। यद्यत्र देवताधिकरणन्यायो लभ्यते । नात्र सोऽस्तीत्याह—

अर्थवादगतमभ्युपेयते
न प्रमान्तरविरोधि यन्मतम् ॥
सामगानमथ जक्षणादि वा
तत्परश्रुतिविरुद्धमिष्यते ॥ १६१ ॥

अर्थवादगतमिति ॥ संवादिविसंवादिप्रमाणान्तराभावे हि देवताधिकरणन्यायावतारः इह सामगानादेस्तत्परनिर्विशेषत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधान्नात्र देवताधिकरणन्यायावतारः इत्यर्थः ॥ १६१ ॥

अथ तर्हि निर्विशेषश्रुतिविरोधात्सामगानादेर्ब्रह्मस्वरूपता मा भूत्, ईश्वरत्वं तु स्वरूपं सुखादिवद्भविष्यति, तस्य प्रमाणान्तरविरोधादर्शनादिति चेत्, न । तस्यापि श्रुत्या निषिद्ध्यमानत्वादित्याह—

ईश्वरत्वमपि तत्परश्रुति-
र्नेति नेति परिदुःखिता सती ॥
वारयत्यवशिनष्टि केवलं
चित्स्वरूपमनवद्यविग्रहम् ॥ १६२ ॥

ईश्वरत्वमपीति ॥ मूर्तामूर्तब्राह्मणे हि ब्रह्मण ऐश्वर्यम् अध्यात्ममधिदैवं चोपवर्ण्य "अथात आदेशो नेति नेति" इति तत्परा श्रुतिः परिदुःखिता सती "कथमयं जनः ईश्वरात्मतत्त्वं जानीयात्" इति मातेव पुत्रहितैषिणी दुःखं प्राप्तेव ईश्वरत्वमपि वारयति प्रतिषेधति । तत्प्रतिषेधे किमवशिष्यते ? इति तदाह । अवशिनष्टि केवलमिति । केवलं निर्विशेषचित्स्वरूपं चिन्मात्रम्

अनवद्यविग्रहं निरपेक्षस्वरूपं "सत्यस्य सत्यमिति" "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इत्यवशिनष्टि तन्मात्रमेवेश्वरतत्त्वमवधारयतीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

अव अत्र ईश्वरत्वस्य सोपाधिकत्वनिरुपाधिकत्वाभ्यां द्वैविध्यं मन्यमानो वादी निषेधस्य सोपाधिकेश्वराविषयत्वम् अवशेषस्तु निरुपाधिकेश्वरत्वस्येति प्रत्यवतिष्ठते—

सोपाधीश्वरतानिषेधनपरा सा नेति नेति श्रुतिः
साक्षात् भागवतं निरस्तनिखिलोपाधिस्वरूपं पुनः ॥
विश्वैश्वर्यमिहोच्यमानमधुना मोक्षे ततस्तत्परै-
र्वाक्यैरस्य विरुद्धताऽनवसरो मुख्यं ततो गृह्यताम् ॥ १६३ ॥

सोपाधीति ॥ "नेति नेति" इति या श्रुतिः सा सोपाधीश्वरतायाः अमुख्येश्वरत्वस्य निषेधपरा, यत्पुनरधुना इह मोक्षे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम इत्यादिवचनैरुच्यमानं विश्वैश्वर्यं साक्षाद्भागवतमित्यादिविशेषणद्वयोपेतं तत्पुनः अवशिनष्टीत्यनुषङ्गेण योजना । ततः एवं सति तत्परैर्वाक्यैर्निर्विशेषत्वप्रतिपादकैः अस्य ऐश्वर्यवचनस्य विरुद्धतायाः शङ्काऽवसरो नास्तीत्यर्थः । सिद्धमर्थमुपसंहरति । मुख्यमिति । यतः श्रुतिविरोधाभावः ततः तस्मान्मुख्यं स्वाभाविकमेवेदमैश्वर्यमिति गृह्यताम् अङ्गीक्रियतामित्यर्थः ॥ १६३ ॥

अव एवं तर्हि सामगानादिकमपि तथा विभज्य निरपेक्षस्वरूपतया मुख्यमिष्यताम् इति सिद्धान्ती प्रतिबन्दीं गृह्णाति—

सामगानमथ जक्षणं जग-
त्सर्जनं च निरुपाधि गृह्यताम् ॥

नेति नेति वचसा निषिध्यते

लक्षणादिकमुपाधिसंश्रयम् ॥ १६४ ॥

**सामगानमिति** ॥ सामगानादिकमपि द्विधा विभज्य निरुपाधीश्वरस्वरूपमिति गृह्यताम् । उपाधिसंश्रयं सोपाधिकं लक्षणादि नेत्यादिवचसा निषिध्यते इति च गृह्यतामिति योजना ॥ १६४ ॥

अथ सामगानादेर्निरुपाधिकरूपसद्भावे प्रमाणाभावान्नात्र द्वैविध्यसम्भव इति प्रतिबन्दीं पूर्ववाद्युद्धरति—

सामगानमथ लक्षणं जग-

त्सर्जनं च न खलु तत् द्विधेष्यते ॥

तत्प्रमाणविरहादिहेति चे-

दीश्वरत्वमपि न द्विधा भवेत् ॥ १६५ ॥

**सामगानमिति** ॥ स्पष्टार्थः । तर्हीश्वरत्वस्यापि द्वैविध्ये मानाभावस्तुल्यः इति सिद्धान्ती परिहारसाम्यमाह । ईश्वरत्वमपि न द्विधा भवेदिति । ईशितव्यापेक्षानियमादीश्वरत्वस्य निरपेक्षं तत्प्रामाणिकं न सम्भवतीत्यर्थः ॥ १६५ ॥

अथ तर्हि ज्ञानादिकमपि ज्ञेयादिसापेक्षं कथं स्वरूपं ब्रह्मणः स्यादिति प्रतिबन्दीग्रहम् अनवकाशयन् ज्ञानादेर्वस्तुरूपत्वमुपपादयति—

ज्ञानमस्ति खलु बाह्यगोचरं

निर्विशेषमविनाशि च द्विधा ॥

बाह्यगोचरमपोह्य केवला

स्वापमोक्षसमये चितिः स्थिता ॥ १६६ ॥

ज्ञानमस्तीति ॥ ज्ञानं द्विधाऽस्तीति संबन्धः । खलुशब्दः प्रसिद्ध्यर्थः। ज्ञानस्य द्वैविध्यं न शङ्कास्पदमित्यर्थः। द्वैविध्यमेवाह। बाह्येति। बाह्यार्थविषयं ज्ञानं विनाशिज्ञानं निर्विशेषं ज्ञानम् अविनाशि तदात्मरूपमित्यर्थः। निर्विशेषं ज्ञानं क्वास्तीति वीक्षायामाह। बाह्यगोचरमपोह्येति ॥ २६८ ॥

अथ बाह्यविषयज्ञानव्युदासेन निरुपाधिक ज्ञातस्वरूप स्वापादावस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? इति चेत्, तत्राह—

पश्यन्न पश्यति गिरा कथयाम्बभूव
साक्षादनश्वरविनश्वरचिद्विभागम् ॥
तात्पर्यतः श्रुतिवचः स्फुटमेव नैव-
मैश्वर्यवस्तुनि विभागवचः श्रुतिर्नः ॥ १६७ ॥

पश्यन्न पश्यतीति ॥ "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तत् द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" इति श्रुतिवचः साक्षादनश्वरविनश्वरचिद्विभागं पश्यन्न पश्यति गिरा तात्पर्यतः स्फुटमेव कथयाम्बभूवेति योजना। उदाहृतश्रुतिपदानामेषो ऽर्थः। यत् वै तत् इति पदानि। तत्तत्र सुषुप्त्यादौ आत्मा न पश्यतीति यद्वै प्रसिद्धं तन्न तथा मन्तव्यमितिशेषः। कुतः ? पश्यन् वै पश्यन्नेवात्मा तत् तत्र न पश्यतीति प्रसिद्धः । ननु विरुद्धमेतत् "पश्यन् वै तन्न पश्यति" इति। न विरुद्धमित्याह । न हीति । द्रष्टुरात्मनः या दृष्टिर्दर्शनं रूपाद्यवभाससमर्थ ज्ञप्तिस्वरूपं तस्याः दृष्टेर्विपरिलोपो विनाशो न हि विद्यते। कुतः ? इत्यत आह। अविनाशित्वादिति। विनाशशीलं हि विनाशीत्युच्यते, नेयं दृष्टिस्तथा, सर्ववि-

नाशादिसाक्षित्वान्नित्यस्यात्मनः। सर्वदा सर्वानात्मव्यावर्त्तकतयाऽवस्थानाच्च। अतोऽविनाशित्वादस्याः विपरिलोपो न विद्यते। स्वापे चक्षुषः उपसंहारात् चाक्षुष्याः मनोवृत्तेर्विलोपेऽपि तद्द्वारा रूपावभासिनी दृष्टिः स्वरूपतो न नश्यतीति पश्यन्नेव तदात्मेत्यर्थः। तर्हि न पश्यतीति कथमुक्तम्? तत्र हेतुमाह। न तु तद्द्वितीयमिति शेषेण। तत् तत्र सुषुप्तौ ततः आत्मस्वरूपात् विभक्तं पृथग्भूतम् अन्यद्विलक्षणं दृश्यं द्वितीयं विषयकरणादिकं नत्वस्ति यत् तदा पश्येत्, अतो दृश्याभावान्न पश्यतीत्युच्यते। स्वरूपज्ञानाविलोपात्पश्यन्निति चेति नात्र कोऽपि विरोध इति। यथैवं निरुपाधिकज्ञानसद्भावः सोपाधिकात् विविच्य श्रुत्योच्यते, नैवमैश्वर्यवस्तुनि नोऽस्माकमौपानिषदानां विभागवचनपरा श्रुतिरुपलब्धाऽस्तीत्यर्थः॥ १६७॥

अथ ज्ञानवत्सुखमपि द्विविधं प्रसिद्धमिति मन्वानः तत्र प्रमाणमाह—

एवं न वा अर इति श्रुतमेव तावत्
पुत्राद्युपाधि पुरुषस्य सुखं विनाशि॥
नित्यं निरन्तरमनन्तमपारमुक्तं
ब्राह्मं सुखं वचनकोटिशतैश्च यत्नात्॥ १६८॥

एवं न वा इति॥ "न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति" इत्यादौ पुरुषस्य पुत्राद्युपाधिकं सुखं विनाशीति तावच्छ्रुतमेव। तथा नित्यं च ब्राह्मं सुखं "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "एषोऽस्य परम आनन्दः" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" इत्यादिश्रुतिवचनकोटिशतैर्यत्नाततात्पर्येणोक्तम्। कीदृशं तत्सुखं?

निरन्तरं दुःखाद्यननुविद्धम् । अनन्तं कालतोऽन्तरहितम् । अपारं देशतोऽप्यन्तरहितामित्यर्थः ॥ १६८ ॥

अथ तदेवं ज्ञानसुखयोर्द्वैविध्यस्य साक्षाच्छ्रुतिसिद्धत्वात् तत्र सोपाधिकयोः "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" "न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति चात्मनि प्रतिषेधः, निरुपाधिकयोस्तु श्रुतितात्पर्यगोचरत्वादात्मस्वरूपतेति प्रतिबन्दीशङ्कामपोह्य "नैवमैश्वर्यवस्तुनि विभागवचःश्रुतिर्नः" इत्यत्रोक्तं विवृणोति—

ऐश्वर्यवर्णनमिह द्विविधं न वेदे
नित्यं क्व चित् क्व चिदनित्यमिति प्रतीमः ॥
ऐश्वर्यमात्रकथनं पुनरस्ति मोक्षा-
दर्वाक्षु मोक्षसमये च न तत्परं तत् ॥ १६९ ॥

ऐश्वर्यवर्णनमिति । ऐश्वर्यमात्रकथनमिति । "एष सर्वेश्वरः सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" इत्यादौ नित्यत्वानित्यत्वविशेषानवमर्शनेन ऐश्वर्यमात्रकथनं पुनर्वेदेऽस्तीत्यर्थः। तच्च श्रूयमाणमैश्वर्यं मोक्षादर्वाक् व्यावहारिकमेव, तन्न पारमार्थिकमित्यर्थः । यच्च विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम इति मोक्षसमये च श्रवणं तन्न तत्परं किन्तु स्तुतिपरमेव, ईशितव्याभावात्तत्रेत्यर्थः॥१७९॥

अथ उक्तमेवार्थमुपपादयति—

प्रियशिरस्त्वकथा खलु यादृशी
भवति तादृशमेव तदीरणम् ॥
तदनु नेति च नेतिवचः श्रुति-
र्यदपि मोक्षगतं स्तुतये हि तत् ॥ १७० ॥

प्रियशिरस्त्वेति ॥ आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वमिति मते "तस्य

प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः" इत्यादौ ब्रह्मणः प्रियमोदाद्यवयववत्त्वकथा कथनं यादृशी औपाधिकविषयत्वात् न खलु स्वरूपपरा भवतीत्यर्थः। तदीरणम् ऐश्वर्यकथनमपि तादृगमेव औपाधिकाविषय व्यावहारिकमेव आरोपितरूपत्वादित्यर्थः।कथमिदमवगम्यते ? इति तत्राह। तदन्विति। ऐश्वर्यकथनानन्तरं "स एष नेति नेत्यात्मा" इति निषेधवचनश्रवणात् निषिध्यमानस्य चापरमार्थत्वादित्यर्थः। ऐश्वर्यद्वैविध्ये प्रमाणाभावे सति निषेधश्यौपाधिकैश्वर्यपरत्वकल्पनाऽनवकाश इति भावः। मोक्षसमये च न तत्परं तदित्युक्तं विवृण्वंस्तस्य विषयमाह। यदपि मोक्षगतं स्तुतये हि तदिति। हिशब्दः फलश्रुतेः सर्वत्र स्तुतिपरत्वप्रासिद्धिद्योतनार्थः। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह" इत्यादिवाद्विश्वैश्वर्यं केवल इत्याद्यपि विद्यास्तुतिपरमेवेत्यर्थः॥ १७०॥

अथ तदेवमीश्वरत्वं न निरुपाधिकमस्ति, अतो न तद्ब्रह्मस्वरूपमिति प्रतिपादितम्। इदानीमीश्वरश्रुतेः निरुपाधिके ब्रह्मण्यविरुद्धमर्थं केचिदाचार्याः वदन्तीत्याह—

> स्वातन्त्र्यमीश्वरगिरा गुणमार्गवृत्ति-
> माश्रित्य पूर्वगुरवः प्रतिपादयन्ति॥
> सिंहस्य शौर्यगुणवत् परमेश्वरस्य
> स्वातन्त्र्यलक्षणगुणोऽव्यभिचाररूपः॥ १७१॥

स्वातन्त्र्यमिति॥ पूर्वे ये वृद्धास्ते च ते गुरवश्चेति पूर्वगुरवः ते गुणमार्गवृत्तिमाश्रित्य शब्दस्य गौणीं वृत्तिमङ्गीकृत्य ईश्वरगिरा स्वातन्त्र्यं प्रतिपादयन्ति। एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति। सिंहस्येति। यथा सिंहस्य शौर्याख्यो धर्मः सिंहाव्यभिचारी तथा परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यलक्षणगुणो ऽव्यभिचाररूपः,

स्वातन्त्र्यम् ईश्वरं न व्यभिचरतीत्यक्षरार्थः । एतदुक्तं भवति । यथा सिंहो देवदत्त इति सिंहगतशौर्यगुणयोगिनि मनुष्ये सिंहशब्दः प्रयुज्यते सिंहाव्यभिचारिशौर्यगुणयोगात्, एवं सिंहशौर्यवदीश्वरस्य स्वातन्त्र्यमव्यभिचारीति निरुपाधिके ब्रह्मण्यपीश्वरपदं स्वातन्त्र्यलक्षणार्थं प्रयुज्यते । यथा सिंह इत्युक्ते शौर्यं लक्ष्यते तथेश्वर इत्युक्ते स्वातन्त्र्यं लक्ष्यते, तच्च सिंहे शौर्यवद्ब्रह्मणि अव्यभिचारीति तद्वारकस्तत्रेश्वरपदप्रयोगः इति ॥ १७१ ॥

अथ ननु निरुपाधिकब्रह्मस्वरूपपरतया ईश्वरपदश्रवणमेव नास्तीत्युक्तं, तत्कथमीश्वरपदेन स्वातन्त्र्यलक्षणाऽपीति चेत्, व्यावहारिकेश्वरत्वाभिधायिसर्वेश्वरश्रुतेर्निर्गुणे ऽप्युदाहृतत्वादित्याह—

> ऐश्वर्यवस्तु परिगृह्य तदत्यजन्तः
>
> सामर्थ्यसिद्धिमुपपादयितुं क्वचिच्च ॥
>
> सर्वेश्वरश्रुतिवचः समुदाहरन्ति
>
> स्वातन्त्र्यलक्षणगुणस्य तमस्वितायाम् ॥ १७२ ॥

ऐश्वर्यवस्त्विति ॥ क्वचिद्ग्रन्थे ऐश्वर्यवस्तु परिगृह्य ऐश्वर्याभिधायकत्वेन सर्वेश्वरश्रुतिवचः समुदाहरन्ति भाष्यकारप्रभृतयः । "कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः" इत्यत्र "अपरप्रयोज्यत्वेनेश्वरमब्रवीत्" इति भाष्यदर्शनात् । एवमन्यत्राप्येतादृशं वचनमन्वेषणीयम् । तमस्वितायां तमस्व्यवस्थायां तदैश्वर्यमत्यजन्तः सन्तः निरुपाधिके ब्रह्मरूपे स्वातन्त्र्यलक्षणगुणस्य सामर्थ्यसिद्धिम् उपपादयितुमेवोदाहरन्ति । अतो युक्तमेवोच्यते पूर्वगुरुभिरित्यर्थः ॥ १७२ ॥

अथ कथं तमस्व्यवस्थावर्त्यैश्वर्याभिधानेन निरुपाधिरूपे

स्वातन्त्र्यगुणस्य सामर्थ्यसिद्धिरिति चेत्, अन्यथाऽनुपपत्त्यैवेत्याह—

सिंहश्रुतिर्न घटते यदि शूरताऽस्य
न स्यात्तथैव परमेश्वरताश्रुतिश्च ॥
नैश्वर्यलक्षणगुणः परमात्मनश्चे-
दित्यर्थलब्धिमभिसंदधते महान्तः ॥ १७३ ॥

सिंहश्रुतिरिति॥यदि अस्य देवदत्तस्य सिंहस्य च शूरता न स्यात् तर्हि सिंहश्रुतिर्न घटते सिंहाव्यभिचारिशौर्यनिबन्धनत्वात्सिंहशब्दस्य। यथाऽयं दृष्टान्तस्तथैव परमात्मनः ऐश्वर्यलक्षणगुणः ऐश्वर्यं लक्षणं ज्ञापकं यस्येति व्युत्पत्तेः स्वातन्त्र्यरूपो धर्मश्चेन्न स्यात् तदा तस्मिन्परमेश्वरताश्रुतिः परमेश्वरशब्दो न स्यात् इति एवम् अर्थलब्धि सामर्थ्यप्राप्तिं महान्तः आचार्याः अभिदधते तत्र तत्र कथयन्तीत्यर्थः। ब्रह्मणि व्यवहारसंबन्धापेक्षयाऽपि प्रयुज्यमाना सर्वेश्वरश्रुतिः स्वाभाविक स्वातन्त्र्यं विना नोपपद्यते, अतः सर्वेश्वरश्रुतिबलादेव अर्थात्स्वातन्त्र्यसिद्धिरित्यभिसंधानेन सर्वेश्वरश्रुतिं निर्गुणेऽप्युदाहरन्तीत्युक्तं भवति ॥ १७३ ॥

अथ तथापि श्रुतार्थबललभ्यत्वादश्रौतं स्वातन्त्र्यं स्यादिति चेत्, नायमपि दोषः इत्याह—

श्रौतार्थवृत्तिबललभ्यमपीह वस्तु
श्रौतं वदन्ति निकटत्वमनुस्मरन्तः ॥
आसन्नवृष्टिमपि देवमुदीरयन्ति
वर्षन्तमेव हि जना भुवि तादृगेतत् ॥ १७४ ॥

श्रौतार्थेति ॥ श्रौतार्थे वृत्तिः श्रौतार्थबोधनं तद्बललभ्यं तत्सामर्थ्यात्प्राप्यमपि वस्तु श्रौतमिति इह प्रमाणवृत्तिनि-

रूपणे वदन्ति पण्डिताः इति योजना । तथा कथने निमित्तं सूचयन् वक्तृन्विशिनष्टि । निकटत्वमनुस्मरन्त इति । श्रुतिसामर्थ्यसिद्धस्यापि श्रौतार्थनिकटत्वं जानन्त इत्यर्थः । यथा यागादेः स्वर्गसाधनत्वात्साक्षाच्छ्रौताल्लभ्यस्यापूर्वस्य श्रौतत्वम् अङ्गीकृत्य तत्प्राधान्येनेतिकर्त्तव्यत्वान्वयमाचक्षते केचित्, तथाऽत्रापि स्वातन्त्र्यस्यार्थिकत्वेऽपि न श्रौताद्विशेषः इवि भावः । श्रौतासत्तिमात्रेण श्रौतत्वव्यवहारे दृष्टान्तमाह । आसन्नवृष्टिमपीति । आसन्नवृष्टिमपि वर्षन्तं देवमुदीरयन्तीत्यन्वयः । तांदृगेतादिति । श्रौतार्थसामीप्याच्छ्रौतत्वव्यवहारः स्वातन्त्र्यस्येत्यर्थः ॥ १७४ ॥

अव तदेवं स्वातन्त्र्याविवक्षायां निर्विशेषेऽपि ब्रह्मणि सर्वेश्वरश्रुतिर्न विरुद्ध्यते । ऐश्वर्यं तु तत्परश्रुत्यभावादर्थविरोधाच्च न ब्रह्मरूपमिति निरूपितं, तत्रैश्वर्यस्यास्वरूपत्ववर्णनं सूत्रकृद्वचनविरुद्धमित्याशङ्क्याह—

ऐश्वर्यमज्ञानतिरोहितं सद्
ध्यानादभिव्यज्यत इत्यवोचत् ॥
शरीरिणः सूत्रकृदस्य यत्तु
तदभ्युपेत्योदितमुक्तहेतोः ॥ १७५ ॥

ऐश्वर्यमज्ञानेति।।यत्तु सूत्रकृत् अस्य शरीरिणो जीवस्यैश्वर्यं ब्राह्मैश्वर्यम् अज्ञानतिरोहितं सत् ध्यानादीश्वरस्वरूपाभिध्यानात् मोक्षदशायामभिव्यज्यते इति "पराभिध्यानात्तु तत्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" इति सूत्रेणावोचत् तदभ्युपेत्य, अभ्युपगमवादेन तेनोदितमिति मन्तव्यम् । कुतः ? उक्तहेतोरैश्वर्ये प्रमाणाभावस्योक्तत्वादित्यक्षरयोजना । अत एव विश्वैश्वर्यं केवल इत्याद्या तत्रार्थवादश्रुतिरुदाहृता सा न तत्परेत्यभिप्रायः ॥ १७५ ॥

अथ ननु सूत्रकारोक्तं तथैवेत्यभ्युपगन्तुं युक्तमिति चेत्, सत्यम्, प्रमाणवत्त्वे तथैव। न हि सूत्राणाम् आगमतया प्रामाण्यं किन्तु युक्तिसमर्पकतया, न चात्रार्थवादवाक्यव्यतिरेकेण प्रमाणं किञ्चिदुपन्यस्तमस्ति, अतोऽयमभ्युपगमवाद एवेति निश्चीयते इत्याह—

अथ वा चितिवत् प्रतीयतां
पुरुषस्येश्वरताऽपि वास्तवी ॥
यदि किं चन कारण भवे-
न्न विना सा तदिहाभ्युपेयते ॥ १७६ ॥

अथ वेति ॥ अथशब्दस्तदेत्यर्थे । वाशब्दोऽवधारणे। अथ तदा पुरुषस्य जीवस्येश्वरताऽपि चितिवद्वास्तवी प्रतीयतां प्रतीयेत वा अङ्गीक्रियेतैवेति योजना । यदि किञ्चन कारणं प्रमाणं भवेत्तदेति सम्बन्धः । तत्प्रमाणं विना इह पुरुषे सा वास्तवी ईश्वरता नाभ्युपेयतेऽतिप्रसङ्गादित्यर्थः ॥ १७६ ॥

अथ सूत्रकृदुक्तेरभ्युपगमवादत्वनिश्चये स्पष्टं हेतुमाह—

कामादि तत्र च भवेदितरत्र चेति
यत् सूत्रकारवचनं तदुदीक्षमाणाः ॥
कामादिकेन दहरस्थगुणेन तुल्यं
सर्वेश्वरादिगुणजातमिति प्रतीमः ॥ १७७ ॥

कामादीति ॥ "कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः" इति सूत्रेण दहरविद्यागतानां सत्यकामत्वादिगुणानां बृहदारण्यकगतनिर्गुणविद्यावर्त्तिनां सर्ववशित्वसर्वेश्वरत्वादिगुणानां च परस्परत्रोपसंहारः सूत्रकारेणोक्तस्तदेतदाह। कामादि सत्यका-

मत्वादि तत्र च निर्गुणविद्यायामपि भवेत्, इतरत्र च सगुण-विद्यायामपि निर्गुणविद्यागतं सर्वेश्वरत्वादि भवेदिति योज्यम् । इत्येवं यत्सूत्रकारवचनं तदुदीक्षमाणाः पश्यन्तः । कामादिकेनेति सुगमम् । तत्र दहरविद्याप्रकरणादुपसंहृतानां सत्यकामत्वादीनां निर्गुणविद्यायां यः उपकारः स्तुतिलक्षणः स एव वशित्वेश्वरत्वादीनामपि तत्र श्रूयमाणानां, तुल्यार्थत्वप्रयुक्तत्वादुपसंहारस्य । अत ऐश्वर्यं न चितिवत्स्वरूपत्वेनाभिमतं सूत्रकारस्येति प्रतीमो वयमित्यर्थः ॥ १७७ ॥

अथ दहरस्थगुणोपसंहारस्य निर्गुणविद्यायां न स्तुति-व्यतिरिक्तः उपकारोऽस्तीत्याह—

दहरस्थगुणोपसंहृतेः
स्तुतिमात्रं विरहय्य नापरम् ॥
फलमस्ति परात्मनिष्ठिते
वचने वाजिभिरादृते महत् ॥ १७८ ॥

दहरस्थेति ॥ परात्मनिष्ठिते वचने वाजिभिरादृते दहरस्थगुणोपसंहृतेः स्तुतिमात्रं विरहय्य अपरं महत्फल नास्तीत्यन्वयः । यद्यपि सत्यकामत्वादिभिरपि स्वातन्त्र्यमुपलक्षयितुं शक्यते, तथापि न तदर्थमेते उपसंहर्तव्याः श्रुतैर्वशित्वादिभिरपि तत्सिद्धेरित्यभिप्रेत्य महदिति फलं विशेषितम् ॥ १७८ ॥

अथ सत्यकामत्वादीनां तत्र स्तुतिमात्रफलत्वे ऽपि वशित्वादीनामन्यदेव फलमस्तु को विरोधः ? इति चेत्, नेत्याह—

दहरादुपसंहृतैर्गुणैः
सदृशाश्चेद वशितादिलक्षणाः ॥

न तदा परमात्मरूपतां
प्रतिपत्तुं कलयाऽपि शक्नुयुः ॥ १७९ ॥

**दहरादिति** ॥ सदृशाः सदृशोपकारकाः । सुगमाऽक्षरयोजना । परस्परसादृश्यात् हि उपसंहारः, सादृश्यं चात्रोपकारसाम्यमेव, अन्यथा सादृश्यमेव न लभ्येत इत्युपसंहार एव न सिध्येदित्यर्थः ॥ १७९ ॥

अव तथा च परमेश्वरत्वगुणो ऽपि वशित्वसत्यकामादिगुणतुल्यत्वात्स्तुत्यर्थ एवेत्याह—

परमेश्वरतागुणोऽप्यतः
स्तुतये तस्य परस्य वस्तुनः ॥
परिकीर्तित इत्युपेयता-
मविशेषात् वशितादिलक्षणैः ॥ १८० ॥

**परमेश्वरतेति** ॥ १८० ॥

अव अपि च ईश्वरत्वं चेद्ब्रह्मणः स्वरूपं स्यात् कारणत्वमपि स्वरूपं कुतो न स्यात् तस्याप्यनेन तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याह—

कारणत्वमपि चित्सुखादिव-
त्तत्स्वरूपमिति किं न गृह्यते ॥
ईश्वरत्वविषये विनिश्चितां
पक्षपातकरणे न कारणम् ॥ १८१ ॥

**कारणत्वमपीति** ॥ न कारणं न प्रमाणविशेषो लभ्यते इत्यर्थः ॥ १८१ ॥

अव. साक्षित्वेऽप्येतत्तुल्यमित्याह—

साक्षिताऽपि परमात्मनो भवे-

दीश्वरत्ववदियं न संशयः ॥

नित्यसिद्धनिजबोधरूपव-

द्रूपमेव निरुपाधिकं विभोः ॥ १८२ ॥

**साक्षिताऽपीति ॥** ईश्वरत्ववदौपाधिकी सापेक्षा साक्षिताऽपि भवेदित्यर्थः। नित्यसिद्धमनपेक्षं यत् निजं स्वं बोधरूपं चैतन्यं तद्वत् निरुपाधिकमेव विभोः रूपं न सापेक्षं साक्षित्वेश्वरत्वादीत्यर्थः । यद्यपि चैतन्यं न स्वरूपाद्भिन्नं तथापि राहोः शिरः इतिवद्भेदोपचाराद्वतिप्रयोगः । यद्वा रूपमेव रूपवदिति पादपूरणार्थो वच्छब्दः । तथा च निरुपाधिकं यन्नित्यसिद्धनिजबोधस्वरूपं तदेव विभोः परमात्मनो रूपमित्यर्थः ॥ १८२ ॥

अथ ऐश्वर्यवत्साक्षित्वादिकं ब्रह्मधर्मतया न श्रुतमित्यपि न वाच्यम् । मन्त्रोपनिषदि तत्प्रतीतेरित्यभिप्रेत्य श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रान् पठति--

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ॥ १८३ ॥

एको देव इत्यादिना ॥ एकः सर्वभूतान्तरात्मेति सम्बन्धः । भूतानि चराचरसंस्थानलक्षणानि। तर्हि किमाकाशः ? नेत्याह । देवः । प्रकाशस्वभावः । किं सूर्यादिः ? न । सर्वभूतेषु गूढः । प्रकाशमानचित्स्वभावो ऽपि शब्दाद्याकाराभी रागादिगर्भाभिर्बुद्धिवृत्तिभिः सङ्करात्सर्वभूतेषु वर्त्तमानोऽपि यथाव-

न भासते इति गूढः इत्यर्थः । तर्हि किमङ्कुरादिवत्परिच्छिन्नो मूर्तो वा? नेत्याह। सर्वव्यापी। देहाद्बहिरपि व्यापनशीलः, ब्रह्माण्डकोटिभिरप्यपरिच्छिन्न इत्यर्थः । तस्य नैयायिकेश्वरवत्ताटस्थ्यं वारयति । सर्वभूतान्तरात्मेति । तर्हि किं कर्तृत्वादिस्वभावकः संसार्यात्मक एव ? न । कर्माध्यक्षः । कर्मसु बुद्ध्यादिव्यापारेष्वध्यक्षो राजादिवदधिष्ठातृतया, न स्वयं क्रियावत्तयेत्यर्थः । ननु कथमसङ्गस्याध्यक्ष्यसम्बधाभावे ऽध्यक्षतेति ? तत्राह। सर्वभूताधिवास इति। सर्वाणि भूतान्यधिवसन्त्यस्मिन्निति सर्वभूताधिवासः सर्वाश्रयः । यद्वा सर्वेषु भूतेष्वधि उपरि नियन्तृतया वसतीति सर्वभूताधिवासः । तर्हि किं राजादिवत्स्वस्वाम्यभिमानो ऽस्य विद्यते ? न। साक्षी। उदासीनः । ननु साक्षादीक्षणात्साक्षी स्यात् स कथमुदासीनः ? इत्यत आह । चेता। चैतन्यरूपो न तत्कर्ता। स्वरूपचैतन्येन सद्भातस्य चिदाभासताऽऽपादनं चेतयितृत्वम्। तर्ह्यालोक इव प्रकाशगुणव्याप्त्या, नेत्याह । निर्गुण इति । तर्हि स्वरूपमेव चेत्यमस्यारोहेत्, नेत्याह । केवल इति । कैवल्यं वस्तुनो ऽद्वितीयत्वमसङ्गत्वं च । तथा चाविद्याध्यस्तचेत्यव्याप्त्या साक्षित्वादि न परमार्थत इत्यर्थः ॥ १८३ ॥

अथ साक्षित्वे मन्त्रमुदाहृत्य कारणत्वेश्वरयोरपि मन्त्रद्वयमुदाहरति

> न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
>
> न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ॥
>
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
>
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ १८४ ॥

न तस्य कार्यमिति ॥ स्थूलं सूक्ष्मं च शरीरमस्य न विद्यते इत्यर्थः। "तमीश्वराणां परम महेश्वरम्" इति यन्निरतिशयमीश्वरत्वं पूर्वमन्त्रे प्रतिज्ञातं तस्यास्मिन्मन्त्रे कार्यकरणवत्त्वनिराकरणेन तदधीनज्ञानादिमद्भ्यो जीवेभ्यो व्यावर्त्तनात्सापेक्षात् जीवैश्वर्याद्विलक्षणं स्वातन्त्र्यमैश्वर्यमस्येति दर्शितं, तथापि न निरतिशयमैश्वर्यमस्य सिध्यति, खण्डमण्डलपतीनामिव स्वसमानैश्वर्यवतामाधिकैश्वर्यवतां वा ऽन्येषामीश्वराणां सम्भवादिति चेत्, नेत्याह। न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते इति। लोके वेदे वा नावगम्यते इत्यर्थः। ज्ञाने कर्मणि वा समर्थस्तत्सम एव नास्ति कुतस्ततो ऽभ्यधिकसम्भावना, एतदन्यस्य सर्वस्य चेतनस्य सद्वातपरतन्त्रज्ञानादिमत्त्वादस्मान्न्यूनत्वात् अन्यस्य च अचेतनत्वात् सिद्धमस्य निरतिशयं निरङ्कुशं चैश्वर्यमिति भावः। ननु कार्यकरणाभावे कथमस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसामर्थ्यात्सर्वजगत्कारणत्वेन सर्वेश्वरत्वसिद्धिः? इति तत्राह। पराऽस्येति। अस्येश्वरस्य उक्तेश्वरत्वनिर्वाहिका परोत्कृष्टा सर्वस्मात्कार्यजाताद्वा पराऽनादिभूता शक्तिर्मायाख्या विविधा विचित्रानेकविधकार्याकारपरिणामसामर्थ्यभेदोपेता च श्रूयते श्रुतिवाक्येभ्यो ऽवगम्यते "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादि। विविधैवेत्यवधारणेन विकारसमर्थैव सा नासमर्थेति दर्शयति। किं मल्लादीनामिव बलं श्रमादिसाधनसंपादितेयमीशस्य? नेत्याह। स्वाभाविकीति। सिंहादीनां शौर्यवत्स्वभावसिद्धा। तथाऽप्यस्याः जडत्वात्कथं प्रवृत्त्यादिमत्त्वं तदभावे च तद्योगमात्रात्कथमीश्वरस्य सर्वकर्तृत्वमिति तत्राह। ज्ञानबलक्रिया चेति। ईश्वरस्य स्वरूपभूतं यज्ज्ञानं तस्य बलं स्वातन्त्र्याख्यं तेन ज्ञानबलेन क्रिया प्रवृत्त्यादिलक्षणा यस्याः सा तथा। चकारः उक्तविशेषणसमुच्चयार्थः। तथा च स्वस्वरूप-

स्वतन्त्रज्ञानपरतन्त्रस्वाभाविकस्वशक्तिमायाविवर्त्तनवशात्सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्वं चोपपद्यते इति सिद्धं सर्वकारणतया ऽस्य सर्वेश्वरत्वमिति ॥ १८४ ॥

अव उक्तस्यैवैश्वर्यस्य स्फुटीकरणार्थः उत्तरो मन्त्रस्तमुदाहरति—

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके

न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ॥

स कारणं करणाधिपाधिपो

न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ १८५ ॥

न तस्य कश्चिदिति ॥ पतिः स्वामी, ईशिता नियन्ता चास्य लोके त्रैलोक्ये ऽपि कश्चित्को ऽपि नास्ति, इत्यनेनास्य परमं स्वातन्त्र्यमुक्तम् । तस्य लिङ्गं च लोके नैवेति संबन्धः। लिङ्ग्यते ऽनेनेति लिङ्गं कार्यकरणसङ्घातः तदस्य नास्ति अतो न जीववदनीश्वरो ऽयं सापेक्षेश्वरो वा किन्तु सर्वेश्वर इत्युक्तं भवति। अस्योपरि न कोऽपीत्युक्तम्, अयं तु सर्वोपरीति वदन्ती श्रुतिः अस्य सर्वेश्वरत्वं निरङ्कुशमाविष्करोति । स कारणमिति । स पूर्वोक्त ईश्वरः सर्वस्य कारणम् उत्पत्तिस्थितिलयाधिष्ठानं, करणाधिपानां सर्वजीवानामप्यधिपो ऽधिष्ठाय पालयिता नियन्तेति यावत् । पुत्रस्य पितुरपि यथाऽन्यः पिता ऽस्ति नैवमस्यान्यः कारणभूतो ऽस्तीत्याह । न चास्य कश्चिज्जनितेति। जनयितेत्येतत् । अयमेव सर्वस्य मूलकारणं नान्यत्तदस्तीत्यर्थः । राजामात्यस्य स्वविधेयान्मत्याधिपत्वेऽपि यथाऽन्यो राजा स्वाधिपो ऽस्ति न तथाऽस्य कोऽप्यस्तीत्याह। न चाधिप इति ।अयमेव सर्वेश्वरो नान्य इत्यर्थः ॥ १८५ ॥

अव. यदर्थमेते मन्त्राः उदाहृतास्तमर्थमाविष्करोति—

इति श्रुतिः कारणसाक्षिभाव-

मैश्वर्यवद् वक्ति परस्य पुंसः ॥

अतत्परत्वान्न तदिष्यते चेद्

द्वयं तृतीयं न तथेषितव्यम् ॥ १८६ ॥

**इति श्रुतिरिति** ॥ श्रुतिः पूर्वोदाहृता इतीत्थं परस्य पुंसः ऐश्वर्यवत्कारणसाक्षिभावं कारणत्वं साक्षित्वं च वक्ति कथयतीत्यर्थः । अतः कारणत्वसाक्षित्वयोरपि ब्रह्मस्वरूपताऽङ्गीकार्या ऐश्वर्यवच्छ्रौतत्वाविशेषादिति ध्वनितोऽर्थः । कारणत्वादिवाक्यस्यातत्परत्वान्न स्वरूपबोधकतेति शङ्कते । अतत्परत्वादिति । तत् द्वयं नेष्यते चेदित्यन्वयः।दूषयति । तृतीयं न तथेषितव्यमिति । साक्षित्वकारणत्वापेक्षया तृतीयमैश्वर्यमपि तथा स्वरूपमिति नैषितव्यं नाङ्गीकार्यं विशेषहेतोस्तत्राभावादित्यर्थः ॥ १८६ ॥

अथ तत्परश्रुत्यभावस्य त्रिष्वपि तुल्यत्वादित्युक्तमेव विशेषहेत्वभावं साधयति—

अतत्परत्वं श्रवणस्य तुल्यं

त्रिषु त्रयं तेन विवर्जनीयम् ॥

अथेष्टमेकं त्रयमेषितव्यं

विशेषहेतोरनिरूपणेन ॥ १८७ ॥

**अतत्परत्वमिति** ॥ त्रिषु कारणत्वसाक्षित्वेश्वरत्वेषु श्रवणस्य श्रुतेरतत्परत्वं तुल्यं समानं यतस्तेन हेतुना त्रयं विवर्जनीयं, स्वरूपमिति नाभ्युपेयमित्यर्थः । एवमपीश्वरत्वं स्वरूपमिति चेदाग्रहः तदा साक्षित्वकारणत्वयोरपि स्वरूपत्वमिष्यता-

मित्याह । अथेष्टमेकं त्रयमेषितव्यमिति । तत्र हेतुमाह । विशेष हेतोरनिरूपणेनेति । न ह्यत्रैकस्याङ्गीकार्यत्वे द्वयापेक्षया विशेषहेतुर्निरूपणपथमवतरतीत्यर्थः ॥ १८७ ॥

अव ननु तर्हि त्रयमपि स्वरूपमिष्यते श्रुतिनिर्देशस्य तुल्यत्वादिति चेत्, मैवम् । सापेक्षत्वेन तदसम्भवादित्यभिप्रेत्य ईश्वरत्वस्य तावत्सापेक्षतामाह—

ईशितव्यमनपेक्ष्य नेश्वरो
नेशितव्यमपि तद्वदीश्वरम् ॥
अन्तरेण घटते ततो मृषा
मोहमात्रपरिकल्पितं द्वयम् ॥ १८८ ॥

ईशितव्यमिति ॥ नेश्वरो घटते इति सम्बन्धः । तद्वत् ईश्वरत्ववत् ईशितव्यमपि ईश्वरत्वमन्तरेण न घटते इति योजना । किं तदित्यत आह । ततो मोहमात्रेति । द्वयम् ईश्वरत्वमीशितव्यं च परस्परसापेक्षयोरेकस्यापि स्वरूपानिष्पत्तेर्मोहमात्रकल्पितं मृषैव द्वयमित्यर्थः ॥ १८८ ॥

अव कारणत्वस्याप्याह—

कार्यवस्तु विरहय्य कारणं
न क्वचिद् घटयितुं क्षमेमहि ॥
नापि कारणमपोह्य केवलं
कार्यवस्तु परिकल्पयेमहि ॥ १८९ ॥

कार्यवस्त्विति ॥ समाना योजना ॥ १८९ ॥

अव साक्षिता ऽपि तथैवेत्याह—

साक्ष्यवस्तु परिहृत्य साक्षिता
साक्षिणं च परिहृत्य साक्ष्यता ॥
नेष्यते न घटते च तेन तत्
सव्यपेक्षमुभयं परस्परम् ॥ १९० ॥

साक्ष्यवस्त्विति ॥ साक्षिता नेष्यते साक्ष्यता च न घटते इति यथाक्रमं क्रियाद्वयस्य योजना । तेनोक्तेन हेतुद्वयेन तदुभयं साक्षित्वं साक्ष्यत्वं च परस्परं सव्यपेक्षम्, अतो मोहमात्रपरिकल्पितं मृषेत्यर्थः ॥ १९० ॥

अव समानन्यायतया प्रमातृत्वादिकमपि नात्मस्वभाव इति सिद्धमित्याह—

न प्रमेयमपहाय मातृता
नापि मातृविरहे प्रमेयता ॥
मातृमेयरहिता न च प्रमा
न प्रमाणरहितं प्रमाफलम् ॥ १९१ ॥

न प्रमेयमिति ॥ पुंगतं प्रमातृत्वं विषयाकाङ्क्षं, विषयगतप्रमेयत्वं च प्रमात्राकाङ्क्षम्, उभयाकाङ्क्षा च प्रमा प्रमाण, तद्धि प्रमातारमाश्रित्य प्रमेयं व्याप्नोति अतः उभयाकाङ्क्षं प्रमाणम् । प्रमाणाकाङ्क्षं चोभयमित्यर्थात्सिद्ध्यति । न प्रमाणप्रमेयाभ्यां विना प्रमाता भवति, तदभावे सुषुप्तौ तदभावात् । तथा प्रमातृप्रमाणाभ्यामृते प्रमेयं न भवति, प्रमितत्वव्यवहारस्य वस्तुनि प्रमात्राश्रितप्रमाणव्याप्त्यधीनत्वात् । तथा च प्रमाफलं प्रमितिरपि न प्रमाणरहितं सिद्ध्यति, चैतन्यगतप्रमितित्वस्य प्रमाणाधीनत्वादित्यर्थः । ईश्वरत्वादिकमेकैकसापेक्षं, प्रमातृ-

त्वादिकं तु प्रमेयादित्रितयसापेक्षमिति भेदः। प्रमातृप्रमाणप्रमेयप्रमितीनामेकैकस्य स्वेतरापेक्षसिद्धित्वादित्युक्तं भवति ॥१९१॥

अव. कर्तृत्वमपि प्रमातृत्ववत्सापेक्षमित्याह—

कर्तृ कर्म परिहृत्य नेष्यते
कर्म कर्तृरहितं न च क्वचित् ॥
कर्तृकर्मरहिता न च क्रिया
न क्रियाविरहितं क्रियाफलम् ॥ १९२ ॥

कर्तृ कर्मेति ॥ योजना तु पूर्ववत् ॥ १९२ ॥

अथ प्रमातृत्वादेरात्मस्वरूपत्वपक्षे सामान्यविशेषादेरपि तत्स्वरूपत्वमङ्गीकर्तव्यं स्यात्, सर्वस्यापि ब्रह्मात्मास्पदत्वात्। तच्चायुक्तं, सापेक्षत्वादित्याह—

सामान्यं न विशेषवस्तुविरहे तस्माद् विना तन्न च
स्वातन्त्र्येण घटामुपाश्नुते ततः सापेक्षमेतद् द्वयम् ॥
यत् सापेक्षमिहेक्षितं भवति तन्मायामयं स्वप्नवत्
तस्मादीश्वरतादिकल्पितवपुः स्वीकुर्महे न्यायतः ॥१९३॥

सामान्यं नेति ॥ विशेषरूपवस्तुविरहे सामान्यं स्वातन्त्र्येण न घटामुपाश्नुते घटनां प्राप्नोति तथा तस्मात्सामान्याद्विना तद्विशेषवस्तु च न च घटामुपाश्नुतीति योजना। ततोऽन्योन्याधीननिरूपणं तदेतत्सामान्यविशेषात्मकं द्वयं सापेक्षं सिद्धमित्यर्थः। कारणत्वसाक्षित्वेश्वरत्वप्रमातृत्वादेः सर्वस्य मिथ्यात्वसाधकं हेतुं सापेक्षत्वलक्षणं पक्षेषूपपाद्य व्याप्तिमप्यस्य कथयति। यत्सापेक्षमिहेति। विमतं मायामयं सापेक्षत्वाद्यथा

स्वप्नस्तथा चायं सापेक्षमित्यवयवचतुष्टयमुक्त्वा निगमयति । तस्मादीश्वरतादीति । न्यायतः उक्तन्यायकदम्बात् ईश्वरतादि मायाकल्पितवपुर्न परमार्थमिति स्वीकुर्महे इति योजना ॥१९३॥

अथ तदेवं कार्यकारणेशितव्येश्वरत्वादेरत्यन्तभेदवादे सापेक्षत्वेन मिथ्यात्वे प्रसाधिते सति यदि भेदाभेदवादी ब्रूयात् "द्विरूपं हि ब्रह्मात्मतत्त्वमिष्यते निर्भेदं सभेदं च इति, तत्र निर्भेदे सापेक्षरूपं किमपि मा भूत्, सभेदे तु सर्वमेवास्तु परमार्थं तस्यानेकात्मकत्वेन सापेक्षरूपत्वाविरोधात्" इति। स प्रष्टव्यः निर्भेदस्य सभेदत्वं किं स्वभावसिद्धं किं वोपाधिभेदकृतमिति । तत्र नाद्यः, विरुद्धस्वभावस्यैकस्यासम्भवादित्याह—

अभिन्नता भिन्नतया विरुद्धा

विभिन्नताऽभिन्नतया तथैव ॥

उपाधिभेदे परिकल्पितेऽपि

विना पुनस्तं किमुदीरणीयम् ॥ १९४ ॥

अभिन्नतेति॥न हि विदीर्णस्वरूपो घटस्तदैवाविदीर्णोऽपि भवति अविदीर्णस्वरूपो वा विदीर्णः, प्रामाणिकव्यवहारगोचर इत्यर्थः । द्वितीयमुत्थाप्य निराकरोति । उपाधिभेदे इति । तं विरोधं विना तत्रापि किमुदीरणीयं, तत्रापि परमार्थतो विरोधपरिहारोऽशक्य इत्यर्थः ॥ १९४ ॥

अथ नन्वौपाधिके भेदे नास्ति विरोधः, आकाशादावुपाधिभिन्ने विरोधादर्शनादित्याशङ्क्य, उपाधिभेदेऽप्युपन्यस्तं विरोधमुपपादयति—

स्वभावतो यन्मिथुनं विरुद्धं

न तन्निमित्तान्तरतः कदा चित् ॥
उपैति सख्यं परमार्थवृत्त्या
भ्रमादलभ्यं न च किं चिदस्ति ॥ १९५ ॥

स्वभावत इति ॥ स्वभावतो निर्भेदस्योपाधिनिमित्तको भेदो न परमार्थः सम्भवति, आकाशादौ तूपाधिकृतो भेदो भ्रान्त एव न परमार्थो निरवयवस्याकाशस्योपाधिभिर्भेत्तुमशक्यत्वात्, भ्रमस्तु भवति तस्य वस्तुसत्तानपेक्षित्वादित्यर्थः। अक्षरयोजनाऽत्र सुगमा ॥ १९५ ॥

अथ स्वभावतो विरुद्धयोरुपाधिद्वाराऽपि विरोध एवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—

न रविशार्वरसख्यकृदीक्ष्यते
जगति कश्चिदुपाधिरमोहतः ॥
यदि भवेत् स भवेद् भवतो मतः
स न भवेद्यदि सोऽपि न सम्भवेत् ॥ १९६ ॥

न रविशार्वरेति ॥ शार्वरं तमः। रविशार्वरयोः सख्यकृदविरोधकृत्कश्चिदुपाधिरमोहतो मोहात् भ्रमादन्यो जगति नेक्ष्यते, यदि रविशार्वरयोर्विरुद्धस्वभावयोरुपाधितो ऽप्यभेदो भवेत् तदा भवतो मतः इष्टः स भेदाभेदयोरप्यविरोधो भवेत्। यदि रविशार्वरयोरविरोधो न भवेत् तर्हि सो ऽपि भेदाभेदयोरविरोधो ऽपि न सम्भवेत् विशेषानिरूपणादिति योजना ॥ १९६ ॥

अथ "भ्रमादलभ्यं न च किञ्चिदस्ति" इत्युक्तमपञ्चयति।

खमपि खादति खण्डितमीक्षते

निजशिरो नयनेन करार्पितम् ॥
किमपि दुर्घटमस्य न विद्यते ॥
यदि विमूढमतिर्भवति स्वयम् ॥ १९७ ॥

स्वप्नपीति ॥ स्वप्ने हि नानाविधा भ्रान्तीरनुभवन् पुरुषः कदाचिन्नभोभक्षणमप्यनुभवति, तथा निजशिरः खण्डितं स्कंधात्पृथक् कृतं करार्पितं स्वकरे धृतं स्वनयनेनेक्ष्यते । अत एव स्वप्नाध्यायविदः स्वशिरश्छेदनादिदर्शनमनिष्टसूचकमामनन्ति । ऐतिरेयिणश्चामनन्ति "अथाप्यशिरसं जिह्मशिरसं वा पश्यति तदप्येवमेव विद्यात्" इति । न चाघटमानमेतादित्यपि वाच्यमित्याह । किमपीति ॥ १९७ ॥

अथ आरम्भणाधिकरणोक्तविवर्त्तवादन्यायादपि ब्रह्मणो निर्विशेषैकरूपत्वसिद्धिरित्याह—

इतश्च निर्भेदकमात्मतत्त्वं
निरूपणे कारणकार्यतादेः ॥
अनादिमायैकनिबन्धनत्वा-
दसम्भवादस्य तु वस्तुवृत्त्या ॥ १९८ ॥

इतश्चेति ॥ कुतः? इति चेत्, परिशेषादित्यभिप्रेत्याह । निरूपणे इति । कारणत्वादिना हि ब्रह्मणः सविशेषताप्राप्तिः, तस्य च निरूपणे अनादिमायैकनिबन्धनत्वादनाद्यनिर्वचनीयाज्ञानमात्रकल्पितत्वनिश्चयात्, अस्य तु कार्यकारणादेर्वस्तुवृत्त्या परमार्थतश्चासम्भवात् परिशेषान्निर्भेदकमेवात्मतत्त्वमित्यर्थः ॥ १९८ ॥

अथ कार्यकारणभावस्य वस्तुतोऽसम्भवं कार्यस्यानुपपत्त्या तावदाह—

असन्न कार्यं गगनप्रसून-
वन्ध्यासुतादेःकरणाप्रसिद्धेः ॥
न प्रागसत् कार्यमिति प्रवादः
प्रशस्यते तस्य विरोधहेतोः ॥ १९९ ॥

असन्नेति॥ कार्यं किं प्रागसदुत्पद्यते सद्वा ?। नाद्यः, गगनप्रसूनवन्ध्यासुतादेः करणाप्रसिद्धेः। करणं निष्पादनं तस्याप्रसिद्धेरित्यर्थः। ननु वन्ध्यासुतादेरत्यन्तासत्त्वात्तन्नोत्पादि, कार्यं प्रागसदुत्पद्यतामिति चेत्, नेत्याह। न प्रागिति। कुतो न प्रशस्यते तत्राह। तस्य विरोधहेतोरिति। असतः प्राक्त्वविशेषणयोगस्य युक्तिविरोधादित्यर्थः ॥ १९९ ॥

अथ कुतो विरोधः ? इति चेत्, तत्राह—

विशेषणानामसति प्रवृत्ति-
र्न दृश्यते क्वापि न युज्यते च ॥
युधिष्ठिरात् प्रागभवन्नरेन्द्रो
वन्ध्यासुतः शूर इतीह यद्वत् ॥ २०० ॥

विशेषणानामिति॥ असतो निःस्वभावत्वेन प्रसिद्धत्वादेव तस्मिन् विशेषणप्रवृत्तेरदर्शनमसम्भवश्चेत्यर्थः। तत्रादर्शनमुपपादयति। युधिष्ठिरादिति। असतो विशेषणसंबन्धश्चेत्स्यात् "वन्ध्या सुतः शूरः" इति "युधिष्ठिरात्प्राक्" इति च शूरत्वप्रावत्वाभ्यां वन्ध्यासुतोऽपि विशेष्येतेत्यर्थः ॥ २०० ॥

अथ "असन्न कार्यं गगनप्रसूनवन्ध्यासुतादेः करणाप्रसिद्धेः" इत्यत्रासदुत्पत्त्यदर्शनात्कार्यस्यासत्त्वमयुक्तमित्युक्तम्, उत्पत्तिस्वरूपनिरूपणायां च कार्यस्य प्रागसत्त्वमयुक्तमित्याह—

उत्पत्तिरप्यस्य निरूप्यमाणा
न काचिदागच्छति युक्तिमार्गम् ॥
स्वसत्तया स्वैः समवायिकारणै-
रपीह या स्यात् समवायिताऽस्य ॥ २०१ ॥

उत्पत्तिरपीति ॥ कथं न युक्तिमार्गमागच्छतीति चेत्, तत्र वक्तव्यम् । कार्यस्य कारणसमवायः उत्पत्तिः कार्ये वा सत्तासमवाय इति, उभयथाप्यसम्भवः इत्याह । स्वसत्तयेति । अस्य कार्यस्य या स्वसत्तया वा स्वसमवायिकारणैर्वा समवायिता उत्पत्तिशब्दार्थभूता स्यात् सा ऽसज्जनिरित्युपवर्ण्यमानं सुदुर्घटमित्युत्तरपद्यगतेन संबन्धः ॥ २०१ ॥

असज्जनि. रित्युपवर्ण्यमान
सुदुर्घट न ह्यसतो युजैभिः ॥
सदेव सद्भिः सह सर्ववस्तु
सङ्गच्छते न त्वसदेव सद्भिः ॥ २०२ ॥

दुर्घटत्वं प्रकटयति ॥ न ह्यसतो युजैभिरिति । असतः कार्यस्यैभिः स्वसत्तासमवायिकारणैर्युजा योगो न सम्भवति, कुतः ? संबन्धस्य सद्वस्तुधर्मत्वादित्याह । सदेव सद्भिरिति । सत एव सद्भिः संबन्धः इति व्याप्तिविरोधान्नासतः सत्संबन्धः सम्भवतीत्यर्थः ॥ २०२ ॥

अव सतोरेव संबन्धः सर्वत्र दृष्टो न सदसतोरसतोर्वेति नियममेव प्रकटयति—

सती हि सत्ताऽस्य पटस्य दृष्टा

तथैव सन्तः पटतन्तवोऽपि ॥
तथा च तेश्चास्य कथं पटस्य
सम्बन्धिता स्यादसतो वदैतत् ॥ २०३ ॥

सत्ती हीति ॥ अस्य पटस्य प्रत्यक्षगोचरस्य सतो या सत्ता सती हि दृष्टा नासती, सत्ता पटे समवायसंबन्धिनी दृष्टेत्यर्थः। तथैव पटतन्तवः पटस्याश्रयभूतास्तन्तवोऽपि सन्त एव दृष्टाः नासन्तः, तथा चैवंदृष्टनियमविरोधे सति असतस्त्वदभिमतस्य पटस्यास्य तैः स्वसत्तासमवायिभिः संबन्धिता कथं स्यादेतत् वद निरूपयेति योजना ॥ २०३ ॥

अथ तर्ह्यसतो जन्मनिरुक्तिरेवान्या भविष्यतीति चेत्, त्वयेतोऽन्यस्य प्रकारान्तरस्यानङ्गीकारादित्याह—

स्वकारणैस्तन्तुभिरेवमस्य
स्वसत्तया चान्वय एव जन्म ॥
तवेष्टमेव सति जन्म तस्य
न शक्यते वर्णयितुं पटस्य ॥ २०४ ॥

स्वकारणैरिति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥ २०४ ॥

अथ ननु नात्यन्तमसत्कार्यं किन्तु प्रागसत् तादृशस्य कारणादिना संबन्धः स्यादिति चेत्, नेत्याह—

तदन्वयात् प्रागसतः कथं स्यात्
तदन्वयो न ह्यसदन्वयाय ॥
सता समर्थं न हि वन्ध्यया तत्-
पुत्रः समन्वेति कदाचिदत्र ॥ २०५ ॥

तदन्वयादिति ॥ तेन सत्तादिनाऽन्वयाज्जन्माख्यात्प्रागसतः कार्यस्यासत्त्वावस्थायां कथं स्यात् प्रागस्य कार्यस्य वन्ध्यासुतादेरविशेषादित्यर्थः । आक्षिप्तमेवार्थमुपपादयति । नहीत्यादिना । सता सहान्वयाय असन्न समर्थमित्यन्वयः । अत्र स्वजन्मनः प्रागित्यर्थः ॥ २०५ ॥

अव कारणसत्तासमवायात्प्रकारान्तरं जन्मलक्षणं स्यादित्याशङ्क्य, त्वया तस्यानभ्युपगमादिति दोषः प्रागुक्तः, इदानीं न सम्भवति च प्रकारान्तरमित्याह—

न च किं चिदन्यदसतो वदितुं
पटवस्तुनोऽत्र शकनीयमतः ॥
जनिशब्दवाच्यमनवद्यतया
तदयुक्तमेवमसदुद्भवनम् ॥ २०६ ॥

न च किञ्चिदिति॥असतः पटवस्तुनो जनिशब्दवाच्यम् इतः उक्तात् अन्यत्किञ्चित्प्रकारान्तरमत्र वैशेषिकमते ऽनवद्यतया वदितुं न च शकनीयं शक्यमित्यक्षरयोजना । उत्तरक्षणसंबन्धादेरपि तुल्यन्यायत्वादित्यभिप्रायः । उपसंहरति । तदयुक्तमिति । तत् तस्मादेवं विचार्यमाणे सत्यसदुद्भवनमयुक्तमभ्युपगन्तुमित्यर्थः ॥ २०६ ॥

अव ननु कथं प्रकारान्तरासम्भवनिश्चयो विचित्रप्रज्ञत्वात्प्राणिनां कस्यचित्प्रकारान्तरस्यापि स्फुरणोपपत्तेरिति चेत्, सत्यम् । तथाप्युक्तप्रकारात्प्रकारान्तरस्य त्वया ऽनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा ऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात्तवेत्याह—

न च वर्णितादपरमत्र भवा-

ननुमन्यते जनिवचोऽर्थमितः ॥
यदि वर्ण्यते किमपि तत्र भवेत्
स्वमतप्रहाणमलिनीकरणम् ॥ २०७ ॥

न च वर्णितादिति ॥ अनुपपत्त्या प्रकारान्तरमस्य इति चेत्, तत्राह । इतो यदि वर्ण्यत इति ॥ २०७ ॥

अथ कुतः स्वमतप्रहाणमलिनीकरणं ममेति चेत्, कणादसूत्राविरोधादेवेत्यभिप्रेत्य तत्सूत्रमर्थतः पठति—

समवायिकारणगणेन तथा
सह सत्तया च पटवास्त्विह यत् ॥
समवैति तत् कणभुगिच्छति तत्-
जनिशब्दवाच्यमिति नान्यदितः ॥ २०८ ॥

समवायिकारणेति ॥ उक्तपदार्थद्वयेन पटवस्तु समवैति यत्तत्कणभुगिच्छति । किमिच्छतीत्यत आह । तज्जनिशब्दवाच्यमितो नान्यत् जनिशब्दवाच्यमितीच्छतीति योजना ॥२०८॥

अथ तर्हीदमेव सूत्रोक्तं कथञ्चिन्मया निर्वाह्यमिति चेत्, न। उक्तदोषस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादित्याह—

न तदत्र सम्भवति युक्तिवशा-
दुपवर्णितं तदतिविस्तरतः ॥
न च किं चिदन्यदुचितं भवतो
वदितुं स्वपक्षमपरित्यजतः ॥ २०९ ॥

न तदत्रेति ॥ अत्रोत्पत्तौ यथा न सम्भवति तथा निरूपितमित्युक्तं स्मारयति । युक्तिवशादिति ।प्रकारान्तराभ्युपग-

मे चोक्तमपसिद्धान्तप्रसङ्गं स्फुटयति। न च किञ्चिदिति। स्वपक्ष-
मारम्भवादमपरित्यजतो भवतो ऽन्यत्किञ्चित्प्रकारान्तरं वदितुं
न चोचितमित्यन्वयः। त्वन्मते प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। आरम्भ-
वादे हि कारणे कार्यस्योत्पत्तेः प्रागसत्त्वमिष्टम् असतश्च न केन
चित् को ऽपि सम्बन्धः सम्भवति। संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ।
तौ तु भावद्वयधर्मौ न भावाभावयोरभावयोर्वा क्वापि सम्भवतः।
तथा च प्राक् कार्यस्य कारणे कोऽप्यवस्थाविशेषो वा कारणगतश-
क्तिविशेषो वोत्पत्स्यमानस्य कार्यस्य धर्मविशेषो वा कार्यप्रागभावः,
तस्य च सत्तादिसमवायितयाऽभिव्यक्तिश्चोत्पत्तिरिति पक्षान्तरं
भवद्भवेत्, तस्य सर्वस्य सत्कार्यवादे एव समञ्जसत्वात् तत्परिग्रहे
स्यादारम्भवादस्यासत्कार्यगोचरस्य परित्याग इति भावः॥२०९॥

अथ तस्मादुत्पत्तिस्वरूपस्य दुर्घटत्वाच्चासत्कार्यवादो न
युक्त इत्युपसंहरति—

निरूपणायां न यतोऽस्ति कश्चि-
दुत्पत्तिशब्दार्थ इह त्वदीये ॥
पक्षे ततो दुर्घटना प्रसिद्धि-
रसज्जनेरुक्तनयेन तावत् ॥ २१० ॥

निरूपणायामिति॥ ततः उक्तनयेनासज्जनेः प्रसिद्धिस्ता-
वत् दुर्घटनेति सम्बन्धः ॥ २१० ॥

अथ एवमसत्कार्यवादवत् सत्कार्यवादो ऽपि न युक्तिसहः
इत्याह—

सतोऽपि कार्यत्वमयुक्तमेव
निरूपणे कारणकृत्यहानेः ॥

न कारणव्यापृतिरत्र शक्या

सतः स्वरूपे वदितुं फलाय ॥ २११ ॥

सतो ऽपीति ॥ सत्कार्यपक्षे कथं कारणकृत्यहानिरिति चेत्, तत्र वक्तव्यं कार्यस्वरूपसत्त्वसंपादनार्था वा सत्यपि कार्ये विशेषाधानार्था वा ऽभिव्यक्त्यर्था वा कारणव्यापृतिरिति । तत्र नाद्यः इत्याह । न कारणव्यापृतिरिति । अत्र सतः स्वरूपे कारणव्यापृतिः फलाय वदितुं न शक्येत्यन्वयः । सतः पुनः सत्त्वसम्पादनासम्भवात् तत्र निष्फला कारणव्यापृतिरित्यर्थः ॥ २११ ॥

अथ द्वितीयं पक्षमनुवदति—

गुणं क्षिपत् कारणमर्थवत्त्वं

लभेत चेन्नात्र गुणस्य भावात् ॥

न चेद् गुणोऽसत्करणं प्रसक्तं

निरर्थकं कारणकर्म तस्मात् ॥ २१२ ॥

गुणं क्षिपदिति ॥ गुणोऽपि तत्र सन् वाऽ सन् वेति विकल्प्याद्यं दूषयति । नात्रेति । सिद्धस्य साध्यत्वायोगादित्यर्थः । द्वितीयमनुवदति । न चेद्गुण इति । अस्मिन्पक्षे ऽसत्कार्यमतप्रवेशः इति दूषणमाह । असत्करणं प्रसक्तमिति । फलितमाह । निरर्थकमिति । कारणकर्म कारणव्यापारः ॥ २१२ ॥

अथ तृतीयमुत्थापयति—

मलं निरस्यार्थवदिष्यते चेत्

मलोऽपि सन्नैव निरस्य इष्टः ॥

सतोऽविनाशादसतोऽजनेश्च

वृथा ततः कारणमत्र पक्षे ॥ २१३ ॥

मलं निरस्येति ॥ गुणाधानपक्षोक्तविकल्पदूषणानतिवृत्तेर्नायमपि पक्षः साधुरित्याह । मलोऽपीति । असन्नपि मलो न निष्पाद्य इति शेषः । उभयत्र क्रमेण हेतू आह । सतोऽविनाशादिति । अविनाशादितिच्छेदः । अजनेरिति च पदं छेद्यं, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति भगवन्निर्णयवचनादित्यर्थः । अत्रापि कारणव्यापारवैयर्थ्यं फलितमित्याह । वृथेति ॥ २१३ ॥

अथ गुणाधानार्थत्वनिरासेनैव कारकव्यापारस्याभिव्यक्त्यर्थताऽपि निरस्तेत्याह—

तस्मादभिव्यक्तिकरी न हेतु-

प्रवृत्तिरत्रार्थवती घटेत ॥

न चानभिव्यक्तिनिरासकृत्या

तस्मान्न सत्कार्यवचः प्रशस्तम् ॥ २१४ ॥

तस्मादभिव्यक्तिकरीति ॥ मलनिरासार्थत्वनिरासेनानभिव्यक्तिनिवृत्त्यर्थताऽपि कारकव्यापारस्य दूषितेत्याह । न चानभिव्यक्तीति । सत्कार्यमतानिराकरणमुपसंहरति । तस्मादिति ॥ २१४ ॥

अथ किंबहुना सत्कार्यवादिनः कार्यकारणभाव एव न सिद्ध्यति स्वापाद्यसिद्धिश्च स्यादित्याह—

नित्या च कारकगणस्य सती प्रवृत्ति-

र्नित्यं व्यनक्ति सकलं फलमित्यवश्यम् ॥

वक्तव्यमत्र न लयो न सुषुप्तिमृच्छेत्

नो चेन्न सृष्टिरिति कष्टमुपस्थितं वः ॥ २१५ ॥

नित्या चेति ॥ व्यापारस्यापि कार्यत्वान्नित्यसिद्धता वान्या, अतः कारकगणस्य प्रवृत्तिश्च नित्या सती सकलं फलं स्वकार्यं नित्यं व्यनक्तीत्यवश्यं वक्तव्यम्, अत्रैवमुत्पाद्योत्पादक-व्यापारयोरुत्पत्त्युत्पादनयोर्नित्यत्वे सति न लयः प्रलयः सुषुप्तिमूर्च्छे वा सम्भवन्ति, अतः कारणप्रवृत्तेः सत्त्वाभ्युपगमोऽनुपपन्न इत्यर्थः । तर्ह्यस्तु कारकव्यापारस्यासत्त्वमिति चेत्, तत्राह । नो चेदिति। नो चेत्सत्त्वं कारकव्यापारस्य तर्हि न सृष्टिः सिद्ध्यतीत्युभयथा वो युष्माकं सत्कार्यवादिनां कष्टमुपस्थित-मित्यर्थः ॥ २१५ ॥

अथ ननु तत्रापि सत्त्वमसत्त्वं वा कार्यादेरेष्टव्यं, तथा च तत्रोक्तो दोषस्तत्रापि प्रसज्येतेति चेत्, नेत्याह——

वेदान्तवादिसमयेऽपि समानमेतत्
चोद्यं परैर्न खलु वाच्यमिहाप्रसक्तेः ॥
अस्मन्मते न खलु सव्यवहारमात्रे
मायामये किमपि दूषणमस्ति यस्मात् ॥ २१६ ॥

वेदान्तवादीति ॥ अवाच्यत्वे हेतुमाह । इहाप्रसक्ते-रिति । वेदान्तवादे अस्य चोद्यस्य अप्रसक्तिं साधयति । अस्मिन्मते इति । संव्यवहारमात्रे देहात्मव्यवहारवद्व्यवहारा-भासे तत्त्वावेदकप्रमाणासिद्धे इति यावत् । अत एव मायामये सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीये ऽस्मिन् वेदान्तिमते यस्मात्किमपि दूषणं न खल्वस्ति तस्मात् सत्त्वासत्त्वप्रयुक्तदूषणस्येहाप्रसक्तेर्न तदस्मान्प्रति वाच्यमिति योजना ॥ २१६ ॥

अथ कार्यकारणभावादेः संव्यवहारमात्रत्वं ब्रह्मनन्दिना-ऽऽचार्येण छान्दोग्यभाष्ये परैरुक्तदोषाप्राप्त्यर्थमुक्तमित्याह—

आत्रेयवाक्यमपि संव्यवहारमात्रं
कार्यं समस्तमिति नः कथयाम्बभूव ॥
सत्कार्यवादिविषया न हि दोषराशि-
र्मायामये भवितुमुत्सहते विरोधात् ॥ २१७ ॥

आत्रेयवाक्यमपीति ॥ अत्र हि न संव्यवहारमात्रत्वा-दिति वदता सदसत्कार्यपक्षदूषणेन संव्यवहारमात्रत्वं कार्य-कारणभावादेरुक्तमित्यस्माभिरुपलब्धमित्यर्थः । तत्र सत्कार्यप-क्षोक्तदोषाप्राप्तिं तावदाह । सत्कार्येति । मायामयसद्विलक्षणका-र्यपक्षे इत्यर्थः ॥ २१७ ॥

अथ सत्कार्यवादस्य परिणामपक्षत्वात् तस्य विवर्त्तवादं प्रति सन्निकृष्टत्वे ऽपि यदा तदाश्रयो दोषो न प्राप्नोति तदा न तराम् असत्कार्यपक्षाश्रयदोषप्राप्तिरित्याह—

काणाददर्शनसमाश्रयदोषराशि-
र्दूरान्निरस्त इह संव्यवहारमात्रे ॥
वेदान्तभूमिकुशलो मुनिरत्रिवंश्य-
स्तेनाह कार्यमिह संव्यवहारमात्रम् ॥ २१८ ॥

काणादेति ॥ संव्यवहारमात्रे ऽसतो ऽपि विलक्षणं कार्यादीति मायामयव्यवहारे इत्यर्थः । येनैवं पक्षद्वयोक्तदो-षाप्राप्तिरनिर्वचनीयमते तेन कारणेन वेदान्तभूमिकुशलोऽत्रि-वंश्यो मुनिर्ब्रह्मनन्द्याख्यः इहास्मिन्मते कार्यं संव्यवहारमात्रं सदसद्विलक्षणं मायामयमित्याहेति योजना ॥ २१८ ॥

अथ ब्रह्मनन्दिवाक्येष्वनेकपक्षप्रतिभानात् तत्र कः सिद्धान्त इति न निश्चीयते इति चेत्, नैष दोषः। परमार्थनिरूपणावसरे ऽभिहितत्वाद्विवर्त्तवादस्य सिद्धान्तत्वनिश्चयादित्याह—

षष्ठप्रपाठकनिबद्धमुदीरितं यत्
तत् सत्यमेव खलु सत्यसमाश्रयत्वात् ॥
अत्रैव यत् पुनरुवाच समुद्रफेन-
दृष्टान्तपूर्वकमदो व्यवहारदृष्ट्या ॥ २१९ ॥

षष्ठप्रपाठकेति ॥ छान्दोग्यषष्ठप्रपाठकव्याख्याननिबद्धं यत् तेनोदीरितं तत्सर्वं सत्यमेव खलु निश्चितम्। कुतः? सत्यसमाश्रयत्वात् सद्वस्तुविषयत्वादित्यर्थः। ननु तत्र परिणामवादो ऽप्युक्त इति सो ऽपि कथं न सिद्धान्त इति चेत्, न। सत्त्वाविशेषादित्यादिना स्वयमेव दूषितत्वाल्लोकव्यवहारदृष्टिमात्राश्रयणेन तदुक्तिरिति निर्णीयते इत्याह। अत्रैवेति ॥ २१९ ॥

अथ तर्हि परिणामवादस्य तत्र विस्तरेण कथनं किमर्थमिति चेत्? अद्वैतावगमं प्रति परम्परयोपयोगित्वादित्याह—

पूर्वं विकारमुपवर्ण्य शनैःशनैस्तद्-
दृष्टिं विसृज्य निकटं परिगृह्य तस्मात् ॥
सर्वं विकारमथ सद्व्यवहारमात्र-
मद्वैतमेव परिरक्षति वाक्यकारः ॥ २२० ॥

पूर्वं विकारमिति ॥ विकारं परिणामं पूर्वमुपवर्ण्य प्रतिपाद्य शनैः शनैरनुपपत्त्युद्भावनक्रमेण तद्दृष्टिं विसृज्य तस्माद्विकारात्परिणामलक्षणात् निकटं विवर्त्तदर्शनं परिगृह्य अथानन्तरं सर्वं विकारं व्यवहारमात्रं न परमार्थं मायामयमेवेति च परिशे-

षतः परिगृह्य वाक्यकारो ग्रन्थकारोऽद्वैतमेव परिरक्षति पालयति तत्रैव तात्पर्यदृष्टिं करोतीति योजना ॥ २२० ॥

अव अद्वैतमेव ब्रह्मनन्दिग्रन्थे विवक्षितं न परिणामादीत्येतत् तद्भाष्यकृद्द्रविडाचार्यवचनादेवावसीयते इत्याह—

अन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति
प्रत्यग्गुणेति भगवानपि भाष्यकारः ॥
आह स्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे
सङ्गच्छते न तु पुनः सगुणप्रवादे ॥ २२१ ॥

अन्तर्गुणेति ॥ परदेवता सदाख्या "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्योत्रोक्ता सा परदेवता अन्तर्गुणाऽन्तःस्वरूपा गुण इति स्वरूपमेवात्र विवक्ष्यते न धर्मः । अन्तर्गुणेत्यस्य व्याख्या प्रत्यग्गुणेति । प्रत्यगात्मरूपेत्यर्थः । भगवतीति तद्विशेषणं, तस्याः ईक्षणादौ स्वव्यवहारे स्वातन्त्र्यद्योतनार्थं भगवान्सर्वज्ञो भाष्यकारो नन्दिकृतग्रन्थभाष्यकारो द्रविडाचार्यो ऽन्तर्गुणा भगवती परदेवतेति यदाह स्म तदिह निर्गुणवस्तुवादे सङ्गच्छते सङ्गतं भवति न तु पुनः सगुणप्रवादे इति योजना । परदेवतायाः प्रत्यक्त्वाभिधानम् अत्यन्ताद्वैतमते एव सङ्गतं भवति नान्यत्रेत्यर्थः ॥ २२१ ॥

अव. किञ्च भिन्नयोः कार्यकारणभावो ऽभिन्नयोर्वेति विकल्पासहत्वादपि मायामयत्वं कार्यत्वादेरित्याह—

न खलु कारणकार्यसमन्वयो
भवति जातु चिदत्र विभिन्नयोः ॥
किमिह सागरसह्यसमाश्रयो

भवति कारणकार्यसमन्वयः ॥ २२२ ॥

न खल्विति ॥ द्वाभ्यां सागरसद्मसमाश्रयः कारणकार्यसमन्वयः किं भवतीति योजना ॥ २२२ ॥

न च तथाऽयमभिन्नसमाश्रयो
भवितुमुत्सहतेऽनभिवीक्षणात् ॥
न हि घटो विदधाति घटं क्वचित्
न च पटः पटमित्थमनीक्षणात् ॥ २२३ ॥

न च तथेति ॥ अनभिवीक्षणमेव स्फुटयति ।
न हि घट इति ॥ २२३ ॥

अव किञ्च कारणमपि कुर्वदकुर्वद्वा, कुर्वच्चेत् तदाऽनवस्था दुष्परिहरेत्याह—

कुर्वत्कारणपक्षमाश्रितवतः कुर्वच्च कुर्वत्कृतं
तत्कुर्वच्च तथाविधान्यकृतमित्येषाऽनवस्था भवेत् ॥
कुर्वद्रूपमकार्यमिष्टमिति चेन्नित्यं जगज्जायतां
नित्यं मा जनि वा विशेषविरहादेतत् समस्तं जगत्॥२२४॥

कुर्वत्कारणेति ॥ कुर्वत्कारणमिति पक्षमाश्रितवतः इत्येषाऽनवस्था भवेदिति सम्बन्धः । अनवस्थामुपपादयति। कुर्वत्त्वस्यापि कार्यत्वात्तदपि कुर्वता कृतमिति वक्तव्यं तदप्यन्येन कुर्वतेत्येवमनवस्था दुरवस्थेत्यर्थः । कुर्वद्रूपस्याकार्यत्वान्नानवस्थेति शङ्कते। कुर्वद्रूपमकार्यमिति । अस्मिन्पक्षे न कार्यकारणभावव्यवस्थेति दूषयति। नित्यमिति । जगत्कार्यं सदैव जायेत कारणस्य सदैव कुर्वद्रूपत्वादित्यर्थः। यदि कुर्वत्यपि कारणे विद्यमा-

ने कदाचित्कार्यं न जायेत तदा एतत् समस्तं जगत्सर्वमेव कार्यं नित्यं मा जनि वा नैव कदाऽपि जायेत विशेषविरहात् विशेषहेत्वभावादित्यर्थः ॥ २२४ ॥

अथ कुर्वत्कारणमित्याद्यं कल्पं निरस्य अकुर्वत्कारणमिति द्वितीयं निराकरोति—

सर्वं सर्वसमुद्भवाय घटते कुर्वन्न चेत् कारणं
न ह्यस्मिन् क्व चिदस्ति कस्य चिदपि व्यापारवत्ता यतः ॥
तस्मात् कारणकार्यतादि सकलं मायामयं तत्त्वतो
नासीदस्ति भविष्यतीति सकलं चैतन्यशेषं जगत् ॥२२५॥

सर्वमिति ॥ कारणं कुर्वद्रूपं चेन्न भवेत् तदा प्रसुप्तवदवस्थानस्य सर्ववस्तुष्वविशेषात्सर्वं सर्वस्मात्समुद्भवेत् न वा किमपीत्यत्राप्यव्यवस्था दुष्परिहरेत्यर्थः । अतिप्रसङ्गोपादाने हेतुमाह । न ह्यस्मिन्निति । अस्मिन्नकुर्वत्कारणमिति पक्षे यस्मादेवं विचार्यमाणे कार्यकारणभावव्यवस्था प्रमाणयुक्तिसहा न लभ्यते तस्मादज्ञानकल्पितमेव सर्वमिति परिशेषतः सिद्धमित्युपसंहरति । तस्मादिति । मायामयत्वमेव विशदयति । तत्त्वत इति । प्रतीयमानस्य परमार्थतः कालत्रये ऽपि स्वतः सत्ताहीनत्वमेव मायामयत्वमित्यर्थः । तर्हि किं शून्यावसानमेवेदं सकलं जगत्? नेत्याह । इति सकलमिति । शिष्यते इति शेषः चैतन्यं प्रत्यग्ब्रह्मात्मकं शेषः कालत्रयसत्त्वबाधे ऽवधिर्यस्य तत्सकलं जगत् चैतन्यात्पृथक् कालत्रये ऽपि जगन्नाम न क्वापि सदित्यर्थः॥२२५॥

अथ अकुर्वत्कारणमिति पक्षे सर्वं सर्वस्माज्जायेतेत्यतिप्रसङ्गदोषः उक्तः, स नोपपद्यते शक्तिवशात् अकुर्वतो ऽपि

कार्यवैचित्र्योपपत्तेः, अतः कुतो मायामयत्वनिर्धारः ? इति चेत् कश्चित् ब्रूयात् तं प्रत्याह—

सकलशक्तिविकल्पनयाऽन्वये
सकलशक्यविकल्पनयाऽन्वयः ॥
सकलशक्यविकल्पनयाऽन्वये
सकलशक्तिविकल्पनयाऽन्वयः ॥ २२६ ॥

सकलशक्तीति ॥ अयमर्थः । शक्तिर्हि शक्यनिरूप्याऽतः शक्यनियमे सिद्धे सति शक्तिनियमसिद्धिः । अकुर्वत्पक्षे चास्य कारणस्यास्मिन्नेव शक्तिरिति नियमासिद्धेः शक्तिनियमाधीनः शक्यनियमो वक्तव्यः, तथा च स्यात्परस्पराश्रयतेति । एषाऽक्षरयोजना । सकलस्य कारणजातस्य शक्तिविकल्पनया अस्य कारणस्य अस्मिन्कार्ये शक्तिरिति कल्पनयाऽन्वये सति सकलस्य कार्यजातस्य अस्येदं कार्यमिति विकल्पनया ऽन्वयः सिध्यति । सकलशक्यविकल्पनयेति सुगमम् । शक्तिविकल्पना ऽपि शक्यविकल्पनाधीनेत्यर्थः ॥ २२६ ॥

अथ अतः प्रागुक्तं मायामयत्वमेव जगतः परिशिष्यते इत्याह—

इति परस्परसंश्रयता यदा
वद कथं जगतः परमार्थता ॥
यदि पुनर्जगतोऽपरमार्थता
परममस्ति पदं परमात्मनः ॥ २२७ ॥

इति परस्परेति ॥ सर्वस्य जगतो ऽपरमार्थत्वे तत्संसर्गस्याभावात्परमात्मनो विशुद्धिः सिद्धेत्याह । यदि पुनरिति । परम-

विशुद्धं परमात्मनः पदं स्वरूपमस्ति, परमार्थमिति शेषः ॥२२७॥

अथ शक्तेरपि कल्पितत्वोपपादनेन सशक्तिकं ब्रह्मणः स्वरूपमिति स्वमतमर्थादुक्तम् । अन्ये तु शक्तिमदेव ब्रह्म वस्तुतः इति वदन्तीत्याह—

चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते
सत्यैवास्य जडाऽपरा भगवतः शक्तिस्त्वविद्योच्यते ॥
संसर्गाच्च मिथस्तयोर्भगवतः शक्त्योर्जगज्जायते-
ऽसच्छक्त्या सविकारया भगवताश्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते॥२२८॥

चिच्छक्तिरिति ॥ परमेश्वरस्यैका चिद्रूपा शक्तिः अपरा च जडात्मिका शक्तिरिति शक्तिद्वयमस्ति, तत्र चैतन्यमेव चिच्छक्तिरुच्यते, सा च विमला उत्पत्त्यादिमलरहिता स्वरूपभूता सत्यैवाव्यभिचारात् । तथाऽस्य परमेश्वरस्यापरा जडा शक्तिर्या सा त्वविद्योच्यते, सा चानृतरूपेत्यर्थात्सिद्धम् । तयोरुक्तयोर्भगवतः शक्त्योर्मिथः संसर्गात्तादात्म्याध्यासाज्जगज्जायते । कथं जायते ? इति तदाह । असच्छक्त्येति । अनित्यया जडात्मिकया ऽविद्याशक्त्या सविकारया विकारं प्राप्नुवत्या योगाच्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते शक्तिमत्परमात्मस्वरूपादुद्रेकं कार्याकारत्वमापन्ना भवति, साविकारजडशक्तियोगाच्चिच्छक्तिः जगदात्मना विवर्त्तते एतदेव जगज्जन्मेत्यर्थः ॥ २२८ ॥

अथ अस्योत्तरपद्येन संबन्धं घटयति—

इत्येवं कथयन्ति केचिदपरे श्रद्धालवस्तत् पुनः
कस्यांचिद् भुवि सम्मतं च विदुषां नेष्टं तु भूम्यन्तरे ॥
कर्मोपास्तिविधानभूमिषु तथा तत् सम्मतं निर्गुणे

तत्त्वे तत्परवेदवाक्यविषये त्वालोचिते नेष्यते ॥२२९॥

इत्थंत्विति ॥ श्रद्धालवः इति यथाश्रुतेऽस्त्ययार्थो निरूढश्रद्धा इत्यर्थः। अयमपि पक्षः क्वचिदुपयुज्यते न सर्वत्रेति प्रकृतेऽस्यासङ्गतिमाह। तत्पुनरिति। क्व सम्मतं क्व वा न सम्मतमित्यपेक्षायां तद्विभज्य कथयति। कर्मेति। तथा यथोक्त तत्पूर्वोक्तं विदुषां सम्मतं, कर्मादौ परिणामदृष्टेराश्रयणादित्यर्थः। वेदवाक्यविषये वेदान्तवाक्यगम्ये तु निर्गुणे तत्त्वे विवर्त्तवाददृष्ट्याश्रयणेनालोचिते विचारिते तन्नेष्यत। तत्परेति वेदवाक्यविशेषणेन वेदान्तवाक्यानामन्यपरत्वशङ्का पराक्रियते, वेदान्तवाक्यैरनन्यथासिद्धैः निर्गुणे तत्त्वे आलोच्यमाने न शक्तिशक्तिमद्भावस्य ब्रह्मणि कल्पनाऽवकाश इत्यर्थः ॥ २२९ ॥

अथ ननु चैतन्यलक्षणा शक्तिः परिणामदृष्टावप्यङ्गीकृता चेत् कथं तर्हि तस्या विवर्त्तदृष्टावप्यभावः तस्या मिथ्यात्वानुपपत्तेरिति चेत्, तत्राह—

मूर्त्तामूर्त्ततदुत्थलिङ्गपुरुषव्यामिश्रभूता चिति-
र्वीप्सापूर्वकनेतिनेतिवचनप्रध्वस्तसर्वद्वया ॥
सम्पूर्णे परमे सुखे परिहृताशेषाशिवे शाश्वते
नित्ये शुद्धमहिम्नि तायिनि परे भूम्न्यक्षरे तिष्ठति ॥२३०॥

मूर्त्तामूर्त्तेति ॥ मूर्तं पृथिव्यप्तेजोलक्षणं भूतत्रयम्, अमूर्त्तं वाय्वाकाशात्मकं भूतद्वयं, ताभ्यां मूर्त्तामूर्त्तभूतराशिभ्यामुत्थो लिङ्गात्मा पुरुषो वासनामयलिङ्गशरीरात्मा तेषु मिश्रभूता तादात्म्याध्यासमापन्ना तदनुप्रवेशेन जीवभावमापन्नेति यावत्। एवंविधा या चितिः सा वस्तुतो ब्रह्मैव सती उपाधिवशात् ब्रह्मणो भिन्नेव

शक्तिरिव च विभाव्यमाना यदा वीप्सापूर्वकनेति नेति वेदान्तवाक्येन प्रध्वस्तसर्वद्वया निवृत्तसर्वोपाधिर्भवति तदा सम्पूर्णे इत्यादि विशेषितेऽक्षरे तिष्ठतीति योजना। सम्पूर्णे परमे इति च सुखविशेषणे। अपरिच्छिन्ननित्यसुखरूपे इत्यर्थः । परिहृतं नित्यनिवृत्तम् अशेषमशिवम् अविद्यातत्कार्यरूपं यस्मिंस्तस्मिन् शाश्वते निर्विकारेऽत एव सत्ये नित्यसद्रूपे शुद्धमाहिम्नि निरपेक्षमहत्त्ववति तायिनि व्यापनशीले वस्तुपरिच्छेदराहित्येन निरङ्कुशव्याप्तिमतीति यावत् । परे व्याप्यधर्मसंसर्गरहिते नामादिभ्यो परत्र स्थिते भूम्नि ब्रह्मणि अक्षरे क्षरणरहिते इत्यर्थः। तथा चाविद्याऽवस्थायामेव शक्तिशक्तिमद्भावादिव्यवहारः, विद्यया ऽविद्यायां निवृत्तायां न कोऽपि व्यवहारो ऽतः चिच्छक्तेरात्मस्वरूपत्वाद्विद्यावस्थायामप्यात्मतन्मात्रतया ऽवस्थानात् परिणामधर्मकत्वे तदयोगात् सत्या नित्या कूटस्थैवात्मचितिरिति, तस्याः परिणामप्रतीतिर्भ्रम एवेति भावः ॥ २३० ॥

अथ पुनरपि द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यन्तरेणाह—

> जगन्महिम्ना न जगत्प्रसिद्धि-
> र्न चिन्महिम्नाऽपि जगत्प्रसिद्धिः ॥
> न च प्रमाणाज्जगतः प्रसिद्धि-
> स्ततोऽस्य मायामयताप्रसिद्धिः ॥ २३१ ॥

जगन्महिम्नेति ॥ जगत्प्रसिद्धिर्जगतो निष्पत्तिः प्रतीतिश्च विवक्षिता ॥ २३१ ॥

अथ उक्तेषु पक्षेषु त्रिष्वपि जगतः सिद्ध्यसम्भवे क्रमेण हेतूनाह—

जडत्वहेतोर्न जगन्महिम्ना
न चिन्महिम्ना तदसङ्गभावात् ॥
न च प्रमाणात्तदकारकत्वात्
कृतस्य जाडयादजडाऽजनेश्च ॥ २३२ ॥

जडत्वहेतोरिति ॥ स्वमहिम्ना जगतः प्रसिद्धौ तस्य जडत्वव्याहतिः स्यात्, तथा च चेतनाचेतनभेदव्यवहारः प्रमाणप्रमेयादिभेदव्यवहारश्च लुप्येतेति भावः । तदसङ्गभावादिति । तस्याश्रितो ऽसङ्गत्वाज्जडाजडयोः संबन्धासम्भवादित्यर्थः । तदकारकत्वादिति । तस्य प्रमाणस्य जडविषयसंविदुत्पादकत्वासम्भवादित्यर्थः । यदि प्रमाणेन संवित् क्रियेत तदा सा संविदेव न भवतीत्याह । कृतस्य जाड्यादिति । यत्कार्यं तज्जडमिति नियमस्य पटादाववधृतस्याभङ्गादित्यर्थः । अजडा चेत्संवित्तदा सा नोत्पद्यते एवात्मवदित्याह । अजडाऽजनेश्चेति ॥ २३२ ॥

अव इदानीं प्रमाणात् संविदुत्पत्तिं नित्यासिद्धां वा संविदमङ्गीकृत्यापि तस्या जडेन सह संबन्धानिरूपणान्न तदधीना जगत्प्रसिद्धिरित्याह—

न सङ्करो नापि च संयुतिस्तयो-
र्न चास्ति तद्वत् समवायसम्भवः ॥
ततो न चिच्चेत्यसमन्वयं प्रति
प्रतीयते का चन मूलसङ्गतिः ॥ २३३ ॥

न सङ्कर इति ॥ सङ्करस्तादात्म्यम् । तयोर्जडाजडयोः स्वभावविरोधात्तमःप्रकाशवत्तादात्म्यं न सम्भवतीत्यर्थः । संयुतिः संयोगः, सोऽप्यनयोर्न युक्तः संविदो ऽद्रव्यत्वात्, द्रव्ययोरेव

संयोग इति नियमात् । द्रव्यत्वे वाऽस्याः रूपादिभिरसंयोगाद्रूपाद्यसिद्धिप्रसङ्ग इत्यर्थः । तद्वत् संयोगासम्भववत्समवायसम्भवोऽपि न चास्तीत्यर्थः । चितः आत्मसमवेतत्वात् विषयेषु तदसम्भवादित्यर्थः । विषयाविषयिभावादेः संबन्धान्तरस्य सत्त्वान्न जडासिद्धिरिति चेत्, न । मूलसंबन्धाभावे तदयोगादित्यभिप्रेत्याह । ततो नेति ॥ २३३ ॥

अव दृश्यदर्शनयोर्विषयाविषयित्वयोग्यतारूपो मूलसंबन्धो ऽस्तीति चेत्, मैवम् । आनिर्मोक्षप्रसङ्गाद्योग्यताया यावद्वस्तुभावित्वेनाविच्छेदादित्याह—

न योग्यतामात्रनिबन्धनो भवे-
ज्जडात्मनोरत्र विवक्षितोऽन्वयः ॥
तदा हि तस्या अनपायिरूपतः
सदात्मनः स्यादनपायिसस्तृतिः ॥ २३४ ॥

न योग्यतेति ॥ विवक्षितोऽन्वयो विषयविषयिभावः । तस्याः योग्यतायाः । स्पष्टमन्यत् ॥ २३४ ॥

अव दृग्दृश्ययोः संबन्धस्यानुभवसिद्धत्वात्तदपह्नवायोगात्को ऽपि संबन्धो वक्तव्य इति चेत्, तत्राध्यासिकसंबन्धात्तत्प्रतीतिरविद्यामय्येवेत्याह—

ततो वियन्मुख्यमदो जगज्जडं
चिदात्मनोऽस्यैव विवर्त्त इष्यताम ॥
अनाद्यविद्यापटसंवृतात्मन-
स्तदोपलभ्यत्वममुष्य कल्प्यते ॥ २३५ ॥

ततो वियदिति ॥ ततः परिशेषाद्दः परोक्षापरोक्षात्मकं वियन्मुखमाकाशादि जगज्जडं सर्वमस्यैव चिदात्मनो विवर्त्तः स्वाविद्यावशान्मिथ्यातादात्म्यलक्षणो ऽध्यासो दृग्दृश्ययोः संबन्ध इष्यताम्, अविद्यावस्थायामेवोपलभ्यमानत्वादुक्तसंबन्धस्याध्यासात्मत्वमित्यभिप्रेत्य चिदात्मानं विशिनष्टि। अनाद्यविद्येति। यद्येवमाध्यासिकः संबन्धो दृशा दृश्यस्य अभ्युपगम्यते तदाऽमुष्य दृश्यस्योपलभ्यत्वं कल्पते घटते इति योजना ॥ २३५ ॥

अत्र ननु प्रमाणफलभूतायाः संविदः प्रतिविषयव्यक्तिभिद्यमानायाः क्षणध्वंसिन्याः उत्पत्त्यादिधर्मवत्याः कथमविद्यावत्त्वं जडभ्रमास्पदत्वं वेति चेत्, नायं दोषः। कूटस्थत्वात्संविदः इत्याह—

संवित्तिभेदतदभावतदीयजन्म-

नाशादयो न खलु मानबलेन लभ्याः ॥

न ह्यस्ति मानमिह किं चन तद् यदस्या

धर्मस्वरूपविषयीकरणे समर्थम् ॥ २३६ ॥

संवित्तीति॥ पूर्वार्धं स्पष्टार्थम्। न ह्यस्ति मानमिहेति। अयमर्थः। न तावत्संविद्भेदादयः संविदा ग्राह्याः स्ववृत्तेः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, संवेदनस्य फलरूपत्वात्फलाश्रयत्वानुपपत्तेश्च। नापि प्रमाणान्तरात्संवेदनस्योत्पत्त्यादिसिद्धिः। मानान्तरमपि जडं चेत् न तेनाजडसंविद्धर्मग्रहः। अजडं चेत्समत्वात्प्रदीपयोरिव परस्परानपेक्षत्वाद्विषयविषयित्वासम्भवः। तस्माद्यदस्य संवेदनस्य धर्मस्वरूपविषयीकरणे समर्थं तदिह किञ्चिदपि मानं न ह्यस्तीति सिद्धम्। तत्रोत्पत्त्यादिप्रतिभासस्तु उत्पत्तिविनाशभेदधर्मकबुद्ध्यविवेककृत एवेति ॥ २३६ ॥

अव ननु कूटस्था चेत्संवित् तर्हि कथं तस्या मानफलत्वमिति चेत्, सत्यं नास्ति स्वतः किन्तूपाधिवशादुपचर्यते मानफलत्वं संविदः इत्यभिप्रेत्याह—

तस्मान्न मानफलता निरुपाधिकस्य

संवेदनस्य घटतेऽविषयत्वहेतोः ॥

एवं च मानफलसिद्धिसमन्वयेन

सिद्धिर्जडस्य जगतो न कदा चिदस्ति ॥२३७॥

तस्मान्नेति ॥ अविषयत्वहेतोः स्वतो विषयराहितत्वादित्यर्थः। अथवा विषयत्वाभावेन जन्माद्यसिद्धेरित्यर्थः । जन्मादौ प्रमाणाभावस्योक्तत्वात्संविदो न प्रमाणाधेयत्वं सम्भवति तथापि प्रमाणाधीनधीवृत्तिव्याप्तविषयावच्छेदेनाभिव्यक्त्यपेक्षया फलत्वमुपचर्यते इति भावः । तस्मात्संविदः कूटस्थत्वान्न मानफलतया संवित्प्रकाश्यं जडमिति सिद्धमर्थमाह। एवमिति । एवं च संविदः कूटस्थत्वेन न मानफलत्वं वस्तुत इति स्थिते सति मानफलरूपा या सिद्धिस्तया समन्वयेन सम्बन्धेन जडस्य जगतः सिद्धिः कदाचिदपि नास्तीति योजना ॥ २३७ ॥

अव तथा चाध्याससम्बन्धादेव संविदो जडसाधकत्वमिति सिद्धमित्याह—

इतरेतराध्यसनमस्त्वनयो-

रुभयोरतो दृगदृशोरनिशम् ॥

अपरस्परव्यतिकरानुभवा-

दिह शुक्तिकारजतविभ्रमवत् ॥ २३८ ॥

इतरेतरेति ॥ दृग्दृश्ययोः परस्पराध्यासे च घटः स्फुरती

त्याद्यनुभवो मानमित्याह । अपरस्परेति । तस्माद् दृगविद्याकल्पितत्वेन दृश्यस्य दृश्यध्यस्तत्वात्, दृशो ऽपि तत्राध्यासात् दृश्यस्फुरणमुपपन्नमिति तात्पर्यार्थः ॥ २३८ ॥

अव. इतरेतराध्यासमुपश्रुत्य शून्यवादप्राप्तिं कश्चिद्यदि चोदयेत् तदा तं प्रति प्रथमाध्यायोक्तमेव स्मारयेत्समाधानमित्यभिप्रेत्य तत्रोक्तमेवेह पठति—

संसिद्धा मतिविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी-
र्नाधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः ॥
केषां चित् महतामनूनतमसां पाण्डित्यगर्वोदय-
मन्योन्याध्यसने निरास्पदमिदं शून्यं जगत् स्यादिति॥२३९॥

संसिद्धेति ॥ निर्बन्धमात्राश्रयादित्यस्य स्थाने ऽत्र पाण्डित्यगर्वोदयमिति पाठः ॥ २३९ ॥

अथ इतश्च नास्मन्मते शून्यताप्रसङ्गापादनावसर इति वक्तुमाह—

कृपणमध्यमपक्वधियां नृणां
मतिविलासविधात्रितयं क्रमात् ॥
परिणतिर्बहुजीवतमास्विता
परमपुंसि तमःपरिकल्पना ॥ २४० ॥

कृपणेति ॥ यः इतरेतराध्यासे शून्यताप्राप्तिं मन्यते सः कृपणधीर्मन्दबुद्धिरिति यावत् । यस्तु समस्तकारणतया परस्य सत्त्वं निश्चित्य तत्स्वरूपं जिज्ञासते स मध्यमधीः । विवर्त्तपक्षे ऽपि यो व्यवहारसङ्करं शङ्कमानो ऽद्वैते एवाभिनिविष्टमतिर्भवति स पक्वधीः । एतेषां त्रिविधानां नृणा मतिविलासवि-

धात्रितयं क्रमाद् बुद्धिविलासतारतम्यक्रमेण परिणत्यादिकल्पना शास्त्रे क्रियते इति योजना । तत्र कृपणाधियं प्रति नाध्यास उपन्यसनीयः किन्तु परिणामकल्पनया ऽद्वैतं बोधनीयम् । यस्तु मध्यमधीस्तं प्रत्यध्यास एवोपन्यसनीयः । त तदिदमुच्यते । बहुजीवतमस्वितेति । जीवाः बहवस्तमास्विनश्चेति व्यवहारव्यवस्थोपपादनीया । परमपुंसि तमःपरिकल्पनेति । पक्कधियं प्रति ब्रह्मण्येवाविद्याकल्पितः सर्वो ऽपि जीवेश्वरभेदस्तदाश्रयश्च व्यवहारस्तद्व्यवस्था च, ब्रह्मविद्योत्पत्तौ त्वविद्याबाधान्न द्वैतलेशस्याप्यवस्थानमिति न काऽपि व्यवस्थेति प्रतिपाद्यते, अतः प्रतिपादनक्रमापरिज्ञानादेव शून्यतादिवादोद्घाटनमिति भावः ॥ २४० ॥

अथ तर्ह्ययं प्रतिपादनक्रमः किंमूल इति चेत्, श्रुतिस्मृतिवचसां सामञ्जस्यान्यथानुपपत्तिमूल इत्याह—

श्रुतिवचांसि मुनिस्मरणानि च
द्वयविशारदगीरपि सर्वशः ॥
त्रयमपेक्ष्य त्रिधात्रितयं विना
न हि घटामुपयान्ति कदा चन ॥ २४१ ॥

श्रुतिवचांसीति ॥ द्वितीयाध्याये एवायं श्लोको व्याख्यातः, दृष्टित्रयनिबन्धना व्यवस्था च तत्रोपपादितेति नेह पुनर्यत्यते ॥ २४१ ॥

अथ नन्वासां दृष्टीनां विरुद्धार्थत्वेन भिन्नपुरुषनिष्ठत्वादेकस्या वस्तुप्रतिपत्तौ न मिथः सङ्गतिरिति शङ्कनीयम्, आसामेकपुरुषसम्बन्धित्वस्य पूर्वमुपपादितत्वादित्याह—

पुरुषमेकमपेक्ष्य च भूमिका-

त्रितयमस्ति पुरोदितमेव तत् ॥
तदनुसारवशादखिलश्रुति-
स्मृतिवचांसि वयं घटयामहे ॥ २४२ ॥

पुरुषमेकमिति ॥ तदनुसारवशादिति एकपुरुषवर्त्तिदृष्टि-भेदक्रमानुरोधात् अखिलश्रुतिस्मृतिवचांसि सामञ्जस्येन वयं घटयामहे प्रतिपादयामो न तु भिन्नपुरुषगताभिर्दृष्टिभिः, अतो न को ऽपि विरोध इत्यर्थः ॥ २४२ ॥

अथ सूत्रगतिदर्शनाच्चायं प्रतिपादनक्रमो विवक्षित इति गम्यते इत्याह—

परिणतिं च विवर्तदशाद्वयं
स्थितमनुक्रमतः श्रुतिशासने ॥
अनुशशास मुनिप्रवरः सुधीः
पुरुषबुद्धिमपेक्ष्य यथाक्रमम् ॥ २४३ ॥

परिणतिं चेति ॥ विवर्त्तदशाद्वयं च द्वितीयाध्याये व्याख्यातम् । श्रुतिशासने स्थितं परिणतिं च विवर्त्तदशाद्वयं सुधीर्मुनिप्रवरो ऽनुक्रमतो ऽनुशशासेति सम्बन्धः । किं कृत्वा ? यथाक्रमं पुरुषबुद्धिमपेक्ष्य "कृपणधीः परिणाममुदीक्षते" इत्याद्युक्तपुम्बुद्धिक्रमानुरोधेनेत्यर्थः ॥ २४३ ॥

अथ तदेवं दृश्यस्य ब्रह्मण्यविद्याविलसितत्वान्मिथ्यात्वे परिशुद्धमेव नित्यं ब्रह्मेति प्रतिपादितं, तत्र परिणामदृष्ट्या विवर्तदृष्ट्या वा सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वे वेदस्यापि तदन्तर्वर्तित्वाद् ब्रह्मकार्यता स्यात्, तत्र चापौरुषेयत्वेन पूर्वतन्त्रे प्रथमपादे स्थापितं वेदस्य स्वतःप्रामाण्यं भज्येतेति शङ्कते—

यदि परिणतिरेषा चिद्विवर्तोऽथ वा स्याद्
भवति ननु तदानीं वेदशास्त्रे विरोधः ॥
न हि खलु कृतकत्वेऽपौरुषेयत्वहेतु-
र्भवितुमलमियं नो मानता स्वप्रयुक्ता ॥२४४॥

**यदि परिणतिरिति** ॥ एषा श्रुतिः । वेदशास्त्रे वेदस्यापौरुषेयत्वशासनपरे पूर्वतन्त्रे इत्यर्थः । विरोधमेव स्फोरयति । नहीति । अपौरुषेयत्वेतिच्छेदः । अवश्यं चापौरुषेयत्वमङ्गीकार्यमित्याह । इयं न इति । इयं मानता नो ऽस्माकं वैदिकानां स्वप्रयुक्ता स्वतःसिद्धा, नाप्तवाक्यत्वेनेत्यर्थः ॥ २४४ ॥

अव यद्यपि शास्त्रयोनित्वसूत्रार्थनिरूपणेऽस्य विचारस्यावसरः तथापि तत्र न कृतः, इह साधनाध्याये वेदस्यापि साधनत्वात् तत्प्रामाण्यं तत्स्वरूपं च व्युत्पाद्यते इति द्रष्टव्यम् । अस्तु नाम जैमिनीयतन्त्राविरोधस्तस्य शास्त्रान्तरत्वात् तद्विरोधे ऽपि किं नो हीयते इति चेत्, तत्राह—

कणभुगभिमतिर्वा कल्पनीया तदानीं
सुरगुरुमतमेवोपास्यमाहोस्विदुच्चैः ॥
इति निपतति चोद्यं ब्रह्मणो विश्वसृष्टि-
र्यदि भवति न चेद्वो नित्यमायाति विश्वम् ॥२४५॥

**कणभुगभिमतिर्वेति** ॥ परतः प्रामाण्यमिति कणभुगभिमतिः । सुरगुरुः बृहस्पतिः । तन्मतं चार्वाकशास्त्रं तद्धि केनचिन्निमित्तेन बृहस्पतिना प्रणीतमिति मैत्रोपनिषद्याम्नानं दृश्यते, पुराणेषु च, अतः सुरगुरुमतं चार्वाकदर्शनं तत्र वेदानामप्रमाणत्वं प्रतिपादितं तदेवाप्रमाणत्वम् उच्चैर्निःशङ्कयो-

पास्यं त्वया वैदिकेनापीत्येवं चोद्यं निपतति यदि ब्रह्मणो विश्वसृष्टिरभ्युपगम्यते इति योजना । अत्र विश्वशब्दो वेदविषयः । अत्र कणादमतस्वीकारे वेदस्य मूलत्वेन मानान्तरापेक्षणान्न स्वारस्येनाद्वैतप्रत्यग्ब्रह्मासिद्धिः, सुरगुरुमतस्वीकारे तु ब्रह्मात्मसिद्धिर्दूरापास्तेति भावः । तर्ह्येतद्दोषपरिजिहीर्षया वेदस्य नित्यत्वमाश्रीयते इति चेत्, तदा द्वैतस्य सत्यताप्रसङ्गः इत्याह । न चेद् इति । न चेत्, ब्रह्मणो विश्वसृष्टिरित्यनुषङ्गः । नित्यमकार्यं स्वतन्त्रं विश्वमायाति तेन सद्वयं ब्रह्म स्यादित्येकमेवाद्वितीयमित्याद्यवधारणासिद्धिरित्यर्थः ॥ २४५ ॥

अथ अस्य चोद्यस्य परिहारं परस्यापि सम्मतिमापाद्य वक्तुं प्रतिबन्दीमाह—

ननु सदृशमिदं वश्चोद्यमस्मासु कस्माद्
विनिहितमुभयेषां पूर्वमीमांसकानाम् ॥
अवगतिकृतमेतद् वाचकत्वं पदाना-
मवगतिरियमिष्टा नश्वरी तत्क्षणेन ॥ २४६ ॥

**ननु सदृशमिति** ॥ उभयेषां प्राभाकराणां भाट्टानां च पूर्वमीमांसकानां वो युष्माकमिदं चोद्यं सदृशम् अतोऽस्मासु कस्माद्विनिहितं प्रक्षिप्तमिति योजना । कथं चोद्यसाम्यं ? तदाह । अवगतिकृतमिति । पदानामेतत्प्रसिद्धं वाचकत्वमवगतिकृतम्, अवगम्यमानानां हि वर्णानां वाचकत्वं न स्वरूपसतामित्यवगतिकृतं वाचकत्वमित्यर्थः । ततः किमित्यत आह । अवगतिरियमिति । क्षणध्वंसिन्यवगतिरियं भवद्भिरिष्टा अतः क्षणिकावगत्यवच्छिन्नस्य वाचकाकारस्यापि क्षणिकत्वमेव भवतामित्यर्थः ॥ २४६ ॥

अथ इतश्च वाचकाकारस्य क्षणिकत्वमित्याह—

अवगतिगतमेवापेक्ष्य पूर्वापरत्व-

प्रतिनियममियं वो वेदता वेदराशेः ॥

क्षणिकमभवदित्थं वेदशास्त्रं समस्तं

कथमिव तदिदानीं वेदशास्त्रं प्रमाणम् ॥ २४७॥

अवगतिगतामिति ॥ क्रमावच्छिन्नानां हि वर्णानां वाचकत्वं प्रसिद्धं, क्रमश्च वर्णानां स्वतो नास्ति नित्यविभुत्वस्वीकारात्, तस्मादवगतिगतमेव पूर्वापरत्वं प्रातिनियममपेक्ष्य वर्णप्रत्ययक्रमानुरक्तं वर्णक्रममपेक्ष्येति यावत् । वो युष्माकमियं हि वेदराशेर्वेदग्रन्थस्य वेदता वेदयितृता प्रमाणताऽभिमतेति योज्यम् । तथा चोपलब्धिक्रमावच्छेदस्य वाचकाकारस्य क्षणिकत्वाद्वेदस्य क्षणिकत्वं प्राप्तं न कार्यत्वमात्रमिति कथं भवतां पूर्वमीमांसकानां तद्वेदशास्त्रमिदानी प्रमाणं स्यादिति शङ्कासाम्यमुक्तमुपसंहरति । क्षणिकमभवदिति ॥ २४७ ॥

अथ अत्र प्रामाण्यसमर्थनप्रकारं पूर्वमीमांसकः शङ्कते—

पुरुषमतिनिवेशो नास्ति वेदप्रमेये

विषय इति यदीष्टा मानता स्वप्रयुक्ता ॥

सदृशमिदमिदानीं कारणं मानतायां

परमपुरुषसृष्टे वेदशास्त्रेऽप्यभीष्टम ॥ २४८ ॥

पुरुषमतीति ॥ वेदप्रमेये विषये प्रमाणान्तरागोचरे वेदैकगम्ये ऽर्थे पुरुषमतिनिवेशो नास्तीति कृत्वा यदि वेदस्य

मानता स्वप्रयुक्ता निरपेक्षा इष्टा, पुरुषाविवक्षाधीनं न वेदप्रामाण्यं किन्तु स्वतःसिद्धमेवेति यदीष्यते भवद्भिरित्यर्थः। अयं परिहारो ऽस्माकमपि समान इति परिहारसाम्यं सिद्धान्त्याह। सदृशमिदमिदानीमिति। वेदशास्त्रे परमपुरुषसृष्टे ऽभीष्टेऽपि मानतायामिदं कारणं सदृशं, बुद्धिपूर्वसृष्टित्वे हि मानान्तरापेक्षत्वलक्षणम् अप्रामाण्यं शङ्कास्पदं न कार्यत्वमात्रे, अतः ईश्वरस्य वेदसृष्टेरबुद्धिपूर्वत्वाङ्गीकारात्तुल्यं समाधानमस्माकमपीत्यर्थः॥ २४८॥

अथ ब्रह्मणः सृष्टावीक्षणपूर्वकत्वश्रवणात्कथं बुद्धिपूर्वकताऽभाव इति चेत्, तत्राह—

न हि खलु मतिपूर्वा ब्रह्मणः सृष्टिरिष्टा
निगदितुरिव सृष्टिर्वेदविद्यासु नित्यम्॥
भवति तु पुनरेषा तस्य निश्वासकल्पा
श्रुतिवचनमपीदं वस्तु वक्ति स्फुटं नः॥ २४९॥

न हि खल्विति॥ अर्थसृष्टेरीक्षणपूर्वकत्वेऽपि अत्र ब्रह्मणो वेदसृष्टिर्न खलु मतिपूर्वेष्टा, भूतसृष्टिप्रकरणेष्वेवेक्षणश्रवणात्तत्रैव तदभ्युपगम इत्यर्थः। कथं तर्हि वेदसृष्टिः? इति तदाह। निगदितुरिति। वेदविद्यासु निगदितुरध्यापकस्येवाबुद्धिपूर्विका नित्यं सृष्टिर्भवति, ब्रह्मणश्चिदात्मनो वेदाकारेणाऽभिव्यक्तिः प्रथमजाहिरण्यगर्भबुद्धौ स्वभावतो जायत इत्यर्थः। तुशब्दो बुद्धिपूर्वकत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। वेदसृष्टेरबुद्धिपूर्वकत्वे न विवदितव्यं वेदेनैव तथा शासनादित्याह। पुनरेषेति। तस्य ब्रह्मणः एषा सृष्टिर्निश्वासकल्पा निश्वासोच्छ्वासवदबुद्धिपूर्वा "अस्य महतो भूतस्य निश्वासितमेतद्यदृग्वेदः" इत्यादिश्रु-

तिवचनमपीदं वेदसृष्टेरबुद्धिपूर्वकत्वलक्षणं वस्तु नो ऽस्मान्प्रति स्फुटमसन्दिग्धं वक्ति अतो नास्मन्मते ऽपि पौरुषेयत्वदोषप्राप्ति- र्वेदस्येत्यर्थः । यद्वा वेदविद्यासु ब्रह्मणः सृष्टिर्निगदितुः सृष्टिरिव नित्यं मतिपूर्वा न हि खल्विष्टेति सम्बन्धः। तर्हि कथमिष्टा ? इति तदाह । भवतित्विति । तुशब्दो निराकृतपक्षविशेषकः । पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, पादपूरणार्थो वा । उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति । श्रुतिवचनमिति ॥ २४९ ॥

अव अथ पुरुषबुद्धिपूर्वकत्वं नाप्रामाण्यकारणं किन्तु पु- रुषसृष्टत्वमात्रमिति यद्युच्येत, तन्न, व्यभिचारादित्याह—

अपि च पुरुषकर्मोद्भूतिकानीन्द्रियाणि
स्फुटमत्रगमयन्ति स्वस्वमन्यानपेक्षम् ॥
विषयमिति हि दृष्ट तद्वदिष्टं च तस्मा-
दिह किमपि न चोद्य वाच्यमेतद् भवद्भिः॥२५०॥

अपि चेति ॥ पुरुषकर्म धर्माधर्माख्यं ततः उद्भूतिर्येषा तानि पुरुषकर्मोद्भूतिकानि । अवशिष्टाक्षरार्थः सुगम. । कर्म- द्वारा पुरुषसृष्टत्वे ऽपीन्द्रियाणां यथा प्रामाण्याविरोधस्तथा वे- दस्याप्यविरोधो ऽतः पुरुषकृतत्वमात्रं नाप्रामाण्यप्रापकम् इन्द्रि- येषु व्यभिचारादिति भावः ॥ २५० ॥

अव ननु सामान्येनेक्षणपूर्वकत्वश्रवणाद्वेदसृष्टेरपीक्षणपूर्व- कत्वमविशिष्टमेवेति शङ्कते—

श्रुतिवचनमनेकं वक्ति तस्येक्षितृत्वं
मतिमदिति ततस्तन्नेष्यते कस्य हेतोः ॥
इति यदि मनुषे तन् मैवमंस्थाः कुतश्चेत्

सकलकरणहीनं ब्रह्म नः शास्ति शास्त्रम् ॥ २५१ ॥

श्रुतिवचनमिति ॥ "सोऽकामयत" इतीक्षणमभिधाय "इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" इत्यविशेषेण सर्वसृष्टेरीक्षणपूर्वकत्वस्य श्रवणात्तादृशमेवानेकं श्रुतिवचनं तस्य सामान्येनेक्षितृत्वं वक्ति यतः ततः तत् वेदसर्जनमपि मतिमत् मतिपूर्वकमिति नेष्यते कस्य हेतोः, कस्मान्नेष्यते इत्यर्थः । नेयं शङ्का तव प्रमाणमूला किन्तूत्प्रेक्षामात्रमूलेति सिद्धान्ती तामनूद्य प्रतिषेधति । इति यदीति । कथं न मन्तव्यमिति पूर्वपक्षी पृच्छति । कुतश्चेदिति । सृष्टौ क्वापि ब्रह्मणो नास्तीक्षणं प्रामाणिकं करणहीनत्वात्तस्येत्युत्तरमाह । सकलकरणहीनमिति । "अपाणिपादः अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः" इत्यादिशास्त्रं सकलकरणहीनं ब्रह्म नोऽस्मान् प्रति शास्ति अतस्तस्य न क्वापि सृष्टावीक्षणमस्तीत्यर्थः ॥२५१॥

अत्र ननु तर्हि "तदैक्षत" इत्यादिश्रूयमाणमीक्षणं किमात्मकं तद्वक्तव्यं, न हि श्रुतिरियं निर्विषया युक्ता कल्पयितुमिति चेत्, तत्राह —

चितिगतजडशक्तेराद्य इष्टो विवर्त-
श्चितिनिकटनिवेशाल्लब्धदीप्तिर्जडोऽपि ॥
श्रुतिशिरसि निषण्णैरीक्षणं कथ्यते त-
न्न तु परमपदस्यापीक्षण बुद्धिवृत्तिः ॥ २५२ ॥

चितिगतेति ॥ चिदात्मनिष्ठायाः जडात्मिकायाः मायाशक्तेराद्यो विवर्त्तो यो विकारः परिणामविशेषः दृष्टस्तच्छ्रुतिशिरसि वेदान्तशास्त्रे निषण्णैर्निष्णातैरीक्षणं कथ्यते, ईश्वरस्य स्रष्टव्यविषयमालोचनमुच्यते इति सम्बन्धः । जडविवर्त्त-

स्यापि जडत्वात्कथमीक्षणपदाभिधेयता तस्येत्याशङ्क्याह । चितिनिकटेति । जडो ऽपि स्वरूपतश्चितिनिकटनिवेशाच्चित्यध्यस्तमायाकार्यतया चिदाभासव्याप्त्या चितिनैकट्यं चितिनिकटनिवेशस्तस्माच्चिच्छायापत्तिवशाल्लब्धदीप्तिः प्राप्तप्रकाश इत्यर्थः । प्रविलीनसर्वप्रपञ्चवासनामयाज्ञानस्य प्रथमकार्येऽङ्कुरे इव महतो वृक्षस्य सर्वस्योत्तरस्य कार्यस्यान्तर्भावात्तदेवेश्वरस्य सर्वसृज्येक्षणमभिधीयते, न तु परमपदस्येश्वरस्यापि जीवस्येव बुद्धिवृत्तिरीक्षणमुपपद्यते इत्यर्थः ॥ २५२ ॥

अथ तदेवं ब्रह्मकार्यत्वे ऽपि वेदस्य मानान्तराधीनार्थज्ञानपूर्वकाविरचनाभावादपौरुषेयत्वमनपेक्षालक्षणप्रामाण्यं च पूर्वतन्त्रोक्त न बाधितमिति स्थितम् । तत्र शब्दार्थसम्बन्धस्य प्राचीनस्येदानींतनडित्थादिशब्दार्थसम्बन्धदृष्टान्तेन साङ्केतिकत्वानुमानात्तादृक्सम्बन्धोपेतपदसंहतिरूपवेदवाक्यानां पौरुषेयत्वं बुद्धिपूर्वकत्वलक्षणमपरिहार्यमिति तार्किकश्चोदयति—

ननु च डित्थडवित्थपदादिवत्
सकलमेव तु सामयिकं पदम् ॥
अनुमिमीमहि पूर्वनिदर्शना-
दनुमितिर्भवतीति किमद्भुतम् ॥ २५३ ॥

ननु च डित्थेति ॥ सामयिकं साङ्केतिकम् । व्याप्त्यभावे कथमनुमानप्रवृत्तिरिति न चाशङ्कनीयमित्याह । पूर्वनिदर्शनादिति । अनुमानप्रयोगात्पूर्वदृष्टदृष्टान्तादित्यर्थः । विमतानि वेदपदानि पुरुषसङ्केतितार्थानि पदत्वात् डित्थादिपदवदित्यर्थः॥२५३॥

अथ व्युत्पत्तिप्रमाणबाधितमेतदनुमानमिति दूषयति—

अनादिवृद्धव्यवहारलक्षणे

कथं प्रमाणे परिपन्थिनि स्थिते ॥
गवादिशब्दे समयोऽनुमास्यते
ऽवितथशब्दादिवदेतदुच्यताम् ॥ २५४ ॥

अनादिवृद्धेति ॥ अयमर्थः । वृद्धव्यवहाराधीना हि लोके प्रथमं शब्दार्थसङ्गत्यधिगतिः, स च वृद्धव्यवहारोऽपि पूर्वतनवृद्धव्यवहारदर्शनकृतव्युत्पत्त्यधीनः, सो ऽपि तद्वदेव, इत्येवं वृद्धव्यवहारो ऽनादिरिति सो ऽनादिवृद्धव्यवहारो लक्षणं चिह्नं यस्य प्रमाणस्य शब्दान्वयव्यतिरेकरूपस्य तदनादिवृद्धव्यवहारलक्षणं तस्मिन्नन्वयव्यतिरेकाख्ये प्रमाणे परिपन्थिनि बाधके स्थिते सति गवादिशब्दे कथं समयो ऽवितथशब्दादिवदनुमास्यते, समयकरणात्प्रागेव वृद्धव्यवहारनिबन्धनायाः शब्दसामर्थ्यानुसारिण्याः व्युत्पत्तेः सिद्धत्वादित्यर्थः । वृद्धव्यवहारे हि शब्दानामर्थबोधविषयं सामर्थ्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते न सङ्केततः, प्रथमव्युत्पत्तौ साङ्केतिकशब्दादर्शनात् दृष्टान्ताभावात् । सामर्थ्यं तु कारणस्य कार्यविषये व्यवहारत एव सिद्धमिति युक्तं शब्दार्थसम्बन्धग्रहस्य वृद्धव्यवहारपूर्वकत्वानुमानम् । विमतः शब्दादिसम्बन्धाधिगमो वृद्धव्यवहारनिबन्धनः तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्, यो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायी स तन्निबन्धनो यथेदानीतनशब्दार्थसङ्गत्यधिगमो यथा वा तन्त्वाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायी पटादिः तथा चायं तस्मात्तथा इत्यनुमानाविरोधे कथं समयो ऽनुमास्यते इत्येतदुच्यता निरूप्यतामित्यर्थः । सर्गप्रलयाङ्गीकारे ऽपि सुषुप्तप्रतिबुद्धवत्पूर्वकल्पव्यवहारानुसन्धाने सर्गादौ प्रादुर्भवन्तो ज्ञानकर्मसिद्धाः हिरण्यगर्भादयः पूर्ववदेव व्यवहारं प्रवर्त्तयि-

ष्यन्तीति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिप्रसिद्धत्वात् तदाऽपि न साङ्केतिकत्वसिद्धिरिति भावः ॥ २५४ ॥

अथ ननु सर्वजगत्कर्तृतयेश्वरस्य सिद्धत्वात् शब्दार्थसम्बन्धस्य च जगदन्तःपातित्वात्तस्यापि तत्कृतत्वनिश्चयात् वृद्धानां च व्यवहारप्रवर्त्तकत्वं तत्कृतसङ्केतानुरोधेन कल्प्यते इति चेत्, तादृशीश्वरे प्रमाणाभावादित्याह—

सतः प्रमाणाभिमतेषु पञ्चसु
प्रमाणमक्षादिषु किं चिदीक्ष्यते ॥
नहीह सम्बन्धरि तेन तस्य वः
खपुष्पकल्पत्वमभावमानतः ॥ २५५ ॥

सतः प्रमाणेति ॥ सतः सदर्थस्य सिद्धौ प्रमाणाभिमतेषु अक्षादिषु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्तिषु पञ्चसु मध्ये किञ्चिदपि प्रमाणमिह सम्बन्धरि शब्दार्थसङ्केतयितरि न हीक्ष्यते। एतदुक्तं भवति। प्रत्यक्षं तावत् तद्विषयमस्माकं नास्त्येव, अनुमानं पूर्वश्लोके तद्विषयं निराकृतम्, उपमानमपि दृष्टान्ताभावादेव नास्तीति निश्चीयते, शब्दः पुनस्तद्विषयो लौकिकस्तावन्नास्ति जगच्छब्दार्थसम्बन्धयितुर्लोकव्यवहारागोचरत्वेन तद्विषयशब्दप्रमाणरचनायोगात् । अर्थापत्तिरपि वृद्धव्यवहारत एवोपक्षीणेति न त्वदभिमतसम्बन्धसाधिका । आगमस्त्वत्रानुपलब्धिपराहतः इति न सर्गाद्यकाले शब्दार्थसङ्केतयितरि सद्भावसाधकं प्रमाणमस्तीति । न केवलं भावग्राहिप्रमाणाभावमात्रं प्रत्युत तदभावनिश्चायकमस्ति प्रमाणमित्याह। तेन तस्य व इति । वो युष्माकं तस्य सङ्केतयितुरीश्वरस्य तेन परिशेषतः सिद्धेन अभावमानतोऽभावाख्यप्रमाणेन खपुष्पकल्पत्वम् असत्त्वं

सिद्धमित्यर्थः ॥ २५५ ॥

अव. नन्वस्माकं प्रमाणपञ्चकानुत्पत्तिमात्रेण नेश्वराभावो निश्चीयते ऽनुपलब्धिप्रमाणस्य सर्वैरनङ्गीकारात्, तस्मादनुपलब्धिमात्रेण नासत्त्वनिश्चयः इति चेत्, तत्राह—

पुरोपलब्धो विषयो न दृश्यते
यदा प्रमाणैरिह भावगोचरैः ॥
तदा तु तत्रानुपलब्धिकारण
किमप्यभावादपर हि मृग्यते ॥ २५६ ॥

पुरोपलब्ध इति ॥ इह व्यवहारभूमौ यदा भावगोचरैः प्रमाणैः पुरोपलब्धो विषयो न दृश्यते तदा तु तत्र तस्मिन् विषये ऽनुपलब्धिकारणमभावादपरं किमपि मृग्यते । पूर्वोपलब्धविषये प्रमाणपञ्चकानुदयान्न तदसत्त्वनिश्चयः किन्तु इदानीं तस्याभावादेवेत्येतद्युक्तं, कदाचिदपि प्रमाणेनोपलब्धस्यात्यन्तासत्त्वनिश्चयायोगादित्यर्थः ॥ २५६ ॥

अव अत्यन्तानुपलब्धेऽर्थे तु प्रमाणपञ्चकानुदयमात्रेणैव विषयस्यात्यन्तासत्त्वनिश्चयः तस्य तत्र परिपन्थ्यभावादित्याह—

अत्यन्तानुपलब्धवस्तुनि पुनर्यः पञ्चकानुद्भव-
स्तस्याभावनिमित्तकः स न पुनस्तत्रापरं कारणम् ॥
अन्विच्छन्ति मनीषिणो न हि शशेऽदृष्ट्वा विषाणास्तितां
तत्रादर्शनकारणान्तरपरा हेत्वन्तरान्वेषिणः ॥ २५७ ॥

अत्यन्तानुपलब्धेति ॥ तस्याभावनिमित्तकः इति । तस्यात्यन्तानुपलब्धवस्तुनो ऽत्यन्ताभावनिमित्तकः स इत्यर्थः । ननु तत्राप्यनुपलब्धौ कारणान्तरं कल्पयिष्यते इति चेत्, न ।

लोके तादृश्याः कल्पनायाः अनुदयादित्याह । न हि शशेऽदृष्टे
ति । शशे शशमस्तके विषाणे ऽदृष्टे ऽनुपलब्धे सति तत्र विषाणे
अस्तिता प्रति दर्शनकारणपराः सन्तो हेत्वन्तराकाङ्क्षिणो न
हि लौकिका भवन्तीति योजना । शशमस्तके विषाणादर्शन-
मात्रेणैव तत्र तदत्यन्ताभावनिश्चयो लोकस्येत्यर्थः । एवमि-
हापि द्रष्टव्यम् ॥ २५७ ॥

अव यद्यपीश्वरो ऽनुमानादिना सिद्ध्यति तथापि न
तस्य शब्दार्थसम्बन्धसङ्केतकर्तृत्वं सम्भावनास्पदमित्याह—

त्रिषमदुर्गमदेशसहस्रगः
कथमिवैष नरः समयक्रियाम् ॥
सकलशब्दतदर्थनिवेशिनीं
वद विधातुमलं स्वयमेकलः ॥ २५८ ॥

विषमदुर्गमेति ॥ सः सङ्केतयितेश्वरो ऽशरीरोऽभ्युप-
गम्यते सशरीरो वा?। नाद्ये पक्षे तस्य सङ्केतयितृत्वसिद्धिः, स-
ङ्केतस्य वागादिकरणसाध्यत्वात् । द्वितीये लोकदृष्टसाधर्म्येण
तदसम्भवानिश्चयः । कथमेष नरः कार्यकरणसङ्घातपरिच्छिन्नः
पुरुषः एकलः एकाकी सन् स्वयं विषमदुर्गमदेशसहस्रगो भूत्वा
सकलशब्दतदर्थनिवेशिनीं समयक्रियां विधातुम् अलं समर्थः
स्यात् वद त्वमिति योजना । यथेदानींतनस्य नरस्य परिच्छिन्न-
त्वादेकत्वाच्च न सर्वशब्दार्थसङ्केतयितृत्वमवसीयते तथेश्वरस्यापि
परिच्छिन्नशरीरवत्त्वे एकत्वे च न सङ्केतयितृत्वसम्भव इति
निश्चीयते इति भावः । यदा नर इत्यस्य स्थाने हर इति पाठः
स्यात्तदापि शरीरवत्त्वपक्षे समाना योजना ॥ २५८ ॥

अव अथोच्येत जगत्कर्ता अनेकशरीरोपादानेन वा

एकशरीरत्वे ऽपि बहुशक्तिमत्त्वेन वा सर्वपदार्थेषु सर्वेषां व्यवहारप्रवर्त्तक इति कल्प्यते इति, तदप्यनुपपन्नमित्याह—

अपि च किंचिदपि प्रतिपादकं
न हि यदा पदमस्ति जगन्मुखे ॥
अनभिधाय पदेन तदा कथं
समयमेष करिष्यति शङ्करः ॥ २५९ ॥

अपि चेति ॥ जगन्मुखे जगदुत्पत्तिसमये यदा कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादकं किञ्चिदपि पदं न ह्यस्ति तदा पदेनार्थमनभिधाय कथमेषः शङ्करः समयं करिष्यति न कथमपीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । परस्य मते ऽपि दृष्टार्थवाचकतया सिद्धेनैकेन पदेन तमर्थमुक्त्वा ह्यस्येदं वाचकमिति पदान्तरस्य सङ्केतः कर्त्तव्यो यथेदानीम् "अयमसौ" इत्यादिना पदेनार्थमुल्लिख्य "देवदत्तो डित्थः" इत्यादिपदान्तरस्य सङ्केतः क्रियते तद्वत् । एतच्च जगन्मुखे एकस्यापि पदस्य वाचकत्वासिद्धावसम्भव्येवेति ॥ २५९ ॥

अथ अथाप्यङ्गुल्यादिना ऽभिनयेनार्थं प्रदर्श्य सङ्केतः क्रियतामिति चेत्, तदपि दुर्घटमित्याह—

अभिनयेन करिष्यति चेदयं
समयमेतदतीव हि दुर्घटम् ॥
न हि पदार्थसहस्रविमिश्रिते
गवि तदाऽभिनयात् समयो भवेत् ॥ २६० ॥

अभिनयेनेति ॥ अयं शङ्करः । दुर्घटत्वमेवाह । न हि पदार्थेति । पदार्थसहस्रविमिश्रिते द्रव्यगुणाद्यनेकार्थसङ्कीर्णे गवि

गोपिण्डे तदा जगन्मुखे ऽभिनयात्समयो न हि भवेदिति यो-
जना । अङ्गुल्यादिनाऽर्थं प्रदर्श्य शब्दप्रयोगमात्रेण वाच्यवाच-
कत्वसम्बन्धाविवक्षा तावन्न सिद्ध्यति, उच्चार्यमाणशब्दस्य दर्श-
नादानादिक्रियाविषयत्वशङ्काया अपि तदा समुन्मेषात् अनेक-
पदार्थसङ्कराच्चैकविषयत्वनियमासिद्धेश्चेति भावः ॥ २६० ॥

अथ इतो ऽप्यभिनयेन समयो न शक्यते इत्याह—

अपि च लौकिकमानबलाश्रया-
दधिगते विषये समयो भवेत् ॥
अनुपलब्धसतत्त्वकदेवता-
प्रभृतिकार्यगतः समयः कुतः ॥
अपि च कर्तुरनुस्मरणं भवेद्
यदि चकार पुमान् समयं गिराम् ॥ २६१ ॥

अपि चेति ॥ अनुपलब्धेति । अनवगतस्वरूपदेवताप्रभृति-
षु कार्येषु गतः समयो ऽभिनयेन कुतः स्यात् नैव स्यादित्यर्थः ।
इतो ऽपि शब्दार्थसम्बन्धसमयकर्त्रभावो निश्चीयते इत्याह ।
अपि चेति । यदि कश्चित्समयक्रियां चकार तदा तत्कर्त्तुः स्मर-
णेन भवितव्यं तदभावात्तदसत्त्वं निश्चीयते इत्यर्थः ॥ २६१ ॥

अथ अस्मर्यमाणो ऽपि कर्त्ता ऽभूदिति कल्प्यतां को वि-
रोधः ? इति चेत्, तत्राह—

न खलु कर्तृगबुद्धिबलं विना
व्यवहृतिर्भवति व्यवहर्तरि ॥
न खलु पाणिनिपिङ्गलसंज्ञया

व्यवहरन्ति तयोः स्मरणं विना ॥ २६२ ॥

न खल्विति ॥ सङ्केतितेष्वर्थेषु यो व्यवहर्ता तस्मिन् या व्यवहृतिः सङ्केतनिबन्धनो व्यवहारः कर्तृगबुद्धिबलं विना सङ्केतकर्तृविषयस्मृत्यवलम्बं विना न खलु भवति, यो यत्र सङ्केतमात्रनिबन्धनो व्यवहारः स तत्र सङ्केतयितृस्मृतिमन्तरेण नोपपद्यते, प्रकृते च न सङ्केतयितृस्मरणमस्ति लोकस्येति न जगति शब्दार्थसम्बन्धव्यवहारः सङ्केतनिबन्धन इत्यर्थः। साङ्केतिके व्यवहारे सङ्केतयितृस्मृतिपूर्वकत्वनियमः क्वोपलब्धः? इति चेत्, तदाह। न खलु पाणिनीति। पाणिनिकृता संज्ञा "वृद्धिरादैच्" इत्यादिसूत्रैः कृता वृद्ध्यादिसंज्ञा। पिङ्गलकृता संज्ञा "धीः श्रीः स्त्रीम्" इत्याद्या "मयरसत" इत्याद्या च, तयोः पाणिनिपिङ्गलयोःस्मरणं विना वृद्ध्यादिष्वाकारादौ सङ्केतितेषु पाणिनिपिङ्गलसंज्ञया न खलु व्यवहरान्ति व्यवहर्तारः किन्तु तत्स्मृतिपूर्वकमेवेत्यर्थः। यथा "इदं पाणिनिशासनमिदं पिङ्गलशासनम्" इति तत्कृतेषु ग्रन्थेषु तत्स्मरणपूर्वकः सर्वेषां व्यवहर्तॄणामविप्रतिपन्नो व्यवहारो दृष्टः न तथेह शब्दार्थसम्बन्धव्यवहार इति दृष्टव्याप्तिविरुद्धं जगच्छब्दसङ्केतयितृकल्पनमिति भावः ॥२६२॥

अव. तस्मात्पदपदार्थसम्बन्धो नेश्वरकृत इत्युपसंहरति—

पदपदार्थपरस्परसङ्गतिं
निरमिमीत ततो न जगद्गुरुः ॥
मतिमतां प्रवरो वृषभध्वजः
कणभुगादिमुनिप्रवरः प्रभुः ॥
ननु धरादिजगद्रचनाबला-

दनुमितोऽनवखण्डितशक्तिकः ॥ २६३ ॥

पदपदार्थेति ॥ ततः तस्मादिति प्रथमं योज्यम् । न निरमिमीतेति सम्बन्धः । जगद्गुरुः सर्वपूज्यः परमेश्वरः मतो मतिमतां प्रवरः सर्वदा सर्वज्ञः सः वृषभध्वजो महादेवात्मा सन् कणभुगादिमुनिप्रवराणां प्रभुरुपास्यः । पुनस्तमेव विशिनष्टि । ननु धरादीति । ननुशब्दः किलेत्यर्थे । पृथिव्यादिजगतो रचनाबलात् कार्यत्वलिङ्गसामर्थ्यादिति यावत् । अनुमितः कल्पितो ऽनवखण्डितशक्तिकोऽप्रतिहतज्ञानेच्छाप्रयत्नसामर्थ्यः । एवंविधः ईश्वरः कणादादिभिरुत्प्रेक्षितः पदपदार्थपरस्परसङ्गतिं न निरामिमीतेति योजना । इदं च पद्यं षट्पदं ज्ञेयम् ॥ २६३ ॥

अथ यदि कार्यलिङ्गसिद्धादीश्वराज्जगद्रचना तद्व्यवहारप्रवृत्ती नाभ्युपगम्येते तर्ह्यकर्त्तृकमप्रवर्त्तकव्यवहारं च किमेतज्जगदङ्गीकृतं ? नेत्याह—

अपि तु वैदिकवाङ्मनसातिगा-
नुदितलुप्तचिदेकरसात् प्रभोः ॥
अभवदानकदुन्दुभिनन्दना-
दमतिपूर्वमिदं सकलं जगत् ॥ २६४ ॥

अपि तु वैदिकेति ॥ वैदिको वेदैकगम्यः स चासौ वाङ्मनसातिगः सर्वप्रमाणाविषयश्च स चासावनुदितलुप्तचिदेकरसश्च न उदिता लुप्ता च उत्पत्तिनाशरहिता या चित् तदेकरसो नित्यचित्सदानन्दस्वरूपः चिच्छब्दस्योपलक्षणत्वात्, एवंविधादानकदुन्दुभिनन्दनाद्वासुदेवादस्मत्प्रभोरिदं जगत् अमतिपूर्वं निःश्वासवदिच्छाप्रयत्नज्ञानानादरेणाभवत् सम्पन्नम् अतो

न निरध्यक्षत्वं जगतः शङ्कनीयमित्यर्थः । अत्र वैदिकग्रहणेन तार्किकाणां तटस्थेश्वरानुमानं कार्यलिङ्गकं "यतो वा इमानि" इत्याद्यभिन्ननिमित्तब्रह्मोपादानपरवेदवाक्यबाधितविषयमिति सूचितम् । वाङ्मनसातिगत्वविशेषणेन च विवक्षितेश्वरव्याप्तलिङ्गासिद्धिः सूचिता । अनुदितेत्यादिना नित्यज्ञानस्वरूपत्वोक्त्या ज्ञानादिगुणाश्रयतया द्रव्यत्वमीश्वरस्य परेष्टं पराकृतम् । आनकदुन्दुभिनन्दनादित्यनेन वासुदेवत्वोक्त्या तस्यैव सर्वात्मत्वं द्योतितं "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इति भगवद्गीतास्मरणात् । तस्मान्न तटस्थेश्वरे मानमस्तीति सिद्धमिति भावः ॥ २६४ ॥

अथ युक्त्या निरस्तेऽपि वेदस्य पौरुषेयत्वे पुनर्वाक्यत्वलिङ्गकेनानुमानेन पौरुषेयत्वं शङ्कते—

ननु लौकिकवचसां नरमतिपूर्वकरचना
परिदृश्यत इति वैदिकवचसामनुमिनुम ॥
वचनं श्रुतिशिरसामपि नरधीकृतरचनं
वचनत्वत इव लौकिकजननिर्मितवचनम् ॥ २६५ ॥

**ननु लौकिकेति** ॥ परिदृश्यते इत्यन्तं व्याप्तिसद्भावप्रदर्शनपरम् । पूर्वार्धशेषो व्याप्तस्य वचनत्वलिङ्गस्य पक्षधर्मताप्रदर्शनार्थः । वेदो ऽपि वचनात्मकः इति वैदिकवचसामित्यनेन द्योत्यते । सिद्धे व्याप्तिपक्षधर्मत्वे सिद्धमनुमानं प्रयुङ्क्ते । वचनं श्रुतिशिरसामिति । श्रुतिशिरसां वचनमिति पक्षस्वरूपनिर्देशः । अत्र श्रुतिशिरसो ग्रहणं प्रकृतशास्त्रानुरोधात् श्रुतीनां वचनमित्येतावद्विवक्षितम् । नरधीकृतरचनमिति साध्यनिर्देशः । नरशब्दः पुरुषवचनः । पुरुषबुद्धिपूर्वकरचनं भवितुमर्हतीत्यर्थः ।

इवेत्यादि दृष्टान्तपरमिति विवेकः । वचनमिवेति योज्यम् ॥२६५॥

अथ न चानीश्वरपुरुषमादायार्थान्तरताऽत्र शङ्क्या पक्षधर्मताबलाद्वेदवाक्यरचयितुः सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादिसिद्धेरित्याह—

न च मादृशजनधीकृतरचनं श्रुतिवचनं
भवितुं क्षममिति वैदिकरचनाबलमिषतः ॥
अनुमीयत इह शूलभृदिति चेदिदमशुभं
न हि वैदिकवचसामभिभवनास्पदमनुमा ॥ २६६॥

**न च मादृशेति** ॥ सर्वार्थप्रकाशकवेदवाक्यरचनाबलमिषतो रचनासामर्थ्यद्वारेण मादृशजनधीकृतरचनं श्रुतिवचनं न च भवितुं क्षममिति शूलभृन्महेश्वरः श्रुतिवाक्यरचयिताऽनुमीयते इति चेदिति योजना । धर्माधर्मेश्वराणामतीन्द्रियत्वात्तद्विषयवेदवाक्यानामस्मदादिभिरनीश्वरात्मभिः विरचयितुमशक्यत्वाज्जीवविलक्षणोऽतीन्द्रियार्थदर्शी परमाप्तः सर्वेश्वरो वेदप्रणेतेति सिद्ध्यतीत्यभिप्रायः । आगमबाधितविषयमिदमनुमानमिति सिद्धान्ती दूषयति । इदमशुभमिति । दृष्टसाधर्म्येण प्रवर्त्तमानमनुमानं नात्यन्तातीन्द्रियार्थबोधकस्वतन्त्रागमस्य बाधकं तत्र तस्यासामर्थ्यात्, प्रत्युतागम एव दृष्टान्तादिनिरपेक्षः स्वप्रतिकूलार्थबोधकानुमानस्य बाधकः इत्यतः इदमनुमानमागमबाधितमेवेत्यभिप्रायः ॥ २६६ ॥

अथ कोऽसावागमो योऽनुमानबाधकः ? इति तमाह—

ब्रह्म स्वयम्भु परमात्मपदस्य वेदो
निःश्वासकल्प इति चापरमामनन्ति ॥
वाक्यं तदस्य मतिपूर्वकताऽनुमानं

सद्यो निरस्यति न चेदपबाधितं स्यात् ॥ २६७॥

ब्रह्म स्वयम्भ्विति॥ "ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः" "ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्" इति ब्रह्मपदवाच्यस्य वेदस्य स्वयम्भुत्वं परानधीनात्मलाभत्वलक्षणमामनन्ति केचिच्छाखिनः इति योजना। वेदः परमात्मपदस्य परमात्मस्वरूपस्य निःश्वासकल्पो ऽबुद्धिपूर्वकतया निःश्वासतुल्य इति चापरं वाक्यम् "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" इत्यादिकमामनन्तीति पुनर्योजना। तत् वाक्यमुक्तवाक्यजातमस्य वेदस्य मतिपूर्वकताऽनुमानं सद्यो ऽनुमानप्रयोगसमये एव निरस्यति बाधते, न चेद्बाधेतानुमानमिदं श्रुतिवचनं तदा स्वयमपि बाधितं स्यान्निर्विषयं स्यात् अर्थान्तरासम्भवात्, तच्चायुक्तम् अध्ययनविधिगृहीतस्याक्षरमात्रस्याप्यानर्थक्यायोगादित्यर्थः ॥ २६७ ॥

अथ न केवलं वेदसृष्टिरेवेश्वरस्यामतिपूर्वा किन्तु सर्वजगत्सृष्टिरपि तथैवेति श्रौत मतमित्याह—

सृजति रक्षति संहरति प्रभुः
सकलमेव निविश्य नियच्छति ॥
अमतिपूर्वमिति श्रुतिशासने
वद कथं मतिपूर्वकताऽनुमा ॥ २६८ ॥

सृजतीति ॥ अक्षरार्थस्त्ववतिरोहितः। कूटस्थचिद्धातोरीश्वरस्य स्वतो जगद्रचनादिव्यापारासम्भवादद्वैतमते च आगन्तुकस्य हेत्वन्तरस्यायोगात् "मायां तु प्रकृतिम्" "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्याद्यनेकश्रुतिभिः "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इत्यादिस्मृतिभिश्च

मायाऽविद्याऽज्ञानादिशब्दवाच्यस्यात्माश्रयात्मविषयस्य जडस्य सदसद्भ्यामनिर्वचनीयस्य ब्रह्मणो जगत्सृष्ट्यादौ द्वारत्वाङ्गीकारादज्ञानमूलकमेव जगत्प्रवृत्तिरिति सिद्धान्तस्थितौ न बुद्धिमत्पुरुषपूर्वकत्वं जगद्वेदरचनयोः शक्यते ऽङ्गीकर्त्तुमित्येतत्सर्वमभिप्रेत्योक्तम् । अमतिपूर्वमिति श्रुतिशासने इति। अमतिरज्ञानं तत्पूर्वमित्युदाहृतश्रुतिशासने इत्यर्थः ॥ २६८ ॥

अथ एवमपि वेदस्य प्रामाण्यायैवाप्तप्रणीतताऽङ्गीकार्या आप्तप्रणीतस्यानाप्तप्रणीतस्य वा वाक्यस्य प्रामाण्यायोगादिति चेत् , न । परस्पराश्रयत्वाद्वेदस्याप्तोक्तत्वप्रमाणत्वयोरित्याह—

आप्तोक्तत्वप्रत्यये मानभावो
वेदस्यास्य ज्ञायते मानभावे ॥
विज्ञाते सत्याप्तपूर्वत्वसिद्धि-
रित्यन्योन्यापाश्रयत्वप्रसङ्गः ॥ २६९ ॥

आप्तोक्तत्वेति ॥ २६९ ॥

अथ तर्हि कथं वेदस्य प्रामाण्यमिति चेत्, तस्य स्वत एव प्रामाण्यान्न कारणापेक्षेत्यभिप्रेत्याह—

तस्मादेषा स्वप्रयुक्तप्रमाण-
भावज्ञाना वेदविद्याऽभ्युपेया ॥
प्रामाण्यं स्यात् स्वप्रयुक्तं च तस्या
वस्तुस्थित्या ज्ञप्तिवन्नान्यतस्तत् ॥ २७० ॥

तस्मादेषेति ॥ यस्मादाप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमन्योन्याश्रयग्रस्तम् अनाप्तप्रणीतत्वं च वेदस्य यस्मान्न निश्चीयते वेदप्रमेयस्य

धर्मादेर्मानान्तराविषयत्वादनाप्तप्रणयनसन्देहो ऽप्यत्र नावतरति। तस्मादेषा वेदविद्या स्वप्रयुक्तप्रमाणभावज्ञानाऽभ्युपेया, स्वप्रयुक्तं प्रमाणभावज्ञानं यस्याः सा तथा। ज्ञानस्वरूपग्राहकप्रमाणादेव प्रामाण्यस्य ग्रहणं प्रामाण्यज्ञानस्य स्वप्रयुक्तत्वम्। तथा च यदैव वेदविद्या स्फुरति तदा प्रमाणत्वेनैव स्फुरति न पुनस्तथा स्फुरणे कारणान्तरमपेक्षते इत्यर्थः। ज्ञप्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्ववदुत्पत्तावपि स्वतस्त्वमाह। प्रामाण्यं स्यादिति। तस्याः वेदविद्यायाः उत्पत्तौ च प्रामाण्यं वस्तुस्थित्या स्वप्रयुक्तं स्यादित्यन्वयः। प्रामाण्योत्पत्तौ स्वप्रयुक्तत्वं नाम ज्ञानजनकादेव हेतोर्वस्तुस्थित्योत्सर्गतः प्रामाण्यस्योत्पत्तिः। तथाच यदैव यतो हेतोर्वेदस्वरूपाभिव्यक्तिस्तदैव तत एव प्रमाणत्वेनैवाभिव्यक्तिर्न तस्य प्रमाणस्वरूपत्वसम्पादनाय हेत्वन्तरापेक्षेत्यर्थः। ज्ञप्तिवदिति परानपेक्षत्वमुत्पत्तावपि तुल्यमिति दर्शयति॥२७०॥

अथ व्यवहारे ऽपि प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमाह—

ज्ञप्त्युत्पत्त्योर्यद्वदेवं प्रवृत्ता-
वस्या युक्ता मानता स्वप्रयुक्ता॥
वेदोत्थाया बुद्धिवृत्तेर्न हीय-
मुत्पद्यान्यत् संविदे काङ्क्षतीति॥ २७१॥

ज्ञप्त्युत्पत्त्योरिति॥ प्रवृत्तिर्नाम मानस्य संविदुत्पादकत्वलक्षणो व्यापारः स एव प्रमाणव्यवहारः। अस्याः वेदोत्थायाः बुद्धिवृत्तेर्यद्वज्ज्ञप्त्युत्पत्त्योः एवं प्रवृत्तावपि मानता स्वप्रयुक्तेति सम्बन्धः। ज्ञप्त्युत्पत्तिप्रवृत्तिषु स्वप्रयुक्तत्वमेव स्फुटयति। न हीयमिति। संविदे संवादाय॥ २७१॥

अथ तस्मात्स्वत एव वेदप्रामाण्यसिद्धेः अन्यथा च तत्प्रामा-

ण्यासम्भवादबुद्धिपूर्वैव वेदादिसृष्टिरीश्वरस्येति श्रुतियुक्तिभ्यां युक्तमेवोक्तमित्युपसंहरति—

विश्वं विष्णोरुत्थितं नामरूपं
निःश्वासादिप्रख्यमित्याह वेदः ॥
यत्तत्तथ्यं वर्त्मना वर्णितेन
तस्मान्मिथ्या पौरुषेयानुमानम् ॥ २७२ ॥

विश्वं विष्णोरिति ॥ नामरूपमिति विश्वस्वरूपनिर्देशः । वाच्यवाचकात्मकमित्यर्थः । नामरूपं विश्वं निःश्वासादिप्रख्यं निःश्वासादितुल्यं विष्णोरुत्थितमिति यत् वेदः आह तत् वर्णितेन वर्त्मना तथ्यं यथार्थ, नास्य बाधकमस्तीति योजना । यस्मादेवं तस्माद्वेदस्य बुद्धिपूर्वकसृष्टित्वानुमानं श्रुतिबाधितत्वाद-प्रमाणमिति सिद्धमित्याह । तस्मान्मिथ्या पौरुषेयानुमानमिति ॥ २७२ ॥

अथ प्राच्यां मीमांसायां प्रथमपादोक्तस्वतःप्रामाण्योत्थ-विरोधपरिहारं परमप्रकृतमुपसंहरति—

परिणामविवर्त्तयोरतः
परिक्लृप्तावपि वेदगोचरः ॥
न हि चोद्यलवोऽपि विद्यते
कथितेनैव पथाऽनपेक्षतः ॥ २७३ ॥

परिणामविवर्तयोरिति ॥ निगदव्याख्यातं पद्यम् ॥२७३॥

अथ तदेवं कार्यकारणादिव्यवहारस्य मायामात्रत्वात्प्रा-गुक्तेन च न्यायेन कारणत्वेश्वरत्वादिसमस्तविकल्परहितं निर्विशेषसच्चिदानन्दमात्रं ब्रह्मेति तत्पदार्थो वाक्यार्थान्वययो-

ग्यतया संशोधितः, इदानीं तत्पदार्थे त्वम्पदार्थे च कियद्धेयं कियच्चोपादेयमिति विवेक्तुं विभागमाहोक्तस्यैव वैशद्याय—

उपाधिमौपाधिकमान्तरं चि-

दाभासनं चित्प्रतिबिम्बकं च ॥

चिद्बिम्बमेवं चतुरः पदार्थान्

विविच्य जानीहि तदर्थभाजः ॥ २७४ ॥

उपाधिमित्यादिना ॥ औपाधिकमित्यस्य व्याख्या आन्तरमिति । उपाध्यन्तः प्रविष्टमुपाधिस्थत्वविशिष्टं चिदाभासनं चैतन्याभासमौपाधिकमित्यर्थः ॥ २७४ ॥

अथ त्वंपदार्थे ऽपि चातुर्विध्यमाह—

तथा त्वमर्थेऽपि चतुष्टयन्तद्

विवेचनीयं निपुणेन भूत्वा ॥

मतिश्चिदाभासनमेवमस्यां

बिम्बन्तदीयं प्रतिबिम्बकं च ॥ २७५ ॥

तथा त्वमर्थे ऽपीति ॥ तदेव चतुष्टयं विभजते । मतिरिति । मतिः अन्तःकरणमुपाधिः ॥ २७५ ॥

अथ तत्पदार्थगतचतुष्टयस्वरूपं विवृणोति—

उपाधिरज्ञानमनादिसिद्ध-

मस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम् ॥

तदन्विता चित् प्रतिबिम्बकं स्या-

दुदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम् ॥ २७६ ॥

उपाधिरज्ञानमिति ॥ तदर्थे अनादिसिद्धमज्ञानमुपाधिः। अस्मिन्नुपाधौ चिदाभासनं चिद्वदाभासनं, न साक्षाच्चित् नापि जडं चितिसन्निधिवशादुपाधिधर्मतया जातं तच्च कारणमायागतं सत् ईश्वरत्वं चिदात्मनीश्वरशब्दप्रवृत्तिद्वारमित्यर्थः । तदन्विता यथोक्ताभासाविविक्ततयोक्तोपाध्यनुगता चित् प्रतिबिम्बकं प्रतिबिम्ब ईश्वरपदवाच्यः स्यादित्यर्थः । आभासहेतुभूता शुद्धचिदेव बिम्बम् उक्तप्रतिबिम्बापेक्षया बिम्बमित्युच्यते, ईश्वरवाच्यकतत्पदलक्ष्यं तद्भवतीत्यर्थः ॥ २७६ ॥

अथ इदानीं त्वमर्थगतचतुष्टयस्वरूपमाह—

उपाधिरन्तःकरणं त्वमर्थे
जीवत्वमाभासनमत्र तद्वत् ॥
तदन्विता चित् प्रतिबिम्बमेक-
मनन्वितां तामिह बिम्बमाहुः ॥ २७७ ॥

उपाधिरन्तःकरणमिति ॥ प्रतिपदस्य प्रतिपदम् अन्तःकरणमिति । अत्र त्वमर्थे तद्वत् ईश्वरत्ववत् आभासनं जीवत्वम् । अन्तःकरणस्योपाधेः कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वात्तद्गताभासस्यापि पारतन्त्र्याच्चिदात्मन्यप्यविवेकेन पारतन्त्र्यापादनेन जीवपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वादन्तःकरणगतचिदाभासनं जीवत्वं भवति, आभासाविवेकेन भासमाना चित् प्रतिबिम्बं जीवो भवतीत्यर्थः । अनन्विताम् उपाधितत्स्थाभासतदविविक्ताकारेभ्यो विविक्तां तां चितम् इह त्वमर्थे बिम्बमाहुः अध्यात्मतत्त्वविद इति योज्यम् ॥ २७७ ॥

अथ उक्तार्थचतुष्कद्वये हेयमुपादेयं चेदानीं विभजते—

उपाधिना सार्द्धमुपाधि जन्य-

मौपाधिकं सर्वमवेहि मिथ्या ॥
भाग मृषा चित्प्रातिबिम्बकेऽपि
बिम्ब पुनः सत्यमशेषमेव ॥ २७८ ॥

उपाधिना सार्धमिति ॥ उपाधिजन्यमौपाधिकमिति व्याख्यानव्याख्येयभावेन योज्यम् । सर्वमौपाधिकमुपाधिना सार्धमुपाधिसहितं मिथ्या न परमार्थः इति पदार्थद्वये ऽप्यवेहि जानीहि उपाधितत्स्थाभासौ न केनापि रूपेण परमार्थावित्यतः तत्रात्माद्यभिमानस्त्याज्यः इत्यर्थः । प्रातिबिम्बके तु विशेषमाह । भागं मृषेति । चित्प्रातिबिम्बके ऽपि भागम् आभासाविविक्तत्वांशं मृषेत्यवेहीति योजना । बिम्बं पुनरशेषमेव सत्यम् अशेषं सत्यमेवेति वा योजना । उपाधितद्धर्मानास्कन्दितं चिन्मात्रमेव पदार्थद्वये ऽपि सत्य तत्त्वंपदयोर्लक्ष्यं तदेवोपादेयम् अन्यत् सर्वमनात्मेति ज्ञात्वा तत्राभिमानत्यागेन हेयमिति भावः ॥ २७८ ॥

अथ एतच्चोक्तं चातुर्विध्यं लौकिकप्रातिबिम्बेष्वपि प्रसिद्धमेवेत्युदाहरणमाह—

अप्पात्रमप्पात्रगतत्वमेव-
मप्पात्रगोऽप्पात्रगताद्बहिष्ठ ॥
दिवाकरो दिव्यवतिष्ठमानो
न शक्यतेऽपोहितुमिद्धतेजाः ॥ २७९ ॥

अप्पात्रमिति ॥ अप्पात्रम् उदकधृक् शरावादि उपाधिः । अप्पात्रगतत्वमित्याभासनमुक्तम् । अप्पात्रगत इति प्रातिबिम्बोक्तिः । अप्पात्रगतात्परश्च दिवाकरो दिव्यवतिष्ठमान इति शुद्धबिम्बमुच्यते । न शक्यते इत्यादिना तस्य सत्यत्वं शुद्धत्वं च

प्रतिपाद्यते । अर्थादवस्थान्तरं सर्वं पूर्वोक्तं तस्योपाधिप्रयुक्तं मिथ्याऽशुद्धं चेत्युक्तं भवति ॥ २७९ ॥

अव उक्तदृष्टान्तवत् दार्ष्टान्तिकेऽपि प्रतिपत्तव्यमित्याह—

पुरं पुरस्थत्वमथो पुरस्थ
पुराद्बहिः शुद्धमवस्थितश्च ॥
तथा परं ब्रह्म सुसूक्ष्मयाऽपि
धिया निराकर्त्तुमशक्यमेव ॥ २८० ॥

पुरमिति ॥ पुरमुपाधिः । पुरस्थत्वं चिदाभासनम् । अथो इत्यव्ययं तथेत्यर्थे पादपूरणार्थम् । पुरस्थमिति प्रतिबिम्बोक्तिः । पुराद्बहिः शुद्धमिति बिम्बकथनम् । तस्यैव शुद्धत्वमुपादेयत्वायोपपादयति । तथा परब्रह्मेति । यथा दिव्यवतिष्ठमानो दिवाकरस्तथा पुराद्बहिरवस्थित शुद्धं परं ब्रह्म सुसूक्ष्मयाऽपि धिया निराकर्त्तुमशक्यमेव सर्वस्य निराकृतेस्तदवधित्वादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति ॥ २८० ॥

अव तस्मान्निर्विशेषमेव ब्रह्मतत्त्वमिति सिद्धमुपसंहरति—

न स्थामतोऽप्यस्ति परस्य तस्माद्
विशेषयोगः परमार्थरूपः ॥
स्वतः पुनर्दूरनिरस्तमेव
परस्य तत्त्वस्य विशेषवत्त्वम ॥ २८१ ॥

न स्थानतोऽपीति ॥ स्पष्टार्थम् ॥ २८१ ॥

अव स्वयमेव युक्त्यन्तरैर्निर्विशेषं ब्रह्मेति प्रतिपाद्य, इदानी-

मस्मिन्नधिकरणे "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" इति सूत्रेण प्राधान्येनोक्तं निर्विशेषवाक्यानां तत्परत्वं विवृणोति—

श्रुतेश्च तात्पर्यमखण्डरूपे
पर उपरस्तादुपवर्णितं च ॥
ततोऽपि तस्याद्वयरूपतोऽन्य-
द्रूपान्तरं कल्पयितुं न शक्यम् ॥ २८२ ॥

श्रुतेश्चेति ॥ अखण्डरूपे निर्विशेषे परे ब्रह्मणि श्रुतेस्तात्पर्यं पुरस्तात्प्रथमाध्याये उपवर्णितं, ततोऽपि समन्वयाध्यायसिद्धन्यायतोऽपि तस्य ब्रह्मणः इति सुगमम् । यद्यपि निर्विशेषे एव ब्रह्मणि सर्ववेदान्तसमन्वयः इति तत्र प्राधान्येन प्रतिपादितं, तथापि तत्र "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इत्यादौ सविशेषेऽपि ब्रह्मणि वाक्यानां केषांश्चित्समन्वयस्योपपादनात्सविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्मणस्तत्त्वमिति पुनः शङ्कायां तत्रोक्तं निर्विशेषपरत्वमेव हेतुमादाय निर्विशेषत्वमिह व्युत्पाद्यते इति भावः ॥ २८२ ॥

अथ ननु सविशेषत्वबोधकश्रुतिवशात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणः कुतो न स्यादिति चेत्, तस्यास्तत्परत्वाभावादुपासनाद्यर्थान्तरपरत्वान्नैवमित्याह—

भेदश्रुतिस्त्वन्यपरा समस्ता
समस्तवेदेषु न तत्पराऽसौ ॥
अतत्परा तत्परवेदवाक्यै-
र्विरुध्यमाना गुणवाद एव ॥ २८३ ॥

भेदश्रुतिरिति ॥ अन्यपरायाः अपि देवताऽधिकरणन्या-

येन स्वार्थपरत्वमपि किं न स्यादित्याशङ्क्य, मानान्तराविरोधान्मैवमित्याह । अतत्परेति ॥ २८३ ॥

अथ ननु सविशेषवाक्यैर्विरोधः इतरेषामपि समानः इति चेत्, सत्यं, तथापि निरवकाशतया निर्गुणवाक्यानां स्वार्थैकपरत्वेन प्राबल्यान्न तदर्थमन्यथा नेतुं शक्नुयुः सविशेषवाक्यानीत्याह—

न ह्यर्थवादा विधिभिर्विरुद्धा
विध्यर्थसङ्कोचकरा भवन्ति ॥
किं तु प्रधानानुगुणं यदेषा-
मालम्बनं तत् खलु कल्पनीयम् ॥ २८४ ॥

न ह्यर्थवादा इति ॥ विधित्वं शेषित्वम् । स्पष्टार्थमर्धम् । तर्हि किमर्थवादाः निरालम्बनाः एवेति ? नेत्याह । किन्त्विति । यद्येषामर्थवादानां प्रधानानुगुणं विध्यनुगुणं भवति तत् खल्वालम्बनं कयाऽपि वृत्त्या कल्पनीयं न प्रधानविरुद्धार्थालम्बनत्वमुचितमित्यर्थः ॥ २८४ ॥

अथ अस्मिन्नर्थे पूर्वतन्त्रसम्मतिमाह—

यथा ह्यजक्षीरविधेः समीपे
यज्जार्तिलादेः परिकीर्तनं तत् ॥
प्रधानसङ्कोचभयादपास्य
स्वमर्थमासीद् गुणवाद एव ॥ २८५ ॥

यथा हीति ॥ चयनगते ऽग्निहोत्रे श्रूयते "जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवेधुकयवाग्वा वा" इति । तथा "अजक्षीरेण जुहोति" इति च । जर्तिलाः आरण्यतिलाः । गवेधुकाः आरण्यगो-

धूमाः। तेषां यवागूर्मण्डः। अजायाः क्षीरमजक्षीरम्, अजशब्दस्य जातिवचनत्वाददोषः। अत्र संशयः—किं जर्तिलगवेधुकहोमवादोप्यजक्षीरहोम इव विधिः किं वाऽर्थवादः इति। तत्र विधिप्रत्ययश्रवणात् अग्निहोत्रस्य च द्रव्याकाङ्क्षिणः श्रुतद्रव्यपरिग्रहोपपत्तेः अजक्षीरेण विकल्पोपपत्तेश्च विधिवचनो जर्त्तिलादिवादः इति प्रापय्य राद्धान्तितम् "अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुहोति" इति जर्तिलादिनिन्दापूर्वकमजक्षीरविधानादजक्षीरविधेः प्राधान्यमत्रावगतम्। तथा च जर्तिलादेरपि होमद्रव्यत्वाश्रयणे उत्पत्तिशिष्टस्याजक्षीरस्य विकल्पप्राप्तौ पाक्षिकस्तद्विधिः स्यात्, स चायुक्तः विकल्पाश्रयणस्यागतिकगतित्वात्। अष्टदोषदुष्टत्वात्, इह च निन्दावाददर्शनात्तुल्यवद्विकल्पाश्रयणासम्भवाच्च। तस्माज्जर्तिलादिरजक्षीराग्निहोत्रहोमस्तुत्यर्थवादो गुणवादेनाग्निहोत्रहोमस्यावश्यकत्वोक्त्या स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेरिति। एषाऽक्षरयोजना—अजक्षीरविधेः प्रकरणित्वेन प्रधानभूतस्य समीपे यज्जर्तिलादेः परिकीर्तनं तद्यथा प्रधानस्य अजक्षीरविधेः सङ्कोचभयात् अपास्य विधिपरत्वं निराकृत्य स्तुत्यर्थं गुणवाद एवासीन्निश्चितो बभूवेति ॥ २८५ ॥

अथ तथाऽत्रापि विशेषवाक्यानां गुणवादेन तत्स्तुत्यर्थत्वमेव युक्तमिति दार्ष्टान्तिकमाह—

> एवं सतीहापि विरुध्यमानं
> वचो यदद्वैतपरैर्वचोभिः ॥
> तदस्तु गौणं यदि वा परस्य
> मायाप्रसूतद्वयवादि मुख्यम् ॥ २८६ ॥

एवं सतीति ॥ "प्रधानानुरोधिनोऽर्थवादाः न प्रधा-

नविरोधिनः" इति न्यायतः सिद्धे सतीत्यर्थः । इह वेदान्तेष्वपि यत् अनन्यथासिद्धार्थतया प्रधानभूताद्वैतवचोभिर्विरुध्यमान वचो ऽस्ति तद्गौणमस्तु गुणवादेन स्तुत्यर्थोऽर्थवादोऽस्त्विति योजना । नन्वेवं सविशेषवाक्यानां सर्वथा गुणवादत्वे उपासनाविध्यपेक्षितविधेयार्थविशेषसमर्पकत्वमपि तेषां न स्यादित्याशङ्क्य, पक्षान्तरमाह । यदि वेति । परस्य ब्रह्मणो मायाप्रसूतं यत् द्रव्यं तद्वादि सन्मुख्यं मुख्यार्थमस्तु, यथाश्रुतं सविशेषत्वमपि मायामयमस्तीति तद्विषयत्वं तेषां मुख्यमस्तु । अस्मिन्पक्षे विषयभेदान्न निर्विशेषवाक्यविरोधितेति भावः ॥ २८६ ॥

अव भेदश्रुतेरपि चेन्मुख्यमालम्बनमिष्यते तर्हि तस्याः कथं चिद्वस्तुसंस्पर्शित्वमेष्टव्यमिति चेत्, तदशक्यं, तत्परवाक्यविरोधादित्याह—

भेदश्रुतिः कल्पितमेव भेद-
मालम्ब्य मुख्यार्थवती भवित्री ॥
अतत्परा तत्परवाक्यभङ्ग-
स्त्वितोऽन्यथा याति विना निमित्तम् ॥ २८७ ॥

भेदश्रुतिः कल्पितमेवेति ॥ कल्पितभेदावलम्बनेनैव मुख्यार्थवत्त्वे हेत्वर्थं विशेषणम् अतत्परेति । उपासनादिपरत्वान्न भेदपरेत्यर्थः । विपक्षे दोषमाह । तत्परवाक्यभङ्गस्त्विति । तत्परवाक्यस्य स्वार्थपरत्वापहारः इति यावत् । जर्तिलादिवाक्यस्येव स्वार्थापहारो ऽप्यस्त्विति चेत्, नेत्याह । विना निमित्तमिति ॥ २८७ ॥

अव ननूपासनावाक्यानामुपासनानिष्ठत्वेनार्थवादत्वाभावात्तत्र श्रुतं सविशेषत्वं वस्तुधर्म एवेति चेत्, नेत्याह—

यदपि किं चिदुपासननिष्ठिताद्
वचनतः प्रतिभाति परात्मनः ॥
सकलगन्धरसादिमयं वपु-
स्तदपि कल्पितभेदसमाश्रयम् ॥ २८८ ॥

यदपीति "सर्वगन्धः सर्वरसः" इत्यादिविशेषणविशिष्टं वपुरित्यर्थः ॥ २८८ ॥

अव कुतः कल्पितभेदसमाश्रयत्वम् ? इति तत्राह—

न खलु निर्गुणवस्तुपर वचः
सगुणवाक्यविरोधनिमित्तत. ॥
स्वविषयादपसारयितु बला-
दतिबलिष्ठपदान्वयमिष्यते ॥ २८९ ॥

न खलु निर्गुणेति ॥ अयमर्थः । निर्गुणवाक्यं तावदत्यन्तं बलिष्ठमेव अन्योपजीवित्वाभावात्, सगुणवाक्यं तु तदपेक्षया दुर्बलं निर्गुणवाक्यशेषभूतसृष्ट्यादिवाक्यासिद्धसर्वात्मकब्रह्मरूपानुवादेन तद्विषयोपासनाविधिपरत्वात्, अतः उपजीवकेन दुर्बलेनोपजीव्यं सबलं न बाधमर्हतीति । एषाऽक्षरयोजना । अतिबलिष्ठपदान्वय निर्गुणवस्तुपरं वचः सगुणवाक्यविरोधनिमित्ततो न खलु स्वविषयाद् बलादपसारयितुमिष्यते इति ॥ २८९ ॥

अव. तत्पदार्थशोधनप्रकरणमुपसंहरन् शोधिततत्पदार्थलक्ष्यं दर्शयति —

तस्मात्तत्परवेदवाक्यगतिभिर्न्यायेन चात्मप्रभं

सर्वद्वैतविवर्जितं विगलितध्वान्तं शिवं शाश्वतम् ॥
प्रत्यग्रूपमरूपगन्धरसकं तच्छब्दवाच्ये स्थितं
वाक्यार्थान्वयि लक्षित भगवतो विष्णोः पदं गृह्यताम् ॥ २९० ॥

तस्मात्तत्परेति ॥ वाक्यगतयो वाक्यानामर्थावबोधनप्रकाराः । न्यायस्तु औपाधिकानामुपाधीनां च मिथ्यात्वप्रतिपादनयुक्तिः । प्रत्यग्रूपं प्रतीचः स्वरूपभूतं, न तटस्थमित्यर्थः । तच्छब्दवाच्ये शबले स्थितम् अधिष्ठानत्वेनानुगतमित्यर्थः । एवंभूतं विष्णोः पदं तत्पदलक्षितं वाक्यार्थान्वयि गृह्यतामिति योजना ॥ २९० ॥

अव शोधिते तत्पदलक्ष्ये प्रमाणत्वेन काठकमन्त्रवाक्यमुदाहरति—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ॥
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचायनीयं पदमीदृशं हरेः ॥ २९१ ॥

अशब्दमस्पर्शमिति ॥ अशब्दमित्यादौ प्रतिपदं नित्यपदं योज्यम् । नित्यमशब्दं नित्यमस्पर्शमित्यादि । अव्ययं गुणावयवोपचयनिमित्तव्ययरहितं निर्गुणं निरवयवं चेत्यर्थः । पूर्वार्धोक्तपञ्चभूततद्धर्मव्यावृत्तस्वरूपत्वे हेत्वर्थ विशेषणम् अनाद्यनन्तमिति । पूर्वोत्तरावधिविधुरमित्यर्थः । आद्यन्तविकारनिषेधादेव मध्यवर्त्तिनो ऽस्तित्वादयोऽपि विकाराः प्रतिषिद्धा वेदितव्याः । महतः परमिति जीवाद्वैलक्षण्यमाह । महानिति बुद्धिरुच्यते तदुपाधिको जीवः इह महानिति विवक्ष्यते तस्मात्प-

रम् । एतावत्युक्तेऽपि महत्त्वान्परमव्यक्तमव्याकृताख्यं प्राप्तं तदर्थमाह । ध्रुवमिति । आविचलं न परिणामीत्यर्थः । किंबहुना सर्वाचेतनतद्गतचिदाभासविलक्षणं तत्त्वं परमात्मा तं निचाय्य अहमस्मीत्यवगम्य मृत्युमुखात्संसारबन्धनात्प्रकर्षेण मुच्यते इति मन्त्रार्थः ॥ २९१ ॥

अथ अत्रैव श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्र पठति —

भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत् ॥
जीवेशानौ सृज्यमानं जगच्च
शुद्धं ब्रह्मेत्याह वेदान्तवाक्यम् ॥ २९२ ॥

भोक्ता भोज्यमिति ॥ भोक्तातिप्रथमा द्वितीयाऽर्थे । भोक्तारं जीवं भोज्यं प्रपञ्चं प्रेरितारमीश्वरं च मत्वा युक्तितो विचार्य सर्वं तत्त्रिविधं मे मह्यं ब्रह्म प्रोक्तं ब्रह्मव्यतिरेकेण नैतत्त्रिविधमस्ति ब्रह्मैवास्तीति प्रोक्तमिति मन्त्रदृशो वचनार्थः । एतन्मन्त्रार्थमाह । जीवेशानाविति ॥ २९२ ॥

अथ पदार्थतत्त्वबोधेनैव कृतार्थता मन्वानं शिष्यं प्रति "नैतावता ते कृतार्थता महावाक्यार्थबोधमन्तरेण पदार्थद्वयगतपारोक्ष्यसद्वयत्वांशानिवृत्तेः तन्निवृत्तिं विना ऽखण्डानन्दानुभवाभावेनाकृतार्थत्वतादवस्थ्यात्" इत्यभिप्रेत्याह—

पदार्थबोधेन कृतार्थता न ते
मतिः परोक्षा हि पदार्थगोचरा ॥
अतो महावाक्यनिबन्धनैव धी-
रबोधविच्छेदकरी भविष्यति ॥ २९३ ॥

पदार्थबोधेनेति ॥ पदार्थगोचरा हि मतिः परोक्षा युक्तिमात्रोपनिबद्धत्वादित्यर्थः । सुगममन्यत् ॥ २९३ ॥

अथ वाक्यमपि स्वार्थं बोधयत्पूर्ववृत्तबहुनियमापेक्षमेव बोधयति न यस्य कस्य चिद्यथाकथंचिच्छ्रवणमात्रादित्यभिप्रेत्याह—

स्वाध्यायधर्मपठितं निजवेदशाखा-
वेदान्तभूमिगतमादरपालितं च ॥
संन्यासिना परदृशा गुरुणोपदिष्टं
साक्षान्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः ॥ २९४ ॥

स्वाध्यायधर्मेति ॥ महावचनं महावाक्यमेव साक्षाद्विमुक्तिहेतुरिति सम्बन्धः । आद्येन विशेषणेनाध्ययनविधेरत्र प्रामाण्यसूचनाल्लिखितपाठादिना वा नियमहीनाध्ययनेन वा गृहीतवाक्यव्यावृत्तिः क्रियते । द्वितीयेन परशाखागतवाक्यस्य प्राधान्येन ग्रहणव्युदासः । स्ववेदशाखासिद्धैरेव कर्मविज्ञानैः स्वस्य श्रेयःप्राप्तिरिति स्मृत्याचारप्रसिद्धं, शाखारण्डत्वेनान्यशाखानिष्ठस्य निन्दाप्रायश्चित्तयोरुपलम्भात् । स्वशाखावाक्येन सिद्धेऽर्थे मतिदार्ढ्याय संवादितया परशाखावाक्यग्रहणं न प्रतिषिध्यते । आदरपालितमिति अध्ययनात्प्रभृति संन्यासकालपर्यन्तमविस्मरणं विवक्ष्यते, तेन च ब्रह्मोज्झत्वादिदोषराहित्यं साधकस्याभिप्रेतं "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति शास्त्रमाश्रित्याह । संन्यासिनेति । तस्य परदृशेति विशेषणेन भेदाभेदनिष्ठकुटीचकादिसंन्यासी गुरुत्वे व्यावर्त्यते ॥ २९४ ॥

अथ वेदान्तवाक्यादेव प्रत्यक्त्वावगतिर्मुक्तिहेतुर्नान्यतस्त-

द्वगतिरित्यत्र प्रमाणमाह—

नावेदाविन्मनुते पुरुषं बृहन्त-
मित्याह वेदवचनं कथमन्यथैतत् ॥
वाक्यान्तरं च कथमाह पुमांसमेनं
साटोपमौपनिषदत्वविशेषणेन ॥ २९५ ॥

**नावेदाविदिति** ॥ अत्र वेदशब्दो वेदान्तवचनः । अवेद-वित् वेदान्तानभिज्ञः वेदान्तवाक्यविचारहीनः इति यावत् । तं बृहन्तमिति "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति पूर्ववाक्योक्तः सूर्यादीनामपि प्रकाशकश्चित्सदानन्दः परमात्मा परामृश्यते, तं ब्रह्मरूपमवेदविन्न मनुते न विजानातीत्याह वेदवचनम् एतत्क-थमन्यथा स्यात्, ब्रह्मात्मतत्त्वस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वे एतद्वाक्यं निर्विषयमप्रमाणं स्यादित्यर्थः। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्येतदपि वाक्यमत्र प्रमाणमित्याह । वाक्यान्तरमिति । यदि मानान्तरविषयः परमात्मा भवेत्तदा साटोपं ससम्भ्रमम् औपनि-षदत्वविशेषणेन एनं पुमांसं कथमाहेति योजना । अन्यवेद्यत्वे औपनिषदत्वविशेषणमनर्थकं स्यादित्यर्थः ॥ २९५ ॥

अथ औपनिषद इति विशेषणेनोपनिषत्सु सम्यगवगतत्वं पुरुषस्योच्यते, तथा नावेदविदित्यत्र वेदैकवेद्यत्वं पुरुषस्योक्तं, तत्रोपनिषदिति वेद इति च वेदैकदेशे सर्वस्यां वेदशाखायां च प्रसिद्धेः कथं महावाक्यैकगम्यत्वे ब्रह्मात्मतत्त्वस्यैतत्प्रमाणं स्यात् ? इत्यत आह—

उपनिषदिति वेद इत्यपीदं
समभिवदन्ति महावचो महान्तः ॥

फलवदवगतिः स्यादन्तरेणैतदेकं
वचनमिति न शक्यं वक्तुमित्यादरोऽस्मिन् ॥२९६॥

उपनिषदिति वेद इति ॥ महान्तोऽध्यात्मनिरूपणकुशलाः उपनिषदिति वेद इत्यपीदं पूर्वोक्तं महावचः समभिवदन्ति, प्रसिद्धिपरित्यागेनावयवव्युत्पत्त्या महावाक्ये शब्दद्वयं प्रयुञ्जते इत्यर्थः। तत्र निमित्तमाह। फलवदिति। एतदेकं महावाक्यलक्षणं वचनमन्तरेण फलवद्ब्रह्मावगतिः स्यादिति न शक्यम् अन्यस्य सर्वस्य तत्र परोक्षज्ञानहेतुत्वादिति हेतोरस्मिन् महावाक्ये महतामादरः इत्यर्थः। अस्मिंश्च पद्ये पूर्वोत्तरार्धयोर्वृत्तभेदः प्रामादिको ज्ञेयः॥ २९६ ॥

अथ यस्मादेवं महतामत्रादरस्तस्मान्महावाक्ये एव शब्दद्वयं योज्यमित्याह—

उपनिषदिति शब्दो वेदशब्दश्च तस्मा-
च्छ्रुतिशिरसि निविष्टौ योज्यतामत्र वाक्ये ॥
अपरमखिलमस्यैवात्राङ्गभूतत्वहेतो-
रिह समभिनिविष्टं तद्गिरो वाच्यमासीत् ॥२९७॥

उपनिषदिति शब्द इति ॥ उप समीपे प्रत्यगात्मानम् अव्यवधानेन ब्रह्म गमयतीत्युपनिषन्महावाक्योत्था ब्रह्मविद्या ब्रह्म प्रत्यगात्माभेदेन वेदयतीति वेदोऽपि सैव, सा च महावाक्यैकनिबन्धनेति श्रुतिशिरसि वेदान्तभागे निविष्टः उपनिषदिति शब्दो वेदशब्दश्चात्र महावाक्ये योज्यतामिति योजना। तर्हि महावाक्यव्यतिरिक्तेषु शब्देषु कथमुपनिषदादिशब्दप्रवृत्तिः पाठकानां तत्र तच्छब्दव्यवहारदर्शनादिति चेत्, तत्राह। अपरमिति।

अपरं महावाक्यव्यतिरिक्तमखिलं वाक्यम् अस्य महावाक्यस्याङ्गभूतत्वहेतोरेव एतच्छेषत्वादेव इह महावाक्ये समभिनिविष्टमेतदेकवाक्यतयैतास्मिन्नन्तर्भूतं सत् तद्गिरो वेदोपनिषच्छब्दस्य वाच्यमासीन्न प्राधान्येन मुख्यतयेत्यर्थः ॥ २९७ ॥

अव. तत्त्वमस्यादिमहावाक्यमेव साक्षात्तत्त्वबोधकमित्यत्र लिङ्गमाह—

पित्रा तत्त्वमसीतिबोधनमनु स्पष्टं विजज्ञाविति
च्छान्दोग्यं यदवोचदेतदिह नो लिङ्गं भवेत् ज्ञापकम् ॥
सर्वत्रैव महागिरामुपनिषच्छब्दो भवेद् ग्राहको
वेदश्चायमतोऽन्यदस्य निकटं तेनात्र वेदादिगीः॥ २९८॥

पित्रेति ॥ बोधनमनु उपदेशसमनन्तरमेव "तद्धास्य विजज्ञौ" इति स्पष्टं छान्दोग्ये यदवोचत् एतत् नोऽस्माकमिह महावाक्यस्यैव साक्षात्तत्त्वबोधकत्वमित्यत्र ज्ञापकं लिङ्गं भवेत्, तथाच सर्वत्रैव वेदान्तेषु महागिरां ग्राहकः उपनिषच्छन्दो भवेत्, वेदश्चायं महावाक्यलक्षण एवार्थात्सिद्धः इत्यर्थः । अतोऽन्यन्महावाक्यातिरिक्तमस्य महावाक्यस्य निकटं तदपेक्षितार्थसमर्पकत्वेन तदेकार्थनिष्ठं यतस्तेन हेतुनाऽत्र वाक्यान्तरभागे वेदादिगीरध्येतॄणामित्यर्थः ॥ २९८ ॥

अव महावाक्यस्य साक्षाद्बोधकत्वमात्रेणोपनिषच्छब्दवाच्यत्वं कथं गम्यते ? इत्यपेक्षायामुपनिषच्छब्दस्य तावत्साक्षान्मुख्यार्थमाह—

उपनिषद्वचसा परमात्मधीः
सहजशक्तिवशेन निगद्यते ॥

तदुपचर्य्य महागिरि वर्त्तते

निकटभावमपेक्ष्य तु मुख्यगीः ॥ २९९ ॥

उपनिषद्वचसेति ॥ सहजशक्तिवशेनेति । सदेरुपनिपूर्व-स्य धातोः स्वभावसिद्धसामर्थ्येनेत्यर्थः । तर्हि कथं महावाक्ये उपनिषच्छब्दो व्याख्यातः? इति तत्राह । तदुपचर्य्येति । तत् उपनि-षत्पदं महागिरि उपचाराद्वर्तते इत्यर्थः । तर्हि महावाक्ये मुख्यमिति कथं पूर्वमुपपादितमित्यत आह । निकटभावमिति । वाक्यान्तरापे-क्षया मुख्यार्थोपनिषद्ब्रह्मविद्यायां निकटभावमपेक्ष्य तु महावा-क्येऽप्युपनिषद्गीर्मुख्येत्युक्तमिति न दोषः इत्यर्थः । विद्याऽपेक्षया महावाक्येषूपनिषद्वेदपदयोरमुख्यत्वे ऽपीतरवाक्यापेक्षया विद्यां प्रति नैकट्याचत्र मुख्यत्ववचनं युक्तमिति भावः ॥ २९९ ॥

अथ उक्तमेवार्थं विशदयति—

उपनिषद्वचनाभिहितात्मधी-

र्निकटवर्त्तिमहागिरि मुख्यवत् ॥

उपनिषद्वचनं तदवान्तरे

वचसि गौणवदत्र विवक्ष्यते ॥ ३०० ॥

उपनिषद्वचनाभिहितेति ॥ उपनिषदितिवचनेन मु-ख्यया वृत्त्या ऽभिहिता सती विद्या निकटवर्तिमहागिरि मुख्यवद्विवक्ष्यते इति सम्बन्धः । तदवान्तरे वचसि उपनिषद्वच-नं गौणवत् अत्र वेदान्तेषु विवक्ष्यते इति योजना ॥ ३०० ॥

अथ साक्षादवगतिहेतुत्वं महावाक्यस्येत्यत्र पूर्वोक्तं लिङ्गं स्मारयति—

यतो महावाक्यत एव पुंसो

विजज्ञिवानस्य पितुः सकाशात् ॥
इति श्रुतं तेन स एव वेद-
स्तथा च सैवोपनिषच्च सिद्धा ॥ ३०१ ॥

**यतो महावाक्यत** इति ॥ पुत्रः श्वेतकेतुः पितुरुद्दालकात्सकाशान्महावाक्यत एवास्य परमात्मनस्तत्त्वं विजज्ञिवानिति यस्माच्छ्रुतं छान्दोग्ये तेन वेदनहेतुत्वेन स एव वेदस्तन्महावाक्यमेव वेदः। पुंलिङ्गत्वनिर्देशो विधेयाभिप्रायेण। तथैव वेदवाच्यत्ववत्सैवोपनिषच्च सिद्धा। अत्रापि लिङ्गनिर्देशः पूर्ववत् ॥ ३०१ ॥

अथ तस्मान्महावाक्यादेव तत्त्वावगतिर्मुक्तिफला नान्यतोऽवगतिरिति सिद्धमित्युपसंहरति—

विना महावाक्यमतो न कश्चित्
पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः ॥
ततः पदार्थावगमान्न मुक्ति-
र्घटिष्यते तस्य परोक्षभावात् ॥ ३०२ ॥

**विना महावाक्यमिति** ॥ अतः इति प्रथमं योज्यम्। उक्तान्न्यायादित्यर्थः। एवं च पदार्थशोधनमात्रेण न कृतकृत्यतेति यदुक्तं तदपि सत्यमेवेति सिद्धमित्याह। ततः पदार्थेति। पदार्थावगमान्मुक्त्यभावे हेतुमाह। तस्येति। पदार्थावगमस्य परोक्षत्वादपरोक्षसंसारनिवर्त्तकत्वासम्भवात्ततो न मुक्तिसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३०२ ॥

अथ तर्हि पदार्थशोधनं किमर्थं कृतमिति चेत्, महावाक्यशेषतयेत्याह—

पदार्थबोधं परिहृत्य वाक्यं
न शक्यमात्मानुभवावसानाम् ॥
धियं समानेतुमपेक्षितत्वा-
दतः स यत्नेन निरूपितोऽभूत् ॥ ३०३ ॥

पदार्थबोधमिति ॥ वाक्यम् अत्राखण्डे ब्रह्मात्मवस्तुनि पदार्थबोधं परिहृत्यानुभवावसाना धियं समानेतुमशक्यं यतो-ऽतोऽपेक्षितत्वात्सः पदार्थो यत्नेन निरूपितोऽभूदिति यो-जना ॥ ३०३ ॥

अथ पदार्थशोधनेन वाक्यस्य कः उपकारो जायते इति वीक्षायां वाक्यार्थे सम्भावनैवोपकारः इत्याह—

तच्छब्दादवगतमद्वितीयमासीत्
प्रत्यक्त्वं समधिगतं त्वमित्यनेन ।
प्रत्यक्त्वं न खलु विना ऽद्वितीयमेवं
नाद्वैतं भवितुमलं विना प्रतीचा ॥ ३०४ ॥

तच्छब्दादिति ॥ पदार्थशोधने कृते मिथः पदार्थयोस्तादा-त्म्यरूपान्वयाविरोध्यंशापोहेन तच्छब्दात् अद्वितीयमवगतमासीत्, त्वमित्यनेन पदेन प्रत्यक्त्वमवगतमासीत् अद्वितीयतया प्रत्यङ्मा-त्रेण च पदद्वयलक्ष्यं समधिगतमित्यर्थः । एवं सति तयोश्चात्य-न्तमेकत्वमेव सम्पन्नमित्याह। प्रत्यक्त्वं न खल्विति । अद्वितीयम् अद्वितीयब्रह्मात्मत्वं विना त्वमर्थस्य प्रत्यक्त्वं न खलु भवितुमलम् प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वं, तद् ब्रह्मणो व्यावृत्तस्य न निरङ्कुशं भवेदिति पदार्थशोधनेन त्वमर्थस्य प्रत्यक्त्व सिद्ध्यद्ब्रह्मात्म-नैव सिद्ध्यतीत्यर्थः । एवं प्रतीचा प्रत्यक्त्वेन विना न खलु तद-

र्थस्याद्वितीयत्वं भवितुमलं, न हि प्रतीचो व्यावृत्तस्याद्वितीयता स्यादित्यर्थः। पदार्थशोधने कृते सति तयोर्भिन्नलक्षणत्वव्युदासेनैकलक्षणतायां सम्भावितायां महावाक्यात्तदैक्यावगतिसमये तदर्थस्य पारोक्ष्यं त्वमर्थस्य सद्वगत्वं च निवर्त्यते इति पूर्णाखण्डैकरसवाक्यार्थसिद्धिरिति पदार्थशोधनमर्थवदिति भावः ॥ ३०४ ॥

अव ननु तर्कवशादपि सर्वानात्मनिरासेन वस्तु प्रदर्शितं चेत्किं पुनस्ततो वाक्यादाधिक्यं भवेत्, न चेत्प्रदर्शित वाक्यार्थसम्भावनाऽपि ततः कुतः स्यादिति चेत्, तत्राह—

तर्कप्रतीतिसमयेऽपि तदद्वितीय
प्रत्यक् परिस्फुरति तत्प्रतिबिम्बितं सत् ॥
वेदान्तवाक्यजनिताद्वयशुद्धभूमि-
निष्ठ पुनः स्फुटतरं भवतीति भेद ॥ ३०५ ॥

तर्कप्रतीतिरिति ॥ तत्प्रतिबिम्बितं तर्कप्रतीतावाविर्भूतं सत् प्रत्यक्त्वेन परिस्फुरति, सर्वानात्मनिरासेनाद्वितीयप्रत्यगाकारा धीस्तर्कवशादपि जायते इत्यर्थः। तर्हि वाक्यवैयर्थ्यमित्युक्तं, नेत्याह। वेदान्तवाक्येति। वेदान्तवाक्यजनिता चासावद्वया च सा शुद्धभूमिश्चेति तथोक्ता तस्यां निष्ठं प्रतिबिम्बितं सत् महावाक्यजन्याद्वयाकारा याऽसम्भावनादिराहित्येन शुद्धा भूमिः बुद्धिवृत्तिस्तन्निष्ठं सत् स्फुटतरं भवतीति विशेषः इत्यर्थः ॥ ३०५ ॥

अव कुतः इत्थं व्यवस्थेति चेत्, तर्कवाक्यजन्यबुद्ध्योः शुद्धितारतम्यादिति हेतुमभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह—

अधममध्यमशुद्धिनि दर्पणे

परमशुद्धिनि चाननमात्मनः ॥
तरतमक्रमतः प्रतिभासते
तदिव तत्त्वमिह प्रतिपत्तिषु ॥ ३०६ ॥

अधममध्यमेति ॥ दृष्टान्तार्थः स्पष्टः । दार्ष्टान्तिकमाह । तदिवेति ॥ ३०६ ॥

अव बुद्धौ किंनिमित्तं तारतम्यमिति चेत्,. जनकस्वभाव भेदादित्याह—

एकदेशमुपलभ्य धर्मिण-
श्चैकदेशमपरं विजानते ॥
धर्मिधीव्यवधिकारणादतो
नानुमा ऽनुभवनाय वस्तुनः ॥ ३०७ ॥

एकदेशमिति ॥ एकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमिति हि प्रसिद्धम् । तथा च धर्मिणः पक्षस्यैकदेशं व्याप्यावच्छिन्नदेशमुपलभ्य अपरं व्यापकावच्छिन्नं प्रदेशं विजानते अतो धर्मिधीव्यवधिकारणात्साधनावच्छिन्नधर्मिज्ञानव्यवधानाद्वस्तुनोऽनुभवाय न ह्यनुमा कल्पते इति योज्यम् । तर्को हि प्रमाणसिद्धेऽर्थे सम्भावनामात्रहेतुत्वात्स्वयं तावन्न प्रमाणम् अतोऽप्रमाणात्तस्मान्नानुभवोत्पत्तिः । दृष्टसाधर्म्येणादृष्टे ऽप्यर्थे प्रतीतिमुत्पादयन्नपि व्याप्तिलिङ्गपक्षादिधीव्यवधानेन तां व्यापकाकारामुत्पादयति । तथा च तस्याः प्रतीतेः साक्षाद्वस्तुसंस्पर्शित्वाभावान्न ज्ञेयवस्तुयाथात्म्याकारता भवति अतः सा धीरशुद्धेति तत्र प्रतिबिम्बितमपि ब्रह्मात्मवस्तु सत्तामात्रेण सुषुप्तिव्यावृत्तमात्रमवभासते इति परोक्षमेव भवति । वाक्यं त

लक्षणया स्वगतवृत्त्या केवलब्रह्मात्माकारामेव धियं जनये-न्नित्यापरोक्षस्य तर्कतो देहादिसङ्घाताद्विविक्तस्य चिद्रूपप्रत्य-गात्मन एव संशोधिताद्वयब्रह्मत्वावबोधनात्, अतो वाक्यजन्यः प्रत्ययः शुद्धतर इति तत्रैवापरोक्षसंसारनिवर्त्तकापरोक्षब्रह्मात्म-कारता भवतीति युक्तैव यथोक्तव्यवस्थेति भावः ॥ ३०७ ॥

अथ पदार्थशोधनप्रकरणमुपसंहृत्य शिष्यस्य चोद्यावसरं ददाति—

एवं तावत्तत्त्वमर्थौ विशुद्धौ
बोद्धव्यं चेदन्यदप्यस्ति पृच्छ ॥
यद्यद् बुद्धं तत्तदादाय तिष्ठे-
र्यच्चाबुद्धं तत्र चाधत्स्व चेतः ॥ ३०८ ॥

एवं तावदिति ॥ विशुद्धौ परागर्थाद्विविच्य निर्णीतौ । अतः परं बोद्धव्यं चेदन्यत्किमप्यस्तीति मन्यसे तर्हि पृच्छ चित्तस्य स्वाभाविकबाहिर्मुख्यात्सम्भवत्यवगते ऽपि विस्मृति-रिति श्रुतार्थाविस्मरणे यत्न आधेय इत्याह। यद्यद् बुद्धमिति । श्रुतार्थानुसंधानलग्नचित्ततया ऽबुद्धबोधे प्रमादो न कार्यः किन्तु तत्रापि कार्यमवधानमित्याह । यच्चाबुद्धमिति ॥ ३०८ ॥

अथ एवं गुरुणाऽनुज्ञातस्य शिष्यस्य प्रवृत्तिमाह—

बुध्वा तत्त्वंपदार्थावनुभवविषयं कर्तुकामस्तदैक्यं
वाक्याद्वाक्यार्थनिष्ठाच्छ्रुतिशिरसि गतादञ्जसा तत्त्वमादेः ॥
तच्छेषापन्नमस्मिन् श्रुतिशिरसि वचोजातमन्यद्यदस्ति
तस्येयत्ताबुभुत्साकुलितनिजमतिः पृच्छति स्मैष भूयः॥३०९॥

बुध्वा तत्त्वंपदार्थाविति ॥ एषः शिष्यस्तत्त्वंपदार्थौ

बुध्वा वाक्यार्थज्ञाननिष्ठात् श्रुतिशिरसि गतात् तत्त्वमादेः वाक्या-त्तदैक्यं पदार्थैक्यमञ्जसा ऽनुभवविषयं कर्तुकामो भूयः पृ-च्छति स्मेति सम्बन्धः । वाक्यार्थज्ञाननिष्ठादित्यनन्यशेषत्वं सूच्यते। श्रुतिशिरसि गतादित्यवैदिकव्यावृत्तिः । तत्त्वमादेरित्य-स्योपरि वाक्यादित्यध्याहारः। शिष्यप्रश्नप्रवृत्तौ निमित्तं क-थयति । तच्छेषापन्नमिति । अस्मिन् श्रुतिशिरसि वेदान्तेष्विति यावत्। तच्छेषापन्नं महावाक्यशेषतां गतमन्यदपि अवान्तरसंज्ञितं वचोजातं वाक्यकदम्बोऽस्ति यत् तस्येयत्ताबुभुत्साकुलितनिज-मतिः सन्नवान्तरवाक्यपदेयत्ता जिज्ञासुः सन्नित्यर्थः । यद्यपि तत्पदावगतमद्वितीयब्रह्मेति स्थितं तथापि किमात्मकं तद-द्वितीयमित्यपेक्षाया सत्यज्ञानानन्दादिवाक्यात्तन्निर्णयमिति त-द्गतपदेयत्तानिर्धारणार्थः प्रश्नः इत्यभिप्रायः ॥ ३०९ ॥

अथ प्रश्नप्रकारमाह—

अद्याप्यत्रान्तरवचः परिमाणबोध-
वैकल्यमस्ति मम तेन महावचोऽपि ॥
वाक्यार्थबुद्धिमनुभूतिफलावसानां
नोत्पादयत्यहरहः श्रुतमप्यशक्तेः ॥ ३१० ॥

अद्याप्यत्रान्तरेति ॥ वैकल्यमभावः । तेनोक्तबोधवै-कल्येन । महावचोऽप्यहरहः श्रुतमपीति सम्बन्धः। अशक्तेरिति। पदेयत्तानियमाभावे साकाङ्क्षत्वाद्यापत्तौ नियतस्वार्थबोध-नासामर्थ्यादित्यर्थः ॥ ३१० ॥

अथ "अवान्तरवचः" इत्युक्तमेव विभज्य दर्शयति—

विधिमुखेन परस्य निवेदकं

वचनजातमवान्तरसंज्ञितम् ॥
यदपि भेदनिषेधमुखेन त-
त्परिमितिं प्रतिपादय मे प्रभो ॥ ३११ ॥

विधिमुखेनेति॥ स्पष्टार्थः ॥ ३११ ॥

अव एवं शिष्येण पृष्टे गुरुर्न्यायेनावान्तरवाक्यपरिमाणमाह—

सकलवेदशिरःसु परात्मधी-
परवचःसु परापरबोधतः ॥
अपुनरुक्तपदान्युपसंहरन्
परिमितिं स्वयमेव तु वेत्स्यसि ॥ ३१२ ॥

सकलवेदशिरःस्विति ॥ प्रथमं सकलवेदशिरःसु परापरबोधतः परविद्याविषयमिदं वाक्यम् इदमपरविद्याविषयमिति विवेके कृते सति परमात्मधीपरवचःसु परविद्याविषयवाक्येष्वपुनरुक्तपदानि भिन्नशाखागतान्यप्युपसंहरन् वाक्यपरिमिति स्वयमेव वेत्स्यसि वाक्यपरिमाणं त्वमेव ज्ञास्यसीति। यद्वा सकलवेदशिरःसु उत्सर्गतः परात्मधीपरवचःसु परापरभेदतो ऽवान्तरतात्पर्येणापरविद्याविषयतया भेदे सति परविद्यायामपरविद्याया च यथायोगमपुनरुक्तपदान्युपसंहरन्नुभयत्र वाक्यपरिमितिं स्वयमेव ज्ञास्यसीति योजना ॥ ३१२ ॥

अव. ननु तत्र तत्र श्रुतैरेव पदैरलं किमुपसंहारेणेति चेत्, मैवम्। तथा सति परिपूर्णब्रह्मावगत्यनुपपत्तेरित्याह—

अपुनरुक्तपदानि विना यतो
न परिपुष्कलबुद्धिसमुद्भवः ॥

अपुनरुक्तपदानि ततस्तत-

स्त्वमुपसंहर तत्त्वबुभुत्सया ॥ ३१३ ॥

अपुनरुक्तपदानि विनेति ॥ निर्गुणवाक्येषु तत्त्वबुभुत्सयोपसंहरेत्यर्थः । अर्थात्सगुणवाक्येषु विद्यैक्येऽवगते सति तत्र तत्र श्रुतविशेषणानामव्यर्थत्वायापुनरुक्तविशेषणोपसंहारः उपासनायोपसंहर्तव्य इति द्रष्टव्यम् । अस्य च ग्रन्थस्य निर्गुणवस्तुविचारैकप्रधानत्वान्न सगुणवाक्यगतिः पृथक् चिन्त्यते इति न तदिह स्पष्टीकृतम् ॥ ३१३ ॥

अव एवमपुनरुक्तपदोपसंहारे क्रियमाणे प्रमादादपरविद्यावाक्यवर्त्तिपदोपसंहारोऽपि कदाचित्परविद्यायां स्यात्, तथा परविद्यावाक्यवर्त्तिनः पदस्यापरविद्यायां, तथा मा भूदित्युक्तं विभागकरणं पुनः स्मारयति—

कुरु परापरवाक्यविवेचनं

तदनु शब्दसमाहरण कुरु ॥

प्रियशिरःप्रभृतीनि च यत्नवा-

नुपचितापचितानि परित्यज ॥ ३१४ ॥

कुरु परेति ॥ पूर्वभाग स्पष्टार्थः । निर्गुणवाक्येऽपि यत् क्वचिन्निर्गुणवस्तुप्रतिपादनद्वारतयोक्तं परोक्षं रूपं "तस्य प्रियमेव शिरः" इत्यादि तत् निर्गुणप्रकरणस्थमपि नोपसंहर्तव्यमित्याह । प्रियशिर इति । उपचितापचितत्वं हि सविशेषत्वापेक्षम् आनन्दाभिव्यञ्जकोपाधीनामन्तःकरणवृत्तीनां प्रतिप्राण्युपचितापचितरूपत्वात्प्रियशिरस्त्वादयो ऽव्यवस्थिता इति न ते ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वेनोपसंहार्या इत्यर्थः ॥ ३१४ ॥

अथ प्रियशिरस्त्वादीनामुपचितापचितत्वानिर्देशप्रयोजनमनुपसंहार्यत्वं विशदयति—

उपचितापचितानि न निर्गुणे
प्रियशिरःप्रभृतीनि कदाचन ॥
निपुणधीरपि कश्चन योजये-
दपि तु कोशगुणाः कथिता ह्यमी ॥ ३१५ ॥

उपचितापचितानि नेति ॥ निर्गुणे निर्विशेषे ब्रह्मणि उपचितापचितरूपाणां प्रियशिरःप्रभृतीनां सविशेषत्वकरत्वेन विरोधादेव नोपसंहारो बुद्धिमता क्रियेतेत्यर्थः । ननु यत्र श्रुतानि प्रियशिरस्त्वादीनि तत्र चेत्सम्भवन्ति तर्हि ततोऽन्यत्रापि वेद्यैक्ये सति कथं न सम्भवेयुरिति चेत्, मैवम् । श्रुतस्थलेऽपि तेषां ब्रह्मधर्मत्वाभावादित्याह । अपि तु कोशगुणा इति । यद्यप्येते श्रुतस्थलेऽपि न ब्रह्मधर्मा विवक्षिताः अपि तु कोशधर्मा एव तथापि तत्र कोशद्वारा ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्कोशधर्माः सन्तो ब्रह्मण्यप्युपरज्यन्ते केवलमिति ब्रह्मधर्मत्वमेषां, कृत्वाचिन्तयाऽयं प्रपञ्चः कृत इति भावः ॥ ३१५ ॥

अथ एवं विधिवाक्यपरिमाणं व्युत्पाद्य निषेधवाक्यपरिमाणं वक्तुमाह—

इति वचःपरिमाणमुदीरितं
विधिवचःसु निषेधगिरां शृणु ॥
बहु निषेध्यममूष्वपि तेन ता-
स्वपि समाहर पूर्ववदेव तत् ॥ ३१६ ॥

इति वच इति ॥ निषेधगिरां परिमाणं शृण्विति सम्ब-

न्धः । विधिवचःसु तत्तदनृतादिविरोध्यर्थव्यवच्छेदेन भावात्मस्वरूपावगतिपरेषु सत्यज्ञानानन्दपदेषु वचःपरिमाणं वाक्यपरिमाणम् इतीत्थम् उदीरितम् अतः स्वरूपावगत्यर्थमेव विधिपदान्युपसंहरणीयानीत्यर्थः । निषेधगिरां परिमाणं शृण्वित्युक्तं, तत्र विधिपदेभ्यो निषेधपदानामुपसंहारे विशेषमाह । बहु निषेध्यमिति । अमूषु निषेधगीर्ष्वपि बहु निषेध्यमस्ति यतस्तेन तास्वपि पूर्ववदेव विधिपदवदेव तत् अपुनरुक्तपदान्तरं समाहरेति योजना । निषेधपदानां तु निषेध्यबहुत्वान्निषेधार्थमेवोपसंहारः कार्य इत्यर्थः ॥ ३१६ ॥

अथ "पूर्ववदेव तत्" इत्युक्तं विवृणोति—

अपुनरुक्तनिषेध्यनिषेधकृ-
द्बहुपदाहरण कुरु तास्वपि ॥
यदि पुनर्न समाहरणं भवेत्
परिमितप्रतिषेधनमापतेत् ॥ ३१७ ॥

अपुनरुक्तनिषेध्येति ॥ तास्वपि निषेधगीर्ष्वपि अपुनरुक्तनिषेध्यनिषेधकृतां बहुपदानामाहरणमुपसंहारं कुरु, बहुविशेषणान्निषेध्यानां बाहुल्यात्तन्निषेधपदानामियत्तानियमो नास्तीति द्योत्यते । निषेधवाक्येषु बहुपदानुपसंहारे दोषमाह । यदि पुनरिति । परिमितप्रतिषेधे च न सम्यक् ब्रह्मणः शुद्धिः सिध्यतीति भावः ॥ ३१७ ॥

अथ ननु सत्यादिपदानामप्यनृतादिव्यवच्छेदार्थत्वात्स्वरूपावगत्यर्थस्य चोभयेषामविशेषात्कुतो विधिनिषेधविभागः ? इति चेत्, तत्राह—

विधिवचस्युभयं तु पदेपदे

भवति संग्रहवर्जनरूपकम् ॥
स्वकवपुःपरिकल्पितरूपयो-
र्न तु निषेधवचःसु तथा मतम् ॥ ३१८ ॥

विधिवचसीति ॥ उभयमित्युक्तमेव स्फुटयति । संग्र-
हेति । स्वकवपुःपरिकल्पितरूपयोर्यथासंख्यं संग्रहवर्जनरूपकं
स्वकवपुषो ऽसाधारणब्रह्मरूपस्य संग्रहः साक्षात्प्रतिपादनं
परिकल्पितरूपस्यानृतादिप्रपञ्चशाबल्यस्यार्थान्निरासश्चेत्युभयं वि-
धिवचसि पदे पदे भवति । निषेधवचःसु न तु तथा उभयार्थत्वं
मतं कल्पितरूपप्रतिषेधमात्रे एव निषेधवचनसामर्थ्यादिति यो-
जना ॥ ३१८ ॥

अथ "न तु निषेधवचःसु" इत्युक्तमेव स्पष्टयति—

यदिह किं चिदबोधसमुद्भवं
तदखिलं प्रतिषेधति केवलम् ॥
न तु किमप्युपगृह्य परे पदे
भगवतो निविशेत निषेधगीः ॥ ३१९ ॥

यदिह किञ्चिदिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ३१९ ॥

अथ उपपादितं विधिनिषेधवचसोऽर्थविभागमुपसंहरति—

इति विशेष इह प्रतिपादितो
विधिनिषेधगिरोरुभयोरपि ॥
अपुनरुक्तपदाहरण पुन-
र्विधिनिषेधवचःस्वविशेषतः ॥ ३२० ॥

इति विशेष इति ॥ तयोरेवाविशेषांशमप्युक्तमुपसंहरति । अपुनरुक्तेति ॥ ३२० ॥

अव पुनर्निषेधवाक्ये विधिवाक्येभ्यो विशेषे हेत्वन्तरमाह—

श्रुतपदैरुपसंहृतिशालिभि-
र्यदवशिष्टनिषेध्यनिषेधनम् ॥
तदपि पूर्वमिहाभिमतं श्रुतौ
श्रुतपदान्युपलक्षणमेव हि ॥ ३२१ ॥

श्रुतपदैरिति ॥ निषेधवचःसु बहुपदाहरणं कुर्वित्युक्तं वा विवृणोति । श्रुतपदैरिति । तत्तत्प्रकरणे साक्षाच्छ्रुतपदैरन्यत्र श्रुतैरिहोपसंहृतैश्चापुनरुक्तपदैः सह शोभमानैः साक्षाच्छ्रुतपदैरुपसंहृतैश्च पदैरवशिष्टम् अनिषिद्धतया बुद्धावारूढं यन्निषेध्यमनात्मरूपं तन्निषेधनं तदपि तादृगर्थनिषेधकपदमपीह निषेधवाक्येषु पूर्वमभिमतं प्रागेवाध्याहारेणाप्युसंहर्त्तव्यम् । श्रुतौ श्रुतानि पदानि तूपलक्षणमेव । अनुक्तानामपि निषेध्यनिषेधकपदाना कतिपयनिर्देशस्य प्रदर्शनमात्रत्वादित्यर्थः । विधिवाक्येषु यावच्छ्रुतमेवोपसंह्रियते । तावतैव सजातीयविजातीयव्यावृत्ताखण्डस्वरूपसिद्धेः, निषेधवाक्येषु तु यावन्निषेध्यस्य निषेधकपदादर्शनान्निषेध्यान्तरे च बुद्धिस्थे तन्निषेधार्थपदकल्पनं ब्रह्मणः सर्वानात्मविलक्षणतया सम्यक् विशुद्धये कार्यमिति तात्पर्यार्थः ॥ ३२१ ॥

अव विधिपदेष्वेतन्न भवतीत्यत्र युक्तिमाह—

(समुपसंहृतशब्दसमन्वितैः

---

( ) एतच्चिह्नमध्यस्थमर्धपद्य प्रक्षिप्तमिति अग्रिमश्लोकव्या-

श्रुतिपदैर्विधिवाक्यगतैः पुनः ॥)

समुपलक्ष्यतया न परात्मनः

किमपि रूपमिहाभ्यधिकं मतम् ॥ ३२२ ॥

समुपलक्ष्यतयेति ॥ सुगमम् ॥ ३२२ ॥

अथ कुतो न मतमित्यत आह—

न खलु सश्रुतसंहृतशब्दयो-

रविषयः परमात्मन इष्यते ॥

किमपि रूपममुत्र हि नास्ति नः

किमपि मानमतो न तदस्ति नः ॥ ३२३ ॥

न खल्विति ॥ स्वशाखास्वप्रकरणश्रुतस्य शाखान्तरात्प्रकरणान्तराद्वोपसंहृतस्य च पदस्याविषयभूतः परमात्मनोंऽशो न खल्विष्यते इति योजना । वेदैकगम्यस्य ब्रह्मणः श्रुतोपसंहृतपदावगम्यरूपव्यतिरिक्तरूपसद्भावे प्रमाणाभावान्नाश्रुतपदकल्पनया पूरणीयत्वं विधिवाक्येष्वित्यर्थः । एतदेव प्रकटयति । किमपीति । अमुत्र परमात्मनि श्रुतोपसंहृतपदानवगम्यं रूपान्तरं नो ऽस्माकं नास्ति हीति प्रसिद्धम् । कुतो नास्तीत्यत आह । किमपि मानमिति । अतः श्रुतिवचनात्परमात्मतत्त्वप्रतिपादकं मानं किमप्यन्यन्नोऽस्माकं नास्तीति योजना । इदमर्धपद्यं पूर्वपद्येन सहैकीकार्यम् ॥ ३२३ ॥

अथ अन्यत्रोक्तपदानामन्यत्रोपसंहार्यत्वे को न्यायः ? इति चेत्, तत्राह—

---

ख्याने "इदमर्धपद्य पूर्वपद्येन सहैकीकार्यम् " इति टीकाकारलेखात् एतत्प्रतीकानुल्लेखाच्चावगम्यते । इदमर्धपद्यमित्यत्र किमपि रूपमित्यर्धं विवक्षितम् ।

गुणतया हि पदानि परात्मनो
विधिनिषेधवचःस्ववतस्थिरे ॥
गुणगणो गुणितन्त्रतया गुणी
भवति यत्र हि तत्र भवत्यसौ ॥ ३२४ ॥

गुणतयेति ॥ गुणतया विशेषणार्थतया न प्राधान्येनेत्यर्थः । अतो यत्र गुणी प्रधानभूतो ऽर्थो भवति तत्र ह्यसौ गुणगणो भवति, कुतः ? गुणितन्त्रतया, गुणानां गुणिपरतन्त्रत्वादित्यर्थः ॥ ३२४ ॥

अव पदोपसंहारप्रकरणमुपसंहरति—

विधिनिषेधवचः परिमाणत-
स्तव मया कथितं नयवर्त्मना ॥
यदपरं तव वस्तु बुभुत्सितं
तदिह नः पुरतः प्रकटीकुरु ॥ ३२५ ॥

विधिनिषेधवच इति ॥ पुनः शिष्यस्य प्रश्नावसरं ददाति । यदपरमिति ॥ ३२५ ॥

अव गुर्वनुज्ञातः शिष्यः पृच्छति—

अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधने
भेदतः कथय तद्बुभुत्सितम् ॥
ज्ञानजन्मन इदं जिघृक्षितं
हेयमेतदिति चोपपत्तिभिः ॥ ३२६ ॥

अन्तरङ्गेति ॥ अन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्भेदज्ञानं किमर्थमिति चेत्, ज्ञानोत्पत्तावुपादेयहेयविवेकार्थमित्याह । ज्ञानजन्मन इति ।

उपपत्तिभिः कथयेत्यन्वयः ॥ ३२६ ॥

अथ तर्हि किं हेयं किं वोपादेयमिष्टं तवेति चेत्, तत्राह—

अन्तरङ्गमपवर्गकाङ्क्षिभिः
कार्यमेव यतिभिः प्रयत्नतः ॥
त्याज्यमेव बहिरङ्गसाधन
यत्नतः पतनभीरुभिर्भवेत् ॥ ३२७ ॥

अन्तरङ्गमपवर्गेति ॥ कुतस्त्याज्यं बहिरङ्गसाधनमित्यपेक्षायां यत्याश्रमविरोधादित्याह । यत्नत इति ॥ ३२७ ॥

अथ गुरुराह—

उच्यते शृणु विविच्य साधनं
ज्ञानजन्मनि यदूचिवान् गुरुः ॥
अन्तरङ्गबहिरङ्गभेदतः
शब्दशक्तिमनुसृत्य वैदिकीम् ॥ ३२८ ॥

उच्यत इति ॥ गुरुराचार्यः । वैदिकीं शब्दशक्तिमनुसृत्येति श्रुत्युपदिष्टमार्गमाश्रित्येत्यर्थः ॥ ३२८ ॥

अथ अन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्लक्षणभेदोक्त्या विभागमाह—

यच्छ्रुतं त्रिविदिषोदयाय तत्
सर्वमेव बहिरङ्गसाधनम् ॥
अन्तरङ्गमवगच्छ तत् पुन-
र्यत् परावगतिसाधनं श्रुतम् ॥ ३२९ ॥

यच्छ्रुतमिति ॥ "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विवि-

दिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेन" इत्यत्र यत् यज्ञदानादि कर्मजातं विविदिषोदयाय श्रुतं तत्सर्वं बहिरङ्गसाधनमेवेत्यवगच्छ। "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतास्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" "श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मान पश्येत्"इत्यादि यत् परावगतिसाधनं परमात्मज्ञानोत्पादकतया तत्परिपाचकतया च ज्ञानसहभावि यच्छान्तिदान्त्यादि श्रोतव्य इत्यादिना वेदान्तश्रवणादि च श्रुतं तत् पुनरन्तरङ्गमवगच्छेति योजना ॥ ३२९ ॥

अव विविदिषोत्पादनसाधनतया श्रुतं बहिरङ्गं, साक्षाद्विद्यासहभावितया श्रुतं साधनमन्तरङ्गमिति तयोर्लक्षणमुक्त्वा लक्षणान्तरमाह—

यद्धि कारकतयाऽवगम्यते
दूरतस्तदिह साधनं धियः ॥
अन्तरङ्गमखिलं तु तत् पुन-
र्व्यञ्जक भवति यत् परात्मनः ॥ ३३० ॥

यद्धि कारकतयेति ॥ यद्धि कारकतया श्रुतिष्ववगम्यते तदिह शास्त्रे धियो ज्ञानस्य दूरतः साधनम् आरादुपकारकं बहिरङ्गमित्यर्थः । यत्पुनः परमात्मनो व्यञ्जकं भवति साधनं तदखिलम् अन्तरङ्गसाधनमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । ज्ञानोत्पत्तौ येषां कारकाणां दृष्टद्वारोपकारो न दृश्यते तानि कारकाणि यज्ञादीनि आरादुपकारकाणि बहिरङ्गसाधनानीति चोच्यन्ते । येषां तु ज्ञानं प्रति दृष्टद्वारोपकारो दृश्यते तानि व्यञ्जकानि शमादीनि तानि सन्निपत्योपकारकाणि अन्तरङ्गसाधनानि चोच्यन्ते इति ॥ ३३० ॥

अव तत्र संन्यासिना कारकाणि सर्वात्मना ऽवश्यं हेयानि व्यञ्जकान्यवश्यमुपादेयानि न कदाऽपि हेयानीति लक्षणतो विभागकरणफलमाह—

कारकस्य करणेन तत्क्षणाद्
भिक्षुरेष पतितो भवेद यथा ॥
व्यञ्जकस्य परिवर्जनात्तथा
सद्य एव पतितो भवेदसौ ॥ ३३१ ॥

कारकस्येति ॥ ३३१ ॥

अव "यच्चोक्तं विविदिषोदयाय" इत्यत्र यज्ञादीनां वेदनेच्छासाधनत्वमुक्तं, तदयुक्तं, विविदिषन्तीत्यत्र इष्यमाणज्ञानस्य कर्मत्वेन प्राधान्याद्यज्ञादिकर्मणां ज्ञानसाधनत्वप्रतीतेरिति चेत्, तत्राह—

प्रत्ययार्थविषयं हि कर्मणा-
मुच्यते विविदिषेयुरित्यतः ॥
न प्रकृत्यभिहितार्थवेदने
वेदवादिविनियोगशासनम् ॥ ३३२ ॥

प्रत्ययार्थेति ॥ विविदिषेयुरिति कर्मणां विनियोगशासनं हि प्रत्ययार्थविषयमुच्यते, सन्प्रत्ययार्थे कर्मणां विनियोगः श्रुत्या शास्यमानो दृश्यते इत्यर्थः । यत एवम् अतः प्रकृत्याभिहितार्थवेदने ज्ञाने वेदवादिविनियोगशासनं नास्ति वेदवादिसम्मतं विनियोगशासनं नास्ति । वेदवादेति पाठस्तु ऋज्वर्थः ॥ ३३२ ॥

अव. प्रत्ययार्थभूतेच्छया वेदानुवचनादीनामन्वयो न

प्रकृत्यर्थेन वेदनेन विनियोग इति कुतो ऽवसीयते ? इति चेत्, तत्राह—

न प्रधानमपहाय वेदने-
नान्वयं व्रजति कर्मसाधनम् ॥
सङ्गतिर्भवति वेदनेच्छया
वेदनेन न तु कर्मणां क्व चित् ॥ ३३३ ॥

न प्रधानमिति ॥ "प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्रत्ययार्थस्तु प्राधान्येन" इति न्यायात्प्रत्ययार्थस्य प्रधानत्वावधृतेः प्रधानाकाङ्क्षानुरोधेन चेतरेषामन्वयादिह प्रत्ययाभिहितां वेदनेच्छां प्रधानभूतामपहाय त्यक्त्वा कर्मरूपं साधनं प्रकृत्यभिहितेन वेदनेनान्वयं न व्रजति, न्यायविरोधापातादित्यर्थः । उक्तमेव स्पष्टयति । सङ्गतिर्भवतीति ॥ ३३३ ॥

अथ तर्हि वेदनस्यैवास्तु प्राधान्यमिति चेत्, नैव सम्भवतीत्याह—

न प्रधानमिह वेदनं भवेत्
प्रत्ययार्थविषयां प्रधानताम् ॥
उत्ससर्ज भगवान्निरङ्कुशं
येन पाणिनिरलङ्घ्यशासनः ॥ ३३४ ॥

न प्रधानमिहेति ॥ येन कारणेनालङ्घ्यशासनो भगवान्पाणिनिः प्रत्ययार्थविषयां प्रधानतां निरङ्कुशं निरपवादं यथा स्यात्तथोत्ससर्ज उत्सर्गतः स्थापितवान्, ततो न वेदनमिह प्रधानं भवेदिति योजना । निरङ्कुशत्वविशेषणा-

दस्योत्सर्गस्यापवादाभावं सूचयति ॥ ३३४ ॥

अव उत्सर्गतः प्रत्ययार्थप्राधान्येऽपीह तदपवादोऽस्तु इत्याशङ्क्य, निरङ्कुशविशेषणसूचितमर्थं विशदयन्नास्यापवादः इत्याह—

प्रत्यये सनि न चापवादक
किंचिदप्युदितवानसौ मुनिः ॥
येन तत्र गुणभावमुद्वहेत्
प्रत्ययाभिहितमर्थवस्तु नः ॥ ३३५

प्रत्यये सनीति ॥ नोऽस्माकं प्रत्ययाभिहितम् अर्थवस्तु अर्थस्वरूपं येन तत्र प्रकृत्यर्थे गुणभावमुद्वहेत् तदपवादकं सनि प्रत्यये किञ्चिदपि मुनिः पाणिनिर्नोदितवानिति योजना ॥ ३३५ ॥

अव. ननु "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" इति धात्वर्थस्य सनर्थकर्मत्वाभिधानात्सनर्थं प्रति प्राधान्यं पाणिनिनोक्तमिति चेत्, नैवमित्याह—

धातोः कर्मण इत्युवाच भगवान् यत् पाणिनिस्तत् पुन-
र्धात्वर्थस्य न वेदयत्यभिमत प्राधान्यमायुष्मतः ॥
किं त्वार्थं न तु शब्दगम्यमवदत्तेनापि तद्द्योक्ष्यते
नोत्सर्गस्य विना निमित्तमपर सङ्कोचनं युज्यत ॥ ३३६॥

धातोः कर्मण इतीति ॥ आयुष्मतस्तवाभिमतं प्राधान्यं श्रुत्युक्तकर्मान्वयोपयुक्तं न वेदयति न ज्ञापयतीत्यर्थः । कथं तर्हि तदभिधानमित्याशङ्क्याह । किं त्वार्थमिति । तेनापीति ।

आर्थेनापि प्राधान्येन तद् "धातोः कर्मणः" इत्यत्रोक्तं प्राधान्यं यो- क्ष्यते, यत इच्छाकर्मत्वप्रयुक्तं वेदनस्य प्राधान्यम् आर्थमेव न शाब्दम् अतस्तेनाप्यार्थेन तत् योजयिष्यते इत्यर्थः । शाब्दप्रा- धान्यानुरोधेन ह्यन्वयव्यवस्था नार्थप्राधान्यानुरोधेनेति भावः । अत इदमुत्सर्गस्य न सङ्कोचकं, सङ्कोचकान्तरं तु न दृश्यते इति "अपवादाभावे पुनरुत्सर्गस्य स्थितिः" इति न्यायमनुस- रन्नाह । नोत्सर्गस्येति ॥ ३३६ ॥

अथ कर्मत्वप्रयुक्तप्राधान्यस्यार्थत्वमात्रेणाप्युपपत्तौ प्रत्य- यार्थप्राधान्यबाधो न युक्त इत्युक्तं, तदेव स्पष्टयति—

धातोः कर्मण इत्युदीरणमिदं साधारणं दृश्यते
शाब्दार्थत्वविशेषसूचकतया न ह्यत्र सूत्रे पदम् ॥
धात्वर्थस्य तु कर्मतावचनमत्रोच्चारितं केवलं
तत्त्वार्थेऽप्युपपद्यमानमधुना नोत्सर्गपीडाकरम् ॥३३७॥

धातोः कर्मण इत्युदीरणमिति ॥ "धातोः कर्मणः" इत्युक्तिरेव विशेषसूचकं पदमिति चेत्, न । अस्यान्यथाप्युपपत्ते- रित्याह । धात्वर्थस्य त्विति ॥ ३३७ ॥

अथ इच्छाया एव प्राधान्यं शाब्दमित्यस्य तु सूचकं पदमत्रास्तीत्याह—

इच्छायामिति सूत्रकारवचनं प्राधान्यपक्षे भवे-
दिच्छार्थस्य समञ्जसं न खलु तत् सन्प्रत्ययार्थे गुणे ॥
धात्वर्थे ननु सन् भवदिति वदेदिच्छा गुणश्चेद् भवे-
दिच्छायामिति वक्ति तेन वदति प्राधान्यमिच्छागतम् ३३८॥

इच्छायामितीति ॥ इच्छार्थस्य प्राधान्यपक्षे इच्छायामिति सूत्रकारवचनं समञ्जसं भवेत् सन्प्रत्ययार्थे गुणे अप्रधाने सति तत् सूत्रकारवचनं न खलु समञ्जसं भवेदिति योजना । एतदुक्तं भवति । प्रकृतिप्रत्ययौ हि गुणभूतार्थविशिष्टं प्रधानार्थं वदतो न तु गुणभूतार्थस्य पृथग्वाच्यत्वम् अतः "इच्छायां सन्" इतीच्छाया वाच्यत्वाभिधानात्तस्या एव शब्दतः प्राधान्यं सूत्रकारस्याभिमतमिति गम्यते इति । यदीच्छाया गुणभावः सूत्रकारस्याभिमतः स्यात् तदा ननु "धात्वर्थे सन् भवेत्" इति ब्रूयान्न त्विच्छायां सन्निति। "इच्छायां सन्" इति वक्ति अत इच्छाया एवात्र प्राधान्यं सूत्रकाराभिमतमित्यवगम्यते एवेत्युपसंहरति । धात्वर्थे नन्विति ॥ ३३८ ॥

अथ तदेवं यज्ञादीनामिच्छायां विनियोगाद् बहिरङ्गत्वमेवेति यतेर्हेयत्वं सिद्धमित्युपसंहरति—

तस्मात् कर्म समस्तमत्र तु भवेदिच्छाजनैः साधन
शास्त्रेणोक्तमतः समस्तमपि तद् यत्नेन हेयं यतेः ॥
द्रष्टव्यत्वमनूद्य साधनतया यत्तत् प्रतीचः श्रुतं
वेदान्तश्रवणादिकं भवति तत्कर्त्तव्यमावश्यकम् ॥३३९॥

तस्मात्कर्मेति ॥ त्यक्तसमस्तकर्मा यतिः किं कुर्यादिति तदाह । द्रष्टव्यत्वमिति । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इति प्रतीचः आत्मनो द्रष्टव्यत्वमनूद्य साधनतया दर्शनसाधनत्वेन श्रोतव्य इत्यादिवाक्ये यत् वेदान्तश्रवणादिकं श्रुतं तत् कर्त्तव्यमावश्यकं भवति, शमदमादिरूपनिवृत्तिधर्मनिष्ठतया ज्ञाननिष्ठाविरोधिव्यापारं परित्यज्य वेदान्तवाक्यार्थालोचनतत्परो भवेदित्यभिप्रायः ॥ ३३९ ॥

अव ननु महावाक्यस्य साक्षाज्ज्ञानहेतुत्वमुक्तं, तत्र क एषामुभयेषामन्तरङ्गबहिरङ्गरूपाणां साधनानामुपकारः? न त्वकर्तव्यस्य वाक्यस्येतिकर्त्तव्यतयैषामन्वयो ऽपि युक्तः इति चेत्, तत्र परिपन्थिनिबर्हणतयैषामुपकारो महावाक्येषु नेतिकर्त्तव्यतयेत्याह—

वेदान्तवाक्यमिह कारणमात्मबोधे,
हेत्वन्तराणि परिपन्थिनिबर्हणानि ॥
यज्ञादिकानि दुरितं क्षपयन्ति बुद्धे-
स्तत्त्वंपदार्थविषयं तम उत्तराणि ॥ ३४० ॥

वेदान्तवाक्यमिहेति ॥ हेत्वन्तराणि यज्ञादिकानि श्रवणादिकानि चेत्यर्थः । तत्र बहिरङ्गाणामन्तरङ्गाणां च निरस्यं प्रतिबन्धं विभज्य कथयति । यज्ञादिकानीति । उत्तराणि श्रवणादीन्यन्तरङ्गाणीत्यर्थः ॥ ३४० ॥

अव ननु चिन्मात्राश्रयविषयमेकमेवाज्ञानमिति पूर्वं प्रतिष्ठापितं, तत्कथमिदानीं वाक्यार्थज्ञाननिरस्यप्रत्यगज्ञानव्यतिरेकेणान्तरङ्गसाधननिरस्यं तत्त्वंपदार्थविषयमज्ञानं पृथगुच्यते इति चेत्, सत्यम् । यत्प्रागुक्तं तत्तथैव, इदं तु स्थूलदृष्ट्योच्यते इत्याह—

तत्त्वंपदार्थविषयं तम इत्यपीद-
मर्वागवस्थजनदृष्टिमपेक्ष्य गीतम् ॥
अज्ञानमुत्तमदृशां पुनरेकमेव
संसारमूलमपवर्गफला च विद्या ॥ ३४१ ॥

तत्त्वंपदार्थेति ॥ अर्वागवस्थजनः सम्यगविदितपदार्थतत्त्वः । उत्तमदृशां विदितपदार्थतत्त्वानां बुद्धिमपेक्ष्येत्यनुषङ्गः ।

अपवर्गफला च विद्या ऽप्येकैवेति योज्यम् ॥ ३४१ ॥

अव- तर्हि "तत्त्वंपदार्थविषयं तमः" इति किमुक्तं तदाह—

अज्ञानसंशयविपर्ययरूपकाणि
ब्रह्मात्मबुद्धिजननप्रतिबन्धकानि ॥
तत्त्वंपदार्थविषयाणि निवर्त्तयन्ति
ह्यावृत्तिमन्ति मननश्रवणादिकानि ॥ ३४२ ॥

अज्ञानसंशयेति ॥ तत्त्वंपदार्थविषयाणि अज्ञानसंशय-विपर्ययरूपकाणीति सम्बन्धः । मननश्रवणादिकानीत्यत्रापि तत्त्वंपदार्थविषयाणीति सम्बध्यते । पदार्थविषयमज्ञानादि इह तमो विवक्षितमित्यर्थः ॥ ३४२ ॥

अव कानि तानि श्रवणादीनीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपं दर्शयति-

शब्दशक्तिविषयं निरूपणं
युक्तितः श्रवणमुच्यते बुधैः ॥
वस्तुवृत्तविषयं निरूपणं
युक्तितो मननमित्युदीर्यते ॥ ३४३ ॥

शब्दशक्तीति ॥ शक्तिग्रहणं तात्पर्यस्याप्युपलक्षणम् । युक्तितो निरूपणमित्युभयत्र निरूपणपदान्वयः ॥ ३४३ ॥

अव निदिध्यासनस्वरूपमाह—

चेतसस्तु चितिमात्रशेषता
ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः ॥
अन्तरङ्गमिदमित्थमीरितं

तत् कुरुष्व परमात्मबुद्धये ॥ ३४४ ॥

चेतसास्त्विति ॥ चेतसो वाक्योत्थबुद्धिवृत्तेर्या चितिमात्रशेषता यत्नेन ब्रह्मतावन्मात्रतया ऽवस्थितिस्तत् ध्यानमित्यर्थः। शमदमादीनामस्मिन्नेव त्रिके ऽविनाभावेनान्तर्भावादिदं त्रिकमेवान्तरङ्गसाधनं प्रधानमनुष्ठेयमित्याह । अन्तरङ्गमिति ॥३४४॥

अथ निदिध्यासने पक्षान्तरमाह—

श्रवणमननबुद्ध्योर्जातयोर्यत् फलं तत्
निपुणमतिभिरुच्चैरुच्यते दर्शनाय ॥
अनुभवनविहीना यैवमेवेतिबुद्धिः
श्रुतमननसमाप्तौ तन्निदिध्यासनं हि ॥ ३४५ ॥

श्रवणमननेति ॥ आदरनैरन्तर्यपूर्वकमनुष्ठितश्रवणमननबुद्ध्योर्जातयोः सम्यक् निष्पन्नयोर्यत्किमपि फलं तत् निदिध्यासनमिति हि निपुणमतिभिर्दर्शनाय साक्षात्काराय दर्शनसाधनत्वेनेति यावत्, उच्चैरुच्यते इति सम्बन्धः। किं तत्फलमिति तत्स्वरूपमाह। अनुभवनेति ।श्रुतमननसमाप्तौ अनुभवनविहीना एवमेवेति या बुद्धिः सा श्रवणमननबुद्ध्योः फलमिति योजना। अनुभवनाविहीना साक्षादनुभवरहिता इदमित्थमेवेति परोक्षनिश्चयरूपा बुद्धिरित्यर्थः । पूर्वोक्तं निदिध्यासनं समाधिरूपं पृथगनुष्ठेयम् इदं तु श्रवणमननानुष्ठानव्यतिरेकेण नानुष्ठेयं तयोरेव सम्यगनुष्ठानादेवमेवेति बुद्धेरप्रयत्नेनोद्भवादित्येष विशेषः । इत्थं वा योजना। श्रवणमननबुद्ध्योर्जातयोर्यत्फलं कार्यं तत् निपुणमतिभिरुच्चैर्दर्शनाय साक्षादनुभवनिमित्तमुच्यते न तदतिरिक्तं निदिध्यासनं नामास्तीति । किं तच्छ्रवणादिबुद्धिफलं तदाह ।

अनुभवनेति । हि यस्माच्छ्रुतमननसमाप्तौ श्रवणमननयोः स-म्यक् निवृत्तौ या तद्विषया एवमेवेतिबुद्धिः, किं लक्षणा ? अनु-भवनविहीना साक्षात्कारत्वरहिता परोक्षानिश्चयरूपा तान्निदि-ध्यासनम् । तस्मान्न पृथगनुष्ठेयं तदस्तीति ॥ ३४५ ॥

अथ तदेवमन्तरङ्गबाहिरङ्गसाधनाना ज्ञानोदयपरिपन्थिनि-बर्हणत्वमेव, वेदान्तमहावाक्यमेव केवलं मोक्षफलज्ञानसाधन मित्युपसंहरति—

पूर्वाण्यदृष्टपरिपन्थिनिबर्हणानि
दृष्टं हरन्ति च विरोधिनमुत्तराणि ॥
वाक्यं निरस्तसकलप्रतिबन्धकं सत्
आत्मानमद्वयमखण्डमबुद्धमाह ॥ ३४६ ॥

पूर्वाण्यदृष्टेति ॥ अबुद्धम् अज्ञातमात्मानमखण्डमद्वयमाहेति सम्बन्धः । अज्ञातमद्वयमखण्डमात्मानमाहेति वा ॥ ३४६ ॥

अथ एवमुक्त्वा अन्तरङ्गसाधननिष्ठस्य संन्यासिनः कि-मस्मिन्नेव जन्मनि विद्योत्पत्तिः किं वा जन्मान्तरे ऽपीति वीक्षायामाह—

यज्ञादिक्षपितसमस्तकल्मषाणां
पुत्रादित्रयगतसंगवर्जितानाम् ॥
सशुद्धे पदयुगलार्थतत्त्वमार्गे
प्रायेणोद्भवति हि जन्मनीह विद्या ॥ ३४७ ॥

यज्ञादिक्षपितेति ॥ इह जन्मनि पूर्वजन्मसु वा कृतयज्ञादीति योज्यम् । “अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्” “बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्र-

पद्यते" इति भगवद्वचनात् । पुत्रादित्रयेत्याद्यस्मिन्नेव जन्मनीति ज्ञेयं, त्यागादेरन्तरङ्गत्वात् । एतानि त्रीणि साधनानि क्रमेण हेतुहेतुमद्भावेन यस्य सम्यक् जातानि तस्येह जन्मनि यस्मिन् जन्मनि श्रवणादिपौष्कल्यं तस्मिन्नेव जन्मनि प्रायेण विद्योद्भवति । प्रायेणेति बलवत्प्रतिबन्धकाभाव इत्यर्थः ॥ ३४७ ॥

अथ उक्तमेवार्थं स्पष्टयति—

अत्रैव जन्मनि भवेदपवर्गदायि
वाक्यप्रसूतमनुभूतिफलावसानम् ॥
ज्ञानं निवारकनिमित्तवशादमुष्मिन्
जन्मन्यपीति वचनादवगम्यते हि ॥ ३४८ ॥

अत्रैवेति ॥ अपवर्गदायीत्यादिविशेषितं ज्ञानमत्रैव जन्मनि भवेन्निवारकनिमित्तोदयाभावे सतीत्यर्थात् । निवारकनिमित्तवशात् तु अमुष्मिन्नपि जन्मनि भवेत्, सम्पन्नसाधनपौष्कल्यस्य ज्ञानजन्म अवश्यम्भावि नात्र संशयः कार्य इत्यभिप्रायः । ननु कृते ऽपि चेत्साधने फलं न दृश्यते तर्हि जन्मान्तरे भविष्यतीति का प्रत्याशेति चेत्, न । वेदवचनप्रामाण्यात्तत्सम्भावनोपपत्तेरित्याह । वचनादिति ॥ ३४८ ॥

अथ वचनमेवोदाहरति—

ज्ञानोत्पत्तिं वामदेवस्य गर्भे
श्रुत्वा विद्मः साधनं प्राच्यमस्य ॥
योगभ्रष्टस्मृत्यवष्टम्भतोऽपि
ज्ञातव्यं तत् साधनं प्राच्यमस्य ॥ ३४९ ॥

ज्ञानोत्पत्तिमिति ॥ "गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एव-मुवाच" इति वामदेवस्य गर्भे ज्ञानोत्पत्तिं श्रुत्वा ऽस्य वामदेवस्य प्राच्यं प्राग्जन्मकृतं साधनं निश्चः अकारणकार्योत्पत्त्यसम्भवाद् गर्भस्थस्य च साधनानुष्ठानासम्भवादित्यर्थः । तत्रैव स्मृतिमुदाहरति । योगभ्रष्टेति । "पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति" इति भगवद्गीतावचनावष्टम्भेनापि अस्य वामदेवादेः प्राच्यं तत्साधनं ज्ञानसाधनं सम्पन्नमिति ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ३४९ ॥

अथ ननु दृष्टफलानां श्रवणादीनां कालान्तरफलत्वमयुक्तं कृष्यादिवदिति चेत्, नैष दोषः । औषधोपयोगादीना दृष्टफलानामप्यवान्तरव्यापारद्वारेण कालान्तरीयफलत्वस्य दर्शनात् । तथापि जन्मान्तरफलत्वं न दृष्टमिति चेत्, सत्यम् अन्वयव्यतिरेकाभ्या न दृश्यते, तथापि शास्त्राद्यथोक्तादवगम्यते एव। श्रवणादीना विहितत्वात्कालान्तरे ऽपि तेषां फलहेतुत्वं कल्पनीयम् । अनन्तरफलमात्रत्वे ऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तत्सिद्धेर्विधिकृत्याभावात् । तस्माद्यथा "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादीनां पश्वादिफलमुत्सर्गत इहैव, प्रतिबन्धात्तु जन्मान्तरे ऽपीत्यभ्युपगम्यते तद्वदेवेदमपि द्रष्टव्यमित्याह—

> चित्रादिवद्भवति साधनजातमस्य
> ज्ञानप्रसूतिकरमित्यवगच्छ सर्वम् ॥
> अभ्यग्रशुष्यदखिलौषधिकस्य पुंसो
> वृष्टिप्रदेष्टिरधिकारवशादिहैव ॥ ३५० ॥

चित्रादिवदिति ॥ यदि विहितत्वादस्मिन् जन्मनि फला-

दर्शनेऽपि जन्मान्तरे फलं भविष्यतीति कल्प्यते तर्हि कारीर्यां कृतायामपि कदाचिद् वृष्ट्यदर्शने जन्मान्तरे तत्फलं कल्प्येतेति चेत्,नेत्याह । अभ्यग्रशुष्यदिति । अभ्यग्रं साम्प्रतं शुष्यन्त्योऽखिलौषधयो यस्य स तथोक्तस्तस्य पुंसो विहिता वृष्टिप्रदेष्टिः कारीर्याख्या ऽधिकारवशादिहैव फलवतीति युक्तमिति योजना । कारीरीवाक्यशेषे ओषधीनां म्लायमानत्वश्रवणादभ्यग्रशुष्यत्सस्यसञ्जीवनकामस्य करीरीविधानात् सामान्यतो वृष्टिमात्रस्य यदा कदाचिद्भवत उद्देशेन विधानाभावादैहिकाधिकारत्वादिहैव तत्फलेन भवितव्यं, कदाचित्तत्र फलादर्शने साधनवैकल्य कल्पनीयं, ज्ञानसाधनं तु न तथा, किन्तु चित्रादिवत्कालान्तरीयफलमपि भविष्यतीति भावः॥३५०॥

अथ अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनयोरनुष्ठाने किम् इतिकर्तव्यविशेषः कश्चिदस्ति किं वा नास्तीति विवक्षायामाह—

बहिरङ्गसाधनमशेषगुरोः
परमेश्वरस्य चरणाम्बुजयोः ॥
नियमात् समर्पितमशेषमघ
विनिहन्ति बुद्धिनिलयं सुमहत् ॥ ३५१ ॥

बहिरङ्गेति ॥ बुद्धिनिलयमिति बुद्धिगताभासाविविक्तजीवनिलयमिति यावत् । नियमादिति । कर्मणि कर्तृत्वाभिनिवेशं फलासक्तिं च हित्वा केवलं यज्ञात्मकस्य नारायणस्य तत्तद्देवतादिरूपेणावस्थितस्य समाराधनरूपमिदं कर्म करिष्ये इति प्रारम्भे, श्रीमन्नारायणे भगवति सकारकं सफलं चेदं कर्मास्तु इदं यथोक्तं कर्म कृतं नारायणार्पणमस्त्विति वाऽन्ते च सङ्कल्परूपो नियमस्तस्मान्नियमात्समर्पितमित्यर्थः । अत्राघशब्दे-

नात्मतत्त्वजिज्ञासोदयप्रतिबन्धकं सकलमेव कर्म विवक्ष्यते ॥ ३५१ ॥

अथ बहिरङ्गसाधनानां भगवत्समर्पणमुत्कर्षकारणमस्तीत्युक्तम्, अन्तरङ्गे तु तन्नास्तीत्याह —

न तथाऽन्तरङ्गमुपलब्धिजने-
रुपकारकं शमदमप्रभृति ॥
तदनुष्ठितं परमहंसजनैः
परमात्मतत्त्वमुपलम्भयति ॥ ३५२ ॥

न तथेति ॥ शमदमप्रभृति यत् अन्तरङ्गम् उपलब्धिजनेस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तेस्तथा बाहिरङ्गवत् दूरगतं सन्नोपकारकं किन्तूत्पादित एव साक्षात् तत्त्वज्ञानसाधनम् अतो न तत्र परमेश्वरार्पणगुणयोगोऽपेक्ष्यते इत्यर्थः। तर्हि किं कोऽप्युत्कर्षहेतुरत्र नास्त्येव? न। किन्त्वन्यदेवात्र परमहंसकृतत्वमुत्कर्षहेतुरस्तीत्याह। तदनुष्ठितमिति। अत्राधिकारिविशेषकृतत्वमुत्कर्ष इत्यर्थः ॥ ३५२ ॥

अथ बहिरङ्गेषु भगवत्समर्पणगुणविधाने प्रमाणमाह—

भगवाननादिनिधनः कृपया
हरिरेतदाह जगदेकहितः ॥
सकलं समर्प्य मयि युक्तमनाः
कुरु कर्म शुद्धिकरमित्यसकृत् ॥ ३५३ ॥

भगवानिति ॥ "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः॥" "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवा-

ष्यसि" । इत्येवमसकृद्भगवानाहेत्यत एतादृशं भगवद्गीतावाक्य-मिह प्रमाणमित्यर्थः ॥ ३५३ ॥

अथ एतदन्तरङ्गेऽपि समानं किं न स्यादिति चेत्, नेत्याह—

न तथाऽन्तरङ्गफलसंन्यसनं
क्वचिदूचिवानत इदं विदितम् ॥
अनपेक्ष्य तत्फलपरित्यजनं
परमात्मनिश्चयफलं तदिति ॥ ३५४ ॥

न तथाऽन्तरङ्गेति ॥ किं विदितं तदाह। अनपेक्ष्येति । परमात्मनिश्चयफलं तदन्तरङ्गसाधनमिति यतोऽतस्तत् फलपरित्यजन-मनपेक्ष्य तद् अनुष्ठेयं परमहंसजनैरिति विदितमिति योजना । अन्तरङ्गसाधनानां यज्ञादिवत् फलान्तराभावात्तत्त्वविज्ञानं प्रति व्यवधानाभावाच्च न तेषु फलत्यागेश्वरसमर्पणगुणयोगापेक्षाऽस्ति अतो न समर्पणवचनं साधारणविषयं किन्तु बहिरङ्गविषयमेवेति भावः ॥ ३५४ ॥

अथ न्यायतोऽप्येवमेव युक्तमित्याह—

अपि च बन्धनहेतुतया श्रुतं
समसमीक्षणकौशलशालिनः ॥
भवतु शुद्धिकरं न च बन्धकृद्
भवति कर्म तथा घटते हि तत् ॥ ३५५ ॥

अपि चेति ॥ बन्धनहेतुतया स्वभावतोऽनात्मरूपफल-प्रदत्वेनात्मनः संसारबन्धहेतुतया श्रुतं यत् कर्मजातं तत् समस-मीक्षणकौशलशालिनः समस्य ब्रह्मणः समीक्षणं ज्ञानं त-दुदयविरोध्यर्थपरित्यागेन तदुत्पत्त्यनुकूलसाधने निष्ठा त-

द्वतः पुंसस्तच्छुद्धिकरं भवतु न च बन्धकृद्भवति कर्मेति तद्
बहिरङ्गसाधनं तथा भगवत्समर्पणादियोगि घटते एवेत्यर्थः ।
स्वतोऽशुद्धानां कर्मणामशुद्धिकरत्वांशपरिहारेण शुद्धत्वं भग-
वत्समर्पणवशादिति युक्तमिति भावः ॥ ३५५ ॥

अथ नन्वन्तरङ्गसाधनानामपि तुल्यमशुद्धत्वं क्रियाकार-
करूपत्वाविशेषादिति चेत्, नेत्याह—

यदिह साधनमात्मधियः श्रुतं
न च फलान्तरहेतुतया श्रुतम् ॥
शमदमादिकमत्त तु कौशलं
किमपि काङ्क्षितमस्ति न सिद्धये ॥ ३५६ ॥

**यदिह साधनमिति** ॥ अक्षरार्थस्त्वतिरोहितः । अन्त
रङ्गसाधनानां बन्धहेतुत्वानवगमात्सम्यग्ज्ञानहेतुत्वावगमाच्च
परमसात्त्विकतया स्वतः शुद्धत्वमवसीयते इति नात्राशु-
द्धिशङ्केति भावः ॥ ३५६ ॥

अथ अध्यायार्थमुपसंहरति—

उक्तं साधनजातमत्र सकलं विद्यासमुत्पत्तये
यस्मिन् कर्मणि वैदिकेन विधिना नुन्नः परिव्राजकः ॥
कर्त्तृत्वाद्युपमर्दनेन भवता विद्यानुकूलात्मना
कर्त्तव्यं तदशेषतस्तदनु ते विद्या विपाकं व्रजेत् ॥ ३५७ ॥

**उक्तं साधनजातमिति** ॥ अत्र तृतीयाध्याये सकलम्
अन्तरङ्गबहिरङ्गरूपं विद्यासमुत्पत्तये ऽपेक्षितमुक्तमित्युपसंहा-
रवाक्यान्वयः । एतच्चोक्तं साधनजातं कर्तृत्वादिबुद्धिराहि-
त्येन कर्तव्यम् अविक्रियब्रह्मात्मविद्योदयाय तत्परिपाकाय च

अन्यथा तदानुकूल्यायोगाच्छेषिविरोधापत्तेरित्याह। यस्मिन्कर्मणीति । अत्र परिव्राजकग्रहणं यज्ञादिकर्मचोदनाविषये भाविनी वृत्तिमाश्रित्य, शमादिचोदनायां तु साक्षादिति द्रष्टव्यम् । नुन्नः प्रेरितः। अशेषतः सर्वमेवेति यावत् । तदनु सम्यक्साधनसम्पत्तिसमनन्तरं ते तव विद्या विपाक व्रजेत् फलपर्यन्ता भविष्यतीत्यर्थः । विपाकग्रहणमुत्पत्तेरप्युपलक्षणम् । यद्वा परिव्राजकस्यान्तरङ्गानुष्ठाननिष्ठायां विशेषमाह । यस्मिन्कर्मणीति । शमादियुक्ते वेदान्तश्रवणादावित्यर्थः । अत्र परिव्राजकग्रहणं यथार्थमेव । समानमन्यत् ॥ ३५७ ॥

अव "नुन्नः परिव्राजकः" इति शमादियुक्तश्रवणादौ परिव्राजकस्याधिकार उक्तः, न केवलमस्यैवाधिकारः किंत्वन्येषामपि त्रैवर्णिकानामस्त्यत्राधिकार इत्याह—

वानप्रस्थगृहस्थनैष्ठिकजनैरन्यैश्च वर्णाश्रमैः
कर्मव्यध्वनिषेवितं भवति वै जन्मान्तरे पाचकम् ॥
विद्यायाः श्रवणादिलक्षणमिदं न ह्येतदेषां क चित्
शास्त्रेण प्रतिषिद्धमीक्षितमिदं शूद्रस्य दृष्टं यथा॥ ३५८॥

वानप्रस्थेति ॥ कर्मव्यध्वेति। कर्मविरुद्धमार्गरूपम्। यद्वा कर्ममार्गमध्ये वानप्रस्थादिभिर्निषेवितं श्रवणादिलक्षणमिदं यत् तत् जन्मान्तरे विद्यायाः पाचकं भवतीति योजना। एतेषां ब्राह्मणरूपजन्मान्तरे पारमहंस्याश्रमप्राप्तौ फलपर्यन्तता भवतीत्यर्थः।कुतः एषामप्यत्राधिकारप्राप्तिरिति चेत्, प्रतिषेधादर्शनादेवेत्याह। न ह्येतदेषामिति। यथेदं शूद्रस्य प्रतिषिद्धं दृश्यते तथा एतत् श्रवणादि एषां वानप्रस्थादीनां न क्वचिच्छास्त्रेण प्रतिषिद्धमीक्षितमस्ति, अतो दृष्टफलत्वादेव सर्वेषां सामान्यतो ऽधि-

कारप्राप्तौ प्रतिषेधादेव तदपवादो युक्तः, यथा शूद्रस्य वेदाध्ययनादिप्रतिषेधदर्शनादध्ययनाद्यपवादो, न चैषां तथा श्रवणादिनिषेधो दृष्ट इति प्रतिषेधाभावमात्रेण प्राप्ताधिकारस्थितिरित्यर्थः ॥ ३५८ ॥

अथ यदि वानप्रस्थादेरधिकारे सत्यपि तत्कृतश्रवणादि जन्मान्तरे पाचकं तदा परमहंसस्यास्मिन्नेव जन्मनि परिपक्वज्ञानोदय इति कथमध्यवसायः इति चेत्, तत्राह—

सर्वश्रुतिस्मृतिवचोभिरयं परिव्राड्
मुण्डः शुचिः परमहंस इति प्रसिद्धः ॥
ज्ञानाय साधनधनेषु नियुज्यमानः
प्रायेण बुद्धिपरिपाकमवाप्स्यतीह ॥ ३५९ ॥

**सर्वश्रुतीति** ॥ मुण्ड इति । "सशिखं वपनं कृत्वा त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्बुधः । यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्" "मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोहः" इत्यादिश्रुतिवचोभिस्तदनुसारिस्मृतिवचोभिश्च शिखायज्ञोपवीतादिकर्मसाधनानां साकल्येन त्यागवानित्यर्थः । शुचिरित्यैहिकामुष्मिकफलैषणात्यागाद्देहजात्याद्यभिमानत्यागाच्च शुद्ध इत्यर्थः । ज्ञानाय ज्ञानोत्पत्तये एव साक्षात्साधनधनेषु धनवत्संरक्षणीयेषु साधनेष्विति यावत् । प्रायेणेति बलवत्प्रतिबन्धकाभावे इत्यर्थः । साधनचतुष्टयसम्पत्त्या प्राप्तपरमहंसाश्रमस्यैव ज्ञानसाधनश्रवणाद्यनुष्ठानस्य साक्षाद्विधानात्परमहंसानुष्ठितत्वकृतः कश्चिदुत्कर्षो ऽस्ति साधनानामिति गम्यते । दृष्टश्च परमहंसे एव साद्गुण्येनानुष्ठानलक्षण उत्कर्ष इति तस्यैवेह ज्ञानपरिपाकसिद्धिर्नेतरवर्णाश्रमाणामिति निश्चीयते इति भावः ॥ ३५९ ॥

अथ नन्वाश्रमान्तरादिष्वपि परिपक्वज्ञानोदयः क्वचित् दृश्यते, तत्कथं तेषा जन्मान्तरे पाचकं साधनानुष्ठानमिति चेत्, नैष दोषः । तेषां पूर्वजन्मनि संन्यासपूर्वकश्रवणाद्यनुष्ठानं वृत्तमिति कल्पनात्, अन्यथा संन्यासविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्याह—

जन्मान्तरेषु यदि साधनजातमासीत्
संन्यासपूर्वकमिदं श्रवणादिरूपम् ॥
विद्यामवाप्स्यति जनः सकलोऽपि यत्र
तत्राश्रमादिषु वसन्न निवारयामः ॥ ३६० ॥

जन्मान्तरेष्विति ॥ स्पष्टाऽक्षरयोजना ॥ ३६० ॥

अथ ब्रह्मविद्यार्थिनः संन्यासकर्त्तव्यत्वे तद्वतः कृतकृत्यत्वे च प्रमाणत्वेन मन्त्रश्रुतिमुदाहरति—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ३६१ ॥

वेदान्तविज्ञानेति ॥ प्रागनुष्ठितैर्भगवत्यर्पितैः कर्मपूगैः शुद्धसत्त्वाः संन्यासयोगाद्यतयः परमहंसाः वेदान्तमहावाक्यजनितविज्ञानेन सुनिश्चितार्थाः समभिव्यक्तपरमानन्दाश्च ये ते सर्वे परान्तकाले महाप्रलये ब्रह्मलोकेषु केनापि हेतुना हिरण्यगर्भलोकेषु स्थिता अपि परामृताः परमकैवल्यभाजः सन्तः परिमुच्यन्ति परिमुच्यन्ते इत्यर्थः ॥ ३६१ ॥

अथ अत्रैवेतिहासवचनान्यप्याह—

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ॥
शील स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरम. क्रियाभ्यः ॥ ३६२ ॥

नैतादृशमिति ॥ एकता एकाकिता सदैकरूपव्यवहारवत्ता वा । समता विषमेष्वपि जनेषु समबुद्धिता । सत्यता यथार्थभाषिता च। शीलं मङ्गलाचारः। स्थितिः अक्षोभ्यता । शीलस्थितिरित्येकपदपाठे शीले निष्ठा । दण्डनिधानं सर्वभूताभयदानं संन्यासः। आर्जवम् अवक्रता, क्वचिदर्थविशेषे व्यवहारविशेषे वा ऽप्यनाग्रह इति यावत् । ततस्ततः क्रियाभ्यः ऐहिकामुष्मिकप्रयोजनाभ्य उपरमः औदासीन्यमित्यर्थः ॥ ३६२ ॥

अथ क्रियाभ्य उपरमे यत्फलं तत्प्रत्यक्षमित्येतद् वचनान्तरेणाह—

यतोयतो निवर्त्तते
ततस्ततो विमुच्यते ॥
निवर्त्तनाद्धि सर्वतो
न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ ३६३ ॥

यतोयत इति ॥ ३६३ ॥

अथ सर्वतो निवर्तनात् दुःखलेशानुभवो ऽपि न भवतीति कथं धनादिसुखसाधनसम्पत्त्या सुखोदयाभावे दुःखनिवृत्तेरसम्भवादित्याशङ्क्य, वाक्यान्तरोदाहरणेन परिहरति—

किं ते धनेन किमु बन्धुभिरेव वा ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ॥

आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३६४ ॥

किं ते धनेनेति ॥ हे ब्राह्मण यस्त्वं मरिष्यसि तस्य ते किं धनादिभिः कृत्यं, जीवतो हि तत् सुखाय स्यात्, तस्मान्मरणात्पूर्वमेव धनादि सर्वं परित्यज्य गुहां प्रविष्टं बुद्ध्यन्तरनुप्रविष्टं यथावदनभिव्यक्तमात्मानमन्विछ तत्स्वरूपान्वेषणं कुरु, तत एव तवाक्षयसुखप्राप्तिरित्यर्थः । मरणमवश्यमेवेत्यत्र मानमाह । पितामहा इति ॥ ३६४ ॥

अथ चतुर्विधपुरुषाणामसाधारणकारणप्रदर्शकं वाक्यमुदाहरन् सर्वक्रियानिवृत्तिरेव मोक्षस्यासाधारणो हेतुरित्याह—

अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च
कामस्य रूपं च वयो वपुश्च ॥
धर्मस्य यागादि दया दमश्च
मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३६५ ॥

अर्थस्य मूलमिति ॥ निकृतिः छलम् । अन्यपुरुषार्थाः नानाहेतुसाध्याः, मोक्षस्य त्वेक एव हेतुरित्याह । मोक्षस्येति । "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति च ॥ ३६५ ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थशिष्यरामतीर्थकृतायां सङ्क्षेपशारीरकटीकायामन्वयार्थप्रकाशिकायां साधनाभिधस्तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

# चतुर्थोऽध्यायः ।



अथ उक्तैः समस्तैः साधनैः संसिद्धैर्जायमानस्य महावाक्योत्थज्ञानस्य कीदृशी फलनिष्पत्तिरिति शिष्यः पृच्छति ।

उक्तसाधनसमुद्भवा सती
किं प्रयच्छति फलं मुमुक्षवे ॥
प्रत्यगात्ममतिरत्र मे मन-
स्यर्थिता समुपजायतेऽधुना ॥ १ ॥

उक्तसाधनेति ॥ अत्र फलविषये । किं साधनान्तरफलवत्साध्यरूपमेव ब्रह्मज्ञानफलमपि किं वा कूटस्थरूपमिति मे मनस्यर्थिता जिज्ञासाऽधुना समुपजायते इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ तथोत्पन्नायाः प्रत्यगात्ममतेः स्वफले साध्ये सहकारिकारणमप्यस्ति उत नास्ति वेति च निर्णयमित्याह—

किं निरस्तसहकारिकारणा
केवलैव फलमर्पयेन्मतिः ॥
बाह्यसाधनसहायसम्पदा
चाऽन्विता फलविधायिनी भवेत् ॥ २ ॥

किं निरस्तेति ॥ ऋज्वर्थं पद्यम् ॥ २ ॥

अथ अत्रापि निर्णयो वक्तव्य इत्याह—

एतदप्यहमवैतुमुत्सहे
निर्णयं कुरु कृपाविधेयधीः ॥
एतदेव हि दयालुलक्षणं
यद्विनेयजनबुद्धिवर्द्धनम् ॥ ३ ॥

एतदपीति ॥ "विधेयो निघ्न आयत्तः" इत्यभिधाना-त् कृपाविधेयधीः कृपायत्तधीः कृपापरवशधीरित्यर्थः । बहुशः प्रश्नकरणेनायासः प्रापित इति गुरुं क्षमापयन् कृपाविधेयत्व स्फुटयति । एतदेवेति । विनेयजनाः शिष्यजनाः ॥ ३ ॥

अत्र आचार्य आह—

उच्यते न तमसो निवृत्तितः
किं चिदस्ति परमात्मधीफलम् ॥
अन्यदल्पमपि साधनान्तरं
न व्यपेक्ष्य फलदायिनी च धीः ॥ ४ ॥

उच्यत इति ॥ उत्तरवचनं प्रतिज्ञायोत्तरमाह । न त-मसो निवृत्तित इति । अविद्यानिवृत्तिमात्रं विद्याफलमिति प्रसिद्धम् अतः प्रत्यगज्ञानबाधनव्यतिरेकेण न किञ्चिद्वस्तुभूतमु-त्पाद्यं वा निवर्त्तनीयं वाऽत्र फलमस्तीत्यर्थः । "किं प्रयच्छति फलम्" इति प्रश्नस्योत्तरमुक्त्वा "कि निरस्तसहकारिकारणम्" इति पृष्टस्योत्तरमाह । अन्यदल्पमपीति । साधनान्तरं व्यपेक्ष्य न फलदायिनीति सम्बन्धः ॥ ४ ॥

अत्र अविद्यानिवृत्तिमात्रमेव विद्याफलं तत्र सहकार्यपेक्षा च नास्तीत्यत्र किं प्रमाणमित्यपेक्षायामनुमानं प्रमाणमिति । वक्तुं व्याप्तिं तावदाह—

शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मनः

शुक्तिकागततमोनिवृत्तितः ॥

नापरं किमपि दृश्यते फलं

नापरं च सहकारिकारणम् ॥ ५ ॥

शुक्तिकेति ॥ ५ ॥

अथ एवं व्याप्तिमुक्त्वाऽनुमानमाह—

एवमात्मनि तमोनिवृत्तितो

नान्यदस्ति परमात्मधीफलम् ॥

नाप्यपेक्ष्य सहकारिकारणं

किं चिदात्ममतिरर्पयेत् फलम् ॥ ६ ॥

एवमात्मनीति ॥ विमता परमात्मधीः स्वविषयतमोनिवृत्तिमात्रफला तत्र सहकारिनिरपेक्षा च भवितुमर्हति, यथार्थधीत्वात्, या यद्विषया यथार्थधीः सा तद्विषयाविद्यानिवृत्तिमात्रफला सहकारिनिरपेक्षा च दृष्टा यथा शुक्तिकाविषययथार्थधीः, तथा चेयं, तस्मात्तथेति प्रयोगः ॥ ६ ॥

अथ ननु नाविद्यानिवृत्तिमात्रफला ब्रह्मविद्या वैदिकविद्यात्वात् प्राणादिविद्यावदिति चेत्, मैवम् । अप्रमाणत्वोपाधिहतत्वादनुमानस्येत्याह—

ब्रह्मज्ञानं प्रमाणं भवति दृढमिदं नात्र कश्चिद्विवादो

ब्रह्मात्मा चैकरूपो न च बहुरसकस्तत्परत्वाच्छ्रुतीनाम् ॥

एवं सत्यद्वयात्मप्रमितिफलमिह द्वैतमूलापनुत्ति-

र्न ह्यज्ञानापनुत्तेरधिकमपि फलं किं चिदस्ति प्रमाणात् ॥ ७ ॥

ब्रह्मज्ञानमिति ॥ इदं ब्रह्मज्ञानं इदं प्रमाणं भवति प्रत्यक्षादिवत्प्रमाकरणजन्यत्वात्, अत्र च न कश्चिद्विवादः । एतेनोपाधेः साधनव्यापकत्वं निरस्तम् । न च प्राणादिज्ञानमपि प्रमाणम् इत्युपाधेः साध्याव्यापकत्वमपीति वाच्यम् इत्याह । ब्रह्मात्मा चेति।एकरूपः कूटस्थो न प्राणादिवद्विकारवानित्यर्थः।अत एव न च बहुरसको ऽनेकावस्थावान् । प्राणादित्यादिर्हि बह्ववस्थाकोऽनेकैर्विशेषणैः प्रत्युपासनविधिभिर्भिद्यमानत्वात् । अतः प्राणादिविद्यानां पुरुषस्वातन्त्र्यविध्यधीनमानसक्रियारूपत्वादारोपितानेकविशेषणवत्प्राणाद्यालम्बनत्वाच्च न प्रमाणत्वमस्ति । परमात्मविद्यायास्तु वस्तुपरतन्त्रत्वादेकरूपब्रह्मात्मालम्बनत्वाच्चास्ति प्रामाण्यमिति महान्विशेष इत्यर्थः । नन्वस्त्वेवं ब्रह्मविद्यायाः प्राणादिविद्यातः स्वरूपतः फलतो वैलक्षण्यं, तथाप्यनयाऽविद्यानिवृत्तिमात्रमस्तु, समस्तद्वैतावभासरूपबन्धनिवृत्तये किमप्यन्यदपेक्षणीयं भविष्यतीति चेत्, नेत्याह । एव सतीति । समस्तद्वैतस्य प्रत्यगज्ञानमूलत्वान्मूलनिवृत्त्यैव मौलिकस्यात्यन्तिकी निवृत्तिरिति द्वैतमूलाज्ञाननिवृत्तिरेवाद्वयात्मप्रमितिफलमिह विवक्षितं नाज्ञानस्य केवलस्य निवृत्तिरित्यर्थः । अतो ऽज्ञानापनुत्तेः पृथगधिकफलं ज्ञानसाध्यं न ह्यस्ति प्रमाणसिद्धमित्यर्थः । द्वैतबन्धस्याज्ञानमयत्वादिति भावः ॥ ७ ॥

अथ एवं सति सहकारिनैरपेक्ष्यमपि सिद्धमिति सहकार्यभावोऽप्यस्य सिद्ध इत्याह—

निरभिसन्धि समर्पितमच्युते

विहितमिष्टफलादपि निर्गतम् ॥

यदपि कर्म तदप्यवधीरितं

यदि धिया न तया परमर्थ्यते ॥ ८ ॥

निराभिसन्धीति ॥ यदपि विहितं कर्माच्युते परमात्मनि निरभिसन्धि फलाभिसन्धिरहितं समर्पितम् अत एवेष्टफलादपि निर्गतं स्वरसतोऽभिलाषिस्वर्गादिफलादपि प्रच्यावितम् एवंविधमत्यन्तविशुद्धं तदपि कर्म धिया यद्यवधीरितं दूरत एव त्यक्तं दूरत एवोपकारकमङ्गीकृत्य स्वसमये तन्निरपेक्षतया परित्यक्तमिति यावत् । तया धिया स्वोत्पत्तित एव फलशिरस्कतया न परं सहकारिभूतमर्थ्यते, विहितकर्मातिरिक्तस्य सहकारिणोऽत्रासम्भवात्, तस्य चानया धिया दूरत एव त्यक्तत्वात् पुनस्तस्याः सहायत्वेनान्यस्य विधानादर्शनात् निरपेक्षैव ब्रह्मात्मधीर्मुक्तिफलाय कल्पते इति तात्पर्यार्थः ॥ ८ ॥

अथ ननु कर्मपरित्याग एवायुक्तः तस्य कर्मणो यावज्जीवश्रुतिविहितत्वात् तस्मात्कर्मसमुच्चितमेव ज्ञानं मोक्षसाधनमिति केचित्प्रतिपन्नास्तान्प्रत्याह—

समविषमसमुच्चयो न युक्तो
न हि जगदस्ति धियः प्रसूतिकाले ॥
क्व नु बत विहितक्रियासमूहः
कथमिव तत्र समुच्चयोपपत्तिः ॥ ९ ॥

समविषमेति ॥ ज्ञानकर्मणोरुभयोरपि प्राधान्यं समसमुच्चयः, ज्ञानं प्रधानं कर्माप्रधानम् अथवा कर्म प्रधानं ज्ञानमप्रधानमिति विषमसमुच्चयः । एते समविषमसमुच्चयाः ज्ञानकर्मणोः न युक्ताः । तेषामयुक्तत्वसिद्धये कैमुतिकन्यायेन ज्ञानकाले कर्मणामसम्भवमाह । न हि जगदिति । धियः प्रसूतिकाले जगदेव

समष्टिव्यष्टिसङ्घातरूपं न अस्ति, निरस्तसमस्तप्रपञ्चनिर्विशेष-ब्रह्मात्माकारोदयत्वाद्विद्यायाः इत्यर्थः । यदा कर्मणः कारक-मेव जगन्नास्ति तदा विहितः क्रियासमूहः क नु बत न क्वापीत्य-र्थः । तत्रैवं सति कथमिव समुच्चयोपपत्तिर्न कथमपीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ इतश्च कर्मणा न सहकारित्वशङ्कावकाश इत्याह—

अपि च परमहंसस्त्यक्तसर्वैषणः सं-
न्ननुभवफलविद्यां साधनैर्यद्यवाप ।
कथमिव पुनरत्र प्राप्तिरस्ति क्रियाया
भवतु तदपवर्गो विद्ययैवैकयाऽस्य ॥ १० ॥

अपि चेति ॥ ज्ञानोत्पत्तावपि विरोधीन्येव कर्माणीति-विज्ञाय त्यक्तसर्वैषणः सन् परमहंसः उत्तमाश्रमं प्राप्तः साधनैः निवृत्तिलक्षणैरेवानुभवफलविद्यां ब्रह्मात्मानुभवपर्यन्तां तत्त्वधियं यद्यवाप तदा ऽस्यां विद्यायां क्रियायाः पुनः प्राप्तिः कथ-मिवास्ति नैवास्तीत्यर्थः । तत्तस्मादस्य परमहंसस्य विद्ययैकयै-वापवर्गो भवतु भवेदेवेत्यर्थः । तथा च यावज्जीवाद्युपबद्धाः क-र्मविधयः संन्यासविधिश्रुत्युपरुद्धाः सन्तो ऽविरक्तविषया व्यवतिष्ठन्ते तेषां सामान्यतः प्रवृत्तेः, संन्यासविधीनां विरक्त-विषयत्वेन विशेषनिष्ठत्वात्सामान्यशास्त्राद्विशेषशास्त्रस्य बली-यस्त्वादिति भावः ॥ १० ॥

अथ ननु कर्मणामेव पुरुषार्थहेतुत्वं ज्ञानस्य तु सर्वत्र तदङ्गत्वमेवेति आत्मतत्त्वज्ञानस्यापि कर्माङ्गत्वमेवेति चेत्, न । ब्रह्मात्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे प्रमाणाभावादित्याह—

यस्य प्रयोगविधिरस्ति परिग्रहीता

द्वारैदमर्थ्यविनिवेदकमस्य सर्वम् ॥
श्रुत्यादि मानमिह नास्ति तदात्मबुद्धौ
तस्मादियं भवतु नः पुरुषार्थभूता ॥ ११ ॥

**यस्य प्रयोगविधिरिति** ॥ प्रयोगविधिरिति प्रधानविधिरेव ग्राहकावस्थो विवक्ष्यते। तथा च यस्य स्वप्रकरणपठितस्यानारभ्याधीतस्य वा पदार्थस्य परिग्रहीता प्रयोगविधिरस्ति अस्य सर्वं श्रुत्यादिमानं श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यालक्षणमङ्गविनियोजकं मानजातं द्वारैदमर्थ्यविनिवेदकं सामान्यतः प्रयोगविधिपरिगृहीतस्यार्थस्याङ्गभूतस्य क्रियास्वरूपादिनिर्वर्त्तनद्वारबलादैदमर्थ्यविनिवेदकम् "अनेन द्वारेणेदमेतदर्थमनुष्ठेयम्" इति ज्ञापकं भवति न स्वातन्त्र्येण श्रुत्यादि कस्यचिद्विनियोजकं किन्तु प्रयोगविधिरेव विनियोजकः तत् विनियोजकं प्रयोगविधिलक्षणं श्रुत्यादिलक्षणं वा इहात्मबुद्धौ नास्ति भिन्नप्रकरणत्वात्, तस्मादत्र विनियोजकप्रमाणाभावादियमात्मबुद्धिर्नोऽस्माकं पुरुषार्थभूता भवत्विति योजना। एतदुक्तं भवति। आत्मज्ञानस्य न कर्मप्रकरणसम्बन्धोऽस्ति येन प्रयोगविधिना परिगृह्येत। नाप्यनारभ्याधीतन्यायावतारोऽत्रास्ति, पर्णताया जुहूवत् आत्मज्ञानस्येह द्वाराभावात्। आत्मैव द्वारमिति चेत्, न। तस्य जुहूवत् क्रत्वव्यभिचाराभावात् आत्मनो विहिताविहितप्रतिषिद्धसर्वक्रियासाधारणत्वात्, पर्णताया इवेह विनियोजकवाक्याद्यभावाच्च। तथाहि—न तावदिह "ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्" इतिवत् "आत्मज्ञानेनेदं कार्यम्" इति श्रुतिर्दृश्यते, नापि "बर्हिर्देवसदनं दामि" इतिवत् लिङ्गमुपलभ्यते। नन्वस्त्यत्र लिङ्गमन्यथानुपपत्तिकल्पितं, यतो देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य पारलौकिक-

फलकर्मसूपयोगो दृश्यते ऽतस्तैस्तदाक्षेप इत्यनेन लिङ्गेन विनियोगोपपत्तेरिति चेत्, न । देहव्यतिरेकादधिकरूपस्य कर्माधिकारविरोधिनो वेदान्तेष्वाम्नानात् । न हि स्वप्रतिकूलमङ्गं किमपि कस्यचिद्भवति । यदि पुनर्देहव्यतिरिक्तस्वरूपमात्रमेवात्रोच्यते नाधिकमिति मन्येत, तथापि न लिङ्गमात्रादङ्गत्वसिद्धिस्तस्य द्वारैदमर्थ्यमात्रे मानत्वात्, अत्र च द्वाराभाव उक्त इत्यतो न लिङ्गमपीहास्ति, वाक्यप्रकरणादीनां त्वत्राशङ्कैव नास्तीति स्वतन्त्रैव ब्रह्मविद्याऽन्यानिरपेक्षा च पुरुषार्थहेतुरिति । पुरुषार्थश्चाविद्यानिवृत्तिः ॥ ११ ॥

अथ ननु तर्ह्यविद्यानिवृत्तिरेव कीदृशी तस्या आत्मान्यत्वेन सत्त्वे द्वैततादवस्थ्यात् आत्माद्वैतासिद्धेः । आत्मत्वेन सत्त्वे त्वनादिभावरूपतया निवृत्त्ययोगाद्विद्यावैयर्थ्यम् । असत्त्वे च खरशृङ्गादिवन्नित्यानिवृत्तत्वाद्विद्यावैयर्थ्यमेव, सदसदात्मकता तु विरोधादेकत्रानुपपन्ना । न चोभयविलक्षणाऽनिर्वचनीया सेति वाच्यम् । तस्या अविद्यात्मत्वादनिवृत्तिरेवाविद्यायाः स्यादिति चेत्, न । पञ्चमप्रकाराऽविद्यानिवृत्तिरित्यभ्युपगमादित्याह—

सदसत्सदसद्विकल्पित-
प्रतिपक्षैकवपुर्निवर्त्तनम् ॥
तमसोऽभ्युपगम्यतेऽन्यथा-
नुपपत्त्यापतनैकहेतुतः ॥ १२ ॥

सदसदिति ॥ तमसो निवर्त्तनं निवृत्तिः सदसत्सदसद्विकल्पितप्रतिपक्षैकवपुरभ्युपगम्यते न सत् नासत् न सदसद्रूपं न वा विकल्पितं, सदसत्सदसद्विलक्षणमपि तमोनिवर्तनमभ्युपगम्यते किंत्वेभ्यः प्रकारेभ्यो विलक्षणमेतत्प्रतिपक्षैकस्व-

भावं यत्किञ्चिदिति पञ्चमप्रकाराऽज्ञाननिवृत्तिरिति यं विद्वांसः कथयन्ति तं वयम् अभ्युपगच्छाम इत्यर्थः। अस्मिन्पक्षे किं प्रमाणमित्यपेक्षायां सदादिपक्षमहत्त्वानुपपत्तिरेव मानमित्याह। अन्यथाऽनुपपत्तीति। सदादिपक्षविलक्षणत्वेन विना याऽनुपपत्तिस्तस्या आपतनं प्राप्तिस्तदेकहेतुतः सदाद्यनुपपत्तिप्रमाणत इत्यर्थः॥ १२॥

अव ननु अयमपि प्रकारो ऽनुपपन्नो ऽस्यापि सदादिविकल्पप्रसरादिति चेत्, नैवं सम्भवतीत्याह—

सदसत्सदसद्विकल्पित-

प्रतिबद्धा न भवन्ति वर्णिते॥

परमात्मतमोनिवर्त्तनेऽ-

नुपपत्तिप्रतिभासवृत्तयः॥ १३॥

**सदसदिति**॥ वर्णिते पूर्वपद्यनिरूपिते परमात्मतमोनिवर्त्तने सदादिविकल्पितप्रतिबद्धा दोषा न भवन्ति। के ते? इत्यत आह। अनुपपत्तिप्रतिभासवृत्तयोऽनुपपत्तिप्रतीतिगोचरा इत्यक्षरयोजना। सदादिपक्षचतुष्टयप्रतिबद्धैव हि दोषप्राप्तिः। पञ्चमप्रकारस्य तु दुष्टपक्षपरित्यागमात्रत्वात् तस्मिन्पक्षे दोषप्रतिभास एव नावतरतीति भावः॥ १४॥

अव चैतन्याद्भेदाभेदविकल्पे ऽपि चोक्तप्रकारेण पञ्चमप्रकारत्वमेवाविद्यानिवृत्तेरिष्यते इत्याह—

चितिभेदमभेदमेव वा

द्वयरूपत्वमथो मृषात्मताम्॥

परिहृत्य तमोनिवर्त्तनं

प्रथयन्ते खलु मुक्तिकोविदाः ॥ १४ ॥

चितिभेदमिति ॥ मुक्तिकोविदा इष्टसिद्धिकारादयः पण्डिता इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अव तमोनाशस्तमोनिवृत्तिरिति दृष्टिमाश्रित्य पञ्चमप्रकारात्वाङ्गीकारेणानुपपत्तिदोषो निराकृतः, इदानीं बाध एव निवृत्तिशब्दार्थो न नाश इति परमसिद्धान्तदृष्टिमाश्रित्यात्मैव ज्ञातत्वोपलक्षितस्तमोनिवृत्तिरिति पक्षान्तरमाह—

अथ वा चितिरेव केवला
वचनोत्पादितबुद्धिवर्त्मना ॥
परमात्मतमोनिवृत्तिगी-
र्विषयत्वं समुपैत्युपाधिना ॥ १५ ॥

अथ वेति ॥ केवला निर्विशेषा चितिरेव वाक्योत्पादितबुद्धिवर्त्मनोपाधिना वाक्योत्थबुद्धिवृत्तिप्रतिफलितत्वेन निमित्तेन परमात्मतमोनिवृत्तिगीर्विषयत्वं समुपैति ॥ १५ ॥

अव ननु शुक्तितमोनिवृत्तिः शुक्तितत्त्वज्ञानात्प्रसिद्धा सा च शुक्तिगता न चैतन्यगता शुक्तेरचैतन्यात्, तथा चात्मन्यनात्मनि चानुगतं चिन्मात्रादन्यदेवाज्ञाननिवृत्तिशब्दवाच्यमेष्टव्यमिति चेत्, नैवमित्याह—

शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना
प्रत्यगात्मचितिरेव केवला ॥
शुक्तिकागततमोनिवृत्तिरि-
त्युच्यते दृतिहरिः पशुर्यथा ॥ १६ ॥

शुक्तिकेति ॥ शुक्तिकादेः प्रत्यक्चैतन्यविवर्त्तत्वात् शुक्तिकाद्यज्ञानमपि शुक्तिकाद्यवच्छिन्नाकारप्रत्यगज्ञानमेव, न स्वातन्त्र्येण जडस्याज्ञान प्रति विषयत्वेनाश्रयत्वेन वा सम्बन्धो ऽस्ति, अतः शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना शुक्त्यवच्छिन्नचिदभिव्यञ्जकतयोत्पन्नबुद्धिवृत्त्युपाधिना केवला प्रत्यगात्मचितिरेव शुक्तिकागततमोनिवृत्तिरित्युच्यते, तस्मात्तमोनिवृत्तिः सर्वत्र चैतन्यमात्रतया चैतन्यगतैवेति नाननुगमशङ्केत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ "दृतिहारिः पशुर्यथा" इति स्वोक्तबुद्धिवृत्तेरुपाधित्वे दृष्टान्त उक्तः, तत्रोपाधिर्नाम विशेषणोपलक्षणाभ्यामन्यः यथा पशुत्वं तटस्थमेव सत् दृतिहरिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् इत्युक्तदृष्टान्तं स्पष्टयति—

वाचको हरणकर्त्तुरिष्यते
शब्द एष हि दृतेर्मनीषिभिः ॥
केवलं तु पशुता निमित्ततां
बाह्यतः स्थितवती व्रजेदियम् ॥ १७ ॥

वाचक इति ॥ मनीषिभिरेष दृतिहरिशब्दो दृतेर्हरणकर्त्तुर्हि वाचक इष्यते । चर्मकोशं दृतिपदवाच्य यो मनुष्यो वा श्वा वा ऽन्यो वा हरति स योगवृत्त्या दृतिहारिशब्दवाच्यो भवतीति प्रसिद्धमित्यर्थः । यद्यप्येवं तथापि पशुत्वविवक्षयैव दृतिहरिशब्दं प्रयुञ्जते मनीषिणो न दृतिहरणकर्तृत्वविवक्षयेति पशुत्वेन नियम्यमानं दृतिहारिपदं पशावेव निविशते इति पशुत्वं दृतिहारिपदस्य विषयभावं भजते । पशुत्वं च वाच्याद् बहिरेव तिष्ठति न तु स्वयं वाच्यकोटौ विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा प्रविशतीति "हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ" इति व्याकरणसूत्राद्गम्यते इत्येतत्सर्वमभिप्रेत्याह । केवलन्त्विति । इयं पशुता

वाच्यबाह्यतः स्थितवती सती इतिहरिशब्दप्रवृत्तौ केवलं निमित्ततां व्रजेदिति योजना ॥ १७ ॥

अथ प्रकृतेऽप्यन्तःकरणवृत्तेरुपाधित्वमेष्टव्यमिति दार्ष्टान्तिकमाह—

एवमेव तु तमोनिवृत्तिगीः
शुक्तिकाविषयबुद्धिजन्मना ॥
बाह्यतः स्थितवतैव हेतुना
प्रत्यगात्मचिति वर्त्ततेऽञ्जसा ॥ १८ ॥

एवमेवेति ॥ शुक्तिकाद्यनुगतमेव चैतन्यं शुक्त्याद्याकारान्तःकरणवृत्त्योपाधिना वाच्याद् बाह्येनैव सता नियम्यमानं शुक्त्याद्यज्ञाननिवृत्तिशब्दवाच्यं भवतीति तात्पर्यार्थः । अक्षरयोजना त्वतिरोहिता ॥ १८ ॥

अथ एतदेव दृष्टान्तीकृत्य ब्रह्मात्मन्यज्ञाननिवृत्तिशब्दवाच्यं वाक्योत्थब्रह्माकारबुद्धिवृत्त्योपाधिना ब्रह्मात्मचैतन्यमेवेत्याह—

उत्पन्नशुक्तिमतिरात्मचितिर्यथैव
शुक्तेस्तमोहतिरिति प्रतिपन्नमेवम् ॥
आत्मापि जातनिजबुद्धिरबोधहानि-
रित्युच्यते किल चिदेकरसो न पूर्वः ॥ १९ ॥

उत्पन्नशुक्तिमतिरिति ॥ उत्पन्ना शुक्त्याकारान्तःकरणवृत्तिरूपा मतिर्यस्या उपाधित्वेनेष्टा सा आत्मचितिरुत्पन्नशुक्तिमतिः सा यथा शुक्तेस्तमोहानिरिति प्रतिपन्नम् एवमात्मापि चिदेकरसो जातनिजबुद्धिर्वाक्योत्थबुद्धिवृत्तिजन्मोपाधिः सन् अबोधहानिरित्युच्यते किलेति सत्यम् । न पूर्वो यथोक्तबुद्धिवृ-

ध्युपाधिजन्मनः प्रागवस्थितस्तमोहानिरिति नोच्यत इति यो-जना ॥ १९ ॥

अथ यदि केवलब्रह्मात्मचैतन्यमेव तमोनिवृत्तिशब्दवाच्यं तर्हि तादृशबुद्ध्युत्पत्तेः प्रागपि कुतो ऽज्ञाननिवृत्तिरिति नोच्यत इति चेत्, तत्र शब्दस्वभाव एष इति वक्तुमुक्तमेव दृष्टान्तमाह—

दृतिहरणकरत्वं पुंसि चान्यत्र वेदं
दृतिहरिरिति लोके नोच्यते वर्त्तमानम् ॥
अनधिकविकलं सत् कथ्यते तत् पशुस्थं
दृतिहरिरिति शब्दैर्बाह्यहेतोः पशुत्वात् ॥ २० ॥

दृतिहरणेति ॥ इदं प्रत्यक्षं दृतिहरणकरत्वं पुंसि मनुष्ये ऽन्यत्र श्वादौ वा वर्तमानं लोके दृतिहरिरिति नोच्यते किन्तु तत् दृतिहरणकर्तृत्वं पशुस्थम् अनधिकाविकलं सत् अन्यूनातिरिक्तमव्यभिचारि सद् दृतिहरिरिति शब्दैः कथ्यते, बहुवचनं प्रयोगबाहुल्याभिप्रायम् । कस्मात्? बाह्यहेतोः पशुत्वात् पशुस्वरूपाद्बाह्यबहिर्भूतान्निमित्तादित्यक्षरार्थः । दृतिहरणकर्तृत्वं पुरुषादौ वर्त्तमानं दृतिहरिशब्देन नोच्यते तत्र व्युत्पत्तिव्याकरणस्मरणयोरभावात्, किन्तु पशौ वर्तमानं तन्मात्रमेव दृतिहरणपदेनोच्यते इति व्युत्पत्तिस्मृतिभ्यां प्रसिद्धम् अतः शब्दस्वभावो ऽयमिति कल्पनीयम् । निमित्तानुबन्धिनी हि शब्दस्य प्रवृत्तिरिति तात्पर्यार्थः ॥ २० ॥

अथ अत्राप्ययमेव न्याय इत्याह—

अयमपि परमात्मा प्रत्यगात्मस्वभावो
वचनजनितबुद्धेः प्राक् स्वरूपे स्थितोऽपि ॥

न खलु विषयभावं ध्वान्तविच्छेदवाचो
व्रजति हि तदुपाधेर्बुद्धिवृत्तेरभावात् ॥ २१ ॥

अयमपीति ॥ निगदव्याख्यातानि पद्याक्षराणि । एतदुक्तं भवति । प्रकृतेऽप्यज्ञाननिवृत्तिशब्दः प्रत्यक्चैतन्यमेव वदेत् बुद्धिवृत्त्युपाधौ सत्येव नासतीति स्वभावोऽस्य शब्दस्य उपाधेरागन्तुकत्वात्तन्निमित्तशब्दप्रयोगोऽप्यागन्तुक इति ॥२१॥

अथ नन्वयं नाशादिशब्दो नञ्पर्यायोऽभाववाचकः प्रसिद्धः, स कथं चैतन्ये सद्रूपे वर्तेतेति चेत्, सत्यम्, अभाववचनो नाशादिशब्दः स्वभावतः, अत्रायमज्ञानशब्देन समस्यमानो नाशादिशब्दोऽन्योन्याभाववचन इत्याह—

अज्ञानदाह इति नैकपदं समासात्
पूर्वोत्तरे खलु पदे पदतामुपेतः ॥
ज्ञानोदयं तटगतं समुपाददान-
स्तस्मात्तमोहनिरत्रोऽत्र चिति प्रवृत्तः ॥ २२ ॥

अज्ञानदाह इतीति ॥ अज्ञानं दाह इति च स्वभावतः इमे द्वे पदे नैकपदं कदाऽपीत्यर्थः । समासात्तु निमित्तात्पूर्वोत्तरे पदे अज्ञानमिति पूर्वपदं नाश इत्युत्तरम् एते पदतामैकपद्यमुपेतः प्राप्नुतः । तथा च समासवशाच्छब्दानामन्यत्रापि वृत्तिर्दृष्टा इतीहापि समासवशान्नाशशब्दस्य स्वसम्बन्ध्यभावमात्रादन्यत्र वृत्तिरुपपन्नेति फलितमाह । ज्ञानोदयमिति । तस्मादिति प्रथमं योज्यम् । तमोहतिरत्रोऽत्र प्रकृते तटगतं तटस्थं ज्ञानोदयमुपाधिं समुपाददानाश्चिति प्रवृत्तः । तथा चाज्ञानविलक्षणमज्ञानादन्यज्ज्ञानोदयोपाधिनाऽज्ञानविरुद्धाकारं चैतन्यमज्ञाननाशश-

ब्दार्थ इति न विरुद्ध्यते इति भावः ॥ २२ ॥

अव तथा दृतिहरिशब्दस्याप्यैकपद्यादेव विशिष्टार्थनियता वृत्तिराश्रिता तदवयवास्तु साधारणार्थवाचिन एवेत्याह—

अत्राप्यसौ दृतिहरिः पशुरित्यखण्डः

शब्दो न खल्वभिमतोऽवयवार्थयोगात् ॥

धातुश्च वाचकतया हरतिः प्रसिद्धो

हीन्प्रत्ययश्च हरतेः परतः प्रसिद्धः ॥ २३ ॥

अत्राप्यसाविति॥ अवयवार्थयोगमेव विभजते । धातुश्चेति । हरतिर्धातुर्हरणवाचकतया प्रसिद्धः "हृञ् हरणे" इति धातुपाठस्मृतेः । चकारोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमः, प्रसिद्ध एवेत्यर्थः । इन्प्रत्ययश्च हरतेर्धातोः परतः कर्तृवाचकतया प्रसिद्ध एव हीति योजना ॥ २३ ॥

अव तदेवमविद्यानिवृत्तिरात्मैवेत्यपि पक्षे न काचिदनुपपत्तिरिति स्थितम् । पुनरन्यदत्राशङ्क्यते । अयमात्मसाक्षात्कारः स्वोदयकाल एवात्माज्ञानं निवर्त्तयेत् तदुत्तरकाले वेति ? तत्रोभयथापि न विरोध इत्युत्तरमाह—

उदयन्निरस्यति तमश्च तदूर्ध्वं च

वेदावसानवचनादथवोदितः सन् ॥

ऐकात्म्यवस्तुविषयोऽनुभवोऽत एव

कं चित् सहायमनपेक्ष्य निवर्त्तकोऽसौ ॥ २४ ॥

उद्यन्निति ॥ अथवा वाक्योत्थविद्यायाः सहायानपेक्षत्वं यत्प्रागभिहितं तत्र युक्तिविशेषं संचारयति । उद्यन्निति । ऐकात्म्यवस्तुविषयो ऽनुभवो वेदावसानवच-

नादुद्यन्नेव वाऽथवोदित एव सन् तमश्च कारणं तदुद्भवं च कार्य सर्वं निरस्यति । उदितः सन्नित्यपि न विलम्बः प्रतीयते किन्तूदयसमनन्तरमेवेति न सहकारिप्रतीक्षाकल्पनाऽवकाश इति द्रष्टव्यम् । यत एवंस्वभावो ऽयमनुभवो ऽत एवासौ कश्चित्सहायमनपेक्ष्य निवर्तक इति सिद्धमित्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ तथापि किं तत्त्वमिति चेत्, तत्र दीपेन तमोनिवृत्ताविवेदं द्रष्टव्यमित्याह—

दीपस्तमस्तिरयतीह भवन्कुत श्चिद्
भूत्वा क्षणव्यवधिमात्रमपेक्ष्य नात्र ।
कश्चिद् विवादपदवीमुपयाति वादी
तद्वत् प्रतीच्यवगतौ तमसोऽपहन्त्र्याम् ॥ २५ ॥

दीपस्तम इति ॥ भवन् उत्पद्यमान एव दीपस्तमस्तिरयति अपसारयति दर्शनाविषयं करोतीत्यर्थः।कुतश्चिन्निमित्तात् प्रतिबन्धवशात्पुनर्भूत्वोत्पद्य क्षणव्यवधिमात्रं क्षणव्यवधानमात्रमपेक्ष्य तमस्तिरयतीत्यत्र न कश्चिद्वादी विवादपदवीमुपयाति । यथाऽयं दृष्टान्तस्तद्वत्प्रतीचि तमसोऽपहन्त्र्यामवगतौ विज्ञाने योज्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ यद्यप्येवमुभयथाऽपि सम्भावना समाऽस्ति, तथापि ब्रह्मविद्या उत्पद्यमानैवाविद्यां निवर्तयेत् न व्यवधानमीषदप्यपेक्ष्य क्षणमात्रं व्यवधीयत इत्याह—

उत्पत्तिरेव हि धिया स्वफलं प्रदातु-
माकाङ्क्षिता न च ततोऽपरमर्थनीयम् ॥
यत् कारकं तदिह काङ्क्षति जन्ममात्रा-

दन्यन्न धीः किमपि काङ्क्षति जन्म लब्ध्वा ॥२६॥

उत्पत्तिरिति ॥ धिया वाक्योत्थया स्वफलं प्रदातुमुत्पत्तिरेवाकाङ्क्षिता । एवकारव्यावर्त्यं स्वयमेवाह । न चेति । ततोऽपरमुत्पत्तेरन्यत्सहकारिभूतमर्थनीयं धियो न च विद्यते इति योजना। कुतः? इत्यत आह। यत्कारकमिति। कारकस्यायं धर्मो यदुत्पद्य स्वकार्ये जनयितव्ये सहकारिप्रतीक्षया विलम्बनं, न तु धियः प्रमाणत्वेनाकारकरूपायाः, इत्येवं सति यत्कारकं तादिह व्यवहारभूमौ स्वकार्ये वा स्वजन्ममात्रात् अन्यत् काङ्क्षति, धीः जन्म लब्ध्वा न किमपि काङ्क्षतीति योजना॥२६॥

अथ ज्ञानस्य सहकार्यपेक्षा नास्तीत्यत्र जैमिन्याचार्यसूत्रवाक्यं प्रमाणयति—

प्रत्यक्षसूत्र इदमेव निवेदयिष्यन्
न्यायेन जैमिनिरुवाच विदग्धबुद्धिः ॥
सत्संप्रयोग इति तत्र हि बुद्धिजन्म
शब्दस्य नान्यदिह कि चन कृत्यमस्ति ॥ २७॥

प्रत्यक्षेति ॥ "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्" इति सूत्रे "बुद्धिः प्रत्यक्षम्" इत्येतावत्युक्ते ऽपि तस्या जन्मार्थात्सिद्धमेवान्यथेन्द्रियाणां सत्सम्प्रयोग इति निमित्तनिर्देशवैयर्थ्यापातात्, तथाऽप्यर्थसिद्धं जन्म जन्मशब्देन निर्दिशन् न बुद्धेर्जन्मातिरिक्तो व्यापारोऽस्तीत्येतदेव सूत्रकारः सूचयतीति निष्पिण्डितोऽर्थः। एषाऽक्षरयोजना। विदग्धबुद्धिर्जैमिनिः "सत्सम्प्रयोग" इति प्रत्यक्षसूत्रे प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणसूत्रे इदमेव न्यायेन निवेदयिष्यन्नुवाच जन्मातिरिक्तो

न बुद्धेर्व्यापारोऽस्तीत्येतत् न्यायेन प्रतिपादयन् बुद्धिजन्मेति पदं प्रायुङ्क्त यतस्तत्र सूत्रे बुद्धिजन्मशब्दस्य इह लक्षणे नान्यत्किञ्चन कृत्यमस्ति विनाऽपि तेनातिव्याप्त्यादिनिरासिसिद्धेरिति ॥ २७ ॥

अथ अस्त्वेवं विद्योदयसमनन्तरमेवाविद्यायाः सकार्याया निवृत्तिर्विद्यायास्तु कथ निवृत्तिः निवर्त्तकाभावात्तद्भावे वा ऽनवस्थाप्रसङ्गादिति चेत्, तत्राह—

वेदान्तवाक्यजनिता मतिवृत्तिरेव-
मुत्पत्तितः सकलमेव भवार्णवाम्बु ॥
पीत्वा स्वयं च खलु शाम्यति दग्धलोह-
पीतं यथाम्बु चितिमेव तु शेषयित्वा ॥ २८ ॥

वेदान्तवाक्येति ॥ एवमिति उक्तन्यायेनेत्यर्थः । चितिमेवैकां शेषयित्वा स्वयं च खलु शाम्यति स्वनिवृत्तौ हेत्वन्तरं नापेक्षते ऽतो ऽनवस्थाप्रसङ्गो न भवतीत्येतत् दृष्टान्तेनोपपादयति । दग्धलोहेति । यथा दग्धलोहपीतमम्बु दाहं शमयति स्वयं च लीयते लोहमात्रमवशेषयति, तथा वेदान्तवाक्यजन्यात्ममतिवृत्तिरपि अविद्यातत्कार्यरूपप्रपञ्चं निवर्तयति स्वयमप्यविद्याकार्यान्तःपतितत्वान्निवर्तते चिन्मात्रं चात्मतत्त्वमवशेषयतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ तदेवमारोपिताविद्यानिवृत्तिमात्रत्वान्मोक्षस्य कूटस्थत्वं प्रतिपादितं, केचितु स्वर्गादिवन्मोक्षस्यापि साध्यत्वमाहुस्तान्प्रत्याह—

कूटस्थनित्यैव तु मुक्तिरेषा
विद्याफलत्वादिह यद्यदेवम ॥

तत्तत्तथा दृष्टमशेषमेव
यथा हि शुक्त्यादिपदार्थसंवित् ॥ २९ ॥

कूटस्थेति ॥ शुक्त्यादिपदार्थसंविदिति शुक्त्यादिविषयकप्रमाणफलभूता शुक्त्यादिस्फूर्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥

अव दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाशङ्क्याह—

जन्मादिषड्भावविकारहीना
शुक्त्यादिवस्तूपनिविष्टसंवित् ॥
न प्रागभावाद्यनुभूतिरस्याः
स्वतः प्रमाणादपि युज्यते हि ॥ ३० ॥

जन्मादीति ॥ शुक्त्यादिवस्तुनि अवशिष्टसंवित् शुक्त्यादिविशेषणांशहीना सती जन्मादिषड्भावविकारहीना कूटस्थैवेत्यर्थः । संवित् स्वरूपतो जन्मादिभावविकाररहिता, असम्भावितजन्मादिधर्मत्वात्, यद्यत्र न सम्भवति न तत्तेन धर्मेण धर्मवत् यथाऽग्निः शैत्येनेति प्रयोगः । हेत्वासिद्धिशङ्कां परिहरति । न प्रागभावादीति । अस्याः संविदो न स्वतः प्रागभावाद्यनुभूतिर्युज्यते स्वप्रागभावः स्ववेद्यो न घटते, नापि प्रमाणादन्यस्मात्तद्युज्यते इत्यक्षरार्थः । एतदुक्तं भवति । संविदो जन्मप्रागभावाद्यनुभवः संविदा तावन्न सिद्ध्यति स्वसम्बन्धितया हि स्वप्रागभावाद्यनुभवो वक्तव्यः स स्वात्मनि वृत्तिविरोधान्न सम्भवति । नापि प्रमाणान्तरात्तत्सिद्धिः मानवेद्यत्वे जडत्वापत्तेः संवित्त्वव्याघातात् स्ववेद्यत्वे चायं दोषः समानो वेद्यत्वमात्रस्यैव जडत्वप्रयोजकत्वात् । संविदग्रहणे च तत्सम्बन्धितया जन्मादिग्रहणासम्भवात्, अतोऽसम्भावितजन्मादिधर्मत्वादिति हेतुर्नासिद्ध इति ॥ ३० ॥

अथ एतदेव स्पष्टयति—

अबुध्यमानो न हि संविदं तत्-
सम्बन्धि किं चित् प्रतिपत्तुमीशः ॥
न बुध्यमानोऽपि तथा तदा हि
न संविदेषा विषयत्वहेतोः ॥ ३१ ॥

**अबुध्यमान** इति ॥ संविदमबुध्यमानोऽविषयीकुर्वन् कश्चित् तत्सम्बन्धि किञ्चित्प्रागभावादि प्रतिपत्तुं न हीशः समर्थः। धर्मिधीसापेक्षत्वाद्धर्मबुद्धेरित्यर्थः । तथा संविदं बुध्यमानोऽपि न समर्थः यतस्तदा हि एषा संविदेव न भवति विषयत्वाद्धेतोः, विषयत्वे जडत्वापत्तेरित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथ मोक्षस्य कूटस्थत्वं व्यतिरेकव्याप्तिच्छलेनानुमिनोति—

जन्या न मुक्तिर्घटते कुतश्चिद्
विद्याफलत्वादिति पूर्वहेतोः ॥
यद्यद्धि जन्यं जगति प्रसिद्धं
तत्तन्न विद्याफलमध्वरादि ॥ ३२ ॥

**जन्या न मुक्तिरिति** ॥ अध्वरादीति यथा यागादीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अथ तेनैव हेतुना मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वप्रतिषेधमुखेनापि कौटस्थ्यमेवानुमिनोति—

मोक्षस्वरूपे विफलक्रियोऽसौ
विद्याफलत्वादिह यद्यदेवम् ॥
तत्तत्तथा दृष्टमशेषमेव

यथैव रज्ज्वादिनमोनिवृत्तिः ॥ ३३ ॥

**मोक्षस्वरूप इति** ॥ असौ पुरुषो मोक्षस्वरूपे विफलक्रियः। मोक्षस्वरूपं न क्रियासाध्यमिति प्रतिज्ञापरमेतद्वाक्यं, शिष्टं स्पष्टार्थम् ॥ ३३ ॥

अथ ननु सायुज्यादिरूपोऽपि मोक्षः कर्मसाध्यश्चेति तत्र बाध इति चेत्, नैवम् । तस्य मोक्षत्वासम्प्रतिपत्तेरपक्षत्वादित्याह—

*सायुज्यादि विवादगोचरपदं निःश्रेयसं नो भवेत्
कार्यत्वादिह यद्यदीदृशमदो निःश्रेयसं नेक्षितम् ॥
यद्वत् कुड्यघटादि तादृशमिदं तस्मादिदं तादृशं
युक्तं कल्पयितुं न तद्विसदृशं तादृङ् न दृष्टं यतः ॥३४॥

**सायुज्यादीति** ॥ एतदपि पद्यं षट्पदम् । मोक्षपक्षानन्तर्भावे हेतुः विद्याफलत्वाहतेरिति । आहतिः हानिः, विद्याफलत्वाभावादित्यर्थः । एतेन पूर्वपद्योक्तानुमानेऽनैकान्तिकताशङ्काऽपि परिहृता, सायुज्यादौ विद्याफलत्वहेतोरवृत्तेः । कुतः सायुज्यादेर्विद्याफलत्वाभावः? इति तत्राह । मानस्येति । उपास्त्याख्ययेतिविशेषणेन पुम्परतन्त्रत्वं क्रियायाः सूच्यते । उपास्तिविधिविहितया पुम्परतन्त्रमानसक्रियया यस्मादिदं सायुज्यादि जन्यते तस्मान्न विद्याफलमिति योजना । सायुज्यादेर्मोक्षपक्षपातित्वाभावमुक्तमनुमानप्रयोगेण स्पष्टीकरोति । सायुज्यादि विवादगोचरपदमिति । कार्यत्वहेतुः क्रियासाध्यत्वोक्त्या साधित

---

* सायुज्यादि न मोक्षरूपमखिलं विद्याफलत्वाहतेः ।
मानस्या क्रिययैव जन्यत इदं यस्मादुपास्त्याख्यया ॥
इत्यर्धमधिकं मूलेऽपेक्षितम्, रामतीर्थव्याख्यानुरोधादिति प्रतिभाति ।

इति नासिद्धिशङ्काऽवकाशः । इहेत्यादि घटादीत्यन्तमुदाहरणवचनम् । सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणमिति हि तल्लक्षणम् । तादृशमिदमित्युपनयवचनं, कार्यं चेदमित्यर्थः । निगमनमाह । तस्मादिति कल्पयितुमित्यन्तेन । तस्मात् कार्यत्वादित्यर्थः । तादृशमिति निःश्रेयसं न भवतीत्यर्थः । हेतोरप्रयोजकताशङ्कां परिहरति । न तद्विसदृशमिति । दृष्टकुड्यादिविसदृशं नित्यं निःश्रेयसरूपत्वं न कल्पयितुं युक्तम् । अतः क्रियासाध्यं तादृशं नित्यनिःश्रेयसरूपं न दृष्टं क्वापीत्यर्थः । कृतकत्वस्यानित्यत्वव्याप्तेरभङ्गात् अनित्यस्य च निःश्रेयसत्वाभावादिति भावः । न च बन्धध्वंसो मोक्षः क्रियासाध्योऽपि नित्यो भविष्यतीति वाच्यम् । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति पुरुषः इत्येव प्रोच्यते इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मभावस्यैव मोक्षत्वाभिधानादज्ञानमयबन्धनिवृत्तेश्च ज्ञानसाध्यत्वात् क्रियासाध्यत्वाभावस्य प्रागेवोपपादितत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ ३४ ॥

अथ इतश्च मोक्षः कूटस्थनित्य इत्याह—

सदसदुद्भवनं न विमुक्तता
सदसदुद्भवनानुपपत्तितः ॥
सदसतोर्नशनं न विमुक्तता
सदसतोर्नशनानुपपत्तितः ॥ ३५ ॥

**सदसदिति** ॥ सदसतोरुत्पत्तिविनाशयोर्दुर्निरूपत्वस्य प्रागेव प्रपञ्चितत्वान्न सदसतोरुत्पत्तिर्वा विनाशो वा मुक्तिरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ सदसज्जन्मविनाशयोर्वस्तुवृत्तत्वाभावेन तत्प्रतीतेस्तमोमयत्वेऽपि तमोमयस्यैव मोक्षत्वमस्त्विति चेत् नेत्याह—

न च तमोमयजन्मविमुक्तता
न हि तदिष्टमनिष्टतरं हि तत् ॥
न खलु कल्पितजन्मविमुक्ततां
समुपगच्छति तद्वितथं यतः ॥ ३६ ॥

न च तमोमयेति ॥ जन्मेति नाशस्याप्युपलक्षणम् । तत्रानिष्टत्वे हेतुमाह । न हीति । मोक्षस्याभीष्टलक्षणत्वात् तमोमयस्य च तद्विरुद्धत्वान्न तस्य मोक्षत्वमित्यर्थः । इतोऽपि न तमोमयजन्मविनाशयोर्मोक्षरूपतेत्याह । न खल्विति । जन्मविमुक्तता जन्मविनाशयोर्विमुक्तता न समुपगच्छति कश्चिदपीति शेषः । यतस्तत् तमोमय वितथं मिथ्यैवेत्यर्थः । केनाप्यनङ्गीकारादयोग्यत्वाच्चायं पक्ष एवासङ्गत इति भावः ॥ ३६ ॥

अथ तर्हि तमोमयजन्म नाशो वा मोक्षो मा भूत् तमोमयप्रपञ्चविलय एव मोक्षोऽभ्युपगम्यत इति शङ्कते—

अथ तमोमयविश्वविकल्पना-
विलयनात्मकमभ्युपगम्यते ॥
सकलदूषणजातविवर्जितं
तदिह मोक्षपदं न निवार्यते ॥ ३७ ॥

अथेति ॥ इमं पक्षमङ्गीकरोति । सकलेति । तमोमयविश्वनिवृत्तेश्चात्मतावन्मात्रताया उपपादनात्कूटस्थनित्यैव मुक्तिरित्यत्र न किमपि दूषणमस्तीति तन्मोक्षपदमिहास्मन्मते न निवार्यते ॥ ३७ ॥

अथ सिद्धे मोक्षस्यैवं कौटस्थ्ये इदं विचार्यते, यद्यपि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेवाविद्या निवर्त्तते तथापि निवृत्ताविद्यस्य देहपाते

किं कश्चित्कालदोषोऽस्त्युत नेति जिज्ञासायां नेति तावदाह—

सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञानतत्सम्भवं
सद्यो वस्तुबलप्रवर्त्तनमरुद्व्यापारसन्दीपितः ॥
निर्लेपेन हि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्यो विमुक्तिर्ध्रुवा ॥ ३८॥

सम्यग्ज्ञानेति ॥ वस्त्वेव बलं वस्तुबलं तस्य प्रवर्तनमाविर्भावः स एव मरुद्व्यापारस्तेन सन्दीपितः। देहद्वयस्याज्ञानविलसितत्वात्तत्त्वज्ञानेन च स्वोदयमात्रेणाज्ञानस्य नाशितत्वान्निराश्रयस्य कार्यस्यावस्थानासम्भवात्सद्यो मुक्तिरेव ध्रुवेत्यर्थः ॥३८॥

अथ तर्हि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इत्यादिजीवन्मुक्तिशास्त्रस्य का गतिरिति चेत्, तत्राह—

जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं
जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम् ॥
तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्तेः
सद्यो मुक्तिः सम्यगेतस्य हेतोः ॥ ३९ ॥

जीवन्मुक्तीति ॥ जीवन्मुक्तेः प्रत्ययः प्रतीतिर्यस्मात् तज्जीवन्मुक्तिप्रत्ययम्।शास्त्रजातविशेषणमेतत्।श्रुतेः कथं कल्पितविषयत्वम् अप्रमाणत्वप्रसङ्गादिति चेत्, नैष दोषो ऽस्याः श्रुतेरर्थवादत्वादित्याह। तावन्मात्रेणेति। स्वार्थे फलवत्त्वाभावाद्विद्यास्तुत्यर्थत्वेन कल्पितजीवन्मुक्तविषयत्वमेवैतादृशवाक्यानामभ्युपेयं, तावताऽपि प्रमाणत्वाव्याघातादिति भावः । तस्य हेतोर्जीवन्मुक्तिज्ञापकशास्त्रस्यान्यपरत्वाद्धेतोः सद्यो मुक्तिः सम्यक् न्याय्यैवेत्यर्थः॥३९॥

अथ तथापि विदुषामनुभवसिद्धा जीवन्मुक्तिरिति चेत्, तर्हि तत्परा वा सा श्रुतिरस्त्वित्याह—

यद्वा विद्वद्गोचरं योजनीयं
तस्याविद्यालेशसत्त्वोपपत्तेः ॥
तस्याभीष्टा निर्निमित्ता निवृत्ति-
र्यद्वा विद्यासन्ततिर्हेतुलेशः ॥ ४० ॥

यद्वेति ॥ योजनीयं, जीवन्मुक्तिप्रत्ययं, शास्त्रमित्यस्यानुषङ्गः। कथं मुक्तस्य जीवनं विद्योदये सत्यविद्यानिवृत्तौ तत्कार्यप्राणादिनिवृत्तेरिति चेत्, न । विदुषोऽप्यविद्यालेशस्यावस्थानाङ्गीकारादित्याह । तस्येति । तर्ह्यविद्यालेशस्य किं निवर्तकमिति चेत्, न किमपीत्याह। तस्याभीष्टेति। निर्निमित्ता पूर्वप्राप्ततत्त्वविद्यातिरिक्तनिमित्तानपेक्षेत्यर्थः । नन्वविद्यालेशनिवृत्तिः निर्निमित्ता चेत् अविद्यानिवृत्तिरपि तथा स्यादिति ज्ञानवैयर्थ्यं स्यादिति चेत्, तत्राह। यद्वा विद्येति। विद्यासन्ततिरेवाविद्यालेशनिवर्तको हेतुलेशो निवर्त्याविद्यालेशानुरूपोऽल्पो हेतुरभ्युपगम्यताम् अतो न क्वापि विद्यावैयर्थ्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

अथ नन्वविद्यालेशावस्थानमप्यनुपपन्नं वस्तुतत्त्वस्य सर्वात्मना विद्ययाऽवभासेऽविद्याया लेशतोऽप्यवस्थानानुपपत्तेः, तथा पूर्वाचार्यग्रन्थेष्वविद्यालेशाज्जीवन्मुक्तिरुच्यते, क्वचिदविद्यागन्धात्तदुक्तिः, क्वाप्यविद्याछायया, क्वचिदविद्यासंस्कारादित्यतो व्याकुलं चैतदिति चेत् तत्राह—

जीवन्मुक्तव्याप्तेः प्रापको य-
स्तस्याविद्यालेशगन्धादिभावः ॥

नाविद्याया नापि भागस्य तस्या-
स्तस्मिन् पक्षे दुर्घटत्वाद् विमुक्तेः ॥ ४१ ॥

**जीवन्मुक्तव्यापृतेरिति** ॥ जीवन्मुक्तस्य व्यापृतिर्भिक्षाटनादिव्यवहारस्तस्य प्रापको यो हेतुस्तस्याविद्यालेशादिभाषा नाम विद्वद्भिः कृतेति योजना । यदत्र जीवन्मुक्तिप्रापकतया न्यायप्राप्तं तदविद्यालेशादिशब्दैरुच्यते सर्वैः सर्वत्रेत्यतो न व्याकुलतेति भावः । किन्तन्न्यायप्राप्तं तदुच्यतामिति चेत्, तत्स्वरूपं वक्तुं तत्रासम्भावित तावदाह । नाविद्याया इति । आविद्यायास्तावन्न तद्धेतुता नापि तस्या भागस्य तद्धेतुत्वं, कुतः ? इत्यत आह । तस्मिन्निति । अविद्यातदेकदेशयोरन्यतरस्यापि सत्त्वे मुक्तत्वविरोधादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथ इदानीं तत्स्वरूपमाह—

गन्धच्छायालेशसंस्कारभाषा
विज्ञातव्या भाष्यकारीयतन्त्रे
स्वाविद्याया बाधितायाः प्रतीतिः
पौर्वापर्येणार्थमालोच्य बुद्ध्या ॥ ४२ ॥

**गन्धच्छायेति** ॥ विद्याबाधितायाः स्वाविद्यायाः या प्रतीतिः प्रतिभासस्तस्याः प्रतीतेर्गन्धच्छायादिभाषा भाष्यकारीयतन्त्रे ग्रन्थविशेषेऽन्येषामपि ग्रन्थे दृश्यमाना विज्ञातव्या । कथं विज्ञातव्येति तत्रोपायमाह । पौर्वापर्येणेति । बाधिताया एवाविद्यायाः प्रतीतिर्गन्धादिशब्दैरभिलप्यत इति विदुषां ग्रन्थेषु पौर्वापर्यालोचनेनावगम्यते इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अथ ननु बाधिताया अविद्याया अवस्थानं प्रतीतिर्वा न्यया-

विरुद्धमिति चेत्, तत्राह—

जीवन्मुक्तिस्तावदस्ति प्रतीते-
र्द्वैतच्छाया तत्र चास्ति प्रतीतेः ॥
द्वैतच्छायारक्षणायास्ति लेश-
स्तस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥ ४३ ॥

जीवन्मुक्तिस्तावदिति॥ प्रतीतेरनुभवबलादित्यर्थः। तत्र जीवन्मुक्त्यवस्थायां द्वैतच्छाया द्वैताभासश्चास्ति प्रतीतेः । एतत्सर्वं बाधिताविद्यानुवृत्तिं विना नोपपद्यत इत्याह। द्वैतच्छाया चास्ति लेशप्रतीतेरिति । लेशशब्दो बाधिताविद्यावचनः । लेशप्रतीतेरेव द्वैतच्छायाऽप्यनुभवसिद्धाऽस्ति अकारणकार्यायोगात्, तथा कल्पनीयत्वादित्यर्थः। यस्मादेवं तस्मिन्नुक्ते सर्वस्मिन्नर्थे स्वानुभूतिः प्रमाणं तस्मादत्र नानुपपत्तिश्चोदनीयेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

अथ यदि मुक्त्यवस्थायामप्युक्तविधया ऽविद्यालेशो ऽप्यस्ति तर्हि पूर्वावस्थातः को विशेषः ? इति चेत्, महानेव विशेषो ऽस्तीत्याह—

ब्रह्मात्मत्वं सान्तरायं पुरस्ताद्
बोधोत्पत्तौ ध्वस्तमोहान्तरायम् ॥
यद्यप्येवं द्वैतलेशानुवृत्तेः
प्रत्यक्षत्वान्मोहलेशोऽभ्युपेयः ॥ ४४ ॥

ब्रह्मात्मत्वमिति ॥ पुरस्ताद्विद्योदयात्पूर्वं ब्रह्मात्मत्वं स्वभावतो भासमानमपि सान्तरायम् अविद्यातत्कार्यव्यवहितमासीत् इदानीं बोधोत्पत्तौ सत्यां ध्वस्तो मोहरूपो ऽन्तरायो यस्मिन् तत् तथोक्तम्, इदानीं मोहध्वंसो विशेष इत्यर्थः। तर्ह्यविद्यालेशा-

वस्थानं कथमुक्तमिति तत्राह । यद्यप्येवमिति । द्वैतभासस्यानुभवात् ध्वस्तस्यापि मोहस्यावस्थानं प्रतीतिबलादभ्युपेयमित्यर्थः । पूर्वमविद्यातत्कार्यप्रतिभासो व्यामोहहेतुरनर्थकरश्चासीत् इदानीं प्रतिबुद्धस्य स्वप्नावभासवद् बाधितानुवृत्तिमात्रत्वादकिञ्चित्कर इत्यस्ति महान्विशेष इति भावः ॥ ४४ ॥

अथ तर्ह्यनेनैव न्यायेन देहान्तरमपि सम्भाव्येतेति चेत्, नेत्याह—

तस्माज्जीवन्मुक्तरूपेण विद्वा-
नारब्धानां कर्मणां भोगसिद्ध्यै ॥
स्थित्वा भोगं ध्वान्तगन्धप्रसूतं
भुक्त्वाऽत्यन्तं याति कैवल्यमन्ते ॥ ४५ ॥

तस्मादिति॥ यद्वोपपादितं जीवन्मुक्तमनूद्य तस्य निरन्तरायां परमकैवल्यप्राप्तिमाह। तस्मादिति। विद्वान् आरब्धाना फलदानाय प्रवृत्तानां कर्मणा भोगसिद्ध्यै जीवन्मुक्तरूपेण स्थित्वा ध्वान्तगन्धप्रसूतं बाधिताविद्यानुवृत्तिमात्रप्रदर्शितं भोगं भुक्त्वाऽन्ते भोगावसाने ऽत्यन्तं कैवल्यं याति विदेहपरमकैवल्यमश्नुते कूटस्थात्मप्रकाशरूपेणावतिष्ठते इत्यर्थः । अनारब्धफलानां कर्मणां ज्ञानाग्निना दग्धत्वात् प्रारब्धानां च भोगेन विनाशात् सर्वप्रवृत्तिमूलाया अविद्यायाश्च बाधितत्वात् विद्यासन्ततेरनुवृत्तेः पुनस्तस्याः प्ररोहासम्भवात् प्रारब्धभोगावसाने परमकैवल्यप्राप्तौ न को ऽपि विघ्न इत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

अथ जीवन्मुक्तौ तद्वतः प्रारब्धक्षये परमकैवल्यप्राप्तौ च प्रमाणं मन्त्रोपनिषदमाह—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः

क्षरात्मानावीशते देव एकः ॥
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ ४६ ॥

**क्षरं प्रधानमिति** ॥ पूर्वमन्त्रे "अजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता" इति निर्दिष्टा साभासा माया इह प्रधानशब्देनानूद्यते । तत्प्रधानं मायाऽख्यं क्षरं विनाशि हरस्तदधिष्ठाता ईश्वरोऽमृताक्षरम् अमृतं ब्रह्म शुद्धं तेनात्मनाऽक्षरमविनाशि । यद्वा यत् क्षरं विनाशि तत्सर्वं प्रधानं भोग्यं यदमृताक्षरमश्नुते व्याप्नोति सर्वं भोग्यमित्यक्षरम् अमृतं च तदक्षरं चामृताक्षरं भोक्तृरूपमित्यर्थः । एको देवः शुद्धः परमात्माक्षरात्मानौ भोग्यभोक्तारावीशते नियमयति भोक्तृभोग्यकल्पनाधिष्ठानत्वेनानुगतोऽवतिष्ठते इत्यर्थः । "यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इति स्मृत्युक्तः पुरुषोत्तम एको देवो यः क्षरात्मानावीशते तस्याभिध्यानादाभिमुख्येन प्रत्यगभेदेन चिन्तनात् योजनात् तस्मिन् चित्तविलयनेन प्रत्यगात्मनः परमात्मतावन्मात्रतापत्तिर्योजनं तस्माद्योजनात्तत्त्वभावात्प्रत्यक्पराग्भावहेतुसर्वोपाधिविलयने सति प्रत्यगात्मन एव परमात्मभावेन साक्षात्कारस्तत्त्वभावस्तस्मात्तत्त्वभावात् विश्वमायानिवृत्तिः विश्वाकारप्रतिभासहेतुमायानिवृत्तिर्भवति व्यावहारिकप्रपञ्चसत्त्वावभासकाकारमाया निवर्त्तते इति यावत् । भूयश्च पुनरप्यन्ते प्रारब्धकर्मफलभोगावसाने विश्वमायानिवृत्तिरित्यावृत्त्या योज्यम् । बाधितप्रतिभासमानाकाराया अपि विश्वमायाया निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तथाच भगवद्गीतास्मृतिः "यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां

सर्वभावेन भारत" इति ॥ ४६ ॥

अथ नन्वर्चिरादिना मार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्य मुक्तिरिति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः, तत्कथं ज्ञानोदयसमनन्तरमेव मुक्तिरिति चेत्, तत्राह—

ब्रह्मादीनामस्ति मुक्तिः श्रुतिभ्य-
स्तेषामेषा नार्चिराद्या गतिर्वः ॥
तस्मादस्या निर्गुणब्रह्मविद्या-
सम्बन्धित्वं नैषितव्यं भवद्भिः ॥ ४७ ॥

ब्रह्मादीनामिति ॥ "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" इत्यादिश्रुतिभ्यो "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च श्रुतिग्रहणस्योपलक्षणत्वात्, ब्रह्मादीनां देवानां प्रागेव ब्रह्मलोके स्थितानामप्यस्ति मुक्तिः श्रुतिस्मृत्यवगतेत्यर्थः । तेषामेषां ब्रह्मादीनां नार्चिराद्या गतिर्मार्गोऽस्ति वो युष्माकमप्येतत्सम्मतमित्यर्थः । तेषामेषेति चेत्पाठस्तदा एषा प्रसिद्धाऽर्चिराद्येति योज्यम् । यस्मादेव तस्मादस्याः गतेर्निर्गुणब्रह्मविद्यासम्बन्धित्वं भवद्भिर्वैदिकैर्नैषितव्यम् । सगुणविद्यावतां ब्रह्मलोकगमनमार्गोऽयमर्चिरादिर्न साक्षान्मुक्तिमार्गः, साक्षान्मुक्तिस्तु यत्र कुत्रापि देवानां मनुष्याणां वा ज्ञानोदयसमनन्तरमेवेति युक्तमेवोक्तमित्यभिप्रायः ॥ ४७ ॥

अथ "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इतिश्रुतेर्निर्विशेषब्रह्मविद उत्क्रान्तिप्रतिषेधादपि न क्वापि गमनमस्तीत्याह—

प्राणोत्क्रान्तिर्नास्ति मूर्द्धन्ययैषां
नाड्या तस्माद् यत्र तत्रैव विद्या ॥

तत्रैव स्यान्मुक्तिरित्यभ्युपेयं

गत्युत्क्रान्ती तेन विद्यान्तरेषु ॥ ४८ ॥

प्राणोत्क्रान्तिरिति ॥ तर्ह्युत्क्रान्तिगतिश्रुतीनां को विषयः? इति चेत्, सगुणविद्यावद्विषयतेत्याह। गत्युत्क्रान्ती इति ॥४८॥

अथ देवादीनां कर्मानधिकृतानामपि मुक्तिभाक्त्वावगमादेव विद्यायाः पूर्वोक्तं कर्मादिसहकारिनैरपेक्ष्यं सिद्धमित्याह—

देवादीनां नास्ति कर्माधिकारो

विद्या तेषां केवला मुक्तिहेतुः ॥

पारम्पर्यात् कर्मणामस्य हेतो-

र्विद्याङ्गत्वं सर्ववर्णाश्रमाणाम् ॥ ४९ ॥

देवादीनामिति ॥ हेतुरित्यतो न कर्मसापेक्षा विद्येति शेषः। तर्हि "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" इति कर्मापेक्षितत्वकथनं कथमिति चेत्, तत्राह । पारम्पर्यादिति। अस्य हेतोरस्माद्धेतोः कर्मानधिकारिष्वपि विद्याया मुक्तिहेतुत्वाद्धेतोरित्यर्थः। सर्ववर्णाश्रमाणां कर्मणां पारम्पर्याद्विद्याङ्गत्वमित्यन्वयः । अतो न सर्वापेक्षाधिकरणविरोध इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अथ केन द्वारेण पारम्पर्यं किञ्चात्र प्रमाणमिति तदाह—

पारम्पर्यं शुद्धिहेतुत्वहेतो-

र्यज्ञादीनां श्रूयते स्मर्यते च ॥

साक्षादेषां मोक्षहेतुत्वमेव-

मन्विच्छन्तोऽप्यागमान्न प्रतीमः ॥ ५० ॥

पारम्पर्यमिति ॥ शुद्धिहेतुत्वरूपाद्धेतोरित्यर्थः । " धर्मे-

ण पापमपनुदति" "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति" "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादि श्रूयते "तपसा कल्मषं हन्ति" "कषायपक्तिः कर्माणि" इत्यादि स्मर्यते चेत्यर्थः । यदपि कर्मणां साक्षान्मोक्षहेतुत्वविषयमिव क्वचिच्छ्रुतिस्मृतिवचनजातं दृश्यते "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" "एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" इत्यादि तदपि पौर्वापर्येणान्विष्यमाणं न साक्षात्कर्मणां मोक्षहेतुत्वपरमित्याह । साक्षादेषामिति ॥ ५० ॥

अथ आदित आरभ्य निरूपितं शास्त्रार्थमुपसंहरति—

इति बहुश्रुतभाषितमुच्चकैः
श्रुतिशिरोवचनानुगत महत् ॥
समुपदिष्टमिदं कृपया मया
प्रियमतीव हित च मुमुक्षवे ॥ ५१ ॥

इति बहुश्रुतभाषितमिति ॥ इदं शास्त्रं महदुत्कृष्टं ब्रह्मविद्याहेतुत्वात्, महतो ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वाद्वा महत्, मया कृपया मुमुक्षवे समुपदिष्टमित्यन्वयः । कि लक्षणं ? प्रियं श्रवणकालेऽपि प्रीतिकरं परिणामेऽतीव हित पथ्यं च । तस्य बहुश्रुतभाषितमितिविशेषणेन वेदान्तविद्वदाचार्यसम्मतत्वेन शिष्टापरिग्रहदोषशङ्का परास्ता । श्रुतिशिरोवचनानुगतमिति मूलप्रमाणदार्ढ्यमस्योक्तम् । उच्चकैः समुपदिष्टमिति सम्बध्यते अशेषत इत्यर्थः । उच्चकैर्बहुश्रुतभाषितमित्यन्वये ऽपि स एवार्थः ॥ ५१ ॥

अथ एवमाचार्ये ऽशेषशास्त्रार्थमुपन्यस्योपरते शिष्यः किं कृतवान् इत्यपेक्षायाम् उक्तशास्त्रार्थशरीरानुवादेन शिष्यः स्वानुभवनिवेदनाय प्रवृत्त इत्याह—

एवं समन्वयविरोधनिरासविद्या—
निष्पत्तिसाधनफलानि गुरोः क्रमेण ॥
विज्ञाय वेदफलमात्मनि सर्वमेव
पश्यन्नुवाच कृतकृत्यमतिः स शिष्यः ॥ ५२ ॥

एवं समन्वयेति ॥ वेदफलं वेदनफलमात्मनि पश्यन्साक्षादनुभवन् कृतकृत्यमतिः सन्नुवाचेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथ उक्तिप्रकारमेवाह—

विद्याविग्रहमग्रहेण पिहितं प्रत्यञ्चमुच्चैस्तरा-
मुत्कृष्योत्तमपूरुषं मुनिधिया मुञ्जादिषीकामिव ॥
कोशात् कारणकार्यरूपविकृतात् पश्यामि निःसंशयं
क्वासीदस्ति भविष्यति क्व नु गतः संसारदुःखोदधिः ॥५३॥

विद्याविग्रहमिति ॥ कारणकार्यरूपविकृतात् कोशादन्नमयाद्यानन्दमयान्तात् सर्वस्मादनात्मरूपादिति यावत् । प्रत्यञ्चं मुञ्जादिषीकामिवोच्चैस्तरां मुनिधिया मनननिशितधियोत्कृष्य सम्यक् पृथक्कृत्य उत्तमपूरुषं " स उत्तमः पुरुषः " इति श्रुतिप्रदर्शितं पूर्णात्मानं निःसंशयं यथा स्यात्तथा पश्यामीत्यन्वयः । किंलक्षणं प्रत्यञ्चं ? स्वभावतो विद्याविग्रहं ज्ञानस्वरूपम् अग्रहेणानिर्वचनीयाज्ञानेन पिहितमाच्छादितम् एवं प्रत्यञ्चमात्मानमुत्तमपुरुषं परमात्मानमनुभवतो मम संसारोऽत्यन्तमेव निवृत्त इत्याह । क्वासीदिति । कालत्रयेऽप्यहं संसारसम्बन्धरहित एव सन्नात्माग्रहणाज्ञानवशादेतावन्तं कालं मृषैव संसार्यस्मीति मन्यमान आसम्, इदानीं त्वत्प्रसादान्न कदाऽप्यहं संसारी किन्तु ब्रह्मैव सदा

स्मीति ममाद्य निश्चयः सञ्जात इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अथ तथापि मे जीवनाभासो ऽप्यनुवर्तते इत्याह—

पश्यामि चित्रमिव सर्वमिद द्वितीय
तिष्ठामि निष्कलचिदेकवपुष्यनन्ते ॥
आत्मानमद्वयमनन्तसुखैकरूपं
पश्यामि दग्धरशनामिव च प्रपञ्चम् ॥ ५४ ॥

पश्यामि चित्रमिवेति ॥ चित्रमिवेत्यकिञ्चित्करत्वे दृष्टान्तः। यथा चित्रहस्तिनं व्याघ्रं वा चित्रमयं पश्यतोऽपि न भयकम्पादिर्भवति, एवं द्वैतं पश्यतो ऽपि मम न संसारित्वावभास इत्यर्थः। कथं द्वैतं पश्यतो ऽपि तव पूर्ववद्व्यामोहाभावः ? इत्यत आह। तिष्ठामीति। विषयाकारवृत्त्युपरागाभावात्पुष्कलानवच्छिन्ना या चित् तन्मात्रस्वरूपे ऽत एवानन्ते त्रिविधपरिच्छेदरहिते पूर्णात्मनि तिष्ठामीत्यर्थः। किं तत्पूर्णात्मन्यवस्थानं कुण्डे बदरवद्भित्तौ चित्रवद्वाऽवस्थानं ? नेत्याह। आत्मानमिति। आत्मनः परमात्मरूपेणानुभव एव, तत्रावस्थानं नाम यथा देहादावात्मत्वानुभवो देहादाववस्थानं तद्वत्। न ह्यमूर्तस्यापरिच्छिन्नस्यात्मनोऽन्यादृशमवस्थानं सम्भवतीत्यर्थः। ननु द्वैतप्रतिभासे सति कथमद्वयात्मानुभवः ? इति चेत्, मैवम्। अद्वयात्मानुभवोदयनान्तरीयकतया द्वैतस्य बाधितत्वादित्यभिप्रेत्याह। पश्यामि दग्धेति॥५४॥

अथ अद्वैतात्मानुभवो मम न परोक्षरूपो येनापरोक्षप्रपञ्चदर्शनं सत्यं स्यात्किन्त्वपरोक्ष एवाद्वैतात्मानुभव इत्याह—

अद्वैतमप्यनुभवामि करस्थबिल्व-
तुल्यं शरीरमहिनिर्ल्वयनीवदीक्षे ॥

एवं च जीवनमिव प्रतिभासमानं

निःश्रेयसोऽधिगमनं च मम प्रसिद्धम् ॥ ५५ ॥

अद्वैतमपीति ॥ एवमपि शरीरम् अहिनिर्ल्वयिनीवदीक्षे । अहिनिर्ल्वयिनी सर्पत्वक्। यथा सर्पः परित्यक्तं स्वकञ्चुकं पश्यन्नपि पूर्ववदात्मत्वेन नाभिमन्यते तथेदं शरीरं कदाचित्पश्यन्नपि नात्मतया जानामीत्यर्थः । एवं च जीवन्मुक्तिरनुभवसिद्धा ममेत्याह । एवं चेति । जीवनमिवेति । इवशब्दो देहादिसम्बन्धितया जीवनप्रतिभासो बाधितानुवृत्तिमात्रो न परमार्थ इति द्योतनार्थः ॥ ५५ ॥

अथ इदानीं मदपकारिप्रतीकारोऽपि लब्ध इत्याह—

अद्वैतबाधकमभूत् मम यद् द्वितीय-

मद्वैतमस्य बत बाधकमेव जातम् ॥

मोहाद् द्वितीयमपबाधकमस्य विद्या-

सामर्थ्यतोऽद्वयनिबर्हणमद्वितीयम् ॥ ५६ ॥

अद्वैतबाधकमिति ॥ बतेति हर्षे। पुनरपि कदाचिदद्वैतबाधकं द्वैतं भविष्यति, न हि न हीत्याह । मोहादिति । द्वैतकृतस्याद्वैतबाधस्य मोहमात्रनिबन्धनत्वान्न वास्तवोऽद्वैतबाधः, इदानीं मोहस्य समूलोन्मूलनान्न द्वैतस्य पुनरुद्भव इति कुतस्तेनाद्वैतबाधशङ्केत्यर्थः । अद्वितीयेन द्वैतबाधनं सत्यं तस्य प्रमाणनिबन्धनत्वादित्याह । विद्यासामर्थ्यत इति ॥ ५६ ॥

अथ इतः पूर्वं द्वैतप्रतिभासो यन्ममाभूत् तत्राप्याश्चर्यमेवेदानीं मे वर्तत इत्याह—

आश्चर्यमद्य मम भाति कथं द्वितीयं

नित्ये निरस्तनिखिलाशिवचित्प्रकाशे ॥
आसीत् पुरेति किमिमाः श्रुतयो न पूर्वं
येन द्वितीयमभवत्तिमिरप्रसूतम् ॥ ५७ ॥

आश्चर्यमद्येति ॥ विरुद्धस्वभावयोरात्मानात्मनोस्तादात्म्यानुभवः कथमासीदित्याश्चर्यमित्यर्थः । किमत्राश्चर्य ! श्रुत्यर्थानवगमादेव तथा प्रतिभासोऽभूदिदानीं तदवगमान्निवृत्त इति चेत्, सत्यम् अनादिनिधनायाः श्रुतेरर्थः इतः पूर्वं नावगत इत्येतदप्याश्चर्यमित्याह । किमिमा इति ॥ ५७ ॥

अव निवृत्तं च मम सर्वमेवाश्चर्यं यतस्त्वदनुग्रहाभावादेव मम संसारानुभवो भूत् इदानी च त्वदनुग्रहान्निवृत्त इत्याह—

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं विना मे
सन्नप्यसन्निव परः पुरुषः पुराऽऽसीत् ॥
त्वत्पादपद्मयुगलाश्रयणादिदानीं
नासीन्न चास्ति न भविष्यति भेदबुद्धिः ॥ ५८ ॥

त्वत्पादपङ्कजेति ॥ सन्नपीति । आत्मरूपेण सन्नपि तेनात्मना ऽसन्निवासीदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

अव· अस्य च त्वत्कृतोपकारस्य प्रत्युपकारो नास्ति एतत्तुल्यस्यान्यस्याभावात्, तव सर्वतो निरपेक्षत्वान्मयि कृपामात्रप्रयुक्तप्रवृत्तित्वाच्च अतस्तव सेवामात्रं करोमीत्याह—

यस्मात् कृपापरवशो मम दुश्चिकित्सं
संसाररोगमपनेतुमसि प्रवृत्तः ॥
त्वत्पादपङ्कजरजः शिरसा दधान-

स्त्वामाशरीरपतनादहमप्युपासे ॥ ६९ ॥

यस्मात्कृपेति ॥ ५९ ॥

अथ शिष्योक्तिः समाप्ता, इदानीं ग्रन्थकारः प्रारब्धां स्वकृतिमुपसंहरति—

संक्षेपशारीरकमेवमेतत्
कृतं परिव्राजकमुक्तिहेतुः ॥
गुरुप्रसादात् परिलभ्य तत्त्वं
त्रयीशिरस्तत्त्वनिवेदनाय ॥ ६० ॥

सङ्क्षेपशारीरकमिति ॥ त्रयीशिरस्तत्त्वनिवेदनायेति । त्रयीशिरसो निष्टङ्कितार्थप्रकटनायेत्यर्थः ॥ ६० ॥

अथ एतां कृतिं भगवति नारायणे समर्पयन् स्वकृतेर्मङ्गलं प्रार्थयते—

अविरलपदपङ्क्तिः पद्मनाभस्य पुण्या
चरणकमलधूलिग्राहिणी भारतीयम् ॥
घनतरमुपघातं श्रेयसः श्रोतृसङ्घात्
सुरसरिदिव सद्यो मार्ष्टु माङ्गल्यहेतुः ॥ ६१ ॥

अविरलेति ॥ इयं भारती श्रेयसो घनतरमुपघातं श्रोतृसङ्घातात्सद्यो मार्ष्टित्यन्वयः । किंलक्षणा भारती ? माङ्गल्यहेतुर्मङ्गलप्रदेत्यर्थः । तां गङ्गासाम्येन रूपयति । अविरलेति । विरला असंश्लिष्टा पदानां पङ्क्तिर्यस्याः सा विरलपदपङ्क्तिर्नेयं तथेत्यविरलपदपङ्क्तिः प्रसिद्धा । पद्मनाभस्य श्रीमदनन्तपुरवासिनः शेषाङ्के शयानस्य नारायणस्य चरणकमलधूलिग्राहिणी

तच्चरणयोः समर्पिता सती तथाविधा, गङ्गा तु भगवतः पद्मनाभस्य त्रिविक्रमरूपं धृतवतश्चरणकमलधूलिग्राहिणी प्रसिद्धा, अत एव पुण्या पावयित्री भारती गङ्गा चेत्यर्थः। कृतेरस्या माङ्गल्यं नाम सज्जनसंग्रहपूर्वकं तद्वारा श्रोतॄणां पुरुषार्थसिद्धिरेव तादृशस्य मङ्गलस्य हेतुरस्त्विति तात्पर्यार्थः ॥ ६१ ॥

अथ ग्रन्थस्य साम्प्रदायिकत्वं दर्शयितुं गुरोर्नाम कर्त्तुश्च कालविशेषं नाम च निर्दिशति—

श्रीदेवेश्वरपादपङ्कजरजःसंपर्कपूताशयः
सर्वज्ञात्मगिराङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकम् ॥
चक्रे सज्जनबुद्धिमण्डनमिदं राजन्यवंश्ये नृपे
श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति ॥ ६२ ॥

श्रीदेवेश्वरेति ॥ सर्वज्ञात्मगिराऽङ्कितः सर्वज्ञात्मनामा मुनिवरः संन्यासिश्रेष्ठः इदं संक्षेपशारीरकं नाम ग्रन्थं किंलक्षणं ? सज्जनबुद्धिमण्डनं विद्वद्बुद्ध्यलङ्करणं विदुषां शोभाप्रदमित्यर्थः। कदा चक्रे ? इत्यपेक्षायामाह। राजन्यवंश्य इति। क्षत्रिये इत्यर्थः। नृपे राजनीति यावत्। तस्य नाम निर्दिशति। श्रीमतीति। श्रीमन्नाम्नि। किंलक्षणे। अक्षतशासने अप्रतिहताज्ञे इत्यर्थः। तस्य राज्ञो वंशतश्च श्रैष्ठ्यमाह। मनुकुलादित्य इति। मनुवंशप्रकाशक इत्यर्थः। एवं भूते श्रीमन्नाम्नि नृपे भुवं शासति सर्वज्ञात्मगिराऽङ्कितो मुनिवरः संक्षेपशारीरकं चक्रे इत्यन्वयः ॥ ६२ ॥

अथ आद्यन्तयोः कृतमङ्गला ग्रन्थाः प्रचारिणो भवन्तीति शिष्टप्रसिद्धिमनुरुद्ध्य ग्रन्थस्यान्ते ऽपि भगवन्नमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति—

भुजङ्गमाङ्गशायिने विहङ्गमाङ्गगामिने ॥
तुरङ्गमाङ्गभेदिने नमो रथाङ्गधारिणे ॥ ६३ ॥

भुजङ्गमाङ्गेति ॥ आद्येन विशेषणेन भक्तानामभीष्टदानाय प्रसन्नावस्थोक्ता, परैस्त्रिभिर्विशेषणैस्तेषां परिपन्थिनिरसनेन संरक्षणाय भगवत्प्रवृत्तिरुक्तेति तात्पर्यं ज्ञेयम् ॥ ६३ ॥

सिद्धान्तदीपं पुरतो निधाय वेदान्तमन्तर्गृहसन्निविष्टम् ।
सङ्क्षेपशारीरकरत्नपुञ्जं प्रकाशमादाय मया विविक्तम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञात्ममुनिप्रणीतममलं सङ्क्षेपशारीरकं
दृष्टान्तर्विभवं पुरस्कृतमहासिद्धान्तदीपार्चिषा ॥
उन्नीयार्थविभागतः प्रतिपदं सम्यगन्वयविद्योतनी
व्याख्या तस्य सतां मनःप्रियकरी व्याख्यातृचित्तौकसः॥२॥

नमोऽस्तु तस्मै रामाय हृद्यन्तर्ज्योतिषे मते ॥
वायुनेव तृणं येन विचिछन्ते प्रजाधियः ॥ ३ ॥

नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽस्तु येषां सन्निधिमात्रतः ॥
ममान्तस्तिमिरं ध्वस्तं बाह्यं ध्वान्तं रवेरिव ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य कृष्णतीर्थशिष्य
रामतीर्थविरचितायां सङ्क्षेपशारीरकटीकायामन्वयार्थप्रकाशिकायां चतुर्थोऽध्यायः
सम्पूर्णः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

---